काव्य-सर्जना और काव्यास्वाद

काव्य-सर्जना और काव्यास्वाद

आधुनिक हिन्दी साहित्य में समालोचना का विकास

—वेंकट शर्मा

प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध में आधुनिक आलोचना-साहित्य का सर्वांगपूर्ण अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। लेखक ने आधुनिक आलोचना के इतिहास को चार कालों में विभक्त किया है—(१) प्रवर्त्तन-काल अथवा भारतेन्दु-युग; (२) संवर्धन-काल या द्विवेदी-युग; (३) विकास-काल या शुक्ल-युग; (४) प्रसार-काल या शुक्लोत्तर-युग और प्रत्येक काल के विशिष्ट आलोचकों एवं आलोचना-प्रवृत्तियों की विश्लेषात्मक तथा संश्लेषात्मक समीक्षा की है। आरम्भ में आधुनिक हिन्दी-आलोचना को प्रभावित करने वाले भारतीय तथा पाश्चात्य काव्य-सिद्धान्तों का विवेचन है, जो मौलिक न होते हुए भी स्वच्छ है और विवेच्य विषय के साथ असम्बद्ध नहीं है। लेखक का अध्ययन व्यापक है, संस्कृत-साहित्य और साहित्य-शास्त्र के साथ तो उसका निकट सम्पर्क है ही, पश्चिम के आलोचना-सिद्धान्तों के विषय में भी उसने काफी पढ़ा और सोचा है। अपने मूल विषय में सम्बद्ध वाङ्मय का उसने प्रत्यक्ष ज्ञानार्जन किया है और छोटे-बड़े आलोचकों की पृथक् आलोचना अत्यन्त सहृदयता के साथ सँभालकर की है। आधारभूत सिद्धातों के विवेचन हिन्दी-आलोचना के विकास के प्रत्येक चरण की प्रमुख प्रवृत्तियों और उनके प्रतिनिधि लेखकों के विस्तृत एवं सूक्ष्म विवेचन के कारण यह ग्रन्थ निश्चय ही आधुनिक आलोचना का सर्वांगपूर्ण और प्रामाणिक अध्ययन प्रस्तुत करता है।

जोधपुर विश्वविद्यालय की डी० लिट्० उपाधि के लिए स्वीकृत शोध-प्रबन्ध

काव्य-सर्जना और काव्यास्वाद

भारतीय दृष्टि के आलोक में काव्य की रूप-सर्जना
और आस्वाद प्रक्रिया का शास्त्रीय विवेचन

डॉ० वेंकट शर्मा

भूमिका
डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी

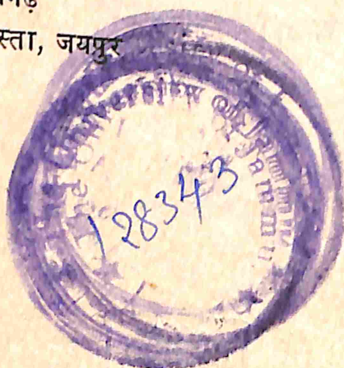


आत्माराम एण्ड संस
दिल्ली चण्डीगढ़ जयपुर लखनऊ

Kavya-Sarjana Aur Kavyaaswad
by
Venkat Sharma
Price Rs. 50.00

प्रकाशक :
रामलाल पुरी, संचालक
आत्माराम एण्ड संस
कश्मीरी गेट, दिल्ली-११०००६

शाखाएँ :
१७, अशोक मार्ग, लखनऊ
विश्वविद्यालय क्षेत्र, चंडीगढ़
धमानी मार्केट, चौड़ा रास्ता, जयपुर



मूल्य : पचास रुपये केवल
प्रथम संस्करण १९७३

मुद्रक : रूपाभ प्रिंटर्स, शाहदरा, दिल्ली-११००३२

भूमिका

डा० वेंकट शर्मा की नई पुस्तक 'काव्य-सर्जना और काव्यास्वाद' पढ़कर मुझे बड़ी प्रसन्नता हुई है। विद्वान लेखक ने भारतीय काव्य शास्त्र का विशद अध्ययन किया है और काव्य-सर्जना और काव्यास्वाद विषयक विचारों का परिश्रमपूर्वक आकलन किया है। भारतीय मनीषियों के काव्य शास्त्रीय विचारों को उन्होंने श्रद्धा के साथ स्वीकार किया है। वे इन विचारों के ऐतिहासिक विकास की ओर से उदासीन नहीं हैं। वे मानते हैं कि काव्य-सर्जना और काव्य-समीक्षा के प्रारम्भिक काल में उसके लक्षण-निर्धारण की स्थूल और बाह्य प्रकृति की ओर विशेष ध्यान रहा जबकि काव्य-चिंतन की गम्भीरता और विशदता का आनुक्रमिक विकास होने पर वह क्रमशः सूक्ष्म और अंतर्भेदी बनता गया। जिस प्रकार काव्य का लक्षण निरूपित करने की प्रक्रिया में उसकी अंतरंगता और बहिरंगता के विविध पक्ष आधार-बिन्दु रहे हैं, उसी प्रकार काव्य भेदों की विवेचन-दृष्टि में भी यही प्रवृति दृष्टिगोचर होती है। परन्तु स्थूल से सूक्ष्म की ओर निरंतर अग्रसर होते हुए भी इन विचारों में केवल बाहरी बातों को कभी महत्व नहीं दिया गया। यहाँ के काव्यशास्त्र में शब्दों की अमूर्त शक्तियों तथा व्यापारों का जो विश्लेषण किया गया है, वह भी दार्शनिक विचारधारा से अतिरंजित है। सच तो यह है कि दार्शनिक चिन्तन को उपजीव्य बनाए बिना न तो यहाँ की काव्य-सर्जना का पक्ष ही स्पष्ट किया जा सकता है और न काव्यास्वाद की प्रक्रिया को ही बोधगम्य करना संभव है। यहाँ के वाङ्मय-विमर्श में न्याय, मीमांसा, योग, शैव, बौद्ध तथा जैन दर्शन की मान्यताओं का पद-पद पर प्रभाव प्रदर्शित हुआ है। रस-सिद्धान्त की विवेचना में रस को अखंड, चिन्मय, वेद्यांतरस्पर्शशून्य और ब्रह्मानंदसहोदर कहने की जो शास्त्रानुमोदित परम्परा रही है, वह यहाँ के दार्शनिक चिंतन का ही तो प्रतिफल है। आज के परिवर्तित दृष्टिकोण में जड़वादी विचारधारा का प्राधान्य होने के कारण भारतीय दार्शनिक चिंतन और 'काव्यसाधना' के अध्यात्मपरक सम्बन्ध को भले ही समय-बाह्य कहकर उपेक्षित करने की चेष्टा की जाए, किन्तु यहाँ के काव्य-देवता के चेतनांश में दर्शन का जो प्रकाश-पुंज आलोकित है वह सदैव शाश्वत और अमर रहेगा।

इस प्रकार उनकी विवेचना में एक ओर ऐतिहासिक विकास में विश्वास करने वाली आधुनिक दृष्टि और दूसरी ओर विचार्य विषय को श्रद्धापूर्वक आप्त वाणी मानने की मध्ययुगीन दृष्टि का प्रभाव है। इससे उनके विचारों में सन्तुलन और गांभीर्य आ गया है। इसी सन्तुलित दृष्टि से उन्होंने काव्य-सर्जना और काव्यास्वाद के सम्बन्ध

में भारतीय मनीषियों की सैकड़ों वर्ष की चिन्तन-धारा को स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है। काव्य सर्जना, अलंकार, दोष, गुण, रीति, रस आदि विषयों पर विचार करते समय वे उनके अन्तर्निहित तत्व बोध को सदा उद्घारित करते रहते हैं। वस्तुतः दर्शन किसी भी देश अथवा जाति के सांस्कृतिक विकास का नवनीत अथवा अमृतोपम निष्यंद है जिसके द्वारा हम उसके बौद्धिक तथा आध्यात्मिक स्तर का परीक्षण कर सकते हैं। 'भारतीय जीवन के विकासक्रम का आलोचनात्मक अध्ययन करने से यह तथ्य स्वतः स्पष्ट हो जाता है कि यहाँ के 'दर्शन' की आध्यात्मिकता ने भारतीयों को कठोरतम परिस्थिति में भी धैर्यस्खलित होने से रोका तथा बड़े-बड़े राजनीतिक विप्लवों और सामाजिक आन्दोलनों के वात्याचक्रों से भी वे प्रकम्पित होने से बचे रहे। असत्य का बहिष्कार तथा 'सत्यमेव जयते' की प्राण-प्रतिष्ठा करने में यहाँ की दार्शनिक उपलब्धि किसी भी सशक्त चेतना से कम स्फूर्तिदायिनी नहीं रही है।'

कभी-कभी उनका श्रद्धापक्ष अधिक प्रबल हो अवश्य गया है परन्तु इससे उनके विवेक पर प्रभाव नहीं पड़ा है केवल 'नवीनतावादी अपरिपक्व बुद्धि के आलोचकों पर आक्रोश प्रकट करने तक ही वह सीमित रह गया है जो नवीनतावादी परिपक्व बुद्धि सम्पन्न है उन पर उनका रोष नहीं है। अतिरिक्त श्रद्धा एक प्रकार का पूर्वाग्रह उत्पन्न करती है, सन्तुलित दृष्टि में ऐसा आग्रह नहीं होता। श्रद्धालु होते हुए भी डा० शर्मा पूर्वाग्रह को नहीं महत्त्व देते।

पुस्तक बहुत परिश्रम और अध्ययन के साथ लिखी गई है। इससे भारतीय मनीषा के उज्जवल पक्ष पर बड़ा सुन्दर प्रकाश पड़ता है। साधारणतः अलंकार शास्त्र पर जो पुस्तकें मिलती हैं वे उस विषय को हल्के मैनुएल के रूप में उपस्थित करती हैं। डा० शर्मा ने उसे तत्वदर्शन के रूप में उपस्थित किया है। उनका यह प्रयत्न बहुत सफल हुआ है। मैं इस पुस्तक का स्वागत करता हूँ और आशा करता हूँ कि काव्य-सर्जना और काव्यास्वाद के अन्वेषियों को भी यह उत्तम आनन्द देगा।

—हजारीप्रसाद द्विवेदी

आत्म-विवृति

'काव्य-सर्जना और काव्यास्वाद' विश्व-साहित्य के तत्त्व-विमर्श और बौद्धिक चिंतन के ऐसे महत्त्वपूर्ण विषय रहे हैं जिनका विवेचन करने में सभी देशों के काव्य-शास्त्रियों, दार्शनिक विचारकों, पदवाक्यप्रमाणज्ञों और शाब्दबोध-विमर्शकों ने अपनी-अपनी विचारधारा, क्षमता और अभिरुचि के अनुकूल स्वकीय प्रतिभा-कौशल प्रदर्शित किया है। उनकी विवेचना के मूल में जहाँ एक ओर उनकी देशकालगत सांस्कृतिक मान्यताएँ, सामाजिक आचार-विचार, धार्मिक प्रवृत्तियाँ तथा जीवन-दृष्टि के विविध पक्ष अनुस्यूत हैं, वहाँ दूसरी ओर उसमें एक ऐसा लोकसामान्य-व्याप्त विश्वजनीन धरातल भी प्रतिष्ठित है जिस पर किसी भी प्रकार की भेददृष्टि का अधिकार न होकर मानव-मात्र के अभ्युदय, कल्याण और आत्मानंद की अभेदमूलक वृत्तियाँ संयोजित हुई हैं। 'शब्दब्रह्म के रमणीय रूप' एवम् 'अर्थविवर्त्त के अभिराम आकार' काव्यपुरुष के विराट् वैभव की अनंतता को वाग्देवता की रुचिर रश्मियों से आबद्ध कर उसके स्वरूप-बोध, सृष्टि-प्रसार एवम् रसास्वाद का शास्त्रीय विवेचन करने की दिशा में किया गया काव्यानुरागी विद्वानों का मंगलमय प्रयास न केवल उनके प्रज्ञावैमल्य का ही परिचायक है अपितु उनके काव्यानुशीलन के सतत अभ्यास से विशदीकृत मनोमुकुर का भी प्रकाशक है। काव्य-सर्जना को 'आत्मचैतन्य की अभिराम अभिव्यक्ति' अथवा 'स्वसंवित् की सरस व्यंजना' कहकर भारतीय आचार्यों ने 'भग्नावरणचित्' आदि पदों का प्रयोग करते हुए उसकी आनंदमयी आस्वाद्यता का विश्लेषण जिन दार्शनिक भूमिकाओं के आधार पर किया है, वह विश्वकाव्य की उदात्त कल्पनाओं का आकलन करने में सहज समर्थ है। काव्य-सर्जना का एक पक्ष यदि काव्य-सृष्टि का उपक्रम, स्वरूपविधान, भेद-प्रभेद-विस्तार, वर्ण्य विषय-व्याप्ति तथा काव्यसर्जक के आत्मपरक और वस्तुपरक दृष्टिकोण का रहस्योद्घाटन करता हुआ चलता है तो दूसरा पक्ष उन हेतुओं, प्रयोजनों और प्रेरक तत्त्वों का विश्लेषण करना अपना अनिवार्य अंग समझता है जिनसे अनुप्रेरित होकर कोई भी रससिद्ध काव्यकार अपनी सर्जना को सफल बनाने की चेष्टा करता है। वस्तुतः 'काव्य-सर्जना' पद अपनी श्लिष्टता में 'काव्य-सृष्टि' और 'काव्य-विश्व' आदि अर्थों का व्यंजक बनकर उन तत्त्वों की मीमांसा का भी अर्थवहन करने में समर्थ है जिन्हें काव्य के स्वरूप-विधायक तत्त्व अथवा सिद्धांत कहा जा सकता है। कवि-कर्म और काव्य-वस्तु के विभिन्न पक्ष भी उसमें सम्मिलित रहते हैं। इस प्रकार 'काव्य-सर्जना' की उद्भावना और उसकी रूप-प्रकाशिका चिंतना की ओर यदि विश्व-मनीषियों का ध्यान अनादि

काल से ही आकृष्ट हो रहा हो तो सर्वथा स्वाभाविक ही है। इसके साथ ही साथ उसके आस्वाद का प्रश्न तो स्वयमेव संयुक्त हो जाता है क्योंकि उसके विमर्श के बिना काव्य की आनंद-दायिनी सृष्टि का प्रयोजन ही सिद्ध नहीं हो पाता। इस प्रकार काव्यसर्जना और काव्यास्वाद एक ही तत्त्व के दो ऐसे प्रतिभासित विवर्त्त हैं जिन्हें व्यावहारिक सुविधा की दृष्टि से हम भले ही पृथक्-पृथक् खण्डों में व्याख्यात करें, किन्तु उनके आत्मचैतन्य में अनुव्याप्त 'सर्जन' और 'आस्वादन' की क्रियाएँ एक ही संवित् की 'अभिव्यक्ति' और 'विश्रांति' सिद्ध होती हैं।

अर्थ-व्याप्ति और क्षेत्र-विस्तार की प्रयोजनीयता से 'भारतीय दृष्टि' पद अत्यंत व्यापक है, अतः उसके आलोक में मैंने 'काव्य-सर्जना और काव्यास्वाद' विषयक शास्त्रीय विवेचन को अपना शोध-विषय बनाते समय इस बात का यथेष्ट ध्यान रखा है कि भारतीय जीवन-दर्शन और काव्यशास्त्र की उन मौलिक और सार्वभौम सैद्धांतिक मान्यताओं को ही अपने विवेच्यक्षेत्र में अंतःप्रविष्ट होने का अधिकार प्रदान करूँ जो सम्पूर्ण भारतीय काव्य-साहित्य की विवेचना में साधारणीकृत और विद्वद्जनसंस्तुत हैं। कहने की आवश्यकता नहीं कि इस प्रकार की विचारगत रत्नराशि का पृथुल पारावार संस्कृत काव्यशास्त्र की उत्ताल तरंगों में आन्दोलित हुआ है जिनकी भाव-लहरियों में अवगाहन कर भारत की संस्कृतेतर प्राचीन, मध्यकालीन और अर्वाचीन भाषाओं का वाङ्मय-विमर्श अथवा काव्यालोचन अपना परिशुद्ध तत्त्व निष्यंदित करने की दिशा में प्रचुर संबल प्राप्त कर सका है। यही कारण है कि प्रस्तुत कृति की शोध-सामग्री भी संस्कृत-काव्यशास्त्र की अनंत और अगाध उपजीव्य निधि के आधार पर ही अपना रूप-ग्रहण कर सकी है जो प्राकृत, अपभ्रंश और तदनुक्रम से विकसित होने वाली आधुनिक भारतीय आर्य-भाषाओं के ज्ञानकोष में अवतीर्ण होकर अपना वेश-विन्यास करने में समर्थ हुई है। इतना ही नहीं, संस्कृत-काव्यशास्त्र का रिक्थ भारत की तथाकथित द्रविड़ भाषाओं (तमिल, तेलुगु, मलयालम और कन्नड़) की साहित्य-मीमांसा को भी उसी रूप में उपलब्ध हुआ है जिस रूप में वह मराठी, बंगला, गुजराती और हिन्दी आदि आधुनिक आर्य-भाषाओं के काव्य-समीक्षण को मिला है। सच तो यह है कि उपर्युक्त भाषाओं के काव्य-विधान, निर्माण-पक्ष और काव्यात्मबोध के स्वतंत्र अस्तित्व की उद्घोषणा करते हुए भी हम इस सत्य की उपेक्षा नहीं कर सकते कि आधुनिक भारतीय भाषाओं ने भारतीय दृष्टि से जो कुछ भी काव्य-मंथन किया है, उसकी मूल प्रेरणा संस्कृत साहित्य की सुसम्पन्न काव्यशास्त्रीय परम्परा ही है। हिन्दी-साहित्य के विपुल वाङ्मय में भारतीय प्रणाली और विचारधारा के अनुरूप काव्य-सर्जना के रूप-विधान और रसास्वाद की प्रक्रियाओं का अद्यावधि जो कुछ भी विवेचन-विश्लेषण और तत्त्वबोध करने का प्रयास किया गया है, वह प्रभूत मात्रा में संस्कृत काव्यशास्त्र का छायोपजीवी और अनुकरणमात्र है। हिन्दी-समीक्षा के स्वतंत्र अस्तित्व के प्रति सहज आस्था रखते हुए भी हम इस तथ्य का निषेध नहीं कर सकते कि रीतिकालीन काव्यशास्त्र की परम्परा से लेकर अद्यतन युग-पर्यन्त विकसित होने वाली साहित्य-समीक्षा की प्रचुर शास्त्र-निधि संस्कृत-साहित्य के काव्य-शास्त्रीय विमर्श के आलबाल में ही अंकुरित, पल्लवित, प्रस्फुटित और पुष्पित होकर

काव्योद्यान की सुखद सुषमा और रुचिर रमणीयता के रूप में प्रतिफलित हुई है। रीतिकालीन आचार्यों की मूर्द्धन्य कोटि पर समासीन केशव, मतिराम, भिखारीदास और देव आदि काव्य-कलाधरों ने अपने लक्षण-ग्रन्थों के निर्माण में संस्कृत काव्यशास्त्र से इतना अधिक ग्रहण किया है कि उनकी विवेचना बहुल अंशों में संस्कृत के काव्यशास्त्रीय ग्रंथों की उद्धरणीमात्र बन गई है। आधुनिक युग-जीवन के नवजागरण 'भारतेंदु-युग' से लेकर नवीनतम युग के साहित्य-समीक्षकों की शास्त्र-दृष्टि का प्रबल आलोक संस्कृत काव्यशास्त्र की ज्योतिर्मयता से ही उद्भासित हुआ है। सच पूछा जाय तो अपने अंगी रूप में संस्कृत का काव्यशास्त्र ही भारतीय काव्यशास्त्र का प्रतिनिधि और नियामक शास्त्र है, अतः 'छत्रिन्याय' से उसे प्राधान्य प्रदान करते हुए उसी के आलोक में मैंने अपनी शोध-सामग्री का संयोजन और परिशोधन करने का जो लघु प्रयास किया है उसे सर्वथा सहज और उदारभाव में ही ग्रहण करना न्यायोचित है। मेरी विनम्र सम्मति में पाश्चात्य काव्यालोचन की विचार-प्रणाली से विकसित हिन्दी-समालोचना को पृथक् रखकर यदि भारतीय काव्यशास्त्रीय पद्धति से विकासमान साहित्य-समीक्षा का तत्त्व-मूलक गम्भीर विवेचन किया जाय तो हमें पद-पद पर संस्कृत काव्यशास्त्र का आभार स्वीकार करना पड़ेगा। अतः मेरी विवेचना में भी यदि संस्कृत काव्यशास्त्र की मूल दृष्टि का आलोक प्रदर्शित हो तो उसे हिन्दी की मौलिक प्रकृति से भिन्न और परिच्छिन्न नहीं कहा जा सकता। अपनी विवेचन-प्रक्रिया में मैंने संस्कृत काव्यशास्त्र को पृष्ठाधार बनाकर उसे भारतीय दृष्टि के लोकसामान्य-स्वरूप तथा धरातल पर ही प्रतिष्ठित करने का प्रयत्न किया है जिसका अभिप्राय यह है कि इस विवेचन को किसी भी भाषा-विशेष की प्रकृति के अनुकूल अथवा हिन्दी-काव्य की सर्जना और आस्वाद-प्रक्रिया के प्रतिकूल समझा जाना समुचित नहीं है। जिस समालोचना-विधा को आज हिन्दी-साहित्य का सर्वाधिक संपुष्ट अंग कहा जाता है, उसकी शास्त्रीयता के प्रतिमान संस्कृत-काव्य-शास्त्र की तथाकथित अलंकार, रीति, गुण, वक्रोक्ति, ध्वनि, अनुमिति, औचित्य, रस और शब्द-शक्तियों की प्रक्रियाओं को कितने अधिक आत्मसात् करते हुए चले हैं, यह एक स्वतंत्र शोध-कृति का विषय है। यही कारण है कि मैंने भारतीय दृष्टि के आलोक में काव्य-सर्जना और काव्यास्वाद के प्रमुख पक्षों का सांगोपांग विवेचन करने के उपक्रम में जिस दृष्टि का आधार लिया है, वह अपने प्रत्यक्षाप्रत्यक्ष रूप में हिन्दी के काव्यशास्त्र से पृथक् नहीं है। अंततः हिन्दी के उत्कृष्ट विद्वान् भी तो संस्कृत काव्यशास्त्र के वैतालिक बने रहने में ही अपना सौभाग्य समझते रहे हैं, अतः उनके वाग्विलास की गंगोत्री की आदि-धारा संस्कृत काव्यशास्त्रीय निधि ही है, यह एक निर्विवाद सत्य है। अपने प्रतिपाद्य विषय के शास्त्रीय विवेचन को मैं अपनी आत्म-चर्वणा का रस प्रदान कर किस रूप में मौलिक बना सका हूँ, इसके निर्णायक तो विद्वज्जन ही हो सकते हैं।

कहने के लिए 'काव्य-सर्जना' और 'काव्यास्वाद' भले ही कवि तथा भावक की कारयित्री और भावयित्री प्रतिभा के क्रमशः पृथक्-पृथक् अभिव्यंजक-रूप स्वीकार किये जायँ, किन्तु उनके पार्थक्य की संसूचक कोई विभाजक रेखा नहीं खींची जा सकती। आत्माभिव्यक्ति की जिस सहज प्रेरणा से अनुप्रेरित होकर कवि अपने स्वसंविद् को

प्रतिभा-प्राकर्ष्य द्वारा काव्यमयी भाषा और रचना-प्रक्रिया प्रदान करता है, उसी सहजानुभूति से उद्भावित होकर वह अपनी सर्जना का तत्त्व-विश्लेषण करता हुआ अपनी आत्मविश्रांति के क्षणों में तन्मयीभवन का सा परमाह्लाद भी प्राप्त कर सकता है। अतः काव्य-सर्जना के सारस्वत प्रदेश का प्रथम स्रष्टा होने के साथ-साथ वह उसका सर्वप्रथम आस्वादयिता भी सिद्ध होता है। भारतीय साहित्य-दर्शन में कवि को 'कविर्मनीषी परिभूःस्वयम्भूः' कहने का श्रुतिवाक्य अन्यथा नहीं है। वह शब्दब्रह्म का सरस व्याख्याकार, जगत् और जीवन के सर्वांगीण पक्षों का उद्भावक, चराचर-विश्व में अंतर्व्याप्त चेतना का उद्गाता और 'अहम्' तथा 'इदम्' का समन्वयकारी एक ऐसा प्राणी है जिसका अधिमानस पंचभौतिक शरीर में अधिष्ठित होकर भी अपने आत्मचैतन्य की वाणी में ही जीवन की चरमसिद्धि उपलब्ध करता है। भारतीय तत्त्व-चिंतकों और काव्य-मीमांसकों ने कवि की उस अलौकिक गरिमा और कर्तृत्व-शक्ति का अंतर्दर्शन कर उसे व्याख्येय बनाने के जो सत्प्रयास किये हैं; उनके नवनीतोपम-निष्यंद भी मेरी इस कृति में यथा-स्थान परिस्रवित किये गये हैं जिनके आकलन से यह तथ्य स्पष्ट हो सकेगा कि भारतीय दृष्टि में 'काव्य-सर्जना और काव्यास्वाद' की विवेचना का एक विशेष 'दर्शन' है जो एक ही त्रिक् में 'कवि', 'काव्य-कृति' और 'काव्य-भावक' का समाहार करने का सामर्थ्य रखता है। आधुनिक युग-जीवन की तथाकथित वैज्ञानिक और भौतिक विचार-प्रणाली ने काव्य-समष्टि को क्षत-विक्षत करने के जो व्यवहितिपरक स्थूल उपकरण अनुसंधित किये हैं, वे अपना शाश्वत प्रतिमान स्थापित कर सकेंगे, इसमें तो मुझे संदेह ही है। सच तो यह है कि जीवन-चेतना की अखंडता तथा अनंतता और भाव-संवेदना की अपारता एवम् अगाधता का जो बीचि-विलास काव्यकृतियों के रूप में आन्दोलित होता है, उसे मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया की विविध प्रणालियों और विचार-पद्धतियों से टटोलने का 'प्रयास-मात्र' भले ही किया जाय, किन्तु उसकी पराकोटि पर अधिरोहण करने में तो उनकी गति भी कुंठित और अवरुद्ध हो जाती है। आत्मचैतन्य का विश्लेषण करते-करते आधुनिक मनोविज्ञान परा-मनोविज्ञान की सीमा में प्रविष्ट होकर आत्म-स्तम्भित होने लगा है, अतः उसे आत्मदर्शन की सहज प्रतीति कब हो सकेगी, इस विषय में दृढ़तापूर्वक कुछ भी नहीं कहा जा सकता। मैंने काव्य-सर्जना अथवा काव्य-विश्व के उद्गम और विस्तार में वाक्तत्त्व का विश्लेषण कर शब्दब्रह्म की जिस सरस साधना में कविवाणी का अलौकिकत्व निरूपित करने की चेष्टा की है, उसका प्रमुख प्रयोजन यही है कि काव्य-सर्जना के विशाल प्रदेश में भारतीय दृष्टि का वह आलोक विकीर्ण हो सके जो वाङ्मय-विस्तार के आदिकाल (वैदिक साहित्य) से लेकर अद्यतन युग-पर्यन्त अपने प्रकृष्टापकृष्ट रूप में अंतःसलिला की भाँति सतत प्रवहमान और अक्षुण्ण बना हुआ है। मेरा विश्वास है कि प्रस्तुत शोध-प्रबंध के खण्डत्रय में विभक्त विचारधारा एक ही त्रिवेणी की देवोपम-सरिताओं के प्रवाह में उच्छलित होकर तीर्थ-राज का सा साहित्य-संगम समुपस्थित करने का उपक्रम-मात्र है जिनके वस्तु-संगठन में किसी भी प्रकार का व्यतिक्रम न होकर एक ही तत्त्व अथवा सत्य के अन्वेषण का अजस्र स्रोत वर्तमान है। काव्य-सर्जना और काव्यास्वाद जैसे विश्वविश्रुत गम्भीर विषय को

भारतीय दृष्टि के आलोक में अभिव्यक्त करने की अन्तःप्रेरणा मेरे मानस को अनेक वर्षों से उत्कंठित कर रही थी, जो इस शोध-कृति का निमित्त बनकर 'फलितार्थ' हुई है और यह उपलब्धि मेरे आत्मतोष के लिए किसी भी रूप में कम स्पृहणीय नहीं कही जा सकती।

काव्य-सर्जना और काव्यास्वाद जैसे गम्भीर, व्यापक और लोक-कालातिक्रांत विषय के विराट् वैभव एवम् अनन्त प्रसार की थाह लेना अत्यंत दुःसाध्य कार्य है, क्योंकि उसकी विवेचना के संदर्भ में काव्य-सृष्टि का अखिल आलोक न जाने किस काल से खगोलवर्ती ज्योतिष्पुंजों की भाँति सघन और केन्द्रीभूत होकर अपनी रुचिर रश्मियाँ विकीर्ण करता हुआ चला आ रहा है। मैंने विवेच्य विषय की गुरुता और अपनी ज्ञानगत लघुता का सम्यक् विचार करने के पश्चात् यही उचित समझा कि उसे भारतीय काव्य-दर्शन की उन मूलभूत विचारणाओं और सैद्धान्तिक प्रतिपत्तियों के माध्यम से ही व्याख्यात करने की चेष्टा करूँ जो भारतीय जीवन-दर्शन, धर्म-संस्कृति और काव्य-साहित्य में सामान्यीकृत रूप से अंतर्व्याप्त है। अपनी कार्य-योजना को एक सुनिश्चित गति प्रदान करने की भावना से मैंने अपने शोध-विषय को मुख्यतः तीन खंडों में विभक्त कर उनके अंतर्गत भिन्न-भिन्न अध्यायों की सीमा-रेखाओं को नियोजित करने की चेष्टा की है जिनका प्रमुख हेतु अपनी शोध-यात्रा की गंतव्य भूमि पर पहुँचने के मार्ग में पृथक्-पृथक् विराम-स्थलियों का निर्माण करना रहा है। शोध-कृति का प्रथम खण्ड काव्य-सर्जना का पीठबंध प्रस्तुत करता है तो द्वितीय खंड उसके स्वरूप-विधायक भारतीय काव्य-तत्त्वों की शास्त्रीय विवेचना का उपोद्घात करने वाला है। तृतीय खंड में काव्यास्वाद अथवा रस-प्रतीति से सम्बद्ध विभिन्न विषयों की विवृति की गई है जिसका प्रेरणा-स्रोत एवम् मेरुदण्ड भारतीय जीवन-दर्शन और काव्यशास्त्र ही है। कहने के लिए ये तीनों खंड पृथक्-पृथक् कलेवरों में आकलित हुए हैं, किन्तु उनके अंतराल में जीवन-चेतना का एक ही सूत्र अनुस्यूत है जिसमें भिन्न-भिन्न अध्यायों की स्थिति मौक्तिकमाला के उन पृथक् गोलकों के तुल्य है जिनके कारण सूत्र को माला का रूप प्राप्त होता है तथा मौक्तिकों को एकसूत्रता में अनुबिद्ध होने का आधार मिलता है। विवेच्य विषय को शास्त्र-मर्यादा और शास्त्र-दृष्टि की गरिमा प्रदान करने के प्रयोजन से मैंने उसे जिस भाषा-शैली और अभिव्यंजन-प्रणाली में व्यक्त किया है, वह अधिकांशतः शास्त्रीय परम्परा की अनुवर्तिनी और प्राचीन आचार्यों की मान्यताओं का पुनराख्यान करने वाली है, यद्यपि उसके अंतराल में मेरी अल्पमति का विचारपक्ष और अभिव्यक्ति का शैली-प्रबोध भी स्थल-स्थल पर मुखरित होता हुआ चला है। अपनी ज्ञान-कणिका के प्रति किंचिन्मात्र भी मिथ्याभिमान न करते हुए मैं विद्वज्जनमंडली की सेवा में अत्यंत निष्कपट एवम् विनम्र भाव से इतना निवेदन करना तो अवसरोचित ही समझता हूँ कि मैंने प्रायः बीस वर्षों से अधिक समय पर्यन्त अध्ययन-अध्यापन करने के साथ-साथ साहित्य-देवता की सतत साधना और निरंतर आराधना करते हुए उसके स्वरूप-बोध और आत्म-दर्शन का जो कुछ और जैसा भी आत्मसाक्षात्कार किया है, उसे अपनी वाणी के माध्यम से अभिव्यक्त कर कृतकृत्य हो गया हूँ। देवमंदिर की देहली पर सहज रूप से

समर्पित किया गया मेरे भाव-सुमनों का यह तुच्छ उपहार अपने सौरभ-सचार द्वारा उदारचेता विद्वद्‌समाज को अवश्यमेव आह्लाद, तृप्ति और मनः प्रीति प्रदान करेगा, ऐसा मेरा विश्वास है। मैं यह तो नहीं कह सकता कि इस कार्य का 'फलागम' अथवा 'निर्वहण' किस कोटि का बन सका है, किन्तु इतना अवश्य जानता हूँ कि मैंने अपने शोध-विषय से सम्बद्ध जो कुछ भी विवेचन किया है, उसकी विचारधारा एवम् रचना-प्रक्रिया में मेरा आत्म-तत्त्व सर्वत्र संयोजित रहा है। भारती-माता के दिव्य प्रासाद की प्रभामयी रत्नराशियों के मध्य मेरी यह कृति पद्मपत्रस्थित जलबिंदु की भाँति यदि मरकत कांति का प्रतिभास धारण कर सकी तो मैं उसी में अपनी साहित्य-साधना की सफलता समझूँगा।

जहाँ तक शोध-कार्य की मौलिकता का प्रश्न है, मैं इस विषय में आत्मविज्ञप्ति करने का किंचिन्मात्र भी अधिकारी नहीं हूँ क्योंकि इसके मुख्य निर्णायक तो काव्यमर्मज्ञ विद्वान् ही हो सकते हैं। फिर भी शोध-कार्यों की परिनिष्ठ-प्रणाली और व्यावहारिक प्रक्रिया में अपने कार्य की मौलिकता आदि के विषय में शोधकर्ता की ओर से यत्किंचित् कहने की जो उपचारगत परिपाटी बनी हुई है, उसका अनुपालन करते हुए मैं भी यह निवेदन करना आवश्यक और प्रसंगोचित समझता हूँ कि मैंने भारतीय दृष्टि के आलोक में काव्य-सर्जना और काव्यास्वाद की शास्त्रीय विवेचना करने के लिए उसकी विषय-सामग्री का प्रमुख उपजीव्य संस्कृत काव्यशास्त्र को ही बनाया है क्योंकि उसका आधार लिये बिना इस विषय का तत्त्व-विमर्श अथवा सम्यक् विबोध किया ही नहीं जा सकता था। अपने शोध-प्रबंध के प्रारम्भिक उपक्रम में मैंने भारतीय जीवन-दृष्टि के मूलभूत तत्त्वों का विश्लेषण कर इस तथ्य के प्रतिपादन का सदुद्योग किया है कि यहाँ के मंत्र-दृष्टा ऋषियों, काव्यात्मबोधक आचार्यों और वाक्तत्व विमर्शकारी मनीषियों ने वाणी अथवा शब्दब्रह्म की उपासना करते हुए उसका अर्थगत विवर्त्त एवं काव्यगत सौष्ठव जिस रूप में निरूपित किया है, वह भारतीय वाङ्मय का एक ऐसा लोकोत्तर चमत्कार है जिसका अन्यत्र उपमान मिलना असम्भववत् है। यहाँ के आद्याचार्य भरतमुनि ने नाट्यवेद की उत्पत्ति का पौराणिक आख्यान परिकल्पित कर परोक्ष रूप से काव्य-सर्जना का जो पीठबंध प्रस्तुत किया है, उसका अपनी दृष्टि से पर्यालोचन करते हुए मैंने जो अनेकविध निष्कर्ष निकाले हैं वे यदि मेरी मौलिकता के परिचायक बनकर विद्वद्‌समाज का अल्पमात्रमपि मनोरंजन कर सके तो क्या वह मेरी मनस्तुष्टि की उपलब्धि नहीं होगी ? इसी प्रकार काव्य-पुरुष की अवतारणा के दिव्याख्यान को भी मैंने काव्य-सर्जना के उपक्रम में निरूपित कर उसका जो बौद्धिक प्रत्यय निरूपित किया है, उससे स्पष्ट है कि राजशेखर की कल्पना में काव्य-पुरुष का विराट् वपु कितनी अधिक शालीनता और भव्यता के साथ अलंकृत हुआ था। इन दो पौराणिक आख्यानों के माध्यम से मैंने काव्य-सर्जना-विषयक भारतीय दृष्टि का आलोक विकीर्ण करने की चेष्टा की है जो शोध-प्रबंध के प्रथम खंड के प्रथम अध्याय की विवेच्य सामग्री बनी है तथा जिसे अपनी शोध-यात्रा का प्रथम चरण कहने में मुझे किंचित् मात्र भी संकोच नहीं हो रहा है।

काव्य-सर्जना का उपक्रम करने के पश्चात् मैंने प्रथम खंड के द्वितीय अध्याय में

भारतीय दृष्टि से काव्य का स्वरूप-लक्षण निर्धारित करने का प्रयत्न किया है जिसका एक छोर 'शब्दार्थौ काव्यम्' की परिभाषा में उपलक्षित होकर विभिन्न काव्य-सिद्धांतों की सीमा पार करता हुआ ध्वनि-तत्त्व की अलौकिकता में समाहित हुआ है तो दूसरा छोर शब्द-ब्रह्म की अखंडता का निरूपक बनकर 'रमणीयार्थप्रतिपादकशब्दः काव्यम्' के लक्षण में काव्य-लक्षण की अभिव्यक्ति कर सका है। इसी अध्याय में काव्य के भेदोपभेदों का रहस्य और उनके विभाजन के आधार निरूपित किये गये हैं जिनकी उल्लेखनीय विशेषता यह है कि काव्यशास्त्र के प्रारम्भिक काल में वह 'विवेचन' गद्य और पद्य की स्थूल प्रणालियों में ही किया गया था, जबकि शास्त्र-ज्ञान की परिपक्वता और विचार-दर्शन की सूक्ष्मता के फलस्वरूप रसमुख से व्याख्यात होकर ध्वनि, गुणीभूत व्यंग्य और चित्रकाव्य की कोटियों में विवेचित किया जाने लगा। इन दोनों प्रकार की विवेचनाओं की मध्यवर्तिनी स्थिति का विश्लेषण करते हुए मैंने उन तत्त्वों का भी उल्लेख किया है जो काव्य-विभाजन के विभिन्न कालों में आधारस्थल रहे हैं। काव्य-भेदों के नैरंतर्य में मैंने उन कवि-कोटियों का भी परिचय दिया है जिन्हें भारतीय आचार्यों ने विविध दृष्टियों से परिकल्पित कर अंततोगत्वा 'प्रतिभाशाली' कवियों को ही सर्वोत्कृष्ट पदवी प्रदान की है। इस प्रकार यह अध्याय काव्य-सर्जना का स्वरूप-विधान एवं उसके भेद-प्रसार का सामान्य विश्लेषण करने के साथ-साथ काव्य-स्रष्टा की श्रेणियों की भी रहस्य-विवृति करने वाला बन गया है जिसका जीवन-रस भारतीय काव्यशास्त्र की तत्वनिष्यंदिनी संजीवनी शक्ति से अनुप्राणित है।

काव्य-सर्जना के विभुतामय विश्व में उसके वर्ण्य विषयों की अर्थ-व्याप्ति तथा काव्यार्थयोनियों की प्रजनन-शक्ति का महत्व इतना अधिक है कि उनकी विवेचना किये बिना मेरा शोध-कार्य विकलांग हो जाता, अतः मैंने काव्य-सर्जना के तृतीय अध्याय में अपने विवेच्य विषय की सीमा और मर्यादा का अभीष्ट अनुपालन करते हुए भारतीय दृष्टि के आलोक में ही काव्य-पुरुष की विराटता और उसकी विषय-व्याप्ति निरूपित की है। उस निरूपण की एक विशेषता यह भी है कि उसमें केवल मानव-लोक पर्यन्त व्याप्त जीवन और जगत् ही काव्य की विषय-व्याप्ति का क्रीडाकानन नहीं बना है अपितु स्वर्गीय और पातालीय वृत्तियाँ भी अपना पद-संचरण करती हुई चरितार्थ हुई हैं। काव्य के वर्ण्य विषयों का एक प्रमुख परिशिष्ट काव्य-रूढियाँ भी हैं जिन्हें इसी अध्याय के साथ संयोजित कर मैंने इस विषय का विस्तृत विवेचन किया है कि भारतीय कवियों और आचार्यों ने अपनी कृतियों और सिद्धांतों के कलेवर में उन्हें किस रूप में स्थान प्रदान किया है। काव्य-सर्जना की विषय-व्याप्ति से सम्बद्ध काव्य-स्रष्टा का अपना वैशिष्ट्यपूर्ण आत्मपक्ष भी है जिसकी महत्ता का प्रतिपादन करते हुए मैंने कवि के सामाजिक दायित्व और सम्प्रेषण-विधान का भी उल्लेख करना अपना पुनीत कर्त्तव्य समझा है। इस प्रकार इस अध्याय की विचार-सामग्री द्वारा काव्य-सर्जना की रेखाओं में एक प्रकार का रंग-वैचित्र्य उपरंजित हो गया है जिसकी शबलता में काव्य-साहित्य के रंगीनी सूत्र भारतीय चिंतन की सौशब्द्यमयी सरस व्यंजना को एक ही स्थल पर संग्रथित करने और काव्य के वर्ण्यविषयों की अंतर्व्याप्ति को सामरस्य की दीप्ति प्रदान

करने के उपकरण सिद्ध हुए हैं।

काव्य-सर्जना के उपर्युक्त पक्षों की विवेचना के पश्चात् मैंने उनके प्रेरक हेतुओं, प्रयोजनों और काव्य की मूलभूत प्रेरणाओं का विषय निरूपित किया है जिसके मूल में भारतीय चिंतन की ऊर्जा और साधना की शक्ति अंतर्निहित है। यहाँ के आचार्यों ने 'प्रतिभा-तत्त्व' को काव्य-सर्जना की आद्या-शक्ति निर्धारित कर भिन्न-भिन्न दार्शनिक प्रपत्तियों और चिंतन-दिशाओं से उसके अलौकिकत्व का जैसा गुण-विस्तार किया है, वह निश्चय ही पराकोटि का है। 'प्रतिभा' के अतिरिक्त 'व्युत्पत्ति' और 'अभ्यास' आदि काव्य-कारण काव्य-विधाता की विश्वरचना में किन-किन परिस्थितियों में कैसा-कैसा सहयोग अथवा प्रस्फुरण प्रदान करते हैं, उनका शास्त्रीय विवेचन करने के उपरांत अंततोगत्वा मैं इस निष्कर्ष और निर्णय पर पहुँचा हूँ कि काव्य-कारणों की रत्नमाला में प्रतिभा की स्थिति ही सुमेरु-तुल्य है और उसी की अंतर्दृष्टि द्वारा अन्य काव्य-हेतुओं को भी 'शक्ति' एवं 'प्राण-चेतना का ओज' मिलता है। काव्य-हेतुओं के साथ-साथ काव्य-प्रयोजनों का घनिष्ठ सम्बन्ध निरूपित कर मैंने काव्य-प्रेरणाओं पर स्वतंत्र विचार भी किया है जिनकी संगति, व्यवस्था, शास्त्रानुकूल मर्यादा और काव्य-सर्जनागत उपयोगिता का प्रकाशन विवेच्य विषय की प्रौढि में किस कोटि का आलोक-विस्तार कर सका है, इसका प्रमाण तो केवल चतुर्थ अध्याय के अनुशीलन द्वारा ही मिल सकेगा। 'आत्मविवृति' की भूमिका में उसका विस्तार करना अप्रासंगिक एवं अनुचित समझकर मैंने उसका संकेतमात्र करना ही-पर्याप्त समझा है। इस प्रकार उपर्युक्त चार अध्यायों की सीमा में मेरी 'काव्य-सर्जना' का प्रथम खंड उपबृंहित होकर अपनी समापन-क्रिया की सिद्धि प्राप्त कर लेता है।

शोध-प्रबंध का द्वितीय खण्ड भारतीय काव्य-चिंतन की दृष्टि से काव्य-सर्जना के उन स्वरूप-विधायक तत्त्वों का विवेचन उपस्थित करता है जिन्हें आधार बनाकर भारतीय आचार्यों ने काव्य के स्वरूप-बोध एवं आत्मपक्ष के उद्‌घाटन का प्रयत्न किया है। यों तो रीति, गुण, अलंकार, वक्रोक्ति, ध्वनि. अनुमिति, और रस आदि प्रमुख काव्य-तत्त्वों अथवा सिद्धान्तों के विषय में समस्त काव्य-मीमांसकों ने अपनी-अपनी प्रवृत्ति, अभिरुचि, क्षमता और मान्यताओं के अनुसार न्यूनाधिक मात्रा में प्रधानाप्रधान-व्यापार से आत्मविवृतियाँ प्रस्तुत की हैं, किंतु मैंने उक्त तत्त्वों का विश्लेषण करने में उन्हीं आचार्यों को विशिष्ट गुरुता प्रदान की है जो उक्त सिद्धांतों के उद्‌घाटक अथवा प्रबल प्रतिपोषक माने जाते हैं। उदाहरणार्थ रीति-तत्त्व और काव्य-मार्ग का काव्य-सर्जनागत स्वरूप-विधान निरूपित करते हुए मैंने क्रमशः आचार्य वामन और कुंतक की मान्यताओं का विशेष आधार ग्रहण किया है तो गुणों और अलंकारों के विवेचन में दण्डी, भामह, वामन, मम्मट और पंडितराज जगन्नाथ की मान्यताओं को विशिष्ट कोटि का प्रश्रय दिया है। जहाँ तक काव्य-सर्जना के स्वरूप-विधान का प्रश्न है, दोष-तत्त्व-विमर्श उसका स्वरूप-विधायक मुख्य तत्त्व नहीं है, फिर भी उसका विवेचन एक स्वतंत्र अध्याय के रूप में किया गया है जिसका मुख्य अभिप्राय यह है कि काव्य का रूप-बोध कराने वाले प्रायः सभी आचार्यों ने उसे 'गुणाभाव मात्र' न मानकर उसकी

स्वतंत्र सत्ता भी स्वीकार की है। काव्य-सर्जना को वैदग्ध्यभंगिभणिति प्रदान करने वाले सिद्धांत के रूप में वक्रोक्ति-तत्त्व को उद्भावित कर आचार्य कुंतक ने उसे वर्ण-प्रयोग से लेकर प्रबंध-रचना पर्यन्त व्याप्त माना है, जिसमें अन्य काव्य-सिद्धांतों को समाहित करने के लिए उन्हें विशेष प्रयास-तत्पर भी होना पड़ा है। मैंने कुंतक द्वारा बिवेचित वक्रोक्ति-सिद्धांत को विशद व्याख्या में प्रस्तुत किया है जिससे यह स्पष्ट हो सके कि अलंकारवादी आचार्यों ने 'वक्रोक्ति' को शब्दालंकार का एक भेदमात्र मानकर ही उसकी शक्ति सीमित कर दी थी, किंतु कुंतक ने उसे वामन से विराट् बना दिया। विवेचन के इसी क्रम में ध्वनि-तत्व और अनुमान-सिद्धांत भी पर्यवेक्षित हुए हैं जिन्हें निरूपित करते समय मेरा एक आंतरिक प्रयोजन यह भी रहा है कि उनके माध्यम से मैं यह तथ्य सुचारु रूप से प्रकट कर सकूँ कि भारतीय काव्य-चिंतकों की दृष्टि काव्य के स्वरूप-विधायक तत्वों की स्थूलता और वस्तुपरकता को पार कर किस प्रकार सूक्ष्मता और आत्मपरकता की ओर उन्मुख हुई थी। ध्वनि-तत्व के परार्द्ध में संयोजित अनुमान-तत्व का संक्षिप्त विश्लेषण आचार्य महिमभट्ट की उस प्रज्ञा का निदर्शन कहा जा सकता है जिससे उत्प्रेरित होकर उन्होंने अनुमान-सिद्धांत में ही सम्पूर्ण ध्वनि-तत्व का अंतर्भाव सिद्ध करने की चेष्टा करते हुए काव्य के स्वरूप-सर्जन, अर्थबोध और रसास्वाद को भी अनुमानगम्य ही स्वीकार किया था। इस खंड का अन्तिम अध्याय 'काव्य-सर्जना और औचित्य-सिद्धांत' है जिसे सबसे अंत में विवेचित करने का प्रथम प्रयोजन तो यह है कि काव्य-सिद्धांतों की परिचर्चा में आचार्य क्षेमेन्द्र ने उसे अन्य सिद्धांतों की प्रतिष्ठा हो जाने के पश्चात् उत्तरवर्ती स्थिति प्रदान की थी और दूसरा प्रयोजन यह है कि 'औचित्य-तत्त्व' अन्य काव्यसिद्धांतों की भाँति रूढ़ न होकर प्रायोगिक अधिक है जिसके परिपालन की आवश्यकता सभी काव्य-सिद्धांतों के लिए नितांत अपेक्षणीय है। मैंने औचित्यतत्त्व की सामान्य विवेचना करने के पश्चात् प्रबन्ध-काव्यों की रसाभिव्यंजकता में भी उसका औचित्य-विधान विशेष रूप से निरूपित किया है जिससे स्पष्ट हो सके कि वह काव्य-बंध के महद्रूप पर्यन्त व्याप्त एवम् रस-तत्त्व का भी उपनिषद् है।

शोध-प्रबंध का तृतीय खण्ड काव्यास्वाद अथवा रस-प्रतीति की विवेचना प्रस्तुत करता है। इस खण्ड को मैंने छः अध्यायों में विभक्त कर काव्यास्वाद की प्रक्रिया के स्पष्टीकरण का प्रयास किया है। काव्यास्वाद की मुख्य भूमिका में अवतीर्ण होने के पूर्व मैंने रसास्वाद की आधारभित्ति और उसके प्रसार का पर्यालोचन उपस्थित करते हुए इस विषय का महत्त्व विशेष रूप से व्यक्त किया है कि भावों और रसों का परस्पर क्या सम्बन्ध है तथा हमारा भावलोक काव्य-सामग्री का संयोग प्राप्त कर किस प्रकार रसोन्मीलन की दिशा में आनंदोन्मुख बनता है। रसास्वाद को अखंड अभिव्यक्ति मानते हुए भी मैंने उसके भेदोपभेदों की सरणियाँ भी निरूपित की हैं जिनकी विचार-सामग्री भारतीय आचार्यों की प्रमाणपुष्ट मान्यताओं पर आयोजित की गई है। भारतीय आचार्यों के तत्त्वदर्शन ने रस के भेद-प्रभेदों का विमर्श करने के साथ-साथ एक मूलरस की कल्पना में जिस प्रकार का विचार-मंथन प्रस्तुत किया है, उसका नवनीततुल्य निष्कर्ष भी इस

खण्ड के प्रथम अध्याय में विवेचित हुआ है। इस खण्ड का द्वितीय अध्याय रस-निष्पत्ति का तत्त्व-दर्शन उपस्थित करता है जिसके प्रारम्भ में मैंने रस-निष्पत्ति की विवेचना को काव्यास्वाद की प्रक्रिया का ही विवेचन कहकर उसकी पूर्वपीठिका प्रस्तुत की है। तदनंतर भरतमुनि के रसनिष्पत्ति-सूत्र के प्रमुख व्याख्याकार आचार्यों के नामोल्लेखपूर्वक उनकी मान्यताओं के पूर्वपक्ष और उत्तरपक्ष निरूपित किये गये हैं जिनसे इस तथ्य की तत्त्वपूर्ण उपलब्धि हो सके कि उनकी मान्यताओं की मूलभूत दार्शनिक दृष्टि क्या थी और वे अपने पूर्ववर्ती आचार्यों के विचारपक्ष की अपूर्णता का परिज्ञान करने के पश्चात् रस निष्पत्ति जैसे महत्वपूर्ण विषय का भाष्य करने में किस प्रकार का दृष्टिकोण उचित समझते थे। इस विवेचन की एक विशेषता यह भी है कि मैंने रस-निष्पत्ति के आधारभूत व्याख्याता आचार्य-चतुष्ट्य को एक दूसरे के विरोधी न मानकर परस्पर पूरक माना है क्योंकि वे अपने पूर्ववर्ती आचार्यों की धारणाओं को ही अपनी विवेचना का आधारतत्त्व बनाकर अपनी सिद्धि कर सके हैं। यदि ऐसा न होता तो आचार्य अभिनवगुप्त कदापि इस बात का उल्लेख नहीं करते कि उन्होंने कोई अपूर्व बात न कहकर केवल मुनिसम्मत विचारों को ही परिशुद्ध रूप में उपस्थित किया है।

तृतीय खंड के तृतीय अध्याय में मैंने भारतीय तत्त्व-चिन्तन की दृष्टि से रस का स्वरूप और उसका आस्वाद विवेचित किया है। इस विवेचन के मुख्य उपजीव्य आचार्य विश्वनाथ. आनंदवर्धन, धनंजय और पंडितराज जगन्नाथ आदि हैं जिन्होंने अपनी-अपनी दार्शनिक मान्यताओं से रस को लोकोत्तर स्थिति प्रदान करने की दिशा में गण्यमान प्रयत्न किये हैं। हमारे महर्षियों ने रस को परमात्मस्वरूप एवम् आनंदमय कहकर उसकी चर्वणा को अखंड, वेद्यान्तरस्पर्शशून्य और अनिर्वचनीय आदि पदों से व्याख्यात करने की जो चेष्टाएँ की हैं, वे एक विशेष अनुक्रम एवम् तारतम्य से इस अध्याय में विवेचित हुई हैं। रस और आस्वाद की एकता एवम् औपचारिक विभेदता का उल्लेख करने के पश्चात् मैंने रस के स्वरूप-बोध एवम् आस्वाद-विमर्श के सैद्धांतिक विश्लेषण से सम्बद्ध ऐसा कोई भी महत्वपूर्ण शास्त्र-पक्ष अस्पृष्ट नहीं रखा है जिस पर भारतीय विचारकों की दृष्टि गई है। साथ ही साथ अपनी विवेचना में मैंने रस के स्वरूपबोध की जटिलता को भी स्पष्ट और प्रांजल बनाने का लक्ष्य भी अपने विचारपथ में सर्वत्र रखा है। रस का स्वरूप-बोध और आस्वाद-तत्त्व विवेचित करने के पश्चात् मैंने एक स्वतन्त्र अध्याय के रूप में रस का अधिवास एवम् उसकी सुखदुःखरूपता का तात्त्विक विश्लेषण किया है जिसका सारभूत निर्णय केवल इतना ही है कि प्रथमतः कवि का आत्मसंवित् की रस का मूल अधिष्ठान है जो उसके प्रतिभाकौशल से काव्य-कृति के रूप में अभिव्यक्त होकर उसके माध्यम से सहृदयजनों के मानस को भी आत्मविश्रांति प्रदान करता है। रस अथवा काव्यास्वाद की सुखदुःखमयी स्थिति का स्पष्टीकरण करने के लिए मैंने मनोमय भूमिका का ही अवलम्बन लिया है क्योंकि उपचयवादी आचार्य भी उसी के आधार पर उसकी विचार-सिद्धि करते चले हैं। इसी अध्याय में करुणरस की आस्वाद्यता को विशेष रूप से व्याख्यात करते हुए मैंने आनन्दमयी स्थित के उन कारणों का उल्लेख किया है जो भारतीय काव्यशास्त्र-सम्मत होने के साथ-साथ सहृदयजनसंवेद्य और

लोकमानसग्राह्य कहे जा सकते हैं। अंततोगत्वा मैं भी इसी निष्कर्ष पर पहुँचा हूँ कि मानसी प्रतीति के एक विशेष दृष्टिकोण से हम भले ही रसों की सुखदुःखरूपता निरूपित करें, किंतु स्वसंवित् की चर्वणा के कारण सभी रस आनन्द-स्वरूप हैं, जिनका आनन्द 'महारस' की कल्पना में नियोजित होकर अपनी चरम सिद्धि प्राप्त करता है।

'काव्यास्वाद' खण्ड का पंचम अध्याय रस-प्रतीति के बाधक तत्त्वों का विमर्श उपस्थित करता है जिसका मुख्य प्रतिपाद्य विषय इस तत्त्व का निर्णय करना है कि काव्यानुसेवन की वेला में काव्य-कृति तथा काव्यास्वादयिता की मनः स्थिति को प्रयोजनीभूत बनाकर कौन-कौन से रस-विघ्न काव्यानन्द में बाधा उपस्थित करते हैं। इसी अध्याय में मैंने 'रसाभास' को काव्यास्वाद की हीनकोटि में प्रतिष्ठित कर उसका शास्त्र-सम्मत अर्थ एवम् क्षेत्र-विस्तार निरूपित किया है जिससे उसके अनेक महत्वपूर्ण पक्ष उद्‌घाटित हुए हैं। साथ ही साथ रसाभास और भावाभास का अन्तर निरूपित कर मैंने रसों के पारस्परिक विरोधाविरोधों का अभिप्राय, रूप तथा विरोध-परिहार के उपायों का भी विश्लेषण किया है जिनका रहस्योद्‌घाटन किये बिना रस-विमर्श का एक महत्वपूर्ण अंश अस्पृष्ट ही रह जाता। इस प्रकार के सम्पूर्ण विवेचन को पुष्टि प्रदान करने के प्रयोजन से मैं एतद्‌विषयक अधिकारी विद्वानों के मतों का भी उल्लेख करता चला हूँ।

काव्यास्वाद-विवेचना का अन्तिम अध्याय रसास्वाद की दो विशिष्ट कोटियों का निरूपण है जिनके अन्तर्गत क्रमशः 'शांतरस की आस्वाद्यता और उसका रहस्य' तथा 'भक्ति-रस का रूप-दर्शन' शीर्षक दो उपविभाग हैं। इनकी विशिष्ट विवेचना की आवश्यकता इसलिए प्रतीत हुई कि विद्वानों का एक विशेष समुदाय इन्हें क्रमशः अभावमय ही मानता रहा या केवल भावकोटि तक ही मान्यता प्रदान कर सका। मैंने इनके स्वतन्त्र स्वरूप और वैशिष्ट्य की गरिमा निरूपित करने के लिए आचार्य अभिनवगुप्त और आचार्य रूपगोस्वामी के विचारों को मुख्य आधार बनाया है। इस प्रकार इस अध्याय के पर्यवसान में मेरी शोध-यात्रा का अन्तिम चरण फलितार्थ सा हो जाता है।

भारतीय दृष्टि के आलोक में 'काव्य-सर्जना और काव्यास्वाद' की विवेचना करने के पश्चात् मैंने उपसंहार के रूप में 'पाश्चात्य दृष्टि में काव्यसर्जना और काव्यास्वाद' विषयक एक स्वतन्त्र अध्याय जोड़ा है जिसका शोध-विषय के साथ प्रकृत सम्बन्ध न होने पर भी उसकी उपयोगिता एवम् आवश्यकता कम नहीं कही जा सकती। आज के युग-जीवन और सांस्कृतिक जागरण पर पश्चिमी साहित्य और विचारधारा का प्रभाव इतनी अधिक मात्रा में पड़ा है कि उसकी उपेक्षा करते हुए किसी भी विषय का सम्यक् बोध किया ही नहीं जा सकता। मैंने इस अध्याय में पाश्चात्य जीवन-दर्शन और काव्यानुचिंतन को आधार बनाकर उन मुख्य काव्य-सिद्धांतों का संक्षिप्त विवरण एवम् सारगर्भित निष्कर्ष प्रस्तुत किया है जो वहाँ की कलामीमांसा, साहित्य-साधना, काव्य-सर्जना और काव्यास्वाद की प्रक्रियाओं को पद-पद पर अनुप्राणित करते चले आ रहे हैं। साथ ही साथ मैं यथाप्रसंग उन तत्त्वों का संकेत भी करता चला हूँ जो भारतीय और पाश्चात्य काव्य-चिंतन और जीवन-दर्शन में अपनी सर्वसामान्य स्थिति रखते हैं। आज

के अनेक तर्कशील विचारक पूर्व और पश्चिम की सांस्कृतिक भिन्नताओं और देशकालीन सीमाओं में आबद्ध होकर मानव-संवेदनाओं में चाहे कितना ही अन्तर निरूपित करने की चेष्टा करें, किंतु एक स्थिति ऐसी भी आती है जहाँ इस प्रकार की भेद-भावना के लिए कोई स्थान नहीं रहता। वस्तुतः वही मानवता की उच्च एवम् उदात्त भूमि है जहाँ काव्य-सर्जना और काव्यास्वाद जैसे विषय भी विश्वात्मभाव से व्याख्यात होकर मानव-मात्र के कल्याण एवम् आनन्द के आश्रय बनते हैं। मेरी इस शोध-कृति द्वारा यदि इस प्रकार की किंचिन्मात्र भी उपलब्धि हो सकी तो मैं अपना श्रम सार्थक समझूँगा।

विश्वविद्यालयीय नियमों के अनुसार मैंने अपने इस शोध-कार्य का शुभारम्भ आचार्य पं० रामशंकर जी शुक्ल 'रसाल' के 'परामर्श-निर्देश' में किया था जो प्रस्तुतीकरण के पश्चात् विद्वान् परीक्षकों द्वारा संस्तुत होकर जोधपुर विश्वविद्यालय की डी० लिट्० उपाधि के लिए स्वीकृत हुआ। उस विश्वविद्यालय ने इसकी प्रकाशनार्हता का महत्त्व समझ कर इसके प्रकाशनार्थ दो सहस्र रुपयों का आर्थिक अनुदान देना स्वीकार किया जिसके लिए मैं उसका आभारी हूँ। उस धनराशि का सदुपयोग मेरे द्वारा किसी भी रूप में नहीं हो पाता यदि आत्माराम एण्ड संस के संचालक श्री रामलाल जी पुरी मेरे इस ग्रन्थ के प्रकाशन का दायित्व लेकर मेरा उत्साह नहीं बढ़ाते। वस्तुतः उन्हीं के सत्प्रयास से यह ग्रन्थ 'प्रकाश' में आ रहा है।

मैं उन साहित्य-मनीषियों के प्रति अपनी हार्दिक कृतज्ञता प्रकट करता हूँ जिनकी कृतियों से मुझे इस ग्रन्थ के प्रणयन में सहायता मिली है। ग्रन्थ-प्रकाशन की इस शुभ वेला में मैं आचार्य पं० हजारीप्रसाद जी द्विवेदी के प्रति विशेष रूप से प्रणतिपूर्वक आभार प्रदर्शित करता हूँ जिन्होंने अपनी विद्वत्तामयी भूमिका द्वारा इस ग्रन्थ की लघुता को गौरवान्वित किया है।

'आत्मविवृति' के अन्त में मैं वीणापाणि सरस्वती के पदाम्बुजों का भक्तिपूर्वक ध्यान कर उसी के एक अनन्य और अकिंचन सेवक के रूप में अपनी यह तुच्छ कृति उन सारस्वत पुत्रों के कर-कमलों में समर्पित करता हूँ जो इस विषय के अधिकारी विद्वान् एवम् वाक्-तत्त्व के साक्षात् द्रष्टा मनीषी हैं। उनकी प्रखर प्रतिभा से आलोकित शारदा-मन्दिर के विशाल प्रांगण के एक कोने में मेरी साधना का यह लघुदीप उनके स्नेहपूर्ण अनुग्रह का आधार पाकर यदि अपना नगण्यवत् धूमिल प्रकाश भी विकीर्ण कर सका तो उसका सम्पूर्ण श्रेय उन्हीं के स्वभाव-सुलभ सहज औदार्य एवं आत्मभाव को ही होगा।

—वेंकट शर्मा

अनुक्रम

१

भारतीय जीवन-दृष्टि, वाक्तत्त्व और काव्य-सर्जना

विषय-प्रवेश : भारतीय जीवन-दृष्टि और काव्य

विश्वनियंता परमात्मा के अद्भुत सृष्टि-प्रसार में मनुष्य की स्थिति सर्वाधिक विचित्र और रहस्यमयी है। वह अपनी ज्ञान-गरिमा और शक्तिमत्ता के कारण समस्त प्राणियों का अधिनायक बनकर उन्हें अपनी बुद्धि-प्रक्रिया द्वारा संचालित करता हुआ सतत संचरणशील रहा है। ज्ञान-विज्ञान की बहुविध शाखा-प्रशाखाओं और कला-सौन्दर्य की सहस्रमुखी सरणियों में विकसित उसकी बोधशक्ति और रागवृत्ति के अनन्त रूप विश्व-वैभव की अभिवृद्धि के उपादान-हेतु हैं जिनका सृष्टि-वैचित्र्य विवेचित करना सामान्य कार्य नहीं है। वह केवल बहिर्जगत् के पार्थिव तत्त्वों का रहस्योद्घाटन करने की दिशा में ही विकासोन्मुख नहीं रहा है, अपितु अपनी आध्यात्मिक साधना और आत्मचेतना की चरम परिणति के रूप में 'अहं ब्रह्मास्मि' जैसी अपार्थिव सिद्धि करने में भी समर्थ हुआ है। उसके पंचभौतिक शरीर में अधिष्ठित रहनेवाला 'आत्म-तत्त्व' सच्चिदानन्द एकघन परमात्मा का ही एक अंश है जिसके साक्षात्कार के लिए न जाने उसे कितने प्रकार की तपश्चर्या और साधनाएं करनी पड़ी हैं। यह एक अत्यन्त उल्लेखनीय बात है कि देशकाल की सीमाओं और परिस्थितियों में आबद्ध और नियन्त्रित रहते हुए भी मनुष्य ने ऐसे अनेक चिरन्तन और शाश्वत सत्य अनुसन्धित किये हैं, जिनमें युग-युग का स्पन्दन मूर्तिमान बनकर विश्व-सभ्यता और संस्कृति का अनु-मापक आधार अथवा निकष बन गया है। साहित्य और दर्शन उसकी सुमधुर साधना के ही दिव्य प्रतिफल हैं जिनका आस्वादन और आकलन अनिर्वचनीय आनन्दधारा का उत्स कहा जा सकता है। यों तो सभी देशों के विचारकों और दार्शनिकों ने अपनी-अपनी प्रज्ञा और विवेक-शक्ति के अनुसार स्थूल और सूक्ष्म तथा पार्थिव और अपार्थिव विषयों पर अपनी-अपनी विचारणाएँ व्यक्त की हैं, तथापि भारतीय मनीषियों का एतद्विषयक प्रदेय असाधारण और अनुपम कोटि का है। यहाँ के तत्त्वद्रष्टा महर्षियों ने साधारण से साधारण विषयों को भी दार्शनिक भूमिका प्रदान करते हुए जीवन का जो तत्त्व निष्यंदित किया है, वह विश्वविश्रुत और विद्वद्जनवरेण्य है। भारतीय जीवन-दृष्टि का वैशिष्ट्य उसकी काव्य-सर्जना और काव्यास्वाद की प्रक्रिया को भी अनु-प्राणित करता रहा है जिसका शास्त्रीय और तात्त्विक विमर्श करना अत्यन्त गम्भीर

और रुचिकर विषय है। प्रस्तुत शोध-कृति का एकमात्र प्रयोजन भारतीय दृष्टि के आलोक में काव्य की रूप-रचना और आस्वादप्रक्रिया का विवेचन करना है जिसके प्रति सहज अनुराग होने के कारण ही मैंने इसे अपना प्रतिपाद्य विषय बनाया है।

काव्य और जीवन-दर्शन का सहज एवं अविच्छेद्य सम्बन्ध है। दार्शनिक पृष्ठभूमि का आधार लिए बिना काव्य के स्वरूप-विधान और आस्वाद-विमर्श का तत्त्व-विश्लेषण किया ही नहीं जा सकता। सभी देशों के काव्य-साहित्य के मूल में वहाँ का जीवन-दर्शन अनुप्राणित है। इस विषय में भारतीय जीवन-दृष्टि का वैशिष्ट्य सर्व-लोकविख्यात है। यहाँ की आध्यात्मिक साधना का चरम उत्कर्ष वेदांत-दर्शन में प्रति-फलित हुआ है जिसमें 'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या' की मान्यता के आधार पर दृश्यमान जगत् को अनित्य, असार तथा माया का प्रसारमात्र कहकर 'ब्रह्म' तत्त्व को ही सत्य माना गया है। बौद्ध दर्शन के विज्ञानवादी तथा प्रत्ययवादी दृष्टिकोण ने भी भौतिक जगत् की सत्ता में विश्वास न रखकर परोक्ष सत्ता को ही वास्तविक माना है। भारतीय दर्शन की अन्यान्य शाखा-प्रशाखाओं में भी इसी प्रकार की प्रवृत्ति परिलक्षित होती है जिसका प्रभाव यहाँ के काव्य-साहित्य पर भी प्रत्यंकित है। यहाँ के जीवन-दर्शन की आदर्शवादिता और नैतिकता ने काव्य-साधना को 'शिवेतरक्षति' तथा 'सद्यः परनिवृति' जैसे पुनीत प्रयोजनों के साथ संयोजित कर जिस विशिष्ट चिंतन को प्रश्रय दिया है, वह निश्चय ही यहाँ की अद्वितीयता का ही परिणाम है। काव्य-सर्जना के लिए दैवी प्रेरणा और अनुकम्पा की 'अपेक्षा' तथा काव्य के विषय-चयन में धर्मग्रंथों और पुराणों का उपयोग करते हुए यहाँ के मनीषी काव्यकारों ने दर्शन की प्रतिपत्तियों को सदैव दृष्टि-गत रखा है। यहाँ के काव्यशास्त्र में शब्दों की अमूर्त शक्तियों तथा व्यापारों का जो विश्लेषण किया गया है, वह भी दार्शनिक विचारधारा से अतिरंजित है। सच तो यह है कि दार्शनिक चिन्तन को उपजीव्य बनाए बिना न तो यहाँ की काव्य-सर्जना का पक्ष ही स्पष्ट किया जा सकता है और न काव्यास्वाद की प्रक्रिया को ही बोधगम्य करना सम्भव है। यहाँ के वाङ्मय-विमर्श में न्याय, मीमांसा, योग, शैव, बौद्ध तथा जैन दर्शन की मान्यताओं का पद-पद पर प्रभाव प्रदर्शित हुआ है। रस-सिद्धांत की विवेचना में रस को अखंड, चिन्मय, वेद्यांतरस्पर्शशून्य और ब्रह्मानन्दसहोदर कहने की जो शास्त्रानुमोदित परम्परा रही है। वह यहाँ के दार्शनिक चिंतन का ही तो प्रतिफल है। आज के परिवर्तित दृष्टिकोण में जड़वादी विचारधारा का प्राधान्य होने के कारण भारतीय दार्शनिक चिंतन और 'काव्यसाधना के अध्यात्मपरक सम्बन्ध' को भले ही समय-बाह्य कहकर उपेक्षित करने की चेष्टा की जाए, किन्तु यहाँ के काव्य-देवता के चेतनांश में दर्शन का जो प्रकाश-पुंज आलोकित है वह सदैव शाश्वत और अमर रहेगा।

भारतीय जीवन-दृष्टि के आलोक में काव्य की रूप-सर्जना और आस्वाद-प्रक्रिया का विवेचन करने के पूर्व हमारा सर्वप्रथम ध्यान भारतीय दर्शन की उस पुरातन परम्परा की ओर जाता है जिसमें जीवन का चरम लक्ष्य जीवन्मुक्ति अथवा निःश्रेयस सिद्धि की उपलब्धि में विवेचित किया गया है। यहाँ की आध्यात्मिक चेतना ने ज्ञान-

विज्ञान के असंख्य रूप-भेदों को आलोकित करते हुए अपना जो आत्मप्रसार किया है, उसका प्रभाव काव्य-सर्जना और काव्यास्वाद के विभिन्न अंग-प्रत्यंगों पर अत्यन्त गम्भीर और व्यापक रूप में पड़ा है। इतरदेशीय काव्य-साहित्यों की भाँति यहाँ की तत्त्वमीमांसा भी अपने काव्य-जगत् को निरन्तर अनुप्राणित करती रही है जिसकी सघन और विरल रेखाओं को परिस्थितिजन्य कहकर भी हम इस तथ्य की उपेक्षा नहीं कर सकते कि उसके मूल में हमारे तपःपूत मनीषियों की उस आत्मसाधना का बल है जिस पर भारतीय संस्कृति का महान् सेतु निर्मित हुआ है। काव्य और दर्शन का यह अन्योन्याश्रित सम्बन्ध अत्यन्त भव्य और महत्त्वपूर्ण होने के साथ-साथ अविच्छेद्य और सहज भी है जिसे बोधगम्य करने के अनन्तर ही हम भारतीय काव्य की मूलभूत विशेषता को हृदयंगम कर सकते हैं। ऐसी स्थिति में हमारे लिए यह आवश्यक है कि हम सर्वप्रथम 'दर्शन' शब्द की व्युत्पत्ति तथा उसकी प्रायोगिकता से परिचित होकर भारतीय दृष्टि का तत्त्व-निष्यंद करने की दिशा में सचेष्ट हों, जिसके मेरुदण्ड पर भारतीय काव्य-साहित्य और उसकी साधना का उद्भव और विकास हुआ है।

दर्शन-शब्द की व्युत्पत्ति और उसका काव्य-विनियोग

'दर्शन' शब्द के मूल में 'दृश्' धातु है जिसका अर्थ है देखना। सामान्यतया 'दर्शन' शब्द इन्द्रियजन्य निरीक्षण का वाचक है, किन्तु उसके अन्तर्गत हमारे प्रत्यय-ज्ञान अथवा अन्तर्दर्शन का भाव भी सन्निहित है। उसका सम्बन्ध घटनाओं के सूक्ष्म निरीक्षण, तार्किक परीक्षण तथा आत्मदृष्टि से भी है। तथाकथित दर्शनशास्त्र की आलोचनात्मक प्रवृत्तियों तथा पद्धतियों के साथ-साथ जीव, जगत्, प्रकृति, माया, आत्मा और परमात्मा आदि से सम्बद्ध अनेक प्रकार की धारणाओं का विवेचन भी इसके अन्तर्गत आता है। उनका तात्त्विक सम्बन्ध हमारे अन्तर्दृष्टिजन्य अनुभव से विशेष रूप में है जिसकी पुष्टि तार्किक प्रमाणों द्वारा भी की जा सकती है। द्वैत से अद्वैत की ओर अग्रसर होने के जितने भी मार्ग हैं, वे सब दर्शन-शास्त्र की विशाल परिधि में समाविष्ट होते हैं। सभी देशों के साहित्य में दर्शन की भिन्न-भिन्न प्रणालियाँ प्रचलित रही हैं। इस क्षेत्र में भारतीय दृष्टि का महत्त्व सर्वोपरि कहा जा सकता है। यहाँ के धर्मनिष्ठ महात्माओं ने प्राचीनकाल से ही परब्रह्म का साक्षात्कार करने की भावना से जीवन और जगत् की जिन समस्याओं का समाधान करने की चेष्टा की है, वह उनके आत्मतत्त्व का ऐसा उज्ज्वल प्रकाश है जो विश्वात्मरूप के साथ तादात्म्य स्थापित करने की दिशा में सफल हो सका है। यहाँ के धार्मिक अनुष्ठानों और क्रिया-कलापों ने दर्शन-शास्त्र की विविध सरणियों को स्फूर्तिदायिनी प्रेरणाएँ प्रदान की हैं। यहाँ का दर्शन जीवन की अंतःसलिला के साथ प्रवाहित रहा है जिसकी प्रबुद्धता और आत्मचेतना शतशः वन्दनीय है। उसे प्रारम्भ ही से तर्कमिश्रित आस्था का बल प्राप्त है जिसका प्रसार विविध-रूपिणी दार्शनिक प्रपत्तियों में हुआ है। सांख्य, योग, वैशेषिक, पूर्वमीमांसा, न्याय और वेदान्त के अतिरिक्त जैन, बौद्ध और चार्वाक दर्शनों की गम्भीर तथा व्यापक रहस्य-मयता की अनुभूति जिन प्रमाताओं ने की है, वे इस बात का अनुमान लगा सकते हैं कि

भारतीय मनीषा ने जीवन के लौकिक तथा पारलौकिक तत्त्वों का अनुसंधान करने में अपनी साधना का सदुपयोग कितनी दृढ़ता और निष्ठा के साथ किया था। यहाँ के धार्मिक जीवन ने न केवल सामाजिक आदर्शों का निर्माण करने में ही अपना सहयोग दिया है अपितु वह उस उदार दृष्टिकोण से भी परिप्लावित रहा है जिसकी व्यापकता में सभी प्रकार के मतवादियों को अभीष्ट प्रतिष्ठा प्राप्त हुई है। जो लोग भारतीय जीवन-दृष्टि को संकुचित और रूढ़िग्रस्त समझते हैं, वे इस तथ्य से सर्वथा अनभिज्ञ हैं कि उसके अनेकत्व में भी एकत्त्व तथा विविधता में भी एकात्मता के भाव सन्निहित हैं। यदि ऐसा न होता तो यहाँ की दिव्योपम भूमि में आस्तिक तथा नास्तिक, भौतिकवादी और आनन्दवादी, हेतुवादी और स्वतंत्र तथा संशयवादी और विधर्मी आदि सभी प्रकार के विचारकों को समानुपातिक रूप से एक-सा महत्त्व और गौरव प्राप्त नहीं होता।

भारतीय जीवन-दृष्टि में दर्शन अथवा तत्त्वमीमांसा का स्वतंत्र एवं प्रमुख स्थान रहा है। प्राकृतिक परिस्थितियों की अनुकूलता तथा जीवन-संग्राम की सरलता ने यहाँ के तत्त्ववेत्ता महर्षियों को गूढ़ार्थ-चिन्तन के प्रति विशेष आकृष्ट किया है। यूनान तथा रोम आदि पश्चिमी देशों के विशेष कालों में जहाँ दर्शन को राजनीति, नीतिशास्त्र, इतिहास, समाजशास्त्र, प्राकृतिक-विज्ञान तथा परमार्थ विद्या की विविध सरणियों में विवेचित किया गया था, वहाँ भारतीय विचारधारा में वह सर्वथा आत्मनिर्भर, स्वतंत्र और ज्ञान-विज्ञान की अनेकविध शाखा-प्रशाखाओं के लिए मार्गदर्शक बनकर उपस्थित हुआ। मुण्डकोपनिषद् में उसे 'ब्रह्मविद्या' के नाम से व्याख्यात कर समस्त विज्ञानों का आधार अथवा सम्पूर्ण-विद्याओं का प्रतिष्ठापक कहा गया है, जिसके द्वारा उसका सर्वोपरि स्थान स्वत: ही सिद्ध हो जाता है। भारत के महान् नीतिकार चाणक्य ने 'आन्वीक्षिकी' के नाम से दर्शनशास्त्र की विवेचना करते हुए उसे अन्य 'सम्पूर्ण विषयों का प्रदीप' तथा 'समस्त कर्तव्यकर्मों का पथ-प्रदर्शक' माना है जिसका समर्थन श्रीमद्‌भगवद्‌गीता के द्वारा भी किया जा सकता है। वस्तुत: दर्शन किसी भी देश अथवा जाति के सांस्कृतिक विकास का नवनीत अथवा अमृतोपम निष्यंद है जिसके द्वारा हम उसके बौद्धिक तथा आध्यात्मिक स्तर का परीक्षण कर सकते हैं। भारतीय जीवन के विकासक्रम का आलोचनात्मक अध्ययन करने से यह तथ्य स्वत: स्पष्ट हो जाता है कि यहाँ के 'दर्शन' की आध्यात्मिकता ने भारतीयों को कठोरतम परिस्थिति में भी धैर्य-स्खलित होने से रोका तथा बड़े-बड़े राजनीतिक विप्लवों और सामाजिक आन्दोलनों के वात्याचक्रों से भी वे प्रकम्पित होने से बचे रहे। असत्य का बहिष्कार तथा 'सत्यमेव जयते' की प्राण-प्रतिष्ठा करने में यहाँ की दार्शनिक उपलब्धि किसी भी सशक्त चेतना से कम स्फूर्तिदायिनी नहीं रही है। पराधीनता के वातावरण में जिस भक्ति-साधना की अजस्र पयस्विनी ने यहाँ के शुष्कप्राय जन-मानस में आशा की जिन आनन्द-लहरियों का संचार किया, वे यहाँ की दार्शनिक प्रतिपत्तियों का मूल रस लेकर ही तो उद्वेलित हुई थीं। गीता और उपनिषदों का तत्त्वज्ञान तथा पुराणों और महाकाव्यों के आख्यान अपनी ऊर्ध्वमुखी कल्पनाओं के द्वारा जिन रूपों में भारतीय मानस का आह्लादन करते रहे हैं, वे सब यहाँ के दर्शन के आत्मचिंतन के ही तो सुफल हैं। यहाँ के सांस्कृतिक

आन्दोलन और सामाजिक सुधार भी दर्शन की भूमिका से अस्पृष्ट नहीं हैं। यहाँ तक कि भारतीय जीवन में जिस प्रकार की सहिष्णुता, सर्वभूतहितैषणा तथा कर्मवादी विचारधारा का प्राबल्य संचरित है, वह यहाँ की दर्शनशास्त्रीय मान्यताओं का ही पुनीत प्रसाद है।

पाश्चात्य विचारकों के साथ-साथ कतिपय भारतीय विद्वानों ने भी भारतीय धर्म-साधना और दार्शनिक मान्यताओं को रूढ़िग्रस्त तथा हठवादितापूर्ण कहकर उन्हें दुराग्रहमूलक सिद्ध करने की चेष्टा की है, किन्तु जो तत्त्वमीमांसक उसके प्रकृत स्वरूप से परिचित हैं वे इस बात को भली-भाँति जानते हैं कि यहाँ की धर्मसाधना कभी भी एकांगी और पूर्वाग्रही नहीं रही, अपितु यहाँ की तत्त्वमीमांसा में 'धर्म' एक ऐसा युक्ति-युक्त संश्लेषण रहा जिसने दार्शनिक प्रपत्ति के साथ-साथ अपने अन्तर्जीवन में नित्य-नूतन विचारों का अभिनिवेश करने में कथमपि संकोच नहीं किया। यहाँ के धार्मिक आन्दोलन केवल वायवी कल्पनाओं अथवा निराधार आस्थाओं के प्रतिफल न होकर ठोस तर्कभूमि पर अधिष्ठित रहे थे, जिनके मूल में कोई न कोई दार्शनिक विचारधारा अनुप्राणित रही है। सच तो यह है कि यहाँ की धर्म-साधना में जब-जब जड़वादी दृष्टि-कोण का प्राधान्य हुआ, तब-तब बुद्ध, महावीर, व्यास और शंकर प्रभृति युगपुरुषों ने भारत-वसुन्धरा पर अवतीर्ण होकर यहाँ के धार्मिक और आध्यात्मिक क्षेत्र में नवीन उत्क्रांतियाँ कीं जिनके फलस्वरूप यहाँ का सांस्कृतिक जीवन पुनरुत्थान की लहरियों से आन्दोलित हो उठा। गीता के महान् उपदेशक भगवान् श्रीकृष्ण ने धर्म की ग्लानि तथा अधर्म के अभ्युत्थान की वेला में अवतारवाद के जिस सिद्धान्त का समर्थन किया है, वह इस तथ्य का प्रतीक है कि भारत में धर्म का स्वरूप मानव-कर्तव्यों का निर्देशक और लौकिक अभ्युदय के साथ-साथ निःश्रेयस सिद्धि का प्रतिष्ठापक रहा है। कहने की आवश्यकता नहीं कि भारतीय जीवन के सांस्कृतिक निर्माण में धर्म, समाज और दर्शन की दिव्योपम त्रिवेणी ने जो सहयोग प्रदान किया है, वह यहाँ के काव्य-साहित्य के शब्दार्थों में प्रवाहित है और जब तक उसका अंतर्बोध नहीं किया जाता तब तक भारतीय वाङ्मय की मूलभूत चेतना को सहज भाव से आत्मसात् किया ही नहीं जा सकता।

यों तो भारतीय मस्तिष्क तथा जीवन-दर्शन की प्रखर रश्मियाँ ज्ञान-विज्ञान के विविध पक्षों के बाह्य तथा आभ्यन्तर स्वरूप को आलोकित करने की दिशा में प्रयास-तत्पर रही हैं, किन्तु अंततोगत्वा उसने जीवन का चरम लक्ष्य 'आत्मानं विद्धि' के सिद्धान्त में ही स्वीकार किया है। तर्क, व्याकरण, अलंकार, भाषा-विज्ञान, ज्योतिष, आयुर्विज्ञान, प्राणिशास्त्र, भौतिकी तथा कलाओं के विविध आभोगों में परिभ्रमण करने के पश्चात् भारतीय दृष्टि ने ब्रह्मविद्या अथवा दर्शनशास्त्र की अध्यात्म-चेतना को ही जीवन का परम साध्य कहकर उसे अपने ज्ञान-चक्र का केन्द्र माना है। यहाँ का कोई भी शिल्प, ज्ञान, कलाकौशल तथा विषय ऐसा नहीं कहा जा सकता जिसका पर्यवसान आत्मविद्या में न हुआ हो। ज्ञान, कर्म और उपासना का अन्तरतम रहस्य उसी के तत्व-बोध में सफलतामयी चरितार्थता प्राप्त करता रहा है। मन की चेतन, अचेतन और अवचेतन क्रियाओं के साथ-साथ बुद्धि और अंतःकरण की जितनी भी स्थूल और सूक्ष्म वृत्तियाँ हो

सकती हैं, वे सब उसके परिपार्श्व में सन्निहित होकर ही अपनी जीवनगत उपयोगिता सिद्ध करती आयी हैं। पश्चिम के मानसविज्ञान द्वारा प्रस्तुत आधार-सामग्री में इतनी शक्ति अथवा क्षमता नहीं जो उसके अनंत प्रसार का अन्तर्बोध कर सके। जागरित, स्वप्न और सुषुप्ति का जो अन्तर्विज्ञान भारतीय मस्तिष्क ने प्रस्तुत किया है, वह अद्भुत और विस्मयकारी है। गणित, यन्त्र, भौतिकी और ज्योतिष के चमत्कारों की समता में विश्व का कौन-सा प्राचीन देश भारत के अतीतकालीन गौरव में प्रतिष्ठित किया जा सकता है? यहाँ के मस्तिष्क की विश्लेषणात्मक और संश्लेषणात्मक प्रक्रियाओं ने विज्ञान और दर्शन के क्षेत्र में जो उपलब्धियाँ की हैं, वे देश-विदेश के संभ्रान्त विद्वानों द्वारा भी प्रशंसित और संस्तुत हुई हैं। हमें यहाँ इस विषय का व्यापक और गम्भीर विवेचन करना अभीष्ट नहीं है कि भारतीय मस्तिष्क ने स्थूलातिस्थल विषयों से लेकर सूक्ष्मातिसूक्ष्म विषयों तक अपनी उर्वर-शक्ति का प्रभाव और प्रसार कितनी चमत्कृति के साथ प्रदर्शित किया था। हम तो इस प्रसंग में केवल इतना संकेत करना ही पर्याप्त समझते हैं कि भारतीय काव्य-साहित्य तथा वाङ्मय का अध्येता जब तक भारतीय हृदय और मस्तिष्क की मूल वृत्तियों से परिचित नहीं हो जाता तब तक न तो वह यहाँ के काव्य-साहित्य के स्वरूप-निर्माण की सहज प्रेरणाओं और सैद्धान्तिक मान्यताओं को ही मानसगम्य कर सकता है और न उसके आस्वाद-विमर्श के मर्म को ही जान सकता है। भारतीय काव्य के स्वरूप-बोध की विवेचना के पूर्व भारतीय ज्ञान-विज्ञान और जीवन-दर्शन की विविध प्रक्रियाओं और प्रणालियों का जितना अधिक निकटवर्ती अभिज्ञान हमें प्राप्त होगा, उनका उतना ही अधिक सुस्पष्ट अंतर्बोध करने में हम समर्थ हो सकेंगे।

भारतीय काव्य-सर्जना की मूल आधार-भूमि

भारतीय काव्य के रूप-निर्माण की दिशा में यहाँ की प्राकृतिक स्थिति का पर्याप्त योगदान रहा है। यहाँ की दिव्योपम प्रकृति ने यहाँ के निवासियों को न केवल जीवन-निर्वाह के भौतिक साधनों की प्रचुर सामग्री ही प्रदान की है, प्रत्युत उन्हें एक सुदीर्घ-काल-पर्यन्त विदेशी आक्रमणों से अनाक्रांत भी रखा है जिसके कारण वे अपना शान्त और निर्द्वन्द्व जीवन व्यतीत करने में समर्थ हुए हैं। नगाधिराज हिमालय अपनी सघन पर्वतमालाओं और उत्तुंग शिखर-राशियों से जहाँ उदीची दिशा के एक अटल प्रहरी के रूप में पर्याप्त काल-पर्यन्त देश का संरक्षण करता रहा है तो दक्षिण की ओर अनन्त लहरों में विस्तीर्ण महासागर उसके चरणों का प्रक्षालन करता हुआ एक कर्मनिष्ठ सेवक की भाँति अपने कर्तव्य-पालन में सतत जागरूक रहा है। प्रकृति की सहज उदारता और अनुकम्पावश यहाँ के निवासियों के लिए अतीत काल में न तो कभी खाद्य पदार्थों का अभाव रहा और न वे कठोर परिश्रम और जीवन-संघर्ष के जटिल प्रश्नों में ही संग्रस्त हुए। यहाँ के स्वर्णमय अतीत में लोगों को इस बात का विशेष अनुभव ही नहीं हुआ कि संसार भी एक ऐसा युद्ध-क्षेत्र है जिसमें शक्ति, सम्पत्ति और प्रभुत्व की प्राप्ति के लिए संघर्ष करना पड़ता है। यहाँ के मनीषियों का उर्वर मस्तिष्क प्रकृति के गर्भ से

अधिकाधिक लाभसाधन प्राप्त करने तथा संसार की शक्तियों को नियन्त्रित करने की दिशा की ओर किसी भी प्रकार की लोभवासना से आकृष्ट नहीं हुआ और वे भौतिकता की नश्वर तथा ससीम मृग-मरीचिका के चंगुल में न फँसकर अपनी आत्म-शक्ति के प्रस्फुरण में ही विशेषतः दत्त-चित्त रहे। वस्तुतः यहाँ की सभ्यता और संस्कृति का प्रौढ़तम विकास प्रेमापगा सरिताओं के सुरम्य पुलिनों पर अधिष्ठित उन वन-प्रदेशों में हुआ था जहाँ के सघन कुंजों और उन्मुक्त पर्यावरणों ने उन्हें आत्मविश्रांति के क्षणों में श्रेय-सम्बलित आत्मचिंतन की प्रभूत प्रेरणाएँ प्रदान की थीं। निश्चय ही प्रकृति का वह पुनीत प्रांगण शोकविदग्ध मानसों के शान्त्यर्थ सुशीतल वारिधारा का अजस्र प्रवाह बनकर उनके लिए आनन्ददायक अनुलेपन का रूप रहा है जहाँ पर उन्होंने अपने क्लांत जीवन की कर्मसंकुलता से परित्राण प्राप्त किया है। भारतीय संस्कृति के क्रोड़ में सन्निहित तीर्थ-यात्राओं का यह भी तो एक मूलवर्ती रहस्य है जिसे सम्पन्न कर यहाँ के निवासी 'जननी जन्मभूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसी' का स्तोत्र-निनाद करते हुए समस्त देश का परिभ्रमण करने में जीवन की सार्थकता और पुरुषार्थ-चतुष्ट्य की उपलब्धि का श्रेयमय प्रेय प्राप्त करते रहे हैं। प्रकृति का शुचितापूर्ण वातावरण और उसकी साधन-सम्पन्नता, जीवन की सुरक्षित स्थिति और चिन्ता-विमुक्ति तथा दायित्व-निर्वाह की सरल विवृति तथा परमार्थ-भावना ने यहाँ के जीवन-दर्शन पर जो अमिट छाप अंकित की है, वह भारतीय काव्य-साहित्य की आधारशिला कही जा सकती है।

वर्तमान जीवन का परिवर्तित दृष्टिकोण

आज के भौतिक संघर्ष और वस्तुपरक दृष्टिकोण ने भारतीय जीवन-दर्शन के विविध रूपों को भले ही अभिभूत कर लिया हो, किन्तु यह एक सुदृढ़ सत्य है कि उसकी मूल चेतना और आभ्यन्तरिक शक्ति निश्चय ही अध्यात्मपरक है। यहाँ के वाङ्मय के अनन्त विस्तार में जिन दार्शनिक प्रतिपत्तियों का अनगुम्फन सहज वृत्ति में उपलब्ध होता है, वह इस तथ्य का संसूचक है कि भारतीय मनीषियों का अधिमानस केवल क्षुधा और काम की भौतिक परितृप्ति पर्यन्त ही सीमित न होकर उस लोकोत्तर भूमि में भी विचरण करने के लिए सदैव लालायित रहा है जो जीवन का 'परम प्राप्य' और 'प्रेयमय श्रेय' प्रदान करने में उपजीव्य निधि का कार्य करती रही है। भारतीय जीवन-दर्शन के आन्तरिक तत्त्वों से अपरिचित अथवा अर्द्धपरिचित व्यक्ति उसे केवल मिथ्यापरक तथा अकर्मण्य कहकर उसका उपहास कर सकते हैं, किन्तु विचारकों ने उसकी आन्तरिक व्यवस्थाओं को बुद्धिगम्य एवं हृदयंगम किया है, वे उसकी अद्‌भुत उपलब्धियों के प्रति श्रद्धावनत हुए बिना नहीं रह सकते। यहाँ का काव्य-साहित्य तो भारतीय दर्शन की तत्त्वमीमांसा की सुविज्ञता के बिना पूर्णरूपेण स्पष्ट किया ही नहीं जा सकता। भारतीय दर्शन की इस मौलिक विशेषता का परीक्षण उसके वैदिककालीन वाङ्मय से लेकर आधुनिक कालीन काव्य-साहित्य के विकासानुक्रम की परम्परा के आधार पर किया जा सकता है। सच तो यह है कि भारतीय विचारधारा में बौद्धिक दर्शन अथवा आध्यात्मिक अन्तर्दृष्टि का उदात्त स्वरूप ऐसी गरिमा से अभिमंडित है जिसकी समता

के उदाहरण मिलने असम्भव हैं। मैंने इस तथ्य का संकेत साभिप्राय दृष्टिकोण से करते हुए इस बात का उल्लेख करना आवश्यक समझा है कि भारतीय वाङ्मय के अनुक्रम से विकसित भारतीय जीवन और काव्य-साहित्य की दृष्टि का स्वरूप तब तक वैशद्यपूर्ण विधि से स्पष्ट नहीं किया जा सकता जब तक यहाँ की अध्यात्म-चेतना का सम्यक् ज्ञान उसके जिज्ञासु अध्येताओं को न हो। निश्चय ही वैदिक ऋषियों की देवोपम वाणी, उपनिषदों की रहस्यमयी सूक्तियों तथा महाकाव्यकाल की व्यापक जीवन-दृष्टि में जो लोकोत्तर चमत्कार विद्यमान है, वह परवर्ती काव्य-साहित्य के विकास-चरणों के लिए सतत प्रेरणा का विषय है। यह एक ऐसा महत्त्वपूर्ण तत्त्व है जिसका चिन्तनपूर्ण विमर्श किए बिना न तो भारतीय जीवन-दृष्टि का ही अन्तर्बोध किया जा सकता है और न उसके आलोक में काव्य के रूप-सर्जन और रसास्वाद की प्रक्रियाओं का ही शास्त्रीय विवेचन सहज सम्भव है।

भारतीय दृष्टि में वाक्तत्त्व का विवेचन

भारतीय दृष्टि में वाक्तत्त्व का विवेचन अनादि काल से किया जाता रहा है। 'चत्वारि वाक् परिमिता पदानि', 'तुरीयां वाचं मनुष्या वदन्ति', 'तां (वाचं) विश्वरूपाः पशवो वदन्ति' इत्यादि श्रुतिवाक्यों से प्रकट है कि हमारे ऋषि-महात्माओं ने वाक्तत्त्व की अलौकिक गरिमा और लौकिक आवश्यकता का अनुभव कर उसके विषय में गम्भीर विमर्श प्रस्तुत किया था। निरुक्त-निरूपित वैदिक मन्त्रों की अर्थ-विवेचना, प्रातिशाख्य-वर्णित शुद्ध उच्चारण और ध्वनि-विषयक तत्त्व-दर्शन तथा मुनित्रय (पाणिनि-कात्यायन-पतंजलि) विवेचित शब्दानुशासन और व्याकरण-दर्शन का विश्लेषण एक प्रकार से वाग्देवता का ही संस्तुतिपूर्ण व्याख्यान है जिसमें वाणी की महत्ता निरूपित की गई है। श्रुति-ग्रन्थों में तो 'देवी वाचमजनयन्त देवाः' कहकर वाक्तत्त्व के विषय में अनेक प्रकार के प्रतीकार्थ भी कल्पित किए गए हैं। वाक्तत्त्व ही शब्द-ब्रह्म है जिसकी ज्योति से अखिल विश्व प्रकाशित हो रहा है।[1] वाक्तत्त्व का क्षेत्र भाषा के चरम अवयव वर्ण से लेकर महावाक्य तक तथा पिण्ड से लेकर ब्रह्माण्ड-पर्यन्त व्याप्त है। शब्द और अर्थ के रूप में उसकी विवेचना के विस्मयजनक प्रयास हमारे वाक्तत्त्व-द्रष्टाओं ने किए हैं। प्रतिभा-तत्त्व, स्फोटवाद, अक्षरब्रह्म, अर्थविज्ञान, व्याकरण-शास्त्र, शब्द-शक्तियाँ, वाणी-विभेद, शब्द-विवर्त्त, पद-पदार्थ और वाक्य-वाक्यार्थ आदि अनेक विषय वाक्तत्त्व से सम्बद्ध हैं जिनका विवेचन वैदिक वाङ्मय से लेकर आज तक विभिन्न प्रकार की दृष्टियों और दार्शनिक प्रपत्तियों को उपजीव्य बनाकर किया गया है। सच तो यह है कि वाक्तत्त्व की विवेचना में भारतवर्ष विश्व-ज्ञान का शिरोमणि रहा है जिसकी प्रशंसा पाश्चात्य विद्वानों ने भी मुक्तकण्ठ से की है। यजुर्वेद, अष्टाध्यायी और वाक्यपदीय आदि ग्रन्थों में वाक्तत्त्व के अंगोपांगों का विशद विवेचन हुआ है जिसकी समता के अन्य

१. इदमंधतमः कृत्स्नं जायेत भुवनत्रयम्।
यदि शब्दाह्वयं ज्योतिरासंसारान्न दीप्यते।

उदाहरण उपलब्ध होने असम्भव हैं। आत्मतत्त्व-विश्लेषक विद्वानों ने भी परा और अपरा संज्ञक विद्याओं और शक्तियों की विवेचना करते हुए वाणी का अपूर्व गौरव-गान किया है। सच पूछा जाय तो वीणापाणि भारती वाक्शक्ति की ही तो प्रतीक है जिसका प्रसार अखिल ब्रह्माण्ड के ज्ञान-विज्ञान के रूप में मुखरित हुआ है। वह विद्वज्जनमानस-हंसवाहिनी होने के साथ-साथ 'वीणापुस्तकरंजितहस्ता' भी है जिसके विशेषणों को हम क्रमशः 'कलासौन्दर्य' और 'ज्ञान-कोश' के प्रतीक मान सकते हैं। वस्तुतः विश्व का अखिल वाङ्मय उसी वाग्देवी का ही तो साकार अवतरण है जिसका रस-संवेद्य रमणीय रूप 'काव्य'-कलेवर में कान्तिमान होता है। विद्वानों ने उसके विविध रूपों का विवेचन कर वाणी का वाग्विलास निरूपित किया है, जिसका विमर्श करने के पश्चात् ही हम काव्य-वाणी और काव्य-सर्जना की मुख्य भूमिका में अवतीर्ण होंगे।

वाणी (वाक्तत्त्व) के त्रिविध रूप

वाक्तत्त्ववेत्ताओं ने वैखरी, मध्यमा और पश्यन्ती संज्ञक त्रिविध वाणियों की प्रशंसा में जो कुछ विमर्श किया है उससे प्रकट है कि वे उनका क्षेत्र अत्यन्त व्यापक अथ च अनन्त मानते थे। भर्तृहरि, हेलाराज और जयन्त ने अनेकानेक प्रमाण संकलित कर वैखरी वाणी को प्राण-वृत्ति से निबद्ध तथा सम्बद्ध कहा है। यह वाणी कण्ठ और तालु आदि स्थानों में वायु के विकृत होने पर जब वर्ण का स्वरूप धारण कर लेती है तो उसमें प्राणवायु का संचार स्वतः हो जाता है। 'विखर' शब्द का अर्थ है 'देह और इन्द्रियों का समूह' जिसमें उत्पन्न होने के कारण उसे वैखरी कहा जाता है तथा जो श्रवण का विषय है। वैखरी के स्वरूप-लक्षण के विषय में निम्नलिखित मत उल्लेखनीय है—

स्थानेषु निवृते वायौ कृतवर्णपरिग्रहा।
वैखरी वाक्प्रयोक्तृणां प्राणवृत्ति निबंधिनी॥[1]
विखर इति देहेऽन्द्रिय संघात उच्यते, तत्र भवा वैखरी॥[2]

मध्यमा वाणी अन्तःसंकल्प रूप है जिसका उपादान-कारण 'बुद्धि' है। वह क्रमयुक्त, प्राणातीत, सूक्ष्म, हृदयस्थ, अनभिव्यक्त, व्यवहार की कारणभूत और अप्रत्यक्षपदा है।[3] पश्यन्ती वाणी केवल स्वप्रकाशरूप एवं लोक-व्यवहारातीत कही गई है। उसमें 'भेद' और 'क्रम' नहीं होता तथा वह अन्तःस्थल में विद्यमान रहने के कारण निराकार किन्तु असंख्य प्रकार की भी मानी गई है।[4] 'परिच्छिन्नार्थप्रत्यवभास', 'संसृष्टार्थ प्रत्यवभास' तथा 'प्रशान्तसर्वार्थप्रत्यवभास' के नाम से उसके त्रिविध प्रकार हैं

---

१. भर्तृहरि, वाक्यपदीय, १।१४४।
२. जयन्त, न्यायमंजरी, आ० ६, पृ० ३४३।
३. केवलं बुद्ध्युपादाना क्रमरूपानुपातिनी।
प्राणवृत्तिमतिक्रम्य मध्यमा वाक् प्रवर्तते।
४. अविभागान्तु पश्यन्ती सर्वतः संहृतक्रमा।
स्वरूपज्योतिरेवान्तः सूक्ष्मा वागनपायिनी।

जिन्हें योगदर्शन के शब्दों में निर्विकल्प समाधि की व्याख्या द्वारा स्पष्टतापूर्वक समझा जा सकता है। पश्यन्ती का स्वरूप अपभ्रंश से रहित है। उसमें किसी प्रकार की संकीर्णता नहीं होती तथा उसके व्याकरण (विवेचन और विश्लेषण) द्वारा साधुत्व का ज्ञान तथा योग से उसकी प्राप्ति होती है।[२]

वाणी की 'परावस्था' अविवेच्य है

वाणी की तुरीयावस्था को परा अवस्था भी कहा जाता है। उस अवस्था में द्वैत बुद्धि का सर्वथा अभाव हो जाता है और वाक्तत्त्व के साक्षात्कार के कारण अधिकार की पूर्ण निवृत्ति हो जाती है। उसे षोडशकलापूर्ण पुरुष में 'अमृत-अर्था', 'अक्षय', 'अक्षर' और 'अविनाशी कला' कहा गया है।[३] इस अवस्था में पहुँचकर प्रकृति और प्रत्यय के विभाग का भी ज्ञान नहीं रहता, अतः नागेश ने 'उद्योत' तथा 'लघुमंजूषा' में एवं भर्तृहरि ने 'वाक्यपदीय' में पूर्वोक्त वाक्त्रयी पर्यन्त ही वाक्तत्त्व का विवेचन कर 'परा' अवस्था को अविवेच्य माना है।[४] इन विचारकों का तो यहाँ तक कथन है कि पूर्वविवेचित त्रयीवाक् चतुर्थांश रूप में ही मनुष्यों में प्रतिभासित हो रही है जिसका अत्यल्प अंश व्यवहारगत है जबकि अवशिष्ट अंश सामान्य व्यवहार से परे है।[५]

'प्रतिभा' में वाणी का चरम विकास सन्निहित है

वैयाकरणों और दार्शनिकों ने प्रतिभा में वाणी के शब्द और अर्थ तत्त्व की चरम परिणति स्वीकार की है। वे उसे सम्पूर्ण सृष्टि, ज्ञान-विज्ञान और वेद-वेदांग में परिव्याप्त तत्त्व ही नहीं मानते अपितु उसे वाक्तत्त्व का भी पर्याय शब्द कहकर अनन्त, अपरिमित एवं अनिर्वचनीय तत्त्व सिद्ध करते हैं। उनका मत है कि सृष्टि के अणु-परमाणु में जो कुछ भी चैतन्य अथवा वाक्तत्त्व है, वह सब प्रतिभा का ही प्रसार है। महर्षि पतंजलि ने महासत्ता, जाति, भाव, नित्य और सत्य आदि तत्त्वों की विवेचना करते हुए उसका स्वरूप-विवेचन करने की चेष्टा की है जिसका समर्थन भर्तृहरि के वाक्यपदीय द्वारा भी किया जा सकता है।[६]

आचार्य स्फोटायन संभवतः प्रथम व्यक्ति हैं जिन्होंने अपने 'स्फोट' सिद्धांत की अवतारणा द्वारा प्रतिभा-तत्त्व का विश्लेषण किया है। उन्होंने प्रतिभा के नित्यांश और

---

१. हेलाराज, वाक्यपदीय, १।१४४।
२. वही।
३. तस्यां दृष्टस्वरूपायामधिकारो निवर्तते।
   पुरुषे षोडशकले तामाहुरमृतां कलाम्॥
४. भर्तृहरि, वाक्यपदीय, १।१४४।
५. सैषा त्रयीवाक् तुरीयेण भागेन मनुष्येषु प्रत्यवभासते।
   तत्रापि चास्याः किंचिदेव व्यावहारिकमन्यत्तु सामान्य व्यवहारातीतम्।
   — हेलाराज, वाक्यपदीय, १।१४४।
६. भर्तृहरि, वाक्यपदीय, कांड २, श्लोक ११९-१५४।

अनित्यांश रूपों की विवेचना कर उनका पार्थक्य तथा समन्वय भी निरूपित किया है। ऐसा प्रतीत होता है कि आचार्य स्फोटायन अष्टाध्यायीकार पाणिनि के पूर्ववर्ती थे तभी तो महर्षि पाणिनि ने 'अवङ् स्फोटायनस्य'[1] सूत्र में उनका विशेष समादरपूर्वक स्मरण कर 'इन्द्रे च नित्यम्' सूत्र द्वारा बतलाया है कि वह स्फोट इन्द्र में नित्य रूप में रहता है।[2] वस्तुत: 'इन्द्र' पद से उनका अभिप्राय आत्मा, ब्रह्म, प्रतिभा, परमाणु, मूलप्रकृति, परमपुरुष तथा परमतत्त्व से ही है। उन्होंने सृष्टि के प्रत्येक परमाणु में 'स्फोट' और 'ध्वनि' नामक दो मौलिक तत्त्व माने हैं और उन्हें क्रमश: नित्य और अनित्य कहा है। स्फोट का ही दूसरा नाम व्यंग्य है जिसके अभिव्यक्त और नित्य रूप को ध्यान में रख-कर वैयाकरणों ने उसे 'अक्षर' तथा सृष्टि-तत्त्व का आधार माना है। सच तो यह है कि सृष्टि के प्रत्येक परमाणु में प्रतिक्षण स्फोट होता रहता है जिसके कारण सृष्टि की स्थिति बनी हुई है। इसी स्फोट को वैयाकरण 'शब्दब्रह्म', वेदांत-दर्शन 'ब्रह्म', योग-दर्शन 'ईश्वर', सांख्य दर्शन 'पुरुष', वैशेषिक दर्शन 'विशेष' तथा न्याय-दर्शन 'शब्द' मानते हैं। वस्तुत: स्फोट को ही बौद्ध दर्शन में 'ज्ञान', जैन धर्म में 'अणु' (पुद्गल) और चार्वाक-दर्शन में 'भूत' या तत्त्व कहा गया है। यह स्फोट अपने व्यापक अर्थ में ब्रह्म, ईश्वर, आत्मा, आकाश, द्रव्य, स्वभाव और तत्त्व आदि नामों को धारण कर विवेचित हुआ है जिसे हम चाहें तो आधुनिक भौतिक विज्ञान की दृष्टि में 'प्रकृति' अथवा 'द्रव्य तत्त्व' की संज्ञा दे सकते हैं।

'स्फोट' और 'ध्वनि' तत्त्व के स्वरूप-विवेचन के विषय में वैयाकरणों और दार्शनिकों में प्रबल मतभेद है, जिसका मूल कारण यह है कि उन्होंने अपनी-अपनी दार्शनिक मान्यताओं के अनुरूप आत्मा, ब्रह्म, परमात्मा, वस्तु, स्वभाव, शरीर और द्रव्य आदि तत्त्वों की भिन्न-भिन्न व्याख्याएँ की हैं एवं जिनके कारण वे प्रतिभा-तत्त्व का विवेचन भी सादृश्य रूप में नहीं कर सके हैं। इस विषय में आचार्य भर्तृहरि का कथन है कि भिन्न-भिन्न दार्शनिक अपने-अपने दृष्टिकोण से प्रतिभा अथवा वाक्तत्त्व को चाहे किसी भी संज्ञा से अभिहित करें, वह मूलत: चेतन और ज्ञान-स्वरूप ही है जिसके कारण सृष्टि के समस्त अणु-परमाणुओं का अस्तित्व बना हुआ है। तथ्य तो यह है कि वैयाकरणों, दार्शनिकों और साहित्यशास्त्रियों ने शब्द-शक्ति के नाम से जिस वाक्तत्त्व की विवेचना की है, वह सब प्रतिभा का ही प्रसार है। काव्य के रसास्वाद की प्राथमिक पूर्वपीठिका तत्त्वत: शब्दशक्तिबोध अथवा काव्यार्थप्रतीति ही है; जिसकी प्रक्रिया से संचरण करता हुआ काव्यास्वादयिता का अधिमानस संलक्ष्य अथवा असंलक्ष्यक्रम से साधारणीकरण की सीमा को पार करता हुआ तन्मयीभवन की समाधि दशा तक पहुँचता है।

वाक्-शक्ति ही विश्वोत्पत्ति का मूल कारण है

वेदों, ब्राह्मणों, उपनिषदों और निरुक्त आदि ग्रंथों में जिस रूप में शब्द को ब्रह्म

१. अष्टाध्यायी, ६।१।१२३।
२. वही, ६।१।१२४।

तथा वाक्-शक्ति को संसार की उत्पत्ति का कारण माना गया है, वह भारतीय मेधा का चरम निदर्शन प्रस्तुत करता है। उस विवेचन में निगमागमशास्त्रों की बहुविध धारणाओं का अवधानपूर्वक समायोजन हुआ है जिनके आकलन द्वारा वाक्तत्त्व का माहात्म्य और शब्द-ब्रह्म का गौरव स्वतः प्रतिष्ठित हो जाता है। भर्तृहरि ने उन समस्त सिद्धान्तों का पर्यालोचन करने के पश्चात् तद्विषयक जो निर्णयात्मक निष्कर्ष उपलब्ध किए हैं, वे उनके प्रज्ञाविवेक से उपबृंहित एवं शास्त्रज्ञान से परिष्कृत हैं।[१] उन्होंने शब्दब्रह्म की स्वरूप-विवेचना से ही अपने सुप्रसिद्ध ग्रंथ वाक्यपदीय का शुभारम्भ कर उसे अक्षर, अनादि और अनंत कहा है जिसके अर्थ रूप विवर्त से सम्पूर्ण जगत् का कार्य संचालित होता है।[२]

शब्दब्रह्म, स्फोट और वाक्तत्त्व का रहस्य

शब्दब्रह्म का ही पारिभाषिक नाम 'स्फोट' है जिसे वैयाकरणों ने अनादि, अनंत और अक्षर कहकर अर्थ को उसका विवर्त माना है। 'विवर्त' से यथेष्ट साम्य रखने वाला एक अन्य पारिभाषिक शब्द 'परिणाम' है। उन दोनों का तात्त्विक अंतर इस प्रकार स्पष्ट किया जा सकता है कि भ्रम अथवा मायाजन्य अतात्त्विक ज्ञान 'शुक्ति में रजतरूप की अवधारणा' के रूप में यदि 'विवर्त' है तो 'परिणाम' एक ऐसा तात्त्विक विकार है जिसे दुग्ध से दधि रूप की परिणति द्वारा स्पष्ट किया जा सकता है। अर्थ को शब्द का विवर्त मानने का आशय केवल इतना ही है कि वह अपने स्वरूप से च्युत न होते हुए भी असत्य रूप में उसी प्रकार अवभासित होता है जिस प्रकार हम प्रत्यक्ष वस्तुओं का स्वप्नगत दर्शन करते हैं। 'विवर्त' और 'परिणाम' शब्दों की पारिभाषिकता को आधार बनाकर शब्दवेत्ताओं ने अनेक प्रकार के तर्क-वितर्क उपस्थित किए हैं जिनके अनुसार यह अर्थरूप संसार शब्द का 'विवर्त' (अतात्त्विक रूप) और 'परिणाम' (तात्त्विक विकार) सिद्ध होता है। भर्तृहरि ने संसार को शब्द का ही 'परिणाम' स्वरूप कहकर इस सिद्धान्त की प्रतिष्ठा की है कि सृष्टि के आदि में यह विश्व छन्दोमयी वाणी से ही विवर्त को प्राप्त हुआ है।[३]

ब्रह्म तत्त्व ही वाक्तत्त्व का परम आधार है जिसके अनंत प्रसार से यह अखिल विश्व अनुप्राणित है। उसकी वाक्य-योजना में सहस्रों अक्षरों का समावेश रहता है जिसके कारण संसार की सत्ता बनी हुई है।[४] अथर्ववेद ने उन वाणियों का अनुमापन सप्त छंदों से करते हुए लिखा है कि वाक्तत्त्व के आश्रय से ही विद्वान् और कवि सप्तविध

---

१. प्रज्ञाविवेकं लभते भिन्नैरागमदर्शनैः।
क्रियद् वा शक्यमुन्नेतुं स्वतर्कमनुधावता ॥ —वाक्यपदीय, २।४९२।

२. अनादिनिधनं ब्रह्म शब्दतत्त्वं यदक्षरम्।
विवर्ततेऽर्थभावेन प्रक्रिया जगतो यतः। —वही, १।१।

३. शब्दस्य परिणामो यमित्याम्नायविदो विदुः।
छन्दोभ्य एव प्रथममेतद् विश्वं व्यवर्तत ॥ —वाक्यपदीय, १।१२०।

४. ऋग्वेद, १।१६४।१०, ३४-३५ तथा ४४।

स्वरों और छन्दों को अनेक रूपों में प्रस्तुत करते हैं।[1] वस्तुतः ब्रह्मतत्त्व ही अपने वाग्रूप में समस्त वेदों का ज्ञेय, अद्वैत दर्शन का स्रष्टा और अद्वैतत्व का ज्ञाता है।[2]

वाणी अथवा वाक्शक्ति से अमर्त्य तथा मर्त्य विश्व की सृष्टि हुई है जिसे श्रुति-ग्रंथों में 'वागेव विश्वा भुवनानि जज्ञे, वाच इत्सर्वममृतं यच्च मर्त्यम्' की शब्दावली में व्यक्त किया गया है। नागेश भट्ट ने वाणी की 'परा' नामक तुरीयावस्था से संसार की उत्पत्ति मानी है जिसे भर्तृहरि ने पश्यन्ती वाणी में ही समाहित कर 'शब्दब्रह्म' और 'परावाक्' की संज्ञा दी है। शब्दब्रह्म से ही सृष्टि का विकास तथा उसी में उसका विलीनीकरण निरूपित करते हुए भर्तृहरि ने लिखा है कि सृष्टि के आदि में अनादि निधन, सर्वग्राह्य ग्राहकाकारवर्जित पश्यन्ती वाणी-रूप शब्दब्रह्म रहता है जो अपरिमित शक्तिशाली और मायायुक्त बनकर प्रथमतः नानारूपात्मक समस्त प्रपंचों को बुद्धि में स्थापित करता हुआ विश्व-सर्जना का संकल्प करता है और तदुपरांत अपनी 'कला' नामक स्वतंत्र शक्ति से युक्त होकर आकाश आदि पंचतन्मात्राओं को उत्पन्न करता है जिनसे क्रमशः पंचभूतों की सृष्टि और तदनंतर समस्त सृष्टि का विस्तार होता है। सृष्टि के विस्तार और प्रलय का यह रहस्य निम्नलिखित कारिकाओं में सुव्यक्त हुआ है—

तथेदममृतं ब्रह्म निर्विकारमविद्यया।
कलुषत्वमिवापन्नं भेदरूपं विवर्तते॥
ब्रह्मेदं शब्दनिर्माणं शब्दशक्तिनिबंधनं।
विवृतं शब्दमात्राभ्यस्तास्वेव प्रविलीयते॥

यजुर्वेद के पुरुषसूक्त में परमपुरुष को भूत, भविष्यत् और वर्तमान का स्वामी अमृततत्त्व अथवा अक्षरतत्त्व का अधिष्ठाता कहा गया है। समस्त पंचभूत उसका एक पाद तथा सम्पूर्ण सृष्टि उसका चतुर्थांश है। उसके तीन पाद अक्षर और अमर हैं। ऋग्वेद के पुरुषसूक्त में भी यही बात कही गई है। उसमें भी उसके चतुर्थांश को व्यवहार का विषय कहकर अवशिष्ट अंश (तीन चौथाई) को व्यवहारातीत, निर्लेप और निरंजन कहा गया है। उसके चतुर्थांश से ही सृष्टि का प्रादुर्भाव और विकास हुआ है। सच तो यह है कि वैखरी वाणी ही इस सृष्टि में विराट् पुरुष-रूप है। उसके तीन पादों का अधिवास बुद्धि में सन्निहित है और जो साधक उसकी मध्यमा, पश्यंती और परा संज्ञक त्रिविध अवस्थाओं का स्वयं साक्षात्कार कर लेता है, वह पिता का पिता तथा परमतत्त्व (वाक्तत्त्व) का ज्ञाता हो जाता है।[3] (त्रीणि पदानि निहिता गुहास्य यस्ता निवेद स पितुः पितासत्)।[4]

नागेश भट्ट ने परब्रह्म और शब्दब्रह्म को पृथक्-पृथक् मानकर तांत्रिक मत के अनुसार उनकी विवेचना की है। शब्द-ब्रह्म की उत्पत्ति का वर्णन करते हुए उन्होंने लिखा है कि 'बिन्दु' नामक तत्त्व से 'शब्द-ब्रह्म' नामक वर्णादि-विशेष रहित, ज्ञानप्रधान,

१. अथर्ववेद, ६।१०।२१।
२. ऋग्वेद, १।१६४।२४ तथा १०।११४।५-७।
३. यजुर्वेद, ३१।४-२२।
४. वही, ३२।६।

सृष्टि के उपयोगी अवस्था-विशेषयुक्त चेतना-मिश्रित 'नाद' उत्पन्न होता है जो जगत् की उत्पत्ति का उपादान कारण है तथा जिसे 'ख' तथा 'परा' आदि नामों से भी सम्बोधित किया जाता है। वह 'नाद' सर्व-व्यापक होते हुए भी प्राणियों के मूलाधार चक्र में स्थित रहता है जिसमें स्वतः कोई गति नहीं होती किन्तु जब उसमें ज्ञात अर्थ के बोध की इच्छा से प्रयत्न होता है तो उसमें गति हो जाती है जिससे शब्द की अभिव्यक्ति होती है। उन्होंने जगत् की सिसृक्षात्मिका वृत्ति को 'माया' कहकर उसी से 'बिन्दु' रूपी अव्यक्त त्रिगुणात्मक शक्ति-तत्त्व की उत्पत्ति मानी है जिसके 'बीज', 'नाद' और 'बिन्दु' नामक तीन विभाग हैं। अचित् अंश को 'बीज', चिदचिन्मिश्रित अंश को 'नाद' तथा चित् अंश को 'बिन्दु' कहकर उन्होंने 'अचित्' शब्द से 'शब्द और अर्थ दोनों के संस्कार-रूप अविद्या' का ग्रहण माना है। अभिप्राय यह है कि नागेश के मतानुसार प्राणियों के कर्मों को फल प्रदान करने के लिए परमात्मा में जगत् की सिसृक्षा उत्पन्न होती है और उसका रहस्य हम तभी समझ सकते हैं जब हम यह जान लें कि महाप्रलय के समय भुक्तभोग्य समस्त प्राणियों का माया में लय हो जाना तथा माया का चेतन ईश्वर में लय हो जाना उनके सर्वथा नाश और अतीति का रूप नहीं है क्योंकि यदि ऐसा हो तो सृष्टि की उत्पत्ति ही नहीं हो सकती। इस प्रकार नागेश ने सृष्टि का वर्णन प्रपंच-सार, काशी-खण्ड आदि तांत्रिक ग्रंथों के आधार पर किया है जिसका विस्तृत विवरण भास्कर-राय के ललितसहस्र नाम की व्याख्या, शारदातिलक और सूत-संहिता में भी मिलता है। नागेश भट्ट ने सृष्टि तथा शब्द-ब्रह्म की उत्पत्ति का रहस्य निम्नलिखित श्लोक में व्यक्त किया है—

बिन्दोस्तस्माद् भिद्यमानाद् खोऽव्यक्तात्मकोऽभवत्।
स एव श्रुतिसम्पन्नैः शब्दब्रह्मे ति गीयते ।।

वेदोपनिषदों में भी वाणी (वाक्तत्त्व) का माहात्म्य-गान हुआ है

वेदों में वाणी अथवा वाक्तत्त्व का माहात्म्य अनंत रूपों और प्रकारों में अभिव्यक्त किया गया है। उसे तेजोमय, आनंदमय, मनीषारूप और प्रतिभातत्त्व की संज्ञा से अभिहित कर न केवल वाक्तत्त्व के आश्रय से वाक्तत्त्व के उद्धार का ही सिद्धान्त प्रतिष्ठित किया गया है, अपितु इस तथ्य की भी पुष्टि की गई है कि वाक्-शक्ति के कारण ही इन्द्र अपशब्दों का प्रयोग करनेवाले दुष्टात्माओं का संहार करते हैं।[1] यजुर्वेद में वाक्तत्त्व को समुद्र के समान अगाध, व्यापक और गम्भीर कहकर विश्वकर्मा ऋषि से उपमित किया गया है तो अथर्ववेद ने उसे दैवी और आसुरी सृष्टि का उत्पादक तथा विद्युत् और विराट् रूप माना है।[2] वस्तुतः वाक्तत्त्व की प्रशंसा और महिमा के विषय में भारतीय वाङ्मय के अंगोपांगों में इतना अधिक विवेचन हुआ है जिसे पर्यालोचित करने पर ऐसे अनेक तथ्य और तत्त्व उद्घाटित हो जाते हैं जिनके

१. ऋग्वेद, १०।२३।५।
२. अथर्ववेद, ६।७।१-२६।

कारण वाणी अथवा वाक्तत्त्व की ब्रह्मरूपता सिद्ध हो जाती है। इस विषय में भारतीय विद्वानों का योगदान अनुपम और अद्वितीय है जिसके सम्मुख विश्व के महान् विचारक और शब्द-शास्त्री भी सहज भाव से नतमस्तक हो जाते हैं।

वाणी अथवा वाक्तत्त्व की महिमा अपार है। वैदिक साहित्य में उसके माहात्म्य और आशंसन से सम्बद्ध अनेक प्रकार के मंत्र उपलब्ध होते हैं। ऋग्वेद मंडल १०, सूक्त १२५ तथा मंत्र-संख्या १ से लेकर ८ तक में वाक्तत्त्व का आतमविवेचन है जिसका ऋषि 'वाक् अम्भृणी' तथा देवता अर्थात् प्रतिपाद्य विषय स्वयं 'वाक्' है। उन मंत्रों में वाक्तत्त्व का स्वरूप उत्तम पुरुष में विवेचित किया गया है जिससे स्पष्ट है कि वाक्तत्त्व समस्त तत्त्वों का धारक तथा पोषक तत्त्व है और उसके द्वारा राष्ट्रशक्ति का नियमन होता है। वाक्तत्त्व ने अपना आत्मपरिचय देते हुए स्वयम् को रुद्रों, वसुओं, आदित्यों तथा विश्व-देवों के साथ विचरण करनेवाला, मित्र, वरुण, इन्द्र तथा अग्नि को धारण करनेवाला कहा है।[1] वह सोमतत्त्व के साथ-साथ त्वष्टा, पूषन् तथा भग तत्त्व का पालक और पोषक भी है जिसके द्वारा यज्ञिय पुरुषों का ऐश्वर्य समृद्ध होता है।[2] वाणी अथवा वाक्तत्त्व राष्ट्र-निर्मात्री शक्ति है, वह वसुतत्त्वों का संगम करानेवाला, विज्ञानमय और यज्ञियों में सर्वप्रथम है। उसे देव (भाषावित्) विविध रूप-प्रकारों में प्रस्तुत और प्रतिष्ठित करते हैं।[3] उसने स्वयं को इतना अधिक सशक्त माना है कि उसके साक्षात्कार से व्यक्ति पदार्थात्मक जगत् का उपभोग करते हैं और जो उसके प्रति विश्वस्त नहीं होते, उनका नाश हो जाता है।[4] वस्तुतः वह देवों और मनुष्यों का उपास्य, आश्रयदाता तथा आत्मसाक्षात्कारकर्ता भी है।[5] वह ब्रह्म-द्वेषी के विनाश के लिए रुद्र-रूप तथा मानवसमाज के लिए आनंददायक है।[6] उसकी सत्ता सर्वत्र व्याप्त है तथा वह अपनी शक्ति में इस विश्व का उद्भावक और प्रेरक भी है।[7] उसके समान न तो किसी भी तत्त्व की गति ही हो सकती है और न महिमा ही वर्णित की जा

---

१. अहं रुद्रेभिर्वसुभिश्चराम्यहमादित्यैरुत विश्वदेवैः।
अहं मित्रावरुणोभा बिभर्म्यहमिन्द्राग्नी अहमश्विनोभा॥ —ऋग्वेद, १०।१२५।१।

२. अहं सोममाहनसं बिभर्म्यहं त्वष्टारमुत पूषण भगम्।
अहं दधामि द्रविणं हविष्मतै सुप्राव्यं यजमानाय सुन्वते॥ —वही, १०।१२५।२।

३. अहं राष्ट्री संगमनी वसूनां चिकितुषी प्रथमा यज्ञियानाम्।
तां मा देवा व्यदधुः पुरुत्रा भूरिस्थात्रां भूर्यावेशयंतीम्॥ —वही, १०।१२५।३।

४. मया सो अन्नमत्ति यो विपश्यति यः प्राणिति यः ई शृणोत्युक्तं।
अमंतवो मां त उपक्षियन्ति श्रुधि श्रुत श्रद्धिवं ते वदामि॥

५. अहमेव स्वमिदं वदामि जुष्टं देवेभिरुत मानुषेभिः।
यं कामये तं तमुग्रं कृणोमि तं ब्राह्मणं तमृषिं तं समेधाम्॥

६. अहं रुद्राय धनुरा तनोमि ब्रह्मद्विषे शखे हंतवा उ।
अहं जनाय समद कृणोम्यहं द्यावापृथिवी आविवेशा॥

७. अहं सुवे पितरमस्य मूर्धन् मम योनिरप्स्वन्तः समुद्रे।
ततो वि तिष्ठे भुवनानु विश्वोतामुं द्यां वर्ष्मणोप स्पृशामि॥

सकती है।[१]

वाणी अथवा वाक्तत्त्व का महत्त्व उपनिषदों में भी विवृत हुआ है। छान्दोग्य उपनिषद् के सप्तम अध्याय में सनत्कुमार ने नारद को उपदेश देते हुए कहा है कि यदि सृष्टि में वाक्तत्त्व न होता तो धर्म और अधर्म, सत्य और अनृत, साधु और असाधु, सहृदय और असहृदय, चितज्ञ और अचितज्ञ की न तो व्यवस्था होती और न उनका विवेचन ही हो पाता।[२] उनका तो स्पष्ट कहना है कि वाणी अथवा वाक्ब्रह्म की उपासना में इतनी अधिक शक्ति है कि उसके द्वारा सम्पूर्ण सिद्धियों को हस्तगत किया जा सकता है। वस्तुतः वाक्तत्त्व ही पुरुष में सारतत्त्व है जिसके तारतम्य का रहस्य केवल ब्रह्मवेत्ता ही जान सकते हैं।[३] ऐतरेय उपनिषद् में भी वाक्तत्त्व और मनस्तत्त्व के समन्वय का उपदेश दिया गया है जिससे स्पष्ट है कि दोनों की अन्योन्याश्रित स्थिति में ही उनकी सिद्धि प्रतिष्ठित होती है।[४]

यह एक अत्यन्त उल्लेखनीय तथ्य है कि तैत्तिरीयोपनिषद् की ब्रह्मानंदवल्ली तथा भृगुवल्ली में अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय और आनंदमय संज्ञक पंचकोशों की जो विस्तृत व्याख्या की गयी है वह उनकी साधना के उत्तरोत्तर विकास को भी संसूचित करती है। वस्तुतः अन्नमय कोश से चलकर साधक आनंदमय कोश में आत्मतत्त्व की सिद्धि प्राप्त करता है। काव्य-साहित्य को उपर्युक्त पंचविध कोशों की किस सीमा तक अंतर्व्याप्त समझा जाय, यह भी एक विचारणीय समस्या है। जो विद्वान् काव्य को सुख-दुःखमयी सर्जना मानकर उसकी विवेचना करते हैं वे उसे मनोमय कोश तक ही सीमित कर देते हैं, जबकि आनंदवादी आचार्यों ने उसे आनंदमय कोश पर्यन्त व्याप्त माना है। कोशों का यह क्रम वैयाकरणों को भी किसी न किसी रूप में स्वीकार्य रहा है। पंचकोशों के विचारपक्ष को माध्यम बनाकर भट्टोजिदीक्षित, कौण्ड भट्ट तथा श्रीकृष्ण भट्ट ने 'वैयाकरण भूषण' तथा 'स्फोटचंद्रिका' आदि ग्रंथों में स्फोटवाद की विवेचना करते हुए वर्णस्फोट, पदस्फोट, वाक्यस्फोट, अखण्डपदवाक्य स्फोट और जाति स्फोट को उसी क्रम में उत्तरोत्तर श्रेष्ठता प्रदान की है जिस क्रम में पंचकोशों को प्राप्त हुई है। इन स्फोटों का सम्बन्ध भी उपर्युक्त कोशों के साथ संघटित किया गया है। उदाहरणार्थ, वर्णस्फोट की तुलना अन्नमय कोश से की गयी है तो पदस्फोट तथा वाक्यस्फोट की समता क्रमशः प्राणमय और मनोमय कोश से। इनसे आगे चलने पर अखण्डपदवाक्यस्फोट आता है जिसे विज्ञानमय कोश की भूमिका में व्याख्यात किया

---

१. अहमेव वात इव प्र वाम्यरभमाणा भुवनानि विश्व।
परो दिवा पर एना पृथिव्यै तावती महिना सं बभूव॥ —ऋग्वेद, १०।१२५।४-८।

२. यद्वै वाङ् नाभविष्यन्न धर्मो नाधर्मो व्यज्ञापयिष्यन्न सत्यं नानृतं न साधु नासाधु न हृदयज्ञो नाहृदयज्ञो वागेवैतत्सर्वं विज्ञापयति वाचमुपास्स्वेति। स यो वाचं ब्रह्मेत्युपास्ते यावद्वाचो गतं तत्रास्य यथा कामचारो भवति। —छान्दोग्योपनिषद्, उप० ७।१-२।

३. छान्दोग्योपनिषद् १।१-२।

४. वाङ् मे मनसि प्रतिष्ठता मन्ते मे वाचि प्रतिष्ठितम्। —ऐतरेयोपनिषद्, उप० १।

गया है। अखण्ड जातिवाक्य स्फोट में तो आनंदमय कोश का भाव अंतर्निहित है ही, तभी तो उसे आधार बनाकर अंत में यही निर्णय किया गया है कि यह ब्रह्माण्ड ब्रह्म का ही एक मूर्त शरीर है तथा उसके अतिरिक्त अन्य कोई भी सत्ता सत्य और नित्य नहीं है।

वाणी की व्यावहारिक उपयोगिता

वाणी अथवा शब्दशक्ति की व्यापकता तथा व्यावहारिक जीवन में उसकी उपयोगिता का विशद विवेचन वेदोपनिषदों, ब्राह्मण-ग्रंथों और आरण्यकों में अनेक स्थलों पर किया गया है। ऋग्वेद में 'यावद् ब्रह्म विशिष्टं तावती वाक्' द्वारा ब्रह्म और वाणी की अनंत व्यापकता के संकेत विद्यमान हैं तो ऐतरेय, गोपथ तथा जैमिनीय ग्रंथों में क्रमशः 'वाग्वै ब्रह्म च सु ब्रह्म च,'[1] 'वाग्ब्रह्म'[2] और 'वाग्वै ब्रह्म'[3] आदि उक्तियों में वाणी को ही ब्रह्म-रूप माना गया है। वस्तुतः शब्दब्रह्म में अखिल विश्व को एकसूत्र में संग्रथित करने की शक्ति है और वह नेत्ररूप बनकर समस्त वस्तुओं का ज्ञापक सिद्ध होता है।[4] उसकी व्यावहारिक उपयोगिता इस बात में है कि उसी की शक्ति से हमें अर्थज्ञान प्राप्त होता है जिसके कारण समस्त संसार का व्यवहार चलता है। भर्तृहरि ने उसे विश्व का बीजरूप कहकर उसकी सत्ता 'भोक्ता', 'भोक्तव्य' और 'भोग' संज्ञक त्रिविध प्रकारों में मानी है क्योंकि उसका साध्य उन तीनों की संहिति में ही सिद्ध होता है।

वाक्तत्त्व का ज्ञाता ही परमानंद का आस्वादयिता है। उसके साथ सख्यभाव रखनेवाला साधक स्थिर आनंद की उपलब्धि करता है जबकि उसके प्रतिरूप माया-जाल में विचरण करनेवाले व्यक्ति का अध्ययन और श्रवण निष्फल होता है।[6] वाक्तत्त्व से ही समस्त सृष्टि का विकास हुआ है। उसका आदि स्रोत अक्षरतत्त्व है जो विविध वाणियों को प्रेरित कर उनमें ब्रह्म-तत्त्व की मनीषा उत्पन्न करता है।[7] ऋग्वेद में उसे 'विरूप' तथा 'नित्य' कहा गया है जिसका अभिप्राय यह है कि वह रूप तथा आकार आदि से पृथक् होने के कारण निरूप एवं निराकार अथवा निराकार होते हुए भी अनेक रूपों और आकारों से युक्त है।[8] यास्क ने ऋग्वेद के एक मंत्र (देवस्य पश्य काव्यं महित्वा द्या ममार स ह्यः समान) की व्याख्या करते हुए वाक्तत्त्व को एक ऐसा दिव्य काव्य माना है जो अपनी महिमा के कारण सदा मरता है तथापि वह जीवित भी रहता

---

१. ऐतरेयोपनिषद्, ६।३।
२. गोपथ पू० २।१०।
३. जैमिनीयोपनिषद् २।९।६।
४. वाक्यपदीय, १।११९।
५. वही, १।४।
६. ऋग्वेद, १०।७१।५।
७. वही, १०।९७।३४।
८. वही, ८।७५।६।

है ।[1] वस्तुतः वाक्तत्त्व ही ब्रह्म तथा सर्वज्ञ है जिसका गुणाख्यान करना असम्भव है ।[2]

वाक्शक्ति मूलतः शब्द और अर्थरूप है

पूर्व परिच्छेदों में वाणी अथवा वाक्शक्ति के विविध रूपों की सामान्य विवेचना के साथ-साथ उसके श्रुतिशास्त्र-सम्मत स्वरूप को निरूपित करने का जो प्रयास किया गया है उससे स्पष्ट है कि वह मूलतः स्फोट, ध्वनि और अक्षर रूपा है तथा उसका प्रसार वर्णों, पदों, शब्दों और वाक्यों के विविध प्रकारों में होता है । भारतीय वाङ्मय के तत्त्ववेत्ताओं ने वाक्शक्ति का विश्लेषण बहुविध दृष्टियों से करते हुए उसे ब्रह्मकल्प सिद्ध किया है । विश्व के समस्त व्यवहारों के संचालन का सम्पूर्ण श्रेय वाक्तत्त्व को ही प्राप्त है । जिस प्रकार ब्रह्म अथवा परमात्मतत्त्व माया अथवा प्रकृति से आवेष्टित होकर अनन्त रूपों में अपना विवर्त प्रदर्शित करता है, उसी प्रकार वाणी अथवा नादब्रह्म भी अपनी अर्थवत्ता में अनेक रूप धारण कर अणु-परमाणु पर्यन्त अपनी अनन्तता का प्रसार करता है । वाणी का रहस्य मूलतः शब्द और अर्थ का रहस्य है; अतः हम प्रथमतः 'शब्द' और 'अर्थ' का स्वरूप-लक्षण निर्धारित करते हुए उनका पारस्परिक सम्बन्ध निरूपित करने की चेष्टा करेंगे । तदुपरान्त हमारा विवेचन कवि-वाणी का वैशिष्ट्य निरूपित करता हुआ उस दिशा की ओर उन्मुख होगा जिसमें वाणी के मूल आधार 'शब्द-तत्त्व' को कवियों ने अपनी कृतियों में प्रयोगार्ह अथवा प्रयोजनीय बनाया है । कहने की आवश्यकता नहीं कि यह सम्पूर्ण विवेचन भारतीय दृष्टि के शास्त्रपक्ष से अनुप्राणित है जिसमें वाग्विलास के अद्भुत रहस्यों के उद्घाटन की व्यापक चेष्टाएँ की गई हैं ।

'शब्द' का लक्षण और उसकी परिभाषा

शब्द का स्वरूप-लक्षण एवं उसकी परिभाषा निश्चित करना अत्यन्त कठिन कार्य है । महाभाष्यकार पतंजलि ने 'गो' शब्द को उदाहरण के रूप में प्रस्तुत करते हुए बतलाया है कि 'गो' शब्द सास्ना, लांगूल, ककुद और खुर आदि 'द्रव्यों' से भिन्न, चेष्टाओं और इंगितों की 'क्रियाओं' से पृथक् शुक्ल और नील आदि 'गुणों' से अलग एवं भिन्न वस्तुओं में अभिन्न तथा छिन्न वस्तुओं में अच्छिन्न रूप से रहनेवाली 'जाति' से पृथक् सत्तावाला पदार्थ है जिसके द्वारा अर्थबोध होता है और जिसे स्फोट और ध्वनि कहा जाता है । कैयट और नागेश आदि विद्वानों ने द्रव्य, गुण, क्रिया और जाति को शब्दों की चतुर्विध प्रवृत्तियाँ अवश्य माना है, किन्तु शब्द को तो शास्त्रीय दृष्टि से स्फोट तथा लौकिक दृष्टि से ध्वनि कहना ही उचित समझा है । अपनी नित्य स्थिति में शब्द स्फोट और व्यंग्य है जबकि ध्वनि उसका व्यंजक । ध्वनि और स्फोट का अन्तर स्पष्ट करते हुए महाभाष्यकार ने लिखा है—

---

१. ऋग्वेद, ८।५५।५ ।
२. निरुक्त, १३।७१ ।

एवं तर्हि स्फोट शब्दः। ध्वनिः शब्दगुणः। कथम् भेर्याघात वत्। स्फोटस्तावानेवभवति। ध्वनिकृता वृद्धिः।[1]

'शिक्षा' और प्रातिशाख्य आदि ग्रंथों में 'वायु' को शब्द रूप कहा है जिसका अभिप्राय यह है कि शब्द-प्रयोग की इच्छा से जब वक्ता तदनुकूल प्रयत्न द्वारा कंठ और तालु आदि स्थानों में घर्षण-क्रिया उत्पन्न करता है तो उस घर्षण-क्रिया से सम्बद्ध प्राणवायु 'क' और 'च' आदि शब्दों को जन्म देती है। इस प्रकार 'शब्द' वायु का परिणाम है और वह वायु सर्वव्यापक होने पर भी जब साधन-विशेष को प्राप्त होती है तो उसका लक्ष्य शब्द रूप हो जाता है। जैन दार्शनिकों ने शब्द को 'पुद्गल' (परमाणु-रूप) माना है जो सर्वशक्तिमान एवं सर्वदा विद्यमान होने पर भी केवल उसी स्थिति में शब्द-रूप को प्राप्त करते हैं, जब वे अर्थबोध की इच्छा से उत्पन्न प्रयत्न से प्रेरित शब्दतन्मात्रा रूप में अपनी शक्ति के व्यक्त होने पर उसी प्रकार एकत्र हो जाते हैं जिस प्रकार वर्षाकाल में मेघ के परमाणु एकत्र होकर पर्जन्य बन जाते हैं। पतंजलि और पाणिनि आदि व्याकरणों ने शब्द को 'ज्ञान का परिणाम' स्वीकार करते हुए लिखा है कि ज्ञान ही शब्द-रूपता को प्राप्त कर उसी प्रकार अपना सतत विस्तार करता चलता है, जिस प्रकार अग्नि की ज्वाला-रूपिणी ज्योति निरंतर प्रसृत होती रहती है।

शब्द के स्वरूप के विषय में दार्शनिकों में अनेक मत-मतांतर हैं। सांख्य ने शब्द को 'त्रिगुणात्मक' कहकर उसे सत्व, रजस् और तमस् स्वभाव युक्त माना है तो नैयायिकों और वैशेषिकों ने उसे 'अनित्य और तृतीय क्षण में ध्वंस को प्राप्त होनेवाला कहा है। लौकिक व्यवहार में 'वर्ण से भिन्न नाद (ध्वनि)' का नाम शब्द है तो बौद्धों के अनुसार वह 'अपोह' अथवा असत् स्वरूप है। व्याकरणों, जैनों और शिक्षाकारों ने शब्द को क्रमशः स्फोट, पुद्गल और वायु रूप माना है जिसका उल्लेख यथास्थान किया जा चुका है। प्रसिद्ध मीमांसक प्रभाकर गुरु ने 'वर्ण' और 'ध्वनि की संज्ञा से शब्द की नित्यानित्यता सिद्ध कर दोनों को आकाश के गुण माना है। कुमारिल भट्ट के अनुसार शब्द 'नित्य और वर्णरूप' है, जिसकी अभिव्यक्ति ध्वनि द्वारा होती है। उन्होंने शब्द-विषयक विभिन्न मतों का उल्लेख निम्नलिखित कारिकाओं में इस प्रकार किया है—

त्रिगुणः पौद्गलो वा यमाकाशस्याथवा गुणः।
वर्णादन्योऽथ नादात्मा वायुरूपोऽर्थवाचकः॥
पदवाक्यात्मकः स्फोटः सारूप्यान्य निवर्तने।[2]

भामह कृत 'शब्द' विषयक विमर्श

आचार्य भामह का मत है कि अर्थ की प्रतीति कराने वाले पदार्थ को ही शब्द नहीं कहा जा सकता क्योंकि वैसा मानने पर तो अग्नि की प्रतीति में धूम और प्रकाश

---

१. महाभाष्य, १।१।७०।
२. कुमारिल भट्ट, श्लोक वार्तिक, ३१९-२०।

को भी शब्द मानना पड़ेगा।[1] उनके मतानुसार 'अर्थ की प्रतीति के लिए उच्चारित अकारादि वर्णों का सार्थक समूह भी शब्द नहीं है क्योंकि एक असमर्थ अर्थात् अर्थहीन वर्ण का समुदाय अर्थवान कैसे हो सकता है। फिर वर्णों की क्रमवृत्ति होने से भी उनका समुदाय संगत नहीं है क्योंकि समुदायी से समुदाय पृथक् नहीं होता।[2] उन्हें स्फोटवादियों का यह मत भी स्वीकार नहीं है कि 'शब्द नित्य है'। उनके मतानुसार शब्द को नित्य मानने की कल्पना अग्राह्य है क्योंकि जहां प्रत्यक्ष या अनुमान में से कोई प्रमाण हो, उसी का परमार्थतः (वस्तुतः) रहना संगत कहा जा सकता है।[3] भामह का मत है कि सृष्टि के आरम्भ में ही लोक-व्यवहार के लिए यह संकेत कर लिया गया था कि सभी वर्ण अपने लिए निर्धारित किये गये अर्थों का बोध कराएँ।[4] उन्होंने बौद्धों के उस मत का भी खंडन किया है जिसके अनुसार अन्य वस्तुओं के 'अपोह' से शब्द द्वारा अर्थ का बोध होता है। 'अन्य के अपोह' का तात्पर्य है 'अन्य पदार्थ का निराकरण'। भामह का कहना है कि अपोहवाद के अनुसार यदि 'गो' शब्द 'गो-भिन्न' अन्य पदार्थों के निराकरण में ही अपनी शक्ति समाप्त कर दे तो 'गो' में गो-बुद्धि उत्पन्न करनेवाली अर्थात् गो अर्थ का बोध करानेवाली दूसरी ध्वनि का अनुसंधान करना पड़ेगा। उन्होंने अपोहवाद का खंडन इस तर्क से भी किया है कि 'शब्द का फल है अर्थबोध, अतः निषेध और विधि के ज्ञान के रूप में एक ही शब्द के दो फल कैसे हो सकते हैं?' अपोहवाद के खंडन की तीसरी युक्ति यह है कि गो शब्द सुनने के पूर्व गो अर्थ का ज्ञान होना चाहिए तभी उससे गो-भिन्न के निषेध (व्यावृत्ति) में गो-ध्वनि की प्रवृत्ति होगी। चूंकि वर्ण-भेद के कारण शब्द भिन्न है और अपने अंशों के विकल्प के कारण स्वयं वर्ण भी भिन्न होते हैं तब शब्द किसे कहा जाय और उसका अर्थ क्या होगा, यह भी एक समस्या ही है। इन सब बातों का विचार करने के पश्चात् ही भामह ने अंततोगत्वा यह निर्णय किया है कि 'वर्णों या शब्दों द्वारा किये जाने वाले अर्थ-बोध का आधार सृष्टि के पूर्व ही लोक-व्यवहार के लिए संकेतित कर लिया गया था।

तो क्या शब्द के सम्बन्ध में भामह का उपर्युक्त मत युक्तिसंगत है? इसका उत्तर निषेधात्मक रूप में ही दिया जा सकता है। बात यह है कि भामह के मत को मानने के पूर्व हमारे मन में अनेक प्रकार की शंकाएँ उत्पन्न होती हैं जिन्हें निम्नलिखित प्रश्नों के रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है—

१. सृष्टि के प्रारम्भ में सर्वप्रथम लोक-व्यवहार का संकेत किसने स्थिर किया?

२. उक्त संकेत के स्थिर होने के पूर्व लोक-व्यवहार कैसे चलता था?

३. संकेत के पूर्व जो लोक-व्यवहार चलता था, उसका क्या रूप था और

---

१. भामह, काव्यालंकार, ६।७।

२. वही, ६।८-१०।

३. वही, ६।११।

४. वही, ६।१३।

उसमें परिवर्तन की आवश्यकता क्यों हुई ?

४. उस आवश्यकता का अनुभव होने पर संकेतों का निर्धारण किस माध्यम से किया गया ?

५. निर्धारित संकेत क्यों परिवर्तित किए गये और उनके प्रेरक तत्त्व कौन-कौन से बने ?

६. एक बार निश्चित किए गये संकेतों में परिवर्तन होने क्यों आवश्यक हैं ?

भामह की मान्यता में इन प्रश्नों का कोई तर्कसंगत उत्तर नहीं है क्योंकि यह एक स्पष्ट बात है कि यदि भामह का दृष्टिकोण उचित मान लिया जाय तो एक बार निश्चित किए गये संकेतों के अनुरूप आज भी उसी भाषा का प्रयोग होना चाहिए जो अपने आदिकाल में थी। भाषा-विज्ञान के अनुशीलन से स्पष्ट है कि भाषा की स्थिति सदैव विकासशील रही है और उसमें अनेक बार रूप-परिवर्तन होते चले हैं जिससे भामह का पूर्वोक्त मत खंडित हो जाता है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि जिस प्रकार भामह ने अन्य विचारकों के मतों में दोषानुसंधान किया है, उसी प्रकार उनके मत में भी अनेक प्रकार की असंगतियां विद्यमान हैं।

पदादि के बोध द्वारा शब्द-ज्ञान की सम्भावना

व्याकरण तथा स्मृति आदि ग्रंथों से निर्णीत शब्द तथा निरुक्त और निघंटु आदि से निर्दिष्ट उनके अभिधेय अर्थ के योग का नाम 'पद' है। पदों में प्रयोगार्ह सार्थक शब्दों का संयोग होता है। निरुक्तकार ने 'भावप्रधानभाख्यातं सत्वप्रधानानि नामानि' द्वारा क्रियावाचक पद को 'आख्यात' और विशेष्य अथवा विशेषणवाचक पद को 'नाम' कहा है जिनकी संज्ञा तिङ्न्त और सुबंत भी है। इनके अतिरिक्त 'उपसर्ग' और 'निपात' नामक दो अन्य पद-भेद भी हैं। विभक्ति या परसर्गरहित शब्द 'प्रातिपदिक' कहलाता है। अष्टाध्यायी में अर्थवदधातुरप्रत्यय प्रातिपदिकम्' द्वारा यही तथ्य निर्दिष्ट किया गया है कि प्रातिपदिक का अर्थ धातुभिन्न और प्रत्यय-भिन्न सार्थक शब्द है और विभक्ति या प्रत्ययरहित धातु का नाम 'प्रकृति' है। प्रकृति में जब विभक्ति या प्रत्यय का योग किया जाता है तो 'पद' बनते हैं। प्राय: सम्पूर्ण पद मूलभूत प्रकृति से उत्पन्न माने गये हैं। प्रातिपदिक में प्रत्यय का योग 'नाम' कहलाता है तथा धातु में प्रत्यय का योग 'आख्यात पद'। 'पद' का क्षेत्र 'उद्देश्य' और 'विधेय' पर्यन्त व्याप्त है। जिस पद से सिद्ध वस्तु का कथन हो वह 'उद्देश्य' और जिस पद से अवर्तमान या वक्तव्य का अपूर्व विधान हो वह 'विधेय' कहलाता है। साहित्यदर्पणकार ने 'वर्णा: पदं प्रयोगार्हानन्वितैकार्थबोधका:' द्वारा पद का लक्षण निर्धारित करते हुए लिखा है कि उन वर्णों या वर्णसमूह का नाम पद है जो प्रयोग करने योग्य तथा अनन्वित किसी एक अर्थ के बोधक हों। वाक्य-रचना में पद प्रधान उपादान है तभी तो पूर्णार्थ प्रकाशक पद-समूह को वाक्य कहा जाता है। यों तो किसी एक आख्यात पद से भी वाक्य हो सकता है किंतु वहाँ पर शब्दाध्याहार अथवा अर्थाध्याहार द्वारा वाक्य की पूर्णता का बोध किया जाता है।

शब्द-तत्त्व का प्रसार और माहात्म्य

संसार का समस्त ज्ञान शब्दमूलक है। उसमें सम्पूर्ण विद्याओं और कलाओं का स्वरूप आलोकित रहता है। वाक्तत्त्ववेत्ताओं ने वाणी के अभाव में संसार की स्थिति 'काष्ठकुड्यवत्' निश्चेतन मानकर वाक्शक्ति को ही 'समस्त क्रिया-कलापों की मूल प्रेरणा' सिद्ध किया है। वह हमें केवल जाग्रतावस्था में ही प्रेरित नहीं करती, अपितु स्वप्नावस्था में भी कार्य-तत्पर करती हुई प्रतीत होती है। यों तो उसका मूल निवास वक्ता के हृदय में माना जाता है, किन्तु उसका प्रसार चराचर जगत् पर्यन्त है। भागवत पुराण में शब्द को 'जीवरूप' कहकर हृदय-रूपी आकाश में अभिव्यक्त होनेवाला कहा गया है। वस्तुतः 'शब्द' प्राणवायु के परिणामस्वरूप घोष ध्वनि से हृदय, सिर और काठ रूपी गुहा में प्रविष्ट होकर अपने सूक्ष्म रूप का परित्याग करते हुए मनोमयरूप विकार को प्राप्त होता है, जिसकी प्रसिद्धि मात्रा, स्वर और वर्ण आदि नामों से की जाती है। इस विषय में भागवतपुराणकार ने उचित ही कहा है—

स एव जीवो विवरप्रसूतिः प्राणेन घोषेण गुहां प्रविष्टः।
मनोमयं सूक्ष्ममपेत्य रूपं मात्रा स्वरो वर्ण इति प्रसिद्धः॥

शब्द ज्योतिर्मय है क्योंकि उसके द्वारा समस्त व्यवहारों का द्योतन अथवा प्रकाशन होता है। बृहदारण्यकोपनिषद् में वाणी को 'वाचेवायं ज्योतिषा आस्ते' कहा गया है। यदि संसार में शब्दाभिध ज्योति-तत्त्व की सत्ता न हो तो समस्त विश्व अंधकारमय हो जाय तथा सृष्टि का अभिव्यंजन ही न हो सके। शब्दरूप ज्योति की ही महत्ता के कारण यह संसार व्यवहारलोप को प्राप्त न होकर अपनी सत्ता बनाये हुए है। विश्व-सृष्टि से लेकर विश्व-विलय पर्यन्त शब्द-ज्योति की सत्ता विद्यमान रहती है। इस कथन का स्पष्टीकरण इस उदाहरण द्वारा किया जा सकता है कि जिस प्रकार सूर्यादि के प्रकाशपुंज के अभाव में विश्व के समस्त पदार्थ तमसावृत होकर लुप्तवत् हो जाते हैं, उसी प्रकार शब्दाभिध ज्योति के अभाव में उससे सम्पाद्य व्यवहारों की अनभ्युपायता से यह संसार अंधकार-निमग्न होकर विलुप्तव्यवहार हो सकता है। संभवतः विश्व-स्रष्टा ने सर्वप्रथम 'नामरूपे व्याकरणवाणि' जैसी इच्छा द्वारा 'रूप' से पूर्व 'नाम' की ही सृष्टि की होगी जिसके नामरूप शब्द प्रकाश की सहायता से विश्व के समस्त व्यवहार चलने लगे। शब्द-ज्योति की व्यवहार-प्रवर्तकता को ध्यान में रखकर ही सुबंधु ने सरस्वती का माहात्म्य-वर्णन करते हुए लिखा है कि 'उसके प्रसाद से सूक्ष्ममति कवि अखिल भुवनतल को 'करबदरसदृश' देखने लगते हैं।' वस्तुतः वाणी की महत्ता असाधारण है और उसमें भी कवि-वाणी की लोकोत्तरता तो और भी अधिक श्लाघ्य है क्योंकि उसके द्वारा मानव संवेदनाओं का चिरंतन स्वरूप रसानुभूति के शाश्वत प्रतिमान द्वारा नित्य नवीन बनकर अभिव्यक्त होता है।

शब्द की महामहिम गुरुता का गुणगान निगमागम शास्त्रों में भी अत्यन्त समादरपूर्वक किया गया है। विष्णुपुराण ने उसे 'विष्णु का अंश' और महाभाष्य ने 'कामधुग्वत् फलदाता' कहा है। उसकी साधना से लोक और परलोक में प्रेय तथा श्रेय

तत्त्व की उपलब्धि होती है। सिद्धांतकौमुदी के अनुसार शब्द का धातुगत अर्थ 'आविष्कार करना' है तो महाभाष्यकार के मत से 'लोक में पदार्थ की प्रतीति कराने वाली ध्वनि' का नाम शब्द है। काव्य-मीमांसा में शब्द को 'व्याकरणस्मृतिनिर्णीत' कहा गया है तो अमरकोश के अनुसार 'शास्त्र में जो वाचक है, वही शब्द है।' हेमकोश में लिखा है कि शब्द का अर्थ अक्षर, वाक्य-ध्वनि और श्रवण भी है जिसके अनुसार शब्द की श्रूयमाणता को ध्यान में रखकर उसे ध्वन्यात्मक और वर्णात्मक भेदों में विभक्त किया जाता है। ध्वन्यात्मक शब्दों को वर्णों के द्वारा यथार्थतः व्यक्त नहीं किया जा सकता क्योंकि उनकी उत्पत्ति वीणा, मृदंग आदि वाद्य-यंत्रों, पशु-पक्षियों की बोलियों और आघातों से होती है। वर्णात्मक शब्द या तो सार्थक होते हैं या निरर्थक। सार्थक शब्दों से किसी वस्तु अथवा विषय का बोध होता है, किन्तु निरर्थक शब्दों से किसी विषय का ज्ञान नहीं होता। श्रुति-भेद से सार्थक शब्द या तो अनुकूल होते हैं या प्रतिकूल। काव्य-रचना में श्रुत्यनुकूल शब्दों का ही प्रयोग किया जाता है जिससे उसकी रमणीयता में संवृद्धि होती है।

'अर्थ' तत्त्व की रूप-विवेचना

शब्द की स्वरूप-विवेचना से ही संबंधित उसके अर्थतत्त्व की विवेचना है। साधारणतया अर्थ की परिभाषा निश्चित करना भी सरल कार्य नहीं है। कात्यायन और पतंजलि के शब्दों में कहा जा सकता है कि यों तो समस्त शब्द स्वस्व अर्थ-बोधन के लिए होते हैं, किन्तु जिस-जिस अर्थ के बोध के लिए शब्द का प्रयोग होता है, वही उसका अर्थ है।[१] कैयट और नागेश ने अर्थ का लक्षण निर्धारित करते हुए लिखा है कि समस्त शब्द जिस प्रवृत्ति-निमित्त से वाच्य अर्थ के बोधन के लिए प्रयुक्त होते हैं, वही प्रवृत्ति निमित्त रूप अर्थ (वाच्यार्थ) उन शब्दों का अर्थ है।[२] भर्तृहरि के मतानुसार जिस शब्द के उच्चारण से जिस अर्थ की प्रतीति होती है, वही उसका अर्थ है।[३] जयंत ने 'जिस शब्द से जिस अर्थ का संकेत किया जाता है वही उसका अर्थ है'[४] लिखा है तो कुमारिल भट्ट के शब्दों में' तत्र योऽन्वेति यं शब्दमर्थस्तस्य भवेदसो' ही अर्थ की परिभाषा है जिसका आशय यह है कि शब्द का अर्थ सदैव उसके साथ विद्यमान रहता है।[५] अर्थ के उपर्युक्त लक्षणों से यह निष्कर्ष सहज रूप से निकाला जा सकता है कि अर्थ शब्द से पृथक् (भिन्न) नहीं होता और महाभाष्यकार के शब्दों में उसे शब्द की अंतर्शक्ति कहा जा सकता है।[६]

पाणिनि ने 'स्वं रूपम्' सूत्र द्वारा अर्थ के द्विविध रूपों का संकेत किया है जिनकी

---

१. महाभाष्य, ५।१।११९।
२. प्रदीप और उद्योत, महा ५।१।११९।
३. वाक्यपदीय, २।३३।
४. न्यायमंजरी, पृ २६६।
५. श्लोकवार्तिका वाक्याधिकरण, पृ १६।
६. शब्दश्च शब्दाद् बहिर्भूतः। अर्थो बहिर्भूतः॥ —महाभाष्य, १।१।६६।

व्याख्या करते हुए महर्षि पतंजलि ने 'शब्द का स्वरूप' तथा 'बाह्य वस्तु या बोध्य पदार्थ' संज्ञक दो प्रकार के अर्थ माने हैं। व्याकरणशास्त्र में 'शब्द' पद स्वरूप का बोधक है जबकि लोक-व्यवहार में वह बाह्य वस्तु अथवा बोध्य पदार्थ का सूचक कहा जाता है। सच पूछा जाय तो शब्द ही अर्थज्ञान का आधार है, क्योंकि शब्द का श्रवण उसके स्वरूप का बोध कराता है, जिसके पश्चात् हमें अर्थ का भी बोध होता है। इसका एक अभिप्राय यह भी है कि शब्द अपनी सत्तामात्र से ही तब तक अर्थ का बोधक नहीं हो सकता, जब तक वह हमारे लिए श्रवणगोचर न हो। शब्दों की चतुर्विध प्रवृत्तियों (जाति, गुण, क्रिया और द्रव्य) के अनुसार अर्थ की भी चार प्रवृत्तियाँ होती हैं जिनका विशेष विवेचन शाब्दबोधदर्शन अथवा काव्यार्थप्रतीति के रूप में किया जा सकता है। यहाँ तो हम केवल इतना ही निवेदन करना चाहते हैं कि शब्द की भाँति अर्थ भी नित्य है, क्योंकि उसके मूल तत्त्व का विनाश नहीं होता। हाँ, यह बात अवश्य है कि अर्थ की नित्यता 'प्रवाह-नित्यता' है जिसका अर्थ यह है कि अनादि काल से प्रवहमान बने हुए शब्द के अर्थ में यद्यपि समय-समय पर परिवर्तन भी होते रहते हैं, किन्तु वह अपने मूल स्वरूप का कदापि त्याग नहीं करता।

शब्द की भांति अर्थ की शक्ति भी विचित्र है। उसमें समय-समय पर परिवर्तन-शीलता और अनिश्चितता भी दृष्टिगोचर होती रहती है। एक ही शब्द विभिन्न प्रकरणों और प्रयोजनों से प्रयुक्त होकर किस प्रकार अन्यार्थ बोधक बनता है, उसे स्पष्ट करते हुए महर्षि पतंजलि ने कुल्या (नहर) का उदाहरण दिया है जो मूलतः खेतों की सिंचाई के लिए निर्मित होने पर भी प्रयोजन की भिन्नतावश पिपासुओं के तृषा-शमन के लिए भी उपयोगी हो सकती है। पतंजलि के मतानुसार शब्दों के अर्थ को किसी निश्चित इयत्ता में केन्द्रित नहीं किया जा सकता क्योंकि वह समय-समय पर परिवर्तित होता रहता है। इस प्रकार का परिवर्तन उसकी स्वाभाविक क्रिया है। शब्द और अर्थ का सम्बन्ध भी बुद्धिगत है जिसके पौर्वापर्य का निरूपण करते हुए महाभाष्यकार ने लिखा है—

बुद्धौ कृत्वा सर्वाश्चेष्टाः कर्ता धीरस्तन्वन्नीतिः।
शब्देनार्थान् वाच्यान् दृष्ट्वा बुद्धौ कुर्यात् पौर्वापर्यम्।[1]

—अर्थात् 'विद्वान् धीर बुद्धि में ही कंठ, तालु आदि के आघातों से उत्पन्न शब्दों को करके शब्द के द्वारा वाच्य अर्थों को बुद्धि में ही रखकर, वही शब्दों का पौर्वापर्य करे।

आचार्य भर्तृहरि ने अर्थ के स्वरूप विषय में अपने पूर्व-प्रचलित मतों का उल्लेखपूर्वक विवेचन कर कतिपय ऐसे निष्कर्ष निकाले हैं जिनसे अनेक प्रकार की उपलब्धियां होती हैं। उनके पूर्व अर्थ को निराकार, साकार, अपूर्ण अवयवीभूत, अनित्य, संसर्गरूप, परिवर्तनशील, सर्वशक्तिमान, अध्यासरूप, आकारबोधक, बौद्ध और बाह्य श्रोता की बुद्धि के अनुरूप, अनुमेय, संकेत ग्राह्य, काल्पनिक, वक्ता की इच्छा के अनुकूल,

---

१. महाभाष्य, १।४।१०६।

अनिश्चित और असत्याभास स्वरूप में निरूपित करने के बहुविध प्रयत्न किए गये थे जिनकी परीक्षा उन्होंने वाक्यपदीय में की है।[१] उक्त मतों का परीक्षण करने के पश्चात् भर्तृहरि इस निष्कर्ष पर पहुंचे हैं कि मनुष्य का ज्ञान अपूर्ण और सीमित है, अतः उसके शब्द-प्रयोग में स्खलन की संभावना प्रतिक्षण बनी रहने के कारण अर्थ के रूपों में भी विभिन्न स्थितियां उत्पन्न हो जाती हैं। पुण्यराज ने भी अठारह प्रकार के अर्थों का विवरण प्रस्तुत किया है जिनका विवेचन करना प्रस्तुत प्रबंध के साथ प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं रखता, अतः यहां पर इतना निवेदन करना ही हम पर्याप्त समझते हैं कि शब्द की भांति अर्थ का भी विस्तार अनंत है और जब तक उसका अभीष्ट ज्ञान नहीं हो जाता तब तक काव्य का स्वरूप-बोध करना भी कठिन रहता है। अर्थ के विषय में ओग्डेन और रिचर्ड्‌स ने अपनी सुप्रसिद्ध पुस्तक 'मीनिंग ऑफ मीनिंग' के अष्टम अध्याय में जो विवेचन किया है, वह भी इस दिशा में एक महत्त्वपूर्ण उपलब्धि है।

शब्द और अर्थ की सम्पृक्ति

कहने के लिए शब्द और अर्थ को भिन्न-भिन्न रूपों में विवेचित करने का व्यावहारिक प्रयत्न भले ही किया जाय किन्तु तत्त्वतः वे एक ही स्फोटरूप आत्मा के दो स्वरूप हैं।[२] बाह्य जगत् में उनमें जो भेद-प्रतीति की जाती है वह वास्तविक नहीं है। उन दोनों के अभिन्न रूप और सम्बन्ध को कविकुलगुरु कालिदास ने पार्वतीपरमेश्वर की अभिन्न स्थिति से उपमित किया है।[३] यों तो उनमें वाच्यवाचक सम्बन्ध भी माना जाता है, किंतु उसके स्थान पर प्रकाश्य-प्रकाशक भाव अथवा कार्यकारणभाव सम्बन्ध स्वीकार करना अधिक तत्त्वसंगत है, क्योंकि शब्द यदि प्रकाशक अथवा कारण है तो अर्थ उसका प्रकाश्य अथवा कार्यरूप है।[४] शब्द की प्रकाशरूपता को ही ध्यान में रखकर वाणी (वाक्‌शक्ति) को प्रकाशों की भी प्रकाशिका कहा गया है जिसकी ज्योति से भुवनत्रय का कार्य संचालित होता है।[५] वेदों में जिन तीन प्रकाशों (जातवेदस, आत्मा और शब्द) का उल्लेख हुआ, उनमें शब्द की स्थिति विशिष्ट प्रकार की है क्योंकि उससे यह समस्त चराचर जगत् तथा अप्रकाश और प्रकाश ये दोनों ही तत्त्व प्रकाशित होते हैं।[६] उसका चैतन्यरूप तो प्राणिमात्र में विद्यमान है जिसका प्रमाण समस्त विश्व का लौकिक व्यवहार कहा जा सकता है।[७]

शब्द और अर्थ का अभिन्न साहचर्य सभी देशों के विद्वानों के लिए सुमान्य रहा

---

१. वाक्यपदीय, २।१२१-१४०।
२. वही, २।३१।
३. रघुवंश, १।१।
४. वाक्यपदीय, २।३२।
५. दण्डी, काव्यादर्श, १।४।
६. वाक्यपदीय, १।१२।
७. वही, १।२६।

है। उनकी सम्पृक्त दशा में ही भाषा का कार्य सम्पन्न होता है। शब्दों को हम अपने भावों और विचारों के प्रतीक कह सकते हैं, क्योंकि वे अपने माध्यम से उन्हें प्रेषणीय बनाने का सामर्थ्य रखते हैं। उनकी महत्ता हमारे आत्मचिंतन के लिए भी है जिसका विवेचन शाब्दबोध-विमर्शकों और दार्शनिक विद्वानों ने विविध प्रकार के ऊहापोहों के आधार पर किया है। शब्द-प्रयोग और अर्थ-बोध के मनोवैज्ञानिक तथा सामाजिक पक्षों की भी गरिमा कम नहीं की जा सकती। काव्य-रचना और काव्यालोचना में तो उसका महत्त्व और भी अधिक सबलतापूर्वक समर्थित किया गया है। महाकवि कालिदास ने वागर्थ की प्रतिपत्ति के लिए जगत् के माता-पिता पार्वती और परमेश्वर की वंदना करते हुए उन्हें वाणी और अर्थ की भांति संश्लिष्ट तथा सम्पृक्त माना है जो हमारे उपर्युक्त कथन की पुष्टि का ही एक प्रमाण है तथा जिसका संकेत पूर्व-प्रसंग में भी दिया जा चुका है। 'कविहिं अरथ आखर बल सांचा' का प्रतिपादन करते समय गोस्वामी तुलसीदास जी ने भी इसी तत्त्व को दृष्टिगत रखा था। वस्तुतः कवि के लिए तो शब्द और अर्थ की चारु चमत्कृति और भी अधिक अपेक्षित है क्योंकि उनके रमणीय संयोग से ही काव्य-कृति का आविर्भाव होता है। शब्द और अर्थ के अभिन्न साहचर्य तथा उनके रसात्मक प्रयोग का गुणगान सभी देशों के साहित्य में किया गया है। 'शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्' में भामह ने यही अभिप्राय द्योतित किया है तो 'शरीरं तावदिष्टार्थ व्यवच्छिन्ना पदावली' में दण्डी के कथन का भी यही प्रयोजन है कि 'इष्टार्थव्यवच्छिन्न पदावली' ही काव्य-पुरुष का शरीर है। रस, ध्वनि, अलकार, वक्रोक्ति, रीति और औचित्यवादी आचार्यों ने भी शब्द और अर्थ की रसात्मकता, ध्वन्यात्मकता, आलंकारिता, वाग्विदग्धता, रचना-विशिष्टता और समुचितता की अभ्यर्थना करते हुए अपनी सिद्धांत-विवेचना का धरातल प्रस्तुत किया है। काव्य का स्वरूप-लक्षण निर्धारित करते समय हम चाहे किसी भी प्रकार की दर्शन-प्रणाली का आधार लें, शब्द-ब्रह्म की अर्थवत्ता कम नहीं की जा सकती। शब्द-शक्ति और अर्थव्यंजना का जितना भी रमणीय प्रसार संभव है, वह सब काव्य की अधिसीमा का ही विषय है। सभी देशों और कालों के साहित्य में शब्द और अर्थ की महत्ता पर बल देते हुए उनकी सैद्धान्तिक विवेचना की गयी है। इस विषय में जिस प्रकार हमारे देश के मीमांसक नैयायिक, व्याकरण और साहित्यशास्त्री अग्रणी रहे हैं, उसी प्रकार पाश्चात्य देशों के तत्त्वद्रष्टा और साहित्य-समीक्षक भी पीछे रहे हुए नहीं कहे जा सकते। अमेरिका तथा यूरोपीय देशों की आधुनिक साहित्य-समीक्षा में विगत चालीस वर्षों में शब्द और अर्थ के विविध रूपों, भेदोपभेदों, शक्ति-प्रकारों तथा विभिन्न प्रयोगों को लेकर जो महत्त्वपूर्ण सार-सामग्री विवेचित की जा रही है, वह भारतीय चिंतन के साथ अद्भुत साम्य रखती है। इतना ही नहीं, नवीन आलोचकों का एक वर्ग काव्य की व्यावहारिक समीक्षा में जिस विश्लेषणात्मक पद्धति का उपयोग कर रहा है, वह शब्द-शक्तियों और प्राकरणिक अर्थ-भेदों के आधार पर काव्य का रूप-दर्शन कराने की दिशा में ऐसा अभिनव प्रयोग है जिसे शास्त्रीय विवेचन-पद्धति का पुनराख्यान कहा जा सकता है। इस विषय में आचार्य आई० ए० रिचर्ड्स की वे आलोचना-कृतियाँ विशेष महत्त्वपूर्ण हैं जिनमें उन्होंने व्यावहारिक समीक्षा के

तात्विक विश्लेषण में शाब्द-बोध की आवश्यकता और उपयोगिता का प्रायोगिक पक्ष निरूपित किया है। वस्तुत: काव्य के स्वरूप-विश्लेषण और सौन्दर्य-बोध की प्रक्रिया में शाब्दज्ञान एक अनिवार्य अंग है जिसकी महत्ता का अनुभव कर हम शाब्दबोधविमर्शकों ने स्वतंत्र रूप में उसकी मीमांसा की है।

कवि-वाणी का लोकोत्तर वैभव और वैचित्र्य

यों तो वाग्देवता के समस्त उपासकों ने वाणी की शब्दार्थमयी साधना में अपने जीवन की चरम सिद्धि के दर्शन किये हैं, किन्तु कवियों का तद्विषयक प्रदेय सर्वाधिक वैशिष्ट्यपूर्ण है। मानव-संवेदनाओं के कुशल शिल्पी के रूप में उन्होंने अपनी प्रतिभा की तूलिका से जो शब्दचित्र अंकित किये हैं वे भाव-माधुरी के दिव्य निदर्शन अथवा सजीव -मूर्तविधान हैं। सच तो यह है कि कवि से अधिक न तो कोई शाब्द-व्यापार का असाधारण प्रयोक्ता ही हो सकता है और न उसकी चमत्कृति का पारखी ही। उसकी शब्द-साधना में ऐसी अद्भुत शक्ति समाविष्ट रहती है जिसके कारण भावों और विचारों का अमूर्त रूप विस्मयजनक वैलक्षण्य का साकार स्वरूप वन जाता है। कवि-प्रयुक्त भाषा-शैली की भंगिमा अत्यन्त रुचिर और विच्छित्तिमयी होती है। शब्द-शक्ति के प्रसार और अभिव्यंजन की प्राणसत्ता से परिचित होने के कारण वह उसके अनंत बिम्ब और प्रतीक उपस्थित करता है। समर्थ कवि की शब्द-साधना में व्यंजना का अपूर्व वल रहता है। वह वर्णों के लघुत्तम अवयव से लेकर प्रबंध-कल्पना के विशाल परिवेश पर्यन्त अपनी सर्जनात्मक शक्ति प्रदर्शित करता है। कविकृत प्रयोग की परम्परा में परिगणित होकर शब्दों की अर्थवत्ता अनेक रूप धारण कर लेती है। भारतीय साहित्य में वाचक, लक्षक और व्यंजक के अभिधान से जिन त्रिविध शब्दों की विवेचना की गयी है वे अपने वाच्यार्थ, लक्ष्यार्थ और व्यंग्यार्थ की त्रिविध शक्तियों के अक्षय भण्डार हैं जिनका विवेचन भारतीय मनीषा का अद्भुत प्रसार कहा जा सकता है। यहां हमारे कथन का केवल इतना ही प्रयोजन है कि 'शब्द' भाषा की अन्विति है और उसका सुष्ठु प्रयोग ही काव्य का शोभाधायक गुण है। पाश्चात्य विचारकों ने भी 'तथ्य' और 'राग' के दृष्टिकोण से 'तथ्यपरक' तथा 'भावपरक' संज्ञक दो प्रकार के शब्द माने हैं जो क्रमश: वस्तु-व्यंजक और रागसूचक कहे जा सकते हैं। तात्पर्य यह है कि शब्द में अर्थ की स्थिति अनिवार्य है और प्रत्येक शब्द का सुनिश्चित अर्थ रहता है जो सुविज्ञ पाठकों तथा सुबोध श्रोताओं के लिए सुगम्य होता है। शब्द के संकेतग्रह तथा दीर्घदीर्घतर व्यापार की प्रक्रिया का वह विवेचन अत्यन्त रुचिकर और तत्त्वपूर्ण है जिसमें भारतीय आचार्यों ने उसके अर्थ-व्यापार का विमर्श किया है।

कवि की वाणी का अलौकिकत्व भारतीय विचारकों की विवेचना का एक महत्त्वपूर्ण विषय रहा है। यहाँ के वैदिककालीन ऋषियों से लेकर परवर्ती युग के सभी तत्त्व-चिंतकों ने उसका बहुविध विमर्श किया है। आचार्य मम्मट ने कवि-भारती का अभिवेदन और संस्तव करते हुए उसकी कुछ प्रमुख विशेषताओं का उल्लेख किया है

जिनसे कवि वाणी का अलौकिकत्व सिद्ध होता है।[1] मम्मट के मतानुसार कवि-भारती की चार विशेषताएं हैं—(१) नियतिकृत-नियमरहितता, (२) आह्लादैकमयता, (३) अनन्यपरतंत्रता, (४) नवरसरुचिरता। इन चारों विशेषताओं में काव्य के स्वरूप-लक्षण के मूल तत्त्व सन्निहित हो गये हैं। यदि इन चारों का भाष्य किया जाय तो काव्य के उन मौलिक गुणों का उद्घाटन हो जाता है जो देश-काल की सीमा से रहित और विश्व-काव्य के आदर्श हो सकते हैं। मम्मट ने कवि-सृष्टि को 'नियति के नियमों से रहित' कहकर इस बात का संकेत किया है कि उसमें 'यत्र पद्मत्वं तत्र सौरभविशेष:' जैसे नियम घटित नहीं होते अपितु उसमें तो पद्मत्वं आदि रूप 'असाधारण धर्म' रहते हैं जिसका अभिप्राय यह है कि वह लौकिक नियमों की प्रक्रिया तथा परिधि से परे होती है। कवियों की स्वच्छंदवादिता और लोकोत्तर दृष्टि इस तथ्य का प्रमाण है, तभी तो उन्होंने रमणी के मुख में पद्म-सौरभ, नेत्रों में कमल-सौन्दर्य और शरीर में कंज-कमनीयता मानी है। यदि कवि-सृष्टि में नियति कृत नियमों का संघटन होता तो शीतल ज्योत्स्ना और मंदमेघध्वनि विरहिणियों के लिए ताप-संवर्धिका नहीं होती। विधाता की सृष्टि तो 'नियति' अर्थात् 'अदृष्ट' या 'धर्माधर्म' के सिद्धांत पर स्थिर है, किन्तु कवि की भारती इन बंधनों और नियमों से विनिर्मुक्त है। कल्पना का आश्रय लेकर कवियों ने कहीं इसी देह से स्वर्ग-सुख की उपलब्धि की बात कही है तो कहीं काश्मीरिक शैव दर्शन अथवा प्रत्यभिज्ञा-दर्शन में निरूपित 'नियति' तत्त्वों को दृष्टि-पथ में रखते हुए उसमें परिगणित नियमों से उसे परे सिद्ध किया है। वस्तुत: 'नियति' शब्द की अर्थ-व्यापकता तथा दार्शनिक प्रतिपत्ति के अनुसार जितनी भी विशद विवेचना हो सकती है, वह सब कवि-भारती के सम्मुख निरस्त है और यही कारण है कि सृष्टि के प्रारम्भ ही से जब से काव्य-सर्जना का श्रीगणेश हुआ है तब से कवियों की कृतियों को सभी देशकालों के समाज ने विशिष्ट गौरव से विभूषित किया है। आचार्य मम्मट ने कवि-भारती की प्राथमिक विशेषता के रूप में इस विषय का उल्लेख कर सुधी समीक्षकों और सहृदय पाठकों के सम्मुख एक महान् तथ्य उद्घाटित करने की प्रशंसनीय चेष्टा की है।

मम्मट के अनुसार कवि-भारती की दूसरी विशेषता उसकी 'ह्लादैकमयता' है जिसका अभिप्राय यह है कि वह 'आनंदमात्र परिच्छिन्न-स्वरूपा' है। यों तो आचार्यों ने 'ह्लाद' शब्द का 'एक' शब्द के साथ कर्मधारय समास करके 'ह्लादश्चासौ एक: ह्लादैक:' पद बनाकर और उससे मयट्-प्रत्यय करके 'ह्लादैकमयी' पद की सिद्धि की है, किंतु उस दशा में 'पूर्वकालैकसर्वजरत् पुराणनवकेवला: समानाधिकरणेन' इस सूत्र में 'पूर्वनिपात' अनिवार्य होने के कारण 'एकश्चासौ ह्लाद: एकह्लाद:' रूप बनता है न कि 'ह्लादैक' रूप। अत: 'ह्लादैकमयी' में पूर्ववत् कर्मधारय समास न करके सर्वप्रथम संख्येय-वस्तुवाचक 'एक' शब्द से प्राचुयार्थ में अथवा प्रदीपकार के अनुसार स्वार्थ में मयट् प्रत्यय करके 'एकमयी' शब्द-सिद्धि करने के पश्चात् उसका तृतीयान्त 'ह्लाद' शब्द के

१. मम्मट, काव्यप्रकाश, १।१।

साथ 'ह्लादेन एकमयी ह्लादैकमयी' इस प्रकार का समास करना ही उचित है जिसका अर्थ 'आनंदमात्रस्वभावा' है। मम्मट ने कवि-भारती में आनंदमात्रस्वभावत्व निरूपित कर विधाता की सृष्टि से उसका उत्कर्ष प्रदर्शित किया है क्योंकि विधाता की सृष्टि में तो सांख्य मत के अनुसार सुख-दुःख तथा मोहात्मक स्वभाव की अपेक्षा रहती है जबकि कवि-सृष्टि में इस प्रकार का कोई परिमित बंधन नहीं है। मम्मट ने कवि-वाणी को ह्लादैकमयी कहकर एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण संकेत यह भी किया है कि वह 'रसो वै सः' की भांति पूर्ण रसमय है और उसमें चित्रित किए गये शोक आदि स्थायी भाव भी रस रूप में परिणत होकर अलौकिक आनंद की उपलब्धि कराते हैं। इस मान्यता का व्यावहारिक पक्ष सहृदयों की अनुभूति का विषय है। यदि ऐसा न होता तो रघुवंश में वर्णित 'अजविलाप' तथा 'उत्तर रामचरितमानस' का 'राम-सीता वियोग' पाठकों के हृदय का साधारणीकरण कराता हुआ करुण रस की आनन्दमयी अभिव्यक्ति नहीं कराता। वस्तुतः काव्यवर्णित शोकातिरेक भी आनंदातिरेक की भांति 'ह्लादमय' हो सकता है, यह भी एक विचित्र किन्तु सत्य प्रतीति है। इसका विस्तृत विवेचन हमने काव्यास्वाद की प्रक्रिया में दुःखात्मक भावों से निष्पन्न होने वाली आनन्दानुभूति के प्रसंग में किया है। यहाँ तो हमें केवल इतना संकेत करना ही अभीष्ट है कि कवि-भारती की 'ह्लादैकमयता' उसकी अत्यन्त महत्त्वमयी और उल्लेखनीय विशेषता है।

कवि-वाणी की तीसरी विशेषता उसकी 'अनन्यपरतंत्रता' है।' इसका अभिप्राय यह है कि विधाता की सृष्टि तो प्रकृति अथवा समवादी एवं असमवादी अथवा निमित्त आदि कारणों के अधीन रहती है, जबकि कवि की भारती उसकी प्रतिभा के अतिरिक्त अन्य किसी भी प्रकार की वशवर्तिता स्वीकार नहीं करती। कवियों की सर्जना अपने क्षेत्र की मौलिक और स्वतंत्र सर्जना है जिसे निरपेक्ष सर्जना भी कहा जा सकता है। मम्मट द्वारा निरूपित इस विशेषता में 'परतंत्र' शब्द का आशय 'अधीन' है जिसको 'अनन्य' पद के साथ जोड़ने से यह अर्थ निकलता है कि कवि की सृष्टि केवल अपने ही निजी और अनन्य नियमों से संचालित होती है जिसमें किसी अन्य प्रकार के नियमों का प्रवेश हो ही नहीं सकता। आधुनिक समीक्षाशास्त्र में 'कला के लिए कला' का जो सिद्धांत बहुप्रचलित है उसका सम्यक् नियोजन इस विशेषता द्वारा किया जा सकता है। यों तो काव्य में भी जीवन की ही अभिव्यक्ति होती है किन्तु कवि-प्रतिभा कृत वह अभिव्यक्ति उन लौकिक अभिव्यक्तियों से भिन्न-स्वरूपा है जिनमें अनेक प्रकार के सामाजिक और नैतिक नियम आदेश देते रहते हैं। वस्तुतः उसकी यह विशेषता आनंदवादी विचारधारा से अधिक स्पष्ट की जा सकती है। 'काव्य का मौलिक आनंद काव्य-कृति में ही है और वह वेद्यान्तर स्पर्शशून्य है' यही कवि भारती की अनन्यपरतंत्रता है। इस विषय का अधिक स्पष्टीकरण हमने काव्य-सर्जना के प्रयोजन तथा आस्वाद-विमर्श की विवेचना के अंतर्गत किया है।

कवि-भारती की चतुर्थ विशेषता उसकी 'नवरसनिर्मिति' है। विधाता की सृष्टि में तो मधुर, अम्ल, लवण, कटु, कषाय और तिक्त नामक छः रस प्राप्त होते हैं, किन्तु कवि-सृष्टि में नवरसों का समाहार है। वे रस विभाव अनुभाव और संचारिभावों के

संयोग से सहृदय के मानस में निष्पन्न होते हैं और उनकी लोकोत्तरता का सबसे प्रबल प्रमाण यही है कि वे सभी स्थितियों में 'आनंदमय' स्वीकार किए गये हैं। तत्त्वचिंतकों और काव्य-प्रशंसकों ने उन रसों की विशेषताओं का गुणगान विविध रूपों और प्रसंगों में विविध प्रणालियों से किया है, अतः यहां पर तो हम केवल इतना ही संकेत करना पर्याप्त समझते हैं कि कवि-कृति की रसमयता अत्यन्त रुचिर और सहृदयसंवेद्य है और यही कारण है कि अन्य भाषाओं की भांति संस्कृत तथा हिन्दी भाषा में भा उसका सम्यक् संस्तव किया गया है। आचार्यों ने न केवल रससिद्ध कवियों की अजरता और अमरता का ही गुणगान किया है[1] अपितु उन्हें विधाता से भी अधिक उत्कर्ष प्रदान किया है।[2]

आचार्य अभिनवगुप्त ने ध्वन्यालोक की 'लोचन' व्याख्या के पूर्व मंगलाचरण[3] के रूप में जिस सरस्वती-तत्त्व का संस्तव किया है वह कवि-वाणी अथवा काव्य-सर्जना के अलौकिक वैचित्र्य का ही निरूपक है। उनका कथन है कि 'वह तत्त्व कारणांश के बिना ही अपूर्व वस्तु की रचना और विस्तार किया करता है, पाषाणतुल्य नीरस जगत् को अपनी रसमयता से सारयुक्त बना देता है एवं अपनी प्रख्या तथा उपाख्या अर्थात् प्रतिभा और अभिव्यक्ति के प्रसार से जगत् को रमणीयता प्रदान करता हुआ कवियों और सहृदयों के मानस में पूर्ण रूप से प्रस्फुरित होता है।' आचार्य महोदय के उक्त कथन से वाग्देवता के वाणी-विलास की अनेकानेक विशेषताएं उद्घाटित होती हैं। वस्तुतः सरस्वतीतत्त्व विधाता की सृष्टि से नितांत अपूर्व और अद्भुत है। उसकी रचना-प्रक्रिया में दृश्यमान जगत् के कारण-कार्य संबंधों और लौकिक नियमों का संघटन नहीं होता। लौकिक पदार्थों के निर्माण में समवायी, असमवायी और निमित्त कारणों का सहयोग और सहकार अपेक्षित है किन्तु काव्य-सृष्टि इस प्रकार के बंधनों से विमुक्त है। कवियों ने वर्ण्य-विषयों की अतिरंजना करते हुए जिस प्रकार के अप्रस्तुत-विधान चित्रित किये हैं, उनसे इस कथन की पुष्टि होती है। कवि-सृष्टि के सूर्य, चन्द्र, अहोरात्रि तथा जल-कमल आदि बिना किसी कारण-अंश के एकत्र ही संघटित हो जाते हैं। यह कवि-कर्म का ही अद्भुत कौशल है जिसके द्वारा नीरस और निस्सार पदार्थ भी सरस और सारयुक्त बना दिये जाते हैं। कवियों की सहजानुभूति ने आत्म-प्रकाशन के रूप में जो चैतन्य व्यंजित किया है वह अनुपम और अलौकिक है। उसका प्रख्या अंश कवि-प्रतिभा का द्योतक है तो उपाख्या अंश वर्णन-शक्ति का। इस प्रकार अभिनवगुप्त ने

---

१. जयंति तै सुकृतिनो रससिद्धाः कवीश्वराः।
नास्ति येषां यशः काये जरामरणजं भयम्॥

२. बिधि तैं कवि सब विधि बड़े, या में संसय नाहिं।
षट रस विधि की सृष्टि में, नवरस कविता माहिं॥

३. अपूर्वं यद्वस्तु प्रथयति विना कारणकलां,
जगद्ग्राव प्रख्यं निजरसभरात्सारयति च।
क्रमात्प्रख्योपाख्या प्रसरसुभग भासयति तत्
सरस्वत्यास्तत्वं कवि सहृदयाख्यं विजयते॥ —ध्वन्यालोकलोचन, १।१।

सरस्वती-तत्त्व के माध्यम से इस तथ्य की ओर संकेत किया कि वाग्देवता का प्रसार अनंत और अपार है एवं उसकी कृपा से आत्म-तत्त्व को एक ऐसी स्फुरणा प्राप्त होती है जिसके द्वारा प्रत्यक्ष एवं परोक्ष तथा अंतर्जगत् और बाह्यजगत् एक ही सूत्र में आबद्ध होकर अपनी रमणीय रचना से सहृदय जनों का चित्ताह्लाद करते हैं। उस आह्लाद का मूल उत्स यदि कवि-मानस का सहजोद्‌गार है तो उसका चर्वण-केन्द्र सहृदय व्यक्तियों का भावक-चित्त।

कवि-वाणी में शब्द-प्रयोग की गरिमा

कवि-भारती अथवा काव्य-वाणी की प्रशंसा में भारतीय विद्वानों ने अनेक प्रकार की अतिरंजनाएं करते हुए उसे जिस रूप में लोकोत्तर सिद्ध किया है, वह भारतीय काव्य-साहित्य का सुमधुर नवनीत है। शब्दसागर के अंतस्थल से काव्योपयुक्त वर्ण-रत्नों का चयन करते हुए कवि उन्हें जिस प्रकार की गरिमा प्रदान करते हैं, वह उसका अमृतनिष्यंद नहीं तो और क्या है ? वस्तुतः शब्दों की साधना ही कवि की मूल साधना है, अतः उसे शब्दों की प्राणशक्ति का ऐसा साक्षात्कारात्मक बोध होना चाहिए जिसके कारण उनके द्वारा प्रयुक्त शब्द काव्य-सर्जना के क्रीडांगण में थिरकते हुए चलें और अपना हृत्स्पंदन प्राणिमात्र के मानस तक परिव्याप्त कर दें। कवियों के लिए शब्द-प्रयोग से बढ़कर अन्य कोई महत्तर विषय नहीं हो सकता। शब्दतत्त्ववेत्ता आचार्यों ने शब्द के जो भेद निर्दिष्ट किये हैं, वे इस विषय में यथावसर अवश्यमेव उपयोगी हो सकते हैं। विद्वानों ने 'द्रव्य', 'क्रिया', 'जाति' और 'गुण' के भेद से चार प्रकार के शब्द माने हैं। इन चारों के अतिरिक्त 'डित्थ' आदि यदृच्छा शब्द भी स्वीकार किये गये हैं, यद्यपि विद्वानों का एक वर्ग ऐसे यदृच्छा शब्दों का अंतर्भाव द्रव्यवाचक शब्दों में कर लेता है। संसार में लोकप्रचलित तथा साहित्यानुमोदित भाषाओं के अनन्त शब्दों के अनन्त अर्थों का वैशिष्ट्य निर्धारित करना असम्भव है, अतः शब्द-प्रयोग की औचित्य-विधि के सम्बन्ध में एक सुनिश्चित मत निर्णीत करना अत्यन्त कठिन कार्य है। शब्द-प्रयोग के विस्तृत और अपार क्षेत्र के सम्बन्ध में हम महर्षि पतंजलि के महाभाष्य (पस्पशाह्निक) का एक उद्धरण देना पर्याप्त समझते हैं जिसमें उन्होंने शब्द के अनंत विस्तार का सामान्य संकेत निम्नलिखित रूप में किया है—

"महान् हि शब्दस्य प्रयोगविषयः सप्तद्वीपा वसुमती, त्रयो लोकाः, चत्वारो वेदाः सांगाः सरहस्या बहुधा विभिन्नाः एक शतम् अध्वयुर्शाखाः सहस्रवर्त्मा सामवेदः, एकविंशतिधा बाह्वृच्यम्, नवधाथर्वणो वेदः, वाको वाक्यम्, इरिहासः, पुराणम्, वैद्यकम् इत्येतावान् शब्दस्य प्रयोगविषयः। एतावंतं शब्दस्य प्रयोगविषयं अननुनिशम्य सन्त्य-प्रयुक्ता इति वचनं केवलं साहसमात्रम्।"

शब्दों का शुद्ध प्रयोग सभी क्षेत्रों में सुमान्य है

भारतीय विचारकों ने शब्दों के शुद्ध प्रयोग पर विशेष बल दिया है। उन्होंने दूषित शब्दों के प्रयोग को अपवित्र संस्कारों का जनक कहकर अनर्थत्व का कारण माना

है। महर्षि पतंजलि ने श्रुतिवचनों को प्रमाण बनाकर इस बात का उल्लेख विशेष रूप से किया है कि शब्दप्रयोग में स्वर एवं वर्ण आदि की अशुद्धि एवं अव्यवस्था होने से न केवल उसका अर्थतत्त्व ही नष्ट होता है अपितु उसके प्रयोक्ता का भी विनाश हो जाता है।[1] वस्तुतः असंस्कृत शब्द वाक्तत्त्व की सिद्धि के साधन न होकर विनाशकारी वज्र के तुल्य हैं जिसका एक प्रमाण तो यह है कि 'इन्द्रशत्रु' शब्द केवल प्रयोगगत स्वर की अशुद्धि के कारण उसके प्रयोक्ता वृत्र के विनाश का कारण बन गया। इसके प्रमाण में महाभाष्यकार का निम्नलिखित कथन उल्लेखनीय है—

दुष्टः शब्दः स्वरतो वर्णतो वा मिथ्याप्रयुक्तो न तमर्थमाह।
स वाग्वज्रो यजमानं हिनस्ति यथेन्द्रशत्रुः स्वरतोपराधात् ॥[2]

शब्दों के शुद्ध और संस्कृत प्रयोग से होनेवाली अर्थसिद्धि का जो उल्लेख किया गया, उसके संदर्भ में इस बात का भी ध्यान रखना आवश्यक है कि शब्द-प्रयोक्ताओं को शब्द के ज्ञान-पक्ष का भी पूर्ण प्रबोध होना चाहिए। वस्तुतः शब्दतत्त्व के ज्ञान तथा उसके सुसंस्कृत प्रयोग के समन्वय में ही वाक्तत्त्व की इष्टसिद्धि तथा लक्ष्यपूर्ति होती है। जो विद्वान् शब्दतत्त्व को ही अंतिम प्रमाण मानते हैं, उनके लिए तो शब्द-ज्ञान और शब्द-प्रयोग का महत्त्व सर्वोपरि है। महाभाष्यकार ने 'एकः शब्दः सम्यग्ज्ञातः शास्त्रान्वितः सुप्रयुक्तः स्वर्गे लोके च कामधुग् भवति' श्रुति द्वारा एक ही शब्द के सम्यक् ज्ञान तथा शास्त्रानुमोदित सुप्रयोग को सम्पूर्ण कामनाओं का सिद्धि-प्रदाता माना है।[3] कहने की आवश्यकता नहीं कि महर्षि पतंजलि का शब्द से अभिप्राय स्फोटरूप शब्द से है। क्रांतदर्शी कवियों और विद्वानों ने शब्दों के संस्कृत और पवित्र प्रयोग की अभ्यर्थना में अनेक प्रकार के संस्तव किये हैं जिनसे पता चलता है कि वे शब्द-तत्त्व को सहस्रधाराओं-वाला विष्णु समझते थे।[4] शब्दों के शुद्ध प्रयोग एवं संस्कार को ध्यान में रखकर विद्वानों ने उसे परमात्म-प्राप्ति का साधन तथा उसके प्रवृत्तितत्त्व के ज्ञाता को ब्रह्मामृत का आस्वादयिता माना है। इस विषय में भर्तृहरि का कथन है—

तस्मात् शब्दसंस्कारः सा सिद्धिः परमात्मनः।
तस्य प्रवृत्तितत्वज्ञस्तद् ब्रह्मामृतमश्नुते ॥[5]

व्याकरणशास्त्र शब्दों के शुद्धाशुद्ध प्रयोग का मानदंड है

यास्क और पतंजलि ने ऋग्वेद का एक मंत्र उद्धृत करते हुए लिखा है कि जिस प्रकार तितउ (छलनी) से सत्तू को स्वच्छ किया जाता है, उसकी प्रकार व्याकरण ध्यान-शक्ति के द्वारा मनन अथवा प्रज्ञान का आश्रय लेकर वाक्तत्त्व को संस्कृत करते

१. तैत्तिरीयसंहिता, कांड २, प्रकरण ५, तथा शतपथ ब्राह्मण, कांड १, प्रकरण ५।
२. महाभाष्य, आ० १।
३. पतंजलि, महाभाष्य, ६।१।८४।
४. ऋग्वेद, ८।८६।३३।
५. वाक्यपदीय, १।१३२।

हैं।[1] वैयाकरणों का वाक्तत्व के साथ सायुज्य सम्बन्ध है। वे अपनी अद्वैतबुद्धि से समस्त विश्व को एक ही ब्रह्मतत्त्व का प्रसार मानकर उसमें वाक्लक्ष्मी का अधिवास स्वीकार करते हैं। सच तो यह है कि व्याकरण का प्रयोजन वाक्तत्त्व के असंस्कृत अंशों का त्याग तथा संस्कृत अंशों का परिग्रहण है। व्याकरणों ने शब्दसंस्कार अर्थात् शब्दों के साध्व-साधुप्रयोग की व्यवस्था पर विशेष बल देते हुए लिखा है कि असाधु अथवा संस्कारविहीन शब्द दूषित (कलुषित एवं अपवित्र) संस्कारों और भावनाओं को जन्म देते हैं जबकि संस्कृत शब्दों के प्रयोग से धर्म की प्राप्ति और चरम लक्ष्य की सिद्धि होती है।

काव्यकार और काव्यशास्त्री इन दोनों के लिए व्याकरण के ज्ञान की परम आवश्यकता है क्योंकि उसके बिना शब्दों की शुद्धाशुद्धि का सम्यक् विवेक हो ही नहीं सकता। सभी विद्वानों ने व्याकरण की महिमा वर्णित की है और उसे भाषा का नेत्र कहा है। व्याकरण ही शब्दों के तत्त्वज्ञान का एकमात्र आधार है जिसे अपवर्ग का द्वार, वाणी के विकारों का निवारक और समस्त विधाओं में पवित्र अधिविद्या पद से सम्बोधित किया गया है।[2] एक आचार्य ने 'यद्यपि बहुनाधीते पठ पुत्र तदपि व्याकरणम्' द्वारा व्याकरण की महत्ता ही व्यक्त की है। श्रेष्ठ कवि व्याकरण अथवा शब्दशास्त्र का पूर्ण परिपक्व ज्ञान प्राप्त करने के पश्चात् ही काव्य-रचना में प्रवृत्त होते हैं जिससे उनकी भाषा और अभिव्यक्ति की विधि में कोई दोष न आ सके। जो कवि पर-प्रत्ययाश्रित न होकर व्याकरण का प्रत्यक्ष ज्ञानार्जन करते हैं, वे उन कवियों से निश्चय ही अधिक शब्द निष्णात होते हैं जो दूसरों के कथन को शब्द-प्रमाण मानकर चलते हैं। व्याकरण के प्रत्यक्ष ज्ञान के बिना कवियों की वाणी अनेक वार ऐसी पुष्पमाला के समान लगती है जो सरस और सौरभमयी होते हुए भी किसी अन्य व्यक्ति द्वारा आघ्रात और आघृत होने के पश्चात् धारण की जाय।[3] आचार्य भामह ने व्याकरणशास्त्र की अगाधता को दृष्टि में रखकर उसे समुद्र से उपमित करते हुए लिखा है कि जिस प्रकार जलावगाहन से करेणुओं (हस्तिनियों) को तृप्ति मिलती है उसी प्रकार व्याकरण से भी शब्दानुरागी विद्वान् आत्मतुष्टि का अनुभव करते हैं। व्याकरण रूपी समुद्र में सूत्र और वार्तिक का स्थान क्रमशः जल और आवर्तवत् है जिनमें उणादिगण ग्राह रूप में निवास करते हैं। उस समुद्र का संतरण केवल मनन-रूपी विशाल नौका से ही किया जा सकता है। वस्तुतः असाधारण मेधावी व्यक्ति ही समुद्र के धतराल से शब्द-रत्न की उपलब्धि करते हैं।[4] सच तो यह है कि व्याकरण रूपी दुर्गाध जलराशि को पार किए बिना कोई भी व्यक्ति शब्द-रत्न की उपलब्धि नहीं कर सकता। कवि के लिए तो उसका प्राथमिक ज्ञान अनिवार्य है। आचार्यों का तो यहां तक अभिमत है कि व्याकरण-शास्त्र का सम्यक्

---

१. सक्तुमिव तितउना पुनंतो यत्र धीरा मनसा वाचमक्रत।
अत्रा सखायः सख्यानि जानते यदैषां लक्ष्मीर्निहिताधि वाचि॥ —ऋग्वेद, १०।७१।२।

२. भर्तृहरि, वाक्यपदीय, १।१३-१४।

३. भामह, काव्यालंकार, ६।५।

४. वही, ६।१-३।

अनुशीलन करने के पश्चात् जो काव्यरचना की जाती है, उसमें किसी भी प्रकार की भ्रांति अथवा काव्य-दुष्टता का अवकाश नहीं रहता। कवि-शिक्षा में जिन विषयों का समाहार किया गया है उनमें व्याकरण-शास्त्र की महिमा यदि सर्वोपरि न मानी जाय तो भी वह अधिकाधिक गौरवमयी है। विद्वानों ने व्याकरण की शुभाशंसा करते हुए उसे भाषा का नेत्र कहा है और इस बात का परामर्श दिया है कि भले ही कोई अधिक अध्ययन न करे किंतु व्याकरण का तो पठन अवश्य करे जिससे उसको शब्द-शुद्धि का ज्ञान हो जाय। राजा भोज के शासनकाल की वह घटना तो अत्यन्त लोकविश्रुत है जिसमें एक बढ़ई ने 'बाध्' धातु के परस्मैपदी प्रयोग को कोसते हुए 'बाधते' क्रिया का समर्थन किया था।

शब्द-प्रयोग की साध्वसाधुता

यों तो अर्थ का ज्ञान शब्द और अपशब्द द्वारा समान रूप से होता है किन्तु शास्त्रग्रंथों का ऐसा आदेश है कि हमें सदैव यथासंभव साधु शब्दों का ही प्रयोग करना चाहिए। शास्त्र तीन प्रकार के हैं—शब्दप्रधान, अर्थप्रधान और उभयप्रधान। वेदादि शास्त्र शब्दप्रधान, इतिहास और पुराण आदि शास्त्र अर्थप्रधान तथा सर्गबंधादि काव्यादि शास्त्र उभयप्रधान कहलाते हैं। वेदादि के अध्ययन और श्रवण से अभ्युदय होता है किन्तु उनमें किंचित् मात्र भी यदि पाठविपर्यास और श्रवण में प्रत्यवाय हो जाय तो उनसे कम अनिष्ट भी नहीं होता। अर्थप्रधान शास्त्र केवल अर्थवादस्वरूप है। उभय-प्रधान शास्त्रों में काव्यादि की गणना होती है जो अपनी रसात्मकता में शब्द और अर्थ के उभयविध औचित्य का परिपोषण करते हैं। काव्य की शास्त्रीयता भी विद्वज्जनमान्य और चिरंतन है। अर्थप्रधान शास्त्रों के श्रवण, धारण, अर्थावबोध तथा अनुष्ठान से जो धर्म होता है वह असाधु शब्दोच्चारणजन्य अधर्म को नष्ट कर देता है। महिमभट्ट ने उसे 'कूपखानकवृत्ति' से अभिहित किया है[1] जिसका अभिप्राय यह है कि 'जिस प्रकार कुआं खोदनेवाले कुआं खोदते समय शरीर में लगी हुई मिट्टी को कूपखनन कार्य से निकले हुए जल से धोकर निर्मल हो जाते हैं, उसी प्रकार प्रकृत में इतिहास, पुराण और काव्य आदि में व्यवहृत अपशब्द से उत्पन्न अधर्म साधुशब्दों द्वारा उत्पन्न धर्म से प्रक्षालित हो जाता है।' इस विषय में महिमभट्ट ने ऐसे अनेक संग्रह-श्लोक भी उद्धृत किए हैं जिनसे शब्दों की साध्वसाधुता का ज्ञान होता है।[2] अविषय में प्रयुक्त अपशब्द के अनेक उदाहरण दिये जा सकते हैं जैसे 'रंजित' शब्द का प्रयोग 'अनुरंजित' तथा 'आसक्त' अर्थ में करना तथा 'स्मृति' शब्द का प्रयोग 'काम' अथवा हरिण के पकड़ने के गर्त के अर्थ में करना। महिमभट्ट ने ऐसे अपशब्दों के प्रयोग की व्याख्या करते हुए लिखा है कि ये शब्द जिस प्रकार एक ओर अप्रयोजनीय हैं, वहां दूसरी ओर संस्कृत व्याकरण की दृष्टि से भी अशुद्ध हैं। इसी प्रकार का एक शब्द 'अपवाद' भी है जिसका प्रयोग 'विश्वास'

१. व्यक्तिविवेक, चौखम्बा संस्कृत सीरीज, पृ० ४८३।
२. वही, पृ० ४८४।

तथा हरिण आदि को पकड़ने के लिए बजाया जाने वाला घंटा आदि 'छोटा बाजा' के अर्थ में भी किया जाता है किन्तु वह काव्य-प्रयोग का अविषय ही रहा है।[1] अभिप्राय यह है कि शब्द-प्रयोग की महत्ता अपरिहार्य है क्योंकि उस पर धर्म का अभ्युत्थान निर्भर है तभी तो एक आचार्य ने लिखा है—

'यस्तु प्रयुक्ते कुशलो विशेषे शब्दः यथावद् व्यवहारकाले।
सो नतमाप्नोति जयं परत्र वाग्योगविद् दुष्येति चापशब्दः।।

महिमभट्ट के अनुसार शब्द के तीन प्रकार हैं—१ साधु, २ असाधु और ३ अपशब्द। लक्षणानुगत शब्द 'साधु' कहलाता है क्योंकि वह प्रकृति और प्रत्यय आदि की विभाग परिकल्पना द्वारा लक्षण से अनुगमित होता है। उससे भिन्न 'डित्थ' आदि शब्द असाधु हैं क्योंकि वे प्रकृति और प्रत्यय से व्युत्पन्न नहीं किये जा सकते। अर्थज्ञापक व्यापार से रहित शब्द को अपशब्द कहते हैं क्योंकि उससे न तो अर्थ का ही ज्ञान होता है और न उसकी कारण-सामग्री भी उचित रहती है। कारण-सामग्री के अभाव में तो साधु शब्द भी अपशब्द हो जाता है क्योंकि वह किसी भी अर्थ का वाचक नहीं होता। इस प्रकार जब शब्द और अपशब्द की व्यवस्था उनकी वाचकता और अवाचकता मात्र पर निबंधित है तो इतिहास, पुराण तथा आगमादि शास्त्रों में भी कहीं-कहीं जिन शब्दों को उनकी असाधुता के कारण अपशब्द कहा जाता है, उनका प्रत्याख्यान नहीं किया जा सकता। इस विषय में महिमभट्ट का अंततोगत्वा यह निर्णय है कि अविषय में प्रयुज्यमान शब्द ही अपशब्द है जैसे 'गोणी' और 'अस्व' आदि शब्द जैसाकि निम्नलिखित कारिका में कहा गया है—

अस्वगोण्यादयः शब्दाः साधवो विषयान्तरे।
निमित्तभेदात् सर्वत्र साधुत्वं च व्यवस्थितम्।।

निष्कर्ष यह है कि शब्द का प्रयोग प्रधान अर्थ की व्यपेक्षा से करना चाहिए, क्योंकि ऐसा न करने पर उसके विपरीत परिणाम भी हो सकते हैं।

काव्य-प्रयोज्य शब्दों की आधारभूमि

शब्द-प्रयोग के समय उनके शुद्धाशुद्ध-स्वरूप को विचारगत रखते हुए वाणी-वैभव का जो परिष्कृत विधान संस्तुत किया गया, वह अखिल वाङ्मय पर्यन्त व्याप्त है किन्तु हमें उसके व्यापक क्षेत्र की प्रयोजनीयता का विमर्श करना अभीष्ट नहीं है। हमें तो यहां केवल काव्योपयोगी शब्दों के प्रयोग पर ही विचार करना है जिससे इस बात का ज्ञान हो सके कि दैनिक जीवन में व्यवहृत तथा काव्य में उपयोजित शब्दों में क्या अंतर है और उनकी साधुता अथवा असाधुता का निर्णय कैसे किया जाता है ?

काव्य-प्रयोज्य शब्दों के निर्णय का सामान्य आधार तो केवल यही है कि जिन शब्दों में प्रसंगानुकूल अर्थ-व्यंजना की क्षमता और व्याकरणगत प्रामाणिकता का अभाव हो, उनका प्रयोग काव्य-कृतियों में नहीं करना चाहिए क्योंकि ऐसा करने पर

---

१. व्यक्तिविवेक, चौखम्बा संस्कृत सीरीज, पृ ४८२।

काव्यरस का अपकर्ष होता है। आचार्यों का अभिमत है कि जिस प्रकार मन में भ्रम उत्पन्न करने वाले 'अप्रयुक्त' शब्दों का काव्यगत प्रयोग त्याज्य है, उसी प्रकार श्रोत्र आदि दुर्बोध, दुष्ट आदि अपेशल, पिंडीशूर आदि ग्राम्य तथा डित्थ आदि निरर्थक शब्दों का प्रयोग भी निंदनीय है। कभी-कभी धातु के अनेकार्थ वाचक होने से उसका प्रयोग ऐसे अर्थ में नहीं करना चाहिए जो अप्रतीत अथवा अप्रसिद्ध हो। इसी प्रकार लेशमात्र ज्ञापक से निष्पन्न शब्द का प्रयोग भी अनुचित है। काव्य-ग्रन्थों के अध्ययन से पता चलता है कि कवियों ने अनेक बार च्युत संस्कृतिदोष पूर्ण शब्दों का भी काव्यगत प्रयोग किया है जिसे सभ्य और सुशिक्षित लोगों ने कालांतर में ग्रहण कर लिया है अथवा शिष्ट जनों के अनुकरण पर कवियों ने भी अपरिष्कृत शब्द स्वीकृत किये हैं। एक सच्चे कवि को गतानुगतिक-प्रणाली से उनका समर्थन नहीं करना चाहिए और इस विषय में अत्यंत निर्भीकतापूर्वक अपना पथ निर्धारित करना चाहिए। सच तो यह है कि काव्य की अदुष्टता शब्द-प्रयोग पर भी अत्यधिक निर्भर है अतः रससिद्ध कवियों का यह कर्तव्य है कि वे परम्परागत, श्रवण-सुखद, उत्कृष्ट और अर्थगाम्भीर्य युक्त शब्दों का ही प्रयोग अपनी कृतियों में करें जिनसे काव्य के भावाभिव्यंजन में चारु चमत्कार आ सके। शब्द-सौन्दर्य के पूर्व वर्णसौन्दर्य की अलंकृति विशेष प्रयोजनीय है, इस बात का भी ध्यान रखना नितांत आवश्यक है। आचार्य भामह ने अपने सुप्रसिद्ध काव्यशास्त्रीय ग्रंथ 'काव्यालंकार' के षष्ठ परिच्छेद के अतंर्गत कारिका संख्या ३० से लेकर कारिका संख्या ६१ पर्यन्त ऐसे अनेक शब्द उदाहृत किये हैं जिनका रहस्य समझकर हम शब्दों के प्रयोज्य और अप्रयोज्य रूप का सामान्य ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं। उनका वह विवेचन पाणिनीय व्याकरण से सुसम्मत है जिस पर प्रबल श्रद्धाभाव रखते हुए आचार्य भामह ने उनके अनुगमन का परामर्श दिया है। अभिप्राय यह है कि समग्र वाङ्मय शब्दार्थरूप है और शब्द और अर्थ का सम्यक् ज्ञान व्याकरण पर निर्भर है अतः व्याकरण को ही समस्त विद्याओं का आधार मानकर हमें 'साहित्यविद्या' का अनुशीलन करना चाहिए जिससे किसी भा प्रकार का प्रमाद न हो।

शब्द-प्रयोग करते समय कवि को समस्त पद और असमस्त पदों की सुष्ठु योजना का भी सर्वत्र ध्यान रखना चाहिए। यों तो ऐसी काव्य-रचनाएँ भी की गई हैं जिनके पदार्थों में रसप्रतीति का निर्वाह 'असाधु' (व्याकरण से असिद्ध) शब्द-प्रयोग की विद्यमानता में भी हुआ है किंतु यथासम्भव कवि को असाधु-प्रयोगों से बचना चाहिए। महाकवियों पर तो इस बात का बहुत बड़ा दायित्व है कि वे अपशब्दों के प्रयोग से अपनी रचनाओं को दूषित न होने दें। काव्य-प्रयुक्त शब्दों के दोषादोष का निर्णय करना अत्यंत जटिल और दुःसाध्य कार्य है। इस विषय में हम इतना ही निवेदन करना पर्याप्त समझते हैं कि एक आचार्य ने जिस काव्य-रचना को उत्तम कोटि की मान्यता प्रदान कर उसे सर्वोत्तम ध्वनि-काव्य कहा है तो दूसरे आचार्य ने उसे विधेयाविमर्श दोष से लांछित करने में भी संकोच नहीं किया है। इस प्रकार के ऊहापोह आचार्यों की मनःस्थिति और बौद्धिक प्रवृत्ति के ही परिणाम हैं। इसका विमर्श हम यथास्थान कर चुके हैं, फिर भी प्रसंगवश हम उस छंद को उद्धृत करने का लोभ संवरण नहीं कर

सकते जिसकी विवेचना करते हुए आचार्यों ने उसे अपने-अपने दृष्टिकोण से दुष्टादुष्ट काव्य-ध्वनि का निदर्शन कहा है—

न्यक्कारो प्रथमेव में यदरयस्तत्राप्यसौ तापसः,
सोऽप्यत्रैव निहंति राक्षसकुलं जीवत्यहो रावणः।
धिग् धिक् शक्रजितं प्रबोधितवता किं कुंभकर्णेन वा,
स्वर्गग्रामटिकाविलुण्ठन वृथोऽच्छूनैः किमभिभुजैः।।

काव्य की शब्दार्थमयी प्रत्यक्षसिद्धि

साहित्य के अन्य प्रकारों की भाँति काव्य भी शब्दार्थमय है। उसमें शब्दार्थ प्रत्यक्षसिद्ध होते हैं तो उसका रसास्वादन अनुभवसिद्ध शब्दार्थों का रसास्वादन में पर्यवसान होने के लिए काव्यगत शब्दार्थों में कतिपय विशेषताएं होती हैं। उन विशेषताओं को गुण और अलंकारों की सीमाओं में आबद्ध करने का प्रयत्न आचार्यों ने किया है। वामन ने गुणालंकारों से संस्कृत शब्दार्थों को ही काव्य की संज्ञा दी है। आचार्यों ने गुणालंकारों का स्वरूप अन्वयव्यतिरेक-पद्धति से निश्चित किया है।

शब्दार्थों की विवेचना में व्याकरण, न्याय और मीमांसा शास्त्र प्रमुख हैं। काव्यशास्त्र ने इन तीनों से यथोचित सामग्री ग्रहण की है किंतु वह व्याकरण का अधिक ऋणी है। आलंकारिकों ने वैयाकरणों को 'बुध' पद से सम्बोधित कर उनका सम्मान किया है। अलंकारशास्त्र को 'व्याकरणस्य पुच्छम्' अर्थात् व्याकरण का परिशिष्ट कहा गया है। व्याकरण का प्रयोजन शब्दों का साधुत्वासाधुत्व निर्धारित करना है तो काव्यशास्त्र का प्रयोजन 'सम्यक्प्रयोगयोग्यता' का अवधारण करना है। व्याकरण द्वारा शुद्ध निर्धारित शब्दों में विशिष्ट संदर्भ में कौन-सा शब्द प्रयोगोचित है और कौन-सा अप्रयोगार्ह—इस सम्बन्ध में नियम और निर्बंध अलंकारशास्त्र बतलाता है। श्रुतिकटु रौद्र में उचित है, शृंगार में नहीं, यह निर्दिष्ट करना काव्यशास्त्र का कार्य है। रव और नाद समानार्थक होते हुए भी 'सितरव' और 'मंडूकनाद' के रूप में प्रयुक्त नहीं किये जाते। रणित, कूजित, भणित और गर्जित आदि शब्द एक ही अर्थ के सूचक हैं किंतु उनका प्रयोग करने के पूर्व रुद्रट की निम्नलिखित कारिका का ध्यान आवश्यक है—

मंजीरादिषु रणितप्रायान् पक्षिषु च कूजित प्रभृतीन्।
भणितप्रायान् सुरते मेघादिषु गर्जित प्रायान्।।

काव्य-भाषा, नाद-सौन्दर्य और छन्दोविचिति

काव्य की शब्दार्थमयता की सरस व्यंजना का संस्तव करने का अभिप्राय केवल इतना ही है कि वह इतर अभिव्यंजनाओं से भिन्न और विशिष्ट कोटि की है। जब हम काव्य का सम्बन्ध अपनी रागात्मिका वृत्ति से मुख्य रूप में स्वीकार करते हैं तो उसकी अभिव्यक्ति त में भी ऐसी कलात्मकता होनी चाहिए जो हमारे चित को आकर्षित अ र अनुरंजित कर सके। अभिव्यक्ति का सर्वोत्तम प्रकार 'भाषा' है जिसका गठन

शब्दों से होता है। कवि का कर्तव्य है कि वह काव्योचित शब्दों की संघटना करते हुए उसे ऐसी रीति अथवा प्रणाली से व्यक्त करे जिससे काव्य की वर्णना सौंदर्यमयी बनकर सहृदयजनों की मनोवृत्तियों को रसाप्लावित कर दे तथा वे जीवन की व्यापकता का संवेदनात्मक अनुभव कर सकें। भारतीय आचार्यों ने काव्य की माध्यमभूत भाषाभिव्यंजना को ही प्रयोजनीय बनाकर रीति-तत्त्व, वक्रोक्ति-विन्यास और काव्य-मार्गों की गरिमा विवेचित की थी, जिसका विश्लेषण हमने स्वतंत्र अध्यायों के रूप में काव्य के स्वरूप-विधायक तत्त्वों के प्रकरण में किया है। सच तो यह है कि भाषा और उसकी अभिव्यंजना-कला के सुमधुर सम्मिलन में ही काव्य का साध्य अपने रूप की चरम प्राप्ति की ओर उन्मुख होता है। काव्यकार की भाषा-शैली किस प्रकार की हो, इस विषय पर सभी देशों के काव्य-मीमांसकों ने विविध दृष्टियों से यथेष्ट विमर्श किया है जिनके तुलनात्मक अध्ययन और पर्यवेक्षण से अनेक प्रकार के सर्वग्राह्य तथ्य और सत्य उपलब्ध होते हैं। भाषा भावों की संवाहिका शक्ति है, अतः काव्य-विश्व में उसका संचरण ऐसी प्रविधि के साथ होना चाहिए जो काव्य के आत्मतत्त्व का परिवहन करने के सामर्थ्य से संवलित हो। विद्वानों ने काव्य-भाषा के सौन्दर्य और शैलीगत लाघव की प्रशंसा में अनेक प्रकार का परामर्श किया है जिसकी अर्थगत शक्ति का सामान्य विश्लेषण काव्यार्थप्रतीति द्वारा किया जा सकता है।

यों तो काव्य-भाषा में अनेक गुणों की संहति रहती है, किंतु उनमें नाद-सौन्दर्य का विधान विशेष रूप से होना चाहिए। नाद के कारण भाषा की शब्द-शक्ति को बल मिलता है और उसकी ध्वन्यात्मकता में चमत्कार आता है। 'नाद' का दार्शनिक विवेचन करना हमें अधिक अभीष्ट नहीं है अन्यथा स्फोट-सिद्धांत के साथ उनका अभिनिवेश करते हुए उसके गुण-संस्थान के विषय में बहुत कुछ कहा जा सकता है। वस्तुतः 'नाद' और 'अर्थ 'काव्य-भाषा के अविच्छेद्य उपकरण हैं जिनके रहस्य-बोध करने का अभिप्राय काव्य-सर्जना और काव्यास्वाद के तत्त्व-दर्शन की अवगति करना है। काव्य-भाषा की नाद-सृष्टि, अर्थशक्ति और प्रतीकात्मकता द्वारा काव्य-सर्जना को जो विभुता उपलब्ध होती है वह अनिर्वचनीय और आत्मसंवेद्य वस्तु है। 'प्रतीक' और 'बिम्ब' का काव्यगत महत्त्व और उसके विविध रूपों का प्रसार-विवेचन आधुनिक काव्य-समीक्षा का एक अत्यंत महत्त्वपूर्ण और रुचिकर विषय बना हुआ है जिसका निरूपण भारतीय काव्यशास्त्र के अलंकार-विधान से तत्त्वतः पृथक् नहीं है। हमारे यहां के अलंकारशास्त्रियों ने शब्द और अर्थ के पार्थक्य तथा उनकी उभयनिष्ठ स्थिति को ध्यान में रखकर जिस अलंकार चक्र का प्रवर्तन और संवर्धन किया था वह काव्य की साजसज्जा का बाह्य प्रदर्शनमात्र नहीं। अपितु उसके नाद-सौन्दर्य और अर्थ-सौष्ठव का भी नियामक रहा है। यों तो आचार्यों ने अलंकारों को अभिव्यंजना की प्रणालीमात्र कहकर उन्हें काव्य का अंतरंग पक्ष स्वीकार करने में संकोच किया है, किन्तु 'सौन्दर्यमलंकार' की अवधारणा भी उपेक्षणीय नहीं कही जा सकती। अलंकारों के प्रयोग द्वारा केवल भाषा का परिष्कार और चमत्कार ही प्रभविष्णुता को प्राप्त नहीं होता अपितु भाव-संवेदन को भी रमणीयता मिलती है। उनका रहस्य मानव-मनोविज्ञान की उस प्रक्रिया से भी उपबृंहित

है जिसमें अभिव्यक्तियों को रुचि-वैचित्र्य के अनुसार चित्रमयता प्रदान की जाती है। यदि कोई विद्वान् अलंकारों के काव्य-विधान को रस और मनोविज्ञान की भूमिका में अधिष्ठित कर उनका नवीन आख्यान करे तो काव्यविश्व के शाश्वत एवं अनंत विस्तार के अंतराल में समय-समय पर उद्भूत की जाने वाली अनेक समस्याओं का समाधान सहज संभव है। हमें तो काव्य-पुरुष के विराट् वैभव में रीति, अलंकार और वक्रोक्ति आदि तत्त्व परस्पर-विरोधी प्रतीत होने के स्थान पर पूर्वापरसम्बन्ध-समन्वित और पूरकमात्र प्रतीत होते हैं जिनकी आत्मशक्ति का साक्षात्कार न कर पाने के कारण बाह्य परिवेश को ही व्यर्थ का तूल दिया जाता है।

काव्य-भाषा के प्रसंग में छन्द-विधान का उल्लेख करना भी आवश्यक है क्योंकि उसमें नाद-सौन्दर्य और भावोत्कर्ष की भव्यता का अधिवास है। भारतीय विद्वानों ने वेदांगों के रूप में छंदशास्त्र की अवतारणा के जो आख्यान संयोजित किये हैं, उनका रहस्य अत्यंत गम्भीर और विचारणीय है। छन्दों की गति और लय में हमारी आत्मविश्रांति के स्वर मुखरित रहते हैं जिनका विशेष विश्लेषण संगीतशास्त्र की भूमिका द्वारा भी किया जा सकता है। शब्दब्रह्म ही नादब्रह्म है और नादब्रह्म की स्वरलहरी ही विश्व के अणु-परमाणुओं में व्याप्त है। उनके समुचित संयोजन में ही सृष्टि का अनुक्रम अनुस्यूत है अन्यथा उसकी विपरीत स्थिति में अनेक प्रकार की विसंगतियाँ उद्भावित हो सकती हैं। छन्दों के कारण हमारे मनोभावों की अभिव्यक्ति में उनके वैशिष्ट्य के अनुरूप अनुरणन की व्यवस्था होती है जिनसे हमारा मनः प्रसादन होता है। उनका काव्यरसों से भी अंतरंग सम्बन्ध है जिसे ध्यान में रखकर भारतीय आचार्यों ने वीर रस में 'भुजंग प्रयात', वियोग वर्णन में 'मंदाक्रांता' और शांतरस में 'शिखरिणी' आदि छंदों के विधान को काव्य-परम्परा का समर्थन किया है। सच तो यह है कि छंदों के समुचित विधान से काव्य-कला को लालित्य और सहज प्रवाह प्राप्त होता है जिसका प्रत्यक्ष प्रभाव हमारे मनोजगत् पर पड़ता है और जिसके कारण हम सौन्दर्य-बोध करने में भी सुविधा का अनुभव करते हैं।

स्वच्छंदतावादी कवियों और काव्य-समीक्षकों ने छंदों की काव्यगत स्थिति की विवेचना करते हुए जिस रूप में उन्हें कदर्थनीय सिद्ध करने की चेष्टा का है, वह निर्भ्रान्त सत्य नहीं है। वस्तुतः उसकी विवेचना में विद्रोह का स्वर जितना अधिक प्रबल और उद्दीप्त है, उतना तत्त्वबोध अथवा तथ्यग्रहण का नहीं। हमारे यहां औचित्य को 'रसोपनिषद' कहकर जब समस्त काव्यांगभूत उपकरणों की व्याख्या की गई है तो छंद-विधान भी उसकी विषय-व्याप्ति से किस प्रकार पृथक् रह सकता है, किन्तु इसका अभिप्राय यह नहीं होता कि काव्य-जगत् से छंदों का सर्वथा निष्कासन ही कर दिया जाय। हमें तो काव्य-साधना के एक अभिन्न अंग के रूप में छन्द की साधना भी स्वीकार्य प्रतीत होती है, जिसे केवल सतही समीक्षा का विषय बनाकर अपरिपक्व मान्यताओं के आधार पर ही क्षत-विक्षत करना विद्वज्जनोचित प्रतीत नहीं होता। सच तो यह है कि काव्य-सर्जना की विशिष्ट प्रणाली के रूप में 'पद्य' को जिस प्रकार प्रभुत्व प्राप्त हुआ है वह छंदोविचिति का ही तो प्रतिरूप है। आदिकवि की वाणी का

प्रथम श्लोक भी छंदोमय ही था, क्योंकि उसके प्रवाह और लय में उन्हें एक प्रकार का आत्मतोष उपलब्ध हुआ था। हम छंद-प्रयोग की पुनर्व्यवस्था अथवा उनकी रसगत योजना के समयोचित संशोधन को स्वीकार करने में अवश्य उदारमना हो सकते हैं, किन्तु उनके परम्परागत वैभव की अक्षुणणता और मर्यादा का विध्वंस किसी भी रूप में युक्तिसंगत नहीं समझते। नवीन युग की तथाकथित वैज्ञानिक दृष्टि और भौतिकवादी मान्यताओं की यंत्रणाओं से त्रस्त होकर जब विश्वजीवन ही अपने परित्राण का सुमार्ग नहीं प्राप्त कर रहा है तो काव्य के आत्मतत्त्व तथा उसके अंगोपांगों का उदात्तीकृत रूप उसे किस प्रतिमान से सुग्राह्य होगा, यह भी एक विकट समस्या है। उस स्थिति में अंगीभूत काव्य-विश्व के अंगभूत छंदविधान को सहज रूप में ग्रहण न कर पाने का दृष्टिकोण युग-प्रसूत है, यह मानकर भी हम उसकी उपेक्षा करना समुचित नहीं समझते। कवि-वाणी की स्वर-लहरी में निनादित जीवन का छंदोमय गान ही व्यथित विश्व को शांति प्रदान कर सकता है, इसी आस्था में विश्वास रखकर भगवान् श्रीकृष्ण के शब्दों में हम यही कहना उचित समझते हैं—

नाहं वसामि वैकुण्ठे, योगिनां हृदयेऽपि न।
मद्‌भक्ताः यत्र गायंति तत्र तिष्ठामि नारद॥

भारतीय दृष्टि के आलोक में वाक्‌तत्त्व की सामान्य विवेचना के संदर्भ में कवि-वाणी की विशिष्टता और उसके शब्द-प्रयोग की रमणीक विधि तथा भाषागत नाद-सौन्दर्य और छन्दविधान का विश्लेषण करने का प्रयोजन केवल इतना ही है कि हम अपने प्रकृत विषय की विवेचना के लिए उसका भूमिकारूप उपक्रम प्रस्तुत कर लें। सच पूछा जाय तो वाग्देवता के अनंत विस्तार का अवगाहन करते हुए उसकी अगाधता का अनुमापन करना असम्भव है। हमारे यहां शब्द-शास्त्र की अनंतता का जो उल्लेख किया गया, वह इसका प्रमाण है।[1] विश्व-वाङ्‌मय के विराट वैभव की बात तो अलग रही, भारतीय वाङ्‌मय का प्रसार ही इतना अधिक है कि उसका सम्पूर्ण बोध करना कदाचित् अनेक जन्मों की साधना के पश्चात् भी संभव नहीं हो सके। ऐसी स्थिति में हमें यही उचित प्रतीत होता है कि भारतीय वाङ्‌मय का ऐसा संक्षिप्त परिचय प्राप्त कर लें जिससे हमें तद्‌गत काव्य की स्थिति की अवधारणा करने में सुविधा रहे। इस विषय में आचार्य राजशेखर का विमर्श अत्यंत तत्त्व-संवलित और उल्लेखनीय है अतः उसी को उपजीव्य बनाकर यह विवेचना की जाती है। इस विवेचना द्वारा हमें वाङ्‌मय की अक्षरनिधि में काव्यामृत का संस्थान अवगत हो सकेगा और तदुपरांत हम अपनी शोध-यात्रा के उस तल पर पहुंच सकेंगे जहां पर भारतीय काव्यशास्त्रियों ने काव्य-शास्त्र की परिकल्पना और नियोजना द्वारा काव्य-सर्जना अथवा काव्य-सृष्टि का रूप विधान करने की चेष्टा की है।

---

१ अनंतपारं किल शब्दशास्त्रं, स्वल्पश्च आयुः बहवश्चविघ्नाः।
यत्सारभूतं तदुपासनीयं हंसै र्यथा क्षीरमिवाम्बुमध्यात्॥

शास्त्र और काव्य के रूप में भारतीय वाङमय का विस्तार

राजशेखर ने मुख्य रूप से दो प्रकार का वाङ्मय माना है—शास्त्र और काव्य। काव्य-ज्ञान के पूर्व शास्त्र-ज्ञान आवश्यक है, क्योंकि उसी के द्वारा विविध विषयों के अवबोध के लिए दीपकवत् आलोक मिलता है। शास्त्र दो प्रकार के हैं—अपौरुषेय और पौरुषेय। अपौरुषेय शास्त्र का नाम 'श्रुति' या वेद है जिसे हम परम्परा से सुनते चले आ रहे हैं। उसके दो भाग हैं—मंत्र और ब्राह्मण। याज्ञिक क्रियातंत्रों के निर्देशक 'मंत्र' कहलाते हैं तथा मंत्रों के निंदा-स्तुति-निर्वचन-विधि-निषेध एवं क्रिया में विनियोग आदि करने वाले भाग 'ब्राह्मण'। ऋक्, यजु और सामवेदों का नाम त्रयी है जिनमें अथर्व को जोड़ने पर चार वेद बनते हैं। वेदों के अर्थव्यवस्थित छन्दोबद्ध भाग का नाम 'ऋक्,' ऋचाओं के सस्वर गेय रूप भाग का नाम 'साम' और छन्दविहीन गद्य भाग का नाम 'यजुष' है। इन वेदों के चार उपवेद हैं जिनके नाम इतिहास, धनुर्वेद, गांधर्ववेद और आयुर्वेद है। आचार्य द्रोहिणि के मतानुसार सब वर्णों के लिए उपयुक्त एवं वेदोपवेद के आत्मस्वरूप गेयवेद को पंचम वेद कहा जा सकता है। शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द और ज्योतिष नामक छः वेदांग हैं। राजशेखर ने अलंकार को 'उपकारकत्वादलंकारः सप्तममंगम्' कहा है क्योंकि उसके द्वारा भी वेदार्थ का ज्ञान किया जाता है। वेदों और उपनिषदों में ऐसे अनेक मंत्र मिलते हैं जिनका अर्थबोध अलंकारों के ज्ञान के बिना किया ही नहीं जा सकता। इस विषय में श्वेताश्वतर उपनिषद् का वह मंत्र उद्धृत करना आवश्यक है जिसमें एक ही शरीर में रहने वाले जीवात्मा और परमात्मा का निरूपण दो पक्षियों के रूप में रूपक अलंकार द्वारा किया गया है। उस मंत्र के पूर्वार्द्ध में रूपक तथा उत्तरार्द्ध में व्यतिरेक अलंकार है। मंत्र इस प्रकार है—

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्ति, अनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति॥

—अर्थात् 'सुंदर पंखों वाले, एक साथ रहने वाले और परस्पर मैत्री रखने वाले दो पक्षी एक ही वृक्ष में निवास करते हैं। उनमें से एक स्वादयुक्त फलों को खाता है तथा दूसरा बिना कुछ खाये ही प्रकाशमान रहता है।' कहने की आवश्यकता नहीं कि यद्यपि यह मंत्र अपनी दार्शनिक महत्ता रखता है किन्तु उसका स्पष्टीकरण अलंकारों के माध्यम से किया गया है। इसी प्रकार के अन्य अनेक मंत्र वैदिक वाङ्मय से उद्धृत किये जा सकते हैं जिनसे अलंकारों की अभिव्यंजनागत उपयोगिता सिद्ध होती है।

वेद के अंगों में शिक्षा-शास्त्र एक ऐसा अंग है जिसके द्वारा वर्णों के स्थान, करण, प्रयत्न और उच्चारण आदि की निष्पत्ति का निर्णय होता है। आपिशल, पाणिनि और याज्ञवल्क्य आदि ऋषियों द्वारा इस प्रकार के शिक्षा-शास्त्रीय ग्रंथ निर्मित हुए हैं। भिन्न-भिन्न शाखाओं में अधीत मंत्रों के विनियोजक सूत्रों का नाम 'कल्प' है जिनका सम्बन्ध यजुर्वेद से है। कात्यायन, आश्वलायन, बौधायन और गोभिल आदि ऋषि प्रमुख सूत्र-ग्रंथ-प्रणेता हैं। प्रकृति और प्रत्ययों द्वारा सुबंत और तिङ्न्त आदि शब्दों

की सिद्धि करना व्याकरण-शास्त्र का प्रयोजन है जिनके निर्माताओं में आपिशालि, चंद्र, शाकरायन और पाणिनि आदि की गणना की जाती है। शब्दों के अर्थ का वर्णागम आदि पांच प्रकारों द्वारा निर्णय करने वाला शास्त्र 'निरुक्त' है तथा अनुष्टुप् त्रिष्टुप और गायत्री आदि छंदों के लक्षण, स्वरूप तथा नियमों का प्रतिपादक शास्त्र 'छंदोविचिति'। 'ग्रहगणित' को ज्योतिष कहा जाता है। इन छः अंगों के अतिरिक्त सप्तम अंग के रूप में 'अलंकार-शास्त्र' का प्रतिपादन राजशेखर द्वारा किया ही गया है। संक्षेपतः वेद-संख्यक अपौरुषेय शास्त्रों तथा उनके अंगों का यही सामान्य परिचय है।

राजशेखर ने पुराण, आन्वीक्षिकी, मीमांसा और धर्मशास्त्र को चार प्रकार के पौरुषेय शास्त्र माना है। पुराणों का प्रमुख विषय है वेदों में आये हुए आख्यानों का आलंकारिक प्रणाली से विस्तृत वर्णन करना। पुराणों की संख्या अठारह मानी गई है और उनमें सर्ग (सृष्टि), प्रतिसंहार (अवांतर-सृष्टि), कल्प (प्रलय) मन्वन्तर और वंश-विधि का वर्णन हुआ है।[1] इतिहास भी पुराण का एक भेद है जिसके दो प्रकार हैं—परक्रिया और पुराकल्प। एक नायक के आधार पर निर्मित इतिहास को 'परक्रिया' तथा अनेक नायकों के आधार पर रचित इतिहास को 'पुराकल्प' कहा जाता है। इन दोनों प्रकार के इतिहासों के उदाहरण क्रमशः रामायण और महाभारत हैं। वेदवाक्यों का विविध तर्कों से विवेचन करने वाला शास्त्र 'मीमांसा' है जिसके दो प्रकार हैं—कर्ममीमांसा तथा ब्रह्ममीमांसा (वेदांत शास्त्र)। वेदार्थों का अनुस्मरण कर धर्म का विवेचन करने वाला शास्त्र 'स्मृति' कहलाता है। स्मृतियों की संख्या अठारह मानी गई है। चार वेद, छः वेदांग तथा चार लौकिक शास्त्र—इस प्रकार कुल मिलाकर चौदह विद्याएं कहलाती हैं जिनका क्षेत्र तीनों लोकों में व्याप्त है।[2] राजशेखर ने काव्यविद्या को पन्द्रहवीं विद्या मानते हुए उसे 'सकलविद्यास्थानैकायतन' कहा है। उनका मत है कि सभी शास्त्र काव्यविद्या का अनुसरण करते हैं क्योंकि वह गद्यपद्यमय होने के साथ-साथ कवि के धर्म तथा हितोपदेश की विधात्री भी होती है।[3] कुछ विद्वान् पूर्वोक्त चतुर्दश विद्याओं में चार अन्य विद्याओं को जोड़कर उनकी संख्या अठारह बना देते हैं जो आन्वीक्षिकी, त्रयी (वेद), वार्ता और दण्डनीति (अर्थशास्त्र) संज्ञक ही चार प्रकारों के रूप में प्रसिद्ध है। उशना भार्गव के मत से दण्डनीति ही एक मात्र विद्या है, क्योंकि दण्ड-भय से समस्त व्यक्ति अपने-अपने कर्तव्य-पालन में सतर्क रहते हैं। वृहस्पति के मत से दण्डनीति और वार्ता नामक दो विद्याएं हैं क्योंकि जीविका और

---

१ सर्गः प्रतिसंहारः कल्पो मन्वंतराणि वंशविधिः।
जगतो यत्र निबद्धं तद्विज्ञेयं पुराणमिति ॥

२ विद्यास्थानानां गंतुमन्तं न शक्तो,
जीवेद्वर्षाणां योऽपि साग्रं सहस्रं।
तस्मात्संक्षेपादर्थसन्दोह उक्तो,
व्यासः संत्यक्तो ग्रन्थ भीरुप्रियार्थम् ॥

३ काव्यमीमांसा, कविरहस्य, द्वितीय अध्याय, शास्त्र-निर्देश, पृ० ६।

अनुशासन ये दो ही लोकस्थिति के कारण हैं। मनु के अनुयायी त्रयी, वार्ता और दण्ड-नीति नाम की तीन विद्याएं मानते हैं जबकि कौटिल्य ने उनमें आन्वीक्षिकी को जोड़कर उनकी संख्या चार कर दी है। राजशेखर ने इन चारों के अतिरिक्त 'साहित्य विद्या' को पंचमी विद्या माना है और उसे उपर्युक्त चारों विद्याओं का निष्यंद (सारतत्व) कहा है। इन विद्याओं का मुख्य फल धर्म और अर्थ की प्राप्ति है।[1]

त्रयी अर्थात् श्रुति की व्याख्या की जा चुकी है। आन्वीक्षिकी अर्थात् तर्क-विद्या दो प्रकार की है। उसके पूर्वपक्ष में चार्वाक, बौद्ध तथा जैन नामक तीन दर्शन आते हैं तथा उत्तर-पक्ष में सांख्य, न्याय तथा वैशेषिक। वस्तुतः ये षट्दर्शन तर्क के ही छः भेद हैं जिनमें वाद, जल्प और वितंडा नामक तीन प्रकार की कथाएँ होती हैं। दोनों ओर के मध्यस्थों के तत्त्वबोध के लिए वस्तुतत्त्व का परामर्श 'वाद' है तो अपनी पक्ष-सिद्धि के लिए विजिगीषु का वाक्छल और जाति-निग्रह आदि का परिग्रह 'जल्प' अपने पक्ष को उपस्थित किये बिना ही प्रतिवादी के पक्ष में दोष-प्रदर्शन करना 'वितण्डा' है। कृषि, पशुपालन और वाणिज्य का संयुक्त नाम 'वार्ता' शास्त्र है। दण्डनीति को अवशिष्ट तीनों विद्याओं की प्राप्ति और उसके प्रयोग का साधन कहा जा सकता है क्योंकि उसके बिना आन्वीक्षिकी, त्रयी तथा वार्ता के द्वारा सांसारिक स्थिति का निर्वाह नहीं किया जा सकता। शास्त्रों का उपर्युक्त विस्तार-निर्देश इस विषय का सूचक है कि अपनी प्रारम्भिक स्थिति में नदियों के प्रवाह की भांति शास्त्र भी तुच्छ प्रवाह वाले होते हैं किंतु कालांतर में वे विस्तीर्ण और विपुल बन जाते हैं।[2] इन शास्त्रों का प्रणयन और विस्तार सूत्र, भाष्य, वृत्ति, टीका और समीक्षा आदि के द्वारा किया गया है। सूत्रकारों के मतानुसार अल्प अक्षरयुक्त, संदेह रहित, सारगर्भित, व्यर्थ शब्दहीन, व्यापक एवं अनिन्द्य अर्थ का बोध कराने वाला साधन ही 'सूत्र' है। सूत्रों के समस्त सार-भाग का विवरण देने वाली व्याख्या को 'वृत्ति' कहते हैं। सूत्र पर की गई वृत्ति की विवेचना का नाम 'पद्धति' है। ऊपर से अनेक शंकाओं का आक्षेप करके उनका तर्कसंगत उत्तर-पुरस्सर विवेचन करना 'भाष्य' कहलाता है। भाष्य के अवांतर गर्भित अर्थों का स्पष्टीकरण 'समीक्षा' है। यथासंभव सरल अर्थों का संकेत करना 'टीका' है। केवल कठिन शब्दों का सरल शब्दों द्वारा स्पष्टीकरण 'पंजिका' कहलाता है। सूत्र के अर्थ का प्रदर्शन मात्र कराने वाली 'कारिका' तथा उक्त, अनुक्त और दुरुक्त विषयों का विवेचन 'वार्तिक' है। इस प्रकार राजशेखर के मतानुसार शास्त्रों के ये सभी भेद हैं। इन शास्त्रों का ज्ञाता शास्त्र-कवि शब्दों के गूढ़ अर्थों को प्रकट करता है, संदिग्ध या संदेहरहित अर्थ का स्पष्टीकरण करता है तथा संक्षिप्त को विस्तृत और विस्तृत को संक्षिप्त करता है।

---

१. पंचमी साहित्य विद्या 'इति यायावरीयः। सा हि चतसृणामपि विद्यानां निष्यंदः। आभिर्द्धर्मार्थौ यद्विद्यात्तद्धिधानां विद्यात्वं। —काव्यमीमांसा, द्वितीय अध्याय, शास्त्र-निर्देश।

२. सरितामिव प्रवाहास्तुच्छाः प्रथमं यथोत्तरं विपुलाः।
ये शास्त्रसुभारंभा भवंति लोकस्य ते वंद्या।।

शास्त्र के किसी एक भाग की प्रक्रिया का नाम 'प्रकरण' है। उसके अवांतर विषयों के विभाग, 'अध्याय' 'सर्ग' और 'परिच्छेद' आदि नामों से किये जाते हैं। राजशेखर ने 'शब्द और अर्थ' के सहभाव को निर्दिष्ट करने वाली विद्या को 'साहित्य विद्या' कहा है। इस विद्या की चौंसठ उपविद्याएँ है जिन्हें 'कला' कहा जाता है। ये उपविद्याएं ही काव्य का जीवन है[1] जिनका विस्तृत विवेचन करना अत्यंत अभिरुचिपूर्ण और ज्ञानवर्द्धक है।

आचार्य राजशेखर ने शास्त्र और काव्य संज्ञक वाङ्मय के द्विविध रूपों में भारतीय साहित्य के अनन्त विस्तार का निरूपण करते हुए काव्यशास्त्र की विवेचना का सारगर्भित आधार-सा प्रस्तुत कर दिया है। सच पूछा जाय तो काव्य की स्वरूप-विवेचना और आस्वाद-प्रक्रिया के विश्लेषण का अंगी व्याख्याता काव्यशास्त्र ही है। अपने शोध-प्रबन्ध के मूल विषय की विवेचना में मैंने उसी को उपजीव्य बनाकर काव्यसर्जना और रसास्वाद का शास्त्रीय विमर्श करने का लघु प्रयास किया है। उसकी चिरंतन और अखण्ड परम्परा का समुद्भव संस्कृत साहित्य के जाज्वल्यमान रत्नकोष का एक ऐसा आलोकमय प्रदीप है जिसकी ज्ञान-वर्त्तिका की दिव्योपमशिखा से भारती-माता की नीराजना का उपक्रम हुआ है। उसकी दृष्टि ही भारतीय काव्य-दर्शन की तेजोमयी दृष्टि है जिसके आलोक में मैंने प्रतिपाद्य विषय का विश्लेषण किया है। भरतमुनि से लेकर पंडितराज जगन्नाथ तक उसकी रुचिर रश्मियों का प्रसरण जिस रूप में चित्र-विचित्र बनकर उपस्थित हुआ है, वही इस विवेचन का मूलाधार है। अपनी शोधयात्रा के अन्तराल में मैंने उन्हीं आचार्यों की प्रतिभा का प्रसाद विशेष रूप से ग्रहण किया है जो मेरी बाल-बुद्धि के लिए सुग्राह्य एवं विवेच्य विषय के लिए विशेष उपयोगी प्रतीत हुए हैं। अन्य आचार्यों के प्रति अपने श्रद्धा-सुमनों का पूर्ण संभार रखते हुए अब संक्षेप में साहित्य विवेचना की भारतीय दृष्टि के मूल आधार संस्कृत काव्यशास्त्र के रूप-विकास का संक्षिप्त परिचय देकर काव्य-सर्जना से सम्बद्ध दो आख्यानों का उल्लेख विशेष रूप से किया जाएगा जो काव्य-पुरुष की कल्पना और नाट्यवेद की काव्य-विवृत्ति से सम्बद्ध हैं। इस प्रकार इस अध्याय में हम अपने प्रतिपाद्य विषय के प्रथम अंश 'काव्य-सर्जना' के विश्लेषण का उपक्रम प्रस्तुत कर काव्य के स्वरूप-लक्षण और उसके प्रसार की दिशा में अग्रसर होंगे जो द्वितीय अध्याय का प्रमुख प्रतिपाद्य है।

भारतीय काव्यशास्त्र की परम्परा

भारतीय काव्यशास्त्र की परम्परा अत्यन्त प्राचीन है। गंगोत्री के समान उसका उद्गम-स्थल अत्यन्त सूक्ष्म और प्रारंभिक प्रवाह अत्यन्त मंथर है, किन्तु कालक्रम से वह

१. शब्दार्थयोर्यथावत्सहभावेन विद्या साहित्यविद्या।
उपविद्यास्तु चतुः षष्टि। ताश्च कला इति विदग्धवादः।
स आजीवः काव्यस्य।

—काव्यमीमांसा, द्वितीय अध्याय, पृ० १२।

विस्तृत और प्रवेगपूर्ण बनकर गंगासागर के रूप में परिणत हो गया है। शोधकर्ताओं ने उसका मूल उत्स वैदिक साहित्य में अन्वेषित कर उसके विकास की विवेचना की है जिसमें तथ्यपरकता के साथ-साथ तत्त्वमीमांसा के भी सद्प्रयत्न संवलित हैं। उसके द्वारा भारतीय चिंतकों के उर्वर मस्तिष्क की प्रौढ़ शक्ति का सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है। उन्होंने काव्यशास्त्र के कलेवर में काव्यात्म-मीमांसा करते हुए उन समस्त प्रश्नों के उत्तर देने का भी सुप्रयास किया है जो काव्य की स्वरूप-सर्जना और आस्वाद प्रक्रिया के अंगोपांगों से सम्बद्ध हैं। सहस्राधिक वर्षों में विकसित भारतीय मनीषियों की ज्ञान-गरिमा के ज्योतिर्मय स्फुलिंग उनकी चर्चाओं में प्रोद्भासित हैं। रस, अलंकार, रीति, वक्रोक्ति, ध्वनि और औचित्य नामक क्रमागत काव्य-सिद्धान्तों के द्वारा काव्य-पुरुष के विराट् वपु के अंग-प्रत्यंगों का पर्यवेक्षण करते हुए उन आचार्यों ने अपनी सैद्धांतिक विवेचनाएं प्रस्तुत की हैं और अपने मंतव्यों की संपुष्टि के लिए यथाप्रसंग उदाहरणों का भी समायोजन किया है। उनकी विवेचनाओं में किसी भी शास्त्र-ग्रंथ के लिए अपेक्षित 'विषय, विशय, पूर्वपक्ष, उत्तरपक्ष और निर्णय' नामक पंचांगों का क्रमिक निर्वाह भी हुआ है जिससे उनके अध्ययन की संतुलित, व्यवस्थित, तथ्यपरक, तत्त्वपूर्ण और वैज्ञानिक प्रणाली का बोध होता है। यह उनकी साधना का ही सुफल है कि काव्य-विवेचना ने शास्त्र का एक ऐसा विशिष्ट रूप धारण कर लिया है जिसमें धर्मशास्त्र, नीति-शास्त्र और आचारशास्त्र आदि ग्रंथों की विधि-निषेध प्रणाली की भाँति शासन का भाव न होकर काव्य के 'शंसन्' का भाव विद्यमान है। उसके विवेचक हमारे सम्मुख अभिभावक, मित्र, मंत्री और अनुचर आदि विविध रूपों में आते हैं जिनकी शास्त्र-चर्चा हमारे लिए 'शिक्षण' के साथ-साथ 'रंजन' का भी विषय रही है। शास्त्रीय अभिरुचि वाले अध्येताओं को उन ग्रंथों के आकलन से परमानन्द की-सी उपलब्धि होती है और उनका चैतन्य उन विद्वान मनीषियों की प्रतिपत्ति और तत्त्वाभिनिवेशिता के सम्मुख श्रद्धाभाव से प्रकृत्या विनत हो जाता है। संस्कृत काव्यशास्त्र की उस सुदीर्घ परम्परा का एक महान इतिहास है जिसका व्यापक विश्लेषण करना हमारा मूल प्रयोजन नहीं है। हमने तो उसके विपुल वाङ्मय से केवल उन्हीं तत्त्वकणों का परिशोधनपूर्वक चयन करने का प्रयास किया है जो हमारे विवेच्य विषय के लिए उपयोगी अथवा उपजीव्य सिद्ध हो सके हैं। इस विषय पर यद्यपि अनेकानेक विद्वानों द्वारा यथोचित विवेचन किया जा चुका है किंतु मैंने जो परिशुद्ध तत्त्व ग्रहण किया है वह यह है कि भारतीय काव्यशास्त्र की उस सुदीर्घ परम्परा के आलोक में काव्य का स्वरूप-बोध तथा सर्जनशीलता के साथ-साथ काव्या-स्वाद की प्रक्रिया का विमर्श जिस रूप में व्याख्यात हुआ है उसका शोधपूर्ण दृष्टि से समायोजन हो सके।

काव्यशास्त्र के पर्यायवाची शब्द

भारतीय वाङ्मय में 'काव्यशास्त्र' के लिए 'अलंकारशास्त्र', 'काव्यालंकार' 'साहित्यविद्या', 'काव्यलक्षण' और 'क्रियाकल्प' आदि अनेकानेक पर्यायवाची शब्द प्रयुक्त हुए हैं जिनमें 'अलंकारशास्त्र' शब्द सर्वाधिक प्राचीन प्रतीत होता है। काव्य-समीक्षा

के एक विशेष काल में इस शब्द की व्याप्ति इतनी अधिक थी कि उसमें तथाकथित अलंकारों के अतिरिक्त रस, रीति, गुण और वक्रोक्ति आदि विषयों का भी अंतर्भाव कर लिया गया था और साहित्यशास्त्रीय ग्रंथों को 'अलंकारग्रंथ' तथा उनके निर्माताओं को 'आलंकारिक' कहा जाता था। इसका प्रमाण भामह, उद्‌भट, वामन और रुद्रट आदि आचार्यों द्वारा विरचित वे काव्यशास्त्रीय ग्रंथ हैं जिनमें काव्य न्याय, शब्द-शुद्धि, रीति-विवेचन और रस-निरूपण आदि विषयों की विवेचना होते हुए भी उनके नाम क्रमशः 'काव्यालंकार,' 'काव्यालंकारसार संग्रह,' 'काव्यालंकारसूत्र वृत्ति' तथा 'काव्यालंकार' आदि रखे गये हैं जिनसे अलंकार शब्द की अर्थव्याप्ति सिद्ध होती है। इन आचार्यों के परवर्ती काल में एतद्‌विषयक ग्रंथों के नामकरण से भिन्न दृष्टिकोण ग्रहण किया गया है जिसके फलस्वरूप काव्यांगों के निरूपक ग्रंथों के नाम 'काव्यमीमांसा', 'काव्यप्रकाश,' 'काव्यादर्श' और काव्यानुशासन' आदि रखे गये हैं। काव्यशास्त्रीय ग्रंथों की परम्परा में काव्य-विवेचना के किसी विशिष्ट अंग को लेकर जो ग्रंथ लिखे गये हैं, उनके नाम 'ध्वन्यालोक,' 'व्यक्तिविवेक,' 'हृदयदर्पण' और 'औचित्यविचारचर्चा' आदि हैं जिनमें क्रमशः ध्वनि, व्यंजना, रस और औचित्य संज्ञक सिद्धांतों का विश्लेषण हुआ है। रुद्रट के पश्चात् 'काव्य' के स्थान पर 'साहित्य' शब्द व्यवहृत होने लगा था, जिसे ध्यान में रखकर राजशेखर ने 'काव्यशास्त्र' के स्थान पर 'साहित्यविद्या' शब्द का प्रयोग किया और उसे पंचमी विद्या की अभिधा प्रदान की। उस समय पर्यन्त 'साहित्य' शब्द काव्य की ही भांति बहुप्रचलित हो गया था जिसके प्रमाण में मंखक कवि, मुकुल भट्ट, प्रतिहारेन्दुराज, क्षेमेन्द्र, कुंतक और भोज आदि विद्वानों की उक्तियां उद्धृत की जा सकती हैं। रुय्यक ने काव्यांगों के विवेचक 'साहित्यमीमांसा' नामक स्वतंत्र ग्रंथ तथा 'व्यक्तिविवेक' की टीका में 'साहित्य' शब्द की जो व्याख्या की है वह अधिकांशतः कुंतक की मान्यता के ही अनुरूप है क्योंकि उसमें 'साहित्य' के लिए 'तुल्यकक्षत्वेन अन्यूनानतिरिक्तम्' की पदावली उद्धृत है। 'काव्य' के स्थान पर 'साहित्य' शब्द की व्यवहृति होने के कारण ही विश्वनाथ ने अपने काव्यशास्त्रीय ग्रंथ का नाम 'साहित्य-दर्पण' रखा था जिसमें श्रव्य और दृश्य नामक द्विविध काव्यों के अगों का सैद्धांतिक विवेचन हुआ है।

'काव्यलक्षण', 'काव्यलक्ष्म' और 'क्रियाकल्प'

यद्यपि 'काव्यशास्त्र' के लिए 'काव्यलक्षण' शब्द के प्रयोग की परम्परा अत्यंत परिसीमित रही है तथापि उसका उल्लेख करना आवश्यक है। भामह ने अपने 'काव्यालंकार' नामक ग्रंथ में 'अवगम्य स्वधिया च काव्यलक्ष्म' लिखकर 'काव्यलक्ष्म' शब्द को 'काव्यालंकार' का पर्याय माना है तो दण्डी ने अपने काव्यादर्श में 'यथासामर्थ्यमस्माभिः क्रियते काव्यलक्षणं' द्वारा एक प्रकार के भामह के पूर्वोक्त कथन का ही समर्थन किया है। जिस प्रकार काव्यालंकार के विवेचक आचार्यों के लिए 'काव्यालंकारिक' शब्द प्रचलित रहा है उसी प्रकार 'काव्यलक्ष्म' तथा 'काव्यलक्षण' के विवेचकों के लिए ध्वन्यालोककार आनन्दवर्धन द्वारा 'काव्यलक्षणकारी', 'काव्यलक्षणविधायी' तथा काव्यलक्ष्य

विधायी आदि शब्द प्रयुक्त किये गये हैं। काव्यशास्त्र के लिए 'क्रियाकल्प' शब्द का प्रयोग भी हुआ है, किंतु उसका प्रचलन कदापि लोकविश्रुत नहीं रहा। वात्स्यायन ने अपने कामसूत्र नामक ग्रंथ के अंतर्गत जिन ६४ कलाओं की गणना की है उनमें 'क्रियाकल्प' है। उनके मतानुसार क्रियाकल्प का अर्थ है 'काव्यकरण के नियम अर्थात् काव्यालंकार'। कामसूत्र-के टीकाकार यशोधर ने अभिधानकोष और छंदोज्ञान के साथ-साथ क्रियाकल्प को भी काव्य क्रिया की अंगभूत कला कहकर काव्य-निर्माण तथा काव्यपरिशीलन के हेतु उसकी उपयोगितानिर्दिष्ट की है। यशोधर के अनुसार 'काव्यक्रिया' का अर्थ है 'काव्यनिर्माण' और 'क्रियाकल्प' का अर्थ है 'काव्यकरण-विधि'। भामह ने क्रियाकल्प के स्थान पर 'काव्यक्रियादर' शब्द का प्रयोग किया है तो दण्डी ने 'क्रियाविधि' का।[1] वस्तुतः 'विधि' और 'कल्प' शब्द समानार्थक हैं, अतः काव्यादर्श के टीकाकारों ने दोनों के लिए 'क्रिया-विधान', 'रचनाप्रकार' तथा 'काव्यकरणविधि' आदि शब्दों का भी प्रयोग किया है। 'क्रियाकल्प' शब्द का विशेष स्पष्टीकरण वाल्मीकि रामायण के उस प्रसंग से होता है जहां महर्षि ने रामसभा में लव और कुश द्वारा रामायण गान किये जाने के समय उपस्थित श्रोताओं में पौराणिक, शब्दवेत्ता, गांधर्ववेत्ता, कलावान् और छन्दशास्त्रज्ञों के साथ-साथ 'क्रियाकल्पविद्' व्यक्तियों का भी उल्लेख किया है।[2] उस प्रसंग से स्पष्ट है कि 'क्रियाकल्पविद्' वस्तुतः 'काव्यसमीक्षक' ही होते थे। कालांतर में काव्य-रचना के लिए 'क्रिया' शब्द के प्रयोग की एक रूढ़ि-सी प्रचलित हो गई जिसका उल्लेख कालिदास कृत 'मालविकाग्निमित्र'[3] तथा 'विक्रमोर्वशीय'[4] नामक नाटकों में भी हुआ है। संभव है, 'क्रियाकल्प' शब्द 'काव्यक्रियाकल्प' का ही संक्षिप्त रूप हो।

'क्रियाकल्प' की अवस्था

भरतमुनि से लेकर पंडितराज जगन्नाथ तक संस्कृत काव्यशास्त्र का विकास जिस अनुक्रम से हुआ, उसकी कलावधि प्रायः दो सहस्र वर्ष है। इस कार्यकाल में काव्य-शास्त्र ने विविध प्रकारों में अपना स्वरूप-विकास प्रदर्शित किया है। भरतमुनि ने नाट्य-शास्त्र में नाट्यमंडप की रचना से लेकर नाट्यसिद्धि पर्यन्त प्रयोजनीय नाट्यप्रयोग के जिन अंगों का विवेचन किया है उससे प्रकट है कि नाट्यशास्त्र का स्वरूप प्रयोग-प्रधान रहा और उसमें जो सैद्धान्तिक चर्चा तथा क्रियाविधान हुआ, वह केवल मिश्र रूप में ही था। नाट्यकाव्य की चर्चा तो इसके वाचिक अभिनय का एक आनुषंगिक अंगमात्र है, जिसमें यथाप्रसंग काव्यलक्षण, काव्यालंकार और गुण-दोषों का भी स्वरूप निर्दिष्ट

---

१. दण्डी, काव्यादर्श, १।९–१० ।

२. वाल्मीकीय रामायण, उत्तरकांड, ९४।५-७ ।

३. भाससौमिल्लकविपुत्रादीनां प्रवंधानतिक्रम्य वर्तमानकवेः कालिदासस्य ।

४. क्रियायां कथं बहुमानः । (मालविकाग्निमित्र)
प्रणयिषु वा दाक्षिण्यात् अथवा सद्वस्तु बहुमानात् ।
श्रुणुत जना अवधानात् क्रियामिमां कालिदासस्य ॥ —विक्रमोर्वशीय ।

हुआ है। उस विवेचन से प्रकट है कि भरतमुनि ने काव्य-लक्षणों का स्वरूप निर्धारित करने में निरुक्त और मीमांसा ग्रंथों से भी पर्याप्त सहायता ली है। वस्तुतः भरत का नाट्यशास्त्र काव्यचर्चा के क्षेत्र में उसकी 'क्रियाकल्प' अवस्था का ही द्योतक है क्योंकि सामान्यतया क्रियाकल्प को काव्यकरण के नियमों का पर्यायवाची शब्द कहा जा सकता है।

'काव्य-लक्षण' और उसकी वैचारिक सूक्ष्मता

भरतमुनि से लेकर आचार्य भामह और दण्डी तक जिस काव्यचर्चा का विकास हुआ वह 'क्रियाकल्प' की अवस्था न होकर 'काव्यलक्षण' की अवस्था है। उस काल में काव्यचर्चा का स्वतंत्र स्वरूप बनने लगा था और उसे नाट्य के अंग रूप में चित्रित करना पर्याप्त नहीं समझा जाता था। यही काल काव्यलक्षणों के अलंकारों में रूपांतरित होने का था और 'क्रियाकल्प' के स्थान पर 'काव्यलक्षण' पद का प्रयोग काव्यशास्त्रीय दृष्टि से अधिक उपयुक्त समझा जाता था। भामह और दण्डी के पश्चात् आचार्य रुद्रट तक जिस काव्यशास्त्र का विकास हुआ, उसके लिए 'काव्यालंकार' शब्द विशेष रूप से स्वीकृत हुआ। इस काल में काव्यगत सौन्दर्य-धर्म अथवा सौन्दर्य-निर्माण के साधन के रूप में 'अलंकार' शब्द रूढ़-सा हो गया और आचार्यों ने काव्यांगों के रूप में विशिष्ट अलंकारों के साथ-साथ गुण और रस आदि का भी विवेचन किया। तदनन्तर आचार्य आनंदवर्धन से लेकर मम्मट पर्यन्त जो काव्यशास्त्रीय विवेचना हुई, उसमें काव्य को शब्दार्थों का साहित्य कहकर शब्दों और अर्थों के 'विशेष' व्याख्यात किये गये। वस्तुतः यही समय काव्यशास्त्र के विकास के चरमोत्कर्ष का काल था। इस काल के पश्चात् जो काव्यशास्त्री हमारे सम्मुख आये, उन्होंने पूर्व-निर्धारित काव्यतत्त्वों का विश्लेषण नवीन पद्धतियों से किया और उनकी परम्परा पंडितराज जगन्नाथ तक चलती रही। इस परम्परा का सम्यक् आकलन करने से प्रकट होता है कि काव्यचर्चा के तत्त्वविमर्श की पद्धति क्रमशः उसके सूक्ष्म आंतर धर्मों के विश्लेषण की ओर उन्मुख रही है। आचार्य भरतमुनि ने रसनिष्पत्ति का जो सूत्र नाट्यांग के एकत्रीकरण अथवा संयोग की अवस्था में निरूपित किया था, वह केवल वहीं तक सीमित न रहकर शब्दार्थों के सम्पूर्ण साहित्य तक व्याप्त हो गया और काव्यमीमांसा में इस विषय पर विशेष बल दिया जाने लगा कि काव्य और शास्त्र में समान शब्दार्थ होने पर काव्य-प्रयुक्त शब्दार्थों का पर्यवसान आनंद में होता है जबकि शास्त्रचर्चा के लिए यह अनिवार्य तत्त्व नहीं है। इस काल में व्याकरण को केवल शब्द-संस्कार का शास्त्र कहकर उसकी सीमा में अर्थसंस्कार को वह प्रश्रय नहीं दिया गया जो काव्यशास्त्र को अभीष्ट था। उस समय विद्वानों ने इस बात को विशेष रूप से संपुष्ट करने का प्रयत्न किया कि काव्य का सौन्दर्य केवल शब्दों और उनके रूढ़ संकेतों तक ही सीमित नहीं अपितु वह मीमांसकों की लक्षणा और तद्संभूत वक्रोक्ति से भी अधिक व्याप्त है। काव्य-सौन्दर्य की उस विशेषता को व्यक्त करने के लिए भामह ने 'वक्रोक्ति', दण्डी ने 'समाधि' गुण और उद्भट ने 'अमुख्यवृत्ति' के परिप्रेक्ष्य में अपनी विवेचनाएँ

प्रस्तुत कीं। वामन ने काव्यसौन्दर्य का पुनर्विवेचन कर इस बात की पुष्टि की कि काव्य का सौन्दर्य केवल अलंकारों पर आधत न होकर गुणों पर अधिष्ठित है तो उनके उत्तरवर्ती आचार्य रुद्रट ने रस को काव्य के विशेष गुण के रूप में निरूपित करना ही श्रेयस्कर समझा। यद्यपि इन विवेचकों की मान्यताओं में सापेक्षिक दृष्टिभेद भी था, किन्तु इस विषय में प्राय: सभी आचार्य सहमत थे कि शब्दार्थों में पाये जाने वाले गुणालंकारों के विशिष्ट धर्मों के कारण ही रस की निष्पत्ति होती है। रुद्रट के पश्चात् आचार्यों ने अपना विवेचन 'धर्ममुख' से करना उचित न समझकर 'व्यापारमुख' तथा 'फलमुख' से करना अधिक तत्त्वसंगत समझा। इस क्षेत्र में आचार्य आनंदवर्धन का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है क्योंकि वे फलमुख से काव्यमीमांसा करते हुए यह तत्त्वोपलब्धि कर सके थे कि रस की निर्मिति अथवा अनुमिति न होकर अभिव्यक्ति होती है जिसके अनुसार काव्यगत शब्दों का पर्यवसान व्यंग्य अथवा रस में ही मानते हुए काव्यांगों की शास्त्रव्यवस्था करनी चाहिए। आचार्य कुंतक ने काव्य की मीमांसा 'कविव्यापारमुख' से तथा भट्टनायक ने 'रसिकव्यापारमुख' से करते हुए अपनी मान्यताएँ प्रतिष्ठित कीं जिनकी परिपूर्णता मम्मट तथा अभिनवगुप्त की कृतियों में प्रदर्शित हुई। काव्यशास्त्र का यह क्रमागत विकास वस्तुत: अत्यंत अभिनंदनीय है क्योंकि उसमें क्रमश: स्थूलता से सूक्ष्मता की ओर प्रयाण करने का सद्प्रयत्न परिलक्षित होता है।

काव्य के वर्गीकरण के प्रति परिवर्तित दृष्टिकोण

यहाँ एक बात उल्लेखनीय है कि काव्यशास्त्रीय विकास की इस वैचारिक परम्परा में काव्य के वर्गीकरण के प्रति भी विविध दृष्टिकोण रहे हैं। आचार्य भामह से रुद्रट पर्यन्त काव्य का वर्गीकरण गद्य-पद्य, निबद्ध-मुक्त तथा सर्गबंध अभिनेयार्थ आदि दृष्टिकोणों से किया गया, जबकि ध्वनिकार ने उसे व्यंग्य, गुणीभूतव्यंग्य और चित्र आदि भेदों में वर्गीकृत कर विभाजन की दिशा ही परिवर्तित कर दी। 'ध्वन्यालोक' का यह विचार-दर्शन निश्चय ही अधिक व्यापक और सुग्राह्य था क्योंकि उसमें न केवल पूर्वकृत विभाजन की ही समुचित व्यवस्था थी अपितु उसे एक प्रौढ़ और शास्त्रीय अधिष्ठान भी प्राप्त हुआ था। कहने की आवश्यकता नहीं कि वर्गीकरण के इस नूतन दृष्ट्युन्मेष ने काव्य-चर्चा की पद्धति में भी परिवर्तन ला दिया जिसकी फलश्रुति मम्मट के 'काव्यप्रकाश' में स्पष्टतया परिलक्षित होती है। मम्मटोत्तर काल में विवेचन का यह दृष्टिकोण सूक्ष्म से सूक्ष्मतर होता गया है यद्यपि काव्य-चर्चा की विमर्श-पद्धति में कोई उल्लेखनीय परिवर्तन नहीं हुआ है। आचार्य आनंदवर्धन ने ध्वनि का जो त्रिप्रकारत्व विशदीकृत किया था, वह अभिनवगुप्त द्वारा 'रस एव वस्तुत: आत्मा, वस्त्वलंकारध्वनी तु सर्वथा रसं प्रति पर्यवस्येते' के रूप में निरूपित हुआ तथा मम्मट कृत रस का 'अंगी' रूप में निर्देश विश्वनाथ के 'वाक्यं रसात्मकं काव्यम्' सूत्र में काव्यात्मतत्त्व के रूप में संकीर्तित हुआ। पंडितराज जगन्नाथ का वर्गीकरण यों तो अधिकांशत: मम्मट की मान्यताओं के क्रोड में निरूपित है, किंतु उन्होंने चित्रकाव्य के अर्थचित्र तथा शब्दचित्र नामक दो स्वतंत्र भेद करते हुए काव्य के वर्गीकरण को जो सूक्ष्मता प्रदान की है वह निश्चय ही

पुरोगामी है। उन्होंने चित्रबंध तथा एकाक्षरबंध संज्ञक काव्य-भेद स्वीकार ही नहीं किये हैं।

काव्य-चर्चा के इस विकासक्रम में यह बात भी उल्लेखनीय है कि भामह से लेकर उद्भट तक (वामन को छोड़कर) जितने भी काव्यविवेचक आचार्य हुए उन सबने अपनी सैद्धांतिक विचारणाओं के स्पष्टीकरण में केवल स्वरचित संस्कृत छन्दों के उदाहरण ही प्रस्तुत किये हैं, जबकि आचार्य आनंदवर्धन से यह क्रम परिवर्तित हो जाता है। आनंदवर्धन ने काव्य-चर्चा के विमर्श में जिन उदाहरणों को उद्धृत किया है, वे उनके द्वारा रचित न होकर विभिन्न कालवर्ती प्रसिद्ध कवियों की प्रतिभा के प्रस्फुरण हैं। उदाहरणों का यह परिवर्तित दृष्टिकोण इस तथ्य का निर्देशक है कि आनंदवर्धन के पूर्व 'शास्त्रविरचना' की प्रवृत्ति ही प्रधान थी जबकि उनके समय से शास्त्र की पुनर्व्यवस्था एवं तत्त्वमीमांसा की प्रवृत्ति प्रमुख बन गई। ध्वनि-तत्त्व की विवेचना करते हुए आचार्य आनंदवर्धन ने न केवल अपने पूर्ववर्ती आचार्यों के द्वारा प्रतिष्ठित मान्यताओं का ही आलोड़न-विलोड़न किया अपितु संस्कृत के साथ-साथ प्राकृत के भी ऐसे अनेक उदाहरण प्रस्तुत किये जिनके आधार पर वे ध्वनि-तत्त्व का विवेचन सूक्ष्मतर दृष्टि से कर सके। संस्कृत के साथ-साथ प्राकृत भाषा के काव्योदाहरणों की यह परम्परा आचार्य मम्मट की कृतियों से चलकर हेमचंद्र तथा विश्वनाथ तक चलती रही है और हेमचंद्र ने तो ग्राम्य अपभ्रंश को भी उसमें यथोचित स्थान दिया है। यह एक विचित्र किंतु महत्त्वपूर्ण बात है कि परवर्ती युग के आचार्य रूपगोस्वामी, मधुसूदन सरस्वती, अप्पय दीक्षित तथा पंडितराज जगन्नाथ आदि आचार्यों ने केवल संस्कृत-पद्यों के ही उदाहरण प्रस्तुत किये हैं जिसका कारण उनकी साम्प्रदायिक मान्यताएँ, व्यक्तिगत अभिरुचि और संस्कृत के आभिजात्य का प्रतिष्ठान करना है। यद्यपि ये आचार्य प्राकृत तथा अपभ्रंश की विशाल काव्यनिधि से सुपरिचित थे तथापि उन्होंने केवल संस्कृत के प्रति ही अपनी मनःस्थिति रखी और आवश्यकता पड़ने पर प्राकृत छंदों का संस्कृतीकरण करने में भी संकोच नहीं किया। इस प्रवृत्ति से संस्कृत-काव्य में अनेक नवीन अर्थ-छवियों का संयोजन अवश्य हुआ किंतु प्राकृत और अपभ्रंश की नैसर्गिक काव्यधारा की भाव-लहरियों में अवगाहन करने का मार्ग अवरुद्ध-सा हो गया।

काव्यशास्त्र का वैचारिक विकास आनुक्रमिक और चिरनवीन है

भारतीय काव्यशात्र के वैचारिक विकास को लेकर जो सामान्य परिचय दिया गया उससे स्पष्ट है कि विकास की उस सुदीर्घ परम्परा में प्रायः दो शताब्दियों के कार्यकाल में विरचित वाङ्मय का समावेश होता है। यदि भरतमुनि का कार्यकाल ईसा से दो शताब्दी पूर्व माना जाय और राजशेखरकृत वाङ्मय-विमर्श तथा साहित्यविद्या-विभाग के प्रवर्तकों के नाम पौराणिक न मानकर ऐतिहासिक माने जाएँ तब तो उसका प्रवर्तन-काल और भी पूर्ववर्ती सिद्ध होता है। विकास की इस विस्तृत सीमारेखा में काव्य-विवेचना का मार्ग अनेक प्रकार की बाधाओं और समस्याओं का अतिक्रमण कर अपनी प्रशस्ति प्राप्त कर सका है। भरत मुनि का काव्यनाट्य विवेचन जिन काव्यलक्षणों की

क्रोड में विकसित हुआ था, वह कालांतर में काव्यालंकारों के स्वरूपविधान और पल्लवन का आधार बना था। भरतमुनि के पश्चात् ऐसा प्रतीत होने लगा कि आचार्यों का ध्यान इस विषय की ओर आकृष्ट हो रहा था कि काव्यलक्ष्म, काव्यालंकार और काव्य-गुणों में तात्त्विक अंतर स्पष्ट किया जाना परम वांछनीय और उपयोगी है। आचार्य भामह के रचना-काल से काव्यशास्त्रीय विवेचना ने स्वतंत्र अस्तित्व धारण करने का उपक्रम किया और उसे नाट्यशास्त्र की परवशता स्वीकार नहीं हुई। काव्यशास्त्रीय विवेचना में यह भी एक अत्यंत रोचक और विचारणीय विषय है कि नाट्यशास्त्र के 'लक्षण' अपनी उत्तरवर्ती सीमा में अलंकारों का परिधान धारण कर क्यों उपस्थित हुए ? यह अत्यंत उल्लेखनीय बात है कि भामह और दण्डी के कार्यकाल में काव्यचर्चा अथवा काव्य-विवेचना 'नाट्य' का अंग न होकर अंगी बन गई थी और उन आचार्यों ने 'नाट्य' को भी काव्य के एक भेद के रूप में प्रतिष्ठित करना ही युक्तियुक्त समझा था। काव्य-विवेचना के स्वतंत्र विकास का एक कारण यह भी था कि संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश आदि भाषाओं में प्रबंध, मुक्तक और गद्य-रचनाओं के शक्तिपरक साहित्य का निर्माण इतनी अधिक व्यापकता और विविधता के साथ होने लगा था कि काव्यशास्त्रियों ने उनके विमर्श के लिए स्वतंत्र पथ और स्वायत्त दृष्टि का महत्त्व समझना प्रारम्भ किया। गद्य, पद्य और चम्पू के नाम से प्रख्यात काव्य-विश्व का विवेचन अनेकानेक सरणियों में किया जाने लगा। 'कथा' और 'आख्यायिका' तथा 'निबद्ध' और 'अनिबद्ध' के नाम से काव्य के जो भेदोपभेद किए गये, वे काव्य-विवेचना के स्वतंत्र प्रतिमान बने। अब काव्य को वाचिक अभिनय की आनुषंगिक भूमिका में निरूपित करना उचित नहीं समझा जाता था। अभिप्राय यह है कि भामह, दण्डी, उद्भट और वामन आदि आचार्यों के सद्प्रयत्नों से संस्कृत काव्यशास्त्र के वैचारिक विकास को नवीन प्रस्फुरण प्राप्त हुआ था जो क्रमशः जीवंत बनता हुआ काव्य के स्वरूपबोध में अनेक मौलिक तत्त्वों का समायोजन कर सका।

संस्कृत काव्यशास्त्र के वैचारिक विकास के विभिन्न चरणों की क्षेत्रसीमा में अनेक महत्त्वपूर्ण आचार्यों का कर्तृत्व समाहित है। उन आचार्यों के ग्रंथों और उनमें प्रतिपादित विचार-सामग्रियों का तत्त्व चिंतन इतना गम्भीर और व्यापक है कि उसका सम्यक् निरूपण करना हमारी शोध-सीमा का अंगी विषय नहीं है। वैचारिक विकास की उस विशाल परिसीमा में भामह, दण्डी, उद्भट और वामन के अतिरिक्त रुद्रट, आनंदवर्धन, अभिनवगुप्त, राजशेखर, धनंजय, धनिक, कुंतक, महिमभट्ट, भोज, क्षेमेन्द्र, मम्मट, रुय्यक, विश्वनाथ और पंडितराज जगन्नाथ आदि प्रमुख आचार्यों की गणना होती है जिनकी कृतियों का सम्यक् आकलन और अध्ययन करने के पश्चात् संस्कृत काव्यशास्त्र के वैचारिक विकास का वह तत्त्व-बिंदु ग्रहण किया जा सकता है जिसने अपना क्रमिक विस्तार प्राप्त करते हुए काव्य-चर्चा के गम्भीर विषय को स्थूलता से सूक्ष्मता की ओर उन्मुख किया था। कोई नवीनतावादी और अपरिपक्व बुद्धि आलोचक पुरातनता को जड़ता और परम्परा को अवरोध का प्रतीक मानकर संस्कृत काव्यशास्त्र के वैचारिक विकास को 'समय-बाह्य' और निरर्थक सिद्ध करने की भले ही कदर्थना

करे किंतु उसमें साहित्यविवेचन की जो 'आत्मकला' प्रोद्भासित हुई है वह युग-युग पर्यन्त चिरनवीन तथा विश्व-साहित्य-विमर्श के आलोक-बिंदुओं से अनुप्राणित है।

भारतीय काव्य-सर्जना के दो प्रसिद्ध उपाख्यान

(१) काव्य-पुरुष की दिव्य उत्पत्ति

काव्य-विद्या का प्रवर्तन और उसके विभाग

भारतीयों की आस्तिक-भावना ने अन्य विद्याओं की भाँति काव्य-विद्या का भी सम्बन्ध दिव्य चरित्रों के साथ संयोजित कर दिया है। राजशेखर ने अपनी 'काव्य-मीमांसा' (कविरहस्य) के प्रथम अध्याय के प्रारम्भ में ही इस बात का स्पष्ट उल्लेख किया है कि भगवान् श्रीकण्ठ (महादेव) ने काव्य-विद्या का सर्वप्रथम उपदेश परमेष्ठी और बैकुंठ आदि अपने चौंसठ शिष्यों को दिया। उस विद्या का द्वितीय बार उपदेश भगवान् स्वयम्भू (परमेष्ठी) द्वारा उनके इच्छाजन्य (अयोनिज) शिष्यों को दिया गया जिनमें देववन्द्य सरस्वती-पुत्र 'काव्यपुरुष' भी एक था। काव्यपुरुष को त्रिकालज्ञ और दिव्य-दृष्टि-सम्पन्न जानकर ब्रह्मा ने उसे यह आज्ञा दी कि वह सर्वजनहित की कामना से भू, भुव और स्वर्ग-निवासिनी प्रजा में काव्य-विद्या के प्रवर्तन का शुभारंभ करे। काव्यपुरुष ने काव्य-विद्या को अठारह भागों में विभक्त कर सहस्राक्ष आदि दिव्य स्नातकों को उपदिष्ट किया। उन शिष्यों ने काव्य-विद्या के पृथक्-पृथक् भागों में विशेष योग्यता प्राप्त कर पृथक्-पृथक् ग्रंथों की रचना की जिनका विवरण राजशेखर ने इस प्रकार दिया है—

"तत्र कविरहस्यं सहस्राक्षः समाम्नासीत्, औक्तिकमुक्तिगर्भः, रीतिनिर्णय सुवर्णनाभः, आनुप्रासिकं प्रचेताः, यमो यमकानि, चित्रं चित्रांगदः, शब्दश्लेष शेषः, वास्तवं पुलस्त्यः, औपम्यभौपकायनः, अतिशयं पाराशरः, अर्थश्लेषमुतथ्यः, उभयालंकारिकं कुबेरः, वैनोदिकं कामदेवः, रूपक निरूपणीयं भरतः, रसाधिकारिकं नंदिकेश्वरः, दोषाधिकरण धिषणः, गुणौ पादानिकमुपमन्युः, औपनिषदिकं कुचमारः इति[1]।"

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि राजशेखर ने कविरहस्य, उक्ति, रीति, अनुप्रास, यमक, चित्रकाव्य, शब्दश्लेष, स्वाभावोक्ति, उपमा, अतिशयोक्ति, अर्थश्लेष, शब्दार्थालंकार, विनोद, नाट्य, रस, दोष, गुण और औपनिषदिक नामक विषयों को काव्य-विद्या के अंग कहकर उनके ग्रंथ-लेखकों के नाम क्रमशः सहस्राक्ष, उक्तिगर्भ, सुवर्णनाभ, प्रचेता, यम, चित्रांगद, शेष, पुलस्त्य, औपकायन, पाराशर, उतथ्य, कुबेर, कामदेव, भरत, नंदिकेश्वर, धिषण, उपमन्यु और कुचमार माने हैं। इन नामों में बहुत कम नाम ऐसे हैं जिन्हें इतिहाससम्मत और प्रामाणिक कहा जा सके। कुछ नामों में तो केवल अनुप्रास-लालित्य का ही निर्वाह हुआ है, क्योंकि अद्यावधि शोध-कार्य द्वारा यह

---

१. काव्यमीमांसा, कविरहस्य, प्रथमोऽध्याय, शास्त्रसंग्रह।

ज्ञात नहीं हो सका है कि यम ने यमक, शेष ने श्लेष तथा उक्तिगर्भ ने उक्ति पर अपने ग्रंथ लिखे थे। उक्त सूची में उल्लिखित भरतमुनि का 'नाट्यशास्त्र' अवश्य उपलब्ध है। नाट्यशास्त्र के अंत में 'नंदिभरत' का नाम उद्धृत हुआ है। संभव है, 'नंदिभरत' और 'नंदिकेश्वर' दोनों एक हों और उन्होंने रस-विषयक किसी ग्रंथ की रचना भी की हो। यदि उपर्युक्त समस्त ग्रंथों की प्रामाणिकता सिद्ध की जा सके अथवा किसी भी प्रकार उनकी उपलब्धि हो जाय तो काव्यविद्या का विशाल रत्न-कोष हमारे सम्मुख प्रस्तुत हो सकता है। वर्तमान स्थिति में तो इतना ही कहा जा सकता है कि राजशेखर-निरूपित काव्य-विषयों में भारतीय काव्यशास्त्र के विविध अंगों का उल्लेख हुआ है। संभवतः राजशेखर उन समस्त विषयों का विमर्श करने के इच्छुक थे किंतु वे अज्ञात परिस्थितियों के कारण केवल कवि-रहस्य का ही उद्‌घाटन कर सके। यदि उनके द्वारा आयोजित काव्य-विद्या के समस्त भागों का कार्य सम्पन्न हो पाता तो भारतीय काव्यशास्त्र का अक्षय ज्ञानकोष प्रस्तुत हो सकता था। राजशेखर ने अपनी काव्यमीमांसा के विविध अधिकरणों में काव्यविषयक विभिन्न पक्षों का एकत्रीकरण अथवा संक्षिप्तीकरण किया है जो अभूतपूर्व है। उनके द्वारा विवेचित कविरहस्य के मुख्य विषय शास्त्रसंग्रह, शास्त्र-निर्देश, काव्यपुरुष की उत्पत्ति, पदवाक्यविवेक, पाठ-प्रतिष्ठा, अर्थानुशासन, वाक्यविधि, कवि-विशेष, कवि चर्या, काकुप्रकार, शब्दार्थहरणोपाय, कवि-समय, देशकाल-विभाग और भुवनकोश आदि हैं। स्वयं राजशेखर के शब्दों में 'काव्यमीमांसा' ग्रंथ की दृष्टि से 'लंघीयसी' होने पर भी 'चित्रोदाहरणों से गुर्वी है।' उन्होंने उसे काव्यव्युत्पत्ति का कारण माना है जिसमें 'वाग्लव' अर्थात् वाणी के अंश (शब्द और अर्थ) का सूक्ष्म विवेचन किया गया है। वस्तुतः इस रचना का उद्देश्य प्राचीन मुनियों के मतिविस्तार को संक्षिप्त कर कवियों को उनसे अभिज्ञ बनाना है।

काव्य-पुरुष की कथा-कल्पना का रहस्य

राजशेखर ने काव्य-पुरुष की उत्पत्ति, संवृद्धि, शिक्षा-दीक्षा, मनोवृत्ति और विवाह-संस्कार आदि कथा-विषयों को जिस रूप में परिकल्पित किया है, उससे काव्य के स्वरूप-लक्षण तथा उसकी वृत्तियों के सम्बन्ध में अनेक प्रकार के रहस्यपूर्ण तथ्य उपलब्ध होते हैं। प्रजापति ब्रह्मा के वरदान से देवी सरस्वती को काव्य-पुरुष की पुत्र-रूप में प्राप्ति का आख्यान काव्य की दिव्यता और अलौकिकता का प्रतीक है। जन्म लेते ही काव्य-पुरुष द्वारा छन्दोबद्ध भाषा में मातृचरणवंदन काव्य और छन्द की एकात्मकता का सूचक है। काव्य-पुरुष का यह कथन कि 'सारा वाङ्मयविश्व उसके द्वारा अर्थ-रूप में परिणत हो जाता है' निश्चय ही काव्य-पुरुष के व्यक्तित्व का निर्देशक है। इस आख्यान द्वारा राजशेखर ने लौकिक काव्य की उत्पत्ति की ओर संकेत किया है, क्योंकि वेदों में तो छन्दोबद्ध वाणी का प्रयोग अपौरुषेय रूप में हुआ है, किंतु लौकिक रूप में काव्य-सर्जना की छन्दोबद्धता विशेष प्रकार का वैशिष्ट्य रखती है। इस आख्यान से प्रतीत होता है कि लौकिक भाषा में गद्य-रचना की परम्परा पद्य-रचना की परम्परा से प्राचीन थी तभी तो राजशेखर ने सरस्वती के मुख से कहलाया है—'त्वतः पूर्वं हि विद्वांसो गद्यं ददृशुर्न

पद्यम्। त्वदुपज्ञमर्थात: छन्दस्वद्वच: प्रवर्त्स्यति।'[1] अर्थात् 'तुमसे पूर्ववर्ती विद्वानों ने गद्य की सृष्टि की है, पद्य की नहीं। इस छंदोबद्ध वाणी के प्रथम आविष्कारक तुम्हीं हो।'

राजशेखर ने सरस्वती द्वारा काव्य-पुरुष के अंग-प्रत्यंगों और गुणों के अतिरिक्त उसके आत्मतत्त्व का भी परिचय प्रस्तुत कराया है जो अत्यंत सारगर्भित और तथ्यपूर्ण है। उसके द्वारा काव्य के तात्विक स्वरूप के साथ तत्कालीन काव्य-विधान का भी बोध होता है। उसके अनुसार शब्द और अर्थ काव्य-पुरुष का शरीर, संस्कृत भाषा मुख, प्राकृत भाषाएँ भुजाएँ, अपभ्रंश भाषा जघन, पिशाच भाषाएँ दोनों चरण और मिश्र-भाषाएँ वक्षस्थल हैं। समता, प्रसन्नता, मधुरता, उदारता और ओजस्विता को काव्य की गुणनिधि कहा जा सकता है। उसकी वाणी सदैव उत्कृष्ट है जिसका अभिप्राय यह है कि काव्य में उदात्त तत्त्व का संगुम्फन रहता है। रस को काव्य की आत्मा तथा छंदों को उसके रोम कहा गया है। प्रश्नोत्तर, प्रहेलिका तथा समस्या-पूर्तियाँ काव्य के वाग्विनोद हैं। अनुप्रास और उपमा आदि अलंकारों द्वारा वह विभूषित किया जाता है। उसकी महत्ता का इससे अधिक अन्य प्रमाण क्या हो सकता है कि भावी अर्थों की अभि-धात्री श्रुति (वेदशास्त्र) भी उसकी स्तुति करती है।[2] राजशेखर ने इसी प्रसंग में काव्य-संस्तव के प्रमाण में जो वेदमंत्र[3] उद्धृत किया है वह अत्यंत रहस्यमय है क्योंकि उसके द्वारा काव्य का स्वरूप भगवान शंकर से उपमित किया गया है। उस मंत्र को आचार्य सायण ने यज्ञ-पक्ष में और पतंजलि ने व्याकरण-पक्ष में विवेचित किया है, किंतु हमें तो भरतमुनि के नाट्यशास्त्र के सतरहवें अध्याय की व्याख्या अभीष्ट है जिससे आचार्य राजशेखर भी सहमत हैं।

काव्य-पुरुष की कथा में काव्यसर्जना के प्रेरक तत्त्वों का संकेत विद्यमान है

राजशेखर ने काव्य-पुरुष की प्रेरणा से महामुनि उशनस् द्वारा छंदोबद्ध वाणी की प्रयोग-क्रिया का उल्लेख कर यह तथ्य ध्वनित किया है कि कवियों के मानस में काव्य-सर्जना की प्रेरणा दिव्य होती है और वे आभ्यंतरिक प्रकृति के साथ-साथ बहि-र्जगत से भी अत्यधिक प्रभावित होते हैं। सरस्वती को सूक्तिधेनु से उपमित करते हुए उसकी जो विशेषताएँ निर्दिष्ट की गई हैं वह वस्तुत: वाग्देवता की मूल आत्मचेतना है। भारतीय वाङ्मय की परम्परा में कहीं गोपालनंदन कृष्ण को दोग्धा बनाकर तत्त्वज्ञान का निष्यंद विवेचित किया गया है तो कहीं कालिदास ने 'कुमारसम्भव' के प्रथम सर्ग के अंतर्गत हिमालय-वर्णन में धरित्री की दोहन-क्रिया का रूपक बांधा है। इसी परम्परा के अनुपालन में कवियों को गोपाल मानकर उनके द्वारा सूक्तिधेनु सरस्वती का दोहन

१. काव्यमीमांसा, तृतीय अध्याय, पृ० १४।

२. वही, पृ० १४।

३. चत्वारि श्रृंगास्त्रयोऽस्य पादा द्वे शीर्षे सप्तहस्तासोऽस्य।
त्रिधा बद्धो वृषभो रोरवीति महो देवो मर्त्यमाविवेश।—ऋग्वेद, २।८।१०।

४. या दुग्धापि न दुग्धेव कवि दोग्धृभिरन्वहम्।
हृदि न: सन्निधत्तां सा सूक्तिधेनु: सरस्वती॥

कराना कोई नवीन और विचित्र कल्पना कैसे की जा सकती है ? कविगण चाहे कितना ही दुग्ध निष्यंदित करें किंतु कामधेनु सरस्वती तो अदुग्धा-सी ही प्रतीत होती है, भला उसका रहस्य कौन जान सकता है ? राजशेखर ने छंदोबद्ध वाणी को कवि-कर्म का प्रमुख तत्त्व कहकर उशनस् ऋषि का पर्यायवाची शब्द 'कवि' निर्दिष्ट किया है जिसका अभिप्राय यह है कि काव्य-रचना के लिए छन्दोविधान अनिवार्य तत्त्व है। उनका मत है कि कवि-शब्द 'कवृ-वर्णे' धातु से व्युत्पन्न हुआ है जिसका अर्थ है कवि-कर्म अर्थात् काव्य-रचना। काव्यमय होने के कारण ही सरस्वती के उस पुत्र को लाक्षणिक रूप में काव्य-पुरुष कहा गया था।[1]

राजशेखर द्वारा वर्णित आख्यान से ज्ञात होता है कि महर्षि उशनस् को तो काव्य-रचना की दिव्य-प्रेरणा स्वतः प्राप्त हुई थी, किंतु महर्षि वाल्मीकि को वीणापाणि द्वारा छन्दोबद्ध रचना करने का वरदान मिला था क्योंकि उन्हीं महर्षि ने सरस्वती को काव्य-पुरुष का पता बतलाया था। सरस्वती के उस वरदान को क्रियात्मक बनाने में क्रौंचवध की घटना निमित्त बनकर उपस्थित हो गई। वस्तुतः आदिकवि का आदि श्लोक[2] अनेक दृष्टियों से रहस्यमय और महत्त्वपूर्ण है। विद्वानों में उसके विषय में ऐसी आस्था बनी हुई है कि उस श्लोक का प्रथमतः आकलन करने से कोई भी व्यक्ति सारस्वत कवि बन सकता है। उसी श्लोक ने महर्षि वाल्मीकि को रामायण की रचना करने की प्रेरणा दी तथा उसी का सर्वप्रथम अध्ययन कर कृष्ण द्वैपायन मुनि वेदव्यास ने शत-साहस्री महा-भारत-संहिता का निर्माण किया। यदि कोई बुद्धिजीवी उस श्लोक के प्रति धार्मिक आस्था न भी रखे तो भी उसके द्वारा यह तत्त्व तो उपलब्ध कर ही सकता है कि काव्य-सर्जना के मूल में करुणा, आत्मप्रसार, उदात्त कामवासना और आत्माभिव्यक्ति आदि विविध तत्त्व विद्यमान रहते हैं।

काव्य-पुरुष के आख्यान का तत्त्व बोध

काव्य-पुरुष की दिव्य कथा द्वारा काव्य के तत्त्व-बोध का शास्त्रीय पक्ष भी उद्-घाटित होता है। कहने के लिए उसकी उत्पत्ति भले ही दिव्य हो, किंतु उसका अधिवास तो भूलोक ही रहा है। अपनी दिव्य गुण-सम्पन्नता में भी वह लौकिक रति के माध्यम से ही दिव्यरति का आभास प्राप्त करता है। जब तक काव्य में प्रेमतत्त्व का संयोग न हो, तब तक वह सरस और सहृदयजनग्राह्य नहीं बन सकता। जीवन-सहचरी प्रेयसी की रति का सुलाभ जिसे उपलब्ध नहीं हुआ, वह भला प्रेम के रहस्य की अनुभूति कैसे कर सकता है ? काव्य-पुरुष के विरक्त और विपन्न मन को अनुरक्त और सम्पन्न बनाने के प्रयोजन से ही पार्वती द्वारा साहित्यविद्यावधू की सृष्टि की गई थी। राजशेखर ने काव्य-पुरुष की जीवन-यात्रा में यह आख्यान जोड़कर अनेक महत्त्वपूर्ण संकेत किये हैं। पार्वती

---

१. कविशब्दश्च 'कवृ-वर्णे' इत्यस्य धातोः काव्यकर्मणोरूपम्। काव्यैकरूपत्वाच्च सारस्वतेयेऽपि काव्य पुरुष इति भक्त्या प्रयुंजते।—काव्यमीमांसा, पृ० १५।

२. मा निषाद प्रतिष्ठां त्वमगमः शाश्वतः समाः।
यत्क्रौंचमिथुनादेकमवधीः काममोहितम्॥

शक्ति की प्रतीक है और 'शक्ति' ही काव्य-निबंधन का साधन जुटा सकती है। काव्य के आराधक शक्त्युद्भूत प्रेम-साधना का आश्रय लेकर ही काव्य-पुरुषोत्तम को वशीभूत कर सकते हैं। 'रति' का बंधन अन्य समस्त बंधनों से विचित्र और असाधारण है। काव्य-पुरुष और काव्य-विद्या के संगम में ही सरस्वती की सर्जना सफल होती है। काव्य-पुरुष की दिव्य उत्पत्ति में जीवन का श्रेय और मर्त्यलोक के अधिवास में जीवन का प्रेय सन्निहित है। काव्य-प्रसादन में 'आकर्षण' भी एक आवश्यक तत्त्व है। यद्यपि काव्य का प्रतिपाद्य विषय एक हो सकता है किंतु उसकी वर्णन-प्रणाली में विभिन्नता की स्थिति सहज संभव है। विभिन्न देशों के काव्यकारों ने अपनी-अपनी शक्ति, अभिरुचि, क्षमता, योग्यता और प्रवृत्ति के अनुरूप ही काव्य-रचनाएँ की हैं और वे वर्तमान में करते हैं तथा भविष्य में भी करेंगे। इस प्रकार के अनेक तत्त्व काव्यमीमांसा में वर्णित काव्य-पुरुष की उत्पत्ति शीर्षक अध्याय से निष्यंदित किये जा सकते हैं। राजशेखर ने आख्यान के माध्यम से इस विषय को अत्यंत रोचक और सुग्राह्य बना दिया है। उसमें काव्य-पुरुष की यात्रा और साहित्य-विद्या-वधू के साथ काव्य-विद्या-स्नातक मुनिजनों का अनुगमन हमारे देश की व्यापकता का दिग्दर्शन कराने में सहज समर्थ है। उक्त कथांश से यह निष्कर्ष निकलता है कि उनके समय पर्यन्त भारत के पूर्वी भाग की काव्य-रचना में औड्र-मागधी प्रवृत्ति, भारती वृत्ति और गौडीया रीति का प्रयोग होता था; पांचाल देश में पांचाली मध्यमा प्रवृत्ति, सात्वती या आरभटी वृत्ति तथा पांचाली रीति प्रयुक्त होती थी। उनके मतानुसार अवंती देश में आवंती प्रवृत्ति, सात्वती और कौशिकी वृत्ति प्रचलित थी तो दक्षिण देश में दाक्षिणात्या प्रवृत्ति, कौशिकी वृत्ति और वैदर्भी रीति का प्रचार था। यों तो उस समय और भी अनेक प्रदेश थे जिनमें काव्य-रचना होती थी, किंतु राजशेखर ने काव्य-रचना की दृष्टि से उपर्युक्त चार प्रदेशों के आधार पर उसके चार विभागों को ही महत्त्व प्रदान किया है। काव्य की रीति, प्रवृत्ति और संघटना आदि को लेकर भरतमुनि, भामह, दण्डी और आनंदवर्धन आदि आचार्यों ने भी अपने काव्यशास्त्रीय ग्रंथों में विवेचना की है। राजशेखर ने 'पूर्वदिशा में साहित्यवधू काव्य-पुरुष को आकर्षित नहीं कर सकी किंतु तदनन्तर उसके प्रति काव्य-पुरुष का आकर्षण बढ़ने लगा' लिखते हुए यही आशय व्यक्त किया है कि काव्य की रचना-प्रवृत्ति में क्रमशः सुधार होता गया और अंत में वैदर्भी रीति को ही सर्वोत्कृष्टता प्रदान की गई। राजशेखर ने काव्य-पुरुष की उत्पत्ति तथा उसके विकास के कथानक की कल्पना जिस आलंकारिक रूप में की है, उस पर पुराणों की शैली का प्रभाव है। उनके पूर्व भी इस प्रकार की कथा के सूत्र वायुपुराण, महाभारत और हर्षचरित में विकीर्ण थे जिनका समुचित उपयोग करते हुए उन्होंने अपनी कथा को प्रश्रय प्रदान किया। वाण के हर्षचरित के प्रारम्भ में भी सरस्वती के पुत्र की उत्पत्ति का वर्णन हुआ है, किंतु राजशेखर ने उसका आस्थापन भिन्न दृष्टिकोण से किया है। काव्य-पुरुष की यात्रा का विवरण देने में उन्होंने अपनी कल्पना से काम लिया है। वस्तुतः वे भी भरतमुनि तथा भामह आदि आचार्यों की भाँति काव्य की रीतियाँ, वृत्तियाँ और प्रवृत्तियाँ वर्णित करना चाहते थे, जिसके लिए उन्होंने काव्य-पुरुष की यात्रा का आह्लादपूर्ण प्रसंग कल्पित किया। उनके वर्णन

द्वारा भिन्न-भिन्न जनपदों की अभिरुचि, संस्कृति, आचार-व्यवस्था, वेशभूषा और जीवन-दृष्टि का भी सहज ही बोध हो जाता है। राजशेखर ने इस विवरण में दो उल्लेखनीय बातें कही हैं और वे ये हैं कि "काव्य-पुरुष और साहित्य-विद्या अपने प्रभाव-मय शरीर से कवियों के हृदय में निवास करते हैं तथा दोनों के लिए कवि-लोक रूपी नवीन स्वर्ग की सृष्टि की गई है जिसमें कविजन काव्यमय शरीर से मर्त्यलोक में और दिव्य-शरीर से स्वर्गलोक में प्रलय-पर्यन्त निवास करते हैं।" राजशेखर कृत यह विवेचन काव्य के स्वरूप-बोध में पूर्वपीठिका का भव्य निदर्शन प्रस्तुत करता है। उनके द्वारा वर्णित काव्य-पुरुष और साहित्य-विद्या-वधू के परिणय-वर्णन के निम्नलिखित उद्धरण से इस कथन की पुष्टि की जा सकती है—

"तत्रास्ति मनोजन्मनो देवस्य क्रीडावासो विदर्भेषु वत्सगुल्मं नाम नगरम्। तत्र सारस्वतैयस्तामोमेयीं गंधर्ववत्परिणिनाय। ततस्तद्वधूवरं विनिवृत्य तेषु प्रदेशेषु विहर-माणं तुषारगिरिमेवाजगाम् यत्र गौरी सरस्वती च मिथः सम्बन्धिन्यो तस्थतुः। नौ च कृतवंदनौ दम्पती दत्वाशिषं प्रभावमयेन वपुषा कविमानसनिवासिनौ चक्रतुः। तयोश्च कविलोकस्वर्गसर्गतमकल्पतां, यत्र काव्यमयेन शरीरेण मर्त्त्यमाधिवसंतो दिव्येन देहेन कवय आकल्पं मोदेते।[1]

काव्य-पुरुष की शब्दार्थमयी स्थिति

काव्य-पुरुष शब्दार्थमय है अतः उसकी शालीनता के लिए शब्द और अर्थ दोनों के संस्कार अपेक्षित हैं। शब्द के ग्राम्य अथवा संस्कृत रूप की भाँति अर्थ के भी ग्राम्य और संस्कृत रूप होते हैं। शब्द-संस्कार को शब्द-व्युत्पत्ति अथवा सौशब्द्य कहा जाता है तथा अर्थसंस्कार को अर्थ-व्युत्पत्ति अथवा वक्रोक्ति। शब्द-व्युत्पत्ति का शास्त्र 'व्याकरण' और अर्थव्युत्पत्ति का शास्त्र 'अलंकार' है। व्याकरणशास्त्र शिष्टप्रयोगशरण होता है किंतु अलंकार-शास्त्र कविप्रयोग-शरण। महाभाष्यकार ने 'शिष्टाः शब्देषु प्रमाणं' कहा है तो भामह ने 'किंच काव्यानि नेयानि लक्षणेन महात्मनाम्' द्वारा इसी मान्यता की प्रतिष्ठा की है। वस्तुतः कवियों की वाणी लोकातिक्रांतगोचर होती है जिसमें अचेतन भावों को भी चेतन करने का सामर्थ्य रहता है। उस वाणी का वैदग्ध्य केवल रसिकहृदय ही जान सकते हैं। आचार्यों ने वक्रोक्ति में काव्य-सौन्दर्य की प्रतिष्ठा करते हुए उसका सम्बन्ध 'समाधि' गुण तथा 'लक्षणा' से भी जोड़ा है। दण्डी का मत है कि काव्य में गौणवृत्ति का आश्रय वांछनीय होता है और वह गौण वृत्ति वैदर्भी रीति के प्राणभूत 'समाधि' गुण में प्रतिष्ठित होकर 'काव्य का सर्वस्व' कही जा सकती है। 'समाधि' गुण की सामान्य परिभाषा यही है कि उसमें लोकमर्यादा का अतिक्रमण किये बिना, एक वस्तु के धर्म का आरोप अन्य वस्तु पर किया जाता है। उदाहरणार्थ यदि यह कहा जाय कि कुमुदों का निमीलन और कमलों का उन्मीलन हो रहा है तो उसका अभिप्राय यह है कि कुमुदों और कमलों पर नेत्र-क्रिया का अभ्यास हुआ है जिसका

१. काव्यमीमांसा, तृतीय अध्याय, पृ० २२-२३।

आधार कुमुद-कमलों तथा नेत्रों की अभेद प्रतीति है। शांकरभाष्य में भी अध्यास का अर्थ 'अन्यत्र अन्यधर्मारोप' किया गया है। दण्डी ने भी उसका यही अर्थ ग्रहण किया है। यह अध्यास व्यावहारिक भाषा में लक्षणा द्वारा प्रवृत्त होता है। यही शब्दों की गौणवृत्ति तथा वक्रोक्ति का बीज है जिसे राजशेखर ने 'प्रतिभास' शब्द से संज्ञित किया है। भामह तथा दण्डी के परवर्ती उद्भट तथा वामन आदि आचार्यों ने भी वाक्यस्थित वक्रोक्ति का विवेचन अमरव्यवृत्ति अर्थात् लक्षणा के रूप में ही किया है जिससे काव्य का गुणवृत्ति-प्राधान्य सिद्ध होता है। यहाँ इस बात का उल्लेख करना आवश्यक है कि नैयायिकों और वैयाकरणों को 'लक्षणा-वृत्ति' स्वीकार न थी, अतः उन्होंने काव्यस्थित वक्रोक्ति को भी ग्रहण करना उचित नहीं समझा। नैयायिक लक्षणा का अंतर्भाव अनुमान में करते थे तथा प्राचीन वैयाकरण लक्ष्यार्थ का समावेश वाच्यार्थ के अंतर्गत ही कर लेते थे, अतः उन्हें लक्षणा की स्वतंत्र सत्ता स्वीकार्य नहीं प्रतीत हुई। साहित्यशास्त्रियों को इससे संतोष नहीं हुआ। उन्होंने यद्यपि मूल आधार व्याकरण का ही लिया और शब्दों की चतुष्ट्यी प्रवृत्ति भी स्वीकार की, किंतु वे 'गड्डुलिकाप्रवाह' में नहीं बहे। लक्षणावृत्ति का विवेचन करने में वे वैयाकरणों के अनुगामी नहीं बने और उन्होंने लक्षणा की सिद्धि के लिए मीमांसा का आधार लिया। व्यंजना वृत्ति को मीमांसावादी नहीं मानते थे, अतः उन्होंने इस विषय में उनकी भी उपेक्षा की और स्वतंत्र रूप से व्यंजना का अस्तित्व सिद्ध किया। वस्तुतः साहित्यशास्त्री आचार्य समन्वयवादी थे और अपनी वाक्यसिद्धि में विविध शास्त्रों का उपयोग निस्संकोचभाव से करते थे। उन्होंने रसविवेचना करते हुए जहाँ एक ओर न्याय, मीमांसा, सांख्य और वेदांत आदि दर्शनों की प्रपत्तियों का उल्लेख किया वहाँ दूसरी ओर वे अपनी स्वतंत्रता को भी साथ लिए हुए चले। उन्होंने जिस मधुप-वृत्ति का परिचय देते हुए साहित्यशास्त्र की विवेचना की है वह अत्यंत प्रौढ़ और प्रसारमय है जिसे दृष्टिकोण में रखकर आचार्य राजशेखर ने 'साहित्यविद्या' को 'सर्व विद्यानां निष्यंदः' कहा है। अभिप्राय यह है कि काव्य-पुरुष और साहित्यविद्या का पुराण-शैली में वर्णित आख्यान इतना अधिक तत्त्वपूर्ण है जिसके आधार पर काव्य-पुरुष के शब्दार्थमय शरीर का रहस्य विविध दृष्टियों से व्याख्यात हुआ है। काव्य को पुरुष से उपमित करते हुए हम भले ही यह कह दें कि उसके शब्दार्थों और रसों में शरीर और शरीरी का सम्बन्ध है किंतु पुरुष के सम्बन्ध में शरीर और चैतन्य का भेद जिस रूप में स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है उस रूप में काव्य-शरीर और काव्यात्मा का अंतर स्पष्ट नहीं किया जा सकता। काव्यालंकारों और काव्यगुणों का काव्य-पुरुष से बना हुआ सम्बन्ध उस रूप में भी बोधगम्य नहीं बनाया जा सकता जिस रूप में किसी पुरुष द्वारा धारण किये हुए अलंकारों को उसके शरीर से भिन्न स्थिति के रूप में कथित किया जा सकता है।

काव्य-पुरुष की कमनीयता

काव्य-पुरुष की शब्दार्थमयी रूप-रचना के प्रति विभिन्न विचारकों के जो दृष्टिकोण निरूपित किए गये, उनमें काव्यशास्त्रियों का अपना अभिमत विशिष्ट और

व्यक्तिपरक है। उन्होंने काव्य-शरीर के अवयवभूत शब्द और अर्थ की आशंसा करते हुए इस सिद्धांत का सबल समर्थन किया है कि कवि को यथासंभव दुष्ट प्रयोगों से बचने का पूर्ण प्रयत्न करना चाहिए क्योंकि तज्जन्य प्रमाद द्वारा काव्य-पुरुष का कमनीय कलेवर अत्यल्प श्वेतकुष्ठ के चिह्नों की भाँति सौन्दर्यवर्जित हो जाता है।[1] भामह और दण्डी आदि प्राचीन आचार्यों ने इस प्रकार की मान्यता का समर्थन सुदृढ़ शब्दों में किया है जिनका विवेचन यथास्थान किया गया है। यहाँ तो हम केवल इतना ही संकेत करना पर्याप्त समझते हैं कि काव्य-पुरुष की कमनीयता में दोषों की स्थिति सर्वथैव परिहार्य है और उनके सम्बन्ध में कालिदास की 'एको हि दोषो गुणसन्निपाते निमज्जतीन्दोः किरणेष्विवांकः' वाली उक्ति एक सीमा-पर्यन्त ही सुग्राह्य कही जा सकती है। दण्डी ने तो स्पष्ट शब्दों में कहा है कि जिस अशास्त्रज्ञ व्यक्ति को काव्य-पुरुष के गुणों और दोषों का ज्ञान नहीं है वह इस विषय को जान ही नहीं सकता कि उसके उच्चावच-स्वरूप का विभाजन किस प्रकार होता है? सच तो यह है कि जिस प्रकार नेत्रहीन व्यक्ति के लिए रूपभेद की उपलब्धि असम्भव है, उसी प्रकार साहित्यशास्त्र से अनभिज्ञ मनुष्य के लिए काव्य-पुरुष के स्वरूप का बोध दुःसाध्यवत् है। भरत आदि विद्वानों ने गुणदोषों के विभागज्ञानपूर्वक काव्य परिशीलनजन्य आनंद का विवेचन करते हुए काव्य-पुरुष के आत्मतत्त्व का विश्लेषण ऐसी आधार-प्रक्रिया से किया है जिससे उसके आस्वादयिताओं को लौकिक ज्ञान का व्यावहारिक पक्ष तथा काव्यशास्त्र का परम प्रयोजन अवगत हो सके। काव्यशास्त्र के समस्त आचार्यों ने अपने-अपने दृष्टिकोण से काव्य की क्रियाविधि का उपनिबंधन करते हुए वाणी-विमर्श के विचित्र मार्गों का अन्वेषण किया है जिनके आकलन द्वारा काव्य-पुरुष के स्वरूप-दर्शन के विषय में अनेक प्रकार की प्रतिपत्तियाँ स्पष्ट की जा सकती हैं।

(२) नाट्यवेद के पौराणिक आख्यान की काव्य-विवृति

भरतमुनि-विरचित नाट्यशास्त्र में यद्यपि काव्यचर्चा का विषय उसके परवर्ती ग्रंथों से भिन्न रूप में विवेचित हुआ है तथापि उसकी वर्णन-प्रणाली और आख्यान-योजना के आधार पर काव्य के स्वरूप-बोध विषयक अनेक तथ्यों की तत्त्वसंगत अभिज्ञता की जा सकती है। यों तो काव्यमीमांसा अथवा साहित्य-शास्त्र की दृष्टि से नाट्यशास्त्र के ६, ७, १६, १८, २० तथा २२ संख्यक अध्यायों का विशेष महत्त्व है तथापि अन्य अध्यायों द्वारा भी काव्य-विमर्श की उपलक्षित सामग्री का ज्ञान किया जाना सहज संभव है। भरतमुनि ने नाट्यवेद की उत्पत्ति के विषय में जो पौराणिक आख्यान प्रस्तुत किया है, वह काव्यशास्त्रीय दृष्टि से भी अत्यंत उपादेय है। उसके प्रारम्भ में ब्रह्माजी से की गई इन्द्रादि की यह प्रार्थना कि 'क्रीडनीयकमिच्छामो दृश्यं श्रव्यं च यद् भवेत्' इस तथ्य की ओर संकेत करती है कि सहृदय काव्य-भावकों की यह उत्कट अभिलाषा

---

१. तदल्पमपि नोपेक्ष्यं काव्ये दुष्टं कथंचन।
स्याद्वपुः सुन्दरमपि श्वित्रेणैकेन दुर्भगम्। —दण्डी, काव्यादर्श, १-७।

होती है कि वे काव्य-सृष्टा (ब्रह्मा) द्वारा श्रवण के लिए मधुर एवं दर्शन के लिए सुंदर क्रीड़ास्वरूप काव्य की उपलब्धि करे। इस उक्ति में काव्य के दोनों रूपों—श्रव्य और दृश्य की ओर संकेत है और दोनों के लिए 'क्रीडनीयक' पद का प्रयोग करते हुए भरतमुनि ने उनकी मूलभूत विशेषता निर्दिष्ट कर दी है। इस विषय में हम इतना ही कहना पर्याप्त समझते हैं कि 'क्रीड़ा' शब्द अपनी अर्थ-प्रक्रिया में अत्यंत व्यापक है और उसके अंतर्गत जितने भी गुण अथवा व्यावहारिक धर्म समाविष्ट होने वांछनीय हैं, वे सब श्रव्य तथा दृश्य काव्य के अंग बनकर उपस्थित हो सकते हैं।

नाट्याख्यान का रहस्योद्घाटन

भरतमुनि द्वारा वर्णित उपर्युक्त आख्यान में ब्रह्मा द्वारा चारों वेद से यथोचित सामग्री ग्रहण करते हुए नाट्य वेद की रचना विषयक जो बात कही गई है, उससे स्पष्ट है कि वस्तुतः वेद ही अपने व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ तथा ज्ञान-सामग्री के कारण समस्त विद्याओं और उपविद्याओं के रत्नकोष हैं और यदि उन्हीं के निष्यंद द्वारा नाट्य-वेद की उत्पत्ति मानी जाय तो सर्वथा समीचीन ही है। कहने के लिए तो वेदों के नाट्य-वेद की उत्पत्ति वर्णित की गई है किंतु उसके द्वारा काव्यमात्र के सर्जन अथवा निर्माण का तत्त्व भी ध्वनित हुआ है। नाट्य-वेद की रचना के लिए ऋग्वेद से 'पाठ्य', यजुर्वेद से 'अभिनय', सामवेद से 'गीति' और अथर्ववेद से 'रस' लेने का जो आख्यान प्रस्तुत किया गया है वह नाट्यवेद अथवा नाट्यकाव्य की चार मौलिक विशेषताओं का निर्देशक होने के साथ-साथ काव्य-सर्जना के लिए अभीष्ट कथावस्तु और उसकी संयोजन-विधि का भी सामान्य संकेत करता है। वस्तुतः उसमें काव्य-साहित्य का अनुभूति-पक्ष और अभिव्यक्ति-पक्ष व्यंजित है। यह तो हुई पाठ्य और अभिनय के काव्यगत अर्थ-ध्वनन की बात। गीति और रस-तत्त्व की काव्यगत महत्ता के निरूपण की विशेष आवश्यकता नहीं है, क्योंकि काव्य और संगीत का मधुर सम्बन्ध तो अनादि काल ही से चला आ रहा है जिनके संवेदनापूर्ण समन्वय से स्वतः ही निष्पन्न होने वाली रसमयी धारा ही काव्य का चरम लक्ष्य अथवा परम ध्येय है और जिसकी सम्पन्नता से ही काव्य-सर्जना और काव्यास्वाद का प्रयोजन फलीभूत होता है। अभिप्राय यह है कि किसी भी श्रेष्ठ काव्य की संघटना के लिए उसका वस्तु-विन्यास, रचना-कौशल, गीति-संयोजन और रसास्वाद आदि ऐसे महत्त्वपूर्ण तत्त्व हैं जिनकी सफल संहिति में ही काव्य-सर्जना या काव्य-स्वरूप की सार्थकता अंतर्निहित है।

भरतमुनि ने नाट्यवेद को जिस अर्थ में 'सर्वजनग्राह्य' कहा है वह अत्यंत सार-गर्भित और उचित है। उन्होंने इन्द्र को ब्रह्माजी द्वारा दिए गये इस आदेश का कि 'तुम लोगों में जो कुशल, विदग्ध, प्रगल्भ और जितश्रम हों, उन्हें यह नाट्यवेद दे दो'—यह अर्थ निकाला जा सकता है कि काव्यानुशीलन एवं काव्य-प्रयोग के सुयोग्य अधिकारी वे ही व्यक्ति हो सकते हैं जिनमें काव्योचित कुशलता, विदग्धता, प्रगल्भता और जितश्रमता के गुण विद्यमान हों। देवताओं में इन गुणों का अभाव बतलाकर भरतमुनि तथा उनके पुत्रों में नाट्यवेद के प्रयोग की जो क्षमता निर्दिष्ट की गई है, वह काव्य-मात्र

के उद्भावक व्यक्तियों की ऐसी प्राथमिक विशेषताएँ हैं जिनसे वे काव्यास्वाद अथवा रस-ग्रहण की मधुरतम प्रक्रिया में सफल होते हैं। भारती, आरभटी और सात्वती वृत्तियों से युक्त नाट्यप्रयोग की विशेष सफलता के लिए कैशिकी वृत्ति के उपयोग की बात कही गई है उससे प्रकट है कि जब तक काव्य अथवा नाटक में कैशिकी अर्थात् ललित वृत्ति का प्रयोग नहीं किया जाता तब तक रचनाक्रिया में लालित्य अथवा सौन्दर्य का संचार हो ही नहीं सकता। वस्तुतः कैशिकी वृत्ति 'सौन्दर्योपयोगी व्यापार' की प्रतीक है क्योंकि उसी के द्वारा समस्त रसों की अभिव्यक्ति में सौन्दर्य अथवा वैचित्र्य का संचार होता है।

भरतमुनि ने 'इन्द्रध्वज' नामक उत्सव पर किए गये नाट्यप्रयोग में दानवों पर देवताओं की विजय प्रदर्शित करते हुए एक प्रकार से 'सत्येव जयते' की ही संसिद्धि की है। असुरों द्वारा पहुँचाई हुई बाधा को सत्कार्य में उपस्थित होने वाली विघ्न-बाधाओं से उपमित किया जा सकता है। उन्होंने विरुपाक्ष नामक दैत्य द्वारा ब्रह्माजी पर लगाये गये पक्षपातपूर्ण लांछन द्वारा यह तथ्य ध्वनित किया है कि यद्यपि काव्य-रचना में किसी के शुभाशुभ की ऐकांतिक प्रवृत्ति नहीं होती, किंतु संकुचित और आसुरी वृत्तियों वाले व्यक्ति अपनी मनोवृत्ति के अनुकूल उसमें छिद्रान्वेषण करने का आधार अनुसंधित कर ही लेते हैं। दैत्यों की कालुष्यपूर्ण आशंका के निवारण-हेतु ब्रह्माजी ने नाट्यवेद की जो विशेषताएँ उद्घाटित की हैं, वे काव्यनिर्माता द्वारा अपनी सत्वोद्रेक-पूर्ण अभिव्यक्ति के समर्थन की ही परिचायक हैं। उनमें यह तत्त्व निरूपित किया गया है कि काव्य-सर्जना एक अत्यंत पुनीत और श्रेयस्कर सृष्टि है जिसके द्वारा चतुर्वर्ग की फल-प्राप्ति प्रेयस्करी विधि से की जा सकती है। नाट्य अथवा काव्य में एक प्रकार से त्रैलोक्य के भावों का अनुकीर्तन होने के साथ-साथ धर्म, क्रीड़ा, अर्थ, शम, हास्य, युद्ध, काम और वध आदि विविध भावनाओं का जो अभिव्यंजन रहता है, वह किसी वर्ग-विशेष के लिए न होकर सर्वसामान्य जनों के लिए अभीष्ट है। उसमें संसार के सुख-दुःख समन्वित स्वभाव का चित्रण ऐसी रमणीयता से किया जाता है जिसे किसी भी रूप में साम्प्रदायिक और वर्गगत भावनाओं का प्रतीक नहीं कहा जा सकता। अभिप्राय यह है कि नाट्यशास्त्र में उल्लिखित उपर्युक्त आख्यान अपना तात्त्विक महत्त्व रखता है और उसके द्वारा न केवल नाट्य-वेद का अपितु काव्य-मात्र का मूल प्रतिपाद्य विवेचित किया जा सकता है जिससे निम्नलिखित निष्कर्षों की उपलब्धि होती है—

१. नाट्यवेद की भाँति काव्य-सर्जना भी एक अत्यंत पुनीत और प्रेयान्वित प्रक्रिया है जिसका स्रष्टा चतुर्मुखी ब्रह्मा की भाँति महान् और अद्भुत कलाकार होता है।
२. काव्य-सर्जना के मूल में न केवल 'स्वान्तः सुखाय' भाव का ही अभिव्यंजन है, अपितु उसमें 'सर्वजनहिताय' की भावना भी निहित है।
३. काव्य का आस्वादन वे ही व्यक्ति कर सकते हैं जिनमें काव्य-ग्रहण का नैपुण्य, वैदग्ध्य, प्रागल्भ्य और सौहार्द हो।
४. काव्य मुख्यतः मानव-सुलभ मनोवृत्तियों का निर्देशक होने के कारण सहृदय जनों के लिए ही प्रीतिकारक और कीर्तिप्रद होता है।

५. यद्यपि काव्य-रचना में भारती, आरभटी और सात्वती वृत्तियों का प्रयोग होता है, किंतु कैशिकी वृत्ति के संयोजन द्वारा ही उसे सौंदर्यमयी चेतना प्रदान की जा सकती है।

६. कहने के लिए काव्य-सृष्टि भले ही शृंगार-प्रधान हो किंतु उसकी शृंगारिकता केवल मधुरभावमूलक रति का ही प्रतिबिम्ब नहीं, अपितु उसमें अन्य वृत्तियों का भी शृंगारमय विलास निहित रहता है। यदि ऐसा न होता तो सहृदयजन भगवान् के सर्वशक्तिमान और दुष्ट-विध्वंसकारी रूप में शील और सौंदर्य के दर्शन कैसे कर पाते ?

७. काव्य का प्रयोजन किसी वर्ग-विशेष की चित्त-विश्रांति नहीं, अपितु वह प्राणिमात्र के प्रसादन अथवा चित्ताह्लादन का साधन है। उसे सर्वजनग्राह्य योग-क्षेम का वाहक कहा जा सकता है।

८. जो व्यक्ति काव्य-सर्जना के प्रति विद्वेष-भावना रखते हैं, वे वस्तुतः अपनी ही संकीर्ण मनोवृत्तियों का प्रकाशन करते हैं, क्योंकि उन्हें काव्य की त्रैलोक्यव्याप्त सत्ता में अपनी भ्रांत धारणाओं के कारण दोषमयता ही प्रदर्शित होती है।

९. काव्य किसी व्यक्ति की निजी भावनाओं का स्वार्थमय प्रदर्शन नहीं, अपितु लोक-जीवन की भाव-संस्थितियों का अभिव्यंजन है और अपनी व्यक्तिपरकता में भी वह वामन की विराट् शक्ति के तत्त्व संजोये रखता है।

१०. काव्यास्वाद की प्रक्रिया में व्यक्ति-निरपेक्षता का भाव प्रधान है और 'स्वपरगत-देशकालावस्थावेश' उसके मार्ग का सबसे बड़ा व्यवधान है।

११. काव्य में यदि विशिष्ट व्यक्तियों का चरित्रांकन भी किया जाय तो भी उन्हें व्यक्ति-निरपेक्ष भावनाओं में निरूपित किया जाना चाहिए जिनसे सहृदय प्रमाता अपनी भावनाओं का साधारणीकरण करते हुए उनकी वृत्तियों में तन्मयता की अनुभूति कर सकें।

१२. जो काव्यकार विद्वेषपूर्ण भावनाओं से काव्य-सृष्टि करता है वह भारती-माता का सच्चा साधक नहीं है और 'मुनिशाप' का अधिकारी होता है।

१३. कहने के लिए काव्य-सृष्टा और काव्यास्वादयिता दो पृथक्-पृथक् व्यक्ति हैं, किंतु तत्त्वतः काव्यस्रष्टा ही काव्य का आद्यास्वादयिता होता है। यद्यपि काव्यकार की सर्जना और आस्वादन की मनोवृत्तियों में अंतर होता है, किन्तु जीवन में दोनों वृत्तियों के सम्मिलन का एक ऐसा संधिस्थल भी है जहाँ इस प्रकार की दुविधाएँ नहीं रहतीं।

१४. जिस प्रकार लोकस्वभाव का अभिनय नाट्य है उसी प्रकार लोकावस्था की कुशल अभिव्यक्ति काव्य। नाट्यरचना में जैसे लोकधर्मी और नाट्यधर्मी व्यापार उसके भावतत्त्व और सौन्दर्य-विधान को पूर्णता प्रदान करते हैं, उसी प्रकार काव्य-रचना में स्वभावोक्ति और वक्रोक्ति का समुचित सामंजस्य उसे रस-निष्पत्ति की योग्यता से सम्पन्न बनाता है।

१५. प्रयोग और प्रविधि में भिन्नता होते हुए भी अन्ततोगत्वा नाट्य और काव्य का

हेतु, प्रयोजन और चरम लक्ष्य एक ही है। दोनों की सफलता इसी बात में है कि स्वार्थसिद्धि करते हुए चलें।

नाट्याख्यान की उपलब्धि

हमने भरतमुनि प्रतिपादित विचारधारा को जिस दृष्टि से काव्यगत बनाकर अभिव्यक्त किया है, उसे किसी भी रूप में अन्यथा नहीं समझना चाहिए। यद्यपि नाट्यशास्त्र में काव्य की स्वरूप-चर्चा का प्रत्यक्ष निरूपण नहीं हुआ है, किंतु उनकी परोक्ष उपलब्धि भी कम महिमामयी नहीं है। नाट्यशास्त्र में वर्णित लोकधर्मिता के माध्यम से काव्य की यथार्थता और सौंदर्यमयता का तत्त्व सुचारुरूपेण विवेचित किया जा सकता है। वस्तुत: काव्य-सर्जना में दोनों की उपयोगिता है और वे दोनों आधाराधेय-सम्बन्ध के साथ-साथ 'वागर्थाविव सम्पृक्त' रहते हैं। लोकधर्म की वास्तविकता यदि काव्य को ठोस भूमिका प्रदान करती है तो नाट्यधर्म की चारुता उसमें चित्त-चमत्कृति के उपकरण जुटा देती है। कवि अथवा नाट्य-प्रयोक्ता को इस बात का अधिकार होता है कि वह अपनी कृति को सशक्त और सजीव बनाने के लिए दोनों में यथोचित परिवर्तन भी कर सके। आचार्य अभिनवगुप्त ने दोनों की सापेक्षिक महत्ता का निरूपण करते हुए उचित ही कहा है कि कविगत अथवा नटगत वागंगालंकार रूप नाट्यधर्मिता किसी भी कलाकृति की प्राण-चेतना कही जा सकती है। उनका कथन है—

"यस्मात् कविगता नटगता वागंगालंकारनिष्ठा नाट्यधर्मीरूपा सर्वप्राणवती अर्थात् इति अर्थमपेक्ष्य प्रवर्तते, तस्मात् सर्वस्य संबंधी सहजोभावो लोकधर्मलक्षण उक्तो भित्तिस्थानीयत्वेन नाट्यधर्म्या: सहजसंवादिकर्मण:। अंगवर्तनारूपं गुणलक्षणानि च, अलंकारचेष्टा अलंकारा: उपमादयश्च।"

निष्कर्ष और निर्णय

काव्य-पुरुष की दिव्य उत्पत्ति के विश्लेषण के पश्चात् नाट्यशास्त्र के पौराणिक आख्यान की काव्यविवृत्ति तथा उसमें वर्णित काव्यलक्षणों का जो तत्त्व विवेचन किया गया उससे अनेक प्रकार के तथ्य उपलब्ध होते हैं। कहने के लिए तो नाट्यवेद का विमर्श मुख्यत: भारतीय वाङ्मय की मूल प्रकृति का द्योतक है, किन्तु उसमें काव्य के औदात्य और आभिजात्य के ऐसे अनेक सामान्य गुण अंतर्निहित हैं जिन्हें उपलक्षित कर विश्व-साहित्य के आदर्श का निर्धारण किया जा सकता है। नाट्यवेद की विशेषताएँ काव्य के चिरंतन गुणों की विशेषताएँ हैं जिन्हें आधुनिक युग-जीवन के परिवेश में पुनराख्यात करने पर काव्यसर्जना के बहुविध नवीन प्रतिमान अन्वेषित किये जा सकते हैं। नाट्यवेद की पौराणिक उत्पत्ति से जिन पन्द्रह प्रकारों के निष्कर्षों का मैंने जो उल्लेख किया है, वह उसी दिशा में निरूपित एक लघु प्रयास है। इसी प्रकार काव्य-लक्षणों की काव्यालंकारगत परिणति भी अपने आपमें एक अत्यंत रुचिकर और शोध का विषय है। काव्यशास्त्र के अध्येताओं को अब जीवन के नवीन आलोक की अभिनव रश्मियों से काव्य-सिंधु का मन्थन करते हुए ऐसा विवेकामृत उपलब्ध

करना है जो पूर्वाग्रहदंशित विरोधियों के विषवपन को उपशमित कर सके। ऐसा करने पर ही भारतीय जीवन-दर्शन और काव्यशास्त्र का वह पक्ष उद्घाटित हो सकेगा जिसमें वाग्देवता का संस्तव करते हुए उसे नियतिकृतनियमरहिता, ह्लादैकमयी, अनन्य परतंत्रा, और नवरसरुचिरा कहा गया है। वस्तुत: नाट्यवेद का तत्त्व-विमर्श और पुनराख्यान पूर्व-संकेतित मन्तव्य के श्रीगणेश का उपक्रम बन सकता है, यही हमारे कथन का मूल मंतव्य है और उसी दिशा की ओर अंगुलिनिर्देश करने की प्रेरणा से ही काव्य की स्वरूप-सर्जना के प्रसंग में इन कथाओं का पुनराख्यान किया गया है। इस प्रकार इस अध्याय के कलेवर में हम अपने गंतव्य पथ का उपक्रम परिसमाप्त कर द्वितीय अध्याय की भूमिका में प्रविष्ट हो रहे हैं जिसका प्रतिपाद्य विषय काव्य-सर्जना अथवा काव्य-विश्व का स्वरूप-लक्षण और उसका व्यापक प्रसार निरूपित करना है।

२

काव्य-सर्जना के लक्षण और उसके भेद-प्रभेद

(१) काव्य का स्वरूप-लक्षण

'लक्षण' का लक्षण

किसी वस्तु अथवा विषय के असाधारण अर्थात् विशेष धर्म का कथन करना उसका लक्षण कहलाता है। लक्षण-निर्धारण करते समय इस बात का ध्यान रखना आवश्यक है कि उसमें विवेच्य विषय-वस्तु का ऐसा विशिष्ट गुण निर्दिष्ट किया जाय, जो केवल उसी पदार्थ में सन्निहित हो। यथासंभव लक्षण अतिव्याप्ति और अव्याप्ति दोषों से रहित होना चाहिए। साधारणतया लक्षण दो प्रकार के होते हैं—प्रथम स्वरूप-लक्षण और द्वितीय तटस्थ-लक्षण। 'व्यावृत्तिर्व्यवहारो वा लक्षणस्य प्रयोजनम्' के अनुसार लक्षण का प्रमुख प्रयोजन व्यावृत्ति अर्थात् समानजातीय और विषमजातीय अन्य पदार्थों से विभेद करना अथवा व्यवहार का प्रवर्तन कराना ही होता है। स्वरूप-लक्षण के अंतर्गत विवेच्य वस्तु के स्वरूप के अंतर्भूत व्यावर्त्तक धर्म का उल्लेख किया जाता है तो तटस्थ लक्षण में इतर-व्यावर्त्तक धर्म का। भारतीय आचार्यों ने ब्रह्मविद्या जैसे सूक्ष्म और अतीन्द्रिय विषयों की विवेचना करते समय भी इस प्रकार की लक्षण-विधियों का प्रयोग किया है। उदाहरणार्थ कहा जा सकता है कि भारतीय दर्शन में 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' जैसे वाक्यों में ब्रह्म का स्वरूप-लक्षण निर्धारित करने का सत्प्रयास परिलक्षित है तो 'जन्माद्यस्य यतः' आदि सूत्रों में उसके तटस्थ-लक्षण का भाव सन्निहित है। स्वरूपलक्षण की सीमा में ब्रह्म के स्वरूप के अंतर्गत अन्यों से उसका व्यावर्त्तन निरूपित है तो तटस्थ-लक्षण में इस बात का संकेत किया गया है कि सृष्टि की उत्पत्ति, स्थिति और विलय केवल ब्रह्म से ही होते हैं, अन्य से नहीं। दार्शनिकों ने उपर्युक्त द्विविध लक्षणों को ध्यान में रखते हुए आत्मा, माया, प्रकृति और जगत् आदि सूक्ष्म विषयों की भी स्वरूप-विवेचना की है। विवेचना की यह प्रणाली शब्दब्रह्म के साकार निदर्शन काव्य-पुरुष की सर्जना और उसकी रूप-बोधता की दिशा में भी प्रयुक्त हुई है। इस विषय में भारतीय आचार्यों की मुख्य मान्यताओं का सामान्य संकेत करने के पश्चात् हम उसी दृष्टि से काव्य-भेदों की भी विवृत्ति करेंगे जो एक प्रकार से काव्य-सर्जना के ही विवर्त्त रूप हैं। इस विषय का विशद और गम्भीर विवेचन तो 'काव्य के स्वरूप-विधायक तत्त्व' शीर्षक द्वितीय खण्ड में किया जायगा जो काव्य-सर्जना के विराट् स्वरूप को उद्घाटित करने की दिशा में भारतीय शब्द-साधना का तपःपूत प्रकाशपुंज और तत्त्व-निष्यंद है।

'काव्यलक्षण' की भारतीय प्रवृत्ति और परम्परा

काव्य का लक्षण निर्धारित करते समय उसकी बहिरंगरूपता और अंतरंगरूपता का भी विचार किया जाता है। भारतीय काव्यशास्त्र में उपर्युक्त द्विविध प्रकार की प्रवृत्तियाँ परिलक्षित होती हैं। यहाँ के आचार्यों ने अलंकार, गुण, रीति और वक्रोक्ति आदि सिद्धांतों की अवतारणा द्वारा काव्य का स्वरूप-बोध कराने के प्रयोजन से उसके बहिरंग-निरूपक अवयवों की संघटना और वर्णन-प्रणाली की ओर विशेष ध्यान दिया है जबकि रस और ध्वनि की परिकल्पना में काव्य का अंतरंगलक्षण निरूपित हुआ है। व्यावहारिक सुविधा की दृष्टि से इस प्रकार की भिन्नवर्ती लक्षण-पद्धतियों की उपयोगिता अवश्य है, किंतु उसका यह तात्पर्य नहीं कि उनमें किसी प्रकार का पूर्वापर एवं आंतरिक सम्बन्ध नहीं है। उदाहरणार्थ भामह, दण्डी, उद्भट और मम्मट आदि आचार्यों ने काव्य की शब्दार्थमयी स्थिति को ध्यान में रखकर उसकी गुणालंकृति और अदुष्टता आदि को उसकी लक्षण-निर्धारण-प्रक्रिया में स्थान देते समय भी उसके आत्मतत्त्वभूत रस और ध्वनि की उपेक्षा नहीं की है तो विश्वनाथ और पंडितराज जगन्नाथ आदि आचार्यों ने काव्य की रसात्मकता सिद्ध करते हुए भी उसकी वाक्यरूपता और शब्दमयी वृत्तियों की विवृति करने का भी पूर्ण ध्यान रखा है। आचार्यों के इस प्रकार के काव्य-स्वरूप-विधायक प्रयत्न में काव्य का लक्षण-पक्ष अत्यंत शालीनतापूर्वक उद्घाटित हुआ है। हाँ, यह बात अवश्य है कि काव्य-सर्जना और काव्य-समीक्षा के प्रारम्भिक काल में उसके लक्षण-निर्धारण की स्थूल और बाह्य प्रकृति की ओर विशेष ध्यान रहा जबकि काव्य-चिंतन की गम्भीरता और विशदता का आनुक्रमिक विकास होने पर वह क्रमशः सूक्ष्म और अंतर्भेदी बनता गया। जिस प्रकार काव्य का लक्षण निरूपित करने की प्रक्रिया में उसकी अंतरंगता और बहिरंगता के विविध पक्ष आधार-बिन्दु रहे हैं, उसी प्रकार काव्यभेदों की विवेचन-दृष्टि में भी यही प्रवृत्ति दृष्टिगोचर होती है। एक ओर 'शब्दार्थौ काव्यम्' की भूमिका से काव्य-लक्षण की प्रतिपत्ति का शुभारम्भ कर भारतीय आचार्य रसतत्त्व की काव्यगत योजना की महत्त्वमयी उपलब्धि की दिशा में कृतकृत्य हुए हैं, तो दूसरी ओर वे काव्य के गद्य और पद्य की वर्णन-प्रणाली और स्थूल-भेदकल्पना से विकास करते-करते रसमुख की दृष्टि से ध्वनि, गुणीभूतव्यंग्य और चित्रकाव्य की उच्चावचता का भी रूप-दर्शन कराने की दिशा में भी प्रयासोन्मुख बने हैं। भारतीय दृष्टि के आलोक में इन समस्त विषयों का विवेचन इसी शोध-प्रबंध में यथास्थान किया ही जायगा। यहाँ पर तो हम केवल इतना निवेदन करना ही पर्याप्त समझते हैं कि काव्य-सर्जना अथवा काव्य-सृष्टि के रूप-बोध की दिशा में इन विषयों की अनिवार्य उपयोगिता है जिनका तत्त्व-विमर्श करने से भारतीय काव्य-सर्जना का स्वरूप और उसके भेदोपभेदों का रहस्य हस्तामलकवत् सुस्पष्ट हो जाता है।

भारतीय काव्यशास्त्र में काव्य के लक्षण-निर्धारण की परम्परा आचार्य भामह से प्रवर्तित होकर पंडितराज जगन्नाथ पर्यन्त विविध विचारधाराओं और सरणियों में प्रवाहित होती हुई विकासोन्मुख रही है। यह एक अत्यन्त उल्लेखनीय बात है कि भामह

ने काव्य को 'शब्दार्थसहित' कहकर उसका जो स्वरूप-लक्षण निर्धारित किया था, वह अलंकार, रीति, गुण, वक्रोक्ति, रस और ध्वनि आदि विभिन्न काव्यदृष्टियों से गतिशील बनकर अंत में पंडितराज जगन्नाथ द्वारा 'रमणीयार्थप्रतिपादकः शब्दः काव्यम्' के सूत्र में समाहित हो गया। इस प्रकार काव्य-सर्जना का प्रारम्भ जिस शब्दार्थ-तत्त्व से उन्नमित हुआ था, वह काव्यशास्त्र की एकाधिक सहस्राब्दियों को पार कर पुनः शब्द-तत्त्व का ही आश्रित बना। हाँ, यह बात अवश्य है कि इस कालावधि में शब्द और अर्थ के प्रकाशन की रीतियों और प्रणालियों के अतिरिक्त उनके गुणों, अलंकारों, ध्वनि-भेदों और अर्थाभिव्यंजन-शक्तियों को लेकर भी व्यापक विश्लेषण किया गया जो काव्य की सौन्दर्यमयी रमणीयता और रस-व्यंजना को उपजीव्य बनाकर प्रौढ़ि को प्राप्त हुआ था। काव्यशास्त्र के विकास-विवेचक विद्वानों ने ऐतिहासिक और सैद्धांतिक दृष्टि से उसका मंथन कर अनेक विचार-रत्न उपलब्ध किये हैं जिनका सारतत्त्व चुनकर ही हम इस विषय के मुख्य कणों का ही उद्‌भावन करने की चेष्टा करेंगे जिनकी आभा से काव्य-सर्जना का स्वरूप-लक्षण आज भी द्योतित हो रहा है। हमारा यह विवेचन-क्रम भारतीय काव्यशास्त्र के प्रथम उन्नायक आचार्य भामह की मान्यताओं से ही प्रारम्भ होगा।

भामह विवेचित 'शब्दार्थौ काव्यम्' का पृष्ठभूमिपरक स्पष्टीकरण

'काव्यालंकार' के अध्ययन से पता चलता है कि आचार्य भामह के पूर्व अलंकारवादियों के दो वर्ग थे जिन्हें शब्दालंकारवादी तथा अर्थालंकारवादी आचार्य कहा जा सकता है। अर्थालंकारवादियों का मत था कि रूपक और उपमा आदि अर्थालंकार ही काव्य-शोभा के निष्पादक हैं क्योंकि अर्थबोध के पश्चात् उन्हीं से काव्यानंद की उपलब्धि होती है। उनका तो यहाँ तक आग्रह था कि किसी काव्य-कृति में रसों और गुणों का चाहे कितना ही समुचित विधान क्यों न हो, किन्तु यदि उसमें अलंकार-योजना नहीं है तो वह उसी प्रकार अशोभनीय हो सकती है जिस प्रकार अलंकारविहीन किसी रमणी का सुन्दर मुख अशोभन कहा जा सकता है।[१] उनकी यह मान्यता यद्यपि अर्थालंकारों के विवेचन से सम्बद्ध प्रतीत होती है, किन्तु उसमें अलंकारवाद का सामान्य समर्थन भी विद्यमान है। जो आचार्य अर्थालंकार-विरोधी थे, उन्हें रूपक और उपमा आदि अर्थालंकार बाह्य प्रतीत होते थे। उनके मतानुसार तो क्रिया और संज्ञा का सौन्दर्य ही वाणी का वास्तविक अलंकार है और काव्य में शब्द-सौन्दर्य अथवा सौशब्द्य द्वारा जितना चमत्कार आ सकता है उतना अर्थ-सौन्दर्य द्वारा नहीं।[२] अपनी मान्यता के समर्थन में इस वर्ग का तर्क यह था कि शब्दालंकार की महत्ता का प्रमुख कारण यह है कि काव्य के

---

१. रूपकादिरलंकारस्तथान्यैर्बहुधोदितः।
न कान्तमपि निर्भूषं विभाति वनिताननम्॥—काव्यालंकार, १।१३।

२. रूपकादिमलंकारं वाह्यमाचक्षते परे।
सुपां तिडां च व्युत्पत्तिं वाचां वांछत्यलंकृतिम्॥—वही १।१४।

३. तदेतदाहुः सौशब्द्यं नार्थव्युत्पत्तिरीदृशी।
शब्दाभिधेयालंकारभेदादिष्टं द्वयं तु नः॥—वही, १।१५।

पठन-पाठन अथवा श्रवण-प्रेक्षण से सर्वप्रथम 'शब्द' ही हमारे हृदय पर अपना प्रभाव अंकित करता है अथवा श्रुतिगोचर होता है जिसका मधुर विन्यास हमें आह्लादित कर देता है। उस समय अर्थप्रतीति का कोई विषय उपस्थित ही नहीं होता। शब्द-श्रवण अथवा शब्द-ग्रहण की प्राथमिक क्रिया के सम्पन्न हो जाने के पश्चात् अर्थ-प्रतीति होती है, जिसका अभिप्राय यह है कि शब्दालंकारों के सम्मुख अर्थालंकारों की सत्ता गौण एवं बाह्य है। वस्तुत: शब्दों में ही ऐसा चमत्कारपूर्ण सन्निवेश होता है जिसका सौशब्द्य ही काव्य का प्राण है, अत: शब्दब्रह्म की भाँति शब्दालंकारों में ही काव्य का परम तत्त्व समझना चाहिए।

आचार्य भामह पूर्वोक्त मतद्वय की अतिवादिता से अभिज्ञ थे और उसे काव्य के स्वरूप-विधान में बाधक समझते थे, अत: उन्हें काव्य का लक्षण निर्धारित करने के पूर्व उनका सम्मिलन अथवा समन्वय करना ही सर्वतोभावेन समुचित प्रतीत हुआ। उन्होंने कहा कि हमें तो शब्द और अर्थ के अलंकार-भेद से दोनों का सहभाव इष्ट है, क्योंकि काव्य में शब्दालंकारों के प्रयोग से यदि शब्द-सौन्दर्य आता है तो अर्थालंकारों के प्रयोग से अर्थ-सौन्दर्य। उन दोनों को परस्पर अंतर्भुक्त भी नहीं किया जा सकता। कवि के लिए दोनों का पृथक्-पृथक् महत्त्व है और दोनों ही काव्य-लक्षण में उपयोगी हैं, अत: शब्द और अर्थ का सहभाव अथवा संयोग ही काव्य है। वस्तुत: भामह ने काव्य की परिभाषा 'शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्' अवश्य की थी, किन्तु उसकी पृष्ठभूमि में अलंकारवादियों के पूर्वोक्त दोनों मत विद्यमान थे, जिन्हें पूर्वपक्ष के रूप में विवेचित करने के पश्चात् ही उन्होंने अपना काव्य-लक्षण निर्धारित किया था। ऐसी स्थिति में यह बात स्मरण रखने योग्य है कि जो विद्वान् पूर्वप्रसंग दिये बिना भामह कृत काव्य-लक्षण को केवल 'शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्' द्वारा व्यक्त करते हैं, वे उस लक्षण के तत्त्व का पूर्ण विवेचन नहीं कर पाते। इसमें तो कोई संदेह नहीं कि काव्य की सत्ता शब्द और अर्थ दोनों में है, क्योंकि दोनों के सम्मिलन से ही सहृदय के मन में काव्य का कल्पित स्वरूप बनता है, किन्तु तत्त्व-दृष्टि से देखा जाय तो उनमें कोई उल्लेखनीय अंतर्विरोध भी नहीं है। काव्यशास्त्र के अन्यतम आचार्य पंडितराज जगन्नाथ ने तो 'शब्द' को ही काव्य माना था और अपनी प्रयोजन-सिद्धि के लिए उसके पूर्व 'रमणीयार्थप्रतिपादक' जैसे विशेषणपद की योजना कर दी थी जिससे तीनों प्रकार के 'शब्द', 'अर्थ' और 'शक्तियों' का रूप ध्वनित हो सकता है। आचार्य मम्मट को भी यद्यपि काव्य का स्वरूप-लक्षण 'शब्दार्थौ काव्यम्' स्वीकार था, किन्तु वे भी इस तत्त्व से अपरिचित नहीं थे कि जिस प्रकार शब्द की भाँति अर्थ का भी कविसंरम्भ ज्ञाप्तव्य होता है उसी प्रकार अर्थ की भाँति शब्द का भी रस-प्रतीति में उपयोग रहता है, अत: उभयाश्रित होने से अलंकार भी दो प्रकार के होते हैं। उनके मत से भी शब्दालंकारों और अर्थालंकारों का स्वतंत्र अस्तित्व है और उसी विधान में काव्य का स्वरूप-विश्लेषण किया जाना युक्तिसंगत है।

'इष्टार्थव्यवच्छिन्न पदावली' ही काव्य का शरीर-लक्षण है

आचार्य दण्डी ने काव्य के शरीर-स्वरूप का विमर्श करते हुए लिखा है कि

'इष्टार्थव्यवच्छिन्न पदावली' ही काव्य का शरीर है।[1] उनके द्वारा निरूपित शरीरं तावदिष्टार्थव्यवच्छिन्ना पदावली' का 'तावत्' शब्द वाक्यालंकारों के लिए भी प्रयुज्यमान हुआ है। उनके मतानुसार केवल उसी शब्द-समूह (पदावली) को काव्यशरीर की अभिधा प्रदान की जा सकती है जो काव्य के लिए अभिलषित सरसता के उद्देश्य से युक्त और कवि-प्रतिभा से प्रतिफलित सुन्दर पदार्थों से व्यवच्छिन्न हो। इष्टार्थयुक्त पदावली का यह भी आशय है कि ऐसे पदों में 'आकांक्षा', 'योग्यता' और 'आसत्ति' आदि विशेषताएँ भी अपेक्षित हैं, क्योंकि निराकांक्षादि से युक्त पदों में वाक्यत्व की योग्यता नहीं होती जिसके कारण वे काव्य नहीं कहे जा सकते। पदावली के इष्टार्थत्व से उसका चमत्कार-युक्तत्व भी अभिप्रेत है जिसमें लोकोत्तर-आह्लादत्व का भाव सन्निहित है। दण्डी द्वारा निरूपित काव्य-लक्षण में शब्द और अर्थ दोनों का भाव सम्मिलित है। कालांतर में पंडितराज जगन्नाथ ने रमणीयार्थ के प्रतिपादक शब्द को काव्य कहा था जिसका पूर्वाभास दण्डी के 'इष्टार्थव्यवच्छिन्न पदावली' में विद्यमान है। दण्डी ने यों तो अपने काव्य-लक्षण में काव्य के शरीरमात्र का ही स्वरूप-कथन किया है, किन्तु वे अपनी युग-सीमा और सामर्थ्य के अनुसार उसके आत्मतत्त्व के उद्बोध की ओर भी प्रयत्नशील दृष्टिगोचर होते हैं। उन्होंने काव्य के लिए अलंकारों के साथ-साथ 'रसापेक्षा' का भी उल्लेख करते हुए अग्राम्यता की भी प्रभूत प्रशंसा की है। हाँ, यह बात अवश्य है कि उनका 'रस' शब्द भावजन्य आनन्द का व्यंजक न होकर अलंकारजन्य आह्लाद का ही व्यंजक है जिसे 'रसवदलंकार' की भूमिका में सुस्पष्ट किया जा सकता है। अपने काव्य-लक्षण में उन्होंने 'कामं सर्वोप्यलंकारौ रसमर्थे निषिंचति'[2] द्वारा काव्य की रसमुखता अवश्य संकेतित की है, किन्तु वे उसके 'इष्टार्थ' की विवेचना नहीं कर सके। काव्य-लक्षण के विवेचन-प्रसंग में काव्य के विशिष्ट धर्मों के उल्लेख द्वारा उन्होंने अपने काव्य-लक्षण को विशिष्ट भूमिका प्रदान की है जिसका आभास निम्नलिखित कारिकाओं से हो सकेगा—

अलंकृतमसंक्षिप्ते रसभावनिरंतरम्।
सर्गैरनति विस्तीर्णैः श्रव्यवृत्तैः सुसंधिभिः॥
सर्वत्र भिन्नवृत्तान्तैरुपेतं लोकरंजनम्।
काव्यं कल्पोत्तरस्थायि जायते सदलंकृति॥[3]

वामन का काव्य-लक्षण : 'काव्यं ग्राह्यमलंकारात्'

काव्य के स्वरूप-लक्षण के विषय में वामन की मौलिक मान्यता यह है कि अलंकार के योग से ही कोई भी काव्य ग्राह्य अथवा उपादेय होता है।[4] उन्होंने 'अलंकार'

---

१. दण्डी, काव्यादर्श, १।१०।
२. वही, १।६२।
३. वही, १।१८-१९।
४. वामन, काव्यालंकारसूत्र वृत्ति, १।१।१।

शब्द की सिद्धि भाव में 'घञ्' प्रत्यय करके की है, न कि करणार्थक 'घ' प्रत्यय से उसे उत्पन्न माना है। अपनी 'वृत्ति' में अलंकार शब्द की व्याख्या करते हुए उन्होंने उसे भाव में 'क्तिन्' प्रत्यय द्वारा निष्पन्न कहकर 'अलंकृति' शब्द सिद्ध किया है। उनके 'काव्यं ग्राह्यमलंकारात्' सूत्र से स्पष्ट है कि उनके द्वारा प्रयुक्त 'अलंकार' शब्द उपमादि अलंकारों का वाचक न होकर काव्य-सौन्दर्य का अभिधायक है।[1] वे 'अलंकार' को सौन्दर्य का साधन नहीं अपितु साक्षात् सौन्दर्य का वाचक मानते हैं तभी तो उन्होंने 'सौन्दर्यमलंकारः' सूत्र की अवतारणा की है। उनके मतानुसार यद्यपि मुख्य रूप से काव्य शब्द गुण और अलंकार से संस्कृत 'शब्द और अर्थ' के लिए ही प्रयुक्त होता है, किन्तु लक्षणा से वह केवल शब्दार्थ-मात्र का बोधक ही समझा जाता है। अभिप्राय यह है कि वामन के मत से 'अलंकार' काव्य से भिन्न कोई ऐसी वस्तु नहीं है, जिसका योग काव्य में किया जाय। ऐसी स्थिति में काव्य में सौन्दर्य के आधायक तत्त्व को ही 'अलंकार' की संज्ञा देना उन्हें समीचीन प्रतीत हुआ है और यही उनका काव्य का स्वरूप-विधायक लक्षण है।

वामन ने काव्य के सौन्दर्य-रूप 'अलंकार' को दोषों के 'हान' (परित्याग) तथा सौन्दर्य के साधनभूत करणार्थक प्रसिद्ध उपमादि अलंकारों के 'उपादान' से ग्रहण किया है जिनका सम्पादन कर कविजन अपने कार्य में कृतकृत्य हो सकते हैं। दोषों का हान तथा गुणों का उपादान करने का सामर्थ्य केवल शास्त्रज्ञान से ही सम्भव है क्योंकि शास्त्रों में प्रतिपादित दोषों के स्वरूप-लक्षण आदि का बोध कर कविगण दोष-परित्याग करने का विवेक प्राप्त करने में समर्थ होते हैं। शास्त्राध्ययन से उन्हें गुणों और अलंकारों के स्वरूप-लक्षण का भी अवगम हो जाता है जिसके द्वारा उनमें काव्य-सौन्दर्य के सिद्ध्यर्थ उनके समुचित प्रयोग की शक्ति का संचार हो सकता है। इस प्रकार वामन के मत से कवि के लिए शास्त्रज्ञान आवश्यक है जैसाकि उन्होंने अपनी वृत्ति में स्वयं लिखा है—

"ते दोषगुणालंकारहानादाने। शास्त्रादस्मात्। शास्त्रतो हि ज्ञात्वा दोषान् जह्याद् गुणालंकारांश्चाददीत।"[2]

'शब्दार्थौ काव्यम्' लक्षण का विस्तार

वामन के पश्चात् पर्याप्त काल पर्यन्त अलंकारवादी आचार्यों का युग चलता रहा जिन्होंने काव्य का लक्षण निरूपित करने में शब्दों और अर्थों के चमत्कारातिशय्य को ही प्रधानता दी। उन आचार्यों में रुद्रट, कुंतक, हेमचन्द्र, विद्यानाथ, वाग्भट और जयदेव आदि प्रमुख हैं जिन्होंने अपने काव्य-लक्षणों में काव्य की शब्दार्थमयता का उल्लेख कर उसके विशिष्ट धर्मों के रूप में गुणालंकारों तथा अदोषता आदि तत्त्वों की योजना करना ही उचित समझा। यों तो आचार्य मम्मट भी ध्वनिवादी आचार्य थे, किन्तु उनके द्वारा निर्धारित काव्य-लक्षण में भी शब्दार्थमयी काव्य-सर्जना के लिए 'तददोषौ शब्दार्थौ

---

१. वामन, काव्यालंकारसूत्रवृत्ति, १।१।२।

२. वही, १।१।४।

सगुणावनलंकृती पुनः क्वापि' जैसी पदावली ही प्रयुक्त हुई है। काव्य की शब्दार्थमयता स्वीकार करते हुए काव्य का स्वरूप-लक्षण निर्धारित करने वाले आचार्यों ने प्रायः एक-सी बातें कही हैं, अतः उनकी मान्यताओं में उल्लेखनीय अंतर अथवा मौलिकता न होने के कारण हम उन आचार्यों की काव्य-परिभाषाएँ मात्र उद्धृत करना पर्याप्त समझते हैं जिनसे इस तथ्य का अवबोध हो सके कि भारतीय काव्यशास्त्र की सुदीर्घ परम्परा में पर्याप्त काल पर्यन्त काव्य-सर्जना को एक ही प्रणाली में विवेचित करने का दृष्टिकोण बना हुआ चला था। उन आचार्यों की काव्यलक्षण-विषयक मान्यताएँ इस प्रकार हैं—

रुद्रट—ननु शब्दार्थौ काव्यम्।[१]

कुंतक—शब्दार्थौ सहितौ वक्रकविव्यापारशालिनि।
बंधे व्यवस्थितौ काव्यं तद्विदाह्लादकारिणि॥[२]

हेमचंद्र—अदोषौ सगुणौ सालंकारौ च शब्दार्थौ काव्यम्।[३]

विद्यानाथ—गुणालंकारसहितौ शब्दार्थौ दोषवर्जितौ।[४]

वाग्भट—शब्दार्थौ निर्दोषौ सगुणौ प्रायः सालंकारौ काव्यम्।[५]

जयदेव—निर्दोषा लक्षणवती सरीतिर्गुणभूषणा।
सालंकाररसानेकवृत्तिर्वाक्काव्यनामभाक्॥[६]

भोज—निर्दोषं गुणवत्काव्यमलंकारैरलंकृतम्।
रसान्वितं कविं कुर्वन् प्रीतिं कीर्तिं च विंदति॥[७]

अग्निपुराण में भी काव्यादि के लक्षण अत्यंत सारगर्भित सूत्रों में निरूपित किये गये हैं। उसके अनुसार ध्वनि, वर्ण, पद और वाक्य ही का नाम वाङ्मय है जिसके अंतर्गत शास्त्र, इतिहास और काव्य का समावेश होता है।[८] शास्त्र में शब्द की प्रधानता होती है तो इतिहास-ग्रंथों में इतिवृत्तात्मकता की। काव्य में अभिधा का प्राधान्य होता है जिसके कारण उसकी स्थिति शास्त्र और इतिहास दोनों से भिन्न है।[९] अग्निपुराण का मत है कि संसार में प्रथम तो मनुष्यजन्म की प्राप्ति ही दुर्लभ है और यदि वह प्राप्त हो भी जाय तो विद्या की प्राप्ति और अधिक दुर्लभ है। इसी क्रम में कवित्व, शक्ति, व्युत्पत्ति और विवेक भी दुर्लभ होते हैं।[१०] इससे स्पष्ट है कि अग्निपुराण में कवित्व-शक्ति की प्राप्ति को कठोर तपस्या और साधना का परिणाम कहा गया है। उसमें वर्ण-समुदाय का नाम

---

१. रुद्रट, काव्यालंकार, ३।१।
२. कुंतक, वक्रोक्तिजीवितम्, १।७।
३. हेमचंद्र, काव्यानुशासन, १।११।
४. विद्यानाथ, प्रतापरुद्रयशोभूषण, काव्यप्रकरण १।
५. वाग्भट, काव्यानुशासन, १।४।
६. जयदेव, चन्द्रालोक, प्रथम मयूख।
७. भोज, सरस्वतीकण्ठाभरण, १।२।
८. अग्निपुराण, अध्याय ३३७, कारिका २।
९. वही, कारिका २-३।
१०. वही, कारिका, ३-४।

'पद' और इष्ट अर्थ से युक्त पदों के समूह का नाम 'वाक्य' कहकर महर्षि ने काव्य की परिभाषा करते हुए लिखा है कि "जिस वाक्य समूह में अलंकार स्पष्ट रूप से प्रदर्शित हों तथा जो गुणों से युक्त और दोषों से मुक्त हो, उसे काव्य कहते हैं।"[1] काव्य के आधार वेद भी हो सकते हैं और लोक भी, किंतु अर्थ की दृष्टि से काव्य अयोनिज अर्थात् स्वतः सिद्ध है।

राजशेखर का दृष्टिकोण

राजशेखर ने काव्य को 'गुणवदलंकृतं च वाक्यमेव काव्यम्' कहा है जिसका अर्थ यह है कि गुणों और अलंकारों से युक्त वाक्य का नाम काव्य है। काव्य में गुणों और अलंकारों की उपयोगिता आचार्य वामन और उद्भट ने भी स्वीकार की है। कुछ विद्वानों का मत है कि काव्य में जो अलंकार-योजना की जाती है, वह असत्य और निराधार होने के कारण ग्राह्य नहीं होती। राजशेखर को यह मत स्वीकार्य नहीं प्रतीत होता। उनका मत है कि अतिशयोक्तिपूर्ण होने से ही कोई काव्य असत्य और त्याज्य नहीं माना जा सकता, क्योंकि काव्य में वर्णनीय व्यक्तियों और वस्तुओं के विषय में जो अर्थवाद या अतिशयोक्ति की जाती है, वह वेदशास्त्रों द्वारा प्रतिपादित और लोकव्यवहार द्वारा भी सुसंगत समझी गई है। जो लोग काव्य-वर्णित संभोगादि शृंगार में अश्लीलता का अंश देखकर काव्य को असन्मार्ग का उपदेष्टा मानते हैं, वे भी भ्रांतिग्रस्त हैं क्योंकि काव्य-कृति में जब जीवन की सर्वांगीणता चित्रित की जाती है तो उससे शृंगारादि रसों के विविध पक्ष किस प्रकार अस्पृष्ट रह सकते हैं? अनेक स्थलों पर काव्य के अंतर्गत जिस रूप में असत् प्रवृत्ति का प्रदर्शन होता है, वह विधि रूप से न होकर निषेध रूप में ही ग्राह्य समझा जाना चाहिए। काव्यशास्त्रियों ने विशेष प्रसंगों पर अश्लीलता का दोष भी नहीं माना है। विशुद्ध कलावादी दृष्टि से तो काव्य में श्लीलता और अश्लीलता का प्रश्न भी उपस्थित नहीं होता, क्योंकि काव्य-सर्जना और काव्यास्वाद की प्रक्रिया में जिस रूप में रसानुभूति कही गई है, वह वैद्यान्तरस्पर्शशून्य और अलौकिक विधानयुक्त होने के कारण लौकिक दृष्टि से सर्वथा भिन्न रहती है, जिसमें अनेक प्रकार के लौकिक पक्ष समाप्त हो जाते हैं। इसका यह अभिप्राय नहीं कि काव्य में अर्थवाद अथवा अतिशयोक्ति के नाम पर उच्छृंखल चित्रण हो तथा उसके द्वारा असत् पक्ष की पुष्टि की जाय। हमारे कथन का मूल मंतव्य तो केवल इतना ही है कि हम काव्य को प्रधानतः काव्यमयी दृष्टि से ही आस्वाद्य मानते हैं जिसमें साधारणीकरण का संयोग होने पर जीवन का केवल सात्विक उल्लास रह जाता है। शृंगारिकता का प्रतिषेध काव्य की सरसता और रमणीयता के अपकर्ष का भी कारण हो सकता है। इस विचार को गम्भीर दृष्टिकोण से बोधगम्य करके ही हमें अपना मत-

---

१. अग्निपुराण, अध्याय ३३७, कारिका ७

निर्धारण करना चाहिए। यों तो वेद-शास्त्रों में भी अश्लील भावों के चित्रण हुए हैं[1] किंतु उनके कारण कौन किस सुधीजन ने उनका बहिष्कार किया है ? वस्तुतः काव्य-लोक अथवा सारस्वत-मार्ग इस दृश्यमान जगत् से भिन्न और अद्वितीय है, जिसकी संगति नियतिकृत नियमों के साथ सम्पूर्णतया नहीं बैठ पाती। इन बातों का ध्यान रखकर ही काव्य-विषयक दृष्टिकोण बनाना युक्तिसंगत है।

रसात्मक वाक्य ही काव्य का स्वरूप-लक्षण है

भारतीय काव्यशास्त्र में काव्य के स्वरूप-लक्षण का भी एक विशेष क्रम है। अलंकारशास्त्र के आदि युग में काव्य को 'शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्' कहा जाता रहा जिसमें लक्षण-दोष की छाया देखकर मम्मट आदि परवर्ती आचार्यों ने उसे विशिष्ट पदावली से युक्त कर दिया और उस शब्दार्थयुगल को काव्य माना जो अदोष, सगुण और कहीं-कहीं पद-अलंकृत भी हो। विश्वनाथ ने 'शब्दार्थौ काव्यम् के स्थान पर 'रसात्मकं वाक्यं काव्यम्' पद का प्रयोग कर उसकी रसात्मक विशिष्टता में ही काव्य का अधिवास माना। उनकी विचारधारा के अनुसार रसात्मक वाक्य की काव्यरूपता से यह निष्कर्ष निकलता है कि वाक्य काव्य का शरीरस्थानीय है जबकि रस उसका आत्मस्थानीय। रसध्वनिवादी आचार्यों ने भी रस-ध्वनि को काव्य का आत्मतत्त्व माना था किंतु उनकी दृष्टि से काव्य की शब्दार्थरूपता ही उसका शरीरतत्त्व था। विश्वनाथ ने वाक्य को काव्यपद से निर्दिष्ट किया जिसका अभिप्राय यह था कि उसमें योग्यता, आकांक्षा और आसत्ति संज्ञक धर्मों का भी समावेश होना चाहिए। वाक्य के लिए अभीष्ट जिस धर्मत्रय का उल्लेख आचार्यों द्वारा किया गया है वे तो साधारण वाग्व्यवहार में भी वांछनीय हैं अतः उनकी सामान्य स्थिति में काव्य का आत्मतत्त्व कैसे समाहित हो सकता है, इसी आशंका के निवारणार्थ विश्वनाथ ने उसके पूर्व 'रसात्मक' पद जोड़ा है अर्थात् केवल वही वाक्य काव्य कहा जा सकता है जिसमें रसात्मकता हो। प्रश्न होता है कि यों तो काव्य के लिए रसात्मकता उसका प्राण-तत्त्व है किंतु क्या वह वाक्यगत होने पर ही काव्य-पद की अधिकारिणी बनती है ? क्या वाक्य-योजना के लिए अभीष्ट पदोच्चय की संगति ही काव्य की संगति है अथवा उसके लिए वर्णों और पद-पदार्थों का भी महत्त्व है ? भारतीय मनीषियों ने

---

१. राजशेखर ने काव्यमीमांसा के पदवाक्य-विवेक के अंतर्गत वेदशास्त्रों से कुछ अश्लील अर्थबोधक अंश उद्धृत किये हैं जो इस प्रकार हैं :

(अ) योनिरुदूलूखलं शिश्नं मुशलं मिथुने तत् प्रजननक्रियते।
(यजुर्वेद) अर्थात् योनि रूपी ऊखल और शिश्न रूपी मूसल—इन्हीं दोनों का नाम मिथुन है, जिससे प्रजनन अर्थात् सन्तानोत्पत्ति होती है।

(आ) शास्त्र में अश्लीलता के वर्णन का एक उदाहरण इसी प्रकार है :
यस्याः प्रसन्नधवलं चक्षुः पर्यन्तपक्ष्मल।
नवनीतोपमं तस्या भवति स्मरमंदिरम्।
अर्थात् जिस स्त्री के नेत्र प्रसन्न, धवल और पक्ष्मपर्यन्त विस्तृत होते हैं, उसका स्मरमंदिर (प्रजनेन्द्रिय) मक्खन के समान कोमल होता है।

अक्षर-ब्रह्म का स्तवन करते हुए जब सम्यक्ज्ञात तथा सुप्रयुक्त शब्द-मात्र को कामधेनुवत् अभीष्ट फलदाता कहा है तो क्या काव्य-रचना में अक्षर तथा शब्द का विशिष्ट महत्त्व नहीं होता ? क्या वर्णों का समुच्चय अथवा शब्दों का समुदाय ही वाक्य-रूप में परिवर्तित होकर काव्य कहला सकता है अथवा उनकी स्वतंत्र स्थिति भी है ? क्या वक्रोक्ति-सिद्धांत में निरूपित वर्णवक्रता से लेकर प्रबंधवक्रता, रीति-सिद्धांत-विवेचित विशिष्ट पदरचना, ध्वनि-सिद्धांतप्रतिपादित वस्तु, अलंकार तथा रसध्वनि एवं औचित्य-सिद्धांत में व्याख्यात वर्णौचित्य प्रबंधौचित्य पर्यन्त किया गया वाग्विस्तार व्यर्थ का प्रलाप है ? क्या विश्वनाथ प्रतिपादित वाक्य-पद में इन समस्त तत्त्वों को समाहित करने का सामर्थ्य है ? अभिप्राय यह है कि 'वाक्य' को ही काव्य मानने पर इसी प्रकार के ऐसे अनेक प्रश्न उपस्थित होते हैं जिनको दृष्टिगत रखकर यह नहीं कहा जा सकता कि उसमें काव्य के स्वरूप-लक्षण का कोई असाधारण धर्म निरूपित हो गया है। शब्दार्थमयी वाणी का प्रसार तो वर्ण से लेकर वाक्य पर्यन्त ही नहीं अपितु महाकाव्य पर्यन्त भी है, अतः काव्य-सत्ता की परिसीमा वाक्य मात्र में ही मानने पर अनेक प्रकार की विसंगतियां भी हो सकती हैं। आचार्य जयंत भट्ट के अनुसार तो वाक्य भी एक प्रकार का पदनिकुरम्ब ही है जिसमें अंतिम पद तो अनुभव का विषय रहता है तथा पूर्ववर्ती पद स्मृति-कोष से निस्सृत होते रहते हैं। अतः काव्य को शब्दार्थमय मानने से कोई दुविधा होती है तथा वाक्य को काव्य मानने से काव्य का निर्दोष लक्षण बन जाता है, ऐसा भी नहीं कहा जा सकता। पंडित-राज ने काव्य को रमणीयार्थ प्रतिपादक शब्दमात्र माना है जो एक प्रकार से विश्वनाथ-कृत काव्य-लक्षण का खंडन ही है। उसका विवेचन पंडितराज-कृत काव्यलक्षण प्रसंग निरूपण के अंतर्गत किया गया है।

व्यक्तिवादी और अनुमितिवादी आचार्यों का काव्य-लक्षण-विमर्श

काव्य के स्वरूप-लक्षण के विषय में व्यक्तिवादी और अनुमितिवादी आचार्यों के दृष्टिकोण में अंतर है। व्यक्तिवादियों ने विशिष्ट शब्द और विशिष्ट अर्थ के साहित्य को 'काव्य' तथा ध्वनि या रस को उससे भिन्न उसकी आत्मा माना है जबकि अनुमितिवादी आचार्य रसयुक्त शब्द और अर्थ को काव्य की अभिधा प्रदान करते हैं। व्यक्तिवादियों के मत से कोई काव्य नीरस होने पर भी अपने गुणों, अलंकारों तथा वस्तु आदि ध्वनियों के कारण भी चमत्कारपूर्ण हो सकता है किंतु अनुमितिवादी आचार्य केवल रस द्वारा ही चमत्कार की सृष्टि स्वीकार करते हैं, क्योंकि अपनी रसशून्यता में कोई भी कृति काव्य कही ही नहीं जा सकती। इसका अभिप्राय यह है कि व्यक्तिवादियों की दृष्टि से 'रस-ध्वनि' काव्य का एक उत्तम प्रकार है क्योंकि उसके अन्य भेद (वस्तुध्वनि, अलंकार-ध्वनि, गुणीभूतव्यंग्य और वाच्यालंकार आदि) भी हो सकते हैं किंतु अनुमितिवादी केवल रसमयता में ही काव्य का सामान्य रूप मानते हैं। अनुमितिवादियों की इस सिद्धांत में कोई आस्था ही नहीं है कि रस की अनेकता की दृष्टि से किसी एक रस से युक्त काव्य को किसी अन्य रस वाले काव्य की अपेक्षा विशिष्ट कहा जाय। ऐसी मान्यता को वे अव्याप्ति दोषयुक्त कहकर उसका खंडन करते हैं। उनका कथन है कि लक्षण किसी एक

अंग के अनुसार न होकर सर्वांगीण होना चाहिए जिससे उसमें किसी भी प्रकार की अव्याप्ति, अथवा अतिव्याप्ति न रहे। उन्होंने ध्वनिकार के काव्य-लक्षण को काव्य का सामान्य लक्षण न मानकर ध्वनिकाव्य का विशेष लक्षण माना है जिसका अभिप्राय यह है कि वह सब प्रकार के काव्यों का सामान्य धर्म नहीं कहा जा सकता। वस्तुतः उन्हें ध्वनिलक्षण में 'काव्यविशेषः' पद सुग्राह्य प्रतीत नहीं होता और वे उसके स्थान पर केवल 'काव्य' शब्द का प्रयोग करना ही पर्याय समझते हैं। इस विषय में व्यक्तिविवेककार महिमभट्ट का अभिमत उल्लेखनीय है—

"अत एव च न गुणालंकारसंस्कृतशब्दार्थमात्रशरीरं तावत् काव्यम्, तस्य यथोक्त व्यंग्यार्थोपनिबधे सति विशिष्टत्वमिति शक्यं वक्तुम्। तस्य रसात्मताभावे मुख्यवृत्या काव्यव्यपदेश एव न स्यात्, किमुत विशिष्टत्वम्।"[1]

'काव्य' के लिए 'काव्य-विशेष' पद का प्रयोग चिन्त्य है: महिमभट्ट का अभिमत

ध्वनिकार ने काव्य का स्वरूप-लक्षण विवेचित करते हुए जिस 'काव्य-विशेष' पद का प्रयोग किया है, वह आचार्य महिमभट्टको मान्य नहीं है। उनका मत है कि केवल काव्य-सामान्य को ही 'ध्वनि' नाम का विषय मानना उचित है न कि उसके किसी विशेष भेद को। उन्होंने समासोक्ति आदि अलंकारों से युक्त वाक्यों को ध्वनिकार की भाँति गुणीभूत व्यंग्य न मानकर ध्वनि-रूप ही माना है क्योंकि वे भी अपनी रसमयता के कारण काव्य ही हैं। उनका तो स्पष्ट कहना है कि एकमात्र रस ही सभी प्रकार के काव्यों का सामान्य लक्षण है और वह केवल ध्वनि में ही न रहकर वस्तु तथा अलंकार में भी रहता है, अतः वह किसी में नहीं रहने वाला प्रतियोगी न होने के कारण किसी का अंग अथवा प्रकार नहीं कहा जा सकता। वस्तुतः रसरूप चमत्कार अपने आप में ही पूर्ण विश्रांत है, अतः उसे अंगी रूप में मान्यता प्रदान करना ही युक्तिसंगत है।[2] ध्वनि-वादी आचार्यों ने विशिष्ट शब्दार्थ को काव्य मानकर ध्वनि को उसकी आत्मा माना था तथा उसके तीन भेद (वस्तु, अलंकार और रस) किये थे, किन्तु अनुमितिवादी आचार्यों ने रस को ही काव्य का निष्पादक तत्त्व स्वीकार किया, अतः उनकी दृष्टि में सभी काव्य ध्वनि-काव्य ही हैं जिसके अंतर्गत वस्तु तथा अलंकार स्वतः समाविष्ट हो जाते हैं। उनके मतानुसार जब काव्यत्व के लिए आश्रयरूप से उत्कृष्टतम रसात्मक वस्तु का मिलना सम्भव है तो गौण वस्तु का आश्रय लेना उचित नहीं है, क्योंकि गौण और मुख्य वस्तुओं में मुख्य के प्रति सम्प्रत्यय होना नियमगत है। मेघदूत आदि काव्यों को जिस रूप में विशिष्ट श्रेणी प्रदान की जाती है, वह केवल अभिधेय अर्थ-विशेष से समारोपित औप-चारिक प्रयोग है, न कि मुख्य तथा वास्तविक प्रयोग। यदि हमें कोई ऐसे काव्य के आकलन का अवसर प्राप्त हो जिसमें रस उसका कोई विशिष्ट प्रकार बनकर उपस्थित हुआ हो तथा उसकी स्थिति गौण हो तो भी वह उसका आश्रय नहीं बन सकेगा। किसी भी

---

१. महिमभट्ट, व्यक्तिविवेक, प्रथम विमर्श, चौखम्बा प्रकाशन, पृ० १०३।

२. व्यक्तिविवेक, प्रथम विमर्श, पृ० १०५।

विषय की उपपत्ति में या तो विशिष्ट का लक्षण होता है या लक्षण से विशेष का ज्ञान होता है। महिमभट्ट ने काव्य के विशिष्ट लक्षण के कथन से ही ध्वनि की प्रतीति सिद्ध की है और बतलाया है कि सभी काव्य रसमय होते हैं और उनकी रसमयता में ध्वनि शब्द का व्यवहार करना सर्वथा समीचीन है, अतः 'काव्य के स्थान पर काव्य-विशेष' का प्रयोग करना उचित नहीं है।[1] महिमभट्ट का यह मत उनके दृष्टिकोण से ठीक कहा जा सकता है, किंतु ध्वनिकार ने रस की प्रधानता तथा गौणता के प्रयोजन से जो काव्य-भेद किये हैं वे भी एक संपुष्ट धरातल पर आधारित हैं। वस्तुतः इस प्रकार का मत-वैभिन्न्य तत्त्व-दृष्टि से एक ही विचारबिन्दु के दो रूप कहे जा सकते हैं।

काव्य-लक्षण के प्रसंग में ध्वनिकार का 'काव्यविशेष' पद रुय्यक को भी स्वीकार नहीं है

महिमभट्ट की भाँति रुय्यक ने भी ध्वनिकार द्वारा प्रयुक्त 'काव्य विशेष' पद पर आपत्ति की है। उनका कहना है कि ध्वनिकार ने काव्य के साथ जिस 'विशेष' पद का संयोजन किया है उसका अर्थ या तो प्रभेद हो सकता है या अतिशय। प्रभेद-पक्ष की दृष्टि से उसमें अव्यापित दोष आता है तथा अतिशयपक्ष की दृष्टि से असम्भव दोष। जहाँ तक काव्य के वैशिष्ट्य का प्रश्न है वह या तो स्वरूपकृत हो सकता है या रसकृत। काव्य में स्वरूपकृत वैशिष्ट्य संभव नहीं है, क्योंकि सभी काव्य रसयुक्त होने से एक रूप या सामान्य मात्र माने जाते हैं। रस का वैशिष्ट्य पाँच प्रकार का हो सकता है जो क्रमशः (१) चमत्कार के अतिशय से, (२) भिन्न-भिन्न भेदों से, (३) रसरहित सुंदर शब्दार्थों से, (४) वस्तुमात्र व्यंग्य से तथा (५) प्रधानता से प्रतीत होता है। जिस प्रकार काव्य का स्वरूपकृत वैशिष्ट्य संभव नहीं है उसी प्रकार रस का अतिशय चमत्कार से उत्पन्न वैशिष्ट्य भी नहीं माना जा सकता। यदि काव्य में श्रृंगार और करुण आदि रस-भेदों में वैशिष्ट्य माना जाय तो भी युक्तिसंगत नहीं है, क्योंकि उस स्थिति में ऐसे अनेक विकल्प उपस्थित होंगे कि किस रस से वैशिष्ट्य होगा और किससे नहीं, अथवा सभी रस विशिष्टतापूर्ण होंगे। यदि किसी एक ही रस से वैशिष्ट्य की उत्पत्ति मानी जाय तो दूसरे काव्यों में रस रहते हुए भी वैशिष्ट्य नहीं माना जायगा जिसके फलस्वरूप उसमें अव्याप्ति होगी। सभी रसों से वैशिष्ट्य मानने का कोई अर्थ ही नहीं हो सकता। यदि रसरहित सुन्दर शब्दार्थों के आधार पर काव्य में वैशिष्ट्य माना जाय तो भी उचित नहीं है, क्योंकि रसरहित शब्दार्थ को तो काव्य ही नहीं माना जा सकता, फिर भला उनमें वैशिष्ट्य का प्रश्न ही कैसे आ सकता है? वस्तुमात्र आदि के वैशिष्ट्य से भी काव्य में वैशिष्ट्य मानना अनुचित है, क्योंकि वस्तुमात्र आदि तो व्यंजक हैं और व्यंजक के वैशिष्ट्य से व्यंग्य में वैशिष्ट्य नहीं होता। यदि वस्तुमात्र आदि के वैशिष्ट्य से व्यंग्य में भी वैशिष्ट्य स्वीकार किया जाय तो जहाँ केवल रस होता है, उस काव्य में ध्वनित्व नहीं रहेगा और वहाँ अव्याप्ति दोष हो जायगा। इतना नहीं, प्रहेलिका आदि काव्यों में, जहाँ रस का अस्तित्व न रहकर वस्तुमात्र की ही सत्ता रहती है, ध्वनित्व का समन्वय

---

१. व्यक्तिविवेक, प्रथम विमर्श, पृ० १०७।

हो जायगा जिससे अतिव्याप्ति दोष होगा। चूँकि रस अंगीभावपक्ष में कभी अंग नहीं होता और वह स्वात्मविश्रांत रहता है, अतः उसमें वैशिष्ट्य उत्पन्न करने की क्षमता भी नहीं हो सकती। इस प्रकार रुय्यक के मत से भी काव्य में स्वरूपकृत तथा रसकृत वैशिष्ट्य संभव ही नहीं है और यदि यह संभव भी हो तो भी उसका शब्दतः कथन आवश्यक नहीं है, क्योंकि उसका बोध तो लक्षण के बल पर स्वतः ही हो जाता है।

'सरसता' काव्य का अनिवार्य लक्षण है

अनुमितिवादियों के मत से सरस काव्य को ही काव्य कहा जा सकता है क्योंकि वह निरतिशय सुखास्वादरूप है। स्पष्ट है कि जो काव्य रस से समन्वित होगा वह 'विशेष' न होकर सामान्यमात्र होगा। सामान्य-काव्य में वैशिष्ट्य की स्थिति तभी स्वीकार की जा सकती है, जब उसके विशेषणीभूत रस में वैशिष्ट्य होता है। इसका स्पष्टीकरण इस उदाहरण द्वारा किया जा सकता है जिस प्रकार किसी वस्त्र को विविध रंगों से रंजित करने पर उसमें रक्तत्व और पीतत्व आदि विशेषताओं का समावेश होता है, किन्तु यदि उसमें कोई एक ही रंग होता है तो उससे युक्त वस्त्र में मनुष्यता से युक्त मनुष्यों की भाँति एक समानता रहती है, उसी प्रकार ध्वनिलक्षण में जब रस अथवा उसके पर्यायवाची ध्वनिकाव्य को रस रूप में अपनाया गया है तो उस लक्षण में सामान्य ध्वनि का ही निरूपण है जिसके कारण काव्य के साथ विशेष शब्द का उपादान अनावश्यक है। रस के निरतिशय सुखास्वादन का स्वरूप पादटिप्पणियों में उद्धृत कारिकाओं में[1] भी स्पष्ट किया गया है जिससे भी यही सिद्ध होता है कि जब रस के अभाव में काव्य की स्थिति ही असम्भव है तो फिर 'काव्य-विशेष' का अस्तित्व कैसे स्वीकार किया जाय क्योंकि वह रसाभाव की स्थिति में तो कवियों, सहृदयों और प्रेक्षकों के लिए चतुर्वर्ग-फलप्राप्ति तथा आस्वाद्यता का विषय ही नहीं बन सकता।

महिमभट्ट के मतानुसार काव्य-लक्षण

व्यक्तिविवेककार महिमभट्ट के अनुसार 'कवि का वह व्यापार जो विभाव आदि की सम्यक् योजना-स्वरूप हो तथा जिसके द्वारा अव्यभिचारी भाव से रसाभिव्यक्ति हो सके, काव्य कहलाता है। उसके दो प्रकार हैं—१. अभिनेयार्थक काव्य और २. अनभिनेयार्थक काव्य।[2] काव्य के उपर्युक्त लक्षण से काव्य की शब्द-व्युत्पत्ति की ओर संकेत किया गया है। काव्य-कौतुक में काव्य की व्युत्पत्ति 'कवेः कर्म' अथवा 'तस्य कर्म स्मृतं काव्यम्' की गई है जिससे स्पष्ट है कि काव्य का कारण कवि है। हृदयदर्पण में 'तत्कर्त्ता

---

१. पाठ्यादथ ध्रुवागानात्ततः सम्पूरिते रसे।
तदास्वादभरैकाग्रो हृष्यत्यन्तर्मुखः क्षणम्।
ततो निर्विषयस्यास्य स्वरूपावस्थितौ निजः
व्यज्यते ह्लाद निष्यंदो येन तृप्यंति योगिनः।

२. कवि व्यापारो हि विभावादिसंयोजनात्मा रसाभिव्यक्त्यव्यभिचारी काव्यमुच्यते। तच्चाभिनेयाचनभिनेयत्वे० द्विविधम्॥—व्यक्तिविवेक, चौखम्बा प्रकाशन, पृ० १०१।

च कविः प्रोक्तो भेदेऽपि हि तदस्ति यद्' द्वारा काव्य को कविमूलक माना गया है। महिमभट्ट ने काव्य को 'विभावादिसंयोजनात्मा' कहा है जिसका अभिप्राय यह है कि विभावादि के सम्यक् संयोजन में ही काव्य की आत्मा प्रतीत होती है और वह प्रतीति निश्चय ही रसमुखा पेक्षी है।

रमणीयार्थप्रतिपादक 'शब्द' काव्य है

पंडितराज जगन्नाथ ने काव्य का स्वरूप-लक्षण निर्धारित करने के पूर्व इस तथ्य को ध्यान में रखा था कि यों तो गुणों और अलंकारों के वैशिष्ट्य तथा काव्येतर विषयों के माध्यम से भी काव्य का स्वरूप-बोध किया जा सकता है किन्तु वैसा करने पर काव्य-विवेचन की प्रकृत संसिद्धि नहीं हो सकती। उनके सम्मुख पूर्ववर्ती आचार्यों द्वारा निरूपित काव्य-लक्षणों का अपार कोष विद्यमान था जिसका सम्यक्रीत्या आलोड़न-विलोड़न करने के पश्चात् ही उन्होंने काव्य का लक्षण-सूत्र निरूपित करते हुए लिखा—'रमणीयार्थप्रति-पादकः शब्दः काव्यम्।' इस सूत्र के अनुसार रमणीय अर्थ के प्रतिपादक शब्द का नाम काव्य है। सामान्य दृष्टि से तो यह सूत्र साधारण कोटि का प्रतीत होता है, किन्तु इसकी अर्थगुरुता अत्यंत रहस्यमय है। इस सूत्र में यद्यपि 'शब्द' पद प्रधान है और 'शब्द' को ही काव्य माना गया है तथापि उस 'शब्द' पद के पूर्व 'रमणीय अर्थ' के प्रतिपादन का गुण या विशेषण जोड़कर पंडितराज ने उसे अत्यंत तत्वसंवलित बना दिया है। इस सूत्र का प्रत्येक पद अपनी स्वायत्त स्थिति में महत्त्वपूर्ण होने के साथ-साथ पारस्परिक संबंध में भी युक्तिपूर्वक अनुस्यूत है। शब्द को तो ब्रह्मस्वरूप कल्प कहा गया है, अतः यदि उसे काव्य कह दिया जाय तो काव्य के लक्षण में किसी भी प्रकार का अपकर्ष न होकर उत्कर्ष ही आता है। शब्द की शक्ति को अतिव्याप्ति दोष से विमुक्त रखने तथा उसे काव्यगत सौन्दर्य की गरिमा से विभूषित करने की दृष्टि से पंडितराज ने उसे अर्थ की रमणीयता के साथ आवद्ध कर दिया है जिसका अभिप्राय यह है कि 'घटपटादि' जैसे साधारण शब्द या 'घटमानय' जैसे सामान्य अर्थप्रतिपादक पद काव्य नहीं कहे जा सकते। इस सूत्र में 'शब्द' पद की योजना इस हेतु की गई है कि 'शब्द' पद के अभाव में तो किसी रमणी का कटाक्ष-निक्षेप भी काव्य कहा जा सकता है क्योंकि उसमें भी रमणीयता का अंश कम नहीं होता। लक्षण में 'रमणीय' के साथ 'अर्थ' पद जोड़ने का यह अभिप्राय प्रतीत होता है कि उसके द्वारा काव्यशास्त्र में स्वीकृत तीनों प्रकार के अर्थों (वाच्य, लक्ष्य और व्यंग्य) का आभास मिल जाय। वस्तुतः 'प्रतिपादक' शब्द में इन तीनों प्रकार के अर्थों का ध्वनन है, क्योंकि यदि ऐसा न होता तो लक्षणकार उसके स्थान पर 'वाचक' अथवा 'लक्षक' आदि कोई अन्य शब्द रख सकता था। विद्वान् आचार्य ने व्याकरण आदि के शब्दों द्वारा काव्यत्वापत्ति से बचने के लिए उक्त लक्षण में 'अर्थ' पद का सन्निवेश किया है। इस प्रकार इस सूत्र का प्रत्येक पद अपनी निजी क्षमता और पारस्परिक संगति रखता है और इस लक्षण की योजना द्वारा पंडितराज जगन्नाथ ने पूर्व-निर्धारित लक्षणों की विद्यमानता में भी अपना नवीन लक्षण प्रस्तुत कर काव्यानुशीलकों के चिंतन के लिए एक मौलिक सामग्री प्रदान करने का उपक्रम किया है।

रमणीयता 'लोकोत्तर आह्लादजन्य चमत्कृति' का ही नाम है

पंडितराज द्वारा निरूपित काव्य-लक्षण में 'रमणीय' शब्द विशेष महत्त्वपूर्ण है। उन्होंने लोक के रुचिवैचित्र्य के कारण उसकी अर्थनिष्ठा में संपादित अव्यवस्थाजनक दोष के निवारणार्थ इस पद की समुचित व्याख्या भी कर दी है। उनके शब्दों में 'रमणीयता' का अर्थ है 'लोकोत्तराह्लादजनकज्ञानगोचरता'। इसका आशय यह है कि रमणीयता में अलौकिक आनंद के उद्भावन की शक्ति होती है जो काव्य-कृति के आस्वादन द्वारा ज्ञानगोचर अथवा अर्थबोधक बनाई जाती है। उन्होंने 'लोकोत्तरत्व' पद का निर्वचन अत्यंत विद्वतापूर्ण विधि से किया है। उनके शब्दों में 'लोकोत्तरत्व' पद की व्याख्या है 'आह्लादगतश्चमत्कारत्वापरपर्यायोऽनुभवसाक्षिको जाति विशेषः।' इस व्याख्या से स्पष्ट है कि पंडितराज जगन्नाथ लोकोत्तर आह्लाद को न तो सातिशय रूप मानते थे और न निरतिशय रूप। उस आनंद को सातिशय रूप मानने का अर्थ तो यह हो सकता है कि उस आनंद से श्रेष्ठतर इतर आनंदों की संभावना सहज सुगम है जिसके द्वारा व्यक्ति-भेद और रुचिभेद की उपस्थितिवश आनंद के रूप में अव्यवस्था भी आ सकती है। उस आनंद को निरतिशय मानने से यह आशय निष्यंदित हो सकता है कि उस आनंद से बढ़कर किसी अन्य आनंद की कल्पना की ही नहीं जा सकती। वैसी स्थिति में वह आनंद ब्रह्मानंद का ही स्वरूप बन जायगा जिसके सम्मुख काव्यानंद की कोई स्वतंत्र सत्ता अथवा विशिष्टता नहीं रहेगी। वस्तुतः लोकोत्तर आह्लाद से पंडितराज का इतना ही अभिप्राय है कि काव्यगत रमणीयता का आनंद लौकिक सुखों से विलक्षण प्रकार का होता है। उसका लोकोत्तररूप इस प्रकार से घटत्व और पटत्व जैसा आनंद में रहने वाला एक 'जाति-विशेष' है जिसे चमत्कारत्व का पर्याय कहा जा सकता है जिसकी सत्ता-संसिद्धि के लिए सहृदयों के अनुभव को ही प्रमाण के रूप में उपस्थित किया जा सकता है। इस प्रकार पंडितराज ने क्रमशः शब्द और उसके रमणीयतत्त्व के उपरांत लोकोत्तरत्व और आह्लाद की सामान्य भूमिका प्रस्तुत कर इस तथ्य की ओर ध्यान दिया है कि उस लोकोत्तर आनंद का कारण क्या है? इस विषय का विवेचन करते हुए उन्होंने लिखा है कि लोकोत्तर आनंद की सृष्टि का कारण पुनः पुनः अनुसंधानात्मक तदवच्छिन्न भावना-विशेष' है। उनके कहने का तात्पर्य यह है कि काव्यगत लोकोत्तर आनंद में जाति से अवच्छिन्न पुनः पुनः अनुसंधानरूप भावना-विशेष ही कारण है, क्योंकि विशिष्ट और धारावाहिक शाब्दबोधात्मक अनुभव ही उसका जनक होता है। इस कथन को अधिक सुगम बनाने की दृष्टि से कहा जा सकता है कि जब हम किसी काव्यवाक्य का पठन-पाठन अथवा श्रवणचिंतन करते हैं तो हमें सर्वप्रथम उसमें प्रस्तुत शब्द-योजना की सामग्री द्वारा वाच्यार्थ अथवा व्यंग्यार्थ का बोध होता है जिसकी अभिज्ञता सहृदयजनों की प्रीति का आधार बनती है। उसका परिणाम यह होता है कि उस आनंद का अधिकाधिक आस्वादन प्राप्त करने के प्रयोजन से सहृदयजन पुनः पुनः उन शब्दों का अनुसंधान करते हैं जो काव्य के अर्थ-बोध के व्यंजक और भावना-विशेष के प्रस्फुरण के उपजीव्य हों। इस प्रक्रिया द्वारा आनंद-बोध की अजस्र धारा सहृदयों की

आत्मा में प्रवाहित हो जाती है जिसके कारण वे लोकोत्तर आनंद की-सी उपलब्धि करने लगते हैं। मुख्यतः काव्य के व्यंग्यार्थ में इस प्रकार के आनंदोद्‌बोध की शक्ति होती है, किन्तु जहाँ व्यंग्यार्थ नहीं भी होता, वहाँ पर भी विलक्षण वाच्यार्थ की तादृश बोध-धारा अर्थात् विशेष प्रकार की भावना-शक्ति भी आनंद की सृष्टि करने में सहज समर्थ है।

काव्योपलब्ध आनंद की लोकोत्तरता का निर्देश इस कथन से भी किया जा सकता है कि वह 'पुत्रस्ते जातः' तथा 'धनं ते दास्यामि' जैसे वाक्यों के अर्थ-बोध से प्राप्त होने वाले आनंद से भिन्न कोटि का है। इन वाक्यों के अर्थबोध से उपलब्ध की जाने वाली आनंद-भावना में लौकिक अंश ही मुख्य होता है और उसमें सहृदयजनों के चित्त-प्रसादन की लोकोत्तर शक्ति नहीं होती। पंडितराज ने अपने काव्य-लक्षण में यद्यपि 'शब्द' पद का एकवचनांत प्रयोग किया है, तथापि वह एकत्व संख्या-विवक्षित नहीं है। उसमें काव्यार्थ-बोध की तीनों शक्तियों का समाहार है। इन सब बातों का ध्यान रखकर यही कहना समुचित है कि पंडितराज के मतानुसार काव्य का मूल आधार शब्द या शब्द-समूह है जिसकी अंतश्चेतना में अर्थ की रमणीयता प्राण-तत्त्व के रूप में समाहित रहती है तथा जिसका सौन्दर्य-बोध अपनी अनुसंधानात्मक भावना-विशेष के कारण सहृदय प्रमाता के मन में ऐसे लोकोत्तर आनंद की सृष्टि करने में समर्थ है जिसे सहृदयजनग्राह्य और चमत्कार-पर्याय कहा जा सकता है। संक्षेप में पंडितराज के काव्यलक्षण का निष्कर्ष निम्नलिखित है—

"इत्थं च चमत्कारजनकभावनाविषयार्थप्रतिपादक शब्दत्वं, यत्प्रतिपादितार्थ-विषयकभावनात्वं चमत्कारजनकता वच्छेदकं तत्त्वम्, स्वविशिष्टजनकतावच्छेदकार्थ-प्रतिपादकतासंसर्गेण चमत्कारत्ववत्वमेव वा काव्यत्वमिति फलितम्।[1]"

पंडितराज-कृत मम्मट के काव्यलक्षण का खण्डन

पंडितराज ने अपने पूर्ववर्ती आचार्यों के काव्य-लक्षणों का परिशीलन करने के पश्चात् ही अपना काव्यलक्षण निर्मित किया था। उनके पूर्ववर्ती आचार्य शब्दार्थयुगल में काव्य की सत्ता मानते थे, किन्तु पंडितराज को यह समुचित प्रतीत नहीं हुआ। यद्यपि उन्होंने सभी आचार्यों का उल्लेख न करते हुए केवल आचार्य मम्मट के काव्यलक्षण को ही मुख्य आधार बनाकर इस बात का खंडन किया है कि शब्द और अर्थ की युगलता में काव्य होता है तथापि उनके विवेचन में वे सभी बातें आ गई हैं जो काव्य की शब्दार्थमय स्थिति के विरोध में उपस्थित की जा सकती हैं। उन्होंने अपने मत की संपुष्टि के लिए यह तर्क प्रस्तुत किया है कि 'काव्यमुच्चैः पठ्यते' 'काव्यादर्थोऽवगम्यते,' काव्यंश्रुतम् अर्थो न ज्ञातः' जैसे विश्वजनीन व्यवहारों से विशिष्ट प्रकार का शब्द ही काव्य सिद्ध होता है, क्योंकि 'काव्यं श्रुतं' जैसे प्रयोग काव्य की कर्णेन्द्रिय-ग्राह्य शब्दरूपता ही प्रमाणित करते हैं। 'काव्य से अर्थ समझा जाता है' कहने का यह अभिप्राय कदापि नहीं होता कि 'अर्थ' भी काव्यरूप होता है। यदि अर्थ भी काव्यरूप होता तो उसका उच्चावच पाठ करना संभव नहीं हो सकता था। काव्य को अर्थमिश्रित कहना भी समीचीन नहीं है, क्योंकि

१. रसगंगाधर, पंडितराज जगन्नाथ, चौखम्बा विद्याभवन, बनारस, पृ० ११।

अर्थ-मिश्रित काव्य का श्रवण भी समुचित नहीं जान पड़ता। सच तो यह है कि पंडितराज के मत से शब्दार्थ-युगल को काव्य मानने के पक्ष में कोई प्रमाण नहीं है अतः शब्दमात्र को ही काव्य मानना सर्वथा युक्तिसंगत है। उनका तो स्पष्ट कहना है कि जो लोग शब्द-मात्र के प्रयोग में लक्षणा का उपपादन करते हुए काव्य की शब्दार्थयुगलता सिद्ध करना चाहते हैं वे भ्रांतिग्रस्त हैं, क्योंकि शब्द और अर्थ दोनों में काव्यपद की अभिधाशक्ति को सिद्ध करने वाला कोई प्रमाण नहीं है। ऐसी स्थिति में व्यवहाररूप प्रमाण से शब्दमात्र में काव्यप्रसक्ति मानना सर्वथा समीचीन है।

पंडितराज ने शब्दविशेषमात्र में काव्यपद की शक्ति निर्धारित कर शब्द-मात्र-वृत्ति से ही काव्य का लक्षण निरूपित करना उचित समझा है, न कि शब्दार्थमयी उभय-वृत्ति से। उन्होंने शब्दविशेषमात्रवृत्तिका समर्थन वेद, पुराण और इतिहास आदि ग्रंथों के लक्षणों से भी विवेचित किया है। जो लोग रसोद्‌बोधन की क्षमता शब्दमात्र में न मानकर शब्दार्थयुगल में मानते हैं, उसे पंडितराज उचित नहीं समझते। उनका मत है कि रस को उद्‌बुद्ध करने वाली किसी भी विषयवस्तु को काव्य मानने पर तो राग-विशेष को भी काव्य मानना पड़ेगा और इस प्रकार के दृष्टि-बिन्दु का अंततः यह परिणाम होगा कि नृत्य, वाद्य, नेपथ्य और सामग्री संज्ञक जितने भी नाटक के अंग हैं, वे सभी काव्य-संज्ञा से अभिहित किए जाने लगेंगे, क्योंकि उनमें भी राग आदि की भांति किसी न किसी प्रकार की रसाभिव्यंजकता होती ही है। अभिप्राय यह है कि पंडितराज के मतानुसार रस-व्यंजना की शक्ति का मूल आधार शब्द-मात्र को ही स्वीकार करना समुचित है और उसे रागादि की भाँति अन्य विषयों तक व्याप्त करने का अर्थ काव्य के लक्षण-सूत्र में अतिव्याप्ति दोष का उन्मेष करना है।

पंडितराज ने शब्दमात्र में काव्यत्व सिद्धि करने के लिए एक और तर्क प्रस्तुत किया है। उनका कहना है कि काव्य-पद में न तो शब्दार्थ-समूह में रहने वाला व्यासज्य-वृत्ति-जन्य धर्म ही संघटित होता है और न शब्द और अर्थ में पृथक्-पृथक् रूप से रहने वाला प्रत्येक पर्याप्त धर्म ही। व्यासज्य-वृत्ति के अनुसार तो शब्द और अर्थ के संयोग में काव्य मानना पड़ेगा, किन्तु ऐसी मान्यता उचित नहीं कही जा सकती क्योंकि 'जो एक है वह दो नहीं हो सकता,' इस प्रकार के व्यवहार के समान 'श्लोक वाक्य काव्य नहीं है' ऐसा व्यवहार भी होने लगेगा। (वस्तुतः श्लोक-वाक्य को काव्य नहीं कहा जा सकता क्योंकि वाक्य तो काव्य का अवयवमात्र है।) यदि 'प्रत्येक पर्याप्त' धर्म के अनुसार काव्य की सत्ता शब्द और अर्थ में पृथक्-पृथक् रूप से मानी जाय तब एक ही श्लोक में 'यहाँ दो काव्य हैं' ऐसा व्यवहार होने लगेगा अर्थात् शब्दभाग को लेकर एक काव्य तथा अर्थभाग को लेकर दूसरा काव्य कहा जाने लगेगा। यदि इसमें 'इष्टापत्ति' की जाएगी तो एक पद्य में होने वाली 'यह एक काव्य है' इस प्रमात्मक प्रतीति का उच्छेद हो जायगा। 'यह प्रतीति प्रमात्मक नहीं है' यह भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि जब उत्तरकाल में बाध-ज्ञान नहीं होता तो उस प्रतीति को भ्रम कैसे माना जा सकता है ? अभिप्राय यह है कि वेद, शास्त्र और पुराणों के लक्षणों की भाँति काव्य का लक्षण भी शब्दनिष्ठ ही होना चाहिए अर्थात् काव्य की सत्ता शब्दमात्र में है, न कि शब्दार्थयुगल में। इस प्रकार पंडितराज ने आचार्य

मम्मटनिरूपित काव्य-लक्षण के विशेष्य भाग (शब्दार्थौ काव्यम्) का खंडन अपने दृष्टि-कोण से करने का प्रयास किया है।

आचार्य मम्मट ने शब्दार्थयुगल में काव्य की सत्ता मानकर उसके लक्षण में गुणालंकारों का भी सन्निवेश किया था जो पंडितराज जगन्नाथ को अभीष्ट नहीं है। उनका तो स्पष्ट कहना है कि काव्य के लक्षण (शब्दार्थौ) में सगुण, सालंकार और अदोष विशेषणों का प्रयोग अयुक्तिसंगत है। अपने मत के समर्थन के लिए उन्होंने 'उदितं मण्डलं विधोः' (चन्द्रमण्डल उदित हुआ) और 'गतोऽस्तमर्कः' (सूर्य अस्त हो गया) संज्ञक दो वाक्य उद्धृत कर यह तत्त्व प्रतिपादित किया है कि इन वाक्यों में यद्यपि गुणों और अलंकारों का कोई प्रयोग नहीं है तथापि ये वाक्य अपने चमत्कारपूर्ण व्यंग्यार्थ के कारण अवश्यमेव काव्य-पद से अभिषिक्त किये जा सकते हैं। इन वाक्यों में से प्रथम वाक्य का संदर्भ दूती, अभिसारिका और विरहिणी की मनःस्थिति के साथ जोड़ने से भिन्न-भिन्न प्रसंगों में भिन्न-भिन्न अर्थ व्यंजित होते हैं। यथा 'चन्द्रोदय हो गया' संज्ञक वाक्य दूती के लिए अभिसरणविधि, अभिसारिका के लिए मिलन-निषेध और विरहिणी के लिए जीवनाभाव आदि अर्थों के व्यंजक हैं जबकि 'सूर्य अस्त हो गया' वाक्य धार्मिक जनों, गोपालकों, विद्यार्थियों और पथिकों के लिए यथाप्रसंग पृथक्-पृथक् व्यंग्यार्थ प्रकट करता है। ऐसी स्थिति में पंडितराज के मतानुसार इन वाक्यों को काव्य मानना आवश्यक है।

पंडितराज ने मम्मट के काव्य-लक्षण का खंडन अन्य विधियों से भी किया है। उनका मत है कि यदि किसी काव्य में उसका जीवानुभूत चमत्कार विद्यमान है तो फिर उसके लिए गुणालंकारों के व्यवहार की कोई आवश्यकता नहीं होती। यदि कोई विद्वान् काव्य के लिए गुणालंकारों की एकांत अनिवार्यता मानकर चमत्कारतत्त्व की अवहेलना करे तो उसका विचार भी एक प्रकार से एकांगितापूर्ण ही कहा जायगा। काव्य के लक्षण में गुणालंकारों का सन्निवेश करने के विषय में एक आपत्ति यह भी हो सकती है कि जब उनके स्वरूप, लक्षण और संख्या आदि की स्थिति के सम्बन्ध में भी विद्वानों में मतैक्य नहीं है तो वे अपनी अननुगत (अनिश्चित) स्थिति में किसी विषय के अनुगत (निश्चित) लक्षण कैसे बन सकते हैं ? यदि गुणों और अलंकारों को क्रमशः 'रसवृत्तित्वे सति रसोप-योगित्वं गुणत्वं' तथा 'शब्दार्थान्यतरवृत्तित्वे सति परम्परया रसोपकारत्वं अलंकारत्वं' कहकर उन्हें अनुगत मान लें और काव्य के लक्षण-निरूपण में उनका उपयोग करें तो भी काव्य के लिए 'अदुष्ट' विशेषण का प्रयोग तो अनुचित ही कहा जायगा। यदि काव्य के लिए 'दोषरहित' विशेषण उचित होता तो 'यह काव्य दुष्ट है' इस प्रकार के व्यवहारगत प्रयोग नहीं किये जाते। सच तो यह है कि काव्य-पद का प्रयोग उसकी दोषता और निर्दोषता संज्ञक दोनों ही स्थितियों में किया जाता है। यदि 'अदोष' विशेषण का अर्थ 'ईषद्दोष' लगाया जाय तो भी काव्य के लक्षण में बाधा आती है। इस प्रकार पंडितराज के मतानुसार काव्य-लक्षण में प्रयुक्त सगुण, सालंकार तथा अदोष आदि विशेषण युक्ति-संगत नहीं है जिससे स्पष्ट है कि उनकी दृष्टि से आचार्य मम्मट का काव्य-लक्षण दोष-पूर्ण है।

पंडितराज ने काव्य-लक्षण में प्रयुक्त 'अदोष' विशेषण को संगत सिद्ध करने वाले

उन विचारकों के मत का भी खंडन किया है जो यह मानकर चलते हैं कि जिस प्रकार एक ही वृक्ष के मूलप्रदेश में किसी पक्षी विशेष का संयोग और शाखा-प्रदेश में उसका अभाव रहता है उसी प्रकार किसी काव्य का एक अंश दोषपूर्ण और दूसरा अंश दोषरहित हो सकता है। पंडितराज के मतानुसार यह मान्यता समुचित नहीं है क्योंकि 'मूले महीरुहो विहंगमसंयोगी, न शाखायाम्' अर्थात् 'वृक्ष के मूल में पक्षी है, शाखा में नहीं' जैसे प्रयोग काव्य-पक्ष में युक्तिसंगत नहीं कहे जा सकते। बात यह है कि किसी पद्य के पूर्वार्ध में तो 'काव्य' तथा उत्तरार्ध में 'काव्याभाव' मानने से उसके काव्यत्व में 'अव्याप्य वृत्ति' आ जाती है जिसके फलस्वरूप काव्य की अखंड प्रतीति बाधित हो सकती है। वस्तुतः काव्य की स्थिति 'व्याप्य-वृत्तियुक्तपदार्थ' के समान है, अतः उसे किसी अंश या खंडमात्र में न मानकर शब्द-रचना के सम्पूर्ण आधार में ही स्वीकार करना समीचीन है। सच तो यह है कि दोषरहित दुष्ट काव्य की कल्पना वैसी ही है जैसी तैल-रहित तिल की। पंडितराज ने एक और तर्क देकर काव्य-लक्षण में गुणालंकारों का प्रयोग निरर्थक सिद्ध किया है। उनका कहना है कि जिस प्रकार शौर्यादि गुण आत्मा के धर्म हैं उसी प्रकार तथाकथित काव्य गुण काव्यात्मभूत रस के; अतः उन्हें काव्य के शरीरभूत शब्दार्थयुगल का विशेषण कैसे कहा जा सकता है? जिस प्रकार कटक और केयूर आदि आभूषण शरीर के अवयव न होकर शरीर के बाह्य शोभावर्धक धर्म हैं, उसी प्रकार अनुप्रास और उपमा आदि अलंकार काव्य के शरीरभूत शब्दार्थ के शोभावर्धक हैं, अतः उन्हें शरीर-स्थानीय शब्दार्थ के अवयव कैसे कहा जा सकता है? निष्कर्ष यह है कि न तो शब्दार्थ-युगल में ही काव्य माना जा सकता है और न गुणालंकार आदि ही काव्य के विशेषण कहे जा सकते हैं।

रसात्मक वाक्य ही काव्य नहीं होता

पंडितराज ने जिस प्रकार आचार्य मम्मटकृत काव्य-लक्षण का खंडन किया है उसी प्रकार विश्वनाथ-कृत काव्य-लक्षण को भी दोषपूर्ण माना है। विश्वनाथ ने काव्य-विवेचना के प्रसंग में 'रसात्मक वाक्य को काव्य' कहकर इस तथ्य की ओर संकेत किया था कि काव्य में रस की स्थिति निसर्गतः अनिवार्य है जो पंडितराज को स्वीकार नहीं है। उनका तर्क है कि यदि रसात्मक वाक्य ही काव्य है तो फिर जिन रचनाओं में वस्तु-वर्णन अथवा अलंकार-वर्णन का प्रामुख्य होता है वे क्या काव्य नहीं कहे जा सकते? सच तो यह है कि काव्य में जितना महत्त्व 'चमत्कृति' का होता है, उतना किसी अन्य पदार्थ का नहीं। यदि वस्तु-व्यंजना और अलंकार-व्यंजना में काव्यतत्त्व न माना जाय तो फिर कवियों द्वारा वर्णित जलप्रवाह के वेग, निपतन, उत्पतन और भ्रमण और कपियों तथा बालकों के क्रीड़ा-विलास आदि को किस श्रेणी में परिगणित किया जायगा? पंडितराज का मत है कि ऐसे वर्णनों को रस-प्रक्रिया के साथ संयुक्त करना उचित नहीं है, क्योंकि इनमें 'वर्णना' की जितनी प्रधानता है, उतनी चर्वणा की नहीं। यदि वस्तु-वर्णन की प्रणाली मात्र को रस का स्पर्श प्रदान किया गया तब तो 'गोश्चलति', 'मृगो धावति' जैसे वाक्य भी काव्य कहे जा सकते हैं, क्योंकि उनमें भी किसी न किसी प्रकार का रसस्पर्श विद्यमान रहता ही है। सच तो यह है कि संसार के सभी पदार्थों में ऐसी विशेषता

रहती है कि वे किसी रस-विशेष के विभावानुभावादि बन सकते हैं और उस स्थिति में तो संसार के सभी वाक्यों को काव्यसंज्ञा से अभिहित किया जा सकता है। इस प्रकार पंडितराज ने मुख्यतः मम्मट और विश्वनाथ के काव्य-लक्षणों का खंडन कर न तो शब्दार्थयुगलता में काव्य की सत्ता स्वीकार की है और न वाक्य की रसात्मकता में ही उसका एकमात्र अधिनिवेश माना है। वस्तुतः वे तो 'शब्द-ब्रह्म' की भाँति ऐसे शब्द को ही काव्य मानते हैं जो रमणीयार्थ का प्रतिपादक हो। पंडितराज का यह मत भारतीय काव्यशास्त्र की परम्परा में अंतिम किन्तु अत्यंत उपादेय है जिसकी तात्विक गम्भीरता का निषेध नहीं किया जा सकता।

निष्कर्ष और निर्णय

संस्कृत काव्यशास्त्र के आचार्यों ने अपने लक्षण-ग्रंथों में काव्यात्ममीमांसा अथवा काव्यांगविमर्श के संदर्भ में शब्द और अर्थ को लक्ष्यीभूत कर गुण, अलंकार, रीति, वक्रोक्ति आदि दृष्टियों से काव्य के जो लक्षण निर्धारित किये हैं, उनमें काव्य की आत्म-निष्ठता की अपेक्षा वस्तुनिष्ठता का भाव अधिक है। ध्वनिकार आचार्य आनंदवर्धन से लेकर आचार्य मम्मट के कार्यकाल पर्यन्त यद्यपि काव्य-लक्षणों की विवेचना में पूर्वोक्त पद्धति का ही अनुगमन किया गया, किन्तु आचार्यों की दृष्टि में रस और ध्वनि के प्रति क्रमशः विशेष आकर्षण बढ़ने लगा जिससे काव्य-विवेचना के विश्व में आत्मनिष्ठता का भाव प्रबल हुआ। यह एक अत्यंत उल्लेखनीय बात रही कि किसी समय रस को केवल 'रसवत्' अलंकार की कोटि में रखकर ही विवेचित किया जाता था किन्तु कालानुक्रम से वह रससिद्धान्त के रूप में मूर्द्धन्य स्थान प्राप्त कर काव्य के तथाकथित विशिष्ट धर्मों अथवा लक्षणों को अपनी अंगरूपता के दृष्टिकोण से व्याख्यात करने लगा। काव्य के स्वरूप-बोधक सिद्धान्तों को जिस रूप में काव्य-सम्प्रदायों की अभिधा प्रदान करते हुए आचार्यों ने उनके आश्रय से काव्य-सर्जना के स्वरूप-विधायक तत्त्वों के रूप में उन्हें विवेचित किया है, उनका विशद विवेचन हमने काव्य के स्वरूपविधायक तत्त्वों के अंतर्गत स्वतंत्र अध्यायों के रूप में किया है। यहाँ तो हम केवल इतना ही निवेदन करना पर्याप्त समझते हैं कि भारतीय काव्यशास्त्र के प्रमुख आलोकस्तम्भ संस्कृत काव्यसमीक्षा में काव्य के लक्षण-निर्धारण का विषय भी अत्यंत गौरवपूर्ण और रहस्यमय रहा है जिसके एक छोर पर आचार्य भरतमुनि अधिष्ठित हैं तो दूसरे छोर पर पंडितराज जगन्नाथ। जब तक इस विशाल परिधि में समाहित होने वाले आचार्यों के एतद्विषयक योगदान का सम्यक् विमर्श नहीं किया जाता, तब तक काव्य-लक्षण की विवेचना को अपूर्ण ही समझना चाहिए।

भारतीय काव्यशास्त्र में काव्य का स्वरूप-लक्षण निर्धारित करने के विषय में जितने भी मतमतांतर और काव्य-सिद्धांत प्रचलित हैं उनका विवेचन करने के पश्चात् हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि 'रस' तथा 'ध्वनि' तत्त्वों का समावेश करने से ही काव्य का तत्त्वपूर्ण स्वरूप-लक्षण बन सकता है। हम रस और ध्वनि के पार्थक्य में अधिक विश्वास न रखकर यह अभिमत व्यक्त करना विशेष तत्त्वसंगत और युक्तियुक्त समझते हैं कि

'रस-ध्वनि' ही काव्य का स्वरूप-लक्षण अथवा आत्मतत्त्व है—जिसमें रस-विश्व और ध्वनि-जगत् का सम्पूर्ण समाहार हो जाता है। यों तो ध्वनि-सिद्धांत में वस्तु-ध्वनि और अलंकार-ध्वनि को भी सामान्य रूप से काव्यात्म-तत्त्व का निर्देशबिंदु कहा गया है क्योंकि उनमें भी अभिधेयरूप वस्तु तथा अलंकार की अपेक्षा अधिक चमत्कार होता है, किन्तु रस-ध्वनि की महिमा तो विशेष रूप से उल्लेखनीय है। सच तो यह है कि अलंकार की अलंकृति इसी बात में है कि वह रस का उपकारक और सौन्दर्य का साधन हो। आचार्यों ने प्रहेलिका आदि अलंकारों में काव्य का उत्तम स्वरूप इसी हेतु स्वीकार नहीं किया है कि वे रस के परिपंथी होते हैं और रस-विहीन रचना में वे शवस्थित अलंकारों की भांति कदर्थना के ही विषय बनते हैं। इसमें कोई संदेह नहीं कि वस्तु-ध्वनि तथा अलंकार-ध्वनि में भी व्यंग्य का सन्निवेश अवश्य रहता है, किंतु उनमें रसध्वनि की भाँति काव्यानंद का अभिव्यंजन करने का सामर्थ्य नहीं होता। 'रसो वै सः' में जिस ब्रह्मानंद की अभिव्यक्ति की ओर संकेत किया गया है अथवा 'काव्यस्यात्मा स एवार्थः' में जिस प्रतीयमान अर्थ का रूप ध्वनित है वह तत्त्वतः रसध्वनि का ही अभिव्यंजक है। ध्वनिकार के अतिरिक्त आचार्य मम्मट और अभिनवगुप्त आदि विद्वानों ने भी रस-ध्वनि की अभ्यर्थना में पर्याप्त सामग्री उपस्थित की है। मम्मट ने 'मुख्ये रसे' तथा 'रसस्थांगिनः' आदि पदों में रस-ध्वनि की उत्कृष्टता ही निरूपित करने का प्रयास किया है। 'ध्वन्यालोकलोचन' के अनेक स्थलों पर रस-ध्वनि का गौरव प्रतिष्ठित हुआ है। लोचनकार ने 'रसस्य चर्वणात्मनः प्राधान्यं दर्शयन् रस-ध्वनेरेव सर्वत्न मुख्यभूतमात्मत्वमिति दर्शयति' द्वारा रस-ध्वनि में ही काव्य का आत्मतत्त्व विवेचित किया है। उन्हें अर्थमात्न के प्रदर्शन में काव्य-व्यवहार स्वीकार नहीं है, अतः वे लौकिक तथा वैदिक वाक्यों में काव्य का व्यपदेश मानते हैं। औचित्य-विमर्श में भी उन्होंने रसौचित्य को सर्वाधिक महत्ता प्रदान करते हुए रस-ध्वनि को ही काव्य का सर्वस्व कहा है। पंडितराज जगन्नाथ ने भी रस, वस्तु, अलंकार, अर्थान्तरसंक्रमित तथा अत्यंत-तिरस्कृतवाच्य रूपा पंचविध ध्वनियों में रस-ध्वनि को ही परम रमणीय तथा आह्लादकारिणी माना है। विश्वनाथ कविराज को भी रस की ध्वन्यात्मकता सुमान्य है। काव्य-लक्षण-विषयक अपनी शास्त्रीय विवेचना को समाप्त करने के पूर्व हम महाकवि विल्हण का वह अभिमत निरूपित करना आवश्यक समझते हैं जिसमें उन्होंने रस-ध्वनि को काव्य का प्रमुख तत्त्व अथवा स्वरूपलक्षण स्वीकार करते हुए लिखा है—

रस-ध्वनेरध्वनि ये चरंति, संक्रांत-वक्रोक्तिरहस्यमुद्राः।
ते स्मत् प्रबंधानवधारयंतु, कुर्वन्ते शेषाः शुकवाक्य पाठं॥[1]

१. विल्हण, विक्रमांक देवचरित्नम्, १।२२।

(२) काव्य के भेद-प्रभेद

काव्य-भेद-विमर्श की दृष्टि

काव्य-सर्जना के व्यापक विधान में काव्य के भेदोपभेदों का शास्त्रीय विवेचन हमारे शोध-विषय का एक अनिवार्य पक्ष है जिसका स्पष्टीकरण किये बिना उसका रूप-विमर्श अपूर्व ही माना जायगा। इस प्रकार के विश्लेषण की भी एक विशिष्ट व्यावहारिक उपयोगिता है क्योंकि काव्य के भेद-प्रभेदों में भी काव्य-सर्जना के अंतरंग और बहिरंग पक्षों के अनेक तत्त्व सन्निहित हैं। आचार्यों ने वर्ण-प्रणाली, कथाबंध, इन्द्रि-सन्निकर्ष और रसमुख आदि विभिन्न दृष्टियों से काव्य-सर्जना के भेद-प्रकारों का निरूपण किया है जिनके अनुक्रम में क्रमशः स्थूलता से सूक्ष्म तत्त्वों की ओर संचरित होने के सुष्ठु प्रयास सन्निहित हैं। विवेचन का यह क्रम आचार्य भामह के 'काव्यालंकार' से लेकर पंडितराज जगन्नाथ पर्यन्त विकासोन्मुख रहा है जिसकी चरम परिणति रस-सिद्धांत की भूमिका में विभक्त काव्य-प्रकारों की निबंधना में दृष्टिगोचर होती है। काव्य-भेदों के विवेचन की और भी अनेक प्रणालियाँ हो सकती हैं जिनमें पश्चिमी काव्यशास्त्र की त्रासद तथा कामद पद्धतियों की रूप-प्रक्रियाओं के साथ-साथ भारतीय दृष्टि की साधनावस्था और सिद्धावस्था का दृष्टिकोण भी निहित है, किन्तु हमें अपनी शास्त्रीय विवेचना में भारतीय दृष्टि की परिनिष्ठ प्रणाली को ही ध्यान में रखकर उनका विवेचन करना अभीष्ट है। आचार्य भामह से लेकर पंडितराज जगन्नाथ तक विकसित होने वाले भारतीय काव्यशास्त्र में उन प्रणालियों का जो तत्त्व-दर्शन प्रस्तुत किया गया है, उसमें पश्चिमी विचारधाराओं का भी नियोजन एक विशेष क्रम में किया जा सकता है।

भामह-कृत काव्य-भेद

भामह ने 'शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्' द्वारा काव्य का सामान्य स्वरूप निरूपित करने के पश्चात् उसी प्रसंग में काव्य-भेदों का भी विवरण दिया है। उनके मतानुसार रचना में छंद के अभाव या सद्भाव की दृष्टि से काव्य का वर्गीकरण क्रमशः 'गद्य' और 'पद्य' नाम से किया जा सकता है। 'भाषा' को आधार बनाकर उन्होंने तत्कालीन तीन प्रकार की प्रचलित भाषाओं—संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश—के अनुसार तीन प्रकार के काव्य माने थे।[१] उन्होंने इस विषय में कवि को पूर्ण स्वतंत्रता दे रखी थी कि वह अपनी क्षमता के अनुरूप किसी भी भाषा में काव्य-रचना कर सकता है। भामह का अभिमत है कि प्रतिपाद्य विषय के अनुसार काव्य चार प्रकार का होता है—१. ख्यातवृत्त, २. कल्पित वस्तु, ३. कलाश्रित और ४. शास्त्राश्रित।[२] उन्होंने स्वरूप-विधान के आधार पर काव्य के पाँच भेद निर्धारित किये हैं—१. महाकाव्य, २. रूपक, ३. आख्यायिका,

---

१. शब्दार्थौ सहितौ काव्यं गद्यं पद्यं च तद् द्विधा।
संस्कृतं प्राकृतं चान्यपदपभ्रंश इति त्रिधा॥

२. वृत्तदेवादिचरितशंसि चोत्पाद्य वस्तु च।
कला शास्त्राश्रयं चेति चतुर्धा विद्यते पुनः॥ —काव्यालंकार, १।१६-१७।

४. कथा और ५. मुक्तक।[1] किसी भी काव्यशास्त्री के लिए भामह-प्रतिपादित काव्य के भेदों का सामान्य ज्ञान आवश्यक है क्योंकि उसी के द्वारा यह स्पष्ट किया जा सकता है कि भरतमुनि के पश्चात् विकसित होने वाले काव्यशास्त्र के प्रारंभिक काल में आचार्यों की काव्य-भेदों के सम्बन्ध में किस प्रकार की धारणाएँ थीं।

भामह ने प्रतिपाद्य विषय के अनुसार काव्य के जो चार भेद किये हैं उनमें सर्व-प्रथम भेद 'वृत्त देवादिचरितशंसि' है जिसमें रामायण, महाभारत या पुराणों में वर्णित देवताओं अथवा राजाओं का वर्णन रहता है। भारतीय काव्यशास्त्र की दृष्टि से ऐसे वृत्त ही महाकाव्य अथवा नाटक की निष्पत्ति में विशेष उपयोगी सिद्ध होते हैं। दूसरा भेद 'उत्पाद्य-वस्तु काव्य' है जिसके लिए किसी भी प्रकार के ख्यात-वृत्त की आवश्यकता नहीं है। इस प्रकार के काव्य के कथानुबंध के निर्माण के विषय में कवि पूर्ण स्वतंत्र है क्योंकि यह काव्य-प्रकार कविकल्पना से प्रसूत होता है। काव्य का तीसरा प्रकार 'कलाश्रित काव्य' है जिसकी योजना में संगीत आदि कलाओं का प्रामुख्य रहता है। 'शास्त्राश्रित काव्य' का सर्वश्रेष्ठ उदाहरण 'भट्टिकाव्य' है जिसकी रचना व्याकारण-शास्त्र को आधार बनाकर की गई है।

भामह ने स्वरूप-विधान के आधार पर किये गये भेदों का विवेचन पूर्ववर्ती आचार्यों की अपेक्षा किंचित् विस्तारपूर्वक किया है। उस विवेचन से पता चलता है कि कालांतर में परवर्ती आचार्यों द्वारा जो भेद निरूपित किये गये, उनमें भामह-कृत लक्षणों का पर्याप्त प्रभाव था। भारतीय काव्यशास्त्र की विकासमान परम्परा में भामह-कृत काव्य-भेदों का महत्त्व असंदिग्ध है। उनके द्वारा स्वरूप-विधान के आधार पर निरूपित किये गये काव्य-भेदों के लक्षण निम्नलिखित हैं—

१. सर्गबंध

इसे महाकाव्य भी कहते हैं। यह महान् चरित्रों से सम्बद्ध, आकार में विशाल, ग्राम्य शब्दों से रहित, अर्थ-सौष्ठव से सम्पन्न, अलंकार से युक्त, सत्पुरुषाश्रित होने के साथ-साथ मंत्रणा, दूतसंप्रेषण, अभियान, युद्ध, नायक के अभ्युदय तथा पंचसंधियों से समन्वित, अनातिव्याख्येय तथा ऋद्धिपूर्ण होता है। यद्यपि इस प्रकार के काव्य में चतुर्वर्ग का प्रतिपादन रहता है तथापि उसमें प्रधानता अर्थनिरूपण की होती है। यह लोकस्वभाव तथा समस्त रसों से स्पष्टतः युक्त होता है। इस काव्य में वंश, बल और ज्ञान आदि गुणों द्वारा नायक को पहले उपन्यस्त कर, दूसरे का उत्कर्ष कहने की इच्छा से, उसी का वध वर्णित नहीं करना चाहिए। यदि काव्य-शरीर में उसकी व्यापकता वांछनीय न हो अथवा वह अभ्युदय का भागी न हो तो प्रारंभ में उसका संस्तव तथा ग्रहण करना व्यर्थ है।

---

१. सर्गबंधोऽभिनेयार्थं तथैवाख्यायिका कथे।
अनिबद्ध च काव्यादि तत्पुनः पंचधोच्यते। —काव्यालंकार, १।१८।

२. अभिनेयार्थ

नाटक, द्विपदी, शम्या, रासक और स्कंधक आदि जो काव्यभेद हैं, वे सब अभिनेय होने के कारण इस वर्ग में आते हैं।

३. आख्यायिका

गद्य से युक्त संस्कृत की रचना को आख्यायिका कहते हैं। उसके शब्द, अर्थ एवं समास अक्लिष्ट तथा श्रव्य होने चाहिए। उसका विषय उदात्त हो तथा वह स्वतः उच्छ्वासों में विभाजित हो। उसका नायक अपने चरित्र का आख्यान स्वयं करता है तथा उसमें यथासमय भावी घटनाओं के सूचक वक्त्र तथा अपरवक्त्र नामक छंद रहते हैं। आख्यायिका कवि के अभिप्रायकृत किन्हीं कथनों से अंकित तथा कन्याहरण, संग्राम, विप्रलम्भ और अभ्युदय से अन्वित होती है।

४. कथा

कथा का सामान्य अर्थ संस्कृत, असंस्कृत अथवा प्राकृत भाषा में लिखी गई ऐसी रचना है जिसमें न तो वक्त्र और अपरवक्त्र नामक छंद होते हैं और न उच्छ्वास ही। इसका नायक स्वयं अपना चरित्र नहीं कहता, अपितु दूसरे व्यक्ति उसका वर्णन करते हैं।

५. अनिबद्ध

गाथा और श्लोक मात्र को अनिबद्ध कहते हैं। इसका दूसरा नाम मुक्तक काव्य है क्योंकि इसमें प्रबंधात्मकता का अभाव होता है। भामह के मतानुसार उपर्युक्त पांचों प्रकार के काव्य वक्रोक्ति और स्वभावोक्ति से युक्त होने चाहिए।

वैदर्भ और गौड मार्गों के आधार पर काव्य-विभाजन

ऐसा प्रतीत होता है कि भामह के समय में वैदर्भ और गौड मार्गों के आधार पर भी काव्य-भेदों का विवेचन किया जाता था और आचार्यों में इस प्रकार का प्रवाद प्रचलित था कि वैदर्भ काव्य, गौड काव्य की अपेक्षा श्रेष्ठ है। भामह को इस प्रकार की मान्यता पर आस्था न थी। उन्होंने इस प्रकार के काव्यभेद को असंगत कहते हुए स्पष्ट रूप से यह तथ्य निरूपित किया कि न तो इस प्रकार के विभाजन का कोई तत्त्वमूलक आधार है और न उसके तारतम्य का कोई ठोस तर्क ही है। उनका तो स्पष्ट कथन था कि केवल प्रादेशिक नामों के आधार पर किसी काव्य की वरिष्ठता और कनिष्ठता का निर्णय करना गतानुगतिकता मात्र का पालन करना है।[1] उन्हें इन विचारों में कुछ भी तथ्य दृष्टिगोचर नहीं होता था कि वैदर्भ काव्य में स्पष्टता, सरलता और कोमलता आदि गुणों का समावेश विशेष रूप से होता है जिसके कारण उसे प्रवर श्रेणी प्रदान की जाती

---

१. गौडीयमिदमेतत्तु वैदर्भमिति किं पृथक्।
गतानुगतिकन्यायान्नानाख्येयममेधसाम्॥—काव्यालंकार, १।३२।

है। उनके मतानुसार प्रासादिकता, सरलता और श्रुतिमधुरता तो संगीत में भी होती है पर इन गुणों के कारण क्या उन्हें श्रेष्ठतर काव्य कहा जाना समीचीन है ? वस्तुतः संगीत से काव्य का स्थान उच्चतर है, क्योंकि उसमें वक्रोक्ति और अर्थगाम्भीर्य के लिए अधिक अवकाश होता है और वह हृदय में रस-संचार करने की विशेष शक्ति रखता है। ऐसी स्थिति में वैदर्भ और गौड संज्ञक काव्यों की समता करने के पूर्व नाममात्र से उद्भूत पूर्वग्रह का भाव हमारे विचार-पथ में न लाना ही शोभनीय है, क्योंकि किसी भी काव्य का सौष्ठव मूलतः गुणों पर आधारित है, न कि नाम विशेष पर। भामह ने वैदर्भ और गौड मार्गों का विवेचन उनके नामों को ही प्राधान्य देते हुए किया जिसका परिणाम यह हुआ कि वे उनके स्वरूप की लक्षणागत व्यंजना नहीं करा सके। उनका यह दृष्टिकोण तो उचित था कि नाममात्र से ही काव्य की उच्चावचता का निर्णय नहीं किया जा सकता, किंतु वे इस तथ्य की उपेक्षा कर गये कि ये नाम प्रदेश-विशेष पर्यन्त ही अपनी अर्थ-शक्ति नहीं रखते अपितु काव्य के सामान्य धर्म के भी द्योतक हैं। उनकी इस एकांगिता का परिहार परवर्ती आचार्यों द्वारा विशेष रूप से किया गया जिसका परिणाम यह हुआ कि वैदर्भ और गौड मार्ग भाव-प्रकाशन की रीति के रूप में विवेचित किये जाने लगे और उनका सम्बन्ध प्रदेश-विशेष से न रहकर काव्य की प्रवृत्ति या शैली की व्यंजक-प्रविधि के साथ हो गया। भामह के इस विवेचन का एक शुभ परिणाम यह अवश्य हुआ कि काव्य की श्रेष्ठता के परीक्षण में रूढ़ियों का बंधन शिथिल होने लगा और विद्वद्वर्ग में यह भावना व्यापक बनने लगी कि काव्य की गुरुता की परीक्षा गुणों के आधार पर की जानी चाहिए। स्वयं भामह ने अंततः यही निर्णय किया था कि केवल 'नितांत' आदि शब्दों के प्रयोग से ही वाणी में सौन्दर्य नहीं आता। वस्तुतः वक्र शब्द और अर्थ का प्रयोग ही वाणी का अलंकार है।[1] उनके कथन का मूल अभिप्राय यही था कि काव्य में वक्रतापूर्ण शब्दार्थ ही मुख्य है तथा उसके नाम पर प्रचलित अन्य धर्मों की स्थिति गौण है।

दण्डी-कृत काव्य-प्रकार : 'गद्य', 'पद्य' और 'मिश्र'

दण्डी ने काव्य-प्रकारों की व्यवस्था गद्य, पद्य और मिश्र नामक तीन भेदों में की है। साहित्यदर्पणकार के मतानुसार गद्य को 'वृत्तगंधोज्झित' कहा जा सकता है जिसका अर्थ यह है कि गद्य में वृत्त आदि छंदों की योजना नहीं होती और उसमें स्वाभाविक क्रम से भावों का अभिधेयार्थ निगदित होता है। साहित्यदर्पण में गद्य के चार भेद—मुक्तक, वृत्तगंधी, उत्कलिकाप्राय और चूर्णक—माने गये हैं। 'मुक्तक' गद्य में समासराहित्य, 'वृत्तगंधी' में छंदोबंध के कतिपय अंश, 'उत्कलिकाप्राय' में दीर्घ समास और 'चूर्णक' में अल्पसमास होते हैं। पद्य का सामान्य लक्षण उसका 'छंदोबद्धपदत्व' है। साधारणतया पद्य में चार चरण होते हैं, अतः दण्डी ने पद्य को 'चतुष्पदी' भी कहा है। दण्डी का यह कथन पद्य का उपलक्षणमात्र है, क्योंकि पद्य के चरणों की संख्या नियत नहीं मानी जा सकती। लोकविख्यात गायत्री छंद तीन पदों का होने पर भी सर्वजनग्राह्य है तथा द्विपदी

---

१. न नितांतादिमात्रेण जायते चारुता गिराम्।
वक्राभिधेयशब्दोक्तिरिष्टा वाचामलंकृति ।।—काव्यालंकार, १।३६।

और षट्पदी प्रभृत्ति वृत्तों की रचनाएँ भी कवियों द्वारा की गई हैं। पद्य को 'वृत्त' तथा 'जाति' संज्ञक दो प्रकारों में विभक्त किया जाता है। अक्षरसंख्यात चरण को 'वृत्त' तथा मात्रासंख्यात चरण को 'जाति' कहते हैं। सम, अर्द्धसम और विषम नामक भेदों में छंदों में अनंत विस्तार किया गया है। 'मिश्र' संज्ञक काव्यभेद में गद्य और पद्य का सम्मिश्रण रहता है जिसके अंतर्गत नाटक और चम्पू आदि काव्यों की गणना की जाती है। दण्डी ने पद्यकाव्य के प्रमुख भेद मुक्तक, कुलक, कोष और संघातप्रभृति माने हैं जिनका अंतर्भाव महाकाव्य के अंशरूप में किया जा सकता है। आचार्यों ने 'अन्यानपेक्ष एकश्लोकनिबंध' को मुक्तक कहा है जो अपनी निरपेक्षसत्ता में ही चमत्कारक्षम होता है। अमरूशतक आदि ग्रंथ मुक्तक काव्य के आदर्श उदाहरण हैं। कुलक का सामान्य लक्षण 'अनेक पद्य और अनेक क्रियाओं से समन्वित अनेक वाक्यों का अर्थकथन है जो काव्यादि में यत्र-तत्र वर्णन-विशेष के अवसर पर प्रयुक्त होता है। आचार्यों ने दो छंदों के योग में 'युग्मक', तीन छंदों की अन्विति में 'संदानितक', चार छंदों की युक्ति में 'कलापक' और पांच छंदों के समन्वय में 'कुलक' माना है। 'कोषकाव्य' का अर्थ है 'वह श्लोक समूह जो अन्योन्यानपेक्षक होने के साथ-साथ व्रज्याक्रम से रचित और अत्यंत मनोरम होता है। आचार्यों ने कोषकाव्य का लक्षण निरूपित करते हुए लिखा है कि जहाँ एक या अनेक कवियों के वाक्यों के असंहत अर्थों का काव्यात्मक निबंध होता है उसे कोषकाव्य कहते हैं। इस प्रकार के काव्य के उदाहरण 'आर्यासप्तशती' आदि ग्रंथ हैं। 'संघातकाव्य' कल्पित-वस्तुक और एक ही छंद में निर्व्यूढ पद्यों का समुदाय है जिसमें उसका रचयिता एक ही अर्थ का चित्रण संघातरूप में करता है। 'मेघदूत' आदि ग्रंथ संघातकाव्य के उदाहरण कहे जा सकते हैं। यों तो ये काव्य-भेद पृथक्-पृथक् लक्षणों से उपबृंहित हैं, किंतु ये सभी काव्य-प्रकार महाकाव्य के अंगभूत हैं जिनका प्रयोग करने में महाकवि सर्वथा स्वतंत्र होते हैं।

गद्य के भेद तथा 'कथा' और 'आख्यायिका' का तत्त्व-विमर्श

दण्डी ने गद्य को 'अपादः पदसंतानो' अर्थात् गणमात्रादि के नियमों से वर्जित पदों (सुबन्त-तिङन्त) का समुदाय कहकर कथा और आख्यायिका नामक उसके दो परम्परागत भेद निर्दिष्ट किये हैं। उनके पूर्व आचार्य भामह कथा और आख्यायिका का अंतर स्पष्ट कर चुके थे जिनके अभिमत का उल्लेख करते हुए उन्होंने एतद्विषयक स्वतंत्र विचारों की स्थापना की है। प्राचीन आचार्यों का कथन था कि 'आख्यायिका' का नायक स्वयं अपनी कहानी प्रस्तुत करता है जबकि 'कथा' में उससे भिन्न व्यक्ति भी उसकी कथा वर्णित कर सकते हैं।[1] दण्डी के अनुसार यह दृष्टिकोण युक्तसंगत नहीं है क्योंकि ऐसी आख्यायिकाएँ भी उपलब्ध हैं जिनमें नायकेतर व्यक्तियों द्वारा भी उसकी (नायक की) कथा वर्णित की गई है। ऐसी स्थिति में 'आख्यायिका' और 'कथा' का अंतर केवल वक्तृवैलक्षण्यकृत नहीं माना जा सकता, क्योंकि उन दोनों के भेदक-धर्म में स्वरूपलक्षणकृत स्थिति की महत्ता अधिक प्रयोजनीय है। दण्डी ने 'आख्यायिका' और

१. भामह, काव्यालंकार, १।२५-२९।

'कथा' के अंतर की संसूचक उस व्यवस्था का भी विरोध किया है जिसके अनुसार आख्यायिका के परिच्छेदों को 'उच्छ्वास' और कथा के परिच्छेदों को 'लम्भक' आदि अभिधानों से व्यवहृत किया जाता है। वे इस विचार से भी सहमत नहीं हैं कि आख्यायिका में 'आर्या' छंद तथा कथा में 'वक्त्र' तथा 'अपरवक्त्र' नामक छंद प्रयुक्त होने चाहिए। उनका तो स्पष्ट मत है कि आख्यायिका और कथा का अवांतर अर्थभेद इस प्रकार के संकीर्ण और रुढ़िबद्ध नियमों के द्वारा निरूपित करना उसी प्रकार निरर्थक है जिस प्रकार संज्ञाभेद को घट कलशादिभेदवत् अप्रयोजक निर्दिष्ट करना। दण्डी का मूल मंतव्य यह है कि संज्ञाभेद की अप्रयोजकता के कारण ही कथा और आख्यायिका को पृथक्-पृथक् संज्ञाएं प्रदान की गई हैं, जबकि तत्त्वतः दोनों एक ही जाति के समान पदार्थ हैं। वस्तुतः उन दोनों में कथन-मात्र का संज्ञाभेद है और जिस प्रकार संज्ञाओं के भिन्न होने से भी संज्ञीवाच्य अर्थ में कोई भेद नहीं होता, उसी प्रकार कथा और आख्यायिका में भी संज्ञा-भेद होने पर भी गद्यकाव्यरूपवाच्यार्थ में कुछ भी अंतर नहीं आता। उन्होंने कथा और आख्यायिका की अभेदता का प्रतिपादन कर अग्निपुराण आदि में निरूपित आख्यायिका, कथा, खंडकथा, परिकथा तथा कथालिका संज्ञक पांच प्रकार के गद्य-भेदों का अंतर्भाव 'कथा' नामक भेद में ही कर लिया है जिसे एक दृष्टि से उनका प्रौढ़िवाद-मात्र कहा जा सकता है।

दण्डी ने उन आचार्यों का भी विरोध किया है जो 'कन्याहरणसंग्रामविप्रलम्भोद-यान्विता' जैसी उक्तियों द्वारा 'कथा' और 'आख्यायिका' का भेद स्पष्ट करते हैं। उनका कथन है कि कन्याहरण आदि वस्तु-वर्णनों को केवल आख्यायिकानिष्ठ नहीं कहा जा सकता, क्योंकि ऐसे वर्णन तो सर्गबंध महाकाव्यों में भी रहते हैं अतः उन्हें केवल गद्य-काव्यभेदभूत का ही भेदक धर्म कैसे माना जा सकता है ? आचार्य भामह 'कवेरभिप्राय-कृतैरंकनैः कैश्चिंदकिता' के अनुसार यह माना है कि कथा में कवि अपनी इच्छा के अनुकूल 'श्री' तथा 'लक्ष्मी' आदि कुछ चिह्न लगाते हैं जो आख्यायिका से उसका भेदक-तत्त्व है, किंतु इस प्रकार के चिह्न तो कथा से भिन्न पद्यबद्ध महाकाव्यों में भी उपलब्ध होते हैं, अतः उन्हें केवल कथापर्यन्त ही सीमित कर देना समुचित नहीं है। संस्कृत-साहित्य के प्रसिद्ध महाकाव्य शिशुपालवध के प्रतिसर्गान्त में 'श्री' शब्द का प्रयोग तथा किरातार्जुनीय में 'लक्ष्मी' शब्द का प्रयोग करने में कवियों ने जिस स्वेच्छा का परिचय दिया है वह भामहकृत उपर्युक्त नियम का अपवाद है, अतः इस प्रकार के चिह्नों को गद्य अथवा पद्य के किसी अंगविशेष तक परिव्याप्त नहीं माना जा सकता। इस विषय में आचार्य दण्डी का मत है कि 'कुशल कवि स्वेच्छापूर्वक शब्द-प्रयोग करते हुए अपने अभीष्ट अर्थ की मंगल-सिद्धि कर लेते हैं क्योंकि उनकी वाणी में प्रयुक्त शब्दावली में अभिप्रेत अर्थ की साधना का सामर्थ्य निसर्गतः ही होता है।[1]

'मिश्र' तथा भाषा-भेद की दृष्टि से काव्य-विभाजन तथा पद्य-प्रबंधों के लक्षण

आचार्य दण्डी ने 'गद्यं पद्यं च मिश्रं च तत्त्रिधैव व्यवस्थितम्' के अनुसार काव्य

---

१. दण्डी, काव्यादर्श, १।३०।

के तीन भेद माने हैं जिनमें गद्य और पद्य नामक भेदों की विवेचना की जा चुकी है। मिश्र काव्य में गद्य-पद्य का मिश्रण होता है जिसके दृश्य काव्यान्तर्गत प्रभेद नाटक आदि हैं। उन प्रभेदों का सांगोपांग विस्तृत वर्णन नाट्यशास्त्र, दशरूपक और नाट्यदर्पण आदि ग्रंथों में किया गया है। श्रव्य काव्य में मिश्र-रूप 'चम्पू' तथा 'विरुद' आदि नामों से अभिहित किये जाते हैं। साहित्यदर्पणकार ने 'विरुद' को 'गद्यपद्यमयी राजस्तुति' की संज्ञा दी है। काव्य के उपर्युक्त प्रभेदों के अतिरिक्त भाषाभेद की दृष्टि से भी उसका विभाजन किया गया है। दण्डी ने काव्यशास्त्र के आचार्यों से सम्मत काव्य-वाङ्मय को संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश और मिश्र नामक चार प्रकारों में विभक्त किया है। उनके मतानुसार संस्कृत-भाषा देववाणी है जिसकी व्याख्या यास्क और पाणिनि आदि विद्वानों ने प्रकृति-प्रत्यय आदि के प्रदर्शन द्वारा की है। संस्कृत के दो रूप हैं—१. वैदिक संस्कृत और २. लौकिक संस्कृत। साधारण जनों से व्यवहृत अथवा प्रकृति से उत्पन्न भाषा का नाम प्राकृत है जिसमें हस्त और कर्ण जैसे तत्सम शब्दों से उद्भूत 'हत्थ' और 'कण्ण' जैसे तद्भव शब्द, 'कीर' और 'गौ' आदि विभक्तिच्युत तत्सम शब्द और गज अर्थ में 'दोघ्घट' आदि तत्तद्देशरूढ़ देशी शब्द पाये जाते हैं जिनका मूल संस्कृत रूप जानना अत्यंत कठिन है। प्राकृत भाषा के तद्भव, तत्सम और देशी आदि रूपों की दृष्टि से अनेक प्रकार के भेदोप-भेद हैं जिनमें महाराष्ट्र देश में व्यवहृत प्राकृत भाषा को दण्डी आदि आचार्यों ने 'प्रकृष्ट प्राकृत' कहा है। उसकी प्रकृष्टता का एक कारण यह भी है कि उसमें प्रवरसेन नामक कवि द्वारा रचित 'सेतुबंध' जैसे श्रेष्ठ काव्य और 'सतसई' प्रभृति महत्त्वपूर्ण ग्रंथ विद्यमान हैं। श्रीकृष्ण के मातामह शूरसेन के नाम से प्रसिद्ध शौरसेन देश की प्राकृत शौरसेनी, वंग के समीपवर्ती गौड़ प्रदेश की प्राकृत गौड़ी, कर्णाट देश से सन्निहित लाट देश में व्यवहृत प्राकृत लाटी और तत्तद्देशों के नाम से उपलक्षित प्राकृतों के नामोल्लेख विविध विद्वानों ने किये हैं। नाट्यशास्त्र में मागधी, आवंतिका, प्राच्या, शौरसेनी, अर्धमागधी, बाह्लीका और दाक्षिणात्या नामक जिन सात भाषाओं का प्रकीर्त्तन हुआ है, वे सभी भाषाएँ प्राकृत के नाम से ही अभिहित की गई हैं। प्राकृत भाषाओं के नाम-प्रभेदों में जिस प्रकार महाराष्ट्र, शूरसेन और मगध आदि देशों के नाम आधारभूत हैं, उसी प्रकार अपभ्रंश भाषाओं के नामकरण में भी आभीर, शबर, शक और चाण्डाल आदि जातियों के नाम मुख्य कारण हैं। काव्यों में प्रयुक्त आभीर आदि जातियों की भाषा को अपभ्रंश-पद से संकेतित किया गया है जबकि व्याकरणशास्त्र आदि में संस्कृत से भिन्न भाषा-सामान्य को 'अपभ्रंश' की संज्ञा दी है जिसमें व्याकरण-लक्षणविहीन च्युतसंस्कृति आदि दोष पाये जाते हैं। महाभाष्यकार पतंजलि ने अपभ्रंश भाषा के प्रयोक्ताओं को 'म्लेच्छ' पद से सम्बोधित किया है। जिस प्रकार भाषाभेद की दृष्टि से काव्य के भेद किये गये हैं उसी प्रकार पद्य-प्रबंधों के भी लक्षण स्थिर किये गये हैं। सर्गबद्ध महाकाव्यों की रचनाएँ संस्कृत में, स्कंधक जैसे छंदों में रचित काव्यग्रंथों की रचनाएँ प्राकृत में, 'ओसर' नामक छंद में लिखित काव्यों की रचनाएँ अपभ्रंश में की गई हैं जिनके सर्गों को 'कुडवक' कहा गया है। संस्कृत काव्यों में रामायण, प्राकृत काव्यों में सेतुबंध और अपभ्रंश काव्यों में 'कर्ण पराक्रम' जैसे ग्रंथों को निर्दशित किया जा सकता है। नाटक आदि में पात्रभेद से

विविध भाषाओं का प्रयोग होता है जैसा कि आचार्य विश्वनाथ ने साहित्यदर्पण नामक ग्रंथ में लिखा है—

"पुरुषाणामनीचानां संस्कृतं स्यात् कृतात्मनाम्।
शौरसेनी प्रयोक्तव्या तादृशीनां च योषिताम्॥
आसामेव तु गाथासु महाराष्ट्री प्रयोजयेत्।
अत्रोक्ता मागधी भाषा राजान्तःपुरचारिणाम्॥
चेटानां राजपुत्राणां श्रेष्ठिनां चार्धमागधी।
प्राच्या विदूषकादीनां धूर्त्तानां स्यादवंतिका॥
योधनागरिकादीनां दाक्षिणात्या हि दीव्यतां।
शबराणां शकादीनां शाबरी सम्प्रयोजयेत्॥

स्पष्ट है कि उपर्युक्त कारिकाओं में विश्वनाथ ने संस्कृत के साथ-साथ शौरसेनी, महाराष्ट्री, मागधी, अर्धमागधी, आवंतिका, दाक्षिणात्या तथा शाबरी आदि भाषाओं के प्रयोक्ताओं का उल्लेख कर उनकी सीमाओं का संकेत किया है। भाषाकृत काव्य-विभाजन में इस विवरण को उल्लेखनीय समझकर ही हमने इसकी चर्चा की है।

उद्‌भट-कृत काव्य-बंध या काव्य-भेद

आचार्य उद्‌भट ने 'काव्यालंकारसारसंग्रह' नामक अलंकार-ग्रन्थ में 'प्रेयस्वत', 'रसवत्', 'ऊर्जस्वित' तथा 'समाहित' संज्ञक चार प्रकार के काव्यबंधों का उल्लेख कर भामह तथा दण्डी की विचार-परम्परा को विकसित करने का महत्त्वपूर्ण कार्य किया है। उनके मतानुसार 'रत्यादि भावों का अनुभावों द्वारा संसूचन मात्र करते हुए जो काव्य ग्रथित किया जाता है वह 'काव्य 'प्रेयस्वत्' हैं तथा जिस काव्य में स्वशब्द, स्थायी, संचारी, विभाव तथा अभिनय आदि के आश्रय से श्रृंगार आदि रसों का उदय स्पष्ट रूप से प्रदर्शित होता है उसे 'रसवत्' काव्य कहते हैं। उन्होंने 'ऊर्जस्वित्' काव्य उस रचना को माना है जिसमें कालगत व्यक्ति काम और क्रोध आदि मनोविकारों के अधीन होने के कारण उसमें अनुचित रूप में प्रवृत्त रस और भावों का ग्रथन करते चलते हैं। 'समाहित' नामक काव्य-बंध में रस, भाव अथवा उनके आभासों के प्रशम का तो वर्णन रहता है, किंतु अन्य किसी भी रस अथवा भावों के अनुभावों का वर्णन नहीं होता। उनका यह काव्य-भेदवर्णन रस-निरूपण के परिपार्श्व में विवेचित है क्योंकि उक्त सभी प्रकारों में रसों और भावों के माध्यम से काव्य का स्वरूप स्पष्ट किया गया है। इस विवेचन की कतिपय उल्लेखनीय विशेषताएँ भी हैं। यथा भामह और दण्डी ने जिस प्रेयस का निरूपण किया था वह प्रियतर आख्यान पर्यन्त ही सीमित था, किंतु उद्‌भट ने उसे सम्पूर्ण भावों तक परिव्याप्त कर दिया है। उनका 'उर्जस्वित्' और 'समाहित' काव्य-विषयक दृष्टिकोण भी व्यापक तथा स्पष्ट है। कालांतर में रसाभास और भावाभास के जो उपलक्षण निर्धारित किये गये, उनका पूर्वाभास उनके ऊर्जस्वित् काव्य के स्वरूपलक्षण में विद्यमान है। भामह के विवेचन से स्पष्ट है कि उन्होंने समाहित काव्यबंध को राजमित्र काव्य के प्रसंग में अवश्य उदाहृत किया था, किंतु वे उसका स्वरूपलक्षण नहीं दे सके जबकि उद्‌भट ने उसके अंतरंग

स्वरूप का कथन कर दण्डी की तद्विषयक बाह्यांग कल्पना को भी विशदता प्रदान की है। उनके द्वारा निरूपित काव्यभेदों के लक्षण निम्नलिखित हैं—

रत्यादिकानां भावानामनुभावादिसूचनैः।
यत्काव्यं बध्यते सद्भिस्तत्प्रेयस्वदुदाहृतम् ॥
रसवद्दर्शितस्पष्टश्रृंगारादिरसोदयम्।
स्वशब्दस्थायिसंचारिविभावाभिनयास्पदम् ॥
अनौचित्यप्रवृत्तानां कामक्रोधादिकारणात्।
भावानां च रसानां च बोध ऊर्जस्वि कथ्यते ॥
रसभाव तदाभासवृत्तेः प्रशमबंधनम्।
अन्यानुभावनिः शून्यरूपं तत्स्यात् समादितम्।

काव्य-भेदों के विषय में वामन का अभिमत

वामन ने गद्य और पद्य के नाम से काव्य के दो भेद किये हैं। इन दोनों भेदों में गद्य का पूर्वनिर्देश करने का कारण यह है कि उसकी रचनाओं में 'दुर्लक्ष्य विशेषत्व' तथा दुर्बन्धत्व' होता है। विद्वानों ने गद्य को जिस अर्थ में कवियों का निकष कहा है उसका भी यही अभिप्राय है कि उसकी रचना में कवियों को विशेष परिश्रम करना पड़ता है। गद्य के तीन भेद हैं—१. वृत्तगंधि, २. चूर्ण और ३. उत्कलिकाप्राय। जो गद्य पद्य भाग से युक्त अथवा उसके समान प्रतीत हो एवं जिसकी रचना में वृत्त अथवा छंद की गंध आए उसे 'वृत्तगंधि' गद्य कहते हैं। ऐसे गद्य के पद-खंड अनेक स्थलों पर किसी न किसी प्रकार के छंद-पादों की सी ध्वनि देते हैं। 'चूर्ण' गद्य वह है जो दीर्घ समासों से रहित और ललित पदों से युक्त हो। 'उत्कलिकाप्राय' गद्य में 'चूर्ण' नामक गद्य से सर्वथा विपरीत स्थिति होती है अर्थात् वह दीर्घ समासयुक्त तथा उद्धत पद समन्वित रहता है। वामन का यह गद्य-विवेचन अत्यंत साधारण कोटि का है क्योंकि उसमें गद्य की उन अंतरंग विशेषताओं का विमर्श नहीं हुआ है जो कालांतर में विकसित हुईं तथा जिसके कारण न केवल गद्य को काव्य-निकष ही कहा गया अपितु बाण की रचना में उसका चरम उत्कर्ष देखकर 'बाणोच्छिष्टं जगत् सर्वम्' की उक्ति भी प्रसिद्ध हो चली।

वामन ने पद्य के भी अनेक भेद माने हैं जिनमें सम, अर्धसम और विषम आदि प्रमुख हैं। गद्यपद्यरूप काव्य को उसने 'अनिबद्ध' तथा 'निबद्ध' नामक दो अन्य प्रकारों में भी विभक्त किया है। अनिबद्ध काव्य अपने छंदों में परस्पर असंबद्ध तथा निरपेक्ष होता है अतः उसे मुक्तक काव्य भी कहा जा सकता है। निबद्ध-काव्य अपनी पारस्परिक सम्बद्धता के कारण प्रबंध-काव्य के रूप में निर्मित होता है जिसके प्रमुख रूप महाकाव्य तथा खण्डकाव्य हैं। वामन ने अनिबद्ध तथा निबद्ध काव्यों की सिद्धि क्रमशः सृक् (माला) और उत्तंस (शेखर) के समान मानी है जिसका अभिप्राय यह है कि जिस प्रकार माला के बन जाने पर उसी के द्वारा उत्तंस या मुकुट शेखर बन जाता है उसी प्रकार अनिबद्ध काव्य से ही निबद्ध काव्य की क्रमसिद्धि होती है।

वामन की विवेचना से प्रकट है कि वे अनिबद्ध अथवा मुक्तक काव्य की अपेक्षा

प्रबंध-काव्य को अधिक महिमामय समझते थे। उनका मत था कि जिस प्रकार अकेला अग्नि-कण अपने तेज का प्रसार नहीं करता, उसी प्रकार अनिबद्ध काव्य भी अपनी एकांतता में प्रकाशित नहीं होता। उनकी दृष्टि में प्रबंध-काव्य ही अधिक वरेण्य है क्योंकि उसके परस्पर संबद्ध छंद उसी प्रकार अपना भाव-प्रकाश करते हैं जिस प्रकार अग्नि-कणों का समूह अपनी प्रभा विकीर्ण करता है। वामन ने 'संदर्भेषु दशरूपकं श्रेयः' सूत्र द्वारा नाटक आदि दशरूपकों की श्रेष्ठता प्रतिपादित की है। उस श्रेष्ठता का कारण यह है कि दस प्रकार के रूपकों में चित्रपट की भाँति वे समस्त विशेषताएं समाविष्ट रहती हैं जिनके कारण उनका रूप अत्यंत आह्लादपूर्ण और चमत्कारपरक बन जाता है। वस्तुतः जो गुण आदर्श चित्रपट के हैं, वे ही गुण दशरूपकमय प्रबंध-काव्य के हैं। काव्य के कथा, आख्यायिका और महाकाव्य आदि रूपों की जो कल्पना की गई है उसका आधार 'दशरूपक' ही है क्योंकि जिस प्रकार चित्रपट में कथा, गीति और वस्तुविन्यास की योजना रहती है उसी प्रकार काव्य के उपर्युक्त भेदों में भी इन्हीं गुणों का समावेश होता है। अभिप्राय यह है कि वामन ने काव्य के जो भेद विवेचित किये हैं वे अत्यंत सतही हैं तथा उनमें उस अंतर्दृष्टि का संचार नहीं है जो कालांतर में मम्मट और ध्वनिकार आदि आचार्यों द्वारा प्रदर्शित की गई है।

वामन-कृत वर्गीकरण की विशेषता

वामनकृत काव्य के वर्गीकरण की भी अपनी विशेषता है। उन्होंने अपने पूर्ववर्ती आचार्यों की भाँति काव्य का विभाजन गद्य और पद्य नामक प्रकारों में करने के साथ-साथ गद्य को 'वृत्तिगंधि', 'चूर्ण' तथा 'उत्कलिका' संज्ञक रूपों में भी विभाजित किया है जिस पर भरतमुनि की मान्यता का प्रभाव है। पद्य के 'निबद्ध' तथा 'अनिबद्ध' संज्ञक भेद दण्डी की मान्यता पर आधारित हैं किंतु उनकी विवेचना में उनका निजी वैशिष्ट्य भी अंतर्निहित है। उनका मत है कि अनिबद्ध पद्य का अर्थ मुक्त अथवा असंकलित काव्य है जिसमें काव्य की चारुता उसी प्रकार पूर्णरूप से प्रतीत नहीं होती जिस प्रकार तेजो-युक्त होने पर भी परमाणु अपनी विलग्न अवस्था में प्रकाश नहीं दे पाते। निबद्ध अथवा संदर्भ-काव्य की प्रशंसा करते हुए उन्होंने लिखा है कि उसका प्रमुख प्रभेद दशरूप अथवा नाट्य है और सर्गबंध अथवा कथा-आख्यायिका आदि काव्य-भेद उसके ही विलास हैं। यह एक उल्लेखनीय बात है कि वामन ने दशरूप की उत्कृष्टता प्रतिपादित करते हुए भी रस की स्वतंत्र विवेचना नहीं की और कांतिगुण के विवेचन में ही उसका समाहार कर दिया। कांतिगुणहीन काव्य को उन्होंने 'पुराणचित्रच्छाया' से उपमित कर उसकी निस्तेजता निरूपित की है। उनके द्वारा विवेचित समाधिगुण काव्यार्थ की 'भाव्यता' तथा 'वासनीयता' का प्रतिपादक है। वामन का मत है कि कवित्व के लिए अधिकार आवश्यक है। ऐसा प्रतीत होता है कि उनके समय में कवियों के अनेक वर्ग थे जिनमें 'अरोचकी' तथा 'सतृणाभ्यवहारी' कवियों का प्रामुख्य था। प्रथम वर्ग के कवियों में विवेकशक्ति का प्राचुर्य था और वे काव्य के गुण और दोषों का सम्यक् परीक्षण कर उसकी दोषमयता का निरास करने में कुशल होते थे। दूसरे वर्ग के कवियों में विवेक का

अभाव था जिसके कारण वे शास्त्रज्ञान होने पर भी काव्य के गुण-दोषों की समीक्षा नहीं कर पाते थे। ऐसे कवियों और विवेचकों को वामन ने उस कर्दम से उपमित किया है जिसका परिशोधन करने में शास्त्ररूपी जल-विशुद्धकारी कतकफल भी असमर्थ है।

रुय्यक के मतानुसार काव्य के भेद

रुय्यक ने व्यंजनाव्यापार को व्यंग्यनिष्ठ कहकर व्यंग्य के प्राधान्य तथा अप्राधान्य से काव्य के दो भेद—ध्वनि और गुणीभूतव्यंग्य—माने हैं। व्यंग्य की अस्फुटता होने पर अलंकारवत्ता के द्वारा काव्य का एक तृतीय भेद भी माना जा सकता है जिसे 'चित्र' काव्य कहते हैं। इन तीन भेदों में 'ध्वनि' उत्तम काव्य है। ध्वनि-काव्य के दो भेद हैं—(१) लक्षणामूला अविवक्षितवाच्यध्वनि और (२) अभिधामूला विवक्षितान्य-परवाच्यध्वनि। प्रथम प्रकार की ध्वनि के दो भेद हैं—(१) अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य-ध्वनि तथा (२) अत्यंत तिरस्कृत वाच्यध्वनि। विवक्षितान्यपरवाच्य भी दो प्रकार का है—(१) असंलक्ष्यक्रमव्यंग्य और (२) संलक्ष्यक्रमव्यंग्य। शब्द शक्तिमूलक वस्तुध्वनि असंलक्ष्यक्रम व्यंग्य है जबकि अर्थशक्तिमूलक वस्तु (रसादि) ध्वनि संलक्ष्यक्रम व्यंग्य। शब्द और अर्थ की उभयशक्ति के मूल वाली ध्वनि वस्तुध्वनि और अलंकारध्वनि होती है। रुय्यक ने रसादिध्वनि का विशेष विवेचन काव्य को शृंगारादि प्रधान सिद्ध करते हुए 'अलंकारमंजरी' नामक कृति में किया है। उन्होंने गुणीभूतव्यंग्य को वाच्यांगत्व आदि के भेदों से समासोक्ति में निर्दशित किया है तथा चित्रकाव्य को शब्दालंकार तथा अर्थालंकार के स्वभाव वाला कहकर उसके अनेक भेद निर्दिष्ट किये हैं।

रुय्यक ने 'सर्गबंध' और 'नाट्य' आदि को काव्य के प्रकार-विशेष कहकर सुकुमारमति व्यक्तियों के लिए उनकी उपयोगिता निरूपित की है।[१] साधारणतया काव्य में नायक और प्रतिनायक के रूप में प्रसिद्ध राम और रावण आदि पात्रों के ग्राह्य तथा त्याज्य चरितों का वर्णन रहता है। ऐसे चरितों में विधिनिषेधात्मक प्रणाली से सामाजिकों का हृदयसंवाद कराने की शक्ति होती है। कवि को इस बात का अधिकार है कि वह उत्पाद्य अथवा कल्पित वस्तु में से चाहे किसी भी वस्तु का आधार लेकर अपनी काव्य-रचना करे किंतु उसकी कृति में सामाजिक के हृदय को रससंवेद्य बनाने की क्षमता अवश्य होनी चाहिए। काव्य का जो दूसरा भेद 'नाट्य' किया गया है उसमें राम, रावण आदि पात्रों के अनुकरण द्वारा उनका साक्षात् प्रदर्शन किया जाता है। इस विषय में एक आचार्य का मत है कि "यदि अनुभावों और विभावों का वर्णन 'काव्य' कहा जाता है तो उन्हीं का गीतादि द्वारा अनुरंजित प्रयोग 'नाट्य'।[२]" इन दोनों प्रकार के काव्यों की सुकुमारमति जनों के लिए विशेष उपयोगिता है, क्योंकि वे अपने विलासपूर्ण और सुखी जीवन में शास्त्रादि के श्रवण से विमुख और तत्त्वान्वेषण में जड़मति होते हैं। वस्तुतः

---

१. महिमभट्ट, व्यक्तिविवेक, प्रथम विमर्श की रुय्यक कृत व्याख्या, चौखम्बा संस्कृत सीरीज, वाराणसी, पृ० १०१।

२. 'अनुभावविभावानां वर्णना काव्यमुच्यते।
तेषामेव प्रयोगस्तु नाट्यंगीतादिरंजितम्॥

सुकुमारमति व्यक्ति ही काव्योपासना के सच्चे अधिकारी हैं क्योंकि उन्हें नारी-चरित्रों, नृत्य-भंगिमाओं और आतोद्य आदि वाद्यसामग्रियों द्वारा आकर्षित कर उभयविध काव्यों के परिसेवन से जो शिक्षा दी जाती है वह वैसी ही है जैसी किसी को मधुर वस्तु का रसास्वादन कराते हुए कटुकौषध का पान आदि कराने की क्रिया। यदि ऐसा न किया जाय तो राजकुमार आदि सुकुमार व्यक्तियों की प्रवृत्ति काव्य के प्रति हो ही नहीं सकती और जब उनकी काव्यप्रवृत्ति ही नहीं होगी तो फिर उनमें व्युत्पत्ति का संचार कैसे होगा ? वस्तुतः काव्य-निर्माण की सफलता चाहने वाले व्यक्ति को उसकी प्रवृत्ति के रूप में काव्य और नाट्य की रसात्मकता अवश्य स्वीकार करनी चाहिए अन्यथा उसके प्रति किसी का उन्मुखीकरण संभव ही नहीं है।

रुद्रट और काव्य-भेद

रुद्रट ने 'ननु काव्येन क्रियते सरसानामवगमश्चतुर्वर्गे'[१] द्वारा चतुर्वर्ग के फल-प्रदाता के रूप में काव्य की उपादेयता सिद्ध कर उसके भेदोपभेदों का भी निरुपण किया है। उनके मतानुसार 'काव्य', 'कथा' और 'आख्यायिका' आदि नामों से प्रसिद्ध प्रबंध-काव्य के दो प्रकार हैं—उत्पाद्य और अनुत्पाद्य। नमिसाधु ने 'आदि' पद की व्याख्या करते हुए 'कुलक' और 'नाटक' को भी उसके भेद माना है। 'उत्पाद्य' काव्य का शरीर केवल कवि-कल्पना से निर्मित होता है किंतु 'अनुत्पाद्य' काव्य में किसी इतिहास-प्रसिद्ध सम्पूर्ण कथा अथवा उसके कथा-भाग का नियोजन रहता है। धनपालकवि निर्मित 'तिलकमंजरी' तथा बाणकविनिर्मित 'कादम्बरी' यदि 'उत्पाद्य' काव्य के उदाहरण हैं तो 'किरातार्जुनीय' नामक कृति 'अनुत्पाद्य' काव्य के निदर्शन। इन दोनों प्रकार के काव्यों को भी महान् और लघु भेदों में विभक्त किया गया है। महान् प्रबंध-काव्यों के विस्तृत आयाम में चतुर्वर्ग, सम्पूर्ण रस तथा समस्त प्रकार के वर्णनीय स्थलों का चित्रण रहता है जबकि लघु प्रबंध-काव्यों में चतुर्वर्ग में से किसी एक वर्ग का निरूपण रहता है। ऐसे काव्यों में यदि सम्पूर्ण रसों का प्रयोग भी किया जाय तो भी वह केवल अपूर्ण रूप से ही होता है अथवा उनमें किसी एक ही रस का पूर्णोद्रेक रहता है। 'शिशुपालवध' और 'मेघदूत' नामक काव्य प्रबंध-काव्यों की महत्ता और लघुता के परिचायक काव्य-ग्रंथ हैं।

रुद्रट ने उत्पाद्य महाकाव्य के जो लक्षण निर्धारित किये हैं उन पर भामह और दण्डी की मान्यताओं का पर्याप्त प्रभाव है। यह बात अवश्य है कि उन्होंने उन लक्षणों को अपना निजी वैशिष्ट्य प्रदान करने का भी प्रयत्न किया है जो कालांतर में विश्वनाथ आदि आचार्यों को भी सुमान्य रहा है। रुद्रट का मत है कि उत्पाद्य महाकाव्य में सर्वप्रथम किसी श्रेष्ठ नगरी का वर्णन और तदुपरांत उसके नायक की वह प्रशंसा होनी अनिवार्य है। ऐसे महाकाव्य का नायक त्रिवर्ग प्राप्ति में संसक्त, शक्तित्रय से सम्पन्न, सर्वगुण-संयुक्त, सर्वप्रजाप्रिय और विजिगीषु व्यक्ति होना चाहिए। उनमें सम्पूर्ण राज्य का विधिवत् परिपालन करने की क्षमता के साथ-साथ शरदादि ऋतुओं के सुखोपभोग की भी योग्यता होनी आवश्यक है। रुद्रट का परामर्श है कि महाकाव्य में स्वार्थ तथा मित्रादि

१. रुद्रट, काव्यालंकार, १२।१।

के लाभार्थ धर्मादि का साधन करने वाले नायक के कुलीन, पराक्रमी तथा दानी आदि शत्रुओं में से किसी एक शत्रु को गुणी रूप में वर्णित करना चाहिए। अपने गुप्तचर, दूत अथवा अन्य किसी भी साधन से शत्रुओं के कार्यों का श्रवण करने पर नायक को चाहिए कि वह ऐसी उत्तेजित वाणी का प्रयोग करे जिससे उसके सहायक नरेश संक्षुब्ध हो जायँ। महाकाव्य के कथा-विन्यास में उसके नायक द्वारा मंत्रियों के परामर्श से शत्रुओं की दण्डसाध्यता का निश्चय कर उनका प्रतिकार करने की भावना से या तो उनके विरुद्ध रण-प्रयाण किया जाय अथवा दूत-सम्प्रेषण कर प्रतिशोध का संदेश भेजा जाय। महाकाव्यकार का यह भी कर्तव्य है कि वह नायक-संगत कथा-प्रसंग से जनपद, पर्वत, नदी, अटवी, सरोवर, मरुभूमि, समुद्र, द्वीप तथा शिविर का वर्णन करने के साथ-साथ यथावसर युवकों के खेलकूद, सूर्यास्त पर अन्धकारमयी संध्या, चन्द्रोदय, रात्रि और उसमें युवक-युवतियों के सामूहिक संगीत, मद्यपान एवं उनकी श्रृंगार-चेष्टाओं का भी चित्रण करता चले। युद्ध-प्रयाण के पूर्व सैनिकों की जो मनोदशा होती है, उसका चित्रण करने के साथ-साथ महाकाव्यकार को युद्धभूमि का दृश्य तथा अंततोगत्वा नायक की विजय प्रदर्शित करनी चाहिए। रुद्रट ने महाकाव्य की कथावस्तु को 'सर्ग नामक विभिन्न प्रकरणों में विभक्त करने का भी आदेश दिया है। उनका मत है कि नाट्य में जिन पंचसंधियों की योजना की जाती है, वे संधियां महाकाव्यों में भी प्रयुक्त की जायँ जिनसे कथा का आनुक्रमिक विकास हो तथा प्रकरणों अथवा सर्गों में पारस्परिक संबद्धता बनी रहे। महाकाव्य के ये लक्षण रुद्रट-रचित 'काव्यालंकार' के षोडश अध्याय में कारिका संख्या सात से उन्नीस तक वर्णित हुए हैं। उनका उल्लेख करने का मंतव्य यही है कि महाकाव्य के स्वरूप-लक्षण के विकास की परम्परा में उनके महत्त्व का आभासमात्र मिल सके।

रुद्रट ने महाकाव्य के लक्षणों का निरूपण करने के पश्चात् 'महाकथा' के लक्षण विवेचित किये हैं। उनके मतानुसार 'महाकथा' के प्रारम्भ में उसका रचियता अपने इष्टदेव तथा गुरुजनों को श्लोकनिबद्ध नमस्कार कर अपने तथा अपने वंश का संक्षिप्त परिचय प्रस्तुत करता है। उसकी प्रारम्भिक प्रस्तावना का उद्देश्य सुजनों की स्तुति और खलों की निन्दा भी है। महाकथा में उक्त मंगलाचरण तथा प्रस्तावना के पश्चात् लघ्वक्षरयुक्त सानुप्रासिक गद्य के माध्यम से नगर आदि का वर्णन करते हुए कथा के शरीर का निर्माण किया जाता है। 'कथा' के प्रारम्भ में ऐसे कथान्तर की योजना की जाती है जिसमें मुख्य कथा का सम्यक् संकेत हो तथा उसकी रचना ऐसे रूप में की जाय कि मुख्य कथा के प्रस्तुतीकरण में कोई व्यवधान उपस्थित न हो। 'महाकथा' का फल या तो कन्या-प्राप्ति रूप हो अथवा राज्यादि लाभरूप। उसमें श्रृंगार रस के समस्त रूपों का सम्यक् विकास भी होना चाहिए। संस्कृत भाषा में निबद्ध महाकथा गद्यमयी होनी चाहिए किंतु संस्कृतेतर भाषाओं में वह पद्य अथवा गाथाओं में भी लिखी जा सकती है।

रुद्रट ने 'आख्यायिका' को भी प्रबंधकाव्य का एक भेद माना है। उनके मतानुसार आख्यायिकाकार को सर्वप्रथम अपने इष्टदेव तथा गुरु की वंदना करनी चाहिए और तदुपरांत अन्य कवियों की आशंसा करके ही अपनी रचना का प्रारम्भ करना चाहिए।

उसका यह भी कर्तव्य है कि वह उसी क्रम में राज्यभक्ति तथा दूसरों का गुण-संकीर्तन करे तथा वैसा करने का सरल विधि से कारण भी निर्दिष्ट कर दे। उसकी रचना में 'कथा' की भाँति गद्य का प्रयोग हो तथा उसमें रचयिता के वंशादि का वर्णन भी होना चाहिए। आख्यायिका के अध्यायों को 'सर्ग' न कहकर 'उच्छ्वास' की अभिधा प्रदान की जाती है तथा प्रथम उच्छ्वास को छोड़कर शेष उच्छ्वासों के प्रारम्भ में प्रस्तुत अर्थ के संसूचन के लिए सामान्य अर्थनिर्देशक दो-दो श्लिष्ट आर्याछिंदों का भी प्रयोग करना चाहिए। उसके रचयिता के लिए यह भी आवश्यक है कि वह संशयपूर्ण प्रसंग के वर्णन के अवसर पर परोक्ष तथा प्रत्यक्ष अर्थ को निश्चित करने के लिए संशय-निवारणार्थ प्रसंगानुकूल अन्योक्ति, समासोक्ति तथा श्लेष आदि अलंकारों से युक्त एक अथवा दो पद्यों का पाठ कराये। उसकी कथावस्तु के आधार पर उसमें आर्या, अपरवक्त्र और पुष्पिताग्रा आदि छंदों में से किसी एक छंद का प्रयोग किया जाता है किंतु अधिकांशतः मालिनी छंद ही व्यवहृत होता है।[१]

रुद्रट ने महाकाव्य, कथा और अख्यायिका को प्रबंधकाव्य के भेदों के रूप में विवेचित कर उनमें वर्णित होने वाले कुछ सामान्य प्रसंगों का भी उल्लेख किया है। उनका मत है कि इन प्रबंध-काव्यों में शुभ प्रसंगों के साथ ऐसी कथा-वस्तु को भी स्थान दिया जाता है जो किंचित् विरुद्ध-सी प्रतीत होने पर भी साभिप्राय हो तथा यथा-प्रसंग उनसे अंतःकथाओं का भी समावेश किया जाय। उसमें नायक की राज्यभ्रंशता से लेकर उसकी पुनः राज्यप्राप्ति पर्यन्त की घटनाओं का वर्णन किया जाना चाहिए तथा मुनि के प्रसंग से मोक्ष का कथन भी होना चाहिए।[२] 'लघुकाव्य' अथवा 'खंडकथा' के सम्बन्ध में उनका कहना है कि उनमें नायक को उसके सहायक द्विज, सेवक तथा सार्थवाह के साथ प्रथमतः आपद्ग्रस्त दिखाया जाय और तदुपरांत उसकी सुखोपलब्धि का चित्रण किया जाय। उनमें या तो करुण रस का उद्रेक हो या प्रवासगत विप्रलम्भ शृंगार की निष्पत्ति। उसमें प्रथमतः अनुराग वर्णित किया जाता है तथा अंततः नायक का अभ्युदय।[३] इस प्रकार रुद्रट ने उत्पाद्य प्रबंध-काव्यों के अंतर्गत महाकाव्य, महाकथा और आख्यायिका के लक्षणों का उल्लेख कर लघुकाव्य तथा खण्डकथा के लक्षण भी निर्दिष्ट किये हैं। अनुत्पाद्य प्रबंधों में उन्होंने उक्त लक्षणों का निषेध कर केवल यथार्थ घटनाओं के वर्णन को ही महत्त्व दिया है। उनका यह विवेचन काव्य-रूपों के विकास का एक विशेष चरण है।

रुद्रट के मतानुसार काव्य के कुछ अन्य प्रकार भी हैं जो 'वर्णकमात्र,' 'प्रशस्ति-काव्य', 'कुलक', 'नाटक', 'बहुभाष' तथा 'विचित्र' नाम से अभिहित किये जा सकते हैं। वर्णकमात्र काव्य में प्रधानतः वर्ण-सौन्दर्य होता है जो श्लेष, यमक, अनुप्रास और वक्रोक्ति के प्राधान्य से व्यक्त किया जाता है। प्रशस्ति-काव्यों में राजवंश का यशोगान रहता है। कुलक-काव्य में पांच और चौदह श्लोकों के बीच वर्ण्यविषय की समाप्ति की जाती है।

१. रुद्रट, काव्यालंकार, १६।२४-३०।
२. वही, १६।३१-३२।
३. वही, १६।३३-३४।

मुक्तक में एक पद्य, संदानितक में दो पद्य, विशेषक में तीन पद्य और कलापक में चार पद्य होते हैं। 'कोष काव्य' में मुक्तक छंदों में शब्दों के पर्याय दिये जाते हैं तथा 'परिकथा' में बहुत से पद्यों में एक वाक्य तथा वाक्य-खंडों का समुदाय होता है। नाटकादि में रूपक के दस प्रकार सम्मिलित हैं तथा 'विचित्र' काव्य में संधियों तथा संध्यंगों के समावेश के साथ-साथ अभिनयादि भी रहते हैं। इन काव्यों के अतिरिक्त 'बहुभाष' नामक भी काव्य का एक भेद है जिसमें बहुत-सी भाषाओं का एक साथ प्रयोग किया जाता है।

अग्निपुराण के अनुसार काव्य-भेद

अग्निपुराण में गद्य, पद्य और मिश्र संज्ञक काव्य के तीन भेद माने गये हैं। चरण-रहित पद-समूह का नाम गद्य है जिसके तीन रूप हैं—चूर्णक, उत्कलिका और वृत्तसंधि। जो गद्य अल्पाल्प समासयुक्त और कर्कश शब्दावली प्रयुक्त हो उसे चूर्णक गद्य कहते हैं तथा जिस गद्य में दीर्घ समास हो उसे उत्कलिका। वृत्तसंधि गद्य में शब्दों और समासों की मध्यम स्थिति रहती है और उसमें वृत्त की छाया भी अत्यंत क्षीण होती है। गद्य काव्य के पांच प्रकार हैं—आख्यायिका, कथा, खण्डकथा, परिकथा तथा कथानिका। आख्यायिका में ग्रंथकर्ता के वंश की प्रशस्ति विस्तारपूर्वक की जाती है तथा उसमें कन्या-हरण, संग्राम तथा विप्रलम्भजन्य विपत्तियों के साथ-साथ रीति, वृत्ति तथा प्रवृत्तियों का चमत्कारपूर्ण वर्णन रहता है। उसके कथाभागों को उच्छ्वास कहते हैं तथा उसमें चूर्णक नामक गद्य का प्रयोग होता है। उसकी कथा या तो स्वयं नायक के मुख से कही जाती है अथवा कोई अन्य पात्र उसका वर्णन करता है। कथा गद्य-काव्य का वह प्रकार है जिसमें ग्रंथकार संक्षेप में श्लोकों द्वारा अपने वंश की प्रशंसा करता है। उसमें मुख्य कथा को लाने के लिए अवांतर कथा की योजना भी की जाती है। उसमें परिच्छेद नहीं होते तथा समस्त वर्ण्य विषय प्रबंध में अनुस्यूत रहता है। कथा-काव्य में चतुष्पदी का प्रयोग होने पर वह खण्डकथा बन जाती है। कथा और परिकथा का नायक राजमंत्री, ब्राह्मण अथवा व्यापारी होता है। करुण रस के अतिरिक्त उसमें चार प्रकार का विप्रलम्भ शृंगार पाया जाता है। कथा की घटना अपूर्ण रूप में छोड़ दी जाती है। एक प्रकार से परिकथा को कथा तथा आख्यायिका का मिश्रित रूप कहा जा सकता है। कथानिका नामक गद्यकाव्य के आदि में सुखपरक भयानक रस, मध्य में करुण रस और अंत में अद्‌भुत रस होता है। यद्यपि इस गद्य-काव्य का केन्द्रीभूत विषय उदात्त नहीं होता, फिर भी उसका नियोजन विधिपूर्वक किया जाना चाहिए।

पद्य-काव्य में चार पाद होते हैं। उसके दो प्रकार हैं जिनके नाम हैं—वृत्त और जाति। जहां अक्षरों की संख्या नियत होती है उसे वृत्त तथा जहां मात्राओं की गणना की जाती है उसे 'जाति' कहते हैं। पिंगलशास्त्र के अनुसार सम, अर्धसम और विषम संतक छंदों के तीन भेद हैं। अग्निपुराण में काव्यसागर को पार करने के लिए छंद विद्या के ज्ञान को नौका रूप कहा गया है (सा विद्या नौस्तितीर्षूणां गंभीरं काव्यसागरम्।)

पद्य के सात भेद हैं—महाकाव्य, कलाप, पर्याबन्ध, विशेषक, कुलक, मुक्तक और कोष। महाकाव्य को सर्गबंध कहा जाता है। उसका प्रारम्भ संस्कृत भाषा से होता है

किन्तु शेष भाग प्राकृत में भी लिखा जा सकता है। उसका कथानक या तो इतिहास-कथोद्भूत होना चाहिए या सभ्य प्रचलित। उसमें मंत्रणा, दूतप्रेषण तथा युद्ध आदि का अधिक विस्तार नहीं होना चाहिए। उसमें शक्वरी, अतिजगती, अति शक्वरी, त्रिष्टुप, पुष्पिताग्रा और वक्त्र आदि छंदों का प्रयोग किया जाना वांछनीय है। उसके सर्गांत में छंद-परिवर्तन हो तथा सर्ग अति संक्षिप्त न हों। नगर-वर्णन, समुद्र, पर्वत, ऋतु, चन्द्र, सूर्य, आश्रम, पादप, उद्यान, जलक्रीडा तथा मद्यपान आदि उत्सवों का वर्णन भी उसमें होना चाहिए। वह यथासंभव सब प्रकार के रसों, रीतियों, भावों, वृत्तियों और अलंकारों से पुष्ट किया जाय। यद्यपि उसमें विविध प्रकार के वाग्वैदग्ध्य प्रदर्शित किये जाते हैं किन्तु उसका आत्मतत्त्व तो रस ही होता है। उसके द्वारा चतुर्वर्ग की फल-प्राप्ति होती है।

इन्द्रियों के माध्यम से काव्य के भेद : श्रव्य काव्य और दृश्य काव्य

भारतीय आचार्यों ने इन्द्रियों के सन्निकर्ष अथवा माध्यम के आधार पर भी काव्य के प्रमुख दो भेद श्रव्य काव्य और दृश्यकाव्य—निर्धारित किये हैं। अपने शोध-प्रबंध की सीमा को केवल पद्यबद्ध श्रव्य काव्य तक ही मर्यादित रखने के कारण हम दृश्य काव्य की विवेचना नहीं करेंगे। आचार्य विश्वनाथ ने श्रव्य का अर्थ श्रवण करने योग्य काव्य करते हुए श्रोतव्यतामात्र को ही श्रव्य काव्य का सामान्य लक्षण माना है। श्रव्य काव्य गद्य और पद्य की द्विविध प्रणालियों में विभक्त किया जा सकता है क्योंकि इस प्रकार के काव्य की रसात्मकता रंगमंचीय अभिनय द्वारा प्रदर्शित नहीं की जाती, अपितु वह श्रवण अथवा पठन द्वारा अभिव्यक्त होती है। पद्यात्मक श्रव्य काव्य के पद छन्दोबद्ध होते हैं जिन्हें संस्कृत के काव्यशास्त्रियों ने 'मुक्तक', 'युग्मक', 'सांदानितक', 'कलापक' और 'कुलक' संज्ञक पांच प्रकारों में विभक्त किया है। 'मुक्तक' काव्य के पद अपने अर्थ में अन्य पदों की आकांक्षा से मुक्त अथवा स्वतंत्र होते हैं। रसास्वादन की दृष्टि से इस प्रकार के काव्य प्रबंध-काव्यों की ही भांति आह्लादजनक होते हैं। सभी देशों के साहित्य में मुक्तक-काव्य-रचना की विशिष्ट परम्परा रही है। रससिद्ध कवियों ने मुक्तक रचनाओं में भी उसी प्रकार का रसाभिनिवेश किया है जिस प्रकार का रस-बंध प्रबंधकाव्यों में समाविष्ट होता है। संस्कृत-साहित्य में अमरुक कवि के मुक्तक-पद शृंगाररस के निष्यंद रूप में अत्यंत प्रसिद्ध हैं। उनमें रसनिष्पत्ति के संयोजक विभावानुभावादि का जो सफल अभिव्यंजन हुआ है, वह अभूतपूर्व है। जो काव्य-रचना दो पद्यों में पूर्ण होती है उसे 'युग्मक' कहते हैं। विश्वनाथ के मतानुसार 'युग्मक' और 'सांदानितक' दो पृथक्-पृथक् प्रकार के पद्य-काव्य हैं, किन्तु अभिनवगुप्त ने 'सांदानितक' पद्य-काव्य का जो लक्षण—द्वाभ्यां क्रिया-समाप्तौ संदानितकम्—निर्दिष्ट किया है उसके अनुसार 'युग्मक' और 'सांदानितक' दोनों एक ही प्रतीत होते हैं। आचार्य हेमचंद्र का मत भी अभिनवगुप्त से मिलता-जुलता है। विश्वनाथ ने तीन पद्यों में पूर्ण होने वाले पद्य-काव्य को 'सांदानितक' कहा है जबकि अभिनवगुप्त और हेमचंद्र के अनुसार वह 'विशेषक' (त्रिभिर्विशेषकम्) कहा जा सकता है। 'विशेषक' अथवा 'सांदानितक' का उदाहरण 'शिशुपालवध' के सप्तम सर्ग के तीन श्लोकों का समुदाय (१६ से १८ श्लोक) है जबकि मल्लिनाथ ने उसी महाकाव्य के दो

श्लोकों के समुच्चय अर्थात् द्वितीय सर्ग के २४ वें और २५वें पद्य-समुच्चय को भी 'सांदानितक' माना है। चार पद्यों का 'समुच्चयबंध' 'कलापक' संज्ञक पद्य-प्रबंध कहलाता है जबकि पांच अथवा उनसे अधिक पद्यों के बंध का नाम 'कुलक' है। 'शिशुपालवध' में कलापकों के अतिरिक्त न केवल पद्यपंचात्मक 'कुलक' ही मिलते हैं, अपितु पद्यषटकात्मक, पद्यसप्रकात्मक, पद्याष्टकात्मक तथा पद्यनवकात्मक 'कुलक' भी उपलब्ध होते हैं।

महाकाव्य पद्यकाव्य का सर्गबंधात्मक प्रकार है

पद्यकाव्य का सर्गबंधात्मक काव्य प्रकार 'महाकाव्य' कहलाता है जिसका अर्थ यह है कि 'सर्गबंधत्व' उसका स्वरूप लक्षण है। सर्ग का अर्थ है अवांतर प्रकरण विशेष और उसके बंध का अर्थ है तत्कृतरचना, अर्थात् जिस काव्य के प्रकरण सर्गपद से व्यवच्छिन्न होते हैं उसे महाकाव्य कहा जाता है। महाकाव्य का प्रारम्भ या तो आशीर्वादात्मक विधि से होता है या नमस्क्रिया अथवा वस्तुनिर्देश प्रणाली से।[1] आशीर्वाद का अर्थ है स्वेष्टजनशुभ अथवा स्वात्मशुभ का आशंसन। 'चन्द्रप्रभा' नामक काव्य का प्रारम्भ स्वेष्टजनशुभाशंसन के रूप में हुआ है तो 'शिवलीलार्णव' संज्ञक रचना का श्रीगणेश स्वशुभाशंसन के रूप में। नमस्क्रिया में अपनी अपकृष्टता के साथ-साथ इष्टदेवता अथवा अन्य किसी महत्तर शक्ति की उत्कृष्टता का संसूचक व्यापार विशेष होता है जो कहीं पर 'करशिरः संयोगादिरूप' नमस्कृति में होता है तो कहीं पर 'तत्तद्देशविशेषभिन्न' नमस्क्रिया की संविधि में। 'रघुवंश' का प्रारम्भ नमस्क्रिया विधि से किया गया है। वस्तु-निर्देश का अर्थ है वर्णनीय कथाभाग का विभिन्न प्रकारों से उपनिबंध। यह निर्देश का अर्थ है वर्णनीय कथाभाग का विभिन्न प्रकारों से उपनिबंध। यह निर्देश 'नायक', 'नायकस्थान' और 'कथाभागसंसूचन' संज्ञक तीन रूपों में से किसी अन्यतर रूप में हो सकता है। 'शिशुपालवध' का प्रारम्भ यदि नायक-निर्देश के रूप में हुआ है तो 'कृष्णविभव' का प्रारम्भ नायकस्थानादिनिर्देश के रूप में। 'कुमारसंभव' का शुभारंभ 'कथाभाग निर्देश' की विधि में किया गया है। भारतीय परम्परा के अनुसार साधारणतया किसी महाकाव्य का प्रारम्भ इन्हीं तीन प्रकारों में अन्यतर का अवलम्बन करके किया जाता है, किन्तु इस विषय में कवि-प्रतिभा पर किसी प्रकार का कठोर नियंत्रण नहीं रखा जा सकता। हिन्दी में 'प्रियप्रवास' नामक महाकाव्य का प्रारम्भ प्रकृति-वर्णन से हुआ है किन्तु उसके कारण उसके प्रारम्भोन्मुख रूप में कोई न्यूनता नहीं आयी है।

महाकाव्य के लक्षण

साधारणतया महाकाव्य में एक ही नायक का चरित्र चित्रित किया जाता है जो या तो कोई देव विशेष होता है या सद्वंशोत्पन्न क्षत्रियनरेश, उसमें धीरोदात्तादि गुणों की विद्यमानता तो रहती ही है। किसी-किसी महाकाव्य में एक ही राजवंश में उत्पन्न अनेक कुलीन राजाओं की भी चरित्र-चर्चा होती है। उसका अंगी रस शृंगार, वीर

---

१. सर्गबंधते महाकाव्यमुच्यते तस्य लक्षणम्।
आशीर्नमस्क्रियावस्तुनिर्देशो नापि तन्मुखम्।—दण्डी, काव्यादर्श, १।१४।

अथवा शांत रस में से कोई भी एक रस हो सकता है और अन्य रस उसके अंग विशेष बनकर अभिव्यक्त होते हैं। संस्थान-रचना की दृष्टि से नाटक की सभी संधियां महाकाव्य के लिए आवश्यक हैं। उसका इतिवृत्त या तो इतिहासोद्भव हो सकता है अथवा किसी महापुरुष के जीवन से संबद्ध कोई लोकप्रसिद्ध घटना-चक्र। यों तो महाकाव्य में पुरुषार्थ चतुट्ष्य का काव्यात्मक अभिचित्रण किया जाता है, किंतु परमफल के रूप में किसी एक पदार्थ का ही सर्वतोभद्र उपनिबंध युक्तिसंगत माना गया है।

महाकाव्य का प्रत्येक सर्ग किसी एक ही छंद में लिखा जाता है जिसके अंत में छंद-परिवर्तन करना अनिवार्य-सा है। साधारणतया महाकाव्य आठ सर्गों में निर्मित होता है और प्रत्येक सर्ग का विस्तार न तो स्वल्प होता है और न अतिदीर्घ। ऐसे महाकाव्यों की भी रचना की गई है जिनका प्रत्येक सर्ग भिन्न-भिन्द छंदों में आबद्ध हो। सर्गान्त में भावी सर्ग की कथा का संसूचन आवश्यक है। उसके सर्गों के नामकरण की भी एक परम्परा है जो पात्रों के नाम अथवा वर्ण्य वृत्त के आधार पर चलती है। उसके रचनानुबंध में पंच संधियों के अतिरिक्त संध्यंगों की भी संयोजना की जा सकती है। संस्कृत साहित्य में रघुवंश, शिशुपालवध तथा नैषध आदि अनेकानेक महाकाव्य हैं जिनके नामकरण क्रमशः वर्ण्य नायक के वंशज एक महाप्रतापी राजा, प्रतिनायक संबंधी वृत्त तथा नायक के उपनाम पर आधारित हैं। विश्वनाथ कविराज ने 'राघवविलास' आदि स्वनिर्मित सर्गबंध कृतियों की गणना भी महाकाव्यों की श्रेणी में की है। यहां यह बात उल्लेखनीय है कि विश्वनाथ कृत महाकाव्य के लक्षणों पर लोचनकार अभिनवगुप्त का भी प्रभाव है। लोचनकार ने ध्वन्यालोकलोचन के तृतीय उद्योत में 'महाकाव्यरूपः पुरुषार्थफलः समस्तवस्तुवर्णना प्रबंधः सर्गबंधः संस्कृत एव' द्वारा महाकाव्य के जिस लक्षण-सूत्र का संकेत किया है, उसका विस्तार साहित्यदर्पणकार के विवेचन में विद्यमान है। महाकाव्य में संधि-संध्यंगों की योजना पर ध्वन्यालोक में यथेष्ट निरूपण हुआ है। 'भावप्रकाशन' में 'सर्गबंध' का जो स्वरूप-लक्षण दिया गया है, वह महाकाव्य की संज्ञा से भिन्न है। भावप्रकाशन के अनुसार 'रघुवंश' संहिता है जबकि 'साहित्यदर्पण' के अनुसार वह महाकाव्य है। विश्वनाथ ने महर्षि व्यासप्रणीत महाभारत को आर्ष महाकाव्य की अभिधा प्रदान करते हुए उसके सर्गों को 'आख्यान' कहा है। आनंदवर्धन का मत है कि मोक्षरूप परम पुरुषार्थ के प्रतिपादन की दृष्टि से महाभारत 'शास्त्र' है किंतु शांत रस की मधुर अभिव्यंजना की दृष्टि से 'काव्य'। एक प्रकार से उसे 'महाकाव्यात्मक शास्त्र' कहा जा सकता है। कुछ आलंकारिकों ने सारस्वत मत का प्रसार 'शास्त्र', 'काव्यं', 'शास्त्रकाव्य' और 'काव्यशास्त्र' नामक चार प्रकारों में करते हुए सर्वकाव्यांग लक्षणयुक्त ग्रंथ को 'शास्त्र', विशिष्ट शब्दार्थ और अलंकृति से युक्त साहित्य को 'काव्य', चतुर्वर्ग के उपदेशक ग्रंथ को 'शास्त्रकाव्य' तथा भट्टिभौमक आदि काव्यों को 'काव्यशास्त्र' माना है। उनकी दृष्टि से महाभारत को 'शास्त्रकाव्य' कहना उचित है। संस्कृत की भांति प्राकृत में भी महाकाव्यों की रचनाएं हुई हैं जिनके सर्गों को 'आश्वास' कहा गया है। आश्वासों में जो छंद प्रयुक्त हुए हैं वे स्कंधक अथवा 'गलितक' जाति के हैं। 'सेतुबंध' तथा 'कुवलयाश्वचरितम्' नामक महाकाव्य इसी श्रेणी के हैं। अपभ्रंश भाषा

में रचित महाकाव्यों में सर्ग के स्थान पर 'कुडवक' पद का प्रयोग हुआ जिनमें अपभ्रंश भाषा में प्रयुक्त विविध छंदों का संयोजन मिलता है।

महाकाव्य की कथावस्तु और उसके नायक के गुण

महाकाव्य की कथावस्तु ऐतिहासिक घटनाओं से भी समुद्भूत हो सकती है तथा इतिहासवर्णित कथाओं के आधार पर भी कल्पित की जा सकती है। कवि को इस बात का भी अधिकार है कि वह ऐतिहासिक प्रसिद्धि को छोड़कर किसी अन्य महापुरुष की कथा के आधार पर भी अपने महाकाव्य का निर्णय कर सके। इतिहास-पद में रामायण, महाभारत और अन्यान्य पुराणों के परिग्रहण की परिपाटी रही है तथा अन्य पदों में 'राजतरंगिणी' आदि ग्रन्थों की गणना की जा सकती है। 'इतिहास-कथोद्भूत' महाकाव्यों में रामायणादि ग्रन्थों में वर्णित व्यक्ति ही उनके नायक बनाये जाते हैं। महाकवि अश्वघोषकृत 'बुद्धचरित' यद्यपि रामायणादि इतिहासप्रसिद्ध कथावस्तु पर आधारित नहीं है तथापि वह महाकाव्य है क्योंकि उसकी रचना बुद्धादि की सदाश्रित कथा के आधार पर की गई है। महाकाव्य की रचना का उद्देश्य 'चतुर्वर्गफलायत' होता है क्योंकि उसमें वर्णित कथाभाग के मध्य, धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की प्राप्ति के उदात्त अवसर यथाप्रसंग उपस्थित होते रहते हैं।

महाकाव्य के नायक में चातुर्य और औदात्य नामक गुण होने आवश्यक हैं क्योंकि उन्हीं के द्वारा वह कथावस्तु का आनयन अथवा नेतृत्व करने में समर्थ होता है। आचार्यों ने नायक के जो लक्षण निर्धारित किये हैं उनमें धीरता जैसे गुण सर्वत्र व्याप्त रहते हैं। साहित्यदर्पणकार के मतानुसार नायक अथवा नेता का त्यागी, कृती, कुलीन, सुश्रीक, रूपयौवनोत्साही, दक्ष, लोकानुरागी, तेजोविदग्ध और शीलवान् होना चाहिए। दशरूपकार धनंजय ने भी नायक में अनेक गुणों का समाहार स्वीकार किया है।[1] संस्कृत के महाकाव्यों के अनुशीलन से प्रकट है कि कहीं एकदेव, कहीं एक सद्वंशज क्षत्रिय और कहीं एक ही वंश में उत्पन्न अनेक क्षत्रिय महाकाव्यों के नायक रहे हैं। उदाहरणार्थ 'शिशुपालवध' के नायक एक देव श्रीकृष्ण 'नैषधीयचरित' के नायक एक सद्वंशज क्षत्रिय राजा नल और 'रघुवंश' के नायक एक वंशज अनेक क्षत्रिय नरेश (महाराज दिलीप से अग्निवर्ण पर्यन्त) हैं। महाकाव्य के कथानक, उद्देश्य और नायक आदि के विषय में निर्धारित शास्त्रीय नियमों का जो पूर्व-संकेत किया गया है वह देशकालानुरूप परिवर्तित भी होता रहा है।

महाकाव्य के नायक में जिस प्रकार के चातुर्य और औदात्य की ओर संकेत किया गया है उसे प्रतिनायक का भी उपलक्षण माना जा सकता है। उसके कथानुबंध में दोनों का वर्णन अपेक्षित है क्योंकि वैसा करने पर ही कथा में संवेग और जीवन विषयक द्वन्द्व का संचार होता है। इस विषय में कवियों ने भिन्न-भिन्न पद्धतियों का अनुगमन

---

१. नेता विनीतो मधुरस्त्यागी दक्षः प्रियंवदः।
रक्त लोकः शुचिर्वाग्मी रूढ़वंश स्थिरो युवा॥
बुद्ध, युत्साहस्मृतिप्रज्ञाकलामानसमन्वितः।
शूरो दृढ़श्च तेजस्वी शास्त्रचक्षुश्च धार्मिकः।—धनंजय, दशरूपक।

किया है कि नायक और प्रतिनायक में से किसका वर्णन पहले किया जाय ? कवियों की एक परिपाटी के अनुसार पूर्व स्थिति में नायक के वंश, गुण, शौर्य और ऐश्वर्य आदि का विशद वर्णन करने के पश्चात् प्रतिनायक का वर्णन करना चाहिए जिसका अन्तिम परिणाम नायक द्वारा उसका मूलोच्छेदन हो। इस प्रकार की पद्धति रामायण-प्रभृति महाकाव्यों में स्वीकार की गई है जिसका चरम प्रयोजन 'रामादिवत् प्रवर्तितव्यं न रावणादिवत्' है। नायक और प्रतिनायक के उत्कर्ष और अपकर्ष के वर्णन की दूसरी प्रणाली के अनुसार पहले प्रतिनायक के वंश, पराक्रम, शास्त्रज्ञान आदि का वर्णन करने के उपरांत नायक के वर्णनानुक्रम से उसका उच्छेद निरूपित किया जाता है जिससे नायक का उत्कर्ष प्रतिष्ठित हो सके। इस प्रकार की परिपाटी का पालन किरातार्जुनीय नामक महाकाव्य में हुआ है जिसमें दुर्योधन के नीत्यादिवर्णनपूर्वक पांडवों का उत्कर्ष प्रतिपादन और तदुपरांत उनकी विजय निर्दिष्ट की गई है। नायक-प्रतिनायक के वर्णन की इन द्विविध प्रणालियों को लेकर उनके औचित्य के विषय में यह शंका की जा सकती है कि नायक की समता में प्रतिनायक के वंश, वीर्य और शास्त्रज्ञान आदि का वर्णन कहां तक समीचीन है क्योंकि दशरूपक, साहित्यदर्पण और नाट्यदर्पण आदि ग्रन्थों में प्रतिनायक को क्रमशः 'लुब्धो धीरोद्धतः स्तब्धः पापकृद् व्यसनी रिपुः', 'धीरोद्धतः पापकारी व्यसनी प्रतिनायकः' तथा 'अन्यायवान्स्तदुच्छेद्य उद्धतः प्रतिनायकः' आदि कहा गया है। उक्त शंका के समाधान में हमारा निवेदन यह है कि भाग्यवश प्रतिनायक का जन्म उच्च वंश में हुआ हो, पूर्वसंस्कारवश उसने शास्त्रज्ञान भी प्राप्त कर लिया हो किन्तु अपने अविवेक एवम् दम्भवश वह कुपथगामी भी हो सकता है जिसके कारण उसका पतन सहज संभव हो जाय। अतः उसके कुलशौर्यादि के वर्णन में किसी प्रकार का प्रतिबंध लगाना सर्वथा ग्राह्य नहीं है। व्युत्पन्न कवियों की प्रतिभा में कुछ ऐसे सहज गुण होते हैं जिनके कारण वे नायक और प्रतिनायक के चरित्रों का निर्माण सर्वथा मनोवैज्ञानिक विधि से करते हुए उनकी भव्यता और उच्चावचता को रसग्राह्य स्वरूप प्रदान करने में समर्थ हो जाते हैं।

महाकाव्य की वस्तु-वर्णना और उसके गुणों का विस्तार

जहां तक महाकाव्य की वस्तु-वर्णना का क्षेत्र है उसके सर्गों में यथाप्रसंग में नगर, समुद्र, पर्वत, वनोपवन, ऋतुएं, सूर्योदय, चन्द्रोदय, सूर्यास्त, चन्द्रास्त, उद्यान विहार, सलिलक्रीड़ा, मधुपान और रतोत्सव आदि विविध विषयों का वर्णन यथाप्रसंग किया जाता है। नगर-वर्णन के अन्तर्गत अट्टालिका, परिखा, वप्र, प्रतोली, तोरण, प्रासाद और वाप्यादि के वर्णन आते हैं तो समुद्र तथा शैल आदि के वर्णन में द्वीप, अद्रि, रत्न, उर्मि, पोत, औषधि, मेघ, धातु, गुहा, रत्न, वन, उपत्यका और शृंगपाद आदि विविध विषयों के चित्रण किये जाते हैं। ऋतुवर्णन में छः प्रकार की ऋतुओं में होने वाली प्रकृति की शोभा और वृक्ष, लताएं, कुसुम तथा अन्यान्य सम्बद्ध विषयों का वर्णन रहता है। कवि-शिक्षा में इनके सम्बन्ध में व्यापक निर्देश किये गये हैं जिनके सम्यक् परिपालन का प्रयास करना कवियों का कर्तव्य है। संस्कृत के महाकाव्यों में इस नियम के निर्वाह की यथेष्ट

चेष्टा की गई है। उदाहरणार्थ शिशुपालवध के तृतीय सर्ग में द्वारिकानगर का वर्णन, रघुवंश के त्रयोदश सर्ग में शैलादि का वर्णन, शिशुपालवध के षष्ठ सर्ग में वसंतादि ऋतुओं का वर्णन और किरातार्जुनीय के नवम सर्ग में मधुपान आदि का वर्णन उक्त कथन के प्रमाण हैं। इस प्रकार के वर्णनों की एक कवि-परम्परा रही है जिसमें अपनी अभिरुचि के अनुरूप परिवर्तन और परिवर्द्धन करने का भी अधिकार कवियों को प्राप्त है। यदि किसी महाकाव्य का वर्ण्य विषय शृंगार हो तो उसके उभयपक्षों (संभोग और विप्रलम्भ) का चित्रण उसके अन्तर्गत होना चाहिए। आचार्यों का अभिमत है कि विप्रलम्भ के बिना संभोग की संपुष्टि नहीं हो सकती। अतः उसकी चारों दशाओं (मान, प्रवास, पूर्वराग और करुण) का वर्णन यथाप्रसंग किया जाना चाहिए। नैषधीयचरित के चतुर्थ सर्ग में पूर्वराग, कृष्णवैभव के अन्तर्गत प्रवास और मान तथा कादम्बरी के महाश्वेतावृत्तान्त में करुणदशा का वर्णन हुआ है। महाकाव्य में विवाह, पुत्रजन्म, मंत्रणा, दूतप्रेषण, रणप्रयाण और नायक के अभ्युदय तथा विजय आदि के वर्णन भी होते हैं। शास्त्रीय पद्धति में लिखित महाकाव्यों में उक्त वर्णनों का विशेष ध्यान रखा गया है। रघुवंश में अज और इन्दुमती का पाणिग्रहण तथा कुमारजन्म, शिशुपालवध के द्वितीय सर्ग में शत्रुजयार्थ प्रधानपुरुषों के साथ गुप्तसंभाषण, महाभारत के उद्योगपर्व में वासुदेव, रामायण में अंगद और कादम्बरी में केयूरक का दूतरूप में संप्रेषण, रघुवंश के चतुर्थ सर्ग में विजययात्रा, किरातार्जुनीय के पंचदशसर्ग में युद्धवर्णन और शिशुपालवध के अंत में श्रीकृष्ण की विजय आदि के वर्णन उक्त मत के अनुमोदक हैं। महाकाव्यों में इस प्रकार के वर्णनों द्वारा उसकी वस्तु-व्यंजना में उत्कर्ष होता है अतः उनका यथासंभव संयोजन करने का प्रयास करना कवियों का धर्म है।

महाकाव्य के लिए अभीष्ट वस्तु-वर्णना का जो उल्लेख किया गया है, उसके विषय में इस बात का ध्यान रखना भी आवश्यक है कि वह यथावसर अलंकृत और असंक्षिप्त हो जिसके द्वारा रस और भाव के आस्वादन का नैरंतर्य बना रहे। महाकाव्य के विशाल आकार में किये गये अतिसंक्षिप्त वर्णन अनेक बार प्रभावपूर्ण प्रेषणीयता से विहीन होते हैं जिनके कारण सहृदयजनों के मानस को संतृप्ति नहीं हो पाती। आचार्यों ने महा-काव्य के आदर्श स्वरूप-विधान के लिए इस तथ्य पर विशेष बल दिया है कि उसके सर्गों में सर्वत्र रस और भावों की अनुरूप स्थिति होने के साथ-साथ उनमें समुचित संतुलन और वांछनीय विस्तार का सम्यक् विधान भी अवश्यमेव होना चाहिए। उसके छंद 'हतवृत्तता' आदि दोषों से रहित एवं उनका कथानुबंध पंचसंधियों (मुख, प्रतिमुख, गर्भ, विमर्श और निर्वहण) से समन्वित हो जिससे उसके उत्कर्ष की अभिवृद्धि होती रहे। महाकाव्यों की सर्गबंधता के विषय में विश्वनाथ आदि साहित्यशास्त्रियों ने कुछ विशेष नियम भी निर्धारित किये हैं[1] किन्तु उनका कठोरतापूर्ण परिपालन करना अनिवार्य नहीं

१. एकवृत्तमयैः पद्यैरवसानेऽन्यवृत्तकैः।
नातिस्वल्पा नातिदीर्घाः सर्गा अष्टाधिका इह ॥
नानावृत्तमयः क्वापि सर्गः कश्चन दृश्यते।
सर्गान्ते भाविसर्गस्य कथायाः सूचनं भवेत्।

है। उसके विषय में मुख्य उल्लेखनीय बात इतनी ही है कि कवि को सभी दृष्टियों से इस बात का ध्यान रखना चाहिए वह जिस प्रयोजन से अनुप्रेरित होकर काव्य-रचना के कार्य में तत्पर हुआ है, उसकी संसिद्धि सम्यक् प्रकार से यथावसर होती रहे। यद्यपि काव्यकार अपनी सर्जना में स्वतंत्र होता है तथापि आचार्यों द्वारा किया गया काव्यानुशासन उसके लिए अनेक बार लाभप्रद सिद्ध हो सकता है। आचार्यों ने महाकाव्य के स्थायित्व हेतु जो नियम बनाये हैं वे अत्यंत सारगर्भित हैं क्योंकि उनमें काव्य की भव्यता का चारु चमत्कार संयोजित है।

महाकाव्य के लिए निर्दिष्ट वर्ण्यविषयों का प्रसार इतना अधिक है कि उन सबका सर्वांगीण संयोजन करना प्रत्येक कवि के लिए संभव नहीं है। वस्तुतः काव्यकार की क्षमता सर्वत्र समाधिकार नहीं रखती और कुछ स्थलों पर दुर्बल भी हो सकती है अतः इस विषय में इसे इतनी सुविधा अवश्य प्रदान की गई है कि उसकी वर्णना में भले ही सम्पूर्ण विषयों का समावेश न हुआ हो किन्तु जिन विषयों का अभिचित्रण उसके द्वारा किया जाय वे अत्यंत परिपुष्ट और रससंवेद्य होने चाहिए जिससे उसके श्रोता अथवा अध्येता लोकोत्तर आनंद की उपलब्धि कर सके। महाकाव्य के वर्ण्यविषयों की संख्या में किसी कारणवश रही हुई न्यूनता उतनी दुविधामयी नहीं होती जितनी वर्णित विषयों की अपूर्ण व्यंजना उद्वेगकारी होती है। सच तो यह है कि वर्णनीय विषयों के संघातविशेष में यदि वर्णित पदार्थ पूर्णतया रसोपात्त एवं साध्वायोजित हों तो केवल वस्तुगणनाविषयक न्यूनतावश ही काव्य-सम्पत्ति को दूषित नहीं माना जा सकता। आचार्य दण्डी और भोजराज आदि आचार्यों का तो स्पष्ट मत है कि यदि किसी महाकाव्य में शैलर्तु आदि के वर्णन रस-परिपुष्टि के साधक बनते हैं तो उनमें रहा हुआ 'कुमारोदयमंत्रदूत' आदि वर्णनों का वैकल्प क्षतिकारी नहीं माना जा सकता।[1] इससे यह तात्पर्य नहीं निकालना चाहिए कि 'खण्डकाव्यं महाकाव्यस्यैकदेशानुसारियत्' के अनुसार वर्ण्य विषयों की न्यूनता को ही खण्डकाव्य और महाकाव्य के विभेद का उपलक्षण मान लिया जाय। वस्तुतः महाकाव्य और खण्डकाव्य में चमत्कार वैलक्षण्यकृत अंतर है जो उक्त लक्षण को असंकीर्ण बनाये रहता है अतः उसमें वर्णनीयविषयसाम्यकृत अतिव्याप्ति की आशंका करना युक्तिसंगत नहीं है।

पद्य-प्रबंधों के अन्य भेद

संस्कृत काव्यशास्त्र के आचार्यों द्वारा महाकाव्य के अतिरिक्त पद्य-प्रबंध का एक अन्य प्रकार 'काव्य' शब्द की रूढ़ि से अभिहित किया गया है जिसकी रचना संस्कृत, प्राकृत अथवा अपभ्रंश भाषा में की जा सकती है। उसमें न तो सर्गों का अनुबंध आवश्यक है और न सधि पंचक की संयोजना ही अपेक्षित है। उसकी रचना 'एकार्थप्रवण' होती है जिसका अभिप्राय यह है कि वह एक ही वृत्त अथवा चरित से सुसम्बद्ध पद्य-कदम्ब से ही

---

१. (अ) न्यूनमप्यत्र यैः कैश्चिदंगैः काव्यं न दुष्यति।
लघुपात्तेषु सम्पत्तिराराधयति तद्विदः॥—दण्डी, काव्यादर्श, १-२०।

(आ) नावर्णनं नगरर्मादिर्दोषाय विदुषां मतम्।
यदि शैलर्त्तु रात्र्यादेर्वर्णनेनैव दुष्यति।—भोजराज, सरस्वती कण्ठाभरण, ५।१३५।

पूर्ण हो जाता है। विश्वनाथ ने 'भिक्षाटनम्' तथा 'आर्याविलास' नामक कृतियों को इस प्रकार के पद्य-प्रबंधों में रखा है। वह पद्य-प्रबंध जब काव्य अथवा महाकाव्य के कतिपय लक्षणों से युक्त अथवा एकदेशानुसारी होता है तो उसे 'खण्डकाव्य' कहा जाता है। मेघदूत मुक्तक-बंध में निर्मित खण्डकाव्य ही है। उसके मुक्तकों के सम्बन्ध में आचार्य अभिनवगुप्त ने उचित ही कहा है कि 'त्वामालिख्य प्रणयकुपिता' इत्यादि श्लोकों में पूर्वापरभाव की निरपेक्षवृत्ति से जो रसचर्वणा की जाती है, वह उसके मुक्तकों की एक अद्‌भुत विशेषता है। इन पद्य-प्रबंधों के अतिरिक्त 'कोष' रूप पद्य-प्रबंध भी होता है जिसका श्लोकसमूह अन्योन्यापेक्षी नहीं होता तथा जिसकी रचना 'व्रज्याक्रम' में होने के कारण अत्यंत मनोरम बन जाती है। 'व्रज्याक्रम' से अभिप्राय सजातीय पद्यों के एकत्र सन्निवेश से है। काव्यानुशासनकार हेमचंद्र ने कोष रूप पद्य-प्रबंध का लक्षण 'स्वपरकृतसूक्तिसम्मुच्चय' निर्दिष्ट किया है। संस्कृत काव्य-साहित्य में 'कोष' रूप में लिखित अनेक पद्यप्रबंध मिलते हैं। 'आर्यासप्तशती' आदि पद्य-प्रबंध स्वरचित सूक्तियों के समुच्चय रूप हैं तो 'सदुक्तिकर्णामृत' आदि पद्य-प्रबंध अन्यान्य कवि-चरित सूक्तियों के संग्रह। 'कोष' संज्ञक पद्य-प्रबंधों की रचना का प्रयोजन मनोरंजन के साथ-साथ नीत्युपदेश भी होता है।

(आ) गद्यात्मक श्रव्य काव्य

श्रव्य काव्य का द्वितीय प्रकार गद्य काव्य है। गद्य-रचना छन्दोबद्ध नहीं होती। उसके प्रमुख चार भेद हैं—मुक्तक, वृत्तगंधि, उत्कलिकाप्राय और चूर्णक। मुक्तक गद्यबंध असमस्त पदों में रचित होता है जबकि वृत्तगंधि गद्य में वृत्तों अथवा छंदों के अंश यत्र-तत्र दृष्टिगोचर होते हैं। उत्कलिकाप्राय गद्य में सुदीर्घ समासपदों का प्रयोग होता है जबकि चूर्णक गद्य-रचना में छोटे-छोटे सामासिक पदों को उपनिबंध रहता है। गद्यकाव्य के अवांतर भेदों में कथा और आख्यायिका की गणना की जाती है। संस्कृत काव्यशास्त्र के अनुसार 'कथा' संज्ञक गद्यकाव्य में सरस इतिवृत्त की रचना होती है। उसमें कहीं 'आर्या' छंद का प्रयोग किया जाता है तो कहीं वक्त्र अथवा अपवक्त्र छंदों का। उसके प्रारम्भ में नमस्कारात्मक मंगलाचरण किया जाता है तथा खलनिंदा अथवा सज्जन-प्रशंसा सम्बन्धी पद्य भी उपन्यस्त रहा करते हैं। आनंदवर्धन का मत है कि 'कथा' गद्यकाव्य का एक ऐसा प्रकार-विशेष है जिसमें विकट बंधप्राचुर्य तो होता ही है, साथ ही साथ उसमें रसबंध का वैचित्र्य भी पाया जाता है जिसके कारण उसे उत्कृष्ट काव्य-श्रेणी प्रदान की जाती है। संस्कृत काव्य में बाण-रचित 'कादम्बरी' आदि काव्यग्रंथ कथाकाव्य के आदर्श उदाहरण हैं।

'आख्यायिका' भी गद्यकाव्य का एक विशिष्ट प्रकार है। उसमें प्रायः कथाकाव्य की ही विशेषताएँ रहा करती हैं। उसके रचयिता अपने वंश के अनुकीर्तन के साथ-साथ यत्र-तत्र अन्य कवियों के वृत्त की भी चर्चाएँ किया करते हैं। उसमें पद्यात्मक सूक्तियां भी रहती हैं तथा उसके कथांशों का व्यवच्छेद 'आश्वास' संज्ञा से अभिहित किया जाता है जिसके प्रारम्भ में आर्या, वक्त्र अथवा अपवक्त्र छंदों द्वारा किसी विषय-वर्णन के व्यपदेश से वर्णनीय विषय की सूचना भी दी जाती है। आख्यायिका का सुप्रसिद्ध उदाहरण

बाण-लिखित 'हर्षचरित' है। कुछ विद्वानों का मत है कि नायक द्वारा कथित आख्यान का नाम आख्यायिका है किन्तु दण्डी प्रभृति आचार्यों ने इस नियम के अपवाद भी प्रस्तुत किये हैं। उनका कथन है कि ऐसी आख्यायिकाओं की भी रचना की गई है जिनके आख्यान नायक भिन्न पात्रों द्वारा भी कथित किये गये हैं। कथा और आख्यायिका के अतिरिक्त आख्यान के अन्य भेदोपभेद भी किये जाते हैं, किंतु उनमें अधिकांश भेदों का अन्तर्भाव उपर्युक्त दोनों भेदों में ही हो जाता है। 'आख्यान' के भेदोपभेदों के उदाहरण पंचतंत्र, हितोपदेश आदि ग्रंथों में अन्वेषित किये जा सकते हैं।

श्रव्यकाव्य के अन्यान्य भेद

कुछ ऐसे काव्यबन्ध भी हैं जिनमें गद्य और पद्य रूपों का संयोजन रहता है। ऐसी गद्य-पद्यमयी रचनाएँ चम्पूकाव्य कहलाती हैं। 'विरुद' भी एक प्रकार का गद्यपद्यमय काव्यबंध है जिसमें राजस्तुति रहती है। 'करम्भक' विविध भाषाओं में निर्मित काव्य-प्रकार है। इन काव्यप्रकारों के अतिरिक्त चक्रवालक, भोगावली, तारावली, रत्नावली आदि काव्य-प्रकार भी हैं जिनके पृथक् लक्षणों की आवश्यकता प्रतीत नहीं होती क्योंकि इनके तथा पूर्वनिर्दिष्ट काव्यप्रकारों के स्वरूप में कोई उल्लेखनीय अंतर नहीं है। विश्वनाथ ने चम्पू काव्य में 'देशराजचरितम्' विरुद काव्य के रूप में 'विरुदमणिमाला' तथा 'करभक' काव्य के रूप में अपनी षोडशभाषामयी प्रशस्ति रत्नावली का उल्लेख किया है।

अर्थहरण और भाव-वैशिष्ट्य की दृष्टि से काव्य-भेद

राजशेखर ने काव्य के अर्थों और भावों को तीन प्रकार से विवेचित किया है—अन्ययोनि, निह्नुत योनि और अयोनि। अन्ययोनि अर्थ उसे कहते हैं जिसका उत्पादक कोई दूसरा कवि होता है। इसके दो भेद हैं—प्रतिबिम्बकल्प और आलेख्य-प्रख्य। निह्नुत योनि अर्थ की उत्पत्ति तथा उसके उत्पादक का प्रामाणिक ज्ञान नहीं हो पाता। उसके भी दो प्रकार हैं—तुल्यदेहितुल्य तथा परपुरप्रवेशसदृश। जिस अर्थ का उन्मेष या आविर्भाव कवि स्वयं करता है उसे अयोनि अर्थ कहते हैं। यह अर्थ एक ही प्रकार का होता है जिसका अभिप्राय यह है कि इसका कोई भेद नहीं होता। राजशेखर की भांति वामन ने भी काव्य के अर्थों का विवेचन किया है किंतु उन्होंने उसके केवल दो प्रकार ही माने हैं—अयोनि और अन्यच्छायायोनि। प्रथम काव्यार्थ 'अकारण' या 'अवधानमात्र कारण' होता है और द्वितीय में काव्य की छाया विद्यमान रहती है। ये अर्थ काव्य के रूप भी कहे जा सकते हैं। संक्षेप में इनका परिचय निम्नलिखित है—

१. प्रतिबिम्बकल्पकाव्य

यह अन्ययोनि अर्थ का प्रथम प्रकार है। जिस रचना में अन्य कवि के काव्य का समस्तभाव विद्यमान हो और वाक्य-विन्यास की विभिन्नता के अतिरिक्त अन्य कुछ भी

तात्त्विक भेद न हो, उसे प्रतिविम्बकल्प अर्थ या काव्य कहते हैं।

२. आलेख्य-प्रख्य काव्य

प्राचीन भाव में कुछ स्वल्प संस्कार (परिवर्तन) आदि करने से वह प्राचीन से कुछ भिन्न प्रतीत होने लगता है और इस प्रकार का अर्थ जिसमें विद्यमान हो, उसे आलेख्य-प्रख्य काव्य कहते हैं।

३. तुल्यदेहितुल्यकाव्य

जहाँ विषय का भेद होने पर भी अत्यंत सादृश्य के कारण अभेद की प्रतीति हो, उसे तुल्यदेहितुल्यकाव्य कहते हैं। ऐसे काव्यों की रचना करने में विद्वज्जन ही समर्थ हैं।

४. पर-पुर-प्रवेश-सदृश काव्य

जहाँ मूल वस्तु तो एक-सी हो परन्तु रचना में सर्वथा भेद हो, उसे परपुर-प्रवेश-सदृश काव्य कहते हैं। इसकी रचना भी केवल उत्कृष्ट कवि ही कर सकते हैं।

राजशेखर द्वारा वर्णित काव्य के इन प्रकारों में 'अयोनि' काव्य सर्वश्रेष्ठ है क्योंकि उसमें कवि का अर्थ, भाव या कल्पना-तत्त्व मौलिक होता है। उसके रचयिता को ही 'चिंतामणि' कवि कहा गया है जिसका लक्षण निरूपित करते हुए एक विद्वान ने लिखा है कि चिंतामणि कवि उसे कहते हैं जिसकी रचना का अर्थ सहृदयों के चित को रस से ओतप्रोत कर देता है तथा जिसकी कविता में विचित्र कल्पनाओं का अलौकिक प्रस्फुरण होता है। वस्तुतः वह कवि अत्यंत निपुण और अदृष्टपूर्व होता है जिसकी मौलिक सर्जना के सम्मुख अन्य कवियों की कोई गणना ही नहीं की जा सकती। राजशेखर ने इस प्रकार के कवि के काव्य को तीन प्रकार का निर्दिष्ट किया है—लौकिक, अलौकिक और मिश्र। राजशेखर ने काव्य के इन भेदों-प्रभेदों का सौदाहरण विवेचन कर अपना मंतव्य स्पष्ट किया है। यहाँ इस बात का उल्लेख करना आवश्यक है कि राजशेखर ने प्रतिबिम्बकल्प आदि काव्यों के आधार पर अर्थहरण के जो बत्तीस भेद निर्दिष्ट किये हैं, उनका विवरण निम्नलिखित है—

१. प्रतिबिम्बकल्पकाव्य के आठ भेद

१. व्यस्तक, २. खण्ड, ३. तैल बिन्दु, ४. नटनेपथ्य, ५. छन्दो-विनिमय, ६. हेतु-व्यत्यय, ७ संक्रामक और ८ सम्पुट। इन आठों भेदों का विवेचन करना अधिक उपयोगी न समझकर हम केवल इतना संकेत करना ही पर्याप्त समझते हैं कि राजशेखर ने प्रति-बिम्बकल्प काव्य और अर्थ के प्रति विरोधी दृष्टिकोण ही रखा है क्योंकि उसमें कवि की मौलिकता और स्वतंत्र कवित्व-शक्ति के अंश नहीं होते। एक प्रकार से प्रतिबिम्बकल्प काव्य अथवा अर्थ किसी अन्य काव्य-रचना से ली गई वस्तु ही है, अतः उसका जो श्रेय

१ चितां समं यस्य रसैकसक्तिरुदेति चित्राकृतिरथसार्थः।
अदृष्टपूर्वो निपुणैः पुराणैः कविः स चिंतामणिरद्वितीयः।।

मूल कवि को प्राप्त है वह हरणकर्ता कवि को नहीं। इसका स्पष्टीकरण इस प्रकार भी किया जा सकता है कि जिस प्रकार दर्पण में प्रतिबिम्बित अपना स्वरूप अपने से पृथक् नहीं होता उसी प्रकार प्रतिबिम्बकल्प काव्य में भी मूल काव्य का ही आलोक प्रतिबिम्बित होने के कारण उसकी स्वतंत्र और पृथक् सत्ता नहीं रहती।

२. आलेख्य-प्रख्य काव्य के आठ भेद

राजशेखर ने इस काव्य के समक्रम, विभूषण-मोष, व्युत्क्रम, विशेषोक्ति उत्तंस, नट-नेपथ्य, एक-परिकार्य और प्रत्यापत्ति नामक आठ भेद माने हैं और प्रत्येक भेद के लक्षण और उदाहरण भी विवेचित किये हैं। राजशेखर के मतानुसार आलेख्य-प्रख्य के आठों भेद कवियों के लिए अनुग्राह्य मार्ग हैं क्योंकि उनमें किया गया अपहरण अरुचिकर नहीं होता। इस विषय में प्राचीन विद्वानों ने उचित ही कहा है कि जिस प्रकार एक ही नट, विविध प्रकार के वेश-विन्यास से अनेक पात्रों की भूमिका में अवतीर्ण होकर भिन्न-भिन्न रूप में प्रदर्शित होता है, उसी प्रकार काव्य में एक ही अर्थ, उक्ति की विचित्रता से विविध रूप धारण करके सहृदयजनों के मानस में आह्लाद और चमत्कार की सृष्टि करता है।[1]

३. तुल्यदेहितुल्य काव्य के आठ भेद

राजशेखर के मतानुसार तुल्यदेहितुल्य काव्य के आठ भेद इस प्रकार हैं—विषय, परिवर्त्त, द्वन्द्व-विच्छित्ति, रत्नमाला, संख्योल्लेख, चूलिका, विधानापहार, माणिक्यपुंज और कंद। इन अपहरणों को भी कवियों के लिए ग्राह्य कहा जा सकता है। सुरानंद का मत है कि यह काव्य-मार्ग भी कवियों के लिए अनुग्राह्य है क्योंकि सरस्वती की कृपा से कवियों को ऐसी प्रतिभा प्राप्त हो जाती है जिसके कारण वे सर्वसाधारण-सुलभ शब्दों और अर्थों को अलौकिक एवं रसमय बना देते हैं।

४. पर-पुर-प्रवेश-सदृश काव्य के आठ भेद

राजशेखर ने परपुरप्रवेश-सदृश अपहरण के आठ अवांतर भेद माने हैं जो इस प्रकार हैं—हड्डु युद्ध, प्रतिकंचुक, वस्तुसंचार, धातुवाद, सत्कार, जीवं जीवक, भावमुद्रा और तद्विरोधी। इन सबके लक्षण और उदाहरण उपस्थित करते हुए राजशेखर ने बतलाया है कि इनके द्वारा किस प्रकार अर्थ का अपहरण किया जाता है। राजशेखर का मत है कि अर्थहरण के कुल मिलाकर जो बत्तीस भेद या उपाय हैं उनके त्याज्य तथा स्वीकार्य अर्थों का सम्यक् ज्ञान रखने वाला कवि ही 'सिद्ध कवि' कहा जा सकता है। अर्थहरण के ये सभी उपाय सविरोधी हैं अर्थात् अर्थ को विपरीत कर देने से इनका विरोध हो जाता है। राजशेखर ने इन सबका विस्तृत विवेचन कर अंत में इस मत का समर्थन किया है कि यों तो शब्दार्थशासनवेत्ता वैयाकरण, मीमांसक और नैयायिक आदि

---

१ सौ यं भणिति वैचित्र्यात्समस्तो वस्तुविस्तरः।
नटवर्द्धणिकायोगादन्यथा त्वमिवार्च्छति ॥

भी कविता लिखते हैं, किंतु जिस कवि के वचन में नवीन वस्तु और उक्ति की अलौकिक छटा होती है, वही कवि सर्वाग्रणी तथा सम्मानार्ह है। कहा भी है—

शब्दार्थशासनविदः कतिनो कवन्ते।
यद्वाङ्मयं श्रुतिघनस्य चकास्ति चक्षुः।
किंत्वस्ति यद्वचसि वस्तु नवं सदुक्ति।
संदर्भिणां सधुरि तस्य गिरः पवित्राः।

रसमुखता : काव्य-विभाजन का नवीन दृष्टिकोण

आचार्य आनंदवर्धन ने न केवल काव्य के विविध अंगों की ही रसमुख से व्यवस्था की है अपितु काव्य-भेदों का निरूपण भी रस के प्रधान तथा गौणभाव के अनुसार किया है। उन्होंने ध्वनि-काव्य को ही उत्तम काव्य माना है क्योंकि उसमें रसादि ध्वनि का प्राधान्य तथा रस की दृष्टि से वाच्यवाचकों के वैचित्र्य का गौणभाव रहता है। उनके मतानुसार गुणीभूतव्यंजक नामक काव्य मध्यम श्रेणी का है क्योंकि उसमें 'रसादि' व्यंग्य तो होता है, किंतु वाच्यवाचक सौंदर्य की अपेक्षा उसकी गौणता रहती है। ऐसे काव्य में प्रयुक्त रसादिव्यंग्य अंततः वाच्यवाचक सौंदर्य का परिपोष करता है। काव्य का तीसरा भेद चित्रकाव्य है जिसमें वाच्यवाचक सौंदर्य का ही विशेष महत्त्व होता है तथा कवि का मूल प्रयोजन रसाभिव्यंजन नहीं होता। ध्वन्यालोक में ध्वनि-काव्य की श्रेष्ठता का प्रतिपादन करते हुए ध्वनिकार ने रस, भाव, रसाभास, भावाभास और भावोदय आदि को दृष्टिकोण में रखते हुए ध्वनिकाव्यों के अनेक उदाहरण प्रस्तुत किये हैं जिसमें प्रतीत होने वाला रसादि ही काव्य की आत्मा है। उन्होंने जिस ध्वनि को काव्यात्मतत्त्व माना है वह वास्तव में रसादिध्वनि ही है। गुणीभूतव्यंग्य काव्य के सम्बन्ध में उनका कहना है कि यद्यपि उसमें भी रस अथवा भाव ध्वनित होते हैं किंतु काव्यास्वादयिता की हृदय-विश्रांति रसादि में नहीं होकर व्यंग्यार्थ से अधिक आस्वाद्य बने हुए वाच्यार्थ के चारुत्व में होती है। चित्रकाव्य में विशेष-रूप व्यंग्य का प्रकाशन न होकर केवल वाच्य-वाचकसंबद्ध वैचित्र्य रहता है। यह काव्य केवल 'आलेख्यप्रख्य' है जिसका अभिप्राय यह है कि उसमें उत्तम काव्य की जीवरहित प्रकृतिमात्र होती है। दुष्कर यमकादियुक्त छंद तथा व्यंग्यस्पर्श-विरहित उत्प्रेक्षा आदि अलंकार इस काव्य के उदाहरण हैं। आनंदवर्धन के शब्दों में यह काव्य ही नहीं है अपितु काव्य का अनुकारमात्र है—'न तन्मुख्यं काव्यं, काव्यानुकारो ह्यसौ'। यहाँ यह शंका उत्पन्न हो सकती है कि जब रसभावविरहित काव्य-प्रकार संभव ही नहीं है तो काव्य का 'चित्रकाव्य' रूप भेद मानने की क्या आवश्यकता है? इसका समाधान करते हुए आनंदवर्धन ने लिखा है कि वस्तुतः रसभाव-विरहित काव्यप्रकार संभव नहीं है किंतु ऐसे स्थल भी आते हैं जब रसभावों की विवक्षा न रखते हुए भी कवि ऐसे काव्यों की रचना करते हैं जिनमें काव्यगत शब्दों का अर्थ ही विवक्षासापेक्ष रहता है। ऐसे काव्यों में कवि के लिए रसाभिव्यक्ति की कोई विवक्षा नहीं होती तथापि वाच्यसामर्थ्य से भी रसादि की प्रतीति हो ही जाती है। हाँ, यह बात अवश्य है कि वह प्रतीति इतनी दुर्बल होती है कि उस काव्य को नीरस कहना ही उचित

प्रतीत होता है जिसकी कल्पना करके काव्य का यह प्रकार माना गया है। चित्रकाव्य की कल्पना का एक आधार यह भी है कि ऐसे अनेक विश्रृंखलगिर कवि भी हुए हैं जिन्होंने रसभावों की अपेक्षा रखे बिना भी काव्य-रचना की है जिसे किसी न किसी काव्य-श्रेणी में तो रखना ही होगा। आनंदवर्धन की भाँति अभिनवगुप्त ने भी चित्रकाव्य का उल्लेख किया है जिसमें मुख्यरूप से उसकी हेयता ही प्रदर्शित की गई है किंतु वह भी एक विवेच्य विषय अवश्य रहा है। सारांश यह कि रसमुख से की गई विविध काव्यांगों की व्यवस्था तथा प्रधानगुणभेद से काव्य-विभेदों का जो वर्गीकरण किया गया है उसमें ध्वनिकाव्य ही सर्वश्रेष्ठ है क्योंकि उसमें कवियों की परिणत प्रतिभा का रूप आलोकित रहता है।

ध्वनि-काव्य ही अंगी काव्य है

ध्वनिवादी आचार्यों ने ध्वनि की स्वतंत्र सत्ता सिद्ध करते हुए ध्वनिकाव्य को ही एक प्रकार का ऐसा अंगी काव्य माना है जिसके अंगभूत अवयवों के रूप में अलंकार, गुण और वृत्तियों की गणना की जा सकती है। उनके मतानुसार ध्वनि और अलंकारों का तादात्म्य भी नहीं किया जा सकता, क्योंकि ध्वनिकाव्य में व्यंग्य-व्यंजक भाव के समाश्रित होकर रचना प्रवृत्त होती है जबकि अलंकारकाव्य में वाच्य-वाचक-भाव के आधार पर उसकी उद्भावना की जाती है। ध्वनि और अलंकार का सम्बन्ध स्वामी और भृत्य के समान अंगी और अंग रूप में समझा जा सकता है जिसका तात्पर्य यह है कि अलंकार-रूप अवयव में ध्वनि-रूप-अवयवी का अंतर्भाव नहीं किया जा सकता। निस्संदेह ध्वनि की प्रधानता के सम्मुख अलंकार की सत्ता गौण है। जिस प्रकार अवयव को अवयवी से पृथक् मानने पर भी उसे अवयवी नहीं कहा जा सकता, उसी प्रकार अंगरूप अलंकार को ध्वनि से पृथक् मानने पर भी उसे अवयवी-रूप ध्वनि का स्थान नहीं प्रदान किया जा सकता। अपने अवयव-रूप अपृथक् भाव में तो अलंकार ध्वनि का अंग होता ही है। यदि काव्य में ऐसा स्थल आ जाय जहाँ अलंकार ही ध्वनि का रूप धारण कर ले तो भी उसमें ध्वनि का अंतर्भाव करना आवश्यक नहीं है क्योंकि ध्वनि का क्षेत्र अत्यंत विस्तृत है।

प्रतीयमान अर्थ ही 'ध्वनि' काव्य की आत्मा है

आनंदवर्धन ने आदिकवि वाल्मीकि के शोक की श्लोकत्व के रूप में परिणति का उदाहरण प्रस्तुत करते हुए ऐतिहासिक अनुक्रम से यह बात सिद्ध करने की चेष्टा की है कि प्रतीयमान अर्थ ही काव्य की आत्मा है। उनके मतानुसार प्रतीयमान अर्थ की काव्यात्मकता स्वसंवित्सिद्ध-सी है जिसका अर्थ यह है कि उसमें किसी भी प्रकार की अनुपपत्ति नहीं हो सकती। उन्होंने महाकवियों की वाणी का अलौकिक वैशिष्ट्य निरूपित करते हुए बतलाया है कि रसध्वनि और भावध्वनि-रूप वस्तुतत्त्व के प्रवाह को महाकवियों की भारती ऐसे रूप में प्रकट करती है जिसमें अलोकसामान्य प्रतिभा-विशेष का प्रस्फुरण स्वतः ही हो जाता है। इससे स्पष्ट है कि अतिविचित्र कवि-परम्परा वाले संसार में कालिदास आदि दो-तीन या पाँच-छः कवि ही ऐसे हैं जो महाकवियों की श्रेणी में

गिने जा सकते हैं। कवि-वाणी रूपिणी सरस्वती का महत्त्व बतलाते हुए उन्होंने लिखा है—

'सरस्वती स्वादु तदर्थवस्तु निःष्यंदमाना महतां कवीनाम्।
अलोकसामान्यमभिव्यनक्ति परिस्फुरंतं प्रतिभाविशेषम्।''[1]

—अर्थात् आस्वादपरिपूर्ण उसी अर्थवस्तु को निष्यंदित करने वाली महाकवियों की भगवती भारती (वाणी) चारों ओर प्रस्फुरित होने वाली प्रतिभा की ऐसी विशेषता को अभिव्यक्त किया करती है जिसकी समता लोक की किसी भी वस्तु से नहीं की जा सकती।

आनंदवर्धन की उपयुक्त कारिका द्वारा अनेक प्रकार के तथ्य प्रकट होते हैं। उससे स्पष्ट है कि कवियों की वाणी भगवती सरस्वती की ही रसमयी धारा है जो लोकोत्तर आनंद को स्वतः प्रस्तुत करती हुई प्रकट होती है। उनके मतानुसार सामान्य व्यक्तियों की वाणी में तो वाच्यार्थ का ही व्यवहार होता है जबकि महाकवियों की वाणी में व्यंग्यार्थ का नैसर्गिक सौन्दर्य झलकता रहता है। वस्तुतः उक्त प्रकार की सौन्दर्यमयी अभिव्यक्ति के लिए कवियों को प्रयास-तत्पर नहीं होना पड़ता, क्योंकि उनकी प्रतिभा में अपूर्ववस्तुनिर्माण की सहज प्रज्ञा अथवा क्षमता होती है। आचार्य ने कारिका में प्रयुक्त 'वस्तु' शब्द से 'अर्थ-शब्द' और 'तत्त्व-शब्द' से 'वस्तुशब्द' की व्याख्या करते हुए बतलाया है कि उसका 'निःष्यंदमाना' शब्द विशेष महत्त्वपूर्ण है। उस शब्द का मुख्य आशय यह है कि जब महाकवियों का अंतःकरण लोकोत्तर आनंद की भावना से आप्लावित हो जाता है तो वह दिव्य संवेग का संभार वाणी के माध्यम से प्रवाहित कर देता है। कारिका में प्रयुक्त 'परिस्फुरित' शब्द का अर्थ अभिव्यक्त करना ही है। अभिनवगुप्त के शब्दों में 'कवि-प्रतिभा प्रतिपत्ताओं के प्रति अनुमीयमान ही नहीं होती अपितु रसावेश से प्रकाशमान भी होती है। उसके द्वारा नायक, कवि और श्रोता एक प्रकार की तादात्म्य-भावना में संयुक्त होकर समानुभूति का सा अनुभव प्राप्त करने लगते हैं। वस्तुतः प्रतिभा एक प्रकार की 'अपूर्ववस्तुनिर्माणक्षमा प्रज्ञा' ही है जिसकी विशेषता का अर्थ है रसावेश के वैशद्य का सौन्दर्यपूर्ण काव्य-निर्माण-क्षमत्व। आचार्य भट्टनायक ने कविवाणी को दुग्ध-प्रदायिनी धेनु का रूप देते हुए लिखा है कि जिस प्रकार धेनु अपने वत्सों की तृषा-शांति के लिए अपने थनों से निसर्गतः दुग्ध प्रवाहित करने लगती है, उसी प्रकार कवि-भारती भी सहृदयजनों के लिए अपना आनंदमय वाक्-रस निष्यंदित कर देती है। वह रस योग-साधना से प्राप्त आनंद से अधिक प्रेय और सुखकर होता है क्योंकि उसमें कष्ट-साधना की किंचित्मात्र भी आवश्यकता नहीं रहती। भट्टनायक रचित श्लोक इस प्रकार है—

वाग्धेनुर्दुग्ध एतं हि रसं यद्बालतृष्णया।
तेन नास्य समः स स्याद् दुह्यते योगिभिर्हि सः॥

ध्वनिकाव्य का वैशिष्ट्य

आनंदवर्धन के ध्वनि-कारिका में वाच्यव्यतिरिक्त व्यंग्यार्थ की सत्ता और उसकी

१. आनंदवर्धन, ध्वन्यालोक, प्रथम उद्योत, षष्ठ कारिका।

प्रधानता का प्रतिपादन करने के साथ-साथ इस बात का भी विवेचन किया है कि उसका प्रकृत उपयोग क्या है ? उन्होंने उस काव्य-विशेष को 'ध्वनि' संज्ञा से अभिहित किया है जिसमें अर्थ अथवा शब्द अपनी आत्मा एवं अपने अर्थ का उपसर्जन कर अर्थात् उन्हें गौण बनाकर व्यंग्यार्थ की अभिव्यक्ति करें।[१] कारिका में प्रयुक्त 'स्व' शब्द आत्मवाचक है और 'स्वार्थ' शब्द का अभिप्राय है 'स्व' और 'अर्थ' दोनों के संयोग द्वारा क्रमशः अपनी आत्मा और अभिधेयता को गौण बनाना। वस्तुतः यहाँ 'अर्थ' शब्द का आशय है विशेष प्रकार का वाच्य अर्थ और 'शब्द' का अर्थ है विशेष प्रकार का वाचक। स्पष्ट शब्दों में कहा जा सकता है कि जहाँ पर वाच्य अथवा वाचक प्रधानीभूत व्यंग्यार्थ को व्यक्त करते हैं, वहां ध्वनि-संज्ञक काव्य विशेष होता है। उस काव्य-विशेष का विषय वाच्यार्थ के चारुत्व से उद्भूत उपमा तथा वाचक की चारुता से उत्पन्न अनुप्रास आदि अलंकारों से भिन्न होता है। वह काव्य-विशेष गुण और अलंकारों में अंतर्भूत नहीं किया जा सकता क्योंकि गुण और अलंकारों का प्राण तो वाच्यवाचकभाव है जबकि ध्वनिकाव्य में व्यंग्य-व्यंजक-भाव का ही एकमात्र प्राधान्य रहता है। आनंदवर्धन ने उन विद्वानों के अभिमत का खंडन किया है जो प्रसिद्ध स्थान का अतिक्रमण करने वाले मार्ग में काव्यत्व का अभाव निरूपित करते हुए ध्वनि का सर्वथा निषेध करते हैं। ध्वनिकार का मत है कि ध्वनि न केवल लक्षणकारों में ही प्रसिद्ध है अपितु लक्ष्य की परीक्षा करने पर वह ऐसा काव्यतत्त्व सिद्ध होता है जिसका प्रयोजन सहृदय जनों के हृदय को आह्लाद प्रदान करना है। उस काव्य की कोटि नृत्तगीतादिकल्प चित्र-काव्य से निश्चय ही उच्चतर है क्योंकि चित्रकाव्य तो केवल विस्मयकारी वृत्तादि के आश्रित रहते हैं जबकि ध्वनि-काव्य सहृदयों द्वारा अभीष्ट चमत्कार-सार रस का निष्यंद करने वाला होता है। जो लोग ध्वनि-काव्य की कमनीयता का प्रतिपादन करते हुए उसे कमनीयता के प्रतीक अलंकार आदि में समाविष्ट करना समीचीन समझते हैं, वह भी अनुचित है क्योंकि जैसाकि पहले संकेत किया जा चुका है कि गुण, अलंकार आदि प्रसिद्ध प्रस्थान या काव्य-मार्ग केवल वाच्य-वाचक के आश्रित रहते हैं जबकि ध्वनि की स्थिति व्यंग्य-व्यंजक भाव के समाश्रित है। ध्वनिकार के मत से ध्वनि को अंगी और वाच्यवाचक चारुता के हेतु अलंकारों को उसके अंग मानकर ही विवेचित करना सर्वथा युक्तिसंगत है।

रुय्यकः वाक्यार्थीभूत व्यंग्य ही काव्य का जीवित है

आचार्य रुय्यक (बारहवीं शती का मध्यभाग) ने अपने पूर्ववर्ती आचार्यों की काव्यशास्त्र सम्बन्धी धारणाओं का पर्यवेक्षण करने के पश्चात् अंत में यही निष्कर्ष निकाला है कि व्यंग्य नाम रखने वाले विषय को ही काव्य का जीवित स्वीकार करना चाहिए। उन्होंने अलंकार को उपस्कारक तथा रसादि को उपस्कार्य कहकर वाक्य के अर्थभूत व्यंग्य को ही काव्य की आत्मा माना है, क्योंकि उनके मतानुसार यही पक्ष वाक्यार्थ-कोविद सहृदयों का आवर्जक पक्ष है। वस्तुतः व्यंजना-व्यापार का महत्त्व इतना अधिक

---

१. यत्रार्थः शब्दो वा तमर्थमुपसर्जनीकृतस्वार्थौ ।
व्यंक्तः काव्यविशेषः स ध्वनिरिति सूरिभिः कथितः ।। —ध्वन्यालोक, १।१३ ।

सुस्पष्ट है कि उसके सम्मुख किसी अन्य पक्ष की प्रतिष्ठा की ही नहीं जा सकती। उनका कहना है कि भामह और उद्भट आदि प्राचीन आलंकारिकों ने प्रतीयमान (व्यंग्य) अर्थ को वाच्य अर्थ का उपस्कारक कहकर उसे जिस भंगिमा से अलंकारपक्ष की ओर निक्षिप्त किया है वह उचित नहीं है, क्योंकि पर्यायोक्ति, अप्रस्तुतप्रशंसा, समासोक्ति, आक्षेप, व्याजस्तुति, उपमेयोपमा और अनन्वय आदि अलंकारों से वस्तु-रूप व्यंग्य का प्रतिपादन करना 'स्वसिद्धये पराक्षेपः' (अपने अर्थ को सिद्ध करने के लिए दूसरे अर्थ का आक्षेप) तथा 'परार्थ स्वसमर्पण' (दूसरे अर्थ को सुसंगत सिद्ध करने के लिए अपने अर्थ का समर्पण) के समान ही है। उन्होंने रुद्रट की उस मान्यता का भी खंडन किया है जिसके अनुसार वे भावालंकार को दो प्रकारों में विवेचित कर उपमादि अलंकारों को अर्थ का उपस्कारक, उत्प्रेक्षा को स्वयमेव प्रतीयमान (व्यंग्य) और रसवत् तथा प्रेय आदि अलंकारों में रस और भाव आदि को वाच्यार्थ की शोभा का हेतु कहकर तीनों ही प्रकार के व्यंग्य को अलंकाररूप में मानते हैं। उन्हें वामन का वह मत भी सुमान्य नहीं प्रतीत होता जिसमें सादृश्य-निबंधन (गौणी) लक्षणा को वक्रोक्ति अलंकार कहकर अनेकानेक ध्वनिभेदों को अलंकार-रूप तथा केवल गुणयुक्त पद-रचनात्मक रीति को ही काव्य का आत्मतत्त्व माना गया है। उद्भट आदि आचार्यों ने गुणों और अलंकारों की प्रायशः समता सूचित करते हुए उनमें विषयमात्र से ही धर्म माना था और धर्मत्व की दृष्टि से उनकी संघटना करते हुए अलंकारों को प्रधानता दी थी जो रुय्यक को स्वीकार नहीं है। इस प्रकार उनके 'अलंकार-सर्वस्व' में उन प्राच्य आलंकारिकों का खण्डन विद्यमान है जो अलंकारमुख से काव्य के स्वरूप की विवेचना करते थे।

अपने मत की प्रतिष्ठा करने के पूर्व रुय्यक ने कुंतक और भट्टनायक की उन मान्यताओं का भी उल्लेख किया है जिनमें क्रमशः 'वक्रोक्ति' तथा 'व्यापार-त्रय' (अभिधा, भावकत्व और भोजकत्व) की प्रतिष्ठा द्वारा ही व्यंजना-व्यापार के खंडित करने का प्रयास है। वस्तुतः उन्हें वैदग्ध्यभंगीभणितिस्वभावा वक्रोक्ति उस रूप में स्वीकार नहीं है जिस रूप में उसे उपचार-वक्रता द्वारा समस्त ध्वनि-प्रपंचों का मूल कहा गया है। उन्हें तो ध्वनिकार आनंदवर्धन का वह अभिमत सुमान्य प्रतीत होता है जिसमें व्यंजना को अभिधा, तात्पर्य और लक्षणा व्यापारों की परवर्ती तथा अवश्य स्वीकर्त्तव्य-वृत्ति माना गया है। आचार्य महिमभट्ट ने जिस न्याय-पद्धति से वाच्यार्थ को व्यंग्यार्थ का लिंगी मानकर व्यंजना का अंतर्भाव 'अनुमान' में किया था वह आचार्य रुय्यक के अनुसार असंगत है, क्योंकि वाच्य अर्थ का तादात्म्य प्रतीयमान अर्थ के साथ उपपन्न करना अविवेकपूर्ण है। उनके मत का निष्कर्ष निम्नलिखित अवतरण में सन्निहित है—

व्यापारस्य विषयमुखेन स्वरूपप्रतिलम्भात् तत्प्राधान्येन प्राधान्यात् स्वरूपेण विदितत्वाभावाद्विषयस्यैव समग्ररसहिष्णुत्वम्। तस्माद्विषय एव व्यंग्यनामाजीवितत्वेन वक्तव्यः। यस्य गुणालंकार कृत चारुत्वपरिग्रहसाम्राज्यं। रसादयस्तु जीवितभूता नालंकारत्वेन वाच्याः। अलंकाराणामुपस्कारकत्वाद्रसादीनां च प्राधान्येनोपस्कार्यत्वात्। तस्मात् व्यंग्य एव वाक्यार्थीभूतः काव्यजीवितमित्येष एव पक्षो वाक्यार्थे विदां सहृदयाना-

मावर्जकः । व्यंजक व्यापारस्य सर्वैर न पह्नुत त्वात्तदाश्रयेण च पक्षान्तरस्याप्रतिष्ठानात् ।[१]

निष्कर्ष यह है कि रुय्यक के मतानुसार विषय की प्रधानता से ही व्यापार की प्रधानता होती है; अतः व्यंग्य नामक विषय को ही काव्य की आत्मा तथा अलंकारों को रसादि उपस्कार्यों के उपस्कारक मानना चाहिए क्योंकि वाक्य का अर्थभूत व्यंग्य ही काव्य का जीवित है और व्यंजना-व्यापार के आश्रयण से ही काव्य का तत्त्व विवेचित किया जा सकता है।

ध्वनि-काव्य के भेद

यों तो विभावानुभावादि के अनंत प्रयोजनों और प्रकारों की दृष्टि से ध्वनि-काव्य के असंख्य भेद किये जा सकते हैं, किंतु हमें उन सबका विश्लेषण अभीष्ट नहीं है। सामान्यतया ध्वनि-काव्य के दो भेद हैं—अभिधामूला ध्वनि और लक्षणामूला ध्वनि। अभिधामूला ध्वनि को रस-ध्वनि, वस्तुध्वनि और अलंकार-ध्वनि संज्ञक तीन भेदों में विभक्त किया जाता है। रसध्वनि मुख्यतः असंलक्ष्य-क्रम व्यंग्यध्वनि है और उसके अंतर्गत रस, रसाभास, भाव, भावाभास, भाव संधि, भावोदय, भावशबलता और भावशांति आदि विविध प्रकारों की गणना की जाती है। लक्षणामूला ध्वनिकाव्य के दो भेद हैं—अर्थान्तरसंक्रमित वाच्य तथा अत्यन्ततिरस्कृत वाच्य। अभिधामूलाध्वनि को 'विवक्षितान्यपरवाच्य ध्वनि' तथा लक्षणामूला ध्वनि को 'अविवक्षितवाच्यध्वनि' भी कहा जाता है। उपर्युक्त पांच प्रकारों की ध्वनियों में रसध्वनि ही सर्वाधिक रमणीय और आस्वादजनक होती है अतः उसी को काव्य की आत्मा कहा जाता है। विद्वानों ने उसके आस्वाद का विवेचन अत्यंत विशद विधियों और विभिन्न दृष्टियों से किया है जिनका तत्त्वपरक विश्लेषण किये बिना काव्यास्वाद की प्रक्रिया को समझा ही नहीं जा सकता।

गुणीभूतव्यंग्य काव्य

रसमुख की दृष्टि से काव्य का द्वितीय भेद गुणीभूतव्यंग्य काव्य है जिसका सामान्य लक्षण यह है कि 'जहां व्यंग्य के गुणीभाव (गौण) हो जाने से वाच्य का चारुत्व अधिक प्रकर्षपूर्ण हो जाता है वहां गुणीभूत व्यंग्य नामक काव्य होता है।' यदि ध्वनिकाव्य उत्तम श्रेणी का है तो गुणीभूत काव्य मध्यम श्रेणी का। इस काव्य में तिरस्कृतवाच्य वाले शब्दों से प्रतीयमान वस्तुमात्र व्यंग्य के वाच्यरूप वाक्यार्थ की अपेक्षा कभी गुणीभाव अथवा अप्रधान रूप में होती है तो कभी अतिरस्कृत वाच्य शब्दों से प्रतीयमान व्यंग्य का (काव्य के चारुत्व की अपेक्षा से वाच्य का प्राधान्य होने से) गुणीभाव हो जाने पर उसमें गुणीभूत व्यंग्यता आ जाती है। व्यंग्य वस्तु के स्वयं अपने वचन द्वारा प्रकाशित कर देने से वाच्यसिद्ध्यंगव्यंग्य गुणीभाव होता है तो रसवदलंकार में रसादि रूप व्यंग्य का गुणीभाव होता है। रसवदलंकार में रसादि रूप व्यंग्य का स्पष्टीकरण इस प्रकार किया जा सकता है कि उसमें भी यद्यपि व्यंग्य होने से रस ही प्रधान

---

१. रुय्यक, अलंकार-सर्वस्व, निर्णय सागर प्रेस, बम्बई, सन् १९३९।

होता है किंतु जैसे किसी कृपापात्र भृत्य के विवाह में सम्मिलित होने पर राजा की स्थिति उस समय वररूप सेवक से गौण हो जाती है उसी प्रकार रसवदलंकार आदि की स्थिति में रस के प्रधान होते हुए भी उस समय किसी अन्य की प्रधानता होने के कारण रस आदि उसके गौण या अंगभूत हो जाते हैं। कहने के लिए तो गुणीभूतव्यंग्य काव्य की स्थिति मध्यम श्रेणी के काव्य की है किंतु उसकी योजना भी ऐसी प्रविधि से की जा सकती है कि व्यंग्य की अप्रधानता होते हुए भी उसके द्वारा सहृदय जनों के मानस का आह्लादन किया जाना सहज संभव है। प्रतिभा-सम्पन्न कवियों में ऐसा नैपुण्य अथवा वाग्वैदग्ध्य होता है जिसके द्वारा वे वाच्य अलंकारों को भी व्यंग्यांश से संस्पृष्ट कर उन्हें शोभातिशयता प्रदान कर देते हैं। इस प्रकार की स्थिति दीपक और समासोक्ति आदि अलंकारों में ही नहीं होती, (अर्थात् दीपक आदि अलंकार ही व्यंग्य अलंकार के गुणीभाव का विषय नहीं है) अपितु अन्य अलंकार भी व्यंग्य के स्पर्श से चमत्कारपूर्ण बन जाते हैं। भामह आदि आलंकारिकों ने तो अतिशयोक्ति को समस्त अलंकारों के चमत्कार की जननी और वक्रोक्ति-रूप कहा है जिसके द्वारा पूर्ववर्णित विषय भी विलक्षण कांति को धारण कर लेते हैं।[1] उस कथन से यही तात्पर्य ध्वनित है कि अलंकारों की अलंकृति (सुन्दरता) सभी को अभीष्ट है और गुणीभूत काव्य में उनका जो महत्त्व होता है, उसे यदि कुछ व्यंग्य का स्पर्श मिल जाय तो वह काव्य अत्यंत सुखावह तथा प्रसादगुणपूर्ण बन सकता है। गुणीभूतव्यंग्य संज्ञक काव्य में समासोक्ति, आक्षेप और पर्यायोक्त आदि अलंकार व्यंग्य के अविनाभाव से ग्राह्य होते हैं, किंतु रूपकोपमा, तुल्ययोगिता और निदर्शना आदि अलंकारों का सादृश्यमूलक सन्निवेश भी कम शोभाधायक नहीं होता।

ध्वनिकार ने काव्य की गुणीभूत व्यंग्यता का निरूपण करते हुए लिखा है कि उसमें अलंकारों का सन्निवेश ऐसी रूप-प्रक्रिया में किया जाता है कि उनका चारुत्व-चमत्कार वर्णन की अनेक प्रणालियों के माध्यम से व्यक्त होता है। गुणीभूत व्यंग्य द्वारा उपमा आदि अलंकार उसी प्रकार सौंदर्यातिशय प्राप्त करते हैं जिस प्रकार किसी कामिनी के ईषन्निगूढ़ कुचकलश अपने से सम्बद्ध हार आदि अलंकारों के लिए शोभाजनक होते हैं। गुणीभूत व्यंग्यत्व को समस्त अलंकारों का साधारण धर्म कहा जा सकता है। ध्वनिकार ने उचित ही कहा है कि 'अलंकार आदि से युक्त होने पर भी जैसे लज्जा ही कुलवधुओं का मुख्य अलंकार होती है, उसी प्रकार उपमा आदि अलंकारों से भूषित होने पर भी यह व्यंग्यार्थ की छाया ही महाकवियों की वाणी का मुख्य अलंकार है।' वस्तुतः प्रतीयमान की छाया या व्यंग्य के संस्पर्श से सुप्रसिद्ध अथवा बहुवर्णित अर्थ में भी अनिर्वचनीय और नूतन सौन्दर्य आ जाता है।

गुणीभूतव्यंग्य काव्य के भेद

आचार्यों ने ध्वनि-काव्य के भेदोपभेदों का जितना अधिक विशद विवेचन किया

---

१. सैषा सर्वैव वक्रोक्तिरनयाऽर्थो विभाव्यते।
यत्नोऽस्या कविना कार्यः कोऽलंकारोऽनया विना।।

२. ध्वन्यालोक, तृतीय उद्योत कारिका, ३८।

है उतना गुणीभूतव्यंग्य काव्य के भेदों का नहीं। साधारणतया गुणीभूतव्यंग्य आठ प्रकार का होता है—१. इतरांग व्यंग्य, २. काक्वाक्षिप्त व्यंग्य, ३. वाच्यसिद्धि का अंगभूतव्यंग्य, ४. संदिग्धप्राधान्य व्यंग्य, ५. तुल्यप्राधान्य व्यंग्य, ६. अस्फुट व्यंग्य, ७. अगूढ व्यंग्य, और ८. असुंदर व्यंग्य। इन समस्त भेदों में व्यंग्य का गुणीभाव होने पर भी काव्य के सौन्दर्य में किसी भी प्रकार की न्यूनता नहीं आती। गुणीभूतव्यंग्य को एक प्रकार से ध्वनि का निष्यंद कहा जा सकता है किंतु वह निष्यंद दधि के सार के नवनीत तुल्य न होकर 'आभिक्षा' तुल्य है। 'आमिक्षा' का अर्थ है 'तप्त दूध में दही डाल देने से निष्यंदित होने वाला जलीय अंश' (तप्ते पयसि दध्यानय, सा वैश्वदेव्याभिक्षा)। अभिप्राय यह है कि गुणीभूतव्यंग्य को अधिक से अधिक आभिक्षा स्थानीय कहा जा सकता है क्योंकि 'नवनीत स्थानीय' तो केवल ध्वनि ही है जिसे 'सकलसतकविकाव्योपनिषद्भूत' भी कहा गया है। गुणीभूतव्यंग्य के जो आठ भेद निरूपित किये गये हैं उनका स्वरूप-विश्लेषण करने से भी इस कथन का सत्य-परीक्षण किया जा सकता है। उदाहरणार्थ काकु द्वारा जिस प्रसिद्ध अर्थान्तर की प्रतीति होती है, वह व्यंग्य की गौणतावश गुणीभूतव्यंग्य का ही एक रूप है। कुछ विद्वान् काकु से होने वाली अर्थान्तर की प्रतीति के गुणीभाव में तो गुणीभूतव्यंग्य तथा प्राधान्य में 'ध्वनि' मानते हैं किन्तु लोचनकार अभिनवगुप्त ने इस मत का विरोध किया है। वे 'काकु' को ध्वनि का विषय न मानकर सर्वत्र गुणीभूतव्यंग्य ही कहते हैं—'काकुप्रयोगे सर्वत्र शब्दस्पृष्टत्वेन व्यंग्यस्योन्मीलितस्यापि गुणीभावात्'। वस्तुतः किसी काव्य-रचना द्वारा व्यंग्य (ध्वनि) तथा गुणीभूतव्यंग्य का तत्त्वान्वेषण करना सरल कार्य नहीं है। उसका निर्णय करने में भावयित्री प्रतिभासम्पन्न व्यक्ति ही सफल हो सकते हैं क्योंकि काव्यबंधों में अनेक बार ऐसे स्थल भी आ जाते हैं जिनमें ध्वनि और गुणीभूतव्यंग्य का पार्थक्य न होकर सांकर्य होता है। ऐसा भी देखा जाता है कि अनेक स्थानों पर ध्वनि-काव्य में गुणीभूतव्यंग्य का पर्यवसान भी हो जाता है अर्थात् संलक्ष्यक्रमव्यंग्य की दृष्टि से गुणीभूत होने पर भी रसादि के विचार से कोई काव्यकृति ध्वनि रूप भी मान ली जाती है। अभिप्राय यह है कि काव्य के गुणीभाव और प्राधान्य का निर्णय करने के मार्ग में अनेक कठिनाइयाँ हैं जो तभी निष्कासित की जा सकती हैं जब काव्य-समीक्षक को वाच्य और व्यंग्य का पूर्ण परिज्ञान हो और वह ध्वनि, गुणीभूत-व्यंग्य तथा अलंकारों के विषय का असंकीर्ण रूप से ज्ञाता हो।

आचार्य मम्मट ने भी गुणीभूतव्यंग्य रूप मध्यम काव्य के जो आठ भेद माने हैं[1] उनमें कामिनीकुचकलशवत् अंशतः गूढ़ व्यंग्य ही सर्वाधिक चमत्कारजनक होता है। अगूढ़ अथवा स्फुटव्यंग्य की स्थिति उसकी अत्यधिक स्पष्टता के कारण वाच्यवत् होती है अतः उसमें व्यंग्य का-सा चमत्कार ही प्रतीत नहीं होता। अगूढ़ व्यंग्य के संबंध में मम्मट का कहना है कि वह कहीं तो लक्षणामूल ध्वनि के अर्थान्तर संक्रमितवाच्य के रूप में गुणीभूत होता है और कहीं अत्यंततिरस्कृतवाच्य के रूप में। इस व्यंग्य की स्थिति अभिधामूलध्वनि के अर्थ शक्तिमूल भेद में भी रह सकती है। अपरांगरूप गुणीभूतव्यंग्य के आठ उदाहरण प्रस्तुत करते हुए मम्मट ने बतलाया है कि जहां

१. काव्यप्रकाश, पंचम उल्लास, सूत्र ६६, कारिका ४५।

अन्य रसादि का अथवा वाक्य के तात्पर्यविषयीभूत अन्य वाच्य का अंग रसादि अथवा संलक्ष्यक्रम (अनुरणनरूप वस्तु, अलंकार आदि) होता है वहाँ अपरांग नामक गुणीभूत व्यंग्य होता है। इस व्यंग्य में कहीं एक रस दूसरे रस का अंग बनकर आता है और कहीं कोई रस किसी भाव का अंग बनकर गुणीभूत हो जाता है। मम्मट ने महादेवनिष्ठ पार्वती विषयक संभोग श्रृंगार रूप 'रस' को पार्वतीविषयक भक्ति रूप भाव का अंग बनाकर उदाहृत किया है।[१] उनका कहना है कि इस व्यंग्य में एक 'भाव' दूसरे भाव का भी अंग हो सकता है तथा किसी छंद के पूर्वार्द्ध से द्योत्य रसाभास तथा उत्तरार्द्ध से द्योत्य भावाभास भी किसी प्रधान भाव के अंग बनकर उपस्थित होते हैं। इस व्यंग्य के ऐसे उदाहरण भी दिये जा सकते हैं जिनमें भाव शांति, भावोदय तथा भावशबलता भी भाव के अंग बने हों। इन समस्त दशाओं में अपरांग व्यंग्य का ही उद्रेक होता है। मम्मट का मत है कि जहाँ अन्य वाक्यार्थ की प्रधानता होने पर रसादि उसके अंग हो जाते हैं वहां गुणीभूतव्यंग्य में रस के अन्य का अंग होने पर 'रसवत्,' भाव के अन्य का अंग होने पर 'प्रेय', रसाभास तथा भावाभास के अन्य का अंग होने पर 'ऊर्जास्वित्' तथा भावशांति आदि के अंग होने पर 'समाहित' आदि अलंकार होते हैं। इस प्रकार मम्मट के विचारानुसार रसवदादि अलंकारों का क्षेत्र गुणीभूतव्यंग्य नामक काव्य है। यहाँ इस बात का उल्लेख करना आवश्यक है कि मम्मट ने जहाँ भावशांति को 'समाहित' अलंकार माना है वहाँ 'समाहित' पद को भावोदय, आदि का भी उपलक्षण माना जा सकता है क्योंकि उनमें भी परोत्कर्षकत्वरूप अलंकार का लक्षण पाया जाता है। मम्मट का यह निर्णय महिमभट्ट तथा भामह आदि प्राचीन आचार्यों के विपरीत है क्योंकि उन्होंने भावोदय, भावसंधि और भावशबलता को रसवदादि अलंकार की श्रेणी में नहीं गिना था। मम्मट का कथन है कि भावोदय आदि से भी रसवदादि अलंकारों की भांति अन्य का उत्कर्ष होता है, अतः लक्षण की समानता के कारण यदि इन्हें भी समाहित अलंकार के अंतर्गत मान लिया जाय तो कोई विशेष आपत्ति नहीं होनी चाहिए।

आचार्य मम्मट ने 'प्राधान्येन व्यपदेशा भवंति' के अनुसार ध्वनि और गुणीभूतव्यंग्य के भेद-विवेचन के प्रसंग में बतलाया है कि प्रायः उनमें अन्य भेदों का नीरक्षीरन्यायमिश्रणवत् या तिलतंडुल न्यायमिश्रणवत्संसृष्टि भी रहती है किंतु उन भेदों में से जिसकी प्रधानता होती है उसी के नाम से उस भेद का निर्देश कर दिया जाता है। मम्मट का मत है कि अपरांग-व्यंग्य में रसवदादि अलंकारों का तो विशेष महत्त्व है ही, किंतु यदि किसी रचना में संलक्ष्य-क्रम व्यंग्य अलंकारध्वनि तथा वस्तुध्वनि भी वाच्य का अंग वनकर उपस्थित हो तो वहाँ पर भी अपराग व्यंग्यरूप गुणीभूत व्यंग्य हो जायगा। यहाँ यह बात ध्यान में रखने योग्य है कि जहाँ वाच्यार्थ को किसी अन्य की अपेक्षा न होने पर भी व्यंग्यार्थ उसका अंग बनकर आता है तो वह निरपेक्ष वाच्य का अंग होने के कारण 'वाच्यांग व्यंग्य' कहलाता है और जहां वाच्य को अपनी सिद्धि के लिए दूसरे अर्थ की अपेक्षा रहती है तो सापेक्ष वाच्यार्थ की पूर्ति के लिए उसके अंग रूप में उपस्थित हुआ व्यंग्य एक प्रकार से वाच्यसिद्धि का ही

२. काव्य प्रकाश, पंचम उल्लास, सूत्र ६६, पृ० १९९।

३. काव्यप्रकाश, पंचम उल्लास, श्लोक सं० ११७, पृ० २००।

अंग होने के कारण 'वाच्यसिद्धयंगव्यंग्य' कहलाता है। वाच्यसिद्धयंग व्यंग्य में व्यंग्यार्थ की सहायता के बिना काम चल ही नहीं सकता। गुणीभूतव्यंग्य के अवशिष्ट पाँच भेद (अस्फुट व्यंग्य, संदिग्ध प्राधान्य, तुल्य प्राधान्य, काक्वाक्षिप्त और असुंदर व्यंग्य) अधिक महत्त्वपूर्ण नहीं है क्योंकि उनमें सहृदय जनों की चित्तवृत्ति के आह्लाद की सामग्री कम रहती है। संभवतः इसी कारण आचार्य मम्मट ने भी उक्त भेदों के उदाहरणमात्र उपस्थित कर उन्हें चलता कर दिया है।

ध्वनि-काव्य की भाँति गुणीभूतव्यंग्य काव्य के भेदों का भी विस्तार किया जा सकता है। साधारणतया ऐसा प्रतीत होता है कि जब ध्वनि और गुणीभूतव्यंग्य का भेद वस्तुतः व्यंग्य की प्रधानता एवं अप्रधानता के कारण ही है तो दोनों की भेद-संख्या भी समान ही होनी चाहिए, किंतु वास्तविकता ऐसी नहीं है। इसका कारण यह है कि जहाँ वस्तु से अलंकार व्यंग्य होता है, वहाँ वस्तु की अपेक्षा अलंकार का प्राधान्य होने से उसे गुणीभूत नहीं माना जाता जिसका परिणाम यह होता है कि वहाँ सदैव ध्वनि काव्य ही होता है।[1] आचार्य आनंदवर्धन ने वस्तु से अलंकार व्यंग्य के स्वतः संभवी, कवि प्रौढोक्तिसिद्धि तथा कविनिबद्धवक्तृप्रौढ़ोक्तिसिद्ध नामक तीन भेद मानकर तथा उन्हें पदगत, वाक्यगत और प्रबंधगत कहकर वस्तु के अलंकार व्यंग्य के ३ × ३ = ९ भेद ध्वनि-काव्य के माने हैं जिन्हें ध्वनि के ५१ शुद्ध भेदों में से घटाने पर गुणीभूतव्यंग्य के ४२ भेद हो सकते हैं। यदि उपर्युक्त नौ भेद गुणीभूत व्यंग्य के भी होते तो ध्वनि की भांति गुणीभूत व्यंग्य के भी ५१ भेद हो सकते थे।

आनंदवर्धन तथा मम्मट आदि विद्वानों ने गणीभूत व्यंग्य के ४२ भेद माने हैं। इन भेदों को पूर्वोक्त आठ अवांतर भेदों से गुणा करने पर गुणीभूतव्यंग्य के ४२ × ८ = ३३६ भेद हो जाते हैं। त्रिविध संकर और एक प्रकार की संसृष्टि द्वारा इन भेदों का विस्तार करने और 'काव्य-प्रकाश' वर्णित गुणन प्रक्रिया का आधार लेने पर गुणीभूत व्यंग्य काव्य के प्रत्येक भेद के ४२ × ४२ × ४ = ७०५६ संकर तथा संसृष्टिजन्य भेद हो जाते हैं। उनके साथ शुद्ध भेदों की संख्या मिला देने पर ७०५६ + ४२ = ७०९८ भेद, गुणीभूतव्यंग्य के प्रत्येक अवान्तर भेद के बनते हैं। इसलिए आठ अवांतर भेदों को मिलाकर गुणीभूतव्यंग्य के ७०९८ × ८ = ५६७८४ भेद हो सकते हैं।

सुधासागरकार ने गुणीभूतव्यंग्य के ४५ शुद्ध भेद माने हैं। उनको भी पूर्वोक्त गुणनप्रक्रिया से प्रस्तारित करने पर ४५ × ४५ = २०२५ × ४ = ८१०० प्रकार के संकर-संसृष्टि भेदों के साथ ४५ शुद्ध भेदों को जोड़ने से ८१०० + ४५ = ८१४५ भेद हो जाते हैं। सुधासागरकार ने ध्वनि के पूर्वोक्त १०४५५ भेदों के साथ इनको गुणा करके १०४५५ × ८१४५ = ८५१५५९७५ प्रकार की संसृष्टि और इस संख्या को चार से गुणा करके ३४०६२३९०० भेद ध्वनि तथा गुणीभूतव्यंग्य के भेदों के संकर तथा संसृष्टिजन्य भेद माने हैं। सुधासागरकार ने गुणीभूतव्यंग्य के जो ८१४५ भेद निर्दिष्ट किये हैं वे गुणीभूतव्यंग्य के आठ भेदों में से प्रत्येक भेद के बनते हैं। उन्होंने इस बात की

१. व्यज्यन्ते वस्तुमात्रेण यदलंकृतयस्तदा।
ध्रुवं ध्वन्यंगता तासां काव्य वृत्तेस्दाश्रयात्॥—ध्वन्यालोक, २।२९।

ओर ध्यान नहीं दिया है कि आठों अवांतर भेदों के कुल मिलाकर कितने भेद होंगे। वस्तुतः सुधासागरकार ने गुणीभूतव्यंग्य के ४५ भेद मानकर भूल ही की है क्योंकि वस्तु से अलंकार व्यंग्य के जो नौ भेद होते हैं उनको ध्वनि-काव्य के ५१ भेदों में से निकाल देने पर ४२ भेद ही बचते हैं। यदि इन ४२ भेदों का विस्तार सुधासागरकार की गुणन-प्रक्रिया से किया जाय तो ४२ × ४२ = १७६४ × ४ = ७०५६ + ४२ = ७०९८ भेद, गुणीभूतव्यंग्य के प्रत्येक अवांतर के बनेंगे। इनको ध्वनि-भेदों के साथ गुणा करने पर पूर्वोक्त विधि से उनकी संख्या १०४५५ × ७०९८ = ७४२०९५९० × ४ = २९६८३८३६० हो जायगी। यह संख्या गुणीभूत व्यंग्य के प्रत्येक भेद की ध्वनि-भेदों के साथ संकर तथा संसृष्टि से बनेगी। यदि आठों भेदों की संकर—संसृष्टि की गणना की जाय तो संख्या फिर अष्ट-गुणित होकर २९६८३८३६० × ८ = २३७४७०६८८० हो जायगी। यह तो हुआ गुणीभूत व्यंग्य से ४२ भेदों का गुणन प्रक्रिया से विस्तार। यदि संकलन प्रक्रिया से गुणीभूतव्यंग्य के भेदों का विस्तार किया जाय तो उनकी संख्या १२२२४८२२४० हो जायगी। वस्तुतः यह विस्तार अत्यंत श्रमसाध्य होने के अतिरिक्त अनुपयोगी भी है। यही कारण है कि आचार्य मम्मट ने भी 'अन्योन्ययोगादेव स्याद् भेदसंख्यातिभूयसी' लिखकर इस अनुपयुक्त प्रसंग का विस्तार नहीं किया है।

चित्रकाव्य

काव्य का तृतीय भेद 'चित्रकाव्य' है। वह पूर्वोक्त दोनों प्रकार के काव्यों से भिन्न है क्योंकि ध्वनि-काव्य में तो व्यंग्य की प्रधानता तथा गुणीभूतव्यंग्य में व्यंग्य की गौणता होती है किंतु चित्रकाव्य में ऐसी कोई भी बात नहीं होती। चित्रकाव्य व्यंग्यार्थ विशेष के प्रकाशन की शक्ति से रहित तथा शब्द और अर्थ केवल वाच्यवाचक-वैचित्र्य के आधार पर निर्मित होता है। उसकी स्थिति चित्र अथवा आलेख्य के समान है जिसमें तात्विक रूपरहित प्रतिकृति-मात्र होती है। मुख्य रूप से उसको काव्य भी नहीं कहा जा सकता क्योंकि वह यथार्थ काव्य न होकर काव्य की अनुकृतिमात्र है। उसमें या तो दुष्कर-यमक आदि के रूप में शब्द-चित्र होते हैं या शब्दचित्र से भिन्न, व्यंग्यस्पर्शरहित, रसादि तात्पर्यशून्य और प्रधान वाक्यार्थरूप से स्थित उत्प्रेक्षा आदि अर्थचित्र। चित्रकाव्य के इस स्वरूप-लक्षण पर शंका की जा सकती कि है वह 'रसादितात्पर्यशून्य' है। इस शंका का आधार यह है कि संसार में ऐसी कोई वस्तु नहीं जो किसी भाव या रस का अंग न बन सके। विभाव रूप से प्रत्येक वस्तु का सम्बन्ध किसी न किसी रस से अवश्यमेव होता है। ऐसी स्थिति में कविकर्म को रसादितात्पर्य से रहित मानना समुचित नहीं है। इस शंका का समाधान इस प्रकार किया जा सकता है कि यों तो सभी प्रकार के काव्यों में रसादि की प्रतीति होती है किंतु ऐसे काव्य भी लिखे जाते हैं जिनमें रस और भाव आदि की कोई विवक्षा न होकर केवल शब्दालंकारों और अर्थालंकारों का ही उपनिबंध होता है अतः उस दृष्टि से उस काव्य में रसादिशून्यता की कल्पना कर ली जाती है। चित्रकाव्य के विषय में कवि की रसादिविषयक विवक्षा न होने पर भी यदि रसादि की प्रतीति होती भी है तो वह इतनी दुर्बल रहती है जिसको नीरसवत् मानकर चित्रकाव्य का विषय

कह दिया जाता है। इस विषय में एक आचार्य का कथन है कि 'रस, भाव आदि की विवक्षा के अभाव में जो अलंकारों की रचना है, उसे चित्रकाव्य का ही विषय माना गया है।"[१] यहाँ यह बात भी ध्यान में रखने योग्य है कि "जब रस, भाव आदि की प्रधान-रूप से विवक्षा हो तो ऐसा कोई भी काव्य नहीं हो सकता जो ध्वनि का विषय न हो।"[२] अभिप्राय यह है कि कवि-कर्म की विवक्षा के आधार पर ही काव्य-भेदों का निर्णय करना चाहिए।

चित्रकाव्य अवर श्रेणी का काव्य है

आचार्य मम्मट ने भी अपने ध्वनिपरक दृष्टिकोण के कारण चित्रकाव्य को गुणालंकार युक्त कहकर उसे अवर श्रेणी प्रदान की है क्योंकि उसमें व्यंग्य का अभाव होता है। उनके मतानुसार चित्रकाव्य के दो प्रकार हैं—शब्द-चित्र और अर्थ-चित्र। कहने के लिए तो चित्रकाव्य के ये दो रूप हैं किंतु तत्त्वतः दोनों में ही एक-दूसरे की उपयोगिता रहती है, अतः 'प्राधान्येन व्यपादेशा भवंति' के नियमानुसार उन्हें पृथक्-पृथक् अभिधा प्रदान की गई है। मम्मट ने काव्यप्रकाश के प्रथम उल्लास में काव्य-भेदों के प्रसंग में चित्रकाव्य के दोनों प्रकारों का सोदाहरण विवेचन करने के अतिरिक्त उसी ग्रंथ के षष्ठ उल्लास में भी उनका स्वतंत्र निरूपण भी किया है। उनके अनुसार चित्रकाव्य का लक्षण-भेद 'शब्दचित्रं वाच्यचित्रमव्यंग्यं त्ववरं स्मृतम्'[३] है जिसका स्पष्टीकरण उसे 'गुणप्राधान्यतस्तत्र स्थितिश्चित्रार्थशब्दयो' कहा है।[४] उन्होंने काव्यालंकारकार आचार्य भामह के तीन श्लोक उद्धृत कर शब्दालंकार और अर्थालंकार के समन्वय में ही चित्रकाव्य की सत्ता स्वीकार की है। अपने ध्वनिवादी दृष्टिकोण के कारण उन्होंने व्यंग्य-संबंध के आधार पर यही निर्णय किया है कि समस्त काव्यों में वर्णित समस्त पदार्थों का पर्यवसान अंततः विभावादि के रूप में ही होता है अतः मुख्यतः ध्वनि और गुणीभूतव्यंग्य नामक दो काव्य-भेद ही स्वीकृत किये जाने चाहिए। चित्रकाव्य को भी काव्य-श्रेणी में परिगणित करने की जो परम्परा रही है उसका निर्वाह करने की दृष्टि से उन्होंने भी उसकी अव्यंग्तावश उसे केवल अधम श्रेणी प्रदान की है। चूंकि शब्दालंकार और अर्थालंकार

---

१. रसभावादि विषय विवक्षाविरहे सति।
अलंकार निबंधो यः स चित्रविषयो मतः॥

२. रसादि तु विवक्षा तु स्यात्तात्पर्य वती सदा।
तदो नास्त्यैव तत्काव्यं ध्वनेर्यत्र न गोचरः।

३. काव्यप्रकाश, प्रथम उल्लास, सूत्र सं० ४।

४. रूपकादिरलंकारस्तस्यान्यैर्बहुधोदितः।
न कांतमपि निर्भूषं विभाति वनिताननम्।
रूपकादिमलंकारं बाह्यमाचक्षते परे।
सुपां तिङां च व्युत्पत्तिं वाचां वांछंत्यलंकृतिम्॥
तदेतदाहुः सौशब्द्यं नार्थ व्युत्पत्ति रीदृशी।
शब्दाभिधेयालंकारभेदादिष्टं द्वयन्तु नः॥—भामह, काव्यालंकार।

के अनेक भेद होते हैं अतः उन्होंने 'काव्य-प्रकाश' में नवम और दशम उल्लास में उनका विस्तृत विवेचन किया है।

पंडितराज कृत काव्य-भेद : उत्तमोत्तम, उत्तम, मध्यम और अधम

पंडितराज ने काव्य के चार प्रकार माने हैं—उत्तमोत्तम, उत्तम, मध्यम और अधम।[1] उत्तमोत्तम काव्य वह है जिसमें शब्द और अर्थ (वाच्य, लक्ष्य और व्यंग्य) अपने को गौण अर्थात् अप्रधान बनाकर किसी चमत्कारजनक अतएव प्रधान अर्थ को अभिव्यक्त करते हैं।[2] पंडितराज-कृत इस लक्षण में 'कमपि' पद से चमत्कारजनक होने के कारण प्रधान अर्थ विवक्षित है, अतः उस काव्य को उत्तमोत्तम नहीं कहा जा सकता जिसमें या तो व्यंग्य अत्यंत गूढ़ हो या वाच्यवत् अत्यंत स्पष्ट (स्फुट) हो। जिस प्रकार अतिगूढ़ और अतिस्फुट व्यंग्य चमत्कारजनक नहीं होते, उसी प्रकार असुंदर व्यंग्य भी चमत्कारहीन होते हैं। यों तो अपरांग और वाच्यसिद्धयंग व्यंग्य भी चमत्कारजनक होते हैं अतः इस भेद में उनका भी ग्रहण न हो जाय, अतएव उसके लक्षण में 'अपने को गौण बनाकर' कहा गया है। इसका आशय यह है कि शब्द और अर्थ (वाच्यादि) से व्यंग्य में प्रधानता होनी चाहिए और यह प्रधानता अपरांग आदि व्यंग्यों में नहीं होती अतः उस प्रकार के व्यंग्य उत्तमोत्तम श्रेणी के काव्य की संज्ञा नहीं प्राप्त कर सकते।[3] पंडितराज ने अन्यान्य आलंकारिकों की मान्यता के अनुरूप केवल उसी व्यंग्य को चमत्कारपूर्ण माना है जिसमें अभिधावृत्ति का किंचित्‌मात्र भी स्पर्श न हो। उनका कथन है कि जो पदार्थ सामान्य रूप से भी वाच्य हो चुका है, वह विशेष रूप से व्यंग्य होने पर भी सहृदयों के मन में चमत्कृति उत्पन्न नहीं कर सकता। वस्तुतः अभिधावृत्ति एक ऐसा संक्रामक रोग है जिसके स्पर्श मात्र से स्वस्थ व्यंग्य भी अस्वस्थ हो जाता है और उसमें किसी भी प्रकार की चमत्कारजनक शक्ति नहीं रहती।[4] पंडितराज ने बतलाया है कि जिस प्रकार उत्तमोत्तम काव्य में वाच्यार्थ की अपेक्षा व्यंग्यार्थ की प्रधानता होने से रसव्यंग्य होता है, उसी प्रकार वस्तु व्यंग्य को आधार बनाकर उत्पन्न हुई आस्वाद धारा अपने पर्यवसान में भाव व्यंग्य के आस्वाद में ही विश्रांत होती है जिसके कारण वहां भावव्यंग्य हो जाता है।[5] कहने की आवश्यकता नहीं कि पंडितराज ने किस प्रकार के काव्य को 'उत्तमोत्तम काव्य' कहा है, वह अन्य आचार्यों के मत से 'ध्वनिकाव्य' है।[6]

---

१. रसगंगाधर, प्रथमाननम्, व्याख्याकार श्री बदरीनाथ झा, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, वि० सं २०११, पृ० ३३।

२. 'शब्दार्थौ यत्र गुणीभवितात्मानौ कमप्यर्थमभिव्यंक्तस्तदाद्यम्॥'

३. वही, पृ० ३४।

४. 'नहि विशेषा कारेण व्यंग्यो पि सामान्याकारेणाभिहितोर्थः सहृदयानां चमत्कृतिमुत्पादयितुमीष्टं, कथमपि वाच्य वृत्यनालिंगिनस्यैव व्यंग्यस्य चमत्कारित्वेनालंकारिकैः स्वीकारात्।—वही, पृ० ३७।

५. वही, पृ० ४१।

६. यत्रार्थः शब्दो वा तमर्थमुपसर्जनीकृतस्वार्थौ।
व्यंक्तः काव्य विशेषः स ध्वनिरिति सूरिभिः कथितः।—आनंदवर्धन, ध्वन्यालोक।

पंडितराज ने 'उत्तम' संज्ञक द्वितीय प्रकार के काव्य का लक्षण निर्धारित करते हुए उसे 'चित्र व्यंग्यमप्रधानमेव सच्चमत्कारिकारणं तद् द्वितीय' कहा है जिसका अर्थ यह है कि जिस काव्य में व्यंग्य अप्रधान होकर ही चमत्कार का कारण हो, उसे उत्तम काव्य कहते हैं। इसका अभिप्राय यह है कि उत्तम काव्य का व्यंग्य वाच्यार्थ तथा अन्य व्यंग्यार्थों की अपेक्षा गौण होने पर भी चमत्कारजनक होता है। विवेचन के इसी प्रसंग में एक उल्लेखनीय बात यह है कि वाच्यचित्र काव्यों में व्यंग्य लीन रहता है अर्थात् वाच्यरूप यमक और उपमा आदि अलंकारों के चमत्कार में उसका चमत्कार तिरोहित हो जाता है जिसके कारण व्यंग्य में चमत्कार नहीं रहता, अतः उनमें यह लक्षण घटित नहीं होता। पंडितराज ने उत्तम काव्य का स्वरूप एक व्यावहारिक उदाहरण द्वारा अत्यंत कुशलता-पूर्वक स्पष्ट किया है। उनका कथन है कि इस प्रकार के काव्य का व्यंग्यार्थ, वाच्यार्थ के साधक होने के कारण यद्यपि गौण हो जाता है तथापि उस व्यंग्य में भी विलक्षण चमत्कार उसी प्रकार परिलक्षित होता है जिस प्रकार दुर्दैव की वशवर्तिनी कोई राजांगना किसी की दासी बनकर रहने पर भी अपने सहज-सौन्दर्य की कांति का परित्याग नहीं करती।[1]

काव्य का तृतीय भेद मध्यम काव्य है। पंडितराज के शब्दों में 'यत्र व्यंग्य-चमत्कारासमानाधिकरणो वाच्यचमत्कारस्तृतीयम्' अर्थात् जहां वाच्य अर्थ का चमत्कार व्यंग्य अर्थ के चमत्कार के अधिकरण में न रहे, वहां मध्यम काव्य होता है। इस काव्य में व्यंग्य अर्थ का चमत्कार अल्पांश में रहकर भी व्यापक वाच्य अर्थ के चमत्कार में अंतर्भुक्त हो जाने के कारण स्पष्टतया अनुभूत नहीं होता। पंडितराज ने व्यंग्यार्थ के चमत्कार का वाच्यार्थ के चमत्कार में होने वाला अन्तर्भाव अत्यंत रमणीय उदाहरण द्वारा व्यक्त किया है। उनका कहना है कि जिस प्रकार किसी ग्राम्य नायिका की गौरता केसर रस के लेप में अन्तर्भुक्त हो जाती है उसी प्रकार व्यंग्यार्थ का चमत्कार वाच्यार्थ के चमत्कार में अंतर्भुक्त हो जाता है।[2] इस प्रकार के काव्य में व्यंग्य का सर्वथा न रहना अभीष्ट नहीं है क्योंकि कदाचित् ही कोई ऐसा वाच्य अर्थ हो जो व्यंग्यार्थ के साथ यत्किंचित् भी सम्बन्ध रखे बिना अपनी रमणीयता प्रकट कर सके। यद्यपि पंडितराज प्रतिपादित काव्य के द्वितीय तथा तृतीय भेदों में व्यंग्य गुणीभूत रहता है किन्तु उत्तम काव्य में वह जागरूक अर्थात् चमत्कारविशेषजनक होने से अनुभव होने योग्य रहता है जबकि मध्यम काव्य में ऐसा नहीं होता। पंडितराज का मत है कि समासोक्ति आदि अलंकारों में जहां व्यंग्य गौण होकर भी चमत्कारी हो वहां उत्तम काव्य तथा जहां दीपक आदि अर्थालंकारों में व्यंग्य की गौणता के साथ-साथ उसकी चमत्कारहीनता भी हो, वहां मध्यम काव्य होता है।

पंडितराज ने अधम संज्ञक चतुर्थ काव्य को 'यत्रार्थचमत्कृत्युपस्कृता शब्द-चमत्कृतिः प्रधानम्' कहकर बतलाया है कि अधम काव्य में वाच्यार्थ के चमत्कार से परिपोषित होकर शब्द का चमत्कार प्रधान होता है। इस काव्य में भी कुछ न कुछ व्यंग्य रहता अवश्य है किंतु वह अपनी स्थिति रखता हुआ भी चमत्कारहीन होने के कारण अविवक्षित होता है, अतः उसकी प्रधानता नहीं रहती। कुछ विद्वान् 'अधमाधम' नामक

१. रसगंगाधर, प्रथमाननम्' चौखम्बा विद्या भवन, वाराणसी, पृ० ६४।
२. वही, पृ० ७१।

काव्य का पंचम भेद भी मानते हैं और उसके उदाहरण के रूप में एकाक्षरपद्य, अर्धावृत्ति-यमक और पद्मबंध आदि की गणना करते हुए कहते हैं कि इस प्रकार के काव्यों के शब्दों में तो फिर भी कुछ चमत्कार रहता है किंतु अर्थों में तो किंचित्मात्र भी चमत्कार न होने से ये अधमाधम संज्ञक काव्य से अभिहित किये जा सकते हैं। पंडितराज को यह मत सुग्राह्य प्रतीत नहीं होता। उनकी धारणा उचित भी है क्योंकि जब एतादृशी रचनाओं में अर्थगत चमत्कार का अभाव होगा तो फिर उनके शब्द रमणीय अर्थ के प्रतिपादक कैसे कहे जा सकते हैं ? इस प्रकार उनमें काव्य का सामान्य लक्षण भी घटित नहीं होता; अतः संख्या-वृद्धि की दृष्टि से उन्हें भले ही काव्य का एक पंचम प्रकार कह दिया जाय किंतु उस कथन का कोई तत्त्वसंगत आधार नहीं माना जा सकता। पंडितराज ने आचार्य मम्मट कृत काव्य के तीन भेदों (उत्तम, मध्यम तथा अधम) का भी खंडन किया है क्योंकि उनके मतानुसार अर्थ-चित्र (अर्थालंकारों से युक्त अविवक्षित व्यंग्य काव्य) तथा शब्द-चित्र (शब्दालंकारों से युक्त अविवक्षित व्यंग्य काव्य) में न्यूनाधिक विधि में तारतम्य भाव दृष्टिगोचर होता है अतः उन दोनों को एक ही श्रेणी में संवलित करना उचित नहीं है। स्पष्ट है कि पंडितराज को मम्मट का मत स्वीकार नहीं है और वे सभी दृष्टियों से काव्य के चार भेद मानना ही युक्तिसंगत समझते हैं। यहां यह बात उल्लेखनीय है कि नाट्यदृष्टि से काव्यों की यह भेद-गणना जितनी सरल प्रतीति होती है उतनी तत्त्व-दृष्टि से सुगम नहीं है। शब्द और अर्थ के पृथक्-पृथक् अथवा संयुक्त चमत्कार तथा उनके न्यूनाधिक तारतम्य के अतिरिक्त उनमें कहीं-कहीं समान चमत्कार भी रह सकता है जिसके कारण उनका काव्य-भेद निर्णय करना कभी-कभी एक प्रकार की समस्या सी बन जाती है अतः इस विषय को अधिक तूल देने की कोई आवश्यकता नहीं है कि काव्य-भेदों का निर्णय सर्वथा स्थूल तथा वस्तुपरक दृष्टि से ही किया जाय। विद्वानों ने उनके भेदों के विविध आधार स्वीकार करते हुए उनके असंख्य भेदोपभेद किये हैं जिनका तत्त्वसंगत विश्लेषण करना शोध-क्रिया का एक स्वतंत्र विषय हो सकता है।

काव्य-भेदों की कल्पना का आधार

प्रश्न होता है कि काव्य के विभिन्न भेदों की परिकल्पना क्यों की गई ? इसका उत्तर विविध दृष्टियों से दिया जाता है। तत्त्वदृष्टि से तो काव्य की सत्ता भी आत्मतत्त्व की भाँति अखंड और पूर्ण है, किंतु जिस प्रकार आत्मा विभिन्न देहों को धारण कर विविध रूपों में अपना प्रकाशन करती है उसी प्रकार काव्यात्मतत्त्व भी रसादि की योजना से भिन्न-भिन्न भेदों में विवेचित किया जाता है। वस्तुतः काव्य-कृति कवि-कर्म का ही साकार विधान है और कवियों में शक्ति अथवा प्रतिभाजन्य जो अंतर पाया जाता है उसी का यह परिणाम होता है कि रससिद्ध कविजन तो अपनी असाधारण क्षमता के बल पर प्रजापति ब्रह्मा के समान मनोवांछित रूप में अपूर्व रचना करने में समर्थ होते हैं जबकि विश्रृंखलगिर कवि रसादि के तात्पर्य की उपेक्षा कर निम्न स्तरीय काव्य-निर्माण में ही सफल हो जाते हैं। कविकर्म की शक्ति के आधार पर काव्य को उत्तम, मध्यम तथा अधम श्रेणी में रखा गया है। आचार्यों का कथन है कि रसादि तात्पर्य के बिना परिपाक-

वान कवियों का व्यापार ही शोभित नहीं होता। परिपाक युक्त कवि वही है जिसे रसादि की दृष्टि से ऐसे काव्य की रचना करने में व्युत्पत्ति तथा निपुणता प्राप्त हो जिसका एक भी शब्द अर्थ, अनधिकृत, तात्पर्यहीन और परिवर्तनीय न कहा जा सके। सच तो यह है कि काव्य में रस-व्यंजना ही प्रधान है और उसके माध्यम से प्रत्येक प्रकार की विषय-वस्तु काव्य-रचना का अंग बनकर चमक सकती है। रस के उपकरणों से सम्बद्ध होकर अचेतन पदार्थ भी प्रशस्तगुणसम्पन्न हो जाते हैं। इन्हीं बातों को ध्यान में रखकर रस-ध्वनि का प्राधान्य स्वीकार किया गया है। विद्वानों ने कवि के व्यक्तित्व की महिमा का गुणगान अनेक प्रकार से किया है जिसका सामान्य अनुमान निम्नलिखित श्लोकों से लग सकेगा—

अपारे काव्यसंसारे कविरेकः प्रजापतिः।
यथास्मै रोचते विश्वं तथेदं परिवर्तते ॥ १ ॥
श्रृंगारी चेत्कविः काव्ये जातं रसमयं जगत्।
स एव वीतरागश्चेन्नीरसं सर्वमेव तत् ॥ २ ॥
भावानचेतनानपि चेतनवच्च चेतनानचैतनवत्।
व्यवहारयति यथेष्टं सुकविः काव्ये स्वतंत्रतया ॥ ३ ॥

—अर्थात् अनंत काव्यसंसार में उसका निर्माता कवि ही एक प्रजापति (ब्रह्मा) है। उसे जैसा अच्छा लगता है उसी प्रकार यह विश्व परिवर्तन हो जाता है। १ ॥ यदि कवि रसिक (श्रृंगारप्रधान) है तो यह सारा जगत् रसमय (श्रृंगारमय) हो जाता है और यदि वह वीतराग है तो यह सब नीरस हो जाता है। २ ॥ सुकवि अपने काव्य में अचेतन पदार्थों को भी चेतन के समान तथा चेतन पदार्थों को भी अचेतन के समान यथेच्छापूर्वक व्यवहृत कर सकता है।

३

काव्य-सर्जना की विषय-व्याप्ति और काव्य-रूढ़ियाँ

काव्य के स्वरूप-लक्षण और उसके भेद-प्रभेदों की विवेचना के पश्चात् अब हम काव्य-जगत् की उस व्यापक भूमिका में अवतीर्ण हो रहे हैं जिसमें भारतीय आचार्यों ने अपनी जीवन-दृष्टि के आलोक में काव्य-सर्जना की विषय-व्याप्ति और उसके उपकरणों का शास्त्रीय विवेचन किया है। काव्य-सर्जना के अनंत विस्तार और असीम आभोग के अन्तराल में जीवन और जगत् का स्पर्श करने वाले ऐसे अनेक विषय स्वतः सुसमाहित हो गये हैं जिनके प्रसार का विवेचन भारतीय काव्यशास्त्र का एक अत्यंत रुचिकर विषय रहा है। यों तो काव्य-सर्जना की विषय-व्याप्ति को लेकर विभिन्न देशों के विद्वानों ने 'आदर्श और यथार्थ', 'कला और सौन्दर्य' तथा 'समष्टि और व्यष्टि' आदि प्रतिमानों से भी उसका विस्तार किया है, किन्तु हम उनके जटिल ऊहापोहों में न उलझकर भारतीय विचारधारा की केवल प्रकृत दृष्टि से ही उसका विन्यास करना चाहते हैं जिसमें काव्य को मूलतः मनोमय कोष एवं 'अहम् का इदम् रूप में प्रकाशन' कहकर जीवन और जगत् का सरस संयोजक स्वीकार किया गया है। इस विषय में भारतीय दृष्टि का आधार लेकर कहा जा सकता है कि काव्य-जगत् का प्रसार मूलतः भाव-लोक का ही प्रस्तार है जिसमें विभाव, अनुभाव और संचारीभावों का समावेश सहज प्रणाली से हो जाता है। भारतीय आचार्यों ने काव्य को 'शब्द-निर्मिति' कहकर जिस 'काव्यार्थ' पद का प्रयोग किया है, उसमें 'अहं' और 'इदम्' के आत्मनिष्ठ और वस्तुनिष्ठ उपकरण स्वतः समाहित रहते हैं। पश्चिमी विद्वानों ने काव्य के भावपक्ष और कलापक्ष को लेकर काव्य के वर्ण्य विषयों और रचना-प्रणालियों का जो आनंत्य विवेचित किया है, वह भारतीय काव्यशास्त्र में वर्णित काव्य-विषयों और उनकी अभिव्यंजन-पद्धतियों में प्रकृत्या समाविष्ट है। वस्तुतः कवि का अंतर्गत भावलोक ही अपनी सर्जनात्मक कल्पना द्वारा 'काव्यार्थों' का भावन करता है जिसमें लोकगत व्यवहार उसके प्रातिभ कौशल से अभिनव रूप धारण करते हैं। कवि की उद्भावना मूलतः उसकी 'आत्मविवृति' होने के साथ-साथ उसके सामाजिक पक्ष से भी विहीन नहीं होती जिसके आधार पर काव्य की प्रेषणीयता प्रतिपादित की जाती है। सच तो यह है कि एक ही चेतन-तत्त्व प्राणिमात्र के अंतस्तल में समाया हुआ है जो प्रकृति के जड़ उपादानों में भी आत्मस्पंदन उत्पन्न कर उन्हें चैतन्यवत् रूप प्रदान करता है। सम्पूर्ण काव्य-जगत् कवि की सर्जनशीलता का ही परिणाम है जिसे अंगी बनाकर हम काव्य के वर्ण्य विषयों की विवेचना कर सकते हैं। इस प्रकार काव्य

के वर्ण्यविषयों को चाहे किसी भी दृष्टि से व्याख्यात किया जाय, उसका मूल रहस्य एक ही है। भारतीय विद्वानों ने इस तत्त्व का प्रत्यक्ष दर्शन किया था, जिसकी पुष्टि उनके एतद्विषयक विवेचन से की जा सकती है। जिन विद्वानों ने भारतीय काव्यशास्त्र के रस-रहस्य को बोधगम्य कर लिया है, उनके लिए काव्य के वर्ण्य विषयों का परिज्ञान करना सहज सुकर है।

वर्ण्य विषयों की अर्थव्याप्ति और उसके प्रकार

काव्य के वर्ण्य विषयों की अनंतता के सम्बन्ध में भारतीय आचार्यों का विवेचन अत्यन्त पुष्ट और शास्त्रसम्मत है। उन्होंने उसे मानवीय धरातल पर्यन्त ही परिसीमित न रखकर दिव्य तथा पातालीय क्षेत्रों तक भी परिव्याप्त कर दिया है। ऐसा करते समय उनके सम्मुख लक्ष्य-ग्रंथों का विशाल कोष आदर्श-रूप में रहा है। भारतीय काव्य-साहित्य के अनंत रत्नाकर में न जाने ऐसी कितनी मणि-राजियाँ प्रवाहित हुई हैं जिनमें इस प्रकार की संश्लिष्ट वर्णनीयता के दर्शन होते हैं। आचार्यों ने 'अर्थव्याप्ति' की संज्ञा से उनका निरूपण कर उनके अनेक स्रोत अन्वेषित किये हैं। इस विषय में आचार्य राजशेखर का विवेचन सर्वाधिक व्यापक और प्रमाणपुष्ट है। आचार्य द्रौहिणी ने काव्य में तीन प्रकार की अर्थव्याप्तियाँ—दिव्या, दिव्यमानुषी और मानुषी—उनके पूर्व मानी थीं जिनमें पातालीया, मर्त्यपातालीया, दिव्यपातालीया और दिव्यमर्त्यपातालीया संज्ञक चार प्रकार की अर्थव्याप्तियों का संयोग कर राजशेखर ने उनकी संख्या सात कर दी है। उनका मत है कि दिव्य अर्थ वे हैं जिनका वर्णन स्वर्गीय पात्रों तथा पदार्थों के आश्रय से किया जाता है। उदाहरणार्थ किसी रचना में स्वर्गीय सुषमा का आभास देने के लिए इन्द्र, शची, ऐरावत, उर्वशी, तुम्बुरू, नारद और कामधेनु आदि का उल्लेख करते हुए उस प्रसंग को दिव्य बनाना आदि। दिव्य-मानुष अर्थ चार प्रकार का होता है—१. दिव्य पुरुष का मर्त्यलोक में आगमन तथा मर्त्यपुरुष का दिव्यलोक में गमन, २. दिव्य-पुरुष का मर्त्यभाव तथा मर्त्यपुरुष का दिव्यभाव, ३. मर्त्यपुरुष की दिव्य-सम्बन्धी कथानक-कल्पना और ४. मर्त्य होने पर भी अपने प्रभाव से दिव्य विभूति का प्रकटी-करण। भारतीय काव्य-ग्रन्थों में इस प्रकार के चारों 'अर्थ-वर्णन' उपलब्ध होते हैं जिनसे उनकी व्याप्ति का बोध होता है। यहाँ की परम्परा में दिव्यादिव्य चरित्रों का सम्मिलन एक सामान्य घटना-मात्र रही है। काव्यकारों ने कभी नारद मुनि को भू-लोक के परिज्ञान के निमित्त स्वर्ग से मर्त्यलोक में उतारा है तो कभी पांडवों को मर्त्यलोक से स्वर्गाधिरोहण कराया है। कभी भगवान् विष्णु ने दशरथ-कौशल्या तथा वसुदेव-देवकी के यहां मर्त्यरूप में जन्म लेकर अपनी लीलाओं का विस्तार किया है तो कभी सुरसरिता गंगा के स्नान-जन्य पुण्यों से मर्त्यों ने दिव्यता प्राप्त की है। कवियों ने दिव्य इतिहास की परिकल्पना करते हुए मर्त्य राजाओं का दिव्य रूप में वर्णन कर उनके कार्यों की दिव्यता के प्रति भी अपनी जिज्ञासा प्रकट की है। हमारे कवि जहाँ माता यशोदा की गोद में बालरूप में सोये हुए भगवान् श्रीकृष्ण के स्वप्न द्वारा उनके नृसिंह तथा वामन अवतारों में किये गये कार्यों के स्मृतिजन्य प्रभाव का वर्णन करते हैं, वहाँ उनके प्रभावाभिभूत दिव्य भाव

का परिज्ञान होता है। मर्त्यलोक के प्राणियों का सामान्य व्यवहार वर्णित होने पर मर्त्य अर्थ होता है तो पाताल-निवासी तक्षक, कर्कोटक, वासुकि, शेष, स्वस्तिक, पद्म, कपिल, कुलिक और शंखपाल आदि पात्रों का अर्थ-निबंधन उनकी पातालीय अर्थ-व्याप्ति का निर्देशक है। महाभारत के युद्ध में कर्ण और सर्प का पारस्परिक वार्तालाप मर्त्य-पातालीय अर्थ उपस्थित करता है तो भगवान शंकर और उनके सर्पों के सम्बन्ध का वर्णन दिव्य-पातालीय अर्थ-व्याप्ति का निर्देशक है। दिव्य-मर्त्यपातालीय अर्थ का उद्घाटन करने वाला वह प्रसंग उल्लेखनीय है जहाँ इन्द्र आदि दिव्य चरित्र, आस्तिक आदि मर्त्य पात्र और सर्प-वधुएँ आदि पातालीय पात्र एक ही स्थल पर वर्णित हुए हैं। भारतीय काव्यों में इस प्रकार के चरित्रों की सृष्टि कर कवियों ने अपने वर्ण्य विषयों को जो अर्थ-व्याप्ति प्रदान की है, वह चरित्रों की दृष्टि से भारतेतर काव्य-साहित्य पर भी घटित हो सकती है।" कवियों को जब तक पौराणिक परम्पराओं, दिव्यगाथाओं और देवशास्त्र का ज्ञान नहीं होता तब तक वे उक्त प्रकार के दिव्य चरित्र अंकित कर ही नहीं सकते। अपने व्यावहारिक ज्ञान और लौकिक अनुभव के बल पर ही वे दिव्या-दिव्य चरित्रों के विविध स्वरूप चित्रित करने में सफल हो सकते हैं।

अर्थव्याप्ति के विषय काव्यानुबंध से भी सम्बद्ध हैं

राजशेखर ने दिव्यादिव्य आदि सात प्रकार की अर्थव्याप्तियों को प्रबंध तथा मुक्तक काव्यों के अनुबंध से मुख्यतः दो भागों में विभक्त किया है। उनके पूर्व भामह और वामन ने उनका काव्यगत विभाजन 'निबद्ध' और 'अनिबद्ध' की अभिधा से किया था। आचार्य आनंदवर्धन ने मुक्तक-काव्य का लक्षण 'अन्येनऽनालिंगितम्' पदों द्वारा करते हुए लिखा है कि मुक्तक-काव्य की सत्ता सर्वथा निरपेक्ष और निराकांक्षित रहती है। उनके शब्दों में मुक्तक-काव्य का लक्षण इस प्रकार है—'तेन स्वतंत्रतया परिसमाप्त-निराकांक्षार्थमपि प्रबंधमध्यवर्तिमुक्तकमित्युच्यते'। राजशेखर का भी मुवतक से तात्पर्य स्वतंत्र या स्फुट कविता से है। प्रबन्ध-काव्य में कथा का अनुबंध होना ही चाहिए। उन्होंने मुक्तक तथा प्रबंध के पृथक्-पृथक् रूप से पाँच प्रकार निर्धारित किये हैं जिनके नाम इस प्रकार हैं—१. शुद्ध, २. चित्र, ३. कथोत्थ, ४. संविधानक-भू और ५. आख्यानकवान्। इतिवृत्त या इतिहास से रहित अर्थ को 'शुद्ध' तथा उसे सप्रपंच बनाने वाले अर्थ को 'चित्र' कहते हैं। प्राचीन कथा या इतिहासयुक्त अर्थ 'कथोत्थ' है तथा जिसमें घटना संभावित हो उसे 'संविधानक-भू' कहते हैं। इतिहास-कल्पित अर्थ को 'आख्यानवान्' कहा जाता है। राजशेखर ने पाँचों प्रकार के मुक्तकों और प्रबंधों को उदाहृत करने के पश्चात् कवियों को इस बात का परामर्श दिया है कि यद्यपि वे संस्कृत की भाँति प्राकृत आदि भाषाओं में भी अपनी क्षमता और अभिरुचि के अनुसार रचना करने में स्वतंत्र हैं, किन्तु उन्हें शब्द और अर्थ के वाच्य-वाचक-सम्बंध की प्रौढ़ता का सर्वत्र अवधानपूर्वक निर्वाह करना चाहिए। काव्य-रचना में भाषा तो माध्यममात्र होती है, यद्यपि ऐसा भी देखा जाता है कि प्रत्येक भाषा की अपनी-अपनी अभिव्यक्तिगत विशेषताएँ भी होती हैं। कहीं एक ही अर्थ संस्कृत-भाषा में सुकवि की सुन्दर रचना का विषय बनता है तो कहीं कोई

अर्थ प्राकृत भाषा में अपनी रमणीयता प्रदर्शित करता है। इसी प्रकार कहीं अपभ्रंश और कहीं भूत-भाषा (पैशाची) में सुन्दर रचना की जाती है। कतिपय ऐसे प्रतिभाशाली कवि भी होते हैं जो चार-पाँच भाषाओं में अर्थ-व्यंजना करने का समान सामर्थ्य रखते हैं। वस्तुतः जिस कवि में जितनी अधिक प्रतिभा अथवा व्युत्पत्ति होती है, वह उतना ही अधिक कीर्ति का अधिकारी होता है क्योंकि उसका मन सघन अर्थों के विवेक से व्युत्पन्न होता है जिसके कारण उसकी वाणी दुर्गम पथों में भी कुंठित नहीं होती। अभिप्राय यह है कि काव्यानुबंध के प्रकारों और वर्ण्य विषयों की दृष्टि से अर्थव्याप्ति के विविध क्षेत्र हैं जिनका अभिचित्रण करने की क्षमता प्रतिभासम्पन्न कवियों की प्रज्ञा में सहज सम्भव है। ऐसे कवि किसी भी प्रकार के काव्यबंध के शिल्प में अपनी कला-चातुरी और भाव-माधुरी को अनुबिद्ध कर उसे सजीव सरसता प्रदान करते हैं। उनकी वाणी शास्त्रज्ञान-जन्य विदग्धता और व्यवहार-बोध-समुद्भूत निपुणता का भी सुलाभ प्राप्त कर अपनी कृति को सहृदयसंवेद्य बनाने में प्रयत्नशील होती है। कवियों का कर्तव्य है कि वे वर्ण्य-विषयों की प्रसंगानुकूल उपयोगिता और महत्ता की अनुभूति कर अपनी सर्जना को सफल बनाने की चेष्टा करें जिससे उनकी प्रतिभा का रससंसिक्त उद्रेक हो सके।

अर्थव्याप्ति के अवांतर सम्बन्ध और उनमें कवि-प्रतिभा का योग

अर्थ-व्याप्ति की दृष्टि से जिन अर्थप्रकारों का विवरण दिया गया, उनका घनिष्ठ सम्बन्ध काव्यार्थयोनियों के अवांतर भेदों और उनकी व्यापकता से भी है। आचार्यों का एक मत यह भी है कि जिन दिव्यादि प्रकारों में काव्यार्थों का उल्लेख किया जाता है वह अर्थव्याप्ति का एक संकुचित क्षेत्र है, क्योंकि कवियों की प्रतिभा से सेव्यमान अर्थ की कोई सीमा नहीं है। इसका यह अभिप्राय नहीं कि अर्थ-समूह की निःसीमतावश उसके विभाग ही नहीं किये जा सकते। उद्भट आदि आचार्यों ने काव्यालंकार का विवेचन करते हुए इस बात का उल्लेख विशेष रूप से किया है कि काव्य की अर्थव्याप्ति 'विचारितसुस्थ' तथा 'अविचारितरमणीय' जैसे विभागों में संकेन्द्रित की जा सकती है। साधारणतया दर्शन-शास्त्रादि ग्रंथों में निरूपित अर्थ 'विचारित-सुस्थ' होता है, किन्तु काव्य-ग्रंथों में उपलब्ध अर्थ 'अविचारित-रमणीय', जिसे 'आपातरमणीय' भी कहा जाता है। ऐसा अर्थ काव्य में वर्णित होकर श्रोताओं अथवा पाठकों के मन में एक प्रकार का चमत्कार-सा उत्पन्न कर देता है जिसकी तत्त्व-संगति तर्क-वितर्क या क्षोद-क्षेप द्वारा नहीं की जा सकती। काव्यवर्णित 'अविचारितरमणीय' अर्थ इस हेतु से भी सुग्राह्य है कि उसमें आलंकारिक छटाओं और कमनीय कल्पनाओं का भी सुयोग रहता है। कवियों ने इसी प्रकार की प्रणाली में वर्ण्यविषयों का अतिशयोक्तिपूर्ण चित्रांकन करते हुए जिन भावों की अभिव्यंजना की है, वे आचार्य-वर्ग द्वारा भी समाहृत हुए हैं। यदि कोई कवि समुद्र-लंघन की बेला में हनुमान के प्रतिबिम्ब के कारण जलराशि की तज्जन्य पीतिमा तथा आकाश की नीलिमा का वर्णन करे तो उसमें विचारितसुस्थता भले ही न मानी जाय, किन्तु 'अविचारितरमणीयता' का तत्त्व तो अवश्य ही स्वीकार करना पड़ेगा। शास्त्र-दृष्टि से आकाश का श्यामवर्ण-वर्णन असंगत है, किन्तु काव्य-दृष्टि

से वह 'अविचारित होने पर भी रमणीय' ही कहा जाता है। आचार्य राजशेखर ने इस प्रकार के अर्थों की अभ्यर्थना करते हुए लिखा है कि आकाश की नीलिमा तथा सरिताओं की तेजोजनकता आदि को 'स्वरूपनिबंधन' न मानकर 'प्रतिभास-निबंधन' मानना चाहिए। वस्तुतः आभास या प्रतिभास किसी वस्तु का स्वाभाविक धर्म नहीं है, अतः पुराणाश्रित काव्य-ग्रंथों में सूर्य-चन्द्र-मंडल का द्वादश अंगुल परिमाण तथा धरावलय से समत्व या हीनत्व का जो निरूपण हुआ है, वह 'विचारितसुस्थ' न होकर भी 'अविचारित-रमणीय' है। आचार्य भट्ट लोल्लट के मतानुसार काव्य का अर्थ-समूह चाहे कितना ही असीम हो, किन्तु उसमें सरस अर्थ का निबंधन अवश्य होना चाहिए। काव्य की वस्तु-व्यंजना में जलक्रीड़ा, पुष्पावचय, सन्ध्या और चन्द्रोदय आदि विषयों का जो सरस वर्णन किया जाता है वह न तो अमर्यादित और अतिप्रथुल होना चाहिए और न रस-विरुद्ध ही, क्योंकि ऐसा करने पर उनके द्वारा काव्य-शक्ति का पूर्ण अवबोध न होकर परिचयमात्र ही हो पाता है। राजशेखर का मत है कि जो कवि नदी, पर्वत, निर्झर, समुद्र, अश्व, हस्ती एवं रथ आदि के इतिवृत्तमूलक वर्णनों का ही प्रयत्न करते हैं, उनकी काव्य-रचना केवल प्रचार-व्यापार है। ऐसे वर्णन अनेक बार अपनी एकांगितावश काव्य की सरसता में व्यवधान उत्पन्न करने के हेतु बनते हैं। राजशेखर के शब्दों में अर्थ सरस या विरस नहीं होते, क्योंकि प्रतिभा-सम्पन्न कवि साधारण से साधारण अर्थ को भी सरस और चमत्कारपूर्ण बना देते हैं और प्रतिभाविहीन कवियों की वाणी सरस अर्थ को भी नीरस बना देती है। उन्होंने लिखा है—

"अस्ति चानुभूयमानो रसस्यानुगुणो विगुणश्चार्थ, काव्ये तु कवि वचनानि रसयंति विरसयंति चार्था, अन्वयव्यतिरेकाभ्याम् चेदमुपलभ्यते।"[१]

राजशेखर ने प्रकृति के विभिन्न उपकरणों के वर्णन प्रस्तुत कर उनकी सरसता और विरसता का भी विवेचन किया है। काव्य के प्रकृत विषयों का अप्रस्तुतविधान भी अनेक बार काव्यरस की संवृद्धि का कारण बनता है। कवियों ने प्रकृति-जगत् के केवल उद्दीपन-रूप को ही चमत्कृत नहीं बनाया है, अपितु वे उसका आलम्बन-रूप भी चित्रित करते चले हैं। वस्तुतः कवियों की प्रतिभा में ऐसी अद्‌भुत शक्ति होती है जिसके कारण वे नगर, तुरंग और विपणि जैसे सामान्य विषयों को भी प्रकृष्टता प्रदान करने का सामर्थ्य रखते हैं। राजशेखर ने कवि की वाणी में ही सरसता का संचार माना है क्योंकि कुकवि तो विप्रलंभ विश्रृंगार जैसे संवेद्य वर्णन को भी नीरस बना देते हैं।[१] इस विषय में जैनाचार्य पाल्यकीर्ति का मत है कि 'वस्तु का रूप चाहे कैसा भी हो, सरसता तो कवि की प्रकृति पर निर्भर रहती है। अनुरक्त व्यक्ति जिस वस्तु की स्तुति करता है, विरक्त व्यक्ति उसी की निंदा करता है तथा मध्यस्थ व्यक्ति उसके विषय में उदासीन

---

१. राजशेखर, काव्यमीमांसा, नवम् अध्याय, बिहार राष्ट्रभाषा प्रकाशन, पटना, पृ० १११।

२. कुकविर्विप्रलम्भेऽपि रसवत्तां निरस्यति।
अस्तु वस्तुषु मा वा भूत्कविवाचि रसः स्थितः।— काव्यमीमांसा, नवम अध्याय, पृ० ११३।

रहता है।[1] वस्तुतः किसी भी पदार्थ का स्वरूप नियत नहीं है। वह न तो गुणयुक्त होता है और न दोषयुक्त। यह तो कुशल कवि की प्रतिभा का ही चमत्कार है कि उसकी उक्ति-विशेष से किसी भी वस्तु में गुण या दोष आ जाते हैं। इस विषय में किसी ने उचित ही कहा है कि चन्द्रमा तो तत्त्वतः एक ही है, किंतु भिन्न-भिन्न जीवन-दृष्टियों और प्रसंगों के कारण कोई कवि उसे 'अमृतांशु' कहता है तो कोई कवि उसे 'दोषाकार' मानता है। अवन्तिसुंदरी ने इसी बात को ध्यान में रखकर 'विदग्धभणितिभंगिनिवेद्य वस्तुनो रूपं नियतस्वभाव' लिखा है। इस विषय में एक श्लोक उल्लेखनीय है—

वस्तुस्वभावोऽत्र कवेरतंत्रो,
गुणागुणावुक्तिवशेन काव्ये।
स्तुवन्निबध्नात्यमृतांशुमिन्दुं
निंदंस्तु दोषाकरमाह धूर्तः॥

काव्य के वर्णनीय विषयों के स्रोत अर्थात् काव्यार्थ की योनियाँ

राजशेखर ने 'काव्यार्थयोनियों' के रूप में काव्य के वर्णनीय विषयों तथा अर्थों का विवेचन करते हुए बतलाया है कि वे विषय कैसे होते हैं तथा कहाँ से प्राप्त किये जाते हैं? इस विवेचना को 'काव्यार्थ के स्रोत' भी कहा जा सकता है। आचार्यों का मत है कि श्रुति, स्मृति, इतिहास, पुराण, प्रमाणविद्या, समयविद्या, राजसिद्धान्तत्रयी, लोक, विरचना और प्रकीर्णक नामक बारह प्रकार के 'काव्य-रचना के विषय' या 'अर्थ-व्याप्ति के साधन' हैं। राजशेखर ने इन बारह स्रोतों में उचित-संयोग, योक्तृ-संयोग, उत्पाद्य-संयोग और संयोग-विकार नामक चार अन्य स्रोत जोड़कर उनकी संख्या सोलह कर दी है। इन स्रोतों में सर्वप्रथम स्थान श्रुति या वेदों का है क्योंकि भारतीय वाङ्मय में ही नहीं अपितु विश्व-साहित्य में भी वे ही ज्ञान के आदि-स्रोत माने गये हैं। वेदों में ऐसी अनेक कथाएँ अथवा घटनाएँ वर्णित हुई हैं जिन्हें मूल स्रोत बनाकर परवर्ती कवियों ने अपनी रचनाओं का प्रसार किया है। उदाहरणार्थ ऐतरेय ब्राह्मण तथा शतपथ ब्राह्मण में उर्वशी और पुरुरवा की कथा के सामान्य संकेत मिलते हैं जिनके आधार पर परवर्ती कवियों द्वारा अनेक प्रकार की काव्य-रचनाएँ की गई हैं। तैत्तिरेय आरण्यक के चतुर्दश अनुवाक में सूर्य-मण्डल की जिस परब्रह्मोपासना का वर्णन हुआ है, उसका यथेष्ट प्रभाव महाकवि मयूर-रचित 'सूर्यशतक' नामक काव्यग्रंथ पर है। प्राचीन आचार्यों ने वेदार्थ-हरण के सम्बन्ध में श्रुति को गौ का रूप प्रदान करते हुए ऋषि, शास्त्रकारों और कविजनों को उसके दोग्धा कहा है[2] जिसकी छाया कालिदास आदि कवियों की कृतियों पर भी विद्यमान है। स्मार्त ग्रंथों का विधान है कि यदि किसी व्यक्ति के पास चोरी का अंश मात्र मिल जाय तो सम्पूर्ण चोरी का दायित्व उस व्यक्ति पर आ जाता है। इसी

१. यथा तथा वास्तु वस्तुनो रूपं, वक्तृप्रकृतिविशेषायत्ता तु रसवत्ता।
तथा च यमर्थं रक्तः स्तौति तं विरक्तो विनिंदति, मध्यस्थस्तु तत्रोदास्ते। इति।

२. नमोऽस्तु तस्यै श्रुतये या दुहंति पदे पदे।
ऋषयः शास्त्रकाराश्च कवयश्च यथामति॥

नियम को आधार-स्रोत बनाकर कालिदास ने कितनी सुन्दर कल्पना की है।[1] रामायण और महाभारत के विशाल कथानक से तो न जाने कितने प्रकार का अर्थ-हरण करते हुए कवि-वर्ग निरंतर रूप से आज भी प्रेरणाएँ ले रहा है। पौराणिक कथाओं का आधार लेकर बड़े-बड़े कवियों ने अपनी कल्पना को साकार बनाया है। महाकाव्यों के मध्य प्रसंगवश ऐसे अनेक स्थल आ जाते हैं, जहाँ कविजन अपने श्रुति, स्मृति, इतिहास और पुराणविषयक ज्ञान का सदुपयोग करते हैं। वस्तुतः ये ग्रंथ कवित्व-शक्ति के विस्तार के लिए अनेक बार रामबाण औषधि का काम देते हैं। इन ग्रंथों की उपादेयता का ध्यान रखकर ही प्राचीन विद्वानों ने कहा था कि 'वेदों, वेदांगों और उनकी शाखाओं तथा इतिहास और पुराणों के अर्थों का गुम्फन करना और उनमें वर्णित कथाओं का अनुशीलन अथवा अभ्यास करना कवित्व की एकमात्र महौषधि है।'[2] उनका तो मत था कि सत्कवि विवेक-रूपी अंजन से विशुद्ध इतिहास और पुराणरूपी चक्षुओं द्वारा सूक्ष्म तत्त्वों का अवलोकन करते हैं।[3] वस्तुतः वैदिक अर्थों का अनुसरण कर काव्य-रचना करने वाले कवि जितने अधिक श्लाघ्य समझे जाते हैं उनसे कम प्रशंसनीय वे कवि नहीं माने जा सकते जो इतिहास, पुराण तथा धर्मशास्त्र में वर्णित विषयों के आधार पर अपनी रचनाएँ प्रस्तुत करते हैं। कवियों के लिए समस्त शास्त्र और दर्शन किसी न किसी रूप में काव्य-सर्जना के आधार बनते ही हैं। उन्होंने मीमांसा तथा न्याय के सिद्धान्तों को भी काव्य-रचना में घटित करते हुए उन्हें अलौकिक रमणीयता प्रदान की है। दर्शन-ग्रन्थों के शुष्क विषय भी कवि की प्रतिभा से परिष्कृत होकर अत्यंत ही सरस बन जाते हैं। हाँ, यह बात अवश्य है कि इन विषयों को ग्रहण करने की प्रतिभा सहृदयजनों के हृदय में विद्यमान होनी चाहिए। राजशेखर ने काव्यार्थयोनियों की विवेचना करते हुए विभिन्न दार्शनिकों की मान्यताओं का आलोक काव्यकृतियों में प्रदर्शित किया है। बौद्ध-दर्शन और जैन-दर्शन की प्रतिपत्तियाँ भी काव्य-रचनाओं का उसी प्रकार आलंबन रही हैं जिस प्रकार अन्य दर्शनों की। वस्तुतः काव्यविद्या सम्पूर्ण शास्त्रों से अनुगृहीत है क्योंकि काव्यनिर्माता के व्यापक क्षेत्र में न जाने किस शास्त्र के किस सिद्धान्त की कब और कैसी आवश्यकता प्रतीत हो जाय? सच तो यह है कि कवि-प्रतिभा का संस्पर्श प्राप्त कर तर्क-कर्कश अर्थ भी अपनी कठोरता का परित्याग कर कोमल और रमणीय हो जाते हैं। इस विषय में एक विद्वान् ने उचित ही कहा है कि 'जिस प्रकार सूर्य की संतप्तकारिणी रश्मियाँ चन्द्रमा के रूप में परिणत होकर शीतल, कोमल और संताप-हारिणी हो जाती हैं, उसी प्रकार तर्क-कर्कश सिद्धान्त भी कवि-कल्पना का आधार

---

१. हंस प्रयच्छ मे कांतां गतिस्तस्यास्त्वया हृता।
संभावितैकदेशेन देयं यदभियुज्यते ॥—विक्रमोर्वशीय, ४।१७।

२. श्रुतीनां सांगशाखानामितिहासपुराणयोः।
अर्थग्रंथः कथाभ्यासः कवित्वस्यैकमौषधम् ॥

३. इतिहासपुराणाभ्यां चक्षुर्भ्यामिव सत्कविः।
विवेकांजन शुद्धाभ्यां सूक्ष्ममप्यर्थमीक्षते ॥

लेकर माधुर्यमय बन जाते हैं ।'[1]

शास्त्रज्ञान का रससंवेद्य अर्थग्रहण ही 'आदर्श कवि-कर्म' है

काव्यकृतियों के अध्ययन से पता चलता है कि अनेक बार कवियों ने अपनी साम्प्रदायिक मान्यताओं का भी समावेश अपनी रचनाओं में किया है। वे रचनाएँ तब तक हमारा चित्तानुरंजन नहीं कर सकतीं, जब तक हम उनकी पारिभाषिक अर्थशक्ति से अभिज्ञ न हों। ऐसे समायोजनों से काव्यकारों का पांडित्य और शास्त्रज्ञान तो अवश्य प्रकट होता है, किन्तु सभी स्थितियों में वह वरेण्य नहीं होता। अनेक बार तो कवियों की ऐसी मनोवृत्ति काव्य-दोषों की धात्री बन जाती है। कवियों ने तीन प्रकार के राजसिद्धान्तों में अर्थशास्त्रीय विषयों का समावेश कर उन्हें काव्यरूप प्रदान करने की चेष्टा भी की है। नाट्यशास्त्र और कामशास्त्र में वर्णित विषय भी काव्यार्थ के प्रेरक स्रोत रहे हैं, किन्तु उनका संयोजन एक विशेष प्रकार की आलंकारिक प्रणाली से किये जाने पर ही वे सौष्ठवपूर्ण बन सकते हैं। कवियों ने अपने व्यावहारिक और व्युत्पन्न ज्ञान के आधार पर भी काव्यरचना को सम्बल प्रदान किया है। उनकी कृतियों में जो स्वाभाविक वर्णन आते हैं, वे उनके चिंतन और अनुभूति के ही परिणाम कहे जा सकते हैं। कवियों ने ऐसे वर्णन भी किये हैं जो प्रतिभाजन्य होने के साथ-साथ कभी-कभी साधारणजन-संवेद्य होते हैं और कभी-कभी विशिष्टदेशजन्य परम्पराओं से बोध्य। विश्व-साहित्य में ऐसे अनेक कवि हुए हैं जिन्होंने अपने लोकज्ञान के आधार पर अपनी कृतियों को गौरवमयी बनाया है। वस्तुतः उनका आत्मनिरीक्षण और व्यावहारिक ज्ञान ही उनकी रचनाओं का मूल स्रोत कहा जा सकता है। कवियों ने विरचना अर्थात् अपनी मनीषानिर्मित स्वतंत्र वर्णना द्वारा भी काव्यार्थरचनाएँ की हैं। ऐसी रचनाओं का सम्पूर्ण दायित्व काव्यकार पर होता है, क्योंकि वह अपनी कल्पना द्वारा ही उसे रस-संवेद्य बनाने की चेष्टा करता है। आचार्यों ने कवि-शिक्षा के ऐसे अनेक अंग निरूपित किये हैं जो यथाप्रसंग कवियों के लिए आधार-स्रोत बनते हैं। काव्य के विशाल प्रदेश में अनेक बार कवियों ने आयुर्वेद, योगशास्त्र, पाकशास्त्र, राजसभा, वाजिपरीक्षा, रत्नपरीक्षा और धनुर्वेद आदि प्रकीर्णक विषयों को भी अपनी ओर से जो चार अन्य स्रोत माने हैं वे भी काव्यरचना के लिए परम उपयोगी हैं। उन्होंने 'उचित-संयोग' को जिस अर्थ में काव्योपकारक माना है उसका आशय यह है कि कवियों को चाहिए कि वे अपनी कृतियों में काव्य के वर्णनीय पदार्थों का उपमान-उपमेयभाव ऐसे रूप में आयोजित करें जिससे उनका संयोग या सम्बन्ध समुचित प्रतीत हो। इस कार्य में उन्हें तभी सफलता मिल सकती है जब वे समुचित विशेषणों का प्रयोग करते हुए चित्रोपम-सादृश्य व्यक्त करने की क्षमता रखते हों। उन पर इस बात का भी दायित्व है कि वे अपनी रचनाओं में 'योक्तृसंयोग' का भी ध्यान रखें जिससे उनका काव्य-वर्णित संयोग उत्तरोत्तर सम्बन्धकारी प्रतीत हो। उदाहरणार्थ किसी राजा की विजययात्रा के वर्णन

१. यांस्तर्ककर्कशानर्थान्सूक्तिष्वाद्रियते कविः ।
सूर्यांशव इवेन्दौ ते कांचिदर्चन्ति कान्तताम् ।—काव्यमीमांसा के अष्टम अध्याय से उद्धृत।

में उन्हें उड्डीयमाना धूलि के प्रसंग से उत्तरोत्तर सम्बन्धकारी संयोग में संभाव्यमान क्रियाओं के क्रम-निर्वाह का भी ध्यान रखना चाहिए। राजशेखर का मत है कि 'उत्पाद्य-संयोग' में उपमेयोपमानभाव आदि सम्बन्ध संभाव्य होते हैं तो 'संयोगविकार' में किसी वस्तु के संयोग या सम्बन्ध से विकार उत्पन्न हो जाते हैं। यदि कोई कवि आकाश और वक्षस्थल का तथा मुक्तालता और गंगाप्रवाह का उपमानोपमेयभाव-सम्बन्ध संभावित कर उनका वर्णन करे तो वहाँ 'संयोग-उत्पाद्य' होगा तथा यदि कोई कवि यह कहे कि 'गुणों के अनुराग से मिश्रित एवं सर्वत्र उपसर्पणशील यश से दिग्वधू के भालस्थल पर अकस्मात् आधा कुंकुम का टीका लग गया' तो यह उदाहरण 'संयोगविकार' का होगा। चन्द्रोदय के संयोग से समुद्र आदि में उन्माद आदि विकारों का उद्‌भव वर्णन करना 'संयोग-विकार' का ही निदर्शन है। सरांश यह है कि कवियों के लिए अर्थोत्पत्ति के अनेक स्रोत हैं जिनमें से मुख्य स्रोतों का विवेचन यहाँ किया गया है। ये सभी स्रोत व्यावहारिकमात्र हैं क्योंकि उसका मूल स्रोत तो उसका आत्मस्थ-कोष है जो अपनी अभिव्यक्ति के लिए आकुल होकर अन्य स्रोतों को स्वतः रचनोन्मुख बना लेता है। कवियों का कर्तव्य है कि वे अपनी क्षमता और अभिरुचि का सम्यक् निर्वाह करते हुए इस विषय में पूर्ण विदग्धता अथवा प्रगल्भता प्राप्त करने का प्रयास करें जिससे उनके सम्मुख किसी भी प्रकार का अर्थ-दारिद्र्य न रहे।

काव्य-सर्जना की अष्टमाताएँ

राजशेखर ने काव्य के वर्ण्यविषयों की अर्थव्याप्ति और उसके प्रकारों के साथ-साथ काव्यार्थ की योनियों के रूप में उसके वर्ण्यविषयों के स्रोतों का जो विवेचन किया है, वे काव्य-सर्जना के ऐसे मूलभूत उपजीव्य हैं जिनका आधार किसी न किसी रूप में कवि-समाज को लेना ही पड़ता है। इसी प्रसंग में काव्य की अष्टमाताओं का उल्लेख करना भी आवश्यक है जिनके अंतर्गत राजशेखर ने प्रकारांतर से कवि-प्रतिभा को प्रश्रय प्रदान करने वाले उन स्रोतों का विवरण प्रस्तुत किया है जिनके द्वारा काव्य-रचना में प्रभूत साहाय्य प्राप्त होता है। तथाकथित काव्य-माताओं की विवेचना का मुख्य भाव यही है कि वे काव्य-प्रसूति के अंतरंग और बहिरंग उपकरण हैं जिनसे काव्य-पुरुष का जन्म होता है। सच तो यह है कि काव्य-सर्जना भी एक प्रकार की साधना ही है जिसकी सिद्धि के लिए काव्य-निर्माता को अनेक प्रकार से वैदग्ध्य प्राप्त करना पड़ता है। काव्य-निर्माण के अभ्यर्थी को विविध प्रकार की विद्याओं और उपविद्याओं में निष्णातता प्राप्त करने के पश्चात् ही रचनोन्मुख होना चाहिए। व्याकरण, कोष, छंद और अलंकार-शास्त्र को काव्योपयोगी मुख्य विद्याएं कहा जाता है। उपविद्याओं के अन्तर्गत चौंसठ कलाओं की परिगणना होती है। विद्याओं और कलाओं का सम्यक् परिज्ञान कवि की प्राथमिक योग्यता का निदर्शन है। इनके अतिरिक्त उच्च स्तर के कवियों की सन्निधि, देश-विदेश की वार्ताएँ, विदग्ध-जनों की सूक्तियाँ, सांसारिक व्यवहार, विद्वद्‌गोष्ठियाँ तथा प्राचीन कवियों की कृतियों का चिंतन और मनन भी काव्य-सर्जना के प्रेरक स्रोतों में सहायक बन सकते हैं। विद्वानों ने स्वास्थ्य, प्रतिभा, अभ्यास, भक्ति, विद्वत्कथा,

बहुश्रुतता, स्मृति, दृढ़ता और अनिर्वेद (उत्साह) को कवित्व की आठ माताएँ कहा है जिनके कारण काव्य की सर्जना होती है। काव्य की अष्टमाताओं का उल्लेख निम्नलिखित कारिका में हुआ है—

स्वास्थ्यंप्रतिभाभ्यासो भक्ति विद्वत्कथा बहुश्रुतता।
स्मृतिदाढ़्र्यमनिर्वेदश्च मातरोऽष्टो कवित्वस्य ।।[१]

वर्ण्यविषयों में कविकृत 'हरण' का अर्थ और उसका औचित्य

काव्य की अर्थव्याप्तियों से सम्बद्ध एक अन्य महत्त्वपूर्ण विषय काव्यार्थ के 'हरण' का है। आचार्य राजशेखर ने उसका स्पष्टीकरण 'परप्रयुक्तयोः शब्दार्थयोरुपनिबंधो हरणम्' के शब्दों में किया है जिसका अर्थ यह है कि दूसरों की काव्य-रचना में प्रयुक्त किये गये शब्दों तथा अर्थों का अपनी रचनाओं में प्रयोग करने या ग्रहण करने का नाम 'हरण' है। 'यह हरण दो प्रकार का होता है—१. परित्याज्य और २. अनुग्राह्य। दोनों प्रकार के हरणों में प्रथमतः शब्द-हरण का उल्लेख करना आवश्यक है जिसके पाँच रूप हैं—१. पदहरण,२. पादहरण, ३. अर्धहरण, ४. वृत्तहरण और ५. प्रबंधहरण। आचार्यों का मत है कि यों तो साधारणतया पदहरण में दोष नहीं माना जाता, किंतु यदि कोई कवि अपनी रचनाओं में द्वयर्थक पद का प्रयोग करे तो उसमें किसी भी दृष्टि से दोष-सम्भावना की कल्पना भी नहीं की जा सकती। राजशेखर ने पद अथवा पाद-हरण से यह तात्पर्य भी द्योतित किया है कि शब्दों की मूल स्थिति तो एक निश्चित और निर्धारित रूप में रहती है, किन्तु काव्य-प्रयोक्ता उन्हें अनेक बार आलंकारिक प्रणाली से ग्रहण करते हैं जो कभी तो स्वीकार्य और कभी त्याज्य बन जाती है। कवियों ने अपने पूर्ववर्ती रचयिताओं की कृतियों में प्रयुक्त शिलष्ट पदों का हरण कर अपनी रचनाओं में उनका उपयोग किया है, किन्तु वह उपयोग 'मक्षिका-स्थाने मक्षिका' का ही रूप न होकर उनकी उक्ति में किसी न किसी प्रकार की नवीनता का निर्देशक भी अवश्य होना चाहिए। उदाहरणार्थ 'शिलीमुख' और 'केसरी' आदि पद द्वयर्थक हैं जिनका संयोजन कवियों ने अपनी-अपनी कृतियों में किया है, किन्तु यदि नवीन कवि उन्हीं शब्दों के अर्थों की द्वयर्थकता को लेकर 'शिलीमुख' का अर्थ भ्रमर तथा 'बाण' और 'केसरी' का अर्थ 'नागकेसर' तथा 'सिंह' से अभिप्रेत कर ऐसी कल्पना करे जिसमें किसी प्रवासोन्मुख पथिक को उनकी (भ्रमर तथा नागकेसर की) विद्यमानता से शिलीमुख (बाण) और केसरी (सिंह) का-सा भय ध्वनित हो और उसकी विदेश-गमन-क्रिया निषिद्ध कर दी जाय तो ऐसी श्रृंगारपरक पद-सृष्टि से काव्य की चारुता में संवृद्धि ही होगी और वह 'हरण' किसी न किसी रूप में काव्य-चमत्कार का जनक ही कहा जायगा।[२] ऐसे पदहरण तभी अनुग्राह्य समझे जाते हैं जब उनके द्वारा किसी नवीन चमत्कार का संकेत किया जाता है। केवल गड्डलिका-प्रवाह की भाँति किया गया पद हरण काव्यश्री की संवृद्धि नहीं करता।

१. काव्यमीमांसा, दशम अध्याय, विहार-राष्ट्रभाषा-परिषद्, पटना, पृ० १०१।

२. मा गाः पांथ प्रियां त्यक्त्वा दूराकृष्टशिलीमुखम्।
स्थितं पंथानमावृत्य किंकिरातं न पश्यसि।

श्रेष्ठ कवि अपनी रचनाओं में श्लिष्टपदों के अतिरिक्त यमक-योजनाओं, नवीन-कल्पनाओं और प्रश्नोत्तर-प्रयोगों द्वारा भी अपने हरण-कार्य की उज्ज्वलता प्रकट करते हैं। काव्य में पद अथवा पादहरण के असंख्य रूप विद्यमान हैं जिनका समन्वय करने पर उनके और भी अनेक भेद किये जा सकते हैं। शब्दहरण करते समय कवि को इस बात के लिए पूर्ण सावधान और सतर्क रहना चाहिए कि उसका शब्दहरण-कार्य भी एक प्रकार का चौर-कर्म ही है, अतः उस कर्म में जब तक वह अपनी मौलिकता का सन्निवेश नहीं करता, तब तक उसकी वह क्रिया सहृदयश्लाघ्य नहीं बन सकती। विद्वानों ने ऐसी चोरी के लांछन को पीढ़ियां पर्यन्त अमिट रहने वाला कहा है—

पुंसः कालातिपातेन चौर्यमन्याद्विशीर्यति।
अपि पुत्रेषु पौत्रेषु वाक्चौर्यं न शीर्यति।।

'हरण' और 'स्वीकरण' के अनेक रूप हैं

काव्य-कृतियों के अध्ययन से पता चलता है कि प्रतिभासम्पन्न कवियों की रचनाओं में प्रयुक्त पद-विशेष की ध्वन्यात्मकता और आलंकारिता इतनी अधिक शालीन और भव्य होती है कि परवर्ती कवियों की साधारण श्रेणी के लिए यह संभव भी नहीं है कि वे उससे उत्कृष्ट भावव्यंजना कर सकें। ऐसे पदों का हरण करते समय कवियों को इस बात का पूर्ण ध्यान रखना चाहिए कि उनकी कृतियों में प्रयुक्त किये जाने वाले क्रमागत पदों में किसी प्रकार की गतानुगतिकता अथवा न्यूनता न रहे। आचार्यों का मत है कि 'पाद एवा यथात्वकरणकारणं न हरणम्। अपितु स्वीकरणम्' अर्थात् किसी श्लोक के किसी एक चरण को ही वैपरीत्य का कारण बनाकर ले लिया जाय तो उसे हरण नहीं कहा जा सकता क्योंकि उसे दूसरे का मानकर ग्रहण किया जाता है। हरण और स्वीकरण के इतने अधिक रूप हो सकते हैं कि जब तक काव्य का समीक्षक बहु-अधीत और व्युत्पन्न न हो, तब तक वह न तो उनके मूल स्रोत का ही ज्ञान प्राप्त कर सकता है और न उनके यथार्थ का परीक्षण ही कर सकता है। राजशेखर का मत है कि भिन्न-भिन्न अर्थ वाले अनेक पादों को एक पाद से मिलाकर अर्थ-संगति कर देना 'हरण' नहीं कहा जा सकता, क्योंकि उसमें एक प्रकार का कवि-प्रतिभाजन्य कवित्व ही रहता है। एक पादहीन श्लोक के समान ही कुछ पदों का प्रयोग करना न हरण है और न स्वीकरण। कभी-कभी किसी काव्य-रचना में पद के एक भाग का परिवर्तन कर देना भी हरण या स्वीकरण नहीं कहा जा सकता। छन्द के सम्पूर्ण वाक्यों को ग्रहण कर उनको भिन्न-रूप से व्याख्यात करना भी स्वीकरण या हरण नहीं है। जो कवि पूर्वकथित अप्रसिद्ध आदि कारणों में से किसी एक कारणवश अन्य-रचित काव्य को स्वकीय बनाने का निरर्थक प्रयास करते हैं वे केवल हरण ही नहीं करते अपितु अपनी दुर्बलता, असमर्थता और अकुलीनता आदि से सम्बद्ध दोषों को ही प्रकट करते हैं। इस प्रकार के दोष मुक्तक तथा प्रबंध काव्यों में समानरूप से घटित होते हैं। ऐसा भी देखा जाता है कि धनिक लोग दूसरों की कृति को धन के द्वारा क्रय कर उसे अपने नाम से प्रसिद्ध कर देते हैं, जो एक प्रकार से हरण ही है। यों तो किसी कृति में मौलिकता का दावा

करना अत्यंत साहस का कार्य है, किन्तु यदि कोई कवि किसी असाधारण कवि की अलौकिक कल्पनाओं के आधार पर अपनी मौलिकता के प्रदर्शन का प्रयत्न करे और उसमें किसी न किसी प्रकार की ऐसी नूतनता आ जाय जिसके सम्मुख हरण-क्रिया की कोई सत्ता ही न रहे तो उसकी रचना की सरसता तथा मधुरता में कोई संदेह नहीं किया जा सकता। वस्तुतः शब्द-हरण का वह स्वरूप निंदनीय और विर्गहित समझा जाता है जिसके द्वारा कवि अपने मूल स्रोत का ही सर्वनाश कर डालता है और उसका परिवर्तन अपकर्षपूर्ण बन जाता है। कवियों में शब्दहरण और अर्थहरण के अतिरिक्त कथानक-हरण की प्रवृत्ति भी स्वाभाविक रही है, तथापि उन कवियों को सदैव अभिनंदित किया गया है जिन्होंने अपनी प्रतिभा की कला-चातुरी प्रदर्शित कर परम्परागत कथानकों में भी नवीन शक्ति और स्फूर्ति का संचार कर दिया है। एक विद्वान का मत है कि कदाचित् ही कोई ऐसा कवि अथवा वणिक्जन हो जो कहीं न कहीं 'अर्थ-हरण' न करे किन्तु उसकी चतुरता और विदग्धता इसी बात में है कि वह उस चोरी को ऐसी कुशल विधि से निगूहित कर दे जिसका किसी को अनुभावमात्र भी न हो सके।

काव्य-सर्जना में शास्त्रदृष्टि का संयोजन भी अपेक्षणीय होता है

काव्य के वर्ण्यविषयों की व्यापकता और उनके साधनभूत स्रोतों की परिचर्चा के पश्चात् इस बात का उल्लेख करना आवश्यक है कि काव्यार्थयोनियों और काव्य-माताओं के संदर्भ में शास्त्रज्ञान की महत्ता विशिष्ट कोटि की है। इसमें कोई संदेह नहीं कि काव्य-सर्जना का विश्लेषण कवि के अन्तःस्फूर्त संवेगों के उद्दाम अभिव्यंजन के सिद्धान्त से भी किया जाता है, किन्तु व्युत्पन्न कवियों और काव्य-भावकों का एक ऐसा वर्ग भी है जिसने शास्त्रज्ञान को प्रधान उपजीव्य बनाकर अपना कर्मकौशल व्यक्त किया है। कहने के लिए तो 'काव्य' और 'शास्त्र' की प्रक्रियाएँ एवं प्रणालियाँ भिन्न-भिन्न हैं, किन्तु एक ऐसा स्थल भी आता है जब दोनों की सन्ध्यावस्था में भी कवि-कर्म की कुशलता चरितार्थ होती है। इस प्रकार के काव्य-स्रष्टाओं और काव्य-भावकों की अपनी विशिष्ट श्रेणी रही है। चूँकि काव्य-साहित्य के व्यापक प्रसार में किसी भी विषय का राहित्य नहीं होता, अतः अनेक बार कवियों के लिए शास्त्रज्ञान की उपयोगिता भी अनिवार्य-सी हो जाती है। उनके साथ-साथ काव्य-भावकों के लिए भी यह आवश्यक हो जाता है कि वे उनकी दुर्बोधित से अनातंकित रहकर उनका रहस्य-बोध करने की चेष्टा करें। काव्यमीमांसाकार राजशेखर ने जो कवि-कोटियाँ निर्धारित की हैं, उनमें शास्त्र-कवि भी परिगणित हैं जिनका काव्य शास्त्रज्ञान के अभाव में प्रतीतिगम्य बनाया ही नहीं जा सकता। भट्टिकाव्य का रसास्वादन करने के लिए व्याकरण-ज्ञान की कितनी अधिक उपयोगिता है, यह तथ्य सुधीजनों के सम्मुख अप्रकट नहीं है। वस्तुतः अनेक बार तो काव्य-रचना में शास्त्र-ज्ञान की अपेक्षा परम वांछनीय हो जाती है। जो सहृदयजन सामाजिक काव्य में सर्वत्र सरलता, सुबोधता तथा प्रासादिकता के ही अनुसंधित्सु हैं, वे भले ही शास्त्रदृष्टि को निरर्थक मानें किन्तु कभी-कभी उनके लिए भी काव्य के मधुर

रस में मिला हुआ शास्त्र का उपयोग उसी प्रकार लाभप्रद हो सकता है जिस प्रकार मधु को चखने वाले व्यक्ति के लिए अपने स्वास्थ्य की कामना से कटु भेषज का सेवन अनिवार्य हो जाता है ।[1] काव्यानुशीलक के लिए शास्त्र-ज्ञान की एक उपादेयता यह भी है कि वह उसके द्वारा इस विषय का भी विवेक कर सकता है कि किसी शास्त्रकवि ने अपनी कृति में जिस शास्त्रीय विधान का सम्मिश्रण किया है वह समुचित है अथवा नहीं ? इस विषय में आचार्य भामह ने उचित ही कहा है कि काव्यवस्तु की व्यापकता अनंत है और उसका दायित्व-निर्वाह करना साधारण कवियों का काम नहीं है क्योंकि ऐसा एक भी शब्द, अर्थ, न्याय और कला नहीं जो काव्य का अंग या उपयोज्य नहीं बन सके ।[2]

काव्यगत शास्त्र-ज्ञान का गुरुत्व

शास्त्रज्ञान की उपयोगिता का गुरुत्व मुख्यतः ऐसे काव्यों के लिए विशेष रूप से होता है जिनका निर्माण केवल शास्त्रगर्भित दृष्टि से ही किया जाता है। ऐसे शास्त्र-गर्भित काव्यों के अर्थबोध के लिए तत्संबद्ध शास्त्रों का परिज्ञान आवश्यक है क्योंकि उनके अभाव में न तो कविकर्म की सफलता का ही मूल्यांकन किया जा सकता है और न काव्यरसिक की चर्वणा को ही विश्रांति मिल सकती है। यों तो 'अनंत पारं किल शब्द-शास्त्रम्' के अनुसार शास्त्रज्ञान की कोई सीमा नहीं होती किन्तु निष्णात कवियों की बुद्धि इस विषय का तत्त्वबोध कर ही लेती है कि वह अपनी सर्जना के लोकोत्तर क्षणों में शास्त्रज्ञान की कब और कैसी उपयोगिता ग्रहण करती हुई चले। कवियों ने न्याय, मीमांसा और वेदांत आदि विविध दर्शनों की प्रतिपत्तियों को उपजीव्य बनाकर जिन शास्त्र-काव्यों की रचना की है, उनके आकलन से इस तथ्य का सहज ही रहस्योद्घाटन भी किया जा सकता है। हमें उसके विस्तृत विवेचन से कोई प्रयोजन नहीं है। हम तो यहाँ केवल इतना ही उल्लेख करना चाहते हैं कि कवि के लिए अनेक स्थलों पर शास्त्र-ज्ञान की चरम उपयोगिता है क्योंकि उसके द्वारा काव्य में वैदग्ध्य अथवा नैपुण्य का संचार होता है। यहाँ यह बात उल्लेखनीय है कि शास्त्रगत तथ्यों और काव्यवर्णिक विषयों की प्रतिस्थापनाओं में मौलिक विभेद भी रहता है, किन्तु उसके कारण उनकी महत्ता का नियमन नहीं किया जा सकता। इस कथन का स्पष्टीकरण काव्य-सम्बन्धी न्याय तथा न्याय-दर्शन की प्रतिपत्तियों को ध्यान में रखकर सुचारुरूपेण किया जा सकता है।

काव्यगत शास्त्रज्ञान के रहस्य का स्पष्टीकरण

न्याय-सिद्धांत में प्रतिज्ञा, हेतु और दृष्टांत आदि से रहित अनेक प्रकार के दोषों का विवेचन किया गया है, जिन्हें काव्य-सम्बन्धी न्याय के साथ सर्वथैव घटित नहीं किया

---

१. स्वादुकाव्यरसोन्मिश्रं शास्त्रमप्युपयुंजते ।
प्रथमालीढमधवः पिबन्ति कटु भेषजम् ।।—काव्यालंकार ५।३ ।

२. न स शब्दो न तद्वाच्यं न स न्यायो न सा कला।
जायते यन्न काव्यांगमहो भारो महान्कवेः ।।—वही, ५।४ ।

जा सकता। यदि कोई कवि न्यायदर्शन की प्रतिपत्तियों को ध्यान में रखकर अपनी रचना प्रस्तुत करे तो उसके प्रमाता के लिए आवश्यक है कि वह उनकी मूल मान्यताओं से परिचित हो। न्याय-सिद्धान्त के अनुसार संसार में कारण को नित्य और अविनाभावी कहा गया है किन्तु यह कथन कहाँ तक सुग्राह्य है, इसका विचार करना भी अनिवार्य है। वस्तुत: इस कथन में संदेह के अनेक अवसर विद्यमान हैं क्योंकि स्पष्ट है कि जो कारण है वह नित्य नहीं हो सकता और जो नित्य है वह कारण नहीं हो सकता। कहने की आवश्यकता नहीं कि जो व्यक्ति न्याय से सर्वथा अपरिचित है, वह इस प्रकार की भ्रांति से न तो स्वयं ही बच सकता है और न दूसरों की भूल को समझ सकता है। ऐसी स्थिति में न्यायसिद्धान्त की जानकारी प्रत्येक व्यक्ति के लिए कहीं न कहीं उपयोगी हो ही सकती है। काव्य की रचना और विवेचना में प्रतिज्ञा, हेतु और दृष्टांत आदि से सम्बन्धित जिन दोषों का विचार किया जाता है, वे मूलतः शास्त्रज्ञान से सम्बद्ध हैं किन्तु उनकी व्यवहृति शास्त्राश्रित न होकर लोकाश्रित होती है। इसका मुख्य कारण यह है कि काव्य-चर्वणा का आधार लोक है और शास्त्र-ज्ञान का आधार तत्त्वदर्शन। यही कारण है कि न्यायशास्त्र में निरूपित प्रतिज्ञा और हेतु आदि से काव्योपयोगी प्रतिज्ञा और हेतु आदि का पृथक् निरूपण करना न केवल उचित ही है अपितु अनिवार्य भी है। काव्य और शास्त्र निरूपित दृष्टि-भेद को व्यावहारिक उदाहरणों से भी निरूपित किया जा सकता है। स्पष्ट है कि लौकिक व्यवहार में तो तत्त्वतः भ्रांत वस्तु भी ग्राह्य समझ ली जाती है पर शास्त्र-ज्ञान उसको मान्यता प्रदान नहीं करता। उदाहरणार्थ तत्त्व-परक दृष्टि से तथ्य यह है कि आकाश का कोई रंग नहीं होता, फिर भी लोग उसे नीला कहते हैं और काव्यकार उस नीलिमा को तथ्य मानकर उसका वर्णन करते हैं पर शास्त्र-दृष्टि से यह धारणा भ्रांतिग्रस्त है, अतः शास्त्र तो आकाश को सर्वथा वर्णरहित कहना ही न्यायोचित समझेगा। इसी प्रकार 'शब्द जाता है' यह कथन तात्त्विक दृष्टि से अनुपपन्न है क्योंकि शब्द में क्रियाकारिता नहीं है, किन्तु कवि तो उसका मानवीकृत गमन वर्णित किया ही करते हैं। जलाशयों में जल की तथा काष्ठ में ज्वाला की सदैव समान स्थिति का वर्णन और नदियों में कमलों की प्रफुल्लता आदि का उल्लेख केवल काव्य-दृष्टि से ही किया जाता है, न कि शास्त्र-दृष्टि से, अतः दोनों के वर्णनीय विषयों तथा उनकी उपस्थापनाओं में अन्तर होना स्वाभाविक है। आचार्य भामह ने 'अभिमत कार्य के उपगम' को 'प्रतिज्ञा' कहकर धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष के आश्रय से उसके चार काव्यगत रूप विवेचित किये हैं। जिस प्रकार रस के अतिरिक्त रसाभास भी होता है उसी प्रकार प्रतिभा के अतिरिक्त प्रतिभाभास भी। विद्वानों ने काव्यों में हेतुओं का भी वर्णन किया है क्योंकि उनके द्वारा अन्वय-व्यतिरेक से ही अर्थ की सिद्धि होती है। जिस प्रकार अनुमान के हेतु में अज्ञान, संशयज्ञान और विपर्यय नामक तीन दोष होते हैं, उसी प्रकार काव्य-हेतुओं में भी। काव्यसृष्टाओं को चाहिए कि वे प्रतिज्ञा, हेतु और दृष्टान्तजन्य दोषों से दूर रहकर अपनी रचनाएँ प्रस्तुत करें जिससे उनकी शब्द-साधना सार्थक बन सके अन्यथा काव्य की स्थिति उस कच्चे कपित्थ फल के समान हो जायगी जिसमें रस होते हुए भी वह अहृद्य, अभेद्य, अपेशल और अरमणीय होता है। वस्तुतः

काव्यसर्जना एक अत्यंत पुनीत साधना है अतः उसमें संश्लिष्ट रूप से जीवन का नवनीत ही प्रस्तुत किया जाना चाहिए, न कि उसका ऐसा अनावश्यक विस्तार किया जाय जिसके कारण उसमें पदविरोध, असुष्ठु अर्थ और निरर्थक शब्दों का समावेश हो।

शास्त्र-ज्ञान की चरम सफलता कवि-कर्म में ही सन्निहित है

भामह ने शास्त्र-ज्ञान की चरम सफलता कवि कर्म में मानी है। उनका तो स्पष्ट कहना है कि 'जो कवि नहीं है उसका शास्त्र-ज्ञान निर्धन के दान, नपुंसक के अस्त्र-कौशल और अज्ञ की प्रगल्भता के समान निष्फल है।'[1] सत्कवित्व से रहित वाग्विदग्धता उसी प्रकार निरर्थक और विकर्षणकारी होती है जिस प्रकार विनय से रहित सम्पत्ति और चन्द्रमा से रहित रात्रि।[2] उन्होंने तो स्पष्ट लिखा है कि जड़-बुद्धि भी गुरु के उपदेश से शास्त्रों का अध्ययन कर सकते हैं किन्तु सत्काव्य का उन्मेष तो केवल प्रतिभाशाली सहृदयों के मानस में ही होता है।[3] इससे स्पष्ट है कि भामह की दृष्टि में शास्त्र-ज्ञान का यथेष्ट महत्त्व था, किन्तु वे इस तथ्य से भी अपरिचित नहीं थे कि काव्य का प्रस्फुरण अलौकिक और असाधारण कार्य है जो केवल प्रतिभाशाली व्यक्तियों के मानस में ही संभव है। अग्निपुराण में भी काव्य-शक्ति का संस्तव इसी रूप में किया गया है।[4] आचार्य आनंदवर्धन का भी कुछ ऐसा ही मत है कि इस अत्यंत विचित्र कवि-परम्पराशाली संसार में कालिदास आदि दो-तीन या पाँच-छः प्रतिभाशाली महाकवियों ने ही जन्म लिया है। भामह ने यद्यपि परवर्ती आचार्यों की भाँति काव्य की प्रेरक-शक्ति के रूप में प्रतिभा का विस्तृत विवेचन नहीं किया तथापि ऐसा मूलसूत्र अवश्य ही उद्घाटित कर दिया है कि प्रतिभा ही काव्य-सर्जना की मूल प्रेरणा है और उसी के द्वारा महान् काव्य अनुसृष्ट हो सकते हैं। वस्तुतः प्रतिभासम्पन्न कवियों द्वारा ही ऐसे काव्यों की सर्जना की जाती है जिनके कारण वे दिवंगत होने के पश्चात् भी अपने काव्य-वपु द्वारा इस संसार में निर्भय और अमर बने रहते हैं। ऐसे कवियों की कीर्ति स्थायी और अजर-अमर होती है और उसका त्रिकाल में भी विनाश नहीं हो सकता। भामह ने काव्य-निर्माताओं को इस बात का परामर्श दिया है कि वे अपनी रचना के पूर्व उन समस्त ज्ञातव्य विषयों का सम्यक् ज्ञान सम्पादित कर लें जिनकी उपयोगिता काव्य-सर्जना जैसे पुनीत कार्य में है। यद्यपि ये विषय काव्य के प्रेरक तत्त्व तो नहीं होते तथापि उनसे

---

१. अधनस्येव दातृत्वं क्लीबस्येवास्त्रकौशलम्।
अज्ञस्येव प्रगल्भत्वमकवेः शास्त्रवेदनम्॥—काव्यालंकार, १-३।

२. विनयेन विना का श्रीः, का निशा शशिना विना।
रहिता सत्कवि त्वेन कीदृशी वाग्विदग्धता॥—वही, १-४।

३. गुरूपदेशादध्येतुं शास्त्रं जडधियोऽप्यलम्।
काव्यं तु जायते जातुकस्यचित्प्रतिभावतः॥—वही, १-५।

४. नरत्व दुर्लभ लोके, विद्या तत्र सुदुर्लभा।
कवित्व दुर्लभ तत्र, शक्तिस्तत्र च दुर्लभा॥—अग्निपुराण, ३३७-३।

काव्य-शक्ति को प्रौढ़ि तथा परिष्कृति तो मिलती ही है। उन ज्ञातव्य विषयों में शास्त्रज्ञान के अतिरिक्त उन्हीं से सम्बद्ध व्याकरण, छंद, कोश, अर्थ, इतिहासाश्रित कथाएँ, लोक-व्यवहार, तर्कशास्त्र तथा विविध प्रकार की कलाएँ आदि हैं। काव्य के विशाल क्षेत्र में उनकी आवश्यकता पद-पद पर हो सकती है क्योंकि ये ही तो काव्य को चारु-चमत्कार और सौष्ठव-संविधान प्रदान करते हैं। इन्हें काव्य का उपजीव्य कहा जा सकता है जिनका अमृत-निष्यंद प्राप्त कर काव्य-कल्पतरु प्ररोहित होता है और अपने मधुर फलों से काव्य-रसिकों का चित्ताह्लादन करता है।

काव्य के वर्ण्यविषयों में देशकाल के परिज्ञान की उपयोगिता

भारतीय आचार्यों ने काव्य-सर्जना के अनंत प्रसार में देशकाल की सीमाओं और परिस्थितियों के ज्ञान पर भी बल दिया है, क्योंकि वे भी काव्य के वर्ण्यविषयों के अंतर्गत ही समाविष्ट रहते हैं। काव्य का एक सूत्र यदि हमारे जीवन के अंतर्मुखी भाव-जगत् से संग्रथित है तो दूसरा सूत्र जगत् के बाह्य परिवेश से नियोजित है। जब हम जीवन और जगत् के सुन्दर और सुरुचिपूर्ण समन्वय को ही काव्य की सफलता का आदर्श प्रतिमान स्वीकार करते हैं तो यह आवश्यक है कि जगत् की परिधि में परिगणित होने वाले देशकाल का विश्लेषण भी इस प्रसंग में करें। यों तो भिन्न-भिन्न देशों के काव्य-विवेचकों ने अपनी-अपनी मान्यताओं के अनुरूप इस विषय का वर्णन किया है, किन्तु हमें अपने शोध-प्रबंध की मर्यादा के अनुरूप केवल भारतीय दृष्टि के आलोक में ही देशकाल के परिज्ञान की काव्यगत उपयोगिता निरूपित करनी है। इस विषय में काव्यमीमांसाकार राजशेखर का विवेचन सर्वाधिक उल्लेखनीय है।

आचार्य राजशेखर ने कवि के लिए देश और काल की सीमाओं के परिज्ञान की उपयोगिता और महत्ता पर विशेष बल दिया है क्योंकि काव्य के अन्तर्गत की जाने वाली वस्तु-वर्णना में उसकी आवश्यकता पद-पद पर हो सकती है। देश और काल का ज्ञान रखने वाला कवि न तो अर्थ-दर्शन की दिशा में दरिद्र हो सकता है और न वर्णनीय पदार्थों की व्यापकता में ही असफल सिद्ध होता है। काव्य-रचना में ऐसे अनेक अवसर आते हैं जब कवि के लिए भिन्न-भिन्न देशों की प्राकृतिक दशा, आचार-व्यवहार, धर्म-संस्कृति, सामाजिक जीवन, ऋतु-परिवर्तन और वन-संपत्ति से सम्बद्ध अनेक प्रकार के विषयों का उल्लेख करना अनिवार्य हो जाता है। यदि कवि को अपने वर्ण्यविषय से संबंधित देशकाल का सम्यक् बोध न हो तो संभव है, वह अपनी वर्णना में ऐसी त्रुटि कर दे जिससे उसकी रचना दोषयुक्त होने के अतिरिक्त हास्यास्पद और निंदनीय भी बन जाय। देशकाल का काव्यगत प्रयोग करने के लिए कवि को भूगोल, खगोल, ज्योतिष और भूगर्भ आदि विविध विषयों का यथेष्ट बोध होना चाहिए। इन विषयों में प्रयुक्त की जाने वाली शब्दावली के अर्थज्ञान के साथ-साथ उनकी सीमाओं से भी जो कवि जितना अधिक परिचित होता है, वह अपनी रचना में उतना ही सफल और प्रशंसनीय सिद्ध हो सकता है। काव्यशास्त्र के आचार्यों ने इस विषय का यथेष्ट विमर्श किया है कि कवियों के लिए देशकाल का परिज्ञान क्यों आवश्यक है? इस विषय में किया गया

सामान्य-सा प्रमाद भी कवि की कीर्ति-कौमुदी में कालिमा लगा सकता है।

(अ) देशवर्णन से संबंधित कुछ ज्ञातव्य विषय

काव्य में देश-विभाग तथा प्रकृति से संबंधित अभिचित्रण करने वाले कवि के लिए कुछ प्राथमिक तथ्यों का अभिज्ञान परम आवश्यक है। राजशेखर ने काव्यमीमांसा के सप्तदश अध्याय में इस विषय का व्यापक विवेचन किया है जिसके द्वारा कविगण अत्यधिक लाभ उठा सकते हैं। देश-वर्णन करते समय कवि को सर्वप्रथम 'जगत्', 'लोक' और 'देश' का अवांतर अर्थ-भेद जानना चाहिए। कुछ विद्वान् स्वर्ग और मर्त्य नामक दो जगत् मानते हैं जबकि कुछ लोगों के मत से 'स्वर्ग', 'मर्त्य' और 'पाताल' नामक तीन लोक माने गये हैं। 'रोदसी' शब्द का प्रयोग 'द्यावापृथिवी' अर्थात् स्वर्ग और मर्त्य लोक के लिए किया जाता है। विद्वानों ने उपर्युक्त तीन लोकों के साथ मह, जन, तप और सत्य नामक चार और लोक जोड़कर उनकी संख्या सात कर दी है। इन सात लोकों के साथ-साथ सात वायुस्कंधों को जोड़ने से उनकी संख्या चतुर्दश हो जाती है। इन चतुर्दश भुवनों में सप्त पातालों को मिलाने पर उनकी संख्या इक्कीस हो जाती है। कवि के लिए लोक, भुवन या जगत् के इस प्रकार के विभाजन का ज्ञान अनिवार्य है। यद्यपि यह बात उसकी अभिरुचि पर निर्भर है कि वह एक से लेकर इक्कीस पर्यन्त मानी गई लोकों की संख्या का यथेच्छापूर्वक वर्णन करे। इन लोकों में प्रधान लोक भू-लोक है जिसमें सात महाद्वीप हैं। उन सबके मध्य में जम्बूद्वीप है जिसके अनंतर क्रमशः प्लक्ष, शाल्मली, कुश, क्रौंच, शाक और पुष्कर द्वीपों की गणना की जाती है। द्वीपों की यह स्थिति मण्डलाकार है। इन सातों महाद्वीपों को लवण-जल, इक्षु-रस, सुरा, घृत, दधि, दुग्ध और मधुर जल के सात समुद्र घेरे हुए हैं। कुछ लोगों का मत है कि लवण जलमय समुद्र एक ही है। कुछ विज्ञों के मत से तीन समुद्र हैं। काव्य में चार समुद्रों का भी वर्णन किया गया है। इस प्रकार की भिन्न-भिन्न मान्यताओं के मूल में कोई न कोई शास्त्रीय आधार अवश्य है। न तो सात समुद्र मानने वाले अशास्त्रीय हैं और न चार समुद्र मानने वाले ही मिथ्याभाषी हैं। जम्बूद्वीप के मध्य सुवर्णमय मेरु पर्वत है जिसको अवधि मानकर ब्रह्मा ने तिर्यक्, ऊर्ध्व और अधस्तात् विश्व की रचना की है। सुमेरु के चारों ओर इलावृत 'वर्ष' है। जम्बूद्वीप से उत्तरवर्त्ती क्रमशः नील, श्वेत और शृंगवान नाम के तीन वर्ष, पर्वत और रम्यक, हिरण्यमय तथा उत्तरकुरु देश हैं। उनके दक्षिण की ओर निषध, हेमकूट और हिमवान् नामक तीन वर्ष-पर्वत और हरिवर्ष, किंपुरुष तथा भारत नामक तीन वर्ष हैं। वायुपुराण और विष्णुपुराण में भारतवर्ष के नौ भेद निर्दिष्ट किये गये हैं—इन्द्रद्वीप, कसेरुमान्, ताम्रपर्ण, गभस्तिमान्, नागद्वीप, सौम्य, गंधर्व, वरुण-द्वीप और कुमारी-द्वीप। इन द्वीपों का पंचशत भाग जल है तथा पंच भाग स्थल। प्रत्येक द्वीप की सीमा एक योजन है और वे दक्षिण समुद्र से अद्रिराज हिमालय तक व्याप्त हैं। वायुपुराण में लिखा है कि इन द्वीपों पर जो विजय प्राप्त करता है, वही 'सम्राट्' पद

---

१. पुराणों के अनुसार सात पातालों के नाम इस प्रकार हैं—अतल, वितल, सुतल, तलातल, महातल, रसातल और पाताल।

का अधिकारी है। भारतवर्ष के नौ द्वीपों में किसी समय वर्तमान लंका, मलाया, जावा, सुमात्रा और बर्मा भी सम्मिलित थे। कुमारी द्वीप से लेकर बिन्दुसर पर्यन्त एक सहस्र योजन का भाग 'चक्रवर्ती' क्षेत्र कहलाता है। इस सम्पूर्ण क्षेत्र पर विजय प्राप्त करने वाला राजा चक्रवर्ती पद से अभिहित किया जाता था।[1] पुराणों में लिखा है कि 'महाराज भगीरथ ने बिन्दुसर नामक स्थान पर ही गंगावतरण के लिए तप किया था।'

कुमारी द्वीप में सात कुलपर्वत हैं—विन्ध्य, पारियात्र, शुक्तिमान्, ऋक्ष, महेन्द्र, सदृय और मलय। इनमें मलय पर्वत के चार भेद हैं जिनका पृथक्-पृथक् विवेचन शास्त्रकारों और कवियों ने किया है। मलय पर्वत चंदनादि वृक्षों से युक्त और देवताओं से अधिष्ठित है जिसकी उपत्यका में मुक्ता-कामधेनु ताम्रपर्णी नदी का प्रवाह होता है। मलय पर्वत से संचरित होने वाला पवन अपनी शीतलता, मंदता और सुगंधि के कारण काव्य में अनेक स्थलों पर वर्णित हुआ है।

पूर्वापर समुद्र तथा हिमालय और विन्ध्य प्रदेश के मध्य में अधिष्ठित देश का नाम आर्यावर्त है जिसमें चार वर्णाश्रमों की सदाचारपूर्ण व्यवस्था प्रचलित है। हमारे कवियों ने इस प्रदेश की संस्कृति के अनुकूल ही अपना काव्य-व्यवहार किया है। आर्यावर्त में वाराणसी से पूर्व दिशा की ओर पूर्व देश है जिसमें अंग-बंग, कलिंग, कोशल, तोषमल, उत्कल, मगध, मुद्गद, विदेह, नेपाल, पुंड्र, प्राग्ज्योतिष, ताम्रलिप्तक, मलद, मल्लवर्तक, सुह्य और ब्रह्मोत्तर आदि जनपद हैं; वृहद्गृह, लोहतगिरि, चकोर, दर्दुर, नेपाल और कामरूप आदि पर्वत हैं; शोण और लौहित्य नामक नद हैं; गंगा करतोया और कपिशा आदि नदियाँ हैं तथा लवली, ग्रंथिपर्णक, अगुरु, द्राक्षा और कस्तूरी आदि उत्पाद्यमान पदार्थ हैं। माहिष्मती के आगे दक्षिणापथ है जिसमें महाराष्ट्र, माहिषक, अश्मक, विदर्भ, कुंतल, क्रथकैशिक, सूर्पारक, कांची, केरल, कावेर, मुरल, वानवासक, सिंहल, चोल, दंडक, पांड्य, पल्लव, गांग, नाशिक्य, कोंकण, कोल्लगिरि और वल्लर आदि जनपद हैं। विन्ध्य के दक्षिण भाग में महेन्द्र, मलय, मेकल, पाल, मंजर, सह्य और श्रीपर्वत आदि गिरिशिखर हैं। इसी प्रदेश में नर्मदा, तापी, पयोष्णी, गोदावरी, कावेरी, भीमरथी, वेणा, कृष्णवेणा, वंजरा, तुंगभद्रा, ताम्रपर्णी, उत्पलावती और रावणगंगा आदि नदियों का प्रवाह होता है। यहाँ पर मलय पर्वत पर उत्पन्न होने वाली वस्तुओं की भाँति चन्दन, इलायची, काली मिर्च, कपूर और मोती आदि पदार्थ भी उत्पन्न होते हैं।

देवसभा (देवास) के आगे पश्चिम देश है जिसमें देवसभा सुराष्ट्र दशेरका, त्रवण, भृगुकच्छ, कच्छीय, आनर्त, अर्बुद, ब्राह्मण वाह और यवन आदि जनपद हैं, गोवर्धन, गिरिनगर, देवसभ, माल्यशिखर और अर्बुद आदि पर्वत हैं तथा सरस्वती, श्वभ्रवती, वार्तघ्नी, मही और हिडिम्बा आदि नदियाँ हैं। यहाँ करीर, पीलु, गुग्गुल, खंजूर, और करभ आदि वस्तुएँ उत्पन्न होती हैं। इसी प्रदेश के पृथूदक से आगे उत्तरापथ है जिसमें शक, केकया बोवकाण, हूण, बाणायुज, काम्बोज, वाह्लीक, वह्लव, लिंपाक, कुतूत,

---

१. चक्र, रथ, मणि, भार्या, निधि, अश्व और गज नामक सप्तपदार्थ चक्रवर्तियों के सात चिह्न कहे जाते हैं।

कीर, तंगण, तुषार, तुरुष्क, बर्बर, हरहूख, हहुक, सहुड़, हंसमार्ग, रमठ और करकंठ आदि जनपद हैं। इसी प्रदेश में हिमालय, कलिंद, इन्द्रकील और चन्द्राचल आदि पर्वत हैं तथा गंगा, सिंधु, सरस्वती, शतद्रु, चन्द्रभागा, यमुना, इरावती, वितस्ता, विपाशा, कुहू और देविका आदि नदियाँ हैं। इन जनपदों में सरल, देवदारु, द्राक्षा, कुंकुम, चमर, अजिन, सोवीर, स्त्रोतोंजन, सैन्धव, वैदूर्य और अश्व आदि उत्पन्न होते हैं। इन प्रदेशों के मध्य में मध्यदेश है जो कवि-व्यवहार तथा शास्त्रीय अर्थ के अनुकूल है। हिमालय और विंध्याचल के मध्य में स्थित तथा विनशन से पूर्व और प्रयाग से पश्चिम का प्रदेश ही मध्यदेश है जैसाकि मनुस्मृति के द्वितीय अध्याय में लिखा गया है—

हिमवद्विन्ध्ययोर्मध्यं यत्प्राग्विनशनादपि ।
प्रत्यगेव प्रयागाच्च मध्यदेशः प्रकीर्तितः ।।

मध्यदेश में जो जनपद पर्वत, नदियाँ और उत्पन्न होने वाले पदार्थ हैं उनका वर्णन संस्कृत-काव्यों में भरा पड़ा है। विनशन और प्रयाग के बीच का प्रदेश अंतर्वेदी कहलाता है जिससे दिशाओं का विभाग करना चाहिए ऐसा आचार्यों का मत है। राजशेखर के विचारानुसार अंतर्वेदी में महोदय अर्थात् कान्यकुब्ज (कन्नौज) को अवधि मानकर दिग्विभाग करने की भी परम्परा रही है। कुछ विद्वानों का मत है कि दिशाएँ अनियत हैं, अतः उनका विभाग भी अनिश्चित होता है। उदाहरणार्थ जो देश वामनस्वामी से पूर्व हैं, वे ब्रह्मशिला से पश्चिम हैं और जो देश कन्नौज से दक्षिण हैं, वे कालप्रिय से उत्तर हैं। ऐसी स्थिति में किसी न किसी स्थान को तो अवधि मानकर ही दिग्विभाग किया जाता है। साधारणतया प्राची, अवाची, प्रतीची और उदीची नामक चार दिशाएँ मानी जाती हैं। कुछ विद्वानों के मत से ऐन्द्री, आग्नेयी, याम्या, नैऋती, वारुणी, वायव्या, कौबेरी और ऐशानी नाम की आठ दिशाएँ माननी चाहिए। विद्वानों का एक मत यह भी है कि उपर्युक्त आठ दिशाओं में ब्राह्मी और नागीया नामक दो दिशाओं के और नाम जोड़कर दस दिशाएँ मानना समुचित है। दिशाओं की संख्या के विषय में कवियों ने स्वेच्छापूर्ण-प्रणाली से भी काम लिया है। किसी ने चार दिशाओं का वर्णन किया है तो किसी ने आठ अथवा दस दिशाओं का। दिशाओं का सामान्य बोध इस प्रकार किया जा सकता है कि चित्रा और स्वाति नक्षत्रों के मध्य में पूर्व दिशा है और उसी के अनुसार उसके सम्मुख पश्चिम दिशा। ध्रुव नक्षत्र से उत्तर दिशा का बोध किया जाता है तथा उसके सामने की दिशा को दक्षिण कहा जाता है। दिशाओं के मध्य के चतुष्कोण विदिशा कहलाते हैं। ऊर्ध्व दिशा का नाम ब्राह्मी और अधोदिशा का नाम नागीया है। कवियों ने इन दिशाओं की विशेषताओं के अनुसार भी प्रकृतिगत वर्णन किया है। कालिदास ने उत्तर दिशा में स्थित शैलराट् हिमालय को पृथ्वी का मानदण्ड कहा है। कवियों के लिए इस प्रकार का लोकव्यवहार तथा शास्त्र-ज्ञान अत्यंत उपादेय है क्योंकि काव्य की वस्तु-वर्णनों में नदियों, पर्वतों, जनपदों और स्थलविशेष में जायमान पदार्थों के अभिचित्रण की आवश्यकता उन्हें होती ही रहती है। जो कवि इन वस्तुओं का वर्णन स्थिर-स्थिति तथा लोकशास्त्र के अवेक्षण के अनुसार करता है उसी की रचना कलापूर्ण और सफल कही जा सकती है।

दिशाओं और प्रदेशों के सामान्य ज्ञान के साथ-साथ कवियों को वहाँ के निवासियों के वर्ण आदि का भी ज्ञान होना चाहिए। सामान्यतया पूर्व दिशा के निवासियों का वर्ण श्याम, दाक्षिणात्यों का कृष्ण, पाश्चात्यों का पांडु, उत्तर देशवासियों का गौर तथा मध्यदेश वालों का श्याम और गौरमिश्रित (गोधूमवत्) होता है। यदि कवियों को विभिन्न प्रदेशों के निवासियों का वर्ण-चित्रण करना हो तो उनके लिए इन बातों का ध्यान रखना आवश्यक है। कालिदास आदि कवियों ने स्वयंवर आदि के प्रसंग में विभिन्न देशों के अधिपतियों का जो परिचय प्रदान कराया है वह इसी प्रकार की सुनिश्चित व्यवस्था के अनुरूप है। इन वर्णों के साथ-साथ भिन्न-भिन्न देशवासियों की आकृति, वेशभूषा, अभिरुचि, योग्यता, संस्कृति, सामाजिकता और जीवन-दृष्टि में भी यथोचित अन्तर होता है जिसका ज्ञान देश-दर्शन अथवा शास्त्राध्ययन से ही किया जा सकता है। वस्तुतः कवियों के लिए देश और वातावरण का ज्ञान अत्यधिक उपयोगिता रखता है। प्रकृति-चित्रण की मनोरमता और सुंदरता तभी प्रशंसनीय है जब देशकाल की प्रकृति का ध्यान रखकर ही उसे काव्य में अभिव्यक्त किया जाय। हरिऔध कृत 'प्रियप्रवास' में एक ही स्थल पर विभिन्न प्रदेशों में प्ररोहित होने वाले वृक्षों को एक ही ऋतु और स्थान पर पुष्पित और फलित रूप में वर्णित पाकर भले ही उसे कृष्ण-चरित्र की अलौकिकतावश समुचित सिद्ध करने का प्रयास किया जाय किन्तु करील के कुंजों के अवर्णन को कौन-सा सहृदय क्षम्य मानेगा? अभिप्राय यह है कि देश का परिज्ञान सभी दशाओं में कवियों के लिए परम उपयोगी है। सभी देशों के श्रेष्ठ कवियों ने उसका पूर्ण ध्यान रखा है जिसके कारण उनकी कृतियों में गुण-वृद्धि होने के साथ-साथ सौन्दर्य-सुषमा का भी संचार हुआ है। जिन कवियों की कृतियों में देशगत प्रकृति तथा समाज का ध्यान नहीं रखा जाता उनमें अनेक प्रकार के काव्य-दोषों का आविर्भाव हो जाता है। कवियों का कर्तव्य है कि वे अपनी रचनाओं को सरस और स्वाभाविक बनाने के हेतु इस तथ्य की ओर विशेष ध्यान दें। राजशेखर ने 'काव्यमीमांसा' के सप्तदश अध्याय में एतद्विषयक जो विवेचन प्रस्तुत किया है उसी को मुख्य आधार बनाकर हमने भी इसका सामान्य कथन किया है। इस विवेचन का मुख्य प्रयोजन भारतीय दृष्टि के आलोक में काव्य-सर्जना के वर्णनीय विषयों का रूप-प्रसार निरूपित करना रहा है। भारतीय काव्य-साहित्य का रसास्वादन और समीक्षण करने की दिशा में भी उपर्युक्त देशादि का ज्ञान परम आवश्यक है। आचार्यों ने कवि की योग्यता का निरूपण करने के प्रसंग में उसकी व्युत्पत्ति का जो विवेचन किया है, उसके साथ-साथ भी इस विषय का घनिष्ठ संबंध है। कहने की आवश्यकता नहीं कि जब तक कोई कवि अपने काव्य-वर्णित देश की प्रकृति के सूक्ष्म-तत्त्वों से परिचित नहीं होता तब तक वह उसमें स्वाभाविकता और सजीवता ला ही नहीं सकता। यह विषय मुख्यतः भूगोल और समाज-विज्ञान से संबंधित होते हुए भी काव्यचर्चा से भी अनुविद्ध है। आचार्य राजशेखर ने अपने 'भुवनकोश' नामक ग्रंथ में इस विषय का विवेचन अत्यंत विस्तारपूर्वक किया है जिसका अनुशीलन कर इस विषय की महत्ता और व्यापकता और भी अधिक बोधगम्य की जा सकती है।

काल-विभाग के वर्णन की भारतीय प्रणाली

काव्य-सर्जना में देशकाल और समाज-चित्रण के परिज्ञान के साथ-साथ काल-विभाग की परम्परा का बोध भी आवश्यक है। काव्य-रचना करते समय कवि को उसकी ओर भी ध्यान देना पड़ता है। यों तो प्रत्येक देश में काल-विभाग की अपनी-अपनी परम्पराएँ हैं किन्तु यहाँ पर हमें उनका व्यापक विश्लेषण करना अभीष्ट नहीं है। हम तो इस प्रसंग में केवल इतना ही उल्लेख करना पर्याप्त समझते हैं कि काल-विभाग का भी सम्यक् विचार रखने पर काव्य-कृति के स्वाभाविक सौंदर्य में शोभातिशयता का समावेश होता है। वैसे तो काव्य के अनंत विस्तार में काल-विभाग का वर्णन उसका एक अंशभूत अंग-मात्र है किन्तु उसकी प्रामाणिक अभिज्ञता के लिए कवि को ज्योतिष और भूगोल आदि शास्त्रों का सम्यक् अध्ययन करना पड़ता है। काव्य-वर्णन के अन्तर्गत निमेष, काष्ठा, कला, मुहूर्त्त, अहोरात्र, सप्ताह, पक्ष, मास, ऋतु, वर्ष या संवत्सर, पितृमास, वायुप्रवाह और पुष्प-विकास आदि विभिन्न विषयों का चित्रण यथाप्रसंग किया जाता है, अतः जब तक कवियों को उन विषयों की सामान्य अथवा विशेष स्तर की अपेक्षित अभिज्ञता न हो, तब तक वे अपनी रचनाओं में देशकाल की योजना को व्यवस्थित नहीं बना सकते। कवि-कर्म के गुरुतर दायित्व का निर्वाह करने के लिए कवि-पुंगवों को इस विषय की महत्ता को उपेक्षित नहीं करना चाहिए। उनका कर्तव्य है कि वे काव्यशास्त्र में वर्णित काल-विभाग के अध्ययन को ही पर्याप्त न समझें, अपितु वायुपुराण के 'कालमान' तथा कौटिलीय अर्थशास्त्र के 'देशकालमान' नामक प्रकरण (२-२०-३८) आदि उपजीव्य सामग्रियों का भी अनुशीलन करें जिससे उन्हें इस विषय की गुरुतर गम्भीरता का ज्ञान हो सके। यों तो वायुपुराण तथा अर्थशास्त्र के 'कालमान' में भी अंतर है, किन्तु हमें उस अन्तर की सूक्ष्मता का तात्त्विक विवेचन नहीं करना है। हमें तो इस प्रसंग में केवल इतना ही निवेदन करना अभीष्ट है कि उपर्युक्त काल-सूचक शब्दों की प्राणशक्ति को सुचारु-गत्या भावगम्य बनाकर ही कवियों को उनके प्रयोग का प्रयत्न करना चाहिए। कहने के लिए तो निमेष, मुहूर्त आदि शब्द अत्यंत सामान्य और लोकप्रचलित शब्द हैं, किन्तु इनके सम्बन्ध में किया गया किंचित्‌मात्र का भी प्रमाद काव्य-रचना के लिए अनिष्टकारी हो सकता है। राजशेखर ने काव्य-मीमांसा के अष्टादश अध्याय के अंतर्गत इस विषय का विवेचन अत्यंत आकर्षक और सुरम्य विधि से किया है जिसके द्वारा काल-विभाग का काव्योपयोगी स्वरूप अभिव्यक्त होता है।

काल-विभाग में वर्णित पन्द्रह निमेषों की एक काष्ठा,[1] तीस काष्ठाओं की एक कला, तीस कलाओं का एक मुहूर्त और तीस मुहूर्तों का एक अहोरात्र (दिन-रात) होता है। चैत्र और आश्विन महीनों में दिन और रात का मान एक-सा होता है। चैत्र

---

१. अर्थशास्त्र के अनुसार पांच निमेषों की एक काष्ठा, वायुपुराण के अनुसार पन्द्रह निमेषों की एक काष्ठा तथा अमरकोष के अनुसार अठारह निमेषों की एक काष्ठा होती है। राजशेखर ने वायुपुराण के मत को स्वीकार किया है।

के पश्चात् वैशाख से लेकर श्रावण पर्यन्त प्रति मास दिन में एक-एक मुहूर्त की वृद्धि तथा रात्रि में एक-एक मुहूर्त की कमी होती है। कालान्तर में यह क्रम परिवर्तित हो जाता है। सूर्य का एक राशि से दूसरी राशि में जाना मास कहलाता है। वर्षा ऋतु से छः महीनों तक सूर्य दक्षिणायन रहता है तथा शिशिर ऋतु से छः महीनों तक उत्तरायण। दो अयनों का एक संवत्सर या वर्ष होता है और पन्द्रह दिन का एक पक्ष। शुक्ल-पक्ष में चन्द्रमा की कलाएँ बढ़ती हैं तथा कृष्ण-पक्ष में घटती हैं। वेद-विहित यज्ञ आदि की समस्त क्रियाएँ इसी मान के आधार पर होती हैं। एक महीने में दो पक्ष होते हैं तथा दो-दो महीनों की एक ऋतु के क्रम से वर्ष में छः ऋतुएँ होती हैं। ज्योतिष-शास्त्र-वेत्ता चैत्रमास से संवत्सर का प्रारम्भ मानते हैं तथा लौकिक व्यवहार वाले श्रावण से। वर्ष में बारह महीने होते हैं जिनके नाम सर्वविदित हैं। श्रावण और भाद्र में वर्षा, आश्विन और कार्तिक में शरद, मार्गशीर्ष और पौष में हेमंत, माघ और फाल्गुन में शिशिर, चैत्र और वैशाख में वसंत तथा ज्येष्ठ और आषाढ़ में ग्रीष्म ऋतु होती है। भारतीय दृष्टि से काल-विभाग का यही क्रम है जिसकी सामान्य अभिज्ञता सभी कवियों के लिए वांछनीय है। षड्ऋतु-वर्णन और बारहमासा के रूप में कवियों ने संयोग तथा विप्रलम्भ शृंगार का उद्दीपन-विभावों के अंतर्गत जो वर्णन किया है, उसमें इस प्रकार के काल-विभाग के ज्ञान की अत्यधिक उपयोगिता रही है। इसके अतिरिक्त स्वतंत्र आलम्बन के रूप में भी प्रकृति-चित्रण या काल-वर्णन किया जाता रहा है। कालिदास कृत 'ऋतु संहार' काव्य तथा मेघदूत का 'पूर्वार्द्ध' इस प्रकार के चित्रण के भव्य निदर्शन हैं। कवियों ने इस विषय की सूक्ष्मातिसूक्ष्म सामग्री का चित्रण कर अपने प्रकृति-दर्शन और काल-ज्ञान का परिचय दिया है। उदाहरणार्थ उनकी कृतियों में न केवल भिन्न-भिन्न ऋतुओं के अनुरूप वायु-संचार जैसे सामान्य विषय का ही वर्णन हुआ है अपितु उनके द्वारा प्रत्येक ऋतु की प्राकृतिक सुषमा और उसका मानव-मन पर पड़ने वाला प्रभाव भी अत्यंत कुशलतापूर्वक चित्रित किया गया है। उनके इस प्रकार के चित्रण में पशु-पक्षी, कीट-पतंग तथा प्रकृति की क्रोड में क्रीड़ा करने वाले गिरि-निर्झर आदि भी समाविष्ट हैं। परमेश्वर की असीम अनुकम्पा से जिस प्रकार भारत को प्रकृति की सुरम्य रंगस्थली प्राप्त हुई है, उसी प्रकार यहाँ के कवियों को उसके चित्रण की अद्भुत प्रतिभा और क्षमता भी। देश-काल का निर्वाह करते हुए यहाँ के कवियों ने परम्परागत तथा स्वच्छंदवादी दृष्टिकोण से जो प्रकृति-चित्रण किया है, वह अपने औदात्य में 'प्रकृति-रस' की अनुभूति कराने में सहज समर्थ है। प्रकृति के रम्य तथा भीषण और शुष्क तथा सरस—दोनों ही पक्ष उसमें चित्रित हुए हैं। उस चित्रण से कवियों के सूक्ष्म-निरीक्षण-कौशल का भी आभास मिलता है। वायु-प्रवाह जैसे सामान्य विषयों पर कवियों ने न जाने कितने प्रकार की उक्तियों की सर्जना की है। किसी ने वर्षा-ऋतु में पूर्वी वायु का प्रवाह चित्रित कर आचार्यों की उस मान्यता का विरोध किया है जिसके अनुसार वर्षा का वायु-प्रवाह पश्चिम की ओर से होता है तो किसी ने शरद्कालीन वायु की अनिश्चित दिशा निर्दिष्ट कर उसके द्वारा उसका सुरम्य प्रवाह निरूपित किया है। एक कवि के मत से हेमंत में पश्चिमी वायु का प्रवाह होता है तो दूसरे के विचार से उत्तरी वायु का।

कुछ कवि दोनों दिशाओं से हेमन्तकालीन वायु का प्रवाह मानते हैं। अपने-अपने मतों के अनुकूल सभी कवियों ने अपनी-अपनी कृतियों में वायु-प्रवाह का वर्णन किया है जो वैभिन्न्यपूर्ण होने पर भी कम आकर्षक नहीं है। आचार्यों का मत है कि शिशिर ऋतु में हेमन्त के समान उत्तरी या पश्चिमी वायु का वर्णन करना चाहिए तथा वसंत ऋतु में दक्षिणी पवन का। कुछ विद्वानों के मत से ग्रीष्म ऋतु में वायु की दिशा निश्चित नहीं रहती तथा कुछ लोग उसमें नैऋत्य दिशा की वायु का वर्णन करना उचित समझते हैं। राजशेखर के मतानुसार दोनों प्रकार की मान्यताएँ स्वीकार्य हैं क्योंकि उस ऋतु में वायु का प्रवाह एक-सा नहीं होता। 'काव्यमीमांसा' के अष्टादश अध्याय में वायु-प्रवाह के निर्देशक जो उदाहरण दिये गये हैं वे केवल इतिवृत्तात्मक ही नहीं, अपितु परम संवेदनात्मक भी हैं। राजशेखर ने उदाहरणपूर्वक इस विषय का भी विस्तृत विवेचन किया है कि किस-किस ऋतु में कवि को किन-किन विषयों का वर्णन करना चाहिए।

काल-विभाग के अन्तर्गत किये जाने वाले ऋतु-वर्णन को सफल और सर्वांगीण बनाने के लिए प्रत्येक ऋतु की चार अवस्थाओं का वर्णन करना कवि-कर्म का एक महत्त्वपूर्ण अंग है। इन चार अवस्थाओं को ऋतु-संधि, ऋतु-शैशव, ऋतु-प्रौढ़ि तथा ऋतु-अनुवृत्ति कहा जा सकता है। दो ऋतुओं के मध्यकाल का नाम ऋतु-संधि है तो ऋतु की प्रारम्भिक सुषमा का नाम ऋतु-शैशव। ऋतु-प्रौढ़ि में ऋतु का चरम उत्कर्ष वर्णित किया जाता है तथा ऋतु-अनुवृत्ति में विगत ऋतु के अवशिष्ट चिह्नों का वर्तमान ऋतु में सामान्य अनुवर्त्तन। इसका उदाहरण 'ग्रीष्म ऋतु के चिह्न स्वरूप कमलविकास का वर्षाकाल में वर्णन' कहा जा सकता है। प्रत्येक ऋतु का वर्णन उसकी चारों अवस्थाओं के चित्रण से ही पूर्णता को प्राप्त होता है। यों तो देश-भेद से ऋतु-विशेष के पदार्थों में कहीं-कहीं अन्तर भी आ जाता है, किन्तु ऐसी स्थिति से बचने के लिए यही उचित है कि कवि-परम्परा का ही अनुगमन किया जाय। इस कार्य में 'कवि-समय' का ज्ञान भी अत्यंत सहायक होता है। यदि ऋतु-वर्णन के प्रसंग में फलों और पुष्पों के चित्रण का प्रसंग उपस्थित हो जाय तो कवि को शोभा, अन्न, गंध, रस, फल और अर्चन नामक छः कारणों का ध्यान रखना चाहिए जिनके द्वारा पुष्प की उपयोगिता प्रकट होती है।[1] आचार्यों का मत है कि जिस मास में किसी पुष्प के उद्‌गम का वर्णन किया जाता है, उसके उत्तरवर्त्ती मास में उसके फलोद्‌गम, तृतीय मास में उसकी प्रौढ़ि तथा चतुर्थ मास में उसकी पाक-परिष्कृति निरूपित होनी चाहिए। उपर्युक्त चार मासों का क्रम वृक्षों में लगने वाले पुष्पों और फलों का भी है। कवियों को इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि लताओं में लगने वाले फलों और पुष्पों का क्रम केवल दो मास का ही होता है। फलों के भी छः प्रकार माने गये हैं—अंतर्व्याज, बहिर्व्याज, बाह्यान्तर व्याज, सर्वव्याज, बहुव्याज और निर्व्याज। लकुच (बडहल) आदि फल अन्तर्व्याज, केले तथा पनस (कटहल) आदि बहुव्याज और नीलकपित्थ आदि निर्व्याज कहे जाते हैं। इन छः प्रकारों

१. शोभान्नोगन्ध रसैः फलार्चनाभ्यां च पुष्पमुपयोगि।
षोढा दर्शितमेतत्स्यात्सप्तममनुपयोगि॥

—काव्यमीमांसा, अष्टादश अध्याय, पृ० २६२।

में सभी प्रकार के फलों का अन्तर्भाव हो जाता है। कवि को चाहिए कि अपनी प्रबंध-काव्य-रचना में आवश्यकतानुरूप दो-तीन या समस्त ऋतुओं का सरल अथवा विपरीत-क्रम से वर्णन करे। विपरीत-क्रम से किया जाने वाला ऋतु-वर्णन यों तो दोष के अंतर्गत समाविष्ट होता है, किन्तु कभी-कभी प्रबंध में ऐसे प्रसंग भी आ जाते हैं जिससे व्युत्क्रम अथवा विपरीत क्रम भी दोष न होकर शोभाधायक गुण हो जाता है। सच तो यह है कि अनुसंधान-शून्य कवि की उत्तम बातें भी कभी दूषण हो जाती हैं तथा सावधान कवि के दूषण भी भूषण हो जाते हैं। अतः कवि को इस बात का पूर्ण ध्यान रखना चाहिए कि उसके देशकाल-वर्णन में किसी भी प्रकार का प्रमाद न हो क्योंकि ऐसा होने पर उसकी साधना में त्रुटि ही मानी जाती है।

वर्ण्यविषयों की वाच्यार्थगत व्यापकता और नवीनता

काव्य के वर्ण्य विषयों का क्षेत्र विश्व-सर्जना की भाँति असीम और अनंत है। उसके व्यंग्यार्थ के साथ-साथ वाच्यार्थ के भी अनेक मौलिक रूप सन्निहित रहते हैं। वस्तुतः कवि की प्रतिभा में एक ऐसी दिव्य शक्ति संचरित रहती है जो काव्योचित शब्दों का सन्निवेश करते हुए अपूर्व काव्य का निर्माण कर सकती है। उस पर इस बात का बहुत बड़ा दायित्व है कि वह शब्दार्थमय काव्य की सौन्दर्यसाधना के लिए सब प्रकार के साधनों का सदुपयोग करे और अपनी कृति में सरस तथा मधुर शब्दों का संगठन कर उसे ऐसा रूप प्रदान करे जिससे उसे तो आत्मानंद की अपलब्धि हो ही, साथ ही साथ सहृदयजनों का मानस भी उससे अभिभूत हो जाय। काव्य के अनंत रूपों और प्रकारों में यह विषय भी विचारणीय है कि केवल व्यंग्यार्थ के कारण ही अर्थों में विचित्र नवीनता और अनंतता नहीं आती अपितु वाच्यार्थ-विशेष की अपेक्षा से भी नवीनता आ सकती है।[1] उस नवीनता में अवस्था, देश और काल आदि के वैशिष्ट्य से शुद्ध वाच्यार्थ का आनन्त्य सहज संभव है। एक ही स्थान पर अनेक बार किये गये एक ही प्रकार के वर्णन अपुनरुक्त तथा अभिनव अर्थपरिपूर्ण रूप नहीं होते, अतः कवि के लिए यह आवश्यक है कि वह उन वर्णनों को पृथक्-पृथक् स्थानों पर प्रयुक्त करे। इस विषय में 'विषम बाण-लीला' की वह गाथा उल्लेखनीय है जिसमें कहा गया है कि 'प्रियजनों के हावभाव तथा सुकवियों के वाण्यर्थों की कोई सीमा नहीं होती और न वे किसी भी दशा में पुनरुक्त ही प्रतीत हो सकते हैं।[2] वस्तुतः यह स्थिति अवस्था-भेद के वैशिष्ट्य से आने वाली नवीनता के कारण ही उत्पन्न होती है।

---

१. ध्वन्यालोक, पृ० ३५१।

२. 'विषम वाण लीला' की उस प्राकृत गाथा की संस्कृत छाया इस प्रकार है—
न च तेषां घटते वधिर्न च ते दृश्यन्ते कथमपि पुनरुक्ताः।
ये विभ्रमाः प्रियाणामर्था वा सुकविवाणीनाम्।।

अवस्था, देश और काल भेदों का आनन्त्य

अवस्था-भेद के कारण आने वाली काव्यगत नवीनता के और भी अनेक प्रकार हो सकते हैं। उदाहरणार्थ कवि को यह अधिकार है कि वह हिमालय और गंगा आदि अचेतन पदार्थों का वर्णन उनके पुराणप्रख्यात देवात्मरूप में इस प्रकार करे कि उनमें मानवीय संवेदनाओं का चेतन स्वरूप उपनिबद्ध हो जाय। ऐसा करने से काव्य में अपूर्व रमणीयता आ जाती है जिसका एक प्रमाण 'कुमारसम्भव' का प्रारम्भिक हिमालय-वर्णन है। सभी देशों के काव्य-साहित्य में ऐसी अनेक रचनाएँ विद्यमान हैं जिनमें आरंभ आदि अवस्थाभेद से भिन्न अचेतन पदार्थों का स्वरूप पृथक्-पृथक् वर्णन से अनंतता को प्राप्त हुआ है और जिनसे अवस्थामूलक चमत्कार की प्रतीति होती है।

कवियों ने देशभेद और कालभेद से भी चेतन और अचेतन पदार्थों का वर्णन करने में अपने प्रतिभा-कौशल का परिचय दिया है। इन चेतन और अचेतन पदार्थों का विस्तार इतना अधिक है कि उन्हें किसी परिमित सीमा में आबद्ध किया ही नहीं जा सकता। देशभेद की दृष्टि से जल, पुष्प और पवन-संचार आदि विषयों के चित्रण में कवियों ने आनन्त्य के दर्शन किये हैं। अचेतन प्रकृति के क्रोड में परिपुष्ट और संवर्धित किये गये व्यक्तियों के जीवन में जो अन्तर प्रदर्शित होता है उनका व्यावहारिक चित्रण करना भी कवियों के लिए कम रुचिकर विषय नहीं रहा है। वस्तुतः जीवन और जगत् के क्षेत्र में अब भी ऐसे अनेक विषय हैं जिनकी ओर कवि-दृष्टि का प्रसरण नहीं हुआ है। यदि उन सबकी ओर ध्यान दिया जाय तो काव्य के आनन्त्य की कोई परिसीमा ही नहीं रह सकती। जब कवि-प्रतिभा परम्परामुक्त विषयों में भी नूतन चमत्कार उत्पन्न करने की क्षमता रखती है तो फिर वह नवीन भाव-सामग्रियों को अभिनव उन्मेष कैसे प्रदान नहीं कर सकती? कवियों ने कालभेद से भी अपने वर्णन को अलंकृत किया है। जिस प्रकार ऋतु-भेद से दिक्, आकाश और सलिल आदि अचेतन पदार्थों में भेद होता है उसी प्रकार कालभेद के आश्रय से भी चेतन प्राणियों की मनोदशाओं का संगठन और रूप-विधान होता है। सच तो यह है कि संसार की समस्त वस्तुएँ अपने स्वरूप-भेद से ही काव्य के कलेवर में साकार बनती हैं, अतः कालभेद और परिस्थिति का पूर्ण विचार रखकर ही यदि उन्हें काव्योपनिबद्ध किया जाय तो वे हमारे लिए रसास्वादन की अधिक सामग्री प्रदान कर सकती हैं। संसार में जो वस्तुएँ सामान्य रूप से वाच्य हैं, वे भी कवियों की अनुभूति के साँचे में ढलकर सर्वथा विलक्षण सजीवता प्राप्त कर लेती हैं। साधारणतया कवि-समाज की स्थिति सामान्य जनसमुदाय की-सी है, किन्तु उनका मानस सर्जना के क्षणों में योगियों की-सी समाधि और साधना की भूमिका में अधिष्ठित हो जाता है जिससे वे अपनी आत्मानुभूति को लोकोत्तर अभिव्यक्ति प्रदान करने में समर्थ होते हैं। कवियों की प्रतिभा में ऐसा अभिव्यंजन-कौशल होता है जिसके द्वारा वे सामान्य विषयों को भी भाव-वैचित्र्य अथवा उक्ति-वैचित्र्य प्रदान कर देते हैं। कवियों के लिए वैचित्र्य-विधान का अत्यधिक महत्त्व है। उसका क्षेत्र अनंत और व्यापक है। काव्य में अलंकारादि के प्रयोग से जिस उक्ति-वैचित्र्य की सृष्टि होती है वह तो उस

वैचित्र्य का एक अंगमात्र है। अभिप्राय यह है कि काव्य का कार्य देश, काल और अवस्था के भेद से अनन्त प्रकार का है जिसकी सरस व्यंजना करने का सामर्थ्य असाधारण प्रतिभा-सम्पन्न कवियों में ही होता है।

'आनन्त्य' के साथ 'संवाद-विधान' भी कवि-कर्म का अंग है

महान् और असाधारण कवियों का दायित्व भी महान् और असाधारण होता है। उनके सम्मुख चराचर विश्व का आभोग इतना अधिक विस्तीर्ण और अनन्त है कि यदि सहस्रों वाचस्पति भी मिलकर यत्नपूर्वक उसका वर्णन करें तो भी उसका अन्त नहीं हो सकता। परिमित शक्ति वाले साधारण कवि तो उसका स्पर्शमात्र भी नहीं कर पाते। जगत् के उस अनंत विस्तार से औचित्यानुरूप वस्तु का चयन करना और सम्पूर्ण रूप से उसका देशकालभेद से निर्वाह करना असाधारण प्रतिभा-सम्पन्न कवियों का ही कार्य है। इस विषय में आनंदवर्धन का यह अभिमत सर्वथा उचित ही है कि 'जिस प्रकार विगत कल्पकल्पांतरों में विविध वस्तुमय प्रपंच की रचना करने वाली जगत् की प्रकृति मूल कारण होने पर भी, अन्य पदार्थों के निर्माण में सशक्त होती है, उसी प्रकार काव्यस्थिति भी असंख्य कवियों से उपभुक्त होने पर भी अद्यावधि इतनी अधिक समर्थ और सर्जनशील है कि कवियों के वर्णन द्वारा नवनवोन्मेषशालिनी व्युत्पत्ति प्राप्त करने से और अधिक वृद्धि को प्राप्त हो रही है।' इसका यह अभिप्राय नहीं कि समस्त प्रतिभा-सम्पन्न कवि अपनी कृतियों में सर्वत्र ही अनंत पार्थक्य रखते हैं। सच तो यह है कि देश, काल और अवस्था आदि के भेद से आनंत्य होने पर भी प्रतिभाशाली कवियों की रचना में संवाद (अन्य के साथ सादृश्य) विधान भी होता है जिसे प्रतिबिम्ब, आलेख्य और देहीवत् कहा जा सकता है। इसका आशय यह है कि एक काव्यवस्तु अन्य काव्यवस्तु के प्रतिबिम्ब के सदृश होती है तो दूसरी काव्यवस्तु चित्र अथवा तुल्यदेही के समान। आनंदवर्धन ने प्रतिबिम्बकल्प तथा चित्राकारतुल्य सादृश्य का समर्थन न कर उसे त्याज्य निर्दिष्ट किया है। इसका कारण यह है कि प्रथम प्रकार का सादृश्य अनन्यात्म है जिसमें तात्त्विक स्वरूप का विधान नहीं होता। द्वितीय प्रकार का सादृश्य शरीरान्तर से युक्त होने पर भी अपनी रूपछाया के कारण अग्राह्य है। वस्तुतः तुल्यदेहिवत् सादृश्य ही कवियों के लिए स्वीकार्य है, क्योंकि उसमें सदृश होने पर भी भिन्न तथा सुन्दर शरीर से युक्त काव्यवस्तु अन्य से सादृश्य रखती हुई भी कवियों के लिए ग्राह्य है। इस विषय में आचार्य आनंदवर्धन का यह विचार सर्वथा सत्य है कि जिस प्रकार चन्द्रमा की छाया से युक्त किसी कामिनी का मुखमंडल पुनरुक्त-सा प्रतीत न होकर रमणीय ही लगता है, उसी प्रकार काव्य में भी पुरातन रमणीय छाया से युक्त तथा अन्य कवियों द्वारा पूर्ववर्णित वस्तुतुल्य शरीर के समान ही अत्यंत शोभामय होती है। इस विषय में ध्वनिकार की निम्नलिखित कारिकाओं को उद्धृत करना अत्यंत आवश्यक है क्योंकि उनमें उपर्युक्त विचारों का निर्देश अत्यन्त निपुणतापूर्वक हुआ है—

आत्मनो न्यस्य सद्भावे पूर्वस्थित्यनुयाय्यपि ।
वस्तु भातितरां तन्व्याः शशिच्छायमिवाननम् ।।[1]
अक्षरादिरचनेव योज्यते यत्र वस्तुरचना पुरातनी ।
नूतने स्फुरति काव्यवस्तूनि व्यक्तमेव खलु सा न दुष्यति ।।[2]
यदपि तदपि रम्यं यत्र लोकस्य किंचित्,
स्फुरितमिदमितीयं बुद्धिरभ्युज्जिहीते ।
अनुगतमपि पूर्वच्छायया वस्तु तादृश् ।
सुकविरुपनिबध्नन्निन्द्यतां नोपयाति ।।[3]

अर्थात् प्रसिद्ध वाच्यादि से विलक्षण व्यंग्य रसादि रूप अन्य आत्मा के होने पर, प्राचीन कविवर्णित पूर्वस्थिति का अनुसरण करने वाली वस्तु भी चन्द्रमा की आभा से युक्त कामिनी के मुखमण्डल के समान अधिक शोभित होती है ।

यह स्पष्ट ही है कि जहाँ (जिस काव्य में) नवीन स्फुरण होने वाले काव्यार्थ अथवा काव्यवस्तु में प्राचीन कवि निबद्ध कोई वस्तु, अक्षर आदि की पुरातनी रचना के समान निबद्ध की जाती है, वह निश्चित रूप से दूषित नहीं होती ।

जिस वस्तु के विषय में सहृदय जनों को यह कोई नवीन स्फुरणा (सूझ) है इस प्रकार की अनुभूति होती है, वह वस्तु चाहे नवीन हो अथवा प्राचीन रम्य ही कहलाती है । पूर्ववर्ती कवियों के वर्णन की छाया से युक्त होने पर भी उस प्रकार की वस्तु का वर्णन करने वाला कवि निन्दनीयता को प्राप्त नहीं होता ।

कहने का आशय यह है कि ध्वनिकार की दृष्टि में वही काव्य श्रेष्ठ है जो विलक्षण व्यंग्य रसादि रूप हो तथा जिसमें नवीन स्फुरणा के तत्त्व संवलित रहें । उन्होंने कवियों को इस बात का परामर्श दिया है कि वे विविध अर्थों के अमृतरस से परिपूर्ण वाणी का प्रसार करें तथा अपने कल्पनाप्रसूत विषय के वर्णन में भी किसी प्रकार का संकोच या प्रमाद न करें । वस्तुतः 'स्व' और 'पर' की इच्छा से विरत-मानस कवि ही अपने सत्वोद्रेक के कारण श्रेष्ठ काव्य की रचना करने में सफल होते हैं और उनकी सफलता का श्रेय उनके प्राक्तन पुण्यों और अभ्यासादि साधनों को भी दिया जा सकता है ।

कवि-प्रतिभा में काव्य-विषयों के आनन्त्य की क्षमता है

काव्य के वर्ण्यविषयों की अनन्तता और व्यापकता का विवेचन विविध दृष्टियों से किया गया है जिनमें वस्तुवादी और ध्वनिवादी आचार्यों की मान्यताओं का महत्त्व विशिष्ट प्रकार का है । ध्वनिकार ने ध्वनिभेदों के आश्रय से काव्य के अर्थों में आने वाली नवीनता का प्रतिपादन करने के अतिरिक्त इस विषय का भी विवेचन किया है कि रस,

---

१. ध्वन्यालोक, ४।१४ ।
२. वही, ४।१५ ।
३. वही, ४।१६ ।

वस्तु तथा अलंकार व्यंग्य की दृष्टि से गुणीभूतव्यंग्य के भी जो भेद होते हैं उसके समाश्रयण से भी काव्यवस्तुओं में नवीनता आती है।[1] यदि काव्यकार में प्रतिभागुण हो तो वह ध्वनि तथा गुणीभूतव्यंग्य के आश्रय से अपनी कृति में ऐसी रमणीयता ला सकता है जो कभी समाप्त ही नहीं हो सकती। उन्होंने इस विषय का भी यथेष्ट विमर्श किया है कि अर्थों की अनंतता में हेतु-स्वरूप व्यंग्यव्यंजक-भाव के अनेक रूप संभव हैं, किन्तु लोकोत्तर-चमत्कारपूर्ण काव्य की अर्थसिद्धि केवल रसादिमय व्यंग्यव्यंजक भाव के सफल निर्वाह से ही हो सकती है। श्रेष्ठ कवि रस, भाव और तदाभास-रूप-व्यंग्य और उसके व्यंजक वर्णों, पदों, वाक्यों तथा रचना और प्रबंध के निबधंन में इस विषय का पूर्ण ध्यान रखते हैं कि उनमें यथासंभव अधिकाधिक चारुत्व चमत्कृति लाने का प्रयत्न किया जाय। उसी चारुत्व की उपलब्धि के कारण ही रामायण और महाभारत आदि परम्परागत काव्यों के युद्धादि वर्ण्य विषय भिन्न-भिन्न युग के कवियों द्वारा अनेक बार वर्णित होने पर भी प्रत्येक बार अपना कुछ विशिष्ट सौष्ठव और ध्वनिगाम्भीर्य प्रस्तुत करने में समर्थ होते हैं। ऐसे प्रबंध-काव्यों के परिशीलन से यह तथ्य ध्वनित होता है कि वे एक ही प्रधान रस में उपनिबद्ध होकर भी अर्थविशेष की सिद्ध तथा सौन्दर्यातिरेक की पुष्टि करने में सफल हुए हैं। उदाहरणार्थ आदिकवि वाल्मीकि ने रामायण में 'शोकः श्लोकत्वमागतः' द्वारा स्वयं ही करुण रस का अंगित्व अथवा प्राधान्य सूचित करते हुए सीता के अत्यन्त वियोगपर्यन्त काव्य की रचना कर उसका सफल निर्वाह किया है तो महर्षि व्यासदेव ने महाभारत के द्वारा काव्य के वैराग्योत्पादनरूप तात्पर्य को मुख्यतया प्रदर्शित कर मोक्षरूप पुरुषार्थ तथा शांतरस को अपनी कृति की विवक्षा का विषय बनाया है। इस विषय का स्पष्टीकरण करते हुए स्वयं उन्होंने स्वीकार किया है कि जैसे-जैसे विश्वप्रपंच की असारता और मिथ्यारूपता की प्रतीति होती है वैसे-वैसे इसके विषय में वैराग्य होता जाता है।[2] यही कारण है कि महाभारत का मुख्य वर्णनीय गुणीभूत अन्य रसों से अनुगम शांत रस तथा गुणीभूत अन्य पुरुषार्थों से अनुगत मोक्ष रूप परम पुरुषार्थ है। सच तो यह है कि प्रधान रस के साथ अन्य रसों का अंगागिभाव होने पर भी उसका आत्मतत्त्व तो अंगी रस ही कहा जा सकता है क्योंकि उसी की सिद्धि कराना कवि का चरम लक्ष्य अथवा परम प्रयोजन होता है। एक प्रकार से अन्य विषयों का चित्रण उस परम तत्त्व की उपलब्धि के लिए उपक्रमणिका रूप है। जिस महाभारत में मानव-चरित्र की विविधता और अनन्तरूपता का अभिचित्रण कौरव-पाण्डवों के युद्ध को माध्यम बनाकर किया गया है, वह अन्ततोगत्वा भगवान् वासुदेव के सनातन कीर्ति-गान में ही पर्यवसित हुआ है।[3] इसी कारण विद्वानों ने अपना निर्णय देते हुए लिखा है कि महाभारत

---

१. ध्वन्यालोक, ४।६।

२. यथा यथा विपर्येति लोकतंत्रमसारवत्।
तथा तथा विरागो जायते नात्र संशयः॥

३. भगवान् वासुदेवश्च कीर्त्यतेऽत्र सनातनः।
सोहि सत्यऽमृतं चैव पवित्रं पुण्यमेव च॥
शाश्वतं ब्रह्म परमं ध्रुवं ज्योतिः सनातनम्।
यस्य दिव्यानि कर्माणि कथयंति मनीषिणः॥

में शांतरस और मोक्ष परमार्थ का प्राधान्य वाच्य रूप में न होकर व्यंग्य (ध्वनि) रूप से ही प्रदर्शित है।[1] इस विषय में हम ध्वनिकार का निम्नलिखित अभिमत उद्धृत करना आवश्यक समझते हैं जिसमें उन्होंने बतलाया है कि सारभूत अर्थ व्यंग्यरूप से प्रकाशित होकर ही काव्य-रचना का सौन्दर्य संवर्धित करता है—

"सारभूतो ह्यर्थः स्वशब्दानभिधेयत्वेन प्रकाशितः सुतरामेव शोभामावहति। प्रसिद्धिश्चेयमस्त्येव विदग्धविद्वत्परिषत्सु यदभिमततरं वस्तु व्यंग्यत्वेन प्रकाश्यते न साक्षाच्छब्दवाच्यत्वेनेव। तस्मात्स्थितमेतत्-अंगीभूतरसाद्याश्रयेण काव्ये क्रियमाणे नवनवार्थलाभो भवति बंधच्छाया च महती सम्पद्यत इति।[2]

काव्य-सर्जना का सामाजिक पक्ष

काव्य के वर्ण्य विषयों की अर्थव्याप्ति के प्रसंग में इस बात का उल्लेख करना भी आवश्यक है कि कवि की काव्यसर्जना मूलतः आत्मनिष्ठ होने पर भी सामाजिक दायित्व और गौरव से विहीन नहीं है। कहने के लिए हम काव्यकृति को आत्माभिव्यक्ति की परिसीमा में भले ही नियंत्रित कर दें, किंतु उसकी सामाजिक उपयोगिता की कदापि उपेक्षा नहीं की जा सकती। जिस प्रकार प्रतिभाशाली कवि का व्यक्तित्व सामाजिक पक्ष की उपेक्षा नहीं कर सकता, उसी प्रकार काव्य-कृति भी सामाजिक संस्पर्श से विहीन नहीं रह सकती। यही कारण है कि काव्य-रचनाओं का परीक्षण करते समय उनके सामाजिक पक्ष का विचार प्रारम्भ ही से किया जाता रहा है। प्राचीन आचार्यों का तो मत था कि काव्य-प्रबंध की समाप्ति के पश्चात् उसका प्रचार ऐसे रूप में होना चाहिए जिससे वह सभा-समाजों, विद्वद्वर्गों और सहृदयजनों के हृदय तक पहुँचे और वे उसका तात्त्विक मूल्यांकन कर सकें। महाकवि कालिदास ने इसी दृष्टिकोण के कारण 'आपरितोषात् विदुषां न साधु मन्ये प्रयोगविज्ञानम्' लिखा है। अपने काव्य को अधिकाधिक उदात्त और समाज-ग्राह्य बनाने के लिए कवि को अनवरत साधना करनी पड़ती है। कवियों का कर्तव्य है कि वे ऐसे दुर्व्यसनों से दूर रहें जो काव्य के पुनीत पथ में बाधक हों। काव्य-निर्माण के समय कवि की स्थिति किसी भी समाधिस्थ योगी से कम नहीं होती अतः उसे अपने दायित्व की गुरुता का अनुभव कर काव्य-निर्माण की क्रिया में किसी भी प्रकार का प्रमाद नहीं करना चाहिए। श्रेष्ठ कवियों की रचनाएँ न केवल विद्वद्समाज के कण्ठों की ही एकावली होती है अपितु वे अपनी प्रकृष्टता के कारण कवियों में भी ऐसी शक्ति का संचार करती हैं जिसके द्वारा उनकी प्रतिभा का परिष्करण और काव्य-सौन्दर्य का संवर्धन होता है। वस्तुतः काव्य-निर्माण भी एक प्रकार का तप है जिसकी सिद्धि के लिए कवि को निरालस भाव से कर्मतत्पर रहना वांछनीय है। जीवन के महासागर का पान करने के लिए कवि को अगस्त्य की भांति ही आक्रोशपूर्ण उत्तेजनों में नहीं आना है अपितु उसके क्षार को भी सहर्ष ग्रहण कर अपनी सर्जना के रूप में

१. ध्वन्यालोक, सं० आचार्य विश्वेश्वर, पृ० ३४७-४८।
२. वही, पृ० ३४८-३४९।

अमृत-निष्यंदिनी जीवन-धारा प्रदान करना है। कवि के कंठ में उतरकर जीवन का विष भी उसे भगवान शंकर की-सी नीलकण्ठता प्रदान करता है। वह अपनी मुक्तक रचनाओं में ही महान् नहीं होता अपितु प्रबंध-काव्यों की व्यापकता में भी विभुतापूर्ण होता है। अपनी दिव्य शक्ति के कारण ही वह 'कविमनीषी परभूः स्वयंभूः' पद का अधिकारी बना है। दृष्टि के प्रारम्भ ही से उसे समाज ने अमर सम्मान प्रदान किया है। उसे न केवल राजसमाजों से ही प्रतिष्ठा मिली है अपितु जनसमाजों के हृदय सिंहासन पर भी उसने समुचित समादार प्राप्त किया है। भारतीय समाज ने उसके गुणों की परीक्षा करने के उपरांत उसे सृष्टिकर्ता विधाता के समकक्ष माना है। भारत में लिंग और वय की ओर ध्यान न देते हुए गुण ही को पूजा का स्थान कहा गया है और इसी नीति के आधार पर कवियों को भी अलंकृत किया है। राजशेखर-कृत काव्यमीमांसा से प्रकट है कि प्राचीन काल में उज्जयिनी में काव्यकारों की परीक्षा होती थी तथा पाटलिपुत्र में शास्त्रकारों की। उन परीक्षाओं में उत्तम कोटि की सफलता प्राप्त करने के कारण ही कालिदास, भर्तुमेण्ठ, अमर, रूप, आर्यसूर, भारवि, हरिश्चन्द्र और चन्द्रगुप्त जैसे कवि काव्यकारों को महिमामयी श्रेणी में प्रतिष्ठित किये गये थे तथा उपवर्ष, वर्ष, पाणिनि पिंगल, व्याडि, वररुचि और पतंजलि को शास्त्रकारों की परीक्षा में सफलता प्राप्त करने का गौरव उपलब्ध हुआ था।

वर्ण्यविषयों की मौलिकता

काव्य-सर्जना के वर्ण्यविषयों की मौलिकता के विषय में विद्वानों में प्रबल मतविरोध है। जीवन के अन्य क्षेत्रों की भाँति काव्य-सर्जना के प्रति भी निराशावादी दृष्टिकोण लेकर चलने वाले विद्वानों का कथन है कि प्राचीन कवियों ने अपने प्रतिभा-प्रकर्ष द्वारा काव्यपथ को इतना अधिक प्रक्षुण्ण कर दिया है कि उसकी कोई भी वर्णनीय वस्तु उनके अलौकिक, तीक्ष्ण और सूक्ष्म दृष्टिकोण से अस्पृष्ट नहीं रह सकी है। ऐसे विचारकों के मतानुसार काव्य-विषयों के मौलिक प्रतिष्ठान के लिए कोई क्षेत्र ही अवशिष्ट न होने के कारण नवीन कवियों के लिए केवल इतना ही संभव है कि वे पुरावर्णित काव्य-वस्तु को अपनी अभिव्यंजनकला द्वारा सुसंस्कृत और सुसज्जित करने के प्रयत्न में ही तत्पर रहें। काव्य की अजस्र और चिरंतन धारावाहिकता का विचार करने पर विचारकों के उक्त कथन में सत्य का अन्वेषण करना कोई कठिन कार्य नहीं है, किंतु यह मत अपनी एकांगिता का उद्‌घोष भी स्वतः कर देता है। वस्तुतः वाणी का स्रोत असीम और अनंत है और सृष्टि के प्रारम्भ से लेकर अद्यावधि अनेक कवियों द्वारा उसका निरंतर प्रसार किये जाने पर भी उसकी नित्य-नूतनता में कोई क्षति हुई हो, ऐसा नहीं माना जा सकता। सृष्टि के उद्‌भव और विकास की भाँति कवि-प्रतिभा में भी मौलिक प्रस्फुरण के असंख्य रहस्य अन्तर्निहित हैं जिनका व्यावहारिक परीक्षण करना सुगम कार्य नहीं है। तत्त्वदृष्टि से काव्य के वर्ण्यविषयों की इयत्ता तथा परिसीमा का अनुमान नहीं लगाया जा सकता। प्रतिभाशाली कवियों ने वाणी के अविच्छिन्न, निर्बाध और अनादि स्रोत से अनेक प्रकार के मौलिक तत्त्व ग्रहण किये हैं, कर रहे हैं

और भविष्य में भी करेंगे। यदि किसी काव्यकार अथवा विवेचक को काव्य के वर्ण्य-विषयों की परिसीमा लक्षित होती है तो उसका एक प्रमुख कारण उसका दृष्टि-संकोच अथवा सीमित अनुशीलन है। काव्य-सर्जना की मौलिक स्पृहा लेकर चलने वाले काव्यकारों का कर्तव्य है कि वे अपने पूर्ववर्ती तथा समकालीन कवियों की कृतियों का सम्यक्रीत्या अध्ययन करें जिससे उनकी प्रतिभा और काव्यशक्ति का अभिनव परिष्कार एवं नूतन उन्मेष हो। हमारे व्यावहारिक अनुभवों से भी सिद्ध है कि अन्य कवियों की रचनाओं का निरंतर अवगाहन करने से अध्येता-कवियों को इस विषय का ज्ञान हो जाता है कि एक ही प्रकार के भावों का भिन्न-भिन्न कल्पनाओं और प्रणालियों से किस प्रकार अभिव्यंजन किया जाता रहा है। उस अनुशीलन से उनकी नवनवोन्मेषशालिनी प्रज्ञा में कोई मौलिक कल्पना अथवा नवीन संवेदना की भी सृष्टि हो सकती है। इस प्रकार का काव्यानुचिंतन काव्यनिर्माताओं को अनेक नवीन विषयों का उद्बोधन भी करा सकता है। संभव है, पुरातन कवियों के भाव-चित्र नवीन कवियों के मानस पटल पर ऐसी रहस्यमयी कल्पना-छबियों को रेखांकित कर दें जिनके कारण वे अभिनव उद्भावनाओं की क्रिया में सफल हो सकें। यों तो तत्त्वद्रष्टा महात्माओं की भाँति सूक्ष्मदर्शी कवियों के चिंतन में भी समभाव का प्रस्फुरण होना स्वाभाविक है और वे देशकाल की परिधि से विमुक्त होकर विश्वात्मभाव की-सी अनुभूति करते हैं जिसमें यद्यपि किसी भी प्रकार का आदान-प्रदान नहीं होता, तथापि उनका पारस्परिक विचार-विनिमय अथवा अध्ययन-अनुशीलन किसी न किसी प्रकार की नवीन उद्भाविका सामग्री भी प्रदान कर सकता है। ऐसी स्थिति में काव्यसर्जना के वर्ण्यविषयों की व्यापकता के प्रति आशामयी आस्था रखकर ही चलना श्रेयस्कर है।

कवि-समय अथवा काव्यरूढ़ियाँ

कवि-समय का अर्थ और उसकी उपयोगिता

भारतीय दृष्टि के आलोक में काव्य के वर्ण्यविषयों की व्याप्ति तथा उनके उद्भव-स्थलों की प्रमाण पुरस्सर विवेचना करने के पश्चात् अब हम इसी संदर्भ में 'कवि-समय' अथवा 'काव्यरूढ़ियों का निरूपण करना आवश्यक समझते हैं जिनमें भारतीय आचार्यों ने जाति, गुण, द्रव्य और किया संज्ञक चार प्रकारों में कवि-समय का वर्णन कर अपने वर्ण्यविषयों को प्रौढ़ि प्रदान करने की चेष्टा की है। यों तो कवि-समयों अथवा काव्य-रूढ़ियों का उद्भव और विकास सभी देशों के काव्य-साहित्य में उपलब्ध होता है, किन्तु भारतीय काव्य की विषय-व्याप्ति के प्रसंग में उसका उल्लेख करना विशेष आवश्यक है क्योंकि उनके नाम पर आचार्यों ने ऐसी अनेक रूढ़ियों का उल्लेख किया है जो काव्य-विषयों में अन्तर्व्याप्त होकर अपनी परम्परा और प्रयोग को नवीन आलोक प्रदान करने का सामर्थ्य रखती हैं। विद्वानों ने 'कविसमय' को लेकर इस बात का गम्भीर चिंतन प्रस्तुत करते हुए कवि-समय का सामान्य अर्थ कवियों का आचार या सिद्धान्त निर्दिष्ट कर उसकी विवेचना की है। शाब्दशास्त्र में इसका एक विशेष अर्थ

है जिसका तात्पर्यबोध कवियों की प्रचलित परम्परा से किया जा सकता है। कवि-समय की परम्परा अत्यंत प्राचीन है जिसका प्रयोग विविध प्रकार की काव्य-कृतियों में किया गया है। राजशेखर ने 'कविसमय' का स्वरूप-निर्धारण करते हुए लिखा है—'अशास्त्रीय मलौकिकं च परम्परायातं यमर्थमुपनिबध्नन्ति कवयः स कविसमयः, अर्थात् अशास्त्रीय और अलौकिक तथा केवल परम्परा प्रचलित, जिस अर्थ का कविजन उल्लेख करते हैं, वह कवि समय है।[1] इसका अभिप्राय यह है कि लोक और शास्त्र में ऐसी अनेक बातें हैं जो साधारणतया सत्य और वास्तविक नहीं प्रतीत होतीं किंतु काव्यकारों ने उनका परम्परा से प्रयोग किया है जिसके कारण वे काव्यगत रूढ़ियाँ या कवि-प्रौढ़ोक्तियाँ बन गई हैं और उन्हें सत्यवत् स्वीकार कर लिया जाता है। उन परम्पराओं के मूल में संभवतः सत्य का भी अंश हो किंतु समस्त कवि-प्रौढ़ोक्तियों को यथार्थ नहीं माना जा सकता। सभी देशों के काव्यकारों ने अपनी-अपनी संस्कृति के अनुकूल उन परम्पराओं का पालन किया है और वे सत्य न होते हुए भी सत्य से भी अधिक प्रभावशाली है क्योंकि उनका बहुत कुछ सम्बन्ध हमारे परम्परागत संस्कारों से है। यों तो साधारणतया लोक और शास्त्र विरुद्ध विषयों के वर्णन को एक प्रकार का काव्यदोष माना जाता है किन्तु 'कवि-समय' उसका अपवाद है क्योंकि वैसे वर्णनों से अनेक बार कवियों का उपकार ही होता है। हाँ, यह बात अवश्य है कि 'कवि-समय' के नाम पर स्वैरवादी उच्छृंखलता का प्रदर्शन नहीं होना चाहिए क्योंकि ऐसा करने पर काव्य-रस का अपकर्ष भी हो सकता है।

आचार्य राजशेखर ने कवि-समय को कवियों का केवल उपकारक ही नहीं अपितु काव्य-मार्ग का प्रदर्शक भी माना है। वे उसे किसी भी स्थिति में काव्यदोष के रूप में स्वीकार करने के लिए प्रस्तुत नहीं हैं। उनका मत है कि 'प्राचीन विद्वानों ने सहस्रों शाखा वाले वेदों का सांगोपांग अवगाहन, शास्त्रों का अवबोधन तथा देशान्तरों और द्वीपान्तरों का परिभ्रमण कर जिन वस्तुओं को देख-सुन और समझकर उल्लिखित किया है, उन वस्तुओं और पदार्थों का देश, काल और कारण-भेद होने पर अथवा विपरीत हो जाने पर भी उसी प्राक्तन और अविकृत रूप में वर्णन करना कवि-समय है।'[2] राजशेखर के मतानुसार 'कवि-समय के मूल तत्त्व को न जानने वाले कुछ लोगों ने उस शब्द का प्रयोग केवल प्रयोग को देखकर ही प्रचलित कर दिया है जिसके कारण वह रूढ़ हो गया है। उसके प्रयोगों में कुछ बातें ऐसी है जो प्रारम्भ से तो कवि समय के नाम से प्रसिद्ध रही हैं किन्तु कुछ बातें 'धूर्तों' ने परस्पर प्रतिस्पर्धा या स्वार्थ-साधन के लिए ही प्रसिद्ध कर दी है।[3] कवि-समय का आदर्श निदर्शन महाकवि कालिदास की रचनाओं के अध्ययन द्वारा हृदयंगम किया जा सकता है। उसका जितना अधिक महत्त्व राजशेखर ने स्वीकार किया है उतना अन्य आलंकारिकों ने नहीं। उन्होंने तो कवि-

---

१. काव्यमीमांसा, कविरहस्य, चतुर्दश अध्याय, पृ० १६०।
२. राजशेखर, काव्यमीमांसा, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना, पृ० १६१।
३. वही, पृ० १६२।

समय के अंतर्गत समाविष्ट की जाने वाली अनेक उक्तियों को लोकशास्त्र विरुद्ध दोष की श्रेणी में व्याख्यात किया है जिनकी युक्तिसंगत परीक्षा करने के पश्चात् ही उन्हें सुग्राह्य समझा जा सकता है।

कवि-समय के प्रकार और जातिगत कवि-समय

आचार्य राजशेखर ने तीन प्रकार का कवि-समय माना है—स्वर्ग्य, भौम और पातालीय। इन तीनों में भौम कवि-समय ही प्रधान है क्योंकि उसका क्षेत्र अत्यंत विस्तृत है। भौम कविसमय के चार रूप हैं—जाति, द्रव्य, गुण और क्रिया। शब्दार्थ के चार प्रकार होने के कारण कवि-समय भी चार प्रकार का होता है जिनके अर्थों में प्रत्येक के तीन-तीन भेद होते हैं—असत् का उल्लेख, सत् का अनुल्लेख तथा नियम। जो पदार्थ लोक और शास्त्र में देखा या सुना न गया हो, उसका काव्य-रचना में उल्लेख करना असत् का निबंधन है। उसके विपरीत शास्त्र और लोक में वर्तित पदार्थ का उल्लेख न करना सत् का अनिबंधन है तथा शास्त्र और लोक के नियमों से नियंत्रित एवं बहुधा व्यवहृत पदार्थ का उल्लेख करना जात्यादिगत नियम है। जातिगत अर्थ में असत् के निबंधन के उदाहरण नदियों में कमल और कुमुद आदि का वर्णन, समस्त जलाशयों में हंस और सारस आदि पक्षियों का वर्णन तथा सभी पर्वतों में सुवर्ण और रत्न आदि की खानों का चित्रण है। यद्यपि नदियों में कमल आदि असत् हैं तथापि कविसमय के अनुसार उनका वर्णन सरिता-प्रवाह के प्रसंग में किया जाता है। इसी प्रकार न तो सभी जलाशयों में हंस ही होते हैं और न सभी पर्वतों में सुवर्ण और न रत्न आदि, तथापि कवियों ने इस प्रकार का वर्णन कर कवि-समय परम्परा का ही पालन किया है। काव्य-कृतियों में जातिगत सत् के अनिबंधन के भी अनेक उदाहरण उपलब्ध होते हैं। उदाहरणार्थ वसंत में मालती के होने पर भी उसका वर्णन न करना तथा चन्दन के वृक्षों में पुष्पफल तथा अशोक में फल होने पर भी उन्हें पुष्पफल विहीन निरुपित करना आदि। जातिगत नियम के अन्तर्गत वे व्यवहार आते हैं जो अनेक स्थानों में प्रचलित होने पर भी एक ही स्थान में व्यवहृत किये जाते हैं जैसे मकर आदि का केवल समुद्र में ही वर्णन करना तथा ताम्रपर्णी नदी में ही मोतियों की उत्पत्ति बतलाना आदि।

द्रव्यगत कवि-समय के भेद

जातिरूप कवि-समय की भाँति द्रव्यगत कविसमय के भी तीन प्रकार हैं। असत् द्रव्य के उल्लेख का उदाहरण अन्धकार का मुष्टिग्राह्यत्व अथवा सूचीभेद्यत्व वर्णन करना एवं ज्योत्स्ना का कुम्भापवाह्यत्व अर्थात् घड़ों में भरा जाना वर्णित करना है। स्पष्ट है कि न तो अन्धकार मुट्ठी में पकड़ा जा सकता है और न चांदनी ही घड़ों में भरी जा सकती है, फिर भी कवियों ने कवि-समय के अनुसार इस प्रकार के वर्णन किये हैं जो आज भी सहृदय समाज का चित्ताह्लादन करते हैं। सद्द्रव्य के अनिबंधन के प्रमाण में कृष्ण पक्ष में ज्योत्स्ना की विद्यमानता होने पर भी उसका वर्णन न करना तथा शुक्लपक्ष में

अन्धकार के होने पर भी उसका अनिबंधन करना है। सच तो यह है कि प्रत्येक मास के शुक्ल पक्ष और कृष्ण पक्ष में चांदनी का रूप तो प्रायः एक-सा ही रहता है पर लोक-व्यवहार की भाँति कवि-व्यवहार में भी एक को उज्ज्वल पक्ष और दूसरे को तिमिर पक्ष कहा जाता है जिसमें एक प्रकार से 'कवि-समय' का ही अनुवर्तन है। द्रव्यगत नियम का उदाहरण मलयाचल में ही चन्दन की उत्पत्ति तथा हिमालय में ही भूर्जपत्रों का उद्भव वर्णित करना है। ऐसा करते समय कविगण इस तथ्य की ओर किंचिन्मात्र भी ध्यान नहीं देते कि चंदन तथा भूर्जपत्र अन्य स्थानों पर भी उत्पन्न हो सकते हैं। कवि-समय का यह सिद्धान्त कतिपय प्रकीर्णक द्रव्यों में भी घटित होता है। उदाहरणार्थ क्षीरसमुद्र की तथा क्षारसमुद्र की एकता निरूपित करते हुए दोनों ही प्रकार के समुद्रों में भगवान् विष्णु का शयन तथा लक्ष्मी की उत्पत्ति का वर्णन करना; यद्यपि वास्तविकता तो यह है कि क्षीर-समुद्र को ही उपर्युक्त दोनों कार्यों का श्रेय प्राप्त है किंतु कवि-समय ने क्षीरसागर में भी ऐक्य का निरूपण कर कवियों ने कवि-समय का ही निर्वाह किया है क्योंकि गंगा आदि नदियों का संगम एक सागर से होता है जबकि कविगण अपनी कवि परम्परा अथवा कवि-समय पद्धति का पालन करते हुए सागर के साथ सात समुद्रों की एकता का भी वर्णन कर देते हैं।

क्रियागत कवि-समयों के रूप

काव्य में क्रियागत रूपों के भी अनेक प्रकार कवि-समय में वर्णित हैं। असत् क्रियागत निबंधन का संबंध क्रियागत असत्य कल्पना से है। कवि-समय की सुदीर्घ परम्परा में रात्रिकाल में चक्रवाक-मिथुन का जलाशय के भिन्न-भिन्न तटों पर पृथक् रूप से रहना तथा चकोर पक्षी का ज्योत्स्नापान करना इसी प्रकार के निबंधन का प्रमाण है। व्यावहारिक दृष्टि से चक्रवाक-मिथुन की वियोग-क्रिया और चकोरियों की चन्द्रिकापान क्रिया असत् है तथापि कवि-समय के अनुसार इस प्रकार का वर्णन करना अनिवार्य है। क्रियारूप अर्थ में सत् का अनिबंधनत्व भी अत्यंत प्रसिद्ध है। उदाहरणार्थ दिन में नीलोत्पल (नीलकमल) का विकास न होना तथा रात्रि में शेफालिका के पुष्पों का शाखा से गिरना आदि वर्णन उपस्थित किये जा सकते हैं जिनमें केवल कवि समय निरूपित सिद्धान्त का ही कथनमात्र हुआ है। क्रियागत नियम के अन्तर्गत ग्रीष्म और वर्षाकाल में भी होने वाले कोकिला-कूजन का केवल वसंत में ही वर्णन करना तथा समस्त ऋतुओं में होने वाले मयूर-नृत्य एवं केकी ध्वनि को केवल वर्षागत निर्दिष्ट करना 'नियम' के अन्तर्गत विषय है। अभिप्राय यह है कि कवि-समय के अन्तर्गत जातिगत, द्रव्यगत और क्रियागत रूपों के तीन-तीन भेद होने से उनके नौ रूप बन जाते हैं।

गुणगत कवि-समय का विश्लेषण

राजशेखर ने गुणगत कवि-समय की स्थापना करते हुए लिखा है कि 'असत् अर्थात् लोक में अविद्यमान गुणों का निबंधन करना 'कवि-समय' के अनुसार है। इसका

स्पष्टीकरण करते हुए यह कहा जा सकता है कि भौतिक पदार्थों में तो शुक्लत्व, नीलत्व और पीतत्व आदि गुण होते हैं किंतु अमूर्त भावों में वे नहीं होते तथापि कवियों ने यश और हास्य जैसे अरूप विषयों का भी रूप-वर्णन करते हुए उन्हें श्वेत वर्ण के रूप में विवेचित किया है जो कवि-समय की परम्परा के ही अनुरूप है। अयश और पाप आदि का वर्णन कृष्ण रूप में करना तथा क्रोध और अनुराग आदि का वर्णन रक्त वर्ण के रूप में करना कवि-समय का ही परिपालन है क्योंकि इन पदार्थों की भावात्मक सत्ता होने के कारण केवल उनकी अनुभूति ही की जा सकती है। कवियों की कृतियों में यश की धवलता और हास्य की शुक्लता के अनेक उदाहरण उपलब्ध हैं। पाप और अयश की कालिमा तथा क्रोध और अनुराग की लालिमा का वर्णन करते हुए कवियों ने अनेक प्रकार के कल्पना-चित्र अंकित किये हैं। कवि-समय के इस गुणविधान में एक बात उल्लेखनीय है और वह यह है कि यद्यपि संसार में कुंदकलियों और कामियों के दाँतों का रक्तवर्ण तथा कमल कलियों का हरितवर्ण एवं प्रियंगु-पुष्पों का पीतवर्ण प्रसिद्ध है तथापि कवियों ने कवि समय की प्रसिद्धि के अनुसार उनका वर्णन श्वेत और श्याम वर्ण के रूप में किया है। इससे स्पष्ट है कि लोक में विद्यमान गुणों का अनिबंधन कवि-समय के अनुसार वर्णित होता है। यह भी देखा जाता है कि साधारणतः काव्य-रचना में माणिक्य का रंग लाल, पुष्पों का श्वेत तथा मेघों का कृष्ण वर्ण वर्णित करने की परम्परा केवल गुणनियमों के अनुकूल है। यद्यपि पुष्पों के अनेक वर्णन होते हैं तथापि स्मित के उपमान के रूप में पुष्पों के चित्रण में उनका केवल श्वेत रंग ही उल्लिखित होता है। कृष्ण और नील, कृष्ण और हरित, कृष्ण और श्याम, पीत और रक्त तथा शुक्ल और गौर रंगों का समान रूप से वर्णन करना भी 'कवि-समय' है। इसी प्रकार मिश्रित आदि वर्णों में भी एकता समझनी चाहिए। कवियों द्वारा आंखों का भी श्वेत, श्याम, कृष्ण और मिश्र आदि विविध वर्णों में वर्णन किया गया है, वह सब कवि समय के ही अनुरूप है। राजशेखर ने कवि-समय के अनुसार गुण वर्णन करने के अनेकविध उदाहरण प्रस्तुत किये हैं जिनमें न केवल उक्ति-चमत्कार और आलंकारिक उत्कर्ष ही है अपितु विविध विषयों और पदार्थों के गुणवर्णन के द्वारा उनकी वर्णोचित संगति भी सिद्ध करने की चेष्टा की गई है। राजा भोज की राजसभा में एक समस्या की पूर्ति करते हुए एक कवि महोदय को इस प्रयोजन से अपना मानसिक विषाद व्यक्त करना पड़ा था कि कहीं महाराज भोज की यश-धवलिमा उनकी प्रिया की अलकावली को धवल न बना दे। काव्य-रचनाओं में इस प्रकार की वाग्वैदग्ध्यपरक और चारु चमत्कृतिपूर्ण असंख्य रचनाएं मिल सकती हैं।

स्वर्ग्य तथा पातालीय कवि-समय

कवि-परम्परा में स्वर्ग्य और पातालीय कवि-समय वर्णन की भी पद्धति रही है जिसका परिपालन करते हुए कवियों ने अपनी रचनाओं को रुचिर और रमणीय बनाया है। उदाहरणार्थ चन्द्रमा में शश और मृग को किसने देखा है, किन्तु कवियों ने अत्यधिक सुदृढ़ता के साथ उनका काव्यगत वर्णन किया है। इसी प्रकार कामदेव के ध्वज-चिह्न को

कहीं मकर तथा कहीं मत्स्य रूप में चित्रित किया गया है जो उचित नहीं है, क्योंकि तत्त्वतः मत्स्य और मकर को ऐक्य समझकर ही उनका वर्णन करना युक्तिसंगत है। कवियों का कर्तव्य है कि वे चन्द्रोत्पत्ति के वर्णन के समय इस बात का ध्यान रखें कि पुराणों में चन्द्रमा की उत्पत्ति कहीं अत्रि ऋषि के नेत्र से वर्णित हुई है और कहीं समुद्र मंथन की वेला में समुद्र से। ऐसी स्थिति में कवियों के लिए उचित है कि वे उनके वर्णन-प्रसंग को पृथक्-पृथक् न समझें। यह भी एक कवि-समय का ही प्रताप है कि बहुकाल-जन्मा चन्द्रमा भगवान् शंकर के मस्तक पर बालरूप में ही वर्णित किया जाता है। कवियों ने न केवल अनंग कामदेव का वर्णन मूर्तरूप में ही किया है अपितु वे अमूर्त काम का वर्णन करने में भी कृतकृत्य हुए हैं। सूर्यशतककार मयूर कवि का मत है कि यों तो पुराणों में द्वादश सूर्यों की प्रचंडता का उल्लेख किया गया है, किन्तु कवि रचनाओं में उन्हें एक ही समझना चाहिए। इसी प्रकार नारायण और माधव का ऐक्य वर्णन और दामोदर, शेष तथा कूर्म आदि अवतारों का ऐक्य चित्रण उसी प्रकार कवि-समय के अनुरूप है जिस प्रकार कमला और सम्पदा की एकता का वर्णन। कवि-समय में चित्रित इन स्वर्ग्य विषयों की एकता के अतिरिक्त पातालीय कवि समयों का परिपालन भी कवियों की कृतियों में विद्यमान है। उदाहरणार्थ पाताल-निवासी नाग और सर्प दोनों भिन्न-भिन्न जाति के हैं क्योंकि शेष को नागराज तथा वासुकि को सर्पराज कहा जाता है, किंतु कवि-समय के अनुरोध से प्राचीन कवियों ने दोनों का वर्णन एक ही रूप में किया है। इसी प्रकार दैत्य, दानव और असुर—ये तीनों भिन्न-भिन्न जाति के हैं किंतु महाकवि बाणभट्ट ने कादम्बरी के मंगलाचरण में तीनों का वर्णन एक ही रूप में किया है। वस्तुतः सभी दैत्यों और दानवों को असुर कहना उचित नहीं है क्योंकि हिरण्याक्ष, हिरण्यकशिपु, प्रह्लाद, विरोचन, बली और बाण आदि दैत्य हैं; विप्रचिति, शंबर, नमुचि और पुलोम आदि दानव हैं तथा वल, वृत्र एवं वृषपर्वा आदि असुर हैं। कवियों ने उनके मूल अन्तर का ध्यान रखे बिना उनका जो काव्यगत वर्णन किया है, वह केवल कवि-समय के अनुसार है। सारांश यह है कि राजशेखर ने कवि-समय जैसे महत्त्वपूर्ण विषय का उद्घाटन कर निश्चय ही एक महत्त्वपूर्ण कार्य किया है क्योंकि इस विषय की ओर या तो अन्य आचार्यों का ध्यान ही नहीं गया था या उन्होंने इसको महत्त्वहीन समझकर इसकी उपेक्षा कर दी थी। राजशेखर ने इस विषय की महत्ता समझकर उसे काव्य-सुप्त नहीं रखा अपितु पुनः जागृत कर दिया।

पूर्व परिच्छेदों में कवि-समय अथवा काव्यरूढियों का जो विवेचन किया गया है, वह मुख्यतः हमारे भारतीय काव्य साहित्य की क्रमागत परम्पराओं से सम्बन्धित है। उसके अतिरिक्त विश्व-साहित्य के विभिन्न रूपों में भी इसी प्रकार का कवि-समय मिलता है जिसे अंग्रेजी में 'पोयेटिक कन्वेन्शंस' के रूप में व्याख्यात किया गया है। इन कवि-समयों का एक महत्त्वपूर्ण आधार उनका सांस्कृतिक धरातल है। आज जब विश्वजीवन के आलोक में विश्व-संस्कृति और विश्व-दर्शन के समन्वय की चेष्टा की जा रही है तो वाङ्मय के मधुरतम रूप काव्य-साहित्य के उत्स में प्रवाहित कवि-समयों की मूल चेतना का अध्ययन और अनुशीलन करते हुए उसे मानव-मन के सामान्य धरातल

पर विवेचित करना क्या कम स्पृहणीय अथवा न्यून रुचि का होगा? काव्य के अध्येताओं को इस दिशा की ओर ध्यान देते हुए कवि-समयों के महासागर से संस्कृति-प्रसूत रत्न-कणों के अनुसंधान का अवश्यमेव प्रयत्न करना चाहिए जिससे काव्य के वर्ण्य विषयों की अर्थव्याप्ति में नवीन ज्योति संचरित हो सके।

४

काव्य-सर्जना के हेतु-तत्त्व, प्रयोजन और प्रेरणाएँ

काव्य-सर्जना कवि की मानसी सृष्टि का प्रतिरूप है। उसमें उसका आत्मतत्त्व शब्दार्थमयी साधना में प्रतिफलित होता है। सभी देशों के काव्यशास्त्रियों ने अपनी-अपनी सांस्कृतिक मनोभूमियों पर काव्य-सर्जना के प्रेरक तत्त्वों, प्रयोजन-हेतुओं और उद्‌गम-स्रोतों का यथामति विवेचन किया है जिनसे अनेक प्रकार की रहस्यमयी उपलब्धियाँ होती हैं। यह एक उल्लेखनीय बात है कि काव्य-सर्जना की आदिकालीन प्रवृत्तियों के मूल में सभी देशों के विचारकों को दैवी प्रेरणा का सिद्धांत स्वीकार्य रहा है जो अनुकरण-प्रवृत्ति, आकांक्षा-पूर्ति, आत्माभिव्यक्ति, सौन्दर्यानुभूति और सर्जनात्मक कल्पना आदि विविध सोपानों को पार कर आज की वैज्ञानिक और भौतिक उन्नति के स्वर में अनेक प्रकार का नूतन रागोन्मेष कर रहा है। सच पूछा जाय तो अब काव्य की सर्जना का वह वैभवपूर्ण और आभिजात्यमय युग ही नहीं रहा जिसमें अतीत काल के कवि अपनी संवेदनाओं और अनुभूतियों को प्रातिभ-रस में आप्लावित कर उसके द्वारा नवनवोनमेषशालिनी भाषा-छवियाँ प्रदान करते थे। भारतीय दृष्टि में तो कवि-सर्जना विधाता की सृष्टि से किसी भी रूप में न्यूनतर न होकर लोकोत्तर ही मानी गई। काव्य-रस के प्रशंसकों ने उसे स्वर्गसुलभा सुधा से भी कहीं अधिक संजीवनी-शक्ति-सम्पन्न कहकर[१] विश्व-विषवृक्ष का एक मधुर फल स्वीकार किया है,[२] जिसके रसास्वाद से सहृदय व्यक्ति अलौकिक आनंदानुभूति प्राप्त करने में समर्थ हो सकते हैं। उसके सर्जक हेतु-तत्त्वों में 'प्रतिभा' को सर्वोपरि महत्त्व प्रदान करते हुए यहां के काव्यशास्त्रियों ने व्युत्पत्ति और अभ्यास आदि इतर हेतुओं को भी यथोचित मान्यता देने में संकोच नहीं किया है। भारतीय काव्यशास्त्र की रसध्वनिवादी दृष्टि तथा पाश्चात्य विचारकों की सौन्दर्यशास्त्रीय मान्यताओं के आधार पर इस विषय का गम्भीर और विशद विवेचन किया जा सकता है। काव्य के रूप-प्रकारों और वर्ण्यविषयों की व्याप्ति के पश्चात् अब हमें काव्य-सर्जना के उन प्रेरक (हेतु) तत्त्वों का विवेचन करना अधिक उपादेय एवं युक्तिसंगत प्रतीत होता है जिनसे अनुप्रेरित होकर कोई भी प्रतिभाशाली एवं शक्ति-सम्पन्न कवि अपनी संवेदनाओं को काव्यमयी वाणी प्रदान करता है। हमने इस विषय

---

१. कं पृच्छाम: सुरा स्वर्गे निवसामो वयं भुवि।
किंवा काव्यरस: स्वादु: किंवा स्वादीयसी सुधा॥

२. संसारविषवृक्षस्य द्वे एव मधुरेफले।
काव्यामृतरसास्वाद: सगम: सज्जनै: सह॥

का विवेचन मूलतः 'प्रतिभा' को ही सर्जना की एकमात्र निर्माणशक्ति मानकर किया है क्योंकि उसकी अभ्यर्थना और प्रशंसा में भारतीय दार्शनिकों, काव्यशास्त्रियों और कवियों ने अनेक प्रकार की अतिशयोक्तियाँ की हैं। प्रतिभा से ही सम्बद्ध व्युत्पत्ति और अभ्यास आदि काव्य-सर्जना के आनुषंगिक हेतु हैं जिनसे प्रतिभा का उपकार होता है अथवा जिन्हें प्रतिभा आलोकित करती है। किसी भी काव्यस्रष्टा में यदि उपर्युक्त विशेषताएं न हों तो वह उच्च कोटि की काव्य-सर्जना कर ही नहीं सकता। पश्चिमी साहित्य-मीमांसकों ने भी 'सहजानुभूति', 'स्वयंप्रकाश्य' और 'सर्जनात्मक कल्पना' आदि नामों से जिन विषयों का विवेचन किया है, वे भारतीय काव्यशास्त्र-वर्णित 'प्रतिभा-तत्त्व' के अत्यंत निकट हैं। हम उन सिद्धान्तों का विवेचन इसी शोध-प्रबंध के अन्तिम अध्याय के रूप में करेंगे। यहां पर तो हमें मूलतः भारतीय दृष्टि से केवल काव्य-सर्जना के प्रेरक हेतुओं का ही विमर्श करना अभीष्ट है।

काव्य-प्रयोजन का अभिप्राय

काव्य-सर्जना के प्रेरक-हेतुओं से सम्बद्ध विषय काव्य-प्रयोजनों का है जिनके सम्बन्ध में भारतीय आचार्य अत्यंत उदार और आदर्शवादी दृष्टि लेकर चले हैं। आचार्य भरतमुनि ने नाट्यवेद की विवेचना करते हुए उसे जिस रूप में चतुर्वर्ग की फल-प्राप्ति तथा रसानुभूति का आदिस्रोत निर्धारित किया है, वह प्रकारांतर से काव्य-प्रयोजनों का ही व्याख्यान है। आचार्य भामह से लेकर पंडितराज जगन्नाथ पर्यन्त सभी आचार्यों ने यश-लाभ, अर्थप्राप्ति, व्यवहार-बोध, शिवेतरक्षति, पर-निर्वृति और कांतासम्मित उपदेश आदि सुलाभों को काव्य-प्रयोजनों के रूप में विवेचित कर एतद्विषयक भारतीय अभिमतों का निदर्शन प्रस्तुत किया है। इन काव्यप्रयोजनों का समाहार पाश्चात्य दृष्टि से निरूपित काव्य-प्रयोजनों के संदर्भ में भी किया जा सकता है। काव्यहेतु और काव्य-प्रयोजन मूलतः काव्य-प्रेरणाओं के ही प्रतिरूप हैं, अतः इसी अध्याय के अन्त में काव्य-प्रेरणाओं का भी सामान्य परिचय दिया गया है जिससे इस तत्त्व की सहजभाव से उपलब्धि हो सके कि भारतीय मनीषियों ने जीवन की एषणाओं और प्रेरणाओं को किस प्रकार एक ही सूत्र में संग्रथित किया था। सच तो यह है कि प्रत्येक कार्य के रूप-विधान अथवा संचालन में प्रेरणा-तत्त्व ही उसका उद्गम-स्रोत है जिसकी प्रक्रिया के बिना उसका प्रस्फुरण हो ही नहीं सकता। काव्यशास्त्र के विवेचकों ने भी उस तत्त्व का सहज महत्त्व स्वीकार किया था जिसकी व्याख्या करते हुए हमने यह अध्याय समाप्त किया है।

काव्य-सर्जना और जीवन-दृष्टि

काव्य-सर्जना के प्रेरक हेतुओं और प्रयोजनों को चाहे किसी भी रूप में व्याख्यात किया जाय, यह एक सुनिश्चित धारणा है कि काव्य-सर्जक की रागात्मक अनुभूतियों की जीवन-संघर्षगत प्रतिक्रियाएं जब तक भाषा का परिधान धारण नहीं करतीं, तब तक काव्य-सर्जना का कलात्मक संसार साकार नहीं बन सकता। जीवन की उर्वर भूमि में

प्रविष्ट होते ही कवि-प्रतिभा का अंकुरण काव्य-सर्जना के बहुविध रूपों और प्रकारों का प्रस्फुटन और पल्लवन करने लगता है जिसका प्रसार हम काव्य-जगत् की भाव-भंगिमाओं में अनुभूत करते हैं। वस्तुतः व्यष्टि से समष्टि का सम्मिलन तथा दोनों की पारस्परिक क्रिया-प्रतिक्रियाएं भी काव्य-सर्जना के हेतु-तत्त्वों में सन्निहित रहती हैं। जीवन-यात्रा के संचालन में जिस प्रकार आदर्श और यथार्थ के दृष्टिकोण उसकी समस्याओं का समाधान करने की दिशा में प्रेरणाएं प्रदान करते हैं, उसी प्रकार काव्य-सर्जना की वेला में कवि-कलाधर भी उन्हीं की भाव-रश्मियों का सुशीतल और सुमधुर आलोक संतृप्त संसार के परिशमनार्थ विकीर्ण करने में समर्थ होते हैं। उनके निर्माण के मूल में चाहे किसी भी प्रकार की प्रेरणा रही हो, किंतु वे यथार्थ और आदर्श की जीवन-दृष्टि का आधार लिये बिना अपनी सर्जनात्मक शक्ति को सफल बना ही नहीं सकते। काव्य-सर्जना का प्राथमिक रूप यदि यथार्थ की भाव-लहरियों से आन्दोलित रहा है तो उसका उत्तरवर्ती अंश आदर्श की रंगीनियों में विश्रान्ति प्राप्त कर सका है। दोनों ही रूपों में जीवन की समस्याओं का अभिचित्रण समाहित है जो 'यथार्थ' की दृष्टि से जीवन की प्रकृत संवेदनाओं की रागमयी अभिव्यंजना करता है तो 'आदर्श' के प्रतिमान से उसे कर्तव्यनिष्ठा और नैतिकता का कान्तासम्मित उपदेश देता है। सच पूछा जाय तो यथार्थ और आदर्श के संतुलित सामंजस्य में ही जीवन की पूर्णता है जो काव्य-सर्जना का भी अभिप्रेत है तथा जिसकी सिद्धि ही काव्य-जगत् की सफलता है।

संस्कृति और सौन्दर्य-बोध का काव्य-सर्जनागत महत्त्व

काव्य-सर्जना के प्रेरक तत्त्वों और प्रयोजनों का विवेचन अत्यंत व्यापक और गम्भीर विषय है जिसकी सम्यक् विवेचना के लिए एक स्वतंत्र शोध-कृति की आवश्यकता है। संस्कृति और सौन्दर्यबोध के जितने भी भव्य और रमणीय रूप हो सकते हैं, वे सब उसकी आधारभूमि में संचरण करते हुए प्रदर्शित होते हैं। भारतीय और पाश्चात्य विद्वानों ने ज्ञान और सौन्दर्यबोध के विविध आयाम निर्धारित कर उन्हें काव्य-सर्जना के प्रेरक हेतुओं में किसी न किसी रूप में स्थान दिया ही है। इसका कारण यह है कि ज्ञान और सौन्दर्यबोध को मानव-जाति की सतत साधना का ऐसा प्रकृष्ट प्रतिफल कहा जा सकता है जिसका आदि उत्स अथवा मूल धरातल मनुष्य की आत्मचेतना का वह सहज स्फुरण है जो देश और काल की परिस्थितियों से अनाविल रहकर काव्य-सर्जना अथवा वाङ्मय-वैभव के विविध रूपों में अपना अभिव्यंजन करता है। विद्वानों ने उनके जिन देशकालजन्य विभेदों और संस्कृत्युद्भूत प्रकारों का विवेचन किया है, वे भी अपना व्यवहारगत महत्त्व अवश्य रखते हैं, किन्तु अद्वैत दृष्टि से विचार करने पर उन सबका परम रहस्य एक ही परम तत्त्व सिद्ध होता है जिसकी सिद्धि काव्य-सर्जना के आत्मतत्त्वों के आकलन द्वारा भी की जा सकती है। अध्ययन की सुविधा की दृष्टि से हम उनकी पृथक्-पृथक् सत्ताओं का विश्लेषण कर भले ही उनकी उपयोगिता का स्वतंत्र निरूपण करें किंतु उनके अन्तः सूत्रों का सम्बन्ध इतना प्रगाढ़ और अविच्छेद्य है कि उसे सर्वथा निरपेक्ष वृत्ति से स्पष्ट नहीं किया जा सकता। मानव-सृष्टि के अनंत विकास में

उनकी स्थिति उन खगोलवर्ती नक्षत्रों की भांति है जो अपनी स्वतंत्र सत्ता रखते हुए भी पारस्परिक आकर्षण से अनुविद्ध हैं तथा जिनका शक्तिदौर्बल्य अथवा विकर्षण उनके पतन अथवा विनाश का कारण बनता है। काव्य-सर्जना के वैभव और विराट उपकरणों की संघटना में सौन्दर्य-बोध का वह स्वरूप-विकास अपने आप में इतना व्यापक विषय है कि उसका स्वतंत्र विवेचन करने पर ही उसके मौलिक तत्त्वों का आभास प्राप्त किया जा सकता है। यहां पर तो हमें केवल इतना संकेत करना ही अभीष्ट है कि ज्ञान-विज्ञान के प्रसार और देशकाल के वैभिन्नय से मनुष्य ने अपना जो कुछ वैचारिक विकास किया है वह उसके सौन्दर्य-बोध के तत्त्वोद्‌घाटन का एक प्रमुख आधार है क्योंकि मनुष्य की 'रुचि' ही सौन्दर्यव्यंजना के उपकरण जुटाती है और 'रुचि-निर्माण' के मूल में व्यष्टि और समष्टि के अनेक बाह्य तत्त्वों और आभ्यंतरिक पक्षों का संभार रहता है जिनका विमर्श किये बिना काव्य-सर्जना के प्रेरक तत्त्वों और प्रयोजनों का रूप-बोध नहीं दिया जा सकता। कला, दर्शन, धर्म, समाज और साहित्य के जिस संश्लिष्ट स्वरूप को 'संस्कृति' पद से संज्ञित किया जाता है वह हमारे आत्ममंथन का ही तो नवनीत है और उसकी सुस्पष्ट व्यंजना के बिना न तो काव्य-सर्जना और कलाकृतियों की कमनीयता ही हृदयंगम की जा सकती है और न वाग्विलास का वैदग्ध्य ही व्यक्त हो सकता है। अपनी संकीर्ण भावनाओं और दुराग्रहणपूर्ण मनोवृत्तियों के कारण हम भले ही संस्कृति के सर्वसुलभ स्वरूप को क्षत-विक्षत करते हुए उसकी उच्चावचता का निर्णय करें, किन्तु उसकी अन्तःसलिला में मानवमात्र के कल्याण और आत्मविकास के सहज तत्त्व प्रवाहित है जिनका विश्वात्मवाद से कोई विरोध नहीं है। वस्तुतः संस्कृति के निकष पर ही आत्माभिव्यंजन के विविध रूप (काव्य और कला आदि) सम्यक् रीत्या व्याख्यात किये जा सकते हैं क्योंकि जिन तत्त्वों से संस्कृति का संगठन होता है, वे आत्माभिव्यक्ति के प्रकारों में उनके शिल्पतंत्र के अनुकूल आकार ग्रहण करते हैं। इस प्रकार संस्कृति ही हमारे ज्ञान और सौन्दर्य-बोध के विकास की उपजीव्य-निधि है जिसकी रुचिर रमणीयता काव्य-सर्जना के रूपविलास में प्रेरणा की उपादान सामग्री बनकर उपस्थित होती है।

(१) काव्य-सर्जना में प्रतिभा-तत्त्व का प्रदेय

'प्रतिभा' काव्य-विद्या के प्रस्फुरण की आदि-जननी है। आचार्यों ने काव्य-हेतुओं का विवेचन करते हुए उसे सर्वोपरि महत्ता प्रदान की है। संस्कृत काव्यशास्त्र में उसका गुण-संस्तव किसी न किसी रूप में यत्र-तत्र सर्वत्र किया गया है। यों तो काव्य-सर्जना के हेतु-तत्त्वों में व्युत्पत्ति और अभ्यास को भी अभीष्ट गौरव प्राप्त रहा है, किंतु 'प्रतिभा' के सम्मुख वे भी नतमस्तक हैं। इसका कारण यह है कि प्रतिभा काव्य-सर्जना की मूल एवं बीजरूपा आदि-शक्ति है जिसके अभाव में श्रेष्ठ निर्माण की कल्पना की ही नहीं जा सकती। काव्य के अन्य हेतुओं का सापेक्षिक महत्त्व होते हुए भी वे प्रतिभा की ज्योतिर्मयता प्राप्त नहीं कर सकते, यह एक सुनिश्चित धारणा है।

काव्य-सर्जना की आद्य शक्ति के रूप में प्रतिभा-तत्त्व का जो विवेचन किया जाता है वह केवल काव्यशास्त्र पर्यन्त ही सीमित न होकर अध्यात्म विद्या तक भी व्याप्त है। काश्मीरिक शैव दर्शन में उसे विश्व-सर्जना की मूल शक्ति के रूप में प्रतिष्ठित किया गया है। आचार्य अभिनवगुप्त ने प्रतिभा के साथ-साथ 'स्वातंत्र्य' शक्ति का उल्लेख करते हुए 'घटकर्परकुलक-विवृति' के अंत में लिखा है कि 'स्वातंत्र्य के कारण ही कवि काव्य में गुण और दोष के बीच तत्काल विवेक करते हैं अन्यथा न दोष दोष हैं और न गुण गुण ही। इस प्रकृति मधुर स्वातंत्र्य-रूप प्रतिभा-शक्ति के कारण ही कालिदास जैसे कवि के काव्य में सर्जन-सम्बन्धी नियमों का अतिक्रमण भी सुभग भाव में परिणत होता है।[1] प्रत्यभिज्ञा-दर्शन की एक परवर्ती विशेष शाखा 'क्रम-सिद्धान्त' के प्रतिपादक आचार्य महेश्वरानंद ने 'महार्थमंजरी' नामक ग्रंथ में 'भाषा' शक्ति के रूप में एक प्रकार से प्रतिभा-तत्त्व का ही विमर्श किया है। उन्होंने 'भाषा' को सृष्टि के पंच तत्त्वों में एक प्रमुख तत्त्व मानकर 'प्रतिभा, 'स्वातंत्र्य' और 'चित् शक्ति' का पर्याय माना है। उनके मतानुसार 'भासा' शक्ति चिन्मयी और सर्वगर्भिणी होने के साथ-साथ अपने स्वभाववश शिव के साथ एकात्म भाव रखती है और उसमें अखिल विश्व उसी प्रकार प्रतिबिम्बित होता है जिस प्रकार दर्पण में नगर आदि प्रतिबिम्बित होते हैं।[2] महेश्वरानंद ने उसे 'स्वातंत्र्यरूपा' तथा भगवान् परमेष्ठी की अनिर्वचनीय चित् शक्ति भी कहा है जिसका साम्य तंत्रालोक-वर्णित 'चित्' अथवा 'विमर्श' के साथ किया जा सकता है।[3] 'कुल-सिद्धांत' की मान्यता में प्रतिभा की उच्चतम आध्यात्मिक भूमिका 'परा-प्रतिभा' है जिसे 'कौलिकी शक्ति' का नाम दिया गया है। यदि हम चाहें तो उसे व्याकरण-दर्शन की 'परा-शक्ति' की कोटि में रख सकते हैं।

आचार्य अभिनवगुप्त ने 'परा-प्रतिभा' के नाम से जिस चिन्मयी शक्ति का विवेचन किया है वह परमनादरूप 'परा' और काव्योत्सभूत 'प्रतिभा' का सुन्दर समन्वय है। उनका कथन है कि काव्य-प्रतिभा के अन्तर्गत काव्य में व्यक्त होने वाले समस्त काव्यतत्त्व उसी प्रकार अधिष्ठित हैं, जिस प्रकार 'परा-प्रतिभा' में सभी पदार्थ अपने अनन्त रूपों के साथ प्रतिबिम्बित होते हैं।[4] 'परा-प्रतिभा' की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि वह विश्व के समस्त पदार्थों के वैचित्र्य को अन्तर्भुक्त रखती है और उसमें पश्यंती आदि वाक्शक्तियों का भी सहज समाहार हो जाता है। किसी अन्य शक्ति की अपेक्षा के बिना यह सम्पूर्ण विश्वात्मतत्त्व को प्रतिबिम्बित करने में समर्थ है तथा अपने प्रथम और मौलिक संविद् रूप के कारण अनुत्तरा भी कही जाती है।[5]

---

१. न वै दोषा दोषा न च खलु गुणा एव च गुणाः।
निबुद्धः स्वातंत्र्यं सपदि गुणदोषान्विभजते ॥
इयं सा वैदग्धी प्रकृतिमधुरा तस्य सुकवेः।
यद त्रो त्यादादप्यति सुभगभावः परिणतः।

२. महेश्वरानंद, महार्थ-मंजरी, १०५।

३. तंत्रालोक, २।७४।

४. डा० कांतिचंद्र पाण्डे, अभिनवगुप्त, एन हिस्टॉरिकल एण्ड फिलासाफिकल स्टडी, पृ० १२९।

५. तंत्रालोक, २।७४ तथा परात्रिंशिकाविवरण, १०२।

आचार्य अभिनवगुप्त ने 'तंत्रालोक' के त्रयोदश आह्निक में परम शक्ति के रूप में प्रतिभा का विवेचन करते हुए 'प्रातिभज्ञान' का भी परामर्श किया है। उन्होंने प्रातिभज्ञान को 'महाज्ञान' तथा प्रातिभज्ञान सम्पन्न व्यक्ति को 'चिन्तामणि' पद की संज्ञा दी है।[1] प्रातिभज्ञान के कारण व्यक्ति सब कुछ उपलब्ध करने में समर्थ होता है और उसे किसी बाह्य साधन या आचार्य की सहायता अपेक्षित नहीं होती।[2] उनके मतानुसार प्रातिभज्ञान अतीन्द्रिय और बुद्धि से परे है, क्योंकि बुद्धि में एक प्रकार की जड़ता होती है जिसके कारण वह अपने विषय को इन्द्रियज्ञान तथा भेद के कारण ग्रहण करती है जबकि प्रतिभा का ज्ञेय विषय के साथ अभेद सम्बन्ध है और वह बुद्धि से भिन्न 'स्वयं चित' अथवा 'संवित्' का पर्याय है।[3] प्रतिभा-सम्पन्न व्यक्ति 'विवेक' के माध्यम से 'शुद्ध विद्या' अथवा सद्‌विद्या के स्तर पर पहुंच जाता है जो शैव दर्शन की सर्वोपरि भूमिका है।[4] यदि आध्यात्मिक स्तर पर प्रतिभा स्वच्छ दर्पण के समान शिव के बहिरंतर को तत्काल प्रतिबिम्बित करती है तो काव्य के स्तर पर भी समस्त काव्यात्मक विषयों को भी अविलम्ब भाव से प्रतिभासित कर सकती है।[5] काव्य के क्षेत्र में कविगत प्रतिभा ज्ञान और सर्जना के द्विविध रूपों में व्याख्यात हुई है जिसके नवनवोन्मेषशाली सर्जना-पक्ष और ज्ञान-पक्ष को ध्यान में रखकर उसे कारयित्री और भावयित्री की अभिधा से विवेचित किया गया है।

परम माहेश्वर अभिनवगुप्त ने प्रतिभा को भगवती शिवा (पार्वती) उपमित करते हुए उसकी अलौकिक शक्ति की वंदना की है। उनके मतानुसार प्रतिभाशिवा में ऐसी उन्मीलन-शक्ति है जिसके द्वारा क्षण भर में विश्व उन्मीलित हो जाता है तथा जो अपने आत्मरूपी आयतन में विश्रान्त रहती है।[6] अभिनवगुप्त के कथन का यह अभिप्राय है कि जिस प्रकार आदिशक्ति शिवा अपनी उन्मीलनशक्ति द्वारा अखिल विश्व को उद्‌भासित कर देती है, उसी प्रकार कवि के अन्तःकरण में प्रादुर्भूत प्रतिभा अपनी सर्जनशीलता द्वारा नामरूपात्मक विश्व की विभिन्न वस्तुओं को ऐसे रस-संवेद्य रूप में प्रतिभासित करने में सक्षम है जिसे अत्यंत लोककल्याणकारी और आनन्दमय कहा जा सकता है। प्रतिभा का यह शिवारूप सभी देशों के काव्य-साहित्य में किसी न किसी विधान में सुमान्य रहा है जिसका विशेष विवेचन यथास्थान किया गया है वह केवल काव्य-सर्जना की आदिशक्ति ही नहीं, अपितु वाक्‌तत्त्व की अधिष्ठात्री देवी भी है। वेदों और उपनिषदों में भी उसकी स्वरूप-शक्ति का बहुविध गुणगान किया गया है जिसे हम वाक्‌तत्त्व की विवेचना से प्रसंग में निरूपित कर चुके हैं।

---

१. तंत्रालोक, १३।९५-९७।
२. वही, १३।८०।
३. वही, १३।१२० पर टीका।
४. वही, १३।११८।
५. वही, १३।११५।
६. यदुन्मीलनशक्त्यैव विश्वमुन्मीलति क्षणात्।
स्वात्मायतनविश्रांतां तां वदे प्रतिभां शिवाम्॥

भारतीय विचारधारा में प्रतिभा को एक ऐसी नैसर्गिक शक्ति और प्राक्तन संस्कारजन्य सहज वृत्ति के रूप में भी विवेचित किया गया है जिसका अधिवास प्राणिमात्र की चेतना में सन्निहित रहता है।[1] अन्तर केवल इतना ही है कि सामान्य जीव-कोटियों में वह प्रतिभा अज्ञानावरण से आच्छादित रहती है जबकि शक्ति-सम्पन्न कवियों की अंतःप्रज्ञा पर इस प्रकार का कोई आवरण नहीं रहता। आचार्य अभिनवगुप्त ने प्रतिभा के दिव्य प्रकाश को उस रत्नकांति से उपमित किया है। जिस पर किसी भी प्रकार का धूलिपटल नहीं है तथा जो अपनी स्वतंत्र प्रभा से उद्भासित रहता है। आचार्य हेमचन्द्र के शब्दों में कहा जा सकता है कि जिस प्रकार प्रकाशस्वभाव सूर्य पर छाये हुए आवरणरूप मेघों का क्षय अथवा उपशमन होने पर चैतन्यप्रकाश आलोकित हो उठता है, उसी प्रकार सहजा प्रतिभा के कारण कविचैतन्य भी प्रोद्भासित होकर अपना ही उज्ज्वल प्रकाश काव्यकृति के रूप में विकीर्ण करता है।[2] प्रतिभा की लोकोत्तरता का विचार करके ही आचार्य महिमभट्ट ने उसे भगवान् शंकर के तृतीय नेत्र के तुल्य कहा है जिससे कालत्रय के पदार्थों का साक्षात्कार किया जाता है।[3] वस्तुतः प्रातिभज्ञान 'अनौपदेशिक' और 'शास्त्राचार्यानपेक्षी' है जिसकी दिव्यता को विचारपथ में रखते हुए आचार्य अभिनव ने उसे 'महाज्ञान' की संज्ञा प्रदान की है।[4] 'ईश्वर-प्रत्यभिज्ञा-विमर्शिनी' के प्रसिद्ध टीकाकार आचार्य भास्कर कंठ ने प्रकाशित करने के कारण ही प्रतिभा को प्रतिभा माना है क्योंकि उसके द्वारा प्रमाता का संवेदन प्रकाशमान होता है। उन्होंने 'प्रतिभाति घटः' पद की व्याख्या करते हुए 'घट का स्वकीय वपु प्रकाशित होता है' के विषय-सापेक्ष पक्ष का खण्डन किया है क्योंकि उनकी मान्यता है कि प्रतिभा के प्रकाशन में प्रमाता का स्वसंवित् ही प्रधान है जो अपने आपको प्रकाशित करता हुआ अन्य बाह्य पदार्थों को भी प्रकाशित करता है। सामान्य ज्ञान की तुलना में प्रातिभज्ञान का वैशिष्ट्य निरूपित करते हुए उन्होंने उसे 'झटिति-प्रत्यय' असंलक्ष्यक्रम, प्रत्यक्ष और साक्षात्कारात्मक कहा है जिसका अभिप्राय यह है कि उसे किसी अन्य ज्ञान की तुल्यकक्षता नहीं प्रदान की जा सकती। आचार्य राजशेखर ने स्मृति, मति और प्रज्ञा संज्ञक त्रिविध बुद्धियों का उल्लेख करते हुए जिस प्रकार की पर्यवेक्षण शक्ति को प्रतिभा माना है, उसका उल्लेख यथास्थान किया गया है। अभिप्राय यह है कि प्रतिभा का सम्बन्ध प्रत्यक्षकल्प दिव्य दृष्टि से है जिसमें कालत्रय का अवबोध करने की सहज क्षमता होने के कारण ही उसे असाधारण गुरुता प्रदान की गई है।

भारतीय वाङ्मय में ऋषयः मंत्रदृष्टारः की जो श्रुति विख्यात है उसके मूल में

---

१. यन्मूलं शासनं तेन न रिक्तः कोऽपि जंतुकः। न च तेन प्रतिभात्मना वस्तुना तिर्यक्प्रायोऽपि कश्चिज्जंतुं स्वोचितव्यापारनैपुण्यान्यथानुपपत्त्या रिक्तः।—तंत्रालोक, १३।८९।

२. सावरणक्षयोपशममात्रात् सहजा। सवितुरिव प्रकाशस्वभावस्यात्मनो भ्रूपटलमिव ज्ञानवरणीयाद्यावरणम्, तस्येदि तस्य क्षयेऽनुदितस्योपशमे च यः प्रकाशाविर्भावः सा सहजा प्रतिभा।

—काव्यविवेक, पृ० ७६।

३. महिमभट्ट, व्यक्तिविवेक, २।११८।

४. तंत्रालोक, १३।८७।

भी 'प्रत्यक्षकल्प दृष्टि प्रतिभा' का ही सिद्धान्त अंतर्निहित है। 'कवि' को मनीषी कहने का तात्पर्य केवल इतना ही है कि उसकी मनीषा में भी ऋषियों की-सी क्षमता होती है जिसके कारण वे भी अनागत और परोक्ष विषयों को 'करतलामलकवत्' दृश्यमान कर लेते हैं। उनका ज्ञान वस्तुतः संकल्पात्मक ज्ञान होता है जो बुद्धि का विषय न होकर आत्मानुभूति से सम्बद्ध रहता है। यदि हम चाहें तो उस ज्ञान को निर्विकल्प और प्रातिभज्ञान से अभिहित कर सकते हैं। अंग्रेजी में 'इण्ट्यूशिव नॉलेज' तथा 'नानडिसर्कसिव नॉलेज' आदि जो शब्द प्रचलित हैं, उनमें भी उपर्युक्त प्रातिभज्ञान का एक विशेष रूप अन्वेषित किया जा सकता है। काश्मीरिक शैव दर्शन में 'प्रत्यभिज्ञा' की संज्ञा से जो विवेचना की गई है, वह उस ज्ञान के यथेष्ट निकट है क्योंकि शैव दर्शन के अनुसार 'ज्ञातस्यापि विशेषतो निरूपणमनुसंधानात्मकमत्र प्रत्यभिज्ञानं न तु तदेवेदमित्येतावन्मात्रम्,'[1] 'ही प्रत्यभिज्ञान है जिसका अर्थ यह है कि प्रत्यभिज्ञान में वही यह है या केवल इतना ही है का ही निरूपण नहीं किया जाता अपितु ज्ञात का भी विशेष रूप से अनुसंधान किया जाता है।[2] प्रतिभा को नवनवोन्मेषशालिनी प्रज्ञा कहने का प्रयोजन भी यही है कि उसमें स्पंदपरक संवित् का सतत नूतन स्फुरण होता रहता है। आचार्य आनंदवर्धन के कवि-सृष्टि की अलोक-सामान्य अभिव्यक्ति की अपूर्वता का विश्लेषण प्रतिभातत्त्व के माध्यम से ही किया है और उसे सामान्य प्रतिभा न कहकर 'प्रतिभाविशेष' कहा है जिसकी व्याख्या करते हुए आचार्य अभिनवगुप्त ने प्रतिभा का 'विशेष' काव्य-निर्माण की उस क्षमता को माना है जो रसावेश के कारण उत्पन्न वैशद्ययुक्त सौन्दर्यरूप होता है तथा जिसके द्वारा महाकवियों का प्रज्ञा-नैर्मल्य ऐसी काव्य-सर्जना करने में समर्थ होता है जो देशकालादि के बंधनों से विनिर्मुक्त और लौकिक विषयों का लोकोत्तर साधारणीकरण कराने में सक्षम हो।[3] कवि-प्रतिभा का आश्रय ग्रहण कर हमारे लोक-व्यवहार किस प्रकार की काव्यानुभूति में परिवर्तित हो जाते हैं, इसका विवेचन हमने 'रस का स्वरूप' विवेचित करते हुए 'लोक-व्यवहार और काव्यानुभूति' उपशीर्षक के अन्तर्गत किया है। यहां तो प्रतिभा-तत्त्व के संस्तव का केवल इतना ही उद्देश्य है कि उसे काव्य-सर्जना की आदिशक्ति स्वीकार किया जाय क्योंकि आज तक जो कुछ भी श्रेष्ठ काव्य की सर्जना हुई है वह मूलतः प्रतिभा-तत्त्व का ही सुखद परिणाम है। प्रतिभा का माहात्म्य शब्दशक्ति विवेचकों को भी सुमान्य रहा है जिसके कारण उन्होंने व्यंजना और ध्वनि को भी प्रतिभा के प्रतिमान से ही प्रमाणित किया है।

प्रतिभा का स्वरूप-विश्लेषण

संस्कृत काव्याशास्त्र के प्रायः समस्त आचार्यों ने प्रतिभा के स्वरूप-विश्लेषण और महत्त्व-प्रतिपादन का प्रयास किया है। राजशेखर ने काव्यमीमांसा के अंतर्गत प्रतिभा

१. ध्वन्यालोक, १।६ की विवृत्ति।
२. वही, पृ० ९२।
३. ध्वन्यालोकलोचन, पृ० ९४ तथा अभिनवभारती, पृ० ३४५-६।

की परिभाषा करते हुए उसे 'या शब्दग्राममर्थसार्थमलंकारतंत्रमुक्तिमार्गमन्यदपि तथाविधमधिहृदयं प्रतिभासयति सा प्रतिभा' कहा है जो अभिनवगुप्त ने 'अपूर्ववस्तुनिर्माणक्षमा प्रज्ञा को प्रतिभा का स्वरूप-लक्षण निर्दिष्ट करते हुए उसकी व्याख्या वर्णनीयवस्तुविषयनूतनोल्लेखशालित्त्वं' के रूप में की है। मम्मट के अनुसार 'कवित्व बीजरूप संस्कारविशेष शक्ति' का नाम प्रतिभा है तो भट्टतौत के मत से 'नवनवोन्मेषशालिनी प्रज्ञा' को ही प्रतिभा कहा जा सकता है। वाग्भट ने सत्कवि की उस सर्वतोमुखी बुद्धि को प्रतिभा माना है जो 'प्रसन्नपदनव्यार्थयुक्त्युद्बोधविधायिनी' होने के कारण अपना सर्वत्र प्रस्फुरण करती है। इस विषय में पंडितराज जगन्नाथ अपना मौलिक अभिमत रखते हैं। उनके अनुसार 'काव्यघटनानुकूलशब्दार्थोपस्थिति' को ही प्रतिभा की अभिधा प्रदान की जा सकती है। आचार्यों के उपर्युक्त प्रतिभा-विषयक विचारों से यह निष्कर्ष निकलता है कि कवि के लिए प्रतिभाशाली होना अनिवार्यतः आवश्यक है, क्योंकि प्रतिभा के अभाव में सत्काव्य का प्रस्फुरण हो ही नहीं सकता। प्रतिभा के बल से ही कवियों में नूतनकल्पनाओं का उद्‌बोध और सौन्दर्यानुभूति की क्षमता उत्पन्न होती है। यदि सत्कवियों में प्रतिभा का जागरण न हो तो वे नवरसरुचिर काव्य का निर्माण कर ही नहीं सकते। प्रतिभा के कारण ही कवि काव्य-संसार के प्रजापति कहे जाते हैं और अचेतन पदार्थों में भी चेतना का संचार कर उनकी यथेच्छापूर्वक रूप-सर्जना कर लेते हैं। काव्यशास्त्रियों ने काव्य की अभ्यर्थना में जो कुछ अतिशयोक्तिपूर्ण संस्तव प्रस्तुत किया है, उसका बीजभूत आधार कवियों का प्रतिभा-कौशल ही है। वस्तुतः काव्यकार एक अपूर्व शब्दशिल्पी है जो प्रतिभा के द्वारा अपना वाग्विलास प्रदर्शित करता हुआ जड़वत् पदार्थों में भी चेतना का अपूर्व मंत्र निस्यंदित कर उन्हें 'शब्दब्रह्म' का पर्याय बना देता है। संसार की अभद्र और गर्हित वस्तु भी कवि-प्रतिभा का संयोग प्राप्त कर चमत्कृत मणिरत्न की कांति धारण कर लेती है। यदि ऐसा न होता तो करुण, बीभत्स और भयानक आदि रस भला लोकोत्तर आनंद की उपलब्धि कैसे करा सकते थे। वस्तुतः प्रतिभा के आधार पर ही कवि का अहं आत्मप्रसार करता हुआ विश्वात्मतत्त्व के रूप में विगलित हो जाता है।

पंडितराज के मतानुसार प्रतिभा का लक्षण

पंडितराज जगन्नाथ ने काव्य-सर्जना की मूल शक्ति के रूप में प्रतिभा का लक्षण निर्धारित करते हुए काव्य-निर्माण के व्यावहारिक पक्ष को विशेषतः ध्यान में रखा है। उनका प्रतिभालक्षण काव्य-लक्षण के क्रोड़ में क्रीड़ा करता हुआ सा प्रतीत होता है। 'रमणीयार्थ प्रतिपादक शब्द' को 'काव्य' कहकर उन्होंने 'काव्यघटनानुकूल शब्दार्थोपस्थिति' को प्रतिभा कहा है जिससे यह निष्कर्ष निकलता है कि काव्य की रचना के समय उसकी घटना के अनुरूप शब्दों और अर्थों की योजना पर विशेष बल दिया जाना चाहिए। पंडितराज के मतानुसार काव्याह्लाद के लिए अर्थ की रमणीयता नितांत वांछनीय है और वह रमणीयता तभी संघटित हो सकती है जब उसके उपयुक्त प्रतिपादक शब्दों का प्रयोग किया जाय। इस प्रकार का शब्द-प्रयोग केवल वही कवि कर सकता है

जिसकी प्रज्ञा में घटनानुकूल शब्द-योजना की स्फूर्ति हो। वस्तुतः काव्य का स्वरूप शब्दमूर्तिधर विष्णु के समान अनंत और व्यापक है अतः अनुकूल शब्दयोजना करने के कार्य में कवि का दायित्व कितना अधिक बढ़ जाता है, इसके विवेचन की कोई आवश्यकता नहीं प्रतीत होती। सच तो यह है कि पंडितराज ने यद्यपि काव्य-लक्षण में शब्द का पक्ष प्रधान माना है, किन्तु उसके विशाल क्षेत्र में लक्षक और व्यंजक शब्द भी समाविष्ट हो जाते हैं। प्रतिभासम्पन्न कवि ही शब्दों की प्राणशक्ति से सुपरिचित होने के कारण उनका समुचित प्रयोग करने की क्षमता रखते हैं, क्योंकि अपनी साधना के द्वारा उन्हें अलौकिक शब्द-सिद्धि प्राप्त होती है। गोस्वामी तुलसीदास जी ने 'कविहिं अरथ आखर बल सांचा' का तथ्य निरूपित करते हुए इसी तत्त्व की ओर संकेत किया है। कवि की प्रतिभा में एक प्रकार की ऐसी सूझ-बूझ और शक्ति निहित है जो घटनानुकूल शब्दार्थोपस्थिति करने में सहज समर्थ है। कवि का शब्द-विधान कुशल धनुर्धर के नाराच-नैपुण्य से कथमपि न्यूनतर नहीं होता क्योंकि वह भी सहृदयजनों के हृदय में रसानुसंधान करता हुआ काव्य-कृति को कृतकृत्यता प्रदान करता है। डी क्वेंसी ने इसी तथ्य को ध्यान में रखते हुए ज्ञान के साहित्य के साथ-साथ शक्ति के साहित्य का भी निरूपण किया है। प्रतिभा के भरत-तीर पर अधिष्ठित कविरूप मारुति मूर्च्छागस्त भाव-सौमित्रि को रस-संजीवनी प्रदान कर सकता है। विश्व के इतिहास में कवियों ने अव्यवस्था में व्यवस्था लाते हुए जो चमत्कार प्रदर्शित किये हैं, वे इस मान्यता के सजीव प्रमाण है। यदि ऐसा न होता तो महाराज भोज अपने राज्याश्रित कवियों की 'प्रत्यक्षरं लक्षं ददौ' की उक्ति सफल नहीं बनाते तथा छत्रपति शिवाजी महाकवि भूषण से एक ही छंद को पुनः पुनः सुनाने के लिए अनुरोध नहीं करते। वस्तुतः प्रतिभा के कारण ही काव्य-शब्दों में ऐसी रमणीयता आती है जिसे कवि-कुल-गुरु कालिदास के शब्दों में 'क्षणे क्षणे या नवतामुपैति' कहा जा सकता है।

क्या 'प्रतिभा' ही काव्य-सर्जना का एकमात्र मूलहेतु है ?

काव्य-सर्जना का हेतु केवल प्रतिभा को ही स्वीकार किया जाय अथवा प्रतिभा, व्युत्पत्ति और अभ्यास के समीकृत स्वरूप को ? यह एक ऐसा प्रश्न है जिस पर आचार्यों ने 'सर्वे पदाः हस्तिपदे निमग्नाः' के अनुसार प्रतिभा को ही अंगी रूप में मान्यता प्रदान कर अन्य उपकरणों को उसके अंग रूप में निरूपित किया है तो कतिपय आचार्य इन सबकी पृथक्-पृथक् सत्ता मानते हैं। हमारे मतानुसार काव्य-सर्जना का मौलिक हेतु तो प्रतिभा-तत्त्व ही है जो राजा के समान अपना शीर्षस्थान रखता है तथा व्युत्पत्ति और अभ्यासादि उपादान 'राजपरिकर' के समान उसके सहयोगी या शोभाधायक अंग बनते हैं। जिस प्रकार जड़चेतन का संघातस्वरूप हमारा व्यक्तित्व भौतिक और आत्मिक चेतनाओं का सम्मिश्रण है जिसकी जड़ता और चेतना को तत्त्वतः पृथक् पृथक् नहीं किया जा सकता, उसी प्रकार काव्य-रचना के अखंडस्वरूप में प्रतिभा आदि तत्त्वों का संयोजन ऐसी अद्भुत रासायनिक प्रक्रिया में होता है कि उनकी शल्य-परीक्षा करना न तो समुचित ही है और न संभावित ही। साहित्य के समन्वयात्मक स्वरूप की भांति उसमें भी

प्रतिभा आदि तत्त्वों का सम्मिलन रहता है जिसमें किसी भी प्रकार के साहित्य की कल्पना नहीं की जा सकती। अपने कथन की पुष्टि के लिए हम कुछ प्रमुख आचार्यों के विचारों का प्रस्तुतीकरण आवश्यक समझते हैं जिससे इस विषय का स्पष्टीकरण हो सके कि वे भी प्रतिभा तत्त्व को काव्य-हेतुओं के रूप में कितना अधिक महत्त्व प्रदान करते थे।

विभिन्न आचार्यों के अभिमत

विवेचन के इस प्रसंग में हमारा सर्वप्रथम ध्यान आचार्य भामह की ओर जाता है जिन्होंने काव्य-सर्जना के लिए अन्यान्य हेतुओं का उल्लेख करते हुए भी यह तथ्य स्वीकार किया है कि काव्य-सर्जना की क्षमता किसी प्रतिभावान व्यक्ति में ही होती है। उन्होंने शास्त्र-ज्ञान, काव्य-विदुपासन, अन्य निबंधावलोकन के द्वारा 'व्युत्पत्ति' और 'कार्यः काव्य क्रियादरः' के द्वारा 'अभ्यास आदि सर्जन तत्त्वों की ओर अवश्यमेव संकेत किया है, किंतु उनकी दृष्टि में भी कवि-प्रतिभा की महिमा सर्वोपरि है।' भामह के परवर्ती आचार्य दण्डी ने यद्यपि भामह की भांति कवि-प्रतिभा का एकांत समर्थन न कर तीनों के समुदित रूप में काव्य-सर्जना का हेतु अनुसंधित किया है, फिर भी वे काव्यकार में पूर्ववासनागुणानुबंधी प्रतिभा का सापेक्षिक महत्त्व स्वीकार करते हैं। आचार्य वामन भी लोक, विद्या और प्रकीर्ण नामक तीन वर्गों में समस्त काव्यांगों को विभक्त कर अंततः इसी निर्णय पर पहुंचे हैं कि काव्य-पादप के प्ररोहण के लिए प्रतिभा ही वास्तविक बीज है। आचार्य रुद्रट के सहजा और उत्पाद्या नाम से प्रतिभा के दो प्रकार निर्धारित कर जन्मसिद्ध सहजा प्रतिभा को ही श्रेयस्करी और काव्य का मूल हेतु माना है। इस विषय में आचार्य आनंदवर्द्धन का कथन है कि यदि कवि में प्रतिभा विद्यमान है तो वह पुरातन और परम्परावर्णित विषयों में भी नव-नवोन्मेष कर सकता है। उन्होंने व्युत्पत्ति की अपेक्षा शक्ति को महत्त्व देते हुए एक प्रकार से प्रतिभा की ही संस्तुति की है और बतलाया है कि शक्ति के द्वारा अव्युत्पत्तिजन्य दोषों का भी निराकरण किया जा सकता है।

केवल कविगत प्रतिभा ही काव्य का एकमात्र कारण (हेतु) है

पंडितराज ने केवल कविगत प्रतिभा को ही काव्य का एकमात्र कारण अथवा 'हेतु' माना है। प्राचीन आचार्यों ने नवनवोन्मेषशालिनी प्रज्ञा अथवा बुद्धि को प्रतिभा कहा था, किंतु पंडितराज के मतानुसार 'काव्यघटनानुकूल शब्दार्थोपस्थिति' अर्थात् काव्य की संघटना अथवा रचना के अनुकूल शब्दों और अर्थों का संयोजन ही प्रतिभा का कार्य है। उनके शब्दों में प्रतिभा में रहने वाला प्रतिभात्व एक प्रकार का जाति-विशेष है जिसकी सिद्धि 'अनुगताकार प्रतीति' से न होकर द्रव्यत्व आदि जाति की

---

१. गुरुपदेशादध्येतुं शास्त्रं जडधियोऽप्यलम्।
काव्यं तु जायते जातु कस्यचित्प्रतिभावतः ॥—भामह, काव्यालंकार १।५।
शब्दाभिधेये विज्ञाय कृत्वा तद्विदुपासनम्।
विलोक्यान्यनिबंधांश्च कार्यः काव्यक्रियादरः ॥—वही, १।१०।

अनुमान-प्रतीति की भांति होती है। प्रतिभा को समवाय सम्बन्ध से काव्य के प्रति कारण कहा जा सकता है। उसे धर्ममात्र मानने से तो उसकी अनित्यता भी स्वीकार करनी पड़ती है, किंतु उसे नित्य जाति मानने पर किसी प्रकार की कोई क्षति नहीं होती। पंडितराज ने काव्य कारणता की अवच्छेदकता से उसे सिद्ध जाति विशेष और खंड उपाधिरूप भी कहा है। उनका मत है कि काव्य की हेतुभूत प्रतिभा के भी दो कारण हैं जिन्हें देवता अथवा महापुरुषों की प्रसन्नता से उत्पन्न 'अदृष्ट पुण्यविशेष' तथा 'विलक्षण व्युत्पत्ति द्वारा काव्य-निर्माण का अभ्यास' कहा जा सकता है। काव्य-सर्जना में अदृष्ट, व्युत्पत्ति और अभ्यास इन तीनों हेतुओं का संयोग होता है किंतु यह आवश्यक नहीं है कि ये तीनों मिलकर ही प्रतिभा के प्रति कारण बनें। काव्यानुशीलन से प्रकट है कि ये तीनों पृथक् पृथक् रूप से भी काव्य के कारण रहे हैं। उदाहरणार्थ काव्यसंसार में यह जनश्रुति प्रसिद्ध है कि पंचवर्षीय मूक बालक कर्णपूर के मुख में श्रीकृष्ण चैतन्य ने अंल्यग्र-भाग को प्रविष्ट कर उसमें विलक्षण काव्य-शक्ति का प्रादुर्भाव कर दिया था जिसके कारण वह व्युत्पत्ति और अभ्यास के अभाव में भी उत्कृष्ट काव्य-रचनाएं करने में समर्थ हुआ। वस्तुतः तपःपूत महात्माओं और सिद्ध पुरुषों की अलौकिक शक्ति और अनुग्रह महिमा से असम्भव कार्य भी सम्भव हो जाते हैं, अतः किसी जड़ व्यक्ति में भी प्रतिभा का प्रस्फुरण करना उनके लिए कौन-सी बड़ी बात है? 'व्युत्पत्ति'-जन्य प्रतिभा का सम्बन्ध नाना प्रकार के लोकवृत्त, शास्त्र, काव्य और इतिहास प्रभृति विषयों के पर्यालोचन से प्रसूत निपुणता से है जिसका सतत अभ्यास कवि-प्रतिभा में काव्यज्ञ शिक्षा-प्रयोज्य विशिष्ट ज्ञान की उत्पत्ति करता है। कहने के लिए प्रतिभा के प्रस्फुरण में अदृष्ट, व्युत्पत्ति और अभ्यास को सम्मिलित कारण माना जा सकता है किन्तु इस मान्यता में कार्य कारणभाव के व्यभिचरित होने की भी यथेष्ट संभावना है। विद्वानों का एक वर्ग इस मत का समर्थक है कि उक्त तीनों कारण अपने-अपने स्वतंत्र रूप में ही काव्य-सर्जना के हेतु निर्धारित किये जाने चाहिए। विश्व में ऐसे अनेक कवि हुए हैं जिन्होंने शास्त्रादि का अध्ययन किये बिना भी ऐसे अमर काव्यों की रचनाएँ की हैं जो किसी भी व्युत्पन्न अथवा अभ्यासिक कवि के लिए संभव ही न थी। इसके विरुद्ध काव्य-सर्जना के प्रति अदृष्ट, व्युत्पत्ति और अभ्यास की त्रयी को सम्मिलित कारण मानने वाले विद्वानों का कथन है कि अदृष्टमात्र को ही प्रतिभा के उद्रेक का कारण मानना पर्याप्त नहीं कहा जा सकता क्योंकि जिस जन्म में कोई कवि एकमात्र उसी के आधार पर काव्य-रचना करता है उसके मूल में संभवतः उसके पूर्वजन्मों के व्युत्पत्तिजन्य और अभ्यासगत संस्कार विद्यमान हों। इस पर एकमात्र अदृष्ट को प्रतिभा के प्रस्फुरण का कारण मानने वाले विचारकों का कथन है कि पूर्वजन्मगत व्युत्पत्ति और अभ्यास की सिद्धि केवल अनुमान प्रमाण पर आश्रित है, जिसकी तत्त्वसंगति में कोई प्रबल आधार नहीं है। यदि यह कहा जाय कि उक्त तीनों हेतुओं को कारण माने बिना प्रतिभा की संसिद्धि नहीं होती क्योंकि उनके सम्मिलित रूप का एक मुख्य आधार कार्यानुपपत्ति भी है तो भी उचित नहीं है, क्योंकि जब हम अदृष्टमात्र में कार्य-सिद्धि के दर्शन करते हैं तो कार्यानुपपत्ति रूप प्रमाण के लिए कोई अवकाश ही नहीं रह पाता। सच तो यह है कि आस्तिक-बुद्धि विद्वानों ने

नास्तिक ग्रंथों में मंगलाचरण आदि के अभाव में भी उनकी निर्विघ्न समाप्ति में उपस्थिति व्यभिचार की निवृत्ति के लिए जन्मान्तरीय मंगलाचरण की कल्पना की है जिसे काव्य-प्रतिभा के प्रस्फुरण में अभ्यास और व्युत्पत्ति की जन्मान्तरीय संगति के साथ संयुक्त नहीं किया जा सकता। पंडितराज जगन्नाथ ने अदृष्टजन्य प्रतिभा का समर्थन करने के लिए इस सिद्धांत का प्रबल शब्दों में उल्लेख किया है कि मंगलाचरण के अभाव में भी नास्तिक ग्रंथों की निर्विघ्न समाप्ति देखकर जन्मान्तरीय मंगल की कल्पना न करने से वेदविहित प्रमाण का व्यभिचार होने की संभावना है, किंतु प्रतिभा की प्रस्फुरणा में अदृष्ट आदि त्रितय की सम्मिलित कल्पना करना वेदादिबोधित न होकर स्वकल्पित मात्र है, अतः वहां पर किसी व्यभिचार की उपस्थिति न होने के कारण जन्मान्तरीय व्युत्पत्ति और अभ्यास की सिद्धांत संगति की कोई आवश्यकता नहीं प्रतीत होती। उनके मतानुसार काव्य-प्रतिभा के विषय में समुदित-कारणता-ज्ञान एक प्रकार का भ्रम है जिसमें कार्यजनन का असामर्थ्य ही मानना चाहिए ।

पंडितराज को त्रितयवाद का सिद्धान्त मान्य नहीं है

पंडितराज को काव्य-स्फुरण में त्रितयवाद का सिद्धान्त किसी भी रूप में स्वीकार नहीं है। उन्होंने जिस प्रकार एकमात्र अदृष्ट को प्रतिभा के प्रस्फुरण का हेतु निर्धारित किया है, उसी प्रकार व्युत्पत्ति और अभ्यास की पृथकता में भी प्रतिभा का उद्रेक माना है। अदृष्टमात्र को प्रतिभा के प्रति सर्वत्र कारण नहीं माना जा सकता क्योंकि हमारे सम्मुख ऐसे कवियों के काव्य भी उपस्थित हैं जो अदृष्टमात्र के हेतुत्व से विरचित न होकर चिरकालिक व्युत्पत्ति और अभ्यास के हेतुत्व से भी निर्मित हुए हैं। यदि यह कहा जाय कि ऐसे काव्यों की सर्जना में भी प्रतिभा स्फुरण का अदृष्ट हेतु गुप्त रूप से विद्यमान होता है तो भी उचित नहीं है, क्योंकि यदि ऐसा होता तो व्युत्पत्ति और अभ्यास के पूर्व भी काव्य-रचना करने का सामर्थ्य कवियों में हो सकता था। सच तो यह है कि ऐसे स्थल पर 'तदुदितः स हि यो यदनन्तरः' के अनुसार व्युत्पत्ति और अभ्यास को ही प्रतिभोत्पत्ति का कारण स्वीकार करना युक्तिसंगत है। यदि यह कहा जाय कि प्रतिभोद्भव में मूल कारण तो अदृष्ट ही है, किंतु उसमें किसी न किसी प्रकार का कोई प्रतिबंधक अंश अपनी विद्यमानता के कारण उसका प्रस्फुरण नहीं होने देता और व्युत्पत्ति और अभ्यास की साधना से उस प्रतिबंधक का विध्वंस हो जाता है जिससे प्रकाशित अदृष्ट उनके साथ संयुक्त होकर कवि-प्रतिभा का उन्नयन करता है तो भी इस तर्क में अपने पक्ष-समर्थन का आग्रहमात्र है। इस प्रकार की मान्यता में प्रतिभोत्पादक अदृष्ट तथा प्रतिभोत्पत्तिप्रतिबंधक अदृष्ट नामक दो अदृष्टों की कल्पना करनी पड़ती है जो व्यर्थ का भार वहन मात्र है। अतः उचित तो यही प्रतीत होता है कि अदृष्ट तथा व्युत्पत्यभ्यास को पृथक्-पृथक् रूप से प्रतिभा के प्रकाशन का कारण माना जाय। ऐसी मान्यता में किसी भी प्रकार के दो कार्यकारण-भावों का 'व्यतिरेक-व्यभिचार' मानना भी युक्तिसंगत नहीं है, क्योंकि अदृष्टजन्य प्रतिभा के प्रति अदृष्ट तथा व्युत्पत्यभ्यासजन्य प्रतिभा के प्रति व्युत्पत्यभ्यास नामक दो पृथक्-पृथक् कारण विद्यमान हैं जिनके दो

पृथक्-पृथक् कार्य भी सुनिश्चित कहे जा सकते हैं। यदि हम चाहें तो अदृष्टजन्य तथा व्युत्पत्यभ्यासजन्य दो प्रकार की प्रतिभाओं द्वारा काव्य रूप एक ही कार्य की सिद्धि भी कर सकते हैं। उस समय हमें काव्यरूप कार्य की भांति प्रतिभा रूप कारण को भी एक ही मानना पड़ेगा और उसके अदृष्टजन्यत्व तथा व्युत्पत्यभ्यासजन्यत्व नामक दो पृथक्-पृथक् विशेषण न देकर एक ही सामान्य कार्यकारणभाव से यही कहना पड़ेगा कि काव्य-निर्माण के लिए प्रतिभामात्र अपेक्षित है। ऐसा भी देखा जाता है कि काव्य की हेतुभूत प्रतिभा कभी-कभी व्युत्पत्ति और अभ्यास की निरंतर साधना से भी प्रस्फुरित नहीं होती जिसका कारण यह है कि उस साधना में अपेक्षित वैलक्षण्य का अभाव रहता है जिसे विद्वानों ने 'विशिष्ट प्रकार का पाप-प्रतिबंधक' भी कहा है। वह पाप-प्रतिबंधक जब तक दूर नहीं हो जाता तब तक प्रतिभा-शक्ति कुंठित रहती है। वह एक प्रकार का दुरदृष्ट है जिसे सभी आचार्यों ने किसी न किसी रूप में प्रतिभा का अवरोधक माना है। पंडितराज ने ऐसे प्रतिभाशाली कवियों का भी उल्लेख किया है जिन्होंने किसी काल विशेष में उत्तमोत्तम काव्यों की रचना कर उच्चतम गौरव प्राप्त किया था, किंतु जब उनके प्रतिवादी तांत्रिकों ने अपने मंत्रबल से उनकी वाणी को स्तम्भित कर दिया तो उनकी प्रतिभा के विकास में बहुत बड़ा पाप प्रतिबंधक-सा उपस्थित हो गया। आज के वैज्ञानिक युग में इस प्रकार के दुरदृष्ट प्रतिबंधक को भले ही कपोल-कल्पना समझकर उपेक्षित कर दिया जाय, किंतु किसी समय इस प्रकार की धारणाएं लोकप्रचलित थीं जिनकी वास्तविकता का सर्वथा निषेध नहीं किया जा सकता। हमारे कथन का अभिप्राय इतना ही है कि पंडितराज ने प्रतिभामात्र को काव्य के प्रति कारण माना है जबकि मम्मट आदि अन्य आचार्य शक्त्यादि समुदित कारणतावाद में विश्वास रखकर काव्य-कारणों का विवेचन करना अधिक उपयुक्त समझते हैं।

प्रतिभा के रूप-प्रकार

काव्यमीमांसाकार राजशेखर ने कारयित्री और भावयित्री के अभिधान से प्रतिभा के दो रूप माने हैं। कारयित्री प्रतिभा का सम्बन्ध कवि की काव्य-निर्माण-शक्ति से है तो भावयित्री प्रतिभा का सम्बन्ध भावक अथवा सहृदय की उद्भावन-शक्ति से। राजशेखर ने उक्त दोनों प्रकार की प्रतिभाओं की महत्ता और उपयोगिता पर बल दिया है। उन्होंने प्रथम प्रकार की प्रतिभा को कवि की उपकर्त्री तथा द्वितीय प्रकार की प्रतिभा को कवि के श्रमाभिप्राय की उद्भाविका कहा है जिसके कारण कवि का व्यापार-तरु सफल बनता है। दोनों प्रकार की प्रतिभाओं में कवि-प्रज्ञा के तत्त्व अंतर्निहित हैं। सच तो यह है कि प्रज्ञा के माध्यम से ही प्रतिभा का परिचय प्राप्त होता है। राजशेखर ने बुद्धि के तीन रूप (स्मृति, पति, प्रज्ञा) निर्दिष्ट कर अतीत विषय का स्मरण करने वाली बुद्धि को 'स्मृति,' वर्तमान का बोध कराने वाली बुद्धि को 'मति' तथा अनागत का ज्ञान कराने वाली बुद्धि को 'प्रज्ञा' कहा है। बुद्धि के इन तीनों रूपों में क्रमशः भूत, वर्तमान और भविष्य के उद्बोधन की शक्ति विद्यमान है। यहां एक बात स्मरण रखने योग्य है और वह यह है कि राजशेखर ने तो प्रज्ञा का सम्बन्ध केवल अनागत युग से जोड़ा है,

किंतु काव्यप्रकाश के टीकाकार श्री विद्याधर चक्रवर्ती ने उसे 'त्रैकालिकी' कहा है जिसका अभिप्राय यह है कि स्मृति का सम्बन्ध अतीत से, मति का अनागत से, बुद्धि का वर्तमान से और प्रज्ञा का तीनों कालों से है। आचार्य विद्याधर ने शास्त्र और काव्य को वाणी के दो क्रीड़ा-क्षेत्र मानकर शास्त्र में प्रज्ञा का कलाप स्वीकार किया है तथा काव्य में प्रतिभा का संचरण। इस विवेचन से यही निष्कर्ष निकलता है कि भारतीय आचार्यों को प्रतिभा के विशाल साम्राज्य में प्रज्ञा की अनुप्रेरणा भी स्वीकृत है और इन दोनों का मणिकांचन-संयोग पाकर ही कोई भी कलाकार अपनी कृति में सफल हो सकता है।

भावयित्री प्रतिभा की उपादेयता

जिस प्रकार काव्य-सर्जना के लिए कारयित्री प्रतिभा आवश्यक है उसी प्रकार काव्यास्वादन की प्रक्रिया में भावयित्री प्रतिभा परम उपादेय है। काव्य का आनन्द जिस व्यंग्यार्थ में निहित है, उसे केवल प्रतिभावान् व्यक्ति ही समझ सकते हैं। मम्मट का 'प्रतिभाजुष' शब्द 'सहृदय' का अर्थबोधक है। वाच्यार्थ का परिज्ञान तो सामान्य व्यक्ति भी कर सकते हैं, किंतु व्यंग्यार्थ-बोध के लिए श्रोता अथवा पाठक में प्रतिभा होना अनिवार्य है। अभिनवगुप्त ने 'प्रतिपत्तृप्रतिभासहकारित्वं अस्माभिः द्योतनस्य प्राणत्वेन उक्तम्' द्वारा यही निर्देश किया है कि श्रोता अथवा काव्यास्वादयिता से प्रतिभा का सहकारित्व होना व्यंजना का प्राण है। प्रतिभा के अभाव में व्यंग्यार्थ की प्रतीति नहीं होती जिसका तात्पर्य यह है कि उससे विहीन व्यक्ति रसास्वादन का अधिकारी नहीं हो सकता। काव्यशास्त्र में प्रतिभा को 'नवनवोन्मेषशालिनी प्रज्ञा' तथा 'वासना' भी कहा गया है। 'वासना' शब्द का अर्थ मनोविकार करने से रस-प्रक्रिया में अनेक प्रकार की भ्रांतियां उत्पन्न हो जाती हैं। वस्तुतः प्रत्येक शास्त्र में पारिभाषिक शब्दों अथवा संज्ञाओं के कुछ विशेष अर्थ निर्धारित रहते हैं जिनका सम्यक् ज्ञान प्राप्त करके ही उनका प्रयोग करना युक्ति-संगत है। 'वासना' शब्द की भी यही स्थिति है। अतः जब हमारे काव्यमनीषी इस सिद्धान्त का उल्लेख करते हैं कि सवासन (प्रतिभावान्) व्यक्तियों को ही नाट्य आदि में रस-प्रतीति होती है और निर्वासन व्यक्तियों की स्थिति नाट्यगृह के पाषाण और दीवार के समान है तो उनका तत्त्वसंगत अर्थग्रहण करना ही सर्वथा उचित है। साहित्य चूड़ामणिकार का कथन है कि 'वाच्यार्थ को तो पामर भी अनायास समझ सकते हैं, किंतु व्यंग्यार्थ-बोध का वैदग्ध्य केवल परिमित संख्या वाले विशिष्ट जनों में ही होता है।'[1] आचार्यों ने वैयाकरणों को शुष्क और काव्यार्थबोध के अनधिकारी घोषित कर उन्हें रस-प्रतीति में असमर्थ माना है। आचार्य मम्मट ने 'शब्दव्यापारविचार' में उचित ही कहा है कि संकेत की सहायता से शब्द वाचक होता है, मुख्यार्थबाध आदि निमित्तों से वह 'लक्षक' तथा पक्षधर्म-अन्वय-व्यतिरेक आदि के सहयोग से वह 'अनुमापक' होता है। प्रतिभा की विमलता, विदग्धता का परिचय तथा प्रकरण आदि का बोध अपनी सापेक्षता द्वारा वाचक एवं लक्षक शब्दों को व्यंग्यार्थ-प्रतिपादक बनाता है। शब्द का

१. पामरप्रभृतयोऽपि वाच्यमर्थमनायासादवबुध्यंते, व्यंग्य संवेदन वैदग्ध्ये तु कदाचित्देवाधिकारिणः।

व्यंजक-व्यापार ही ध्वनि के नाम से प्रसिद्ध है। जब तक किसी काव्य-पाठक, श्रोता अथवा दर्शक में प्रज्ञावैमल्य, प्रतिभावैशद्य एवं अभीष्ट वैदग्ध्य नहीं होता, तब तक उसमें व्यंग्यार्थसंवेदन की योग्यता नहीं प्राप्त हो सकती। परमलघुमंजूषाकार आचार्य नागेश भट्ट ने भी प्रसिद्ध तथा अप्रसिद्ध संज्ञा से शब्दार्थ-शक्ति के दो विभाग कर अप्रसिद्ध अर्थ के बोध की क्षमता केवल सहृदयों में मानी है। वास्तव में सहृदय जन विमल प्रतिभा-सम्पन्न होते हैं और वे वक्ता तथा प्रकरण आदि का वैशिष्ट्य-बोध करने के पश्चात् जिस संस्कार-विशेष से शब्दार्थों का व्यंग्य समझ पाते हैं वह प्रतिभा का ही प्रसार है। प्रतिभाजन्य व्यंग्यार्थ का क्षेत्र वर्ण, पद, शब्द, अर्थ, रचना और चेष्टा आदि विविध विषयों तक है। जब हम यह कहते हैं कि 'अनया मृगाक्ष्या कटाक्षेण अभिप्रायो व्यंजितः' तो एक प्रकार से हम चेष्टा का व्यंजकत्व निर्दिष्ट करते हैं। उससे यह भी स्पष्ट होता है कि केवल शब्द ही नहीं अपितु अर्थ भी व्यंजक होता है। काव्यास्वादन से सहृदय की बुद्धि में प्रकाशित होने वाला संस्कार ही व्यंजना अथवा ध्वनि का विषय है जिसकी पूर्णता रसप्रतीति में ज्ञात होती है। आचार्यों ने व्यंजनाव्यापार अर्थात् संस्कारविशेष को ही काव्यगत शब्दार्थों की विशेषता कहकर व्यंग्यार्थ अथवा ध्वनि को ही काव्य की आत्मा माना है।

भावयित्री प्रतिभा का प्रसरण

राजशेखर ने भाव के अथवा समालोचक से सम्बद्ध प्रतिभा को भावयित्री प्रतिभा कहा है। उसके द्वारा केवल समालोचक का ही उपकार नहीं होता अपितु काव्य-निर्माता की कविता-लता भी सफल बनती है। तात्त्विक दृष्टि से कवि और भावक का अन्तर स्पष्ट करना कठिन है। कुछ विद्वान् दोनों में अभेद मानकर दोनों को ही 'कवि' संज्ञा से अभिहित करते हैं। दोनों की प्रतिष्ठा का मूल स्रोत उनकी प्रतिभा अथवा शक्ति है जिसके तारतम्य से वे विविध प्रकार की प्रतिष्ठा प्राप्त करते हैं।

कवि और भावक का अन्तर्सम्बन्ध

महाकवि कालिदास के मतानुसार कवि और भावक (सहृदय आलोचक) के कर्म पृथक्-पृथक् हैं, अतः दोनों को एक श्रेणी में नहीं रखा जा सकता। कवि का विषय शब्द-रचना है तो भावक का विषय रस-चर्वणा। एक को शालिग्राम की शिला से उपमित किया जा सकता है जिसका कार्य सुवर्ण उत्पन्न करना है तो दूसरे को निकष अथवा कसौटी का पत्थर कहा जा सकता है जिसका कार्य उत्पन्न किये गये सुवर्ण की परीक्षा करना है।[1] आचार्य मंगल ने अरोचकी और सतृणाम्यवहारी नामक दो प्रकार के भावक या आलोचक माने हैं। वामन के मतानुसार ये दोनों भेद कवियों के भी हो सकते हैं।

---

१. कश्चिद्वाचं रचयितुमलं, श्रोतुमेवा परस्तं
कल्याणी ते मतिरुभयथा, विस्मयं नस्तनोति।
नह्येकस्मिन्नतिशयवतां सन्निपातो गुणानां,
एकः सूते कनकमुपलः तत्परीक्षाक्षमोऽन्यः॥

राजशेखर ने उक्त दोनों भेदों में मत्सरी और तत्त्वाभिनिवेशी नामक दो अन्य भेद जोड़कर भावकों की संख्या चार कर दी है। वामन के मतानुसार अरोचकी भावक को विवेकी तथा सतृणाभ्यवहारी भावक को अविवेकी भी कहा जा सकता है। राजशेखर ने अरोचकी आलोचकों की अरोचकता को 'स्वाभाविकी' तथा 'ज्ञानयोनि' नामक दो प्रकारों में विभक्त किया है। स्वाभाविकी अरोचकता को शताधिक संस्कारों से भी दूर नहीं किया जा सकता। हां, ज्ञानयोनिज अरोचकता तो फिर भी दूर की जा सकती है, पर उसके लिए आवश्यक है कि इस प्रकार की अरोचकतासम्पन्न भावक के सम्मुख ऐसी अलौकिक और विशिष्ट काव्य-रचनाएं प्रस्तुत की जाएं जिनमें काव्यगुणों का प्रभावपूर्ण औदात्य और रस-व्यंजना का चारुतामय चमत्कार हो।

सतृणाभ्यवहारी भावकों का लक्षण यह है कि वे सभी प्रकार की रचनाओं को प्रशंसनीय मानते हैं जिसके कारण न्याय-भावना का निर्वाह नहीं हो पाता। उनकी सतृणाभ्यवहारिता उत्कृष्ट और अपकृष्ट रचनाओं का विवेक नहीं कर पाती। ऐसे आलोचकों में काव्यकृतियों के सांगोपांग उद्भावन की क्षमता नहीं होती और वे अनेक बार अपने परीक्षण-कार्य में ऐसी त्रुटियां भी कर देते हैं जिन्हें क्षम्य नहीं माना जा सकता। ऐसे आलोचक समालोच्य रचना में से कभी-कभी ग्राह्य अंश का परित्याग कर देते हैं और कभी त्याज्य अंश को ग्रहण कर लेते हैं, अतः उनकी आलोचना को आदर्श नहीं माना जा सकता। मत्सरी आलोचक मात्सर्यवश केवल छिद्रान्वेषण अथवा दोष-दर्शन करना ही अपना चरम साध्य समझते हैं। अपने ईर्ष्यापूर्ण दृष्टिकोण के कारण वे दूसरे के गुणों का प्रकाशन करने में मौनवत् आचरण करते हैं जिसे उचित नहीं कहा जा सकता। ऐसे आलोचकों से किसी भी काव्यकृति के सदसद् विवेक की आशा करना दुराशामात्र है। इन आलोचकों में तत्त्वाभिनिवेशी आलोचक ही श्लाघ्य और विवेक-सम्पन्न होते हैं क्योंकि उनमें नीरक्षीर विवेक करने की प्रतिभा या शक्ति होती है। ऐसे आलोचकों के मानस में न तो किसी के प्रति मत्सरता ही होती है और न अरोचकता ही। वे पाषाण खंडों और रत्नकणों को एक ही तुला पर नहीं तोलते। उनमें तो सहृदयजनसंवेद्य भावकता का ऐसा सन्निवेश रहता है जिसके कारण समालोच्य काव्य-कृति का समुचित सौष्ठव विवेकसम्मत विधि से व्याख्यात किया जाता है। इस प्रकार के समालोचकों की प्राप्ति काव्य-संवृद्धि के सौभाग्य की निर्देशिका है। तत्त्वाभिनिवेशी समालोचक का गुण-संस्तव करते हुए किसी विचारक ने उचित ही कहा है—

शब्दानां विविनक्ति गुम्फनविधीनामोदते सूक्तिभिः,
सान्द्र लेढि रसामृतं विचिनुते तात्पर्यमुद्रां च यः।
पुण्यैः संघटते विवेक्तृविरहादन्तर्मुखं ताम्यतां,
केषामेव कदाचिदेव सुधियां काव्यश्रमज्ञो जनः।

अर्थात् सच्चे समालोचक के अभाव से हृदय में अत्यंत व्यथित होते हुए कवि को पुण्यों के अत्यधिक प्रभाव से काव्य-रचना की साधना को जानने वाला विद्वान् आलोचक प्राप्त होता है। ऐसा आलोचक शब्दों की रचना-विधि का सम्यक् विवेचन करता है, सूक्तियों और अनोखी सूझों से आह्लादित होता है, काव्य के सघन रसामृत

का पान करता है तथा रचना के निगूढ तात्पर्य को अनुसंधित करने का सामर्थ्य रखता है।

कहने के लिए काव्य-रचयिता और काव्योद्भावयिता पृथक्-पृथक् मनोवृत्तियों के व्यक्ति हैं किंतु उन दोनों के युगपत् सम्बन्ध का निषेध नहीं किया जा सकता। सच पूछा जाय तो कवि के लिए तत्त्वाभिनिवेशी समालोचक से अधिक अन्य कोई हितैषी हो ही नहीं सकता। विद्वानों ने आलोचक के व्यक्तित्व में कवि के मित्र, स्वामी, मंत्री, शिष्य और गुरु के व्यक्तित्व का समावेश माना है। वस्तुत: सच्चे समालोचक ही कवि की मनोवृत्तियों के अभिव्यंजक रूप काव्य का विश्लेषण कर उसके गुण-दोषों का विस्तार करते हैं। यों तो पुस्तक-विन्यस्त काव्यबंध घर-घर में हो सकते हैं किंतु भावकों के मनरूपी शिलापट्ट पर निकुट्टित काव्य-प्रबंध तो इने-गिने ही होते हैं। ऐसे काव्यों की जो प्रतिक्रिया सहृदयभावकों के मानस पर संघटित होती है, वह इतनी रहस्यपूर्ण और निगूढ होती है कि उसकी विवेचना करना कदाचित् विधाता के लिए भी संभव नहीं है। सच्चे आलोचक किसी कृति की गुण-दोष-विवेचना में ही नहीं उलझते अपितु वे उसकी भाव-व्यंजना में संसिक्त होकर विविध प्रकार से अपने विवेच्यमान काव्य की समीक्षा करते हैं। सच्चे आलोचकों का मुख्य कार्य काव्य-तत्त्वों का आस्वादन कराना होता है, अत: वे केवल दोष-दर्शन के सैद्धान्तिक निरूपण में उलझकर अपनी प्रयोजन-सिद्धि में ही तल्लीन रहते हैं। वस्तुत: आलोचक भी अनेक प्रकार के होते हैं किंतु श्रेष्ठ आलोचक किसी काव्य-विशेष के भावक्रम, दोष-दर्शन, गुण-विवेचन और अलंकार-चित्रण को ही काव्य का सर्वस्व न मानकर रस-तत्त्व की ओर विशेष ध्यान देते हैं क्योंकि उसी में काव्य का अभीष्ट आत्मस्वरूप निहित रहता है। सच तो यह है कि काव्यकार और काव्यभावक में अभीष्ट गुणों का समुद्भव होने पर ही दोनों का कार्य-सम्पादन श्लाघ्य होता है अतः अपनी सिद्धि प्राप्त करने के समय पर्यन्त दोनों द्वारा ही साधना की जानी परम वांछनीय है।

व्युत्पत्ति-तत्त्व-विमर्श

काव्य-सर्जना के हेतु-तत्त्वों में व्युत्पत्ति का भी यथेष्ट महत्त्व है। व्युत्पत्ति का सामान्य अर्थ है बहुलता। उसके अंतर्गत लोकव्यवहार, शास्त्र एवं प्रकृति परिचय आदि विविध विषयों का ज्ञान सम्मिलित रहता है। अपने कर्म की व्यापकता के कारण कवि को कार्य-सर्जना की वेला में इन विषयों की आवश्यकता पड़ती रहती है, अत: जब तक उसकी कर्तृत्व शक्ति इनमें व्युत्पन्न नहीं होती तब तक वह अपने कार्य में उल्लेखनीय सफलता नहीं प्राप्त कर सकता। बहुज्ञता अथवा व्युत्पत्ति से सम्पन्न कवियों के लिए न तो काव्य-विषयों का दारिद्र्य रहता है और न उनके अभिव्यक्ति-कोष में ही किसी प्रकार का कोई व्यवधान ही आता है। व्युत्पत्ति की शोभा इसी बात में है कि कविजन अपने काव्योपयुक्त विषयों के अंगी रूप का पूर्ण ध्यान रखकर तत्सम्बद्ध उपकरणों अथवा अंगों का आयोजन ऐसी प्रणाली से करें जिससे उनके अभिप्रेत कर्म को बल मिले तथा काव्यास्वादन की क्रिया में व्यवस्था का संचार हो सके। कभी-कभी केवल

बहुलता अथवा पांडित्य-प्रदर्शन की भावना काव्य की नैसर्गिक सुषमा को आच्छादित कर देती है और कवि का मूल व्यक्तित्व उच्छिन्न कर दिया जाता है।

प्रतिभा को काव्य का मूलभूत हेतु स्वीकार करते हुए भी हम व्युत्पत्ति-तत्त्व की उपेक्षा नहीं कर सकते। काव्य-सर्जना के क्षणों में ऐसे अनेक अवसर आते हैं जब काव्यकार के लिए प्रतिभा के साथ-साथ व्युत्पत्ति का सहयोग प्राप्त करना अपेक्षित और वांछनीय होता है। काव्य-कृतियों के परिशीलन और काव्यशास्त्रीय ग्रंथों के अध्ययन से स्पष्ट है कि जहां प्रतिभा और व्युत्पत्ति का तुलनात्मक साम्य विवेचित किया जाता है, वहां प्रतिभा का पक्ष अधिक प्रबल और पुष्ट सिद्ध होता है। अनेक बार कवियों की प्रतिभा उनके अव्युत्पत्तिजन्य अज्ञान को आवृत्त कर उनकी दुर्बलताओं को क्षीण बना देती है तो कभी-कभी काव्यगत व्युत्पत्ति के द्वारा उनकी प्रतिभाजन्य प्रखरता को नवीन आलोक सा-मिल जाता है। किसी भी काव्य-कृति में प्रतिभा और व्युत्पत्ति के अंशों का अनुपात किस रूप में समाहित है, इसका अन्वेषण करना तत्त्वाभिनिवेशी समालोचकों के लिए सहज सुलभ है। एक विद्वान् ने तो शब्द-शक्ति के लाक्षणिक अर्थ को ही 'प्रतिभा' के नाम से अभिहित किया है। वस्तुतः कवि का प्रतिभा-प्राकर्ष्य तो व्युत्पत्ति की समता में अधिक वरेण्य है ही : यद्यपि मंगल आदि प्राचीन आचार्यों ने व्युत्पत्ति को प्रतिभा की अपेक्षा 'श्रेयसी' भी कहा है। हमें यहां इस विवाद में पड़ने से कोई लाभ प्रतीत नहीं होता कि उन दोनों में किसको प्रभुसत्ता प्रदान की जाय ? हमारे कथन का तो मूल मंतव्य इतना ही है कि प्रतिभा और व्युत्पत्ति दोनों ही काव्यसर्जना के आवश्यक हेतु हैं और दोनों एक-दूसरे के विरोधी न होकर परस्पर सहयोगी ही हैं। व्युत्पत्ति बल से कवि अपने अशक्तिकृत दोषों को प्रच्छन्न एवं विनष्ट कर देता है तो प्रतिभा के बल से व्युत्पत्तिजन्य काव्य की क्लिष्टता और शास्त्र की दुर्वहता को काव्यसंवेद्यता प्रदान की जा सकती है। इस विषय में आचार्य राजशेखर का यह निर्णय हमें सर्वथा सुमान्य प्रतीत होता है कि प्रतिभा और व्युत्पत्ति—दोनों ही अपने संयुक्त स्वरूप में काव्य-रचना की उपकर्त्री होती हैं। लौकिक उदाहरण द्वारा दोनों का अन्योन्याश्रित भाव इस प्रकार स्पष्ट किया जा सकता है कि जिस प्रकार लावण्य के अभाव में रूपसम्पदा शोभनीय नहीं होती और रूप के बिना लावण्य में उत्कर्ष नहीं आता उसी प्रकार प्रतिभा के अभाव में व्युत्पत्ति और व्युत्पत्ति के बिना प्रतिभा में सर्वांगीणता नहीं आती। काव्य-सौन्दर्य की पूर्णता के लिए दोनों का सापेक्षिक महत्त्व है। श्रेष्ठ कवियों की कृतियों में व्युत्पत्ति और प्रतिभा का मणिकांचन-योग होता है।

काव्य-पाक और व्युत्पन्न कवि

आचार्यों ने 'पाक' शब्द का स्पष्टीकरण 'परिणाम', 'परिपाक' तथा 'परिपक्वता' आदि पदों से किया है। वस्तुतः काव्य-निर्माण के सतत अभ्यास के परिणामस्वरूप कवियों को सुबंत तथा तिङ्न्त पदार्थों की श्रोत्रमधुर व्युत्पत्ति की उपलब्धि-सी हो जाती है जिसके कारण वे असंदिग्ध भाव से काव्य-शब्दों का प्रयोग करने का चातुर्य प्राप्त कर लेते हैं। कवियों की साधना तत्त्वतः शब्दसाधना ही है, अतः जब तक उन्हें शब्द-प्रयोग

का समुचित और सुस्थिर बोध नहीं हो पाता तब तक वे 'सरस्वती सिद्ध' नहीं कहे जा सकते। आचार्यों का मत है कि शब्दों की असंदिग्ध स्थिरता मात्र ही काव्यपाक नहीं है, अपितु रसानुकूल शब्दार्थों का निबंधन भी 'काव्यपाक' है। बात यह है कि किसी रचना में जब गुण, अलंकार, रीति और उक्ति के अनुसार शब्दों और अर्थों का गुम्फन – क्रम रखा जाता है तो उस क्रम के कारण उस रचना-विशेष में स्वतः ही ऐसी सुस्वाद्यता आ जाती है जो सहृदय काव्य-प्रेमियों के चित्त का अनुरंजन कर सकती है। काव्य-रचना की इसी प्रौढ़ि को 'काव्य-पाक' कहते हैं और आचार्यों ने उसी के द्वारा 'वाङ्मधु का परिस्रवण' माना है। जब तक वह मधु निष्यंदित नहीं होता, तब तक काव्य के शब्द और अर्थ कुछ भी उपयोगिता नहीं रखते। लौकिक 'पाक' की भांति काव्यपाक भी आस्वादनीय होता है, अतः जिस प्रक्रिया से लौकिक रस और काव्य-रस का अंतर निरूपित किया जाता है, उसी प्रक्रिया से लौकिक पाक और काव्य-पाकों का विभेद भी स्पष्ट किया जाना चाहिए। आचार्यों ने शब्दों और अर्थों के आधार पर मूलतः दो काव्य पाक—शब्द पाक और वाक्य पाक—माने हैं जिनमें क्रमशः पदों की अपरिवर्तनशीलता और रसगुणालंकारों का विशेष क्रम रहता है।

काव्यपाकों के विषय में आचार्य वामन का मत भी उल्लेखनीय है। उन्होंने अर्थ-गुणविवेचन के प्रसंग में उद्धृत संग्रहश्लोकों के अंतर्गत 'काव्यपाकों' का वर्णन करते हुए लिखा है कि गुणों की स्फुटता और पूर्णता का नाम 'काव्य-पाक' है जिसकी उपमा 'आम्रपाक से दी जाती है। 'वृताक पाक' वह है जिसमें सुप् तिङ् का संस्कार मात्र सारतत्त्व हो तथा जिसका वस्तुगुण क्लिष्ट अथवा अस्फुट हो। इस प्रकार का काव्य-पाक सहृदयजनों की जुगुप्सा का विषय होता है। वस्तुतः जिस काव्य का अर्थ अथवा उसकी वर्ण्यवस्तु दस प्रकार के शब्दगुणों और अर्थ-गुणों से रहित होती है, वह काव्य सभी दृष्टियों से व्यर्थ समझा जाता है। वामन ने गुण-विवेचन के प्रसंग में 'काव्यपाकों' की जो चर्चा की है वह राजशेखर की काव्यमीमांसा में विशेष रूप से वर्णित हुई है। इस सम्बन्ध में वामन-वर्णित काव्यपाकों के संग्रह-श्लोकों का उल्लेख करना असमीचीन न होगा—

गुणस्फुटत्वसाकल्यं काव्य पाकं अचक्षते।
चूतस्य परिणामेन स चायमुपमीयते॥
सुप्तिङ्संस्कारसारयंत् क्लिष्टवस्तुगुणं भवेत्।
काव्यं वृंताकपाकं स्याज्जुगुप्सन्ते जनास्ततः॥
गुणानां दशताभुक्तो यस्यार्थस्तद पार्थकम्।
दाडिमानि दशेत्यादि न विचारक्षमं वचः।

राजशेखर और वामन आदि आचार्यों ने काव्य-रचना के आभ्यासिक कवियों के लिए नौ प्रकार के काव्यपाकों का उल्लेख किया है जिनका विवरण निम्नलिखित है—

(१) पिचुमंद पाक—इसको निम्ब्वपाक भी कहते हैं। जिस प्रकार नीम वृक्ष सदैव कटु और तिक्त होता है, उसी प्रकार जो काव्य-रचना आदि से अंत तक नीरस

और अस्वादु होती है उसे पिचुमंद-पाक वाली रचना कहा जाता है। पिचुमंद का अर्थ नीम है।

(२) बदरपाक—जिस प्रकार बेर का फल खाने के प्रारंभ में पहले कुछ अस्वादु और अंत में कुछ मधुर लगता है, उसी प्रकार बदरपाक वाली काव्य-रचना का आस्वादन प्रारंभ में नीरस और अंत में कुछ सरस प्रतीत होता है।

(३) मृद्वीका पाक—इस पाक वाली रचना मृद्वीका की भांति आदि में कुछ कसैली (अस्वादु) किन्तु अंत में विशेष मधुर (सरस) होती है।

(४) वातकि पाक—भामह ने इसको वृन्ताक-पाक कहा है और इसकी विवेचना करते हुए लिखा है कि जिस रचना में सुबन्त और तिङ्न्त शब्दों का संस्कार तो अच्छा हो, किंतु अर्थ-गुणों में क्लिष्टता हो जिसके कारण वह सहृदय जनों को प्रीतिकर न लगे उसे वृन्ताक-पाक कहते हैं। वार्ताक अथवा वृन्ताक का अर्थ है बैंगन। जिस प्रकार बैंगन का आस्वाद प्रारम्भ में कुछ अच्छा और अंत में फीका लगता है उसी प्रकार वार्ताक पाकमयी रचनाएं आदि में कुछ मध्यम मधुर और अन्त में सर्वथा नीरस प्रतीत होती हैं।

(५) तिंतिडीकपाक—जिस प्रकार तिंतिडी (इमली) आदि और अंत में एक-सा स्वाद देती है, उसी प्रकार जो काव्य-रचना आदि और अंत में मध्यम स्वाद वाली होती है, उसे तिंतिडीक पाक-युक्त रचना कहते हैं।

(६) सहकार-पाक—जिस प्रकार सहकार (आम) आदि में कुछ कसैला और अंत में अति मधुर होता है, उसी प्रकार सहकारपाकयुक्त रचना आदि में कुछ मध्यम और अंत में अत्यंत सुस्वादु होती है।

(७) क्रमुक पाक—क्रमुक का अर्थ सुपारी है। जिस रचना के आदि में मधुरता और अंत में नीरसता होती है उसे क्रमुक-पाक वाली रचना कहते हैं।

(८) त्रपुसपाक—त्रपुस (ककड़ी) आदि में मधुर और अंत में कुछ फीकी-सी लगती है, उसी प्रकार त्रपुस पाक युक्त रचना भी आदि में स्वादु और अंत में मध्यम कोटि की होती है।

(९) नारिकेल पाक—नारियल की भांति इस प्रकार की रचना आदि से अंत तक मधुर होती है जिसके कारण ऐसी रचना को सर्वोत्कृष्टता प्राप्त है।

इन पाकों में पिचुमंद पाक, वार्ताक पाक और क्रमुक पाक त्याज्य हैं। विद्वानों का मत है कि कुकवि होने की अपेक्षा तो अकवि होना अच्छा है क्योंकि कुकविता सोच्छ्वास मरण है। ऐसी स्थिति में इन तीन प्रकार के त्याज्य पाकों वाली रचनाएं तो न करना ही श्रेयस्कर है। बदर, तिंतिडीक और त्रपुस पाक युक्त रचनाओं को मध्यम कोटि प्रदान की जाती है क्योंकि उनका समुचित संस्कार करते हुए उन्हें उसी प्रकार और भी अधिक मधुर, सरस और सगुण बनाया जा सकता है जिस प्रकार विविध धातुओं से मिश्रित स्वर्ण अग्नि-ताप द्वारा विशुद्ध बना दिया जाता है। राजशेखर आदि विद्वानों का मत है कि अवशिष्ट तीन पाक—मृद्वीका, सहकार और नारिकेल—ग्राह्य हैं क्योंकि वे मुक्तामणिवत् स्वभाव से ही शुद्ध होने के कारण संस्कारों की अपेक्षा नहीं रखते। इन नौ प्रकारों के पाकों के अतिरिक्त कपित्थ-पाक भी माना जाता है जो

काव्य-रचना में कहीं सरस, कहीं नीरस और कहीं मध्यम रूप में प्रकट होने के कारण 'अनवस्थित पाक' भी कहा जाता है। कपित्थ पाक वाली रचना में पलाल के धुनने से प्राप्त होने वाले अन्नकण की भांति कहीं-कहीं सुभाषित लाभ होता है। काव्य-रचनाभ्यासी कवियों का कर्तव्य है कि वे इन काव्यपाकों का अभिप्राय समझकर ऐसी रचनाएं प्रस्तुत करने का प्रयत्न करें जिनमें त्याज्य पाकों का बहिष्कार और उपादेय पाकों का ग्रहण हो। कवि-शिक्षा के अंतर्गत इस विषय की अत्यधिक उपयोगिता स्वीकार की गई है। हमने इन काव्यपाकों का विवेचन काव्यसर्जना के लिए अभीष्ट 'व्युत्पत्ति' तत्त्व के अंतर्गत विशेष रूप से किया है जिसका प्रयोजन यह है कि प्रतिभाशाली कवि से अवर कोटि में अधिष्ठित रहने वाला 'व्युत्पन्न' कवि अपनी बहुलज्ञता, निपुणता और शास्त्राभ्यास द्वारा काव्य-रचनाओं को अपनी शक्ति के अनुरूप उपर्युक्त पाकों का आस्वाद प्रदान कर सकता है।

'प्रतिभा', 'शक्ति' और व्युत्पत्ति का सम्बन्ध

राजशेखर ने उन्हीं कवियों को श्रेयस्कर माना है जो प्रतिभा और व्युत्पत्ति के गुणों से समन्वित हों। इन गुणों के आधार पर उन्होंने कवियों के क्रमशः 'काव्य-कवि' और 'शास्त्र-कवि' नामक दो भेद किये हैं और लिखा है कि इन दोनों में कोई भी कवि किसी अन्य से हीन नहीं है। एक विशेष बात यह है कि राजशेखर ने अधिकांश आचार्यों की भांति 'प्रतिभा' और शक्ति को अभिन्न रूप में ग्रहण न कर दोनों में अवांतर अर्थ-भेद माना है। उनके मतानुसार 'सा शक्तिः केवलं काव्ये हेतुः' अर्थात् शक्ति ही काव्य में एकमात्र हेतु है। उन्होंने मन की एकाग्रता को 'समाधि' संज्ञा से अभिहित कर उसे काव्य-सर्जना का आंतरिक प्रयत्न और 'अभ्यास' को बाह्य प्रयत्न कहा है। इन दोनों प्रयत्नों का प्रयोजन शक्ति को उद्भासित करना है। उनका मत है कि प्रतिभा और व्युत्पत्ति द्वारा कवित्व-शक्ति का प्रसार होता है। एक प्रकार से शक्तिमान कवि ही प्रतिभा-सम्पन्न और व्युत्पन्न कहा जा सकता है। अभिप्राय यह है कि राजशेखर के मतानुसार प्रतिभा की अपेक्षाकृत 'शक्ति' शब्द अधिक व्यापक है यद्यपि औपचारिक दृष्टि से इन दोनों में कोई अंतर नहीं है। उन्होंने प्रतिभा के दो रूप (कारयित्री और भावयित्री) मानकर कारयित्री के सहजा, आहार्या और औपदेशिकी संज्ञक तीन प्रकार माने हैं और बतलाया है कि सहजा प्रतिभा पूर्वजन्म के संस्कारों की अपेक्षा रखती है जबकि आहार्या प्रतिभा इसी जन्म के संस्कारों से उद्‌बुद्ध होती है। उनके मत से औपदेशिकी प्रतिभा की उत्पत्ति के कारण मंत्र, तंत्र, देवता तथा गुर्वापदेश आदि हैं। उसका उपदेश-काल तथा संस्कार-काल कवि का ऐहिक जीवन होता है। राजशेखर ने इसी विवेचन के संदर्भ में मंगल और श्यामदेव नामक विद्वानों के प्रतिभा-विषयक मतों का उल्लेख कर बताया है कि प्रतिभा और व्युत्पत्ति के विषय में आचार्य मंगल का दृष्टिकोण आचार्य आनंदवर्धन से सर्वथा विपरीत है क्योंकि वे 'प्रतिभा' की अपेक्षा 'व्युत्पत्ति' को ही काव्य का मूल कारण मानते थे। कह नहीं सकते कि आचार्य मंगल ने किस काल में कौन-सा काव्यशास्त्रीय ग्रंथ लिखा। हां, राजशेखर द्वारा उद्‌धृत किये गये उनके मत से इतना अनुमान

अवश्य होता है कि वे निश्चय ही कोई अज्ञात वृत्त आचार्य थे जिन्होंने परम्परागत प्रवृत्ति का अनुगमन न कर स्वतंत्र रीति से काव्य-समीक्षण किया था।

(२) काव्य-सर्जना के आनुषंगिक हेतु

भारतीय आचार्यों ने प्रतिभा को काव्य-सर्जना की कर्तृत्व-शक्ति मानकर उसके परिप्रेक्ष्य में 'व्युत्पत्ति' तत्त्व का विवेचन करते हुए उसे काव्य-निर्माण के द्वितीय हेतु के रूप में प्रतिष्ठित किया है। इन दोनों हेतुओं के अतिरिक्त काव्य-सर्जना में अभ्यास आदि और भी ऐसे अनेक हेतु हैं जिन्हें काव्य-कर्तृत्व के आनुषंगिक कारण कहा जा सकता है। इस प्रकार के विवेचन की परम्परा का प्रकाशमान स्वरूप हमें आचार्य भामह के 'काव्यालंकार' नामक काव्यशास्त्रीय ग्रन्थ से उपलब्ध हो जाता है जिसकी परम्परा भारतीय काव्यशास्त्र के विकास के साथ-साथ क्रमशः विकसित होती हुई अद्यावधि चली आई है। आचार्य भामह ने प्रतिभा को काव्य-सर्जना का मूलभूत हेतुतत्त्व स्वीकार करने के साथ उन आनुषंगिक हेतुओं का भी वर्णन किया है जिसके द्वारा कवि-कर्म में सहयोग मिलता है। ऐसे हेतुओं में अभ्यास, शब्दार्थज्ञान, काव्यज्ञों की उपासना तथा विविध ग्रंथों के अनुशीलन आदि महत्त्व उल्लेखनीय है।[1] उनका तो स्पष्ट मत था कि अभ्यास द्वारा काव्य-प्रणयन में अद्भुत शक्ति का संचार होता है। जब अभ्यास करते-करते जड़मति भी सुजान हो सकता है तो कवि-कोटि के संवेदनशील व्यक्ति के लिए उसकी साधना द्वारा कौन सी उपलब्धि नहीं हो सकती? उनके विचारानुसार कवि के लिए शब्दों और अर्थों का परिज्ञान भी आवश्यक है। उसे व्याकरण, दर्शन और काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों द्वारा शब्द-शक्ति और अर्थविज्ञान की पूर्ण अभिज्ञता प्राप्त करने का सद्प्रयास करना चाहिए जिससे वह अपनी अभिव्यक्ति को अधिकाधिक सबल, प्रौढ़, सजीव, आकर्षक और प्रभावपूर्ण बना सके। यों तो शब्दार्थ का ज्ञान अन्य विद्वान् भी किया करते हैं, किंतु कवियों के लिए उसकी विशेष उपयोगिता किंवा महत्ता है। वस्तुतः कवि को मानव संवेदनाओं का सजीव चित्र अंकित करना होता है अतः उसके द्वारा शब्दों में जितनी अधिक दूरारूढ़ व्यंजना का बोध कराने का सामर्थ्य रहता है उसका काव्य उतना ही महान् बन सकता है। अन्य शास्त्रीय विद्वानों की भांति उसे केवल अर्थग्रहण कराना ही अभीष्ट नहीं होता, अपितु वह तो वर्ण्यविषय का मूर्तिमान बिम्ब सहृदयजनों के मानस पर आलोकित करना चाहता है, अतः उससे अधिक शब्दार्थज्ञान की उपयोगिता का गौरव भला किसी अन्य मनीषी के लिए कैसे हो सकता है? अनेक स्थलों पर संभवतः उसे अपनी शब्द-साधना में किसी न किसी प्रकार की न्यूनता भी प्रदर्शित हो सकती है जिसकी प्रपूर्ति के लिए वह काव्यज्ञों की उपासना करता हुआ अपने उद्देश्य में कृतकृत्य हो सकता है। वस्तुतः विवेकशील काव्यज्ञ ही उसके सच्चे मार्ग-निर्देशक हैं, जिनसे समय-

---

१. शब्दाभिधेये विज्ञाय कृत्वा तद्विदुपासनाम्।
विलोक्यान्यनिबंधांश्च कार्यः काव्यक्रियादरः ॥—भामह, काव्यालंकार, १।१०।

समय पर उद्बोधन प्राप्त करते रहने के कारण वह कदापि पथभ्रष्ट नहीं हो सकता। उनके द्वारा उसे अपने काव्य के गुण-दोषों का भी बोध होता चलता है तथा वह उनकी प्रेरणा से अपनी कृतियों में आवश्यक परिवर्तन, परिवर्द्धन और संशोधन भी कर सकता है। काव्यज्ञ व्यक्तियों में काव्य के भावक तथा काव्य के स्रष्टा संज्ञक दोनों प्रकार के प्राणी समाविष्ट हैं। यद्यपि वे कवि के मूल प्रेरक नहीं हैं तथापि उन्हें उसका अनुप्रेरक तो कहा ही जा सकता है। काव्य-सर्जना के लिए विविध ग्रंथों का अवलोकन और परिशीलन भी कम उपादेय नहीं है। उनके द्वारा कवियों को रचना-विधान के व्यावहारिक पक्ष का तो बोध होता ही है, साथ ही साथ उन्हें इस विषय का भी पता चल जाता है कि ऐसे कौन-कौन-से स्थल हैं जहां पूर्ववर्ती रचनाकार स्खलित हो गये हैं और उस स्खलन से वे स्वयं किस प्रकार बच सकते हैं। इस प्रकार आचार्य भामह ने यथामति काव्य-सर्जना की भूमिका प्रस्तुत कर कवियों के लिए अनेक प्रकार की विचार-सामग्री प्रदान की है और अंत में अपना निर्णय देते हुए लिखा है कि कवि को इस बात का पूर्ण ध्यान रखना चाहिए कि उसके काव्य में एक भी सदोष शब्द प्रयुक्त न हो क्योंकि शब्दों की सदोषता से काव्य का अर्थ भी दूषित हो जाता है और उसका प्रयोक्ता काव्यकार उसी प्रकार निंदा का भाजन बनता है जिस प्रकार किसी कुपुत्र के कुत्सित कार्यों द्वारा उसका पिता।[१] सच तो यह है कि काव्य-दोष सभी दृष्टियों से उपेक्षणीय है क्योंकि उसका आविर्भाव काव्य को उसी प्रकार विरस और अशोभनीय बना देता है जिस प्रकार श्वेतकुष्ठ रोग शरीर की सुन्दरता को।[२] भामह का तो यहां तक कहना है कि कुकवित्व की अपेक्षा तो अकवित्व वरेण्य है क्योंकि कविता न करने से न तो अधर्म होता है और न व्याधि तथा दंड ही मिलते हैं, किन्तु कुकवित्व तो साक्षात् मरण के समान है।[३]

दण्डी के मतानुसार काव्य-सम्पत्ति के कारण ही काव्य के हेतु हैं

दण्डी ने काव्य-हेतुओं के विवेचन के प्रसंग को काव्य-सम्पत्ति के कारणों के रूप में व्याख्यात कर काव्य-सर्जना के मुख्य तीन कारण निर्दिष्ट किये हैं और वे हैं— १. नैसर्गिकी प्रतिभा, २. निर्मल बहुश्रुत तथा ३. अमंद अभियोग।[४] 'नैसर्गिकी प्रतिभा' को 'पूर्वजन्म के संस्कारों से आसादित प्रज्ञा', 'निर्मल बहुश्रुत' को 'संशय आदि मलिन सम्पर्कों से रहित बहुविध शास्त्र विषयों का परिशीलन' तथा 'अमंद अभियोग' को 'श्रुति, स्मृति, पुराण, इतिहास, आगम, नाट्य, अभिधान, कोश, कामशास्त्र, अर्थशास्त्र, योगशास्त्र, व्याकरण न्याय और मीमांसा विषयक ग्रंथों में परिणत बुद्धि आचार्यों द्वारा

१. सर्वथा पदमप्येकं न निगाधमवद्यवत्।
विलक्ष्मणा हि काव्येन दुःसुतेनेव निंद्यते।—काव्यालंकार, १।११।

२. तदल्पमपि नोपेक्ष्यं काव्ये दुष्टं कदाचन।
स्याद् वपुः सुन्दममपि श्वित्रेणैकेन दुर्भगम्॥—दण्डी, काव्यादर्श, १।७

३. नाकवित्वमधर्माय व्याधये दण्डनाय वा।
कुकवित्वं पुनः साक्षान्मृति माहुर्मनीषिणः॥—काव्यालंकार, १।१२।

४. काव्यादर्श, १।१०३।

विवेचित ज्ञान-निधि का काव्य-करण प्रवृत्ति के लिए किया जाने वाला सतत अभ्यास' कहा जा सकता है। दण्डी ने इन कारणों में एक वचन की विभक्ति का प्रयोग उनकी सम्मिलित कारणता की अभिव्यक्ति के लिए किया है, क्योंकि काव्य-कारणता में वे पृथक्-पृथक् न रहकर व्यासक्त रूप में वर्तमान रहते हैं। यहां यह बात स्मरणीय है कि दण्डी के पूर्ववर्ती आचार्य भामह ने प्रतिभा, काव्यज्ञशिक्षा और विविध शास्त्र-ज्ञान को काव्य-कारण मानते हुए प्रतिभा को प्राधान्य प्रदान किया था किंतु दण्डी ने इस प्रकार का कोई श्रेणिगत भेद नहीं रखा है। दण्डी का अभिमत है कि यद्यपि सहजा प्रतिभा पुरुषप्रयत्नसंपाद्य नहीं होती तथापि उसके अभाव में भी काव्य-रचना संभव है। उनके शब्दों में 'यदि किसी कवि में अद्भुत और पूर्ववासनागुणानुबंधी प्रतिभा विद्यमान न हो तो भी वह शास्त्रानुशीलन और काव्यकरणाभ्यास द्वारा वाग्देवता की उपासना करता हुआ उसके अनुग्रह से काव्य-रजना का प्रसाद प्राप्त कर सकता है।'[1] इस कथन के प्रमाण में कवि-कुलगुरु कालिदास का उदाहरण प्रस्तुत करना अप्रासंगिक न होगा जिन्होंने प्राक्तन प्रतिभा के अभाव में भी देव्याराधन द्वारा प्रतिभा का प्रस्फुरण प्राप्त किया था। दण्डी का इस विषय में दृढ़ विश्वास है कि अतन्द्रित भाव से आराधित सरस्वती कीर्ति-लिप्सु कवियों पर अवश्य ही कृपा करती है जिसके कारण वे विदग्धगोष्ठियों में सम्मानित हो सकते हैं। उन्होंने लिखा है—

तदस्ततन्द्रैरनिशं सरस्वति श्रमादुपास्या खलु कीर्तिमीप्सुभिः।
कृशे कवित्वेऽपि जनाः कृतश्रमा विदग्धगोष्ठीषु विहर्तुमीशते॥

वामन का काव्यांग-विवेचन काव्य के हेतुभूत साधनों का ही पर्याय है

'लोक', 'विद्या' और 'प्रकीर्ण' नामक त्रिविध काव्यांग

वामन ने 'काव्यांगों' के नाम से जिस विषय का विवेचन किया है, उसका अभिप्राय काव्य के अवयवों से न होकर उसके साधन से है। 'काव्यालंकार सूत्र' के प्रथम अधिकरण के तृतीय अध्याय के प्रारम्भिक बीस सूत्रों में उन साधनों का निरूपण हुआ है। वामन के मतानुसार 'लोक', 'विद्या' और 'प्रकीर्ण' नामक तीन प्रमुख काव्यांग हैं जिनमें निष्णातता प्राप्त कर कोई भी कवि अपनी काव्य-रचना को महान् बना सकता है। 'लोक' शब्द से स्थावर तथा जंगम रूप लोक का व्यवहार अभिप्रेत है जबकि 'विद्या' के अंतर्गत चतुर्दश अथवा अष्टादश भेदों के रूप में प्रसिद्ध समस्त विद्याओं का समावेश किया जा सकता है। 'काव्यों का ज्ञान', 'काव्यज्ञों की सेवा,' 'पदों के निर्वाचन की सावधानता', 'स्वाभाविक प्रतिभा' तथा 'उद्योग' नामक पांच अंग काव्यांग के साधनभूत 'प्रकीर्ण' नामक विभाग में आते हैं। इन साधनों से सम्पन्न होकर जो कवि अपनी रचनाएं प्रस्तुत करते हैं उनमें काव्य-निर्माण के सहज कौशल का संचार हो जाता है।

वामन ने जिन काव्यांगों अथवा काव्य-साधनों का उल्लेख किया है वे उनके पूर्व-

---

१. काव्यादर्श, १।१०४।

वर्ती आचार्य भामह तथा परवर्ती आचार्य मम्मट के काव्यशास्त्रीय ग्रंथों में काव्यहेतुओं के रूप में अवांतर अर्थभेद के साथ विवेचित हुए हैं। वामनोक्त 'लोक' और 'विद्या' संज्ञक काव्यांगों का समाहार मम्मट द्वारा निरूपित 'लोकशास्त्रकाव्याद्यवेक्षणात् निपुणता में किया जा सकता है तो प्रकीर्ण में से 'शक्ति' अथवा 'प्रतिभा को पृथक् कर तथा वृद्ध सेवा आदि को 'काव्यज्ञशिक्षायाभ्यास:' में अन्तर्निहित कर इन तीनों काव्यांगों का समाहार मम्मट द्वारा विवेचित काव्य-हेतुओं के रूप में किया जा सकता है।

'लोक' और विद्या के 'अंगों' की विवेचना

वामन द्वारा प्रयुक्त 'लोक' शब्द 'लोकवृत्त' या 'लोक-व्यवहार' का सूचक है। उसमें वृक्षादि अचल तथा मनुष्यादि चल रूप जगत् का भाव अंतर्निहित है। 'विद्या' शब्द में शब्दस्मृति, अभिधानकोश, छन्दोविचिति, कलाशास्त्र, कामशास्त्र और दण्ड-नीति आदि विद्याओं का समावेश होता है। 'शब्दस्मृति' को व्याकरणशास्त्र भी कहा जा सकता है। उसके द्वारा शब्दों की शुद्धि अथवा साधुता का निश्चय होता है अतः काव्य-रचना के पूर्व उसके सुचारु ज्ञान की परम आवश्यकता रहती है। व्याकरण द्वारा पदों की शुद्धता का ज्ञान प्राप्त कर कविजन निर्भयतापूर्वक शब्दों का प्रयोग कर सकते हैं। जो कवि अपनी रचनाओं में व्याकरणसम्मत विशुद्ध शब्दों का प्रयोग नहीं करते, वे निंदा तथा उपहास के पात्र बनते हैं। सत्कवि के लिए व्याकरण-ज्ञान की महत्ता का उल्लेख न केवल पातंजल महाभाष्य में ही हुआ है, अपितु भामह तथा दण्डी आदि काव्यशास्त्रियों ने भी दुष्प्रयुक्त शब्दों की निंदा करते हुए विशुद्ध शब्द प्रयोग की महिमा निरूपित की है। इस बात के समर्थन में निम्नलिखित उद्धरण सहायक हो सकते हैं—

यस्तु प्रयुंक्ते कुशलो विशेषेशब्दान् यथावद् व्यवहारकाले।
सो नन्तमाप्नोति जयं परत्र वाग्योगविद् दुष्यति चापशब्दैः॥[1]
सर्वथा पदमप्येकं न निगाद्यमवद्यवत्।
विलक्षणा हि काव्येन दुःसुतेनेव निन्द्यते॥[2]
गीर्गौः कामदुधा सम्यक् प्रयुक्ता स्मर्यते बुधैः।
दुष्प्रयुक्तः पुनर्गोत्वं प्रयोक्तुः सैव शंसति॥[3]

काव्यांग साधन के 'विद्यारूप' में अभिधान कोश की आवश्यकता भी पद-पद पर पड़ती है, क्योंकि उसी की सहायता से पदों के अर्थ का सुनिश्चय होता है। कोश का ज्ञान न होने पर कवि के मन में इस विषय का विवेक आ ही नहीं सकता कि कौन-सा शब्द रचना-प्रवेश के योग्य है तथा किस पद का अर्थ संदिग्धतापूर्ण है? शब्द-विशेषों की संदिग्धतावश कवि को इस विषय में दुविधा भी नहीं हो सकती है कि वह संदिग्ध पदों का काव्य में प्रयोग करे अथवा नहीं? शब्द-प्रयोग की यह दुविधा काव्य-सर्जना के मार्ग में एक बहुत बड़ा व्यवधान है जिसका निराकरण अभिधानकोश के बल पर ही किया

---

१. पतंजलि, महाभाष्य, १।
२. भामह, काव्यालंकार, १।११।
३. दण्डी, काव्यादर्श, १।

जा सकता है। साधारणतया अभिधानकोश का ज्ञान होने के कारण कवि में नित्यनवीन शब्दों के प्रयोग की भी योग्यता आ जाती है। उसकी अभिज्ञता से कवि की प्रतिभा में अपूर्व तथा अप्रयुक्त नूतन शब्दों की मति भी जागरित होती है। आचार्यों का इस विषय में एक अभिमत यह भी है कि बहुत से शब्दकोश प्राप्त होने पर भी काव्य-प्रयुक्त नहीं होते और यदि उनका प्रयोग काव्य में किया जाय तो वहां 'अप्रयुक्ततत्व' नामक दोष हो जाता है। उदाहरणार्थ संस्कृत में 'हिंसागत्योः' सूत्र के अनुसार 'हन्' धातु का 'गति' अर्थ भी है, किंतु काव्य में गमनार्थ में उसका प्रयोग करना अप्रयुक्त दोष का उदाहरण माना जाता है। इसी प्रकार संस्कृत में 'पद्म' शब्द 'अभिधानकोश के अनुसार पुंल्लिंग तथा नपुंसक लिंग दोनों में ही प्रयुक्त हो सकता है, किंतु काव्य-रचनाओं में उसका नपुंसक लिंगवत् प्रयोग करने की ही परम्परा है, जिसका यह अभिप्रायः है कि अपूर्व शब्दों के अनुसंधान को अभिधानकोश का प्रयोजन न समझकर शब्द के अर्थ-निश्चय में ही उसका उपयोग करना चाहिए। कभी-कभी ऐसा भी देखा जाता है कि जो शब्द अभिधानकोश के अनुसार किसी विशेष अर्थ में प्रयोजनीय हों, वे अनेक बार औपचारिक अथवा लक्षणामूलक प्रयोगों के कारण काव्य-प्रयुक्त होकर दोषत्व को धारण नहीं करते। इसका उदाहरण 'नीवी' शब्द है जो 'नीवी संग्रथनं नार्या जघनस्थस्य वाससः' नाम माला के अनुसार केवल नारी के कटिभाग में पहने जाने वाले वस्त्र को बांधने की डोरी के रूप में प्रयुक्त होना चाहिए, किंतु कवियों ने उसका प्रयोग पुरुषों के 'नारे' के लिए भी किया है और वह प्रयोग अपनी उपचार-लक्षणा अथवा भ्रांति से दोष-विधायक नहीं है।

काव्य-निर्माण अथवा काव्यांगसाधन के 'विद्या' के रूप में छन्दोविचित या छन्द-शास्त्र का ज्ञान भी आवश्यक है क्योंकि उसके द्वारा छन्दविषयक संशय का उच्छेद होता है। यों तो काव्य-रचना के समय छन्दों का सामान्य परिचय प्रत्येक कवि के लिए वांछनीय है, किंतु कभी-कभी काव्य-रचना की वेला में कवि के सम्मुख मात्रिक वृत्तों में विशेषतः और वर्ण वृत्तों में सामान्यतः ऐसी कठिनाइयां आ जाती हैं जिनका निराकरण करने के लिए उसे छन्दशास्त्र की शरण लेनी ही पड़ती है। छन्दज्ञान के बिना काव्य की गरिमा में वह वैशिष्ट्य आ ही नहीं सकता जो किसी सफल कृति के लिए प्रयोजनीय है। ऐसी स्थिति में छन्दोविचिति को भी काव्य-रचना के साधनों में स्थान देकर आचार्यों ने उसकी समुचित प्रतिष्ठा ही की है।

वामन ने काव्यांगरूप में कलाशास्त्र का भी महत्त्व निरूपित किया है। कलाओं के अन्तर्गत गीत, नृत्य और चित्र आदि कलाओं का परिगणन होता है जिनका तत्त्व-प्रदर्शन करने वाले ग्रंथों के आकलन से कलाओं में संविति प्राप्त होती है। उनकी संवेदना द्वारा कवि में कला-विषयक वस्तुव्यंजना का संचार होता है, अतः आचार्यों ने 'कलाशास्त्रेभ्यः कला तत्वस्य संवित्' कहकर उसकी अभ्यर्थना की है।

वामन ने काव्य की वस्तु को 'कामोपचारबहुल' कहकर कवि को इस विषय का परामर्श दिया है कि वह कामशास्त्र के अध्ययन द्वारा 'काम' सम्बन्धी व्यवहार का भी ज्ञान प्राप्त करे। उनके मतानुसार काव्यांगसाधन के रूप में दण्डनीति की भी आवश्यकता रहती है। दण्डनीति के अन्तर्गत कौटिल्यादि निर्मित अर्थशास्त्र आदि ग्रंथ आते हैं जिनके

अध्ययन से 'नय' और 'अपनय' का ज्ञान होता है। संधि, विग्रह, यान, आसन, संश्रय और द्वैधीभाव नामक षड्गुणों का यथोचित प्रयोग 'नय' कहलाता है तथा इनके विपरीत किया गया आचरण 'अपनय'। जब तक किसी कवि को नय और अपनय का समुचित विवेक नहीं होता तब तक वह नायक और प्रतिनायक के वृत्त अथवा व्यवहार को अपनी कृति में सम्यक् रीत्या निबद्ध नहीं कर सकता। दण्डनीति के ज्ञान से ही काव्य के शरीरभूत इतिहास आदि के इतिवृत्त में काव्योपयोगी विचित्रता का समावेश होता है। अनेक प्रसंगों में दण्डनीति का ज्ञान कवि के लिए इतना अपरिहार्य और महत्त्वपूर्ण हो जाता है कि उसके बिना काव्य का समुचित सौन्दर्य-विधान ही नहीं हो पाता। इस प्रकार वामन ने लोक और विद्या के अन्तर्गत समाविष्ट होने वाले काव्यांग-साधनों का निरूपण कर उनकी महत्ता प्रतिपादित की है।

'प्रकीर्ण' काव्यांग के षट् साधनों का निरूपण

वामन ने 'प्रकीर्ण' नामक काव्यांग के अन्तर्गत लक्ष्यज्ञत्व, अभियोग, वृद्धसेवा, अवेक्षण, प्रतिभान तथा अवधान नामक छः साधनों का उल्लेख किया है। लक्ष्यज्ञत्व से उनका अभिप्राय यह है कि काव्य-रचना के अभिलाषी कवि को अन्य महाकवियों द्वारा विरचित ग्रंथों से परिचय प्राप्त करते हुए अपनी सर्जना करनी चाहिए जिससे उनकी 'व्युत्पत्ति' का उन्नयन हो। वस्तुतः इस प्रकार का अभ्यास उनके काव्यज्ञान की संवृद्धि करता है तथा वे उन दोषों और प्रमादों से बच जाते हैं जो अन्य कवियों की कृतियों में अनभ्यास अथवा काव्यानुशीलन के अभाववश आ गये हैं। काव्यबंध अथवा काव्यरचना के उद्यम का नाम ही अभियोग है। उसके द्वारा काव्यशक्ति में प्रकर्षता आती है। प्राचीन आचार्यों की भांति वामन भी 'वृद्धसेवा' को काव्यांगसाधन के रूप में महत्त्व देते थे। 'वृद्धसेवा' से उनका यह अभिप्राय था कि काव्योपदेश में गुरु उपदेष्टा होते हैं, अतः उनकी सेवा करने से भी काव्याभ्यासी शिष्य में काव्यविधा की संक्रांति होती है। 'अवेक्षण' भी काव्यांगों की उपलब्धि में एक महत्त्वपूर्ण साधन है। उसका सामान्य अर्थ 'काव्य-रचना' में पदविशेष के आधान तथा उद्धरण द्वारा उसके सौन्दर्य की परीक्षा करना है। वामन का यह विचार उचित ही है क्योंकि जब तक कवि का मन पद की उपयोगिता के विषय में स्थिर नहीं होता तब तक उसके आधान और त्याग के विषय में कवि की बुद्धि सुदृढ़ नहीं बन सकती। वस्तुतः काव्य-रचना भी एक प्रकार की शब्द-सिद्धि ही है अतः जिन कवियों का शब्द के आत्मतत्त्व से परिचय हो जाता है वे कवि ही अत्यन्त अवधान तथा स्थिरतापूर्वक पदों का सफल प्रयोग कर सकते हैं। कवि के पदों में स्थिरता स्थापित होने पर ही यह कहा जाता है कि उसे सरस्वती सिद्ध हो गई है। उस स्थिति में कवि के पदों में 'परिवर्तनसहत्व' का भाव नहीं रहता और अन्य कवियों तथा काव्य-भावकों के लिए भी यह सम्भव नहीं है कि वे कवि द्वारा सुस्थिर भाव से प्रयुक्त शब्द के स्थान पर उसी का पर्याय शब्द रखने का साहस कर सके। शब्दन्यास में निष्णात विद्वानों ने पदों के अपरिवर्तन सहत्व को ही 'शब्दपाक' की संज्ञा दी है। यहां यह बात उल्लेखनीय है कि आचार्य वामन तथा उनके समर्थक विद्वानों ने

शब्द-परिवर्तन की जिस असहिष्णुता को सर्वोत्कृष्ट शब्दपाक कहा था, उसे काव्य-मीमांसाकार राजशेखर की विदुषी पत्नी अवंतिसुन्दरी ने काव्य की अशक्ति माना था। उसका मत था कि जब महाकवियों की प्रतिभा में एकही वस्तु अथवा काव्यार्थ को अनेक प्रकार से वर्णित करने की शक्ति होती है और प्रत्येक प्रकार में वह अद्भुत चमत्कार ला सकता है तो फिर उसे शब्द की एकस्थिरता के सिद्धांत को ही 'शब्दपाक' मानकर क्यों चलना चाहिए ? इस विषय में हम इतना ही निवेदन करना पर्याप्त समझते हैं कि वामन ने जिस रूप में शब्द-प्रयोग की सुस्थिरता तथा अवंतिसुन्दरी ने उनके अनेक पाठों में काव्यरस की परिपक्वता की बात कही है वह सात्त्विक दृष्टि से युक्तिसंगत है क्योंकि जो कवि शब्द की प्राणसत्ता से जितना अधिक नैकटच प्राप्त कर लेता है, वही उसके प्रयोग की स्थिरता को समझ सकता है तथा जिस कवि की कल्पना में काव्याभि-व्यंजन की विभिन्न भाव-छवियां अपने वैचित्र्यपूर्ण परिवेश में स्वतः स्फुरित होती हैं, वही कवि अपनी शब्दार्थ-सूक्ति को विविध परिधानों से अलंकृत कर शब्दों का नित्य नवीन प्रयोग करने की योग्यता प्राप्त कर सकता है।

वामन ने प्रतिभा को कवित्व का बीज कहकर उसका अर्थ 'जन्मान्तरागत-संस्कारविशेष' किया है। प्रतिभा के बिना काव्य की निष्पत्ति हो ही नहीं सकती और यदि किन्हीं परिस्थितियों में हो भी जाय तो भी उसके अभाव से निष्पन्न काव्य उपहास्य ही होता है। प्रतिभा का महत्त्व सभी कवियों और काव्याचार्यों ने स्वीकार किया है। वामन ने चित्त के एकाग्र्य अथवा 'अवधान' को भी काव्य-रचना के एक आवश्यक साधन के रूप में स्वीकार किया है। जब कवि का मानस वाह्य अर्थों से निवृत्त हो जाता है तभी उसमें काव्यरचनोचित 'अवधान' का संचार होता है। यह 'अवधान' देश और काल विशेष से उत्पन्न होता है। जहां एक ओर विविक्त स्थान की निर्जनता कवि के मन में एकाग्रता उत्पन्न करती है वहां दूसरी ओर रात्रि का चतुर्थ प्रहर एकाग्रचित्त से काव्य-रचना कराने में परम सहायक है। कवि का कर्त्तव्य है कि एकांत स्थल में ब्राह्ममुहूर्त्त में उठकर अत्यंत एकाग्रचित से काव्य-रचना का अभ्यास करे ताकि उसकी कवित्व-शक्ति को भी प्रस्फुरण मिले तथा उसकी कृतियों में देशकाल के प्रभाववश काव्य-सौष्ठव का मौलिक विधान भी हो सके। इस विषय में कालिदास तथा माघ ने भी ब्राह्ममुहूर्त्त की वेला को काव्यरचना का सर्वोत्कृष्ट काल माना है।

पश्चिमाद् यामिनीयामात् प्रसादमिव चेतना।[1]
गहनम पररात्र प्राप्त बुद्धिप्रसादाः,
कवय इव महीपाश्चिन्तयन्त्यर्थजातम्।।[2]

रुद्रट द्वारा विवेचित काव्य-हेतु

आचार्य रुद्रट ने 'शक्ति, 'व्युत्पत्ति' और 'अभ्यास' को काव्य-रचना के हेतु मानकर उन्हीं के द्वारा निर्मित काव्य की निर्दोषता और अलंकारमयता की प्रशंसा की

१. कालिदास, रघुवंशम् १७।१।
२. माघ, शिशुपालवधम्, ११।६।

है।[1] उनके पूर्व आचार्य दण्डी 'नैसर्गिकी प्रतिभा', 'निर्मल शास्त्रज्ञान' तथा 'अमंद अभियोग' को काव्यहेतुओं के रूप में व्याख्यात कर चुके थे।[2] तथा आचार्य वामन ने 'लोक', 'विद्या' और 'प्रकीर्ण' को काव्यांगभूत हेतु निर्दिष्ट उनकी विशद व्याख्या की थी जिसका विवेचन यथास्थान किया जा चुका है।[3] रुद्रट ने जिन त्रिविध रूप काव्य-हेतुओं का निरूपण किया, उनमें अन्यान्य आचार्यों की मान्यताओं का समावेश किया जा सकता है। उन्होंने जिस 'व्युत्पत्ति' का उल्लेख किया है, उसमें दण्डी-सम्मतं निर्मल शास्त्र ज्ञानं तथा वामन-निर्दिष्ट 'लोक, विद्या, लक्ष्यज्ञत्व तथा अवेक्षण' का सन्निवेश करना सहज संभव है। रुद्रट द्वारा निरूपित 'अभ्यास' के अन्तर्गत दण्डी तथा वामन-सम्मत 'अभियोग' तथा वामन-सम्मत 'वृद्धसेवा' का नियोजन स्वतः ही हो जाता है। वामन-सम्मत 'अवधान' को काव्य का हेतु न मानकर निपुणता तथा अभ्यास का हेतु मानना अधिक समीचीन है क्योंकि 'अवधान' साधन है तथा निपुणता और अभ्यास साध्य। रुद्रट के परवर्ती आचार्य कुंतक ने भी शक्ति, व्युत्पत्ति और अभ्यास को काव्य-हेतुओं के रूप में विवेचित किया है।[4] मम्मट ने व्युत्पत्ति के स्थान पर 'निपुणता' पद का प्रयोग कर शक्ति, निपुणता और अभ्यास को काव्यहेतु माना है।[5] रुद्रट द्वारा निरूपित काव्य-हेतुओं के प्रसंग में अन्य आचार्यों का एतद्विषयक मतोल्लेख करने का केवल यही प्रयोजन है कि भारतीय तत्त्व-चिंतकों के काव्यहेतु विषयक विचारों के साम्य का अनुमान लगाया जा सके।

'शक्ति' काव्य का वह हेतु है जिसके द्वारा अविक्षिप्त चित्त में अनेक प्रकार के वाक्यार्थों का विस्फुरण सदैव होता रहता है। उसमें अक्लिष्ट पदों की भास्वरता का सहज गुण विद्यमान है।[6] दण्डी आदि आचार्यों ने 'शक्ति' को 'प्रतिभा' की संज्ञा से अभिहित कर उसके दो भेद किये हैं—१. सहजा और २. उत्पाद्या। इन दोनों में सहजा प्रतिभा प्रशस्यतरा है क्योंकि वह काव्यकार के साथ उत्पन्न होने के कारण अपना उत्कर्ष अथवा आत्मसंस्कार स्वतः धारण करने वाली होती है।[7] उसके द्वारा अन्य काव्य हेतुओं का अन्वेषण करने का उल्लेख आचार्यों द्वारा अनेक स्थलों पर किया गया है। उत्पाद्या प्रतिभा व्युत्पत्तिजन्य है क्योंकि उसकी उपलब्धि छन्द, व्याकरण, कला, लोकस्थिति और पद तथा पदार्थों के युक्तायुक्तविवेक के पश्चात् ही हो पाती है। व्युत्पत्ति का विस्तार इतना अधिक है कि उसके अन्तर्गत विश्व के समस्त ज्ञानों का सन्निवेश किया जा सकता है क्योंकि ऐसा एक भी शब्द, वाक्य, न्याय तथा कलारूप

---

१. रुद्रट, काव्यालंकार १।१४।
२. दण्डी, काव्यादर्श, १।१०३।
३. वामन, काव्यालंकार सूत्रवृत्ति, १।३।१०-११।
४. कुन्तक, वक्रोक्तिजीवितम्, १।२४ की वृत्ति।
५. मम्मट, काव्यप्रकाश, १।३।
६. रुद्रट, काव्यालंकार, १।१५।
७. वही, १।१६।

नहीं है जो काव्य का अंग न बनता हो ।[1]

रुद्रट के मतानुसार 'अभ्यास' काव्य का तृतीय हेतु है। काव्य-सर्जना में उसका योगदान भी अभीष्ट मात्रा में रहता है। रुद्रट का मत है कि सकल पदार्थों के ज्ञाता (व्युत्पन्न) तथा शक्तिमान् कवि को भी सहृदय सुजनों और सुकवियों के पार्श्व अथवा उनकी संगति में रहकर सर्वदा 'काव्याभ्यास' करना चाहिए।[2] काव्य के इन तीन हेतुओं का विवेचन पृथक्-पृथक् रूप से करना केवल व्यावहारिक दृष्टि से ही उचित है क्योंकि तात्त्विक रूप से उनकी समष्टि में ही काव्य-सर्जना का मूल हेतु सन्निहित रहता है। इन तीनों हेतुओं में शक्ति अथवा प्रतिभा को काव्य का अनिवार्य हेतु कहा जा सकता है क्योंकि उसके अभाव में श्रेष्ठ काव्य की सृष्टि संभव ही नहीं है। केवल व्युत्पत्ति और अभ्यास के बल पर निर्मित काव्य में लोकोत्तर चमत्कार का वह सहजोन्मेष संभव नहीं होता जो शक्तिजन्य काव्य में सुलभ है। शक्तिसम्पन्न कवियों ने व्युत्पत्ति और अभ्यास के अभाव में भी ऐसे अद्भुत काव्यों की सृष्टि की है जो सहृदयजनों को आश्चर्यान्वित कर देती है। वस्तुतः काव्य-हेतुओं की त्रिवेणी (शक्ति, व्युत्पत्ति और अभ्यास) का संगम इतना संश्लिष्ट है कि उन्हें अनेक बार पृथक्-पृथक् रीत्या विवेचित किया ही नहीं जा सकता। मम्मट ने इसी तथ्य को ध्यान में रखकर उन तीनों का समाहार 'हेतु' पद में करते हुए उन्हें 'हेतुर्नतु हेतवः' कहा जो अत्यंत सुग्राह्य और तत्त्वसंवलित है।

प्रतिभा और व्युत्पत्ति के आधार पर कवियों के भेद

काव्य-सर्जना के हेतु (प्रेरक) तत्त्वों के रूप में प्रतिभा और व्युत्पत्ति आदि कर्तृत्व-शक्तियों का विवेचन करने के पश्चात् इसी क्रम में उन कवि-कोटियों का विश्लेषण करना भी आवश्यक है जिनके भेद-निरूपण के आधार 'प्रतिभा' और 'व्युत्पत्ति' आदि काव्य-कारण हैं। आचार्यों ने इस विषय में रुचि प्रदर्शित करते हुए काव्य के सौष्ठव, गौरव और रचना-विधान आदि पक्षों का ध्यान रखकर काव्य के भेद-प्रभेदों की भांति कवियों के भी अनेक प्रकार निर्धारित किये हैं। इस विषय में आचार्य राजशेखर ने प्रतिभा और व्युत्पत्ति के आधार पर कवियों का श्रेणि-विभाजन करते हुए उन्हें 'शास्त्रकवि', 'काव्यकवि' और 'उभयकवि' नामक तीन प्रकारों में विभक्त किया है। इन प्रकारों में उनकी श्रेष्ठता का तारतम्य निरूपित करना सरल कार्य नहीं है, क्योंकि अपनी-अपनी अभिरुचि और भावक-शक्ति के आधार पर प्रत्येक सहृदय उनकी उच्चावचता का समर्थन करते है। सच तो यह है कि सभी कवि अपने-अपने क्षेत्र में श्रेष्ठ और महान् होते हैं क्योंकि उनमें स्वतंत्र रूप से कुछ ऐसा वैशिष्ट्य रहता है जिसे सर्वसामान्य अथवा सर्वसुलभ नहीं बनाया जा सकता। कालिदास की काव्यकृतियां अपनी रमणीयता और प्रासादिकता में महान् है तो बाण की सघनसमासगुम्फित रचनाएं अपनी समता

१. न स शब्दो न तद्वाक्यं न स न्यायो न सा कला।
   जायते यन्न काव्यांगमहो भारो महान्कवेः।
२. रुद्रट, काव्यालंकार, १।२०।

नहीं रखतीं। साहित्य-क्षेत्र में कवियों के उत्कर्षापकर्ष विषयक जो धारणाएं निर्धारित होती हैं, उनके निर्माण में काव्य और शास्त्र का दृष्टिकोण भी सन्निहित रहता है। आचार्यों ने जिस अर्थ में कालिदास की उपमा, भारवि का अर्थगौरव, दण्डी का पदलालित्य और माघ में त्रयगुणसंभार प्रशंसित किया है, उसका एक आधार उक्त कवियों का व्युत्पत्ति और प्रतिभाजन्य सर्जन ही है। स्पष्ट है कि जिस प्रकार राजहंस चन्द्रिका-पान नहीं कर सकता तथा चकोर में नीर-क्षीर-विवेक की शक्ति नहीं होती, उसी प्रकार काव्य-कवि में शास्त्रीयता के वे गुण नहीं आ सकते जो शास्त्र-कवि के लिए स्वाभाविक हैं तथा काव्य-कवि में उस प्रकार की शास्त्रीयता का निर्वाह नहीं हो सकता जो शास्त्र-कवियों के लिए एक नैसर्गिक प्रक्रिया है। हमारी दृष्टि में दोनों प्रकार के कवि अपनी-अपनी सहज विशेषताओं के कारण अपने-अपने क्षेत्रों के अधिपति हैं जो आवश्यकता पड़ने पर माण्डलिक नरेशों की भांति परस्पर आदान-प्रदान भी करते चलते हैं। शास्त्र-कवियों ने अपने शास्त्रीय गाम्भीर्य के बल पर रस और ध्वनि के द्वारा काव्य के आस्वाद्य विषयों को शोभाशाली बनाया है तो काव्य-कवियों द्वारा तर्कतर्कश तथा शास्त्र-जटिल विषय भी सुकुमार और सरस बना दिये गये हैं। 'उभय' कवियों में शास्त्र-ज्ञान और लोकानुभूति का श्लाघनीय समन्वय होता है जिसके कारण उनका स्थान दोनों से उत्कृष्ट श्रेणी का कहा जा सकता है। काव्य के व्यापक क्षेत्र में इन कवियों के एकांगितापूर्ण पक्ष-समर्थन का दृष्टिकोण हमें स्वीकार्य नहीं है, अतः हम प्रसंगवश उनकी चर्चा करते हुए भी इस मत में विश्वास करते हैं कि कवियों का इस प्रकार का श्रेणि-विभाजन केवल व्यावहारिक सुविधा और औपचारिक दृष्टि से ही युक्तिसंगत कहा जा सकता है।

साधारणतया शास्त्र-कवि या तो शास्त्रों के निर्माता होते हैं या शास्त्र में काव्य का संविधान करने वाले। ऐसे कवियों को भी शास्त्र-कवि कहा जाता है जिनके काव्य में शास्त्रीय अर्थों का सन्निवेश रहता है। राजशेखर ने शास्त्र कवियों का सामान्य परिचय देने के पश्चात् काव्य-कवियों को आठ प्रकारों में विभक्त किया है—रचना-कवि, शब्द-कवि, अर्थ-कवि, अलंकार-कवि, उक्ति-कवि, रस-कवि, मार्ग-कवि और शास्त्रार्थ-कवि। रचना-कवियों की कृतियों में केवल शब्द-रचना का सौन्दर्य होता है जिसके कारण उनका पठन-पाठन तो रुचिकर होता है किंतु उनके अर्थ में गांभीर्य नहीं रहता। शब्द-कवि तीन प्रकार के होते हैं—नाम कवि, आख्यात कवि और नामाख्यात कवि। नाम अथवा संज्ञावाचक सुबन्त शब्दों का अधिक प्रयोग करने वाले कवियों को 'नाम कवि' तथा क्रियाओं अथवा तिङ्न्त शब्दों का अधिक मात्रा में प्रयोग करने वाले कवियों को आख्यात कवि कहते हैं। नामाख्यात कवियों में संज्ञाओं और क्रियाओं का प्रयोग समान रूप से पाया जाता है। अर्थ-कवियों की रचना में शब्द की अपेक्षा अर्थगत चमत्कार का प्राधान्य होता है। अलंकार-कवि दो प्रकार के होते हैं—१. शब्दालंकार प्रिय और २. अर्थालंकार प्रिय। प्रथम प्रकार के कवियों में अनुप्रास और यमक आदि शब्दालंकारों द्वारा काव्य की साजसज्जा को अधिकाधिक आकर्षक बनाने की प्रवृत्ति होती है तो अर्थालंकार प्रिय कवि उपमा और रूपक आदि अर्थालंकारों द्वारा अपनी कृति को सुरम्य

बनाने में विशेष रुचि लेते हैं। उक्ति कवियों का कार्य अपनी विलक्षण उक्तियों द्वारा काव्य में रमणीयता का प्रदर्शन करना होता है। इन कवियों की रचना में 'समाधि' नामक गुण विशेष रूप में रहता है जिसका आश्रय बड़े-बड़े कवि भी लिया करते हैं। आचार्य दण्डी और भोज ने भी इस प्रकार की रचना की विशेष प्रशंसा की है। रस-कवि का कार्य अपनी रचनाओं को रससंसिद्धि द्वारा अधिकाधिक उत्कर्ष प्रदान करना है। ऐसे कवियों की कृतियों को अन्य कवियों की अपेक्षा अधिक महत्त्व प्रदान किया जाता है, क्योंकि उनमें हमारे चित्ताह्लादन की अधिक शक्ति रहती है। मार्ग-कवि की कृतियों में वर्ण-संघटना अथवा पद-रचना का वैशिष्ट्य पाया जाता है। वे अपनी रचनाओं को वैदर्भी आदि रीतियों द्वारा प्रकर्ष प्रदान करते हैं। शास्त्रार्थ-कवि का कार्य व्याकरणशास्त्र और दर्शन ग्रंथों में प्रयुक्त पारिभाषिक पदावली का काव्यगत प्रयोग करना होता है। 'आत्माराम', 'तमोग्रंथि', 'निर्विकल्प समाधि' और 'सहस्रदलकमल' आदि योगशास्त्र व्यवहृत शब्दों का प्रयोग करने में शास्त्रार्थ-कवि अधिक रुचि लेते हैं। भट्टि काव्य में तो व्याकरणशास्त्र के नियमों का पूर्ण अनुबंध हुआ है जिसके शास्त्रार्थगत स्वरूप की बौद्धिक अनुभूति उसका अध्ययन और आकलन करके ही की जा सकती है। कवियों का यह वर्ग-विभाजन एक प्रकार से 'प्राधान्येन व्यपदेशा भवन्ति' अथवा 'छत्रिन्याय' से ही ग्रहण किया जाना चाहिए अन्यथा तात्त्विक दृष्टि से तो कवि के व्यक्तित्व में भी अखंडता ही रहती है।

प्रतिभाशाली और रससिद्ध कवियों के लिए सभी प्रकार की काव्य-रचनाएं सुकर एवं सुगम हैं। उनके लिए श्रव्य अथवा दृश्य तथा गद्य अथवा पद्य की समस्त विधाएं समान रूप से रचनार्ह होती हैं। प्रतिभा अथवा कर्तृत्व-शक्ति के कारण वे 'काव्येषु नाटकं रम्यम्' की उक्ति को भी सार्थक सिद्ध करते हैं तथा 'गद्यं कवीनां निकषं वदन्ति' की मान्यता को भी साभिप्राय बनाते हैं। उनकी रचना-शक्ति में ऐसा पौरुष सन्निहित रहता है जो अनुकूल पति की भांति सभी स्थितियों में रमणियों के आनंद और विलास की वृद्धि करता हुआ कविता-कामिनी को रमण-सुख प्रदान करता है। पंडितराज जगन्नाथ ने अपनी रचना-शक्ति की प्रशंसा करते हुए यही बात प्रकारांतर से कही है जिसका मुख्य आशय यह है कि जिस प्रकार अनुकूल पति के होने पर सुकोमल शय्या अथवा दर्भांकुरित भूमि कामिनियों के संभोगसुख में कोई अन्तर नहीं लाती, उसी प्रकार प्रतिभाशाली कवि के लिए रचना-प्रक्रिया के सभी मार्ग समात्मभाव से सुग्राह्य होते हैं—

साहित्ये सुकुमारवस्तुनि दृढन्यायग्रहग्रन्थिले
तर्के वा मयि संविधातरि समं लीलायते भारती ।।
शय्या वास्तु मृदूत्तरच्छदवती दर्भांकुरैरास्तृता,
भूमिर्वा हृदयंगमो यदि पतिस्तुल्या रतिर्योषिताम् ।।

आचार्यों ने रससिद्ध कवियों की प्रशंसा में अनेक प्रकार के स्तुतिपरक गुणगान किये हैं। रस को मूलतः नाट्य का और सामान्यतः काव्य का आत्मतत्त्व निर्धारित करते हुए उन्होंने उसी कवि की अभ्यर्थना में अपनी वाणी की सफलता मानी है जिसकी

भारती नाट्य कृतियों की रस-लहरियों में घूर्णित होकर अपना नृत्य प्रदर्शित करती है। रसकवि के काव्य में मर्त्यलोकवासियों को अमर बनाने की क्षमता है। उसकी अनुपम कोटि में उन शब्द-कवियों को कदापि परिगणित नहीं किया जा सकता जो अनेकार्थवाचक श्लिष्ट शब्दों के प्रलोभन में फंसकर रसामृत के प्रस्रवण से वंचित रहते हैं। शब्दसिद्ध कवि अपनी शब्द-पटुता के कारण भले ही विद्वान् रूप में समादृत कर लिये जाएं किंतु उत्तम कोटि में प्रतिष्ठित नहीं किये जा सकते। इसका कारण यह है कि जो काव्य-रचनाएं श्लेषादि अलंकारों से मंडित होने पर भी रसप्रवाह से विहीन अथ च कर्कश होती हैं वे सहृदयजनों की मनःप्रीति के लिए उसी प्रकार आधार नहीं बन सकतीं जिस प्रकार आलिंगन (आश्लेष) क्रिया में तत्पर एवं अलंकारों से सुसज्जित होने पर भी दुर्भग (कठोर भग वाली) रमणियां अपने यौन-रस के प्रस्रवण के अभाव में अपने प्रियजनों को प्रसन्न एवं आह्लादित नहीं कर पातीं। इस विषय में नाट्यदर्पणकार के निम्नलिखित श्लोक उल्लेखनीय हैं जिनमें उन्होंने अपना मंतव्य प्रकट करते हुए लिखा है—

स कविस्तस्य काव्येन मर्त्या अपि सुधांधसः।
रसोर्मिघूर्णिता नाट्ये यस्य नृत्यति भारती॥
नानार्थशब्दलौल्येन परांचो ये रसामृतात्।
विद्वांसस्ते कवीन्द्राणामर्हन्ति न पुनः कथाम्॥
श्लेषालंकारभाजोऽपि रसानिष्यंद कर्कशः।
दुर्भगा इव कामिन्यः प्रणियन्ति न मनो गिरः॥

प्रतिभा के आधार पर कवियों के भेद

राजशेखर ने सहजा, आहार्या और औपदेशिकी संज्ञक तीन प्रकार की कारयित्री प्रतिभाओं के आधर पर भी कवियों के क्रमशः तीन प्रकार—सारस्वत, आभ्यासिक और औपदेशिक—माने हैं। 'सारस्वतः' कवि सहज बुद्धिमान् होने के साथ-साथ जन्मान्तरीय संस्कारों से प्रेरित 'सरस्वतीक' होता है। 'आभ्यासिक' कवि की भारती शास्त्राभ्यास के द्वारा उद्भासित होती है। 'औपदेशिक' कवि का काव्य प्रस्फुरण मन्त्रोपदेश आदि अनुष्ठानों द्वारा किया जा सकता है। आचार्यों का मत है कि सारस्वत और आभ्यासिक कवियों की वाणी द्राक्षा आदि की भांति प्रकृतिमधुरा होती है जिसके लिए तंत्रमंत्रादि फाणित संस्कारों की कोई आवश्यकता नहीं होती। राजशेखर के विचारानुसार यदि पूर्वोक्त दोनों प्रकार के कवि अन्य अनुष्ठान भी करें तो 'अधिकस्य अधिक फलम्' की भांति विशेष लाभान्वित भी हो सकते हैं क्योंकि अनेक बार सहज बुद्धिमत्ता भी अभ्यास और दैवी शक्ति से और अधिक प्रोद्भासित हो जाती है। इन तीन प्रकार के कवियों में 'सारस्वत' कवि ही सर्वश्रेष्ठ है। उसकी रचना सर्वथा पूर्ण और स्वतंत्र होती है जबकि आभ्यासिक कवि का निर्माण सीमित भी हो सकता है। औपदेशिक कवि की रचना सुन्दर होते हुए भी कभी-कभी सारहीन भी हो जाती है। विद्वानों का मत है कि यों तो काव्य-रचना करने वाले कवि अनेक प्रकार के होते हैं, किन्तु समस्त काव्य-

विद्यांगों में निष्णात, बुद्धिमान्, कृताभ्यास, मंत्रानुष्ठाननिष्ठ और दैवी शक्ति सम्पन्न कवि विरल ही होते हैं। वस्तुतः ऐसे कवियों को ही 'कविराज' पद से अलंकृत किया जा सकता है। आचार्यों ने काव्यगरिमा के प्रसार की दृष्टि से भी कवि-कोटियों का विचार किया है जिसके अनुसार कुछ कवियों का क्षेत्र उनके निजी आवास पर्यन्त ही व्याप्त रहता है तथा कतिपय कवियों का सुहृद्गोष्ठियों पर्यन्त। ऐसे कवि तो बहुत कम होते हैं जिनकी रचना सभी प्रकार के सहृदयों की वाणी पर नर्तन करती हुई उन्हें अजरता और अमरता प्रदान करती है। इस विषय में एक विद्वान् का कथन है—

एकस्य तिष्ठति कवेर्गृह एव काव्य-
मन्यस्य गच्छति सुहृदभवनानि यावत्।
न्यस्याविदग्धवदनेषु पदानि शश्व-
त्कस्यापि संचरति विश्वकुतूहलीव॥

कवियों के विशिष्ट प्रकार

राजशेखर ने चार प्रकार के विशिष्ट कवि भी माने हैं—असूर्यपश्य, निषण्ण, दत्तावसर और प्रायोजनिक। असूर्यपश्य कवि उसे कहते हैं जो गुहागर्भ अथवा भूमिग्रह आदि में प्रविष्ट होकर नैष्ठिक वृत्ति से काव्य-रचना करता है। ऐसे कवि के लिए काव्य-रचना का कोई निश्चित समय नहीं होता और वह सभी कालों में रचना कर सकता है। निषण्ण कवि वह है जो काव्य-रचना की आग्रहपूर्ण इच्छा होने पर ही काव्य-रचना करता है। उसमें किसी भी प्रकार की नैष्ठिक वृत्ति नहीं होती। निषण्ण कवि के लिए भी सब समय समान हैं क्योंकि वह जब चाहे तभी बैठकर काव्य लिख सकता है। जो कवि अपने अध्यापन या अन्यान्य सेवाकार्यों को यथासमय संपन्न करने के पश्चात् प्राप्त होने वाले अवकाश में काव्य-रचना का अवसर प्राप्त करता है, उसे दत्तावसर कवि कहते हैं। उसके लिए रचनाकाल निश्चित-सा है। रात्रि के चतुर्थ प्रहर के अर्द्धभाग अर्थात् सारस्वत मुहूर्त्त में उसकी बुद्धि प्रस्फुटित होती है। वह भोजनोपरांत समय में भी काव्य-रचना कर सकता है क्योंकि उस समय मानसिक तथा शारीरिक तृप्ति होने के कारण उसके चित्त में स्थिरता तथा स्फूर्ति रहती है। राजशेखर का मत है कि रमण के पश्चात् का समय भी काव्य-रचना के लिए अनुकूल है क्योंकि वासनाओं की निवृत्ति या श्रमकारक कार्यों की समाप्ति के उपरांत मन और इन्द्रियों की चपलता तथा बुभुक्षा शांत हो जाती है और चित्त में काव्य-रचना के अनुरूप एकाग्रता का संचार हो जाता है। कभी-कभी पालकी अथवा अन्य वाहनों द्वारा लम्बी यात्रा का समय भी काव्य-रचना के उपयुक्त होता है क्योंकि उस समय दत्तावसर-कवि के सम्मुख अन्य व्यग्रताएं न होने के कारण चित्त में समाधि की सी अवस्था रहती है। राजशेखर के मतानुसार विषयान्तरविनिवृत्त चित्त काव्य-रचना में उसी प्रकार रमता है जिस प्रकार रागों पर गुडूची (गुरुच) का लेप। इन समयों के अतिरिक्त दत्तावसर कवि को जब कभी काव्य-रचना के लिए अवकाश मिल जाय अथवा वह रचना-क्रिया में तल्लीन हो सके, तब भी काव्य-रचना की जा सकती है। प्रायोजनिक कवि का रचना-कार्य प्रयोजन

का वशवर्ती होता है। ऐसा कवि प्रसंगवशात् उपस्थित किसी भी विषय पर कविता लिख सकता है। काव्य-रचना के ये उपर्युक्त नियम बुद्धिमान् और आहार्य बुद्धि कवि के लिए निर्दिष्ट किये गये हैं। औपदेशिक कवि 'असूर्यपश्य' आदि की श्रेणी के नहीं होते। उनके लिए समय और नियम की कोई व्यवस्था नहीं है क्योंकि उनकी इच्छा ही उनके लिए काल और नियम हैं।[1]

राजशेखर ने प्रतिबिम्बकल्प, आलेख्यप्रख्य, तुल्येदेहितुल्य तथा परपुरप्रवेशसदृश नामक चार प्रकार के काव्यों के अर्थों के आधार पर कवियों के लिए अर्थहरण के बत्तीस उपाय निर्दिष्ट किये हैं। उन चारों के नाम और गुण के अनुरूप चार प्रकार के लौकिक कवि होते हैं जिनके नाम इस प्रकार हैं—भ्रामक, चुम्बक, कर्षक और द्रावक। प्रतिबिम्बकल्प काव्य-रचना करने वाला कवि 'भ्रामक', आलेख्य प्रख्य काव्य-रचयिता कवि 'चुम्बक', तुल्यदेहि तुल्य रचना करने वाला कवि 'कर्षक' और परपुरप्रवेश सदृश काव्य लिखने वाला कवि 'द्रावक' कहलाता है। इनके अतिरिक्त अयोनि अर्थात् मौलिक कल्पना करने वाले कवि को 'चिंतामणि' कहते हैं।

कवियों की विभिन्न अवस्थाएं

आचार्यों ने कवियों की अवस्थाओं का भी विवेचन किया है। उनके मतानुसार बुद्धिमान् और आहार्यबुद्धि कवियों की सात तथा औपदेशिक कवि की तीन अवस्थाएं होती हैं जिनका योग करने से कवियों की कुल मिलाकर दस अवस्थाएं हो जाती हैं जिनके नाम इस प्रकार हैं—१. काव्यविद्यास्नातक, २. हृदय-कवि, ३. अन्यापदेशी, ४. सेविता, ५. घटमान, ६. महाकवि, ७. कविराज, ८. आवेशिक, ९. अविच्छेदी और १०. संक्रामयिता। काव्यविद्यास्नातक कवि उसे कहते हैं जो कवित्व-प्राप्ति की कामना से गुरुकुल में प्रविष्ट होकर काव्य और उसके अंगभूत अलंकार छंद और कला आदि विधाओं का ज्ञानार्जन करता है। हृदय कवि अपने मन ही मन काव्य-रचना करता है किंतु संकोच तथा दोष के भय से उसे किसी के सम्मुख प्रकट नहीं करता। अन्यापदेशी कवि स्वनिर्मित रचनाओं को किसी दोष अथवा प्रतिकूल आलोचना के भय से किसी अन्य कवि की रचना कहकर अन्यों के सम्मुख प्रस्तुत करता है। सेविता कवि का पौरस्त्य कवियों में से किसी एक कवि को अपना आदर्श बनाकर उसकी छाया पर काव्याभ्यास करना है। घटमान कवि किसी प्रबंध काव्य की रचना न कर प्रकीर्णरूप से भिन्न-भिन्न विषयों पर स्फुट रचनाएं करता है। महाकवि किसी एक महान् प्रबंध काव्य का निर्माता होता है। 'कविराज' की श्रेणी अन्य सभी कवियों से श्रेष्ठतम है क्योंकि उसमें भिन्न-भिन्न भाषाओं में भिन्न-भिन्न रसों में प्रबंध काव्यों की निर्बाध रचना करने की शक्ति होती है। ऐसे कवि संसार में बहुत कम संख्या में होते हैं। आवेशिक कवियों की काव्य-रचना मंत्रादि के उपदेश और अनुष्ठान आदि के आचरण से निर्मित होती है। अविच्छेदी कवि में किसी भी विषय पर धारा प्रवाह रचना करने का सामर्थ्य

1. राजशेखर, काव्यमीमांसा, प्रकाशक—बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना, पृ० १२८-१२९।

होता है। संक्रामयिता कवि उसे कहते हैं जो किसी अविवाहित कन्या या कुमार पर मंत्र शक्ति द्वारा सरस्वती का संचार कर उनसे काव्य-रचना कराता है।

काव्यशिक्षा के अधिकार की दृष्टि से कवियों के भेद

वामन ने 'काव्यालंकारसूत्रवृत्ति' नामक ग्रंथ के प्रथमाधिकरण के द्वितीय अध्याय में काव्याधिकारियों का विमर्श करते हुए काव्यभावकों की भांति कवियों के भी दो प्रकार निर्दिष्ट किये हैं—अरोचकी और सतृणाभ्यवहारी। कवियों के लिए ये दोनों शब्द सादृश्यमूला गौणी लक्षणा से प्रयुक्त हुए हैं। 'अरोचकी' पद का विवक्षित अर्थ है 'विवेकित्व' तथा 'सतृणाभ्यवहारी' शब्द का विवक्षित अर्थ है 'अविवेकत्व'। वामन का मत है कि इन दो प्रकार के कवियों में प्रथम अर्थात् अरोचकी कवि ही विवेकी होने से शिक्षा का अधिकारी है जबकि सतृणाभ्यवहारी कवि अपनी अविवेकशीलता के कारण काव्य शिक्षा का अधिकारी नहीं है। अपने मुख्यार्थ में भी सतृणाभ्यवहारी पद का अर्थ है तिनके आदि के सहित खा जाने वाला। इसका मुख्य अभिप्राय यह है कि जिस प्रकार कोई अविवेकी व्यक्ति अपने भोजन के विपर्यास का विचार न कर तिनकों सहित उसे खा जाता है और उसे कुछ भी पता नहीं चलता, उसी प्रकार सतृणाभ्यवहारी कवि भी अपने अविवेक के कारण काव्य शिक्षा का कुछ भी महत्त्व नहीं समझता है और विवेक बुद्धि से विहीन होता है। 'अरोचकी' शब्द का मुख्य अर्थ है 'स्वरुचिप्रिय व्यक्ति, जिसकी सुरुचि के प्रतिकूल भोजनादि में कुछ भी पदार्थ आ जाय तो वह उसे कदर्थित करने में संकोच नहीं करता। ऐसे व्यक्ति की भांति अरोचकी कवि को अपनी सुरुचि के विरुद्ध कोई बात पसंद नहीं आती और यह विवेकसम्मत विधि से ही काव्यशिक्षा को ग्रहण करने के लिए सदैव प्रस्तुत रहता है। वामन का मत है कि काव्य-शिक्षा के अनधिकारी अर्थात् अविवेकी और अयोग्य व्यक्तियों को शस्त्र-विद्या का उपदेश देना व्यर्थ है, क्योंकि उनपर सदुपदेशों का कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ता। इस विषय को अधिक स्पष्ट करने के प्रयोजन से वामन ने एक अत्यंत उपयुक्त उदाहरण प्रस्तुत किया है और वह यह है कि जिस प्रकार कतक वृक्ष का फल जल को स्वच्छ करने की तो शक्ति रखता है किंतु पंक को स्वच्छ करने में असमर्थ होता है उसी प्रकार काव्यशिक्षा का उपदेश अरोचकी अर्थात् विवेकी कवि के बुद्धि-वैभव को तो निर्मल बना देता है किंतु सतृणाभ्यवहारी अर्थात् अविवेकी कवि के लिए वह व्यर्थ-सा सिद्ध होता है।

(३) काव्य-सर्जना के प्रयोजन

काव्य-सर्जना के प्रेरक तत्त्वों के साथ उसके प्रयोजनों का भी घनिष्ट सम्बन्ध है। उनके अंतर्गत इस बात का विचार किया जाता है कि जिस प्रेरणा से किसी काव्य-कृति की सर्जना होती है उसका अभीष्ट मंतव्य क्या है। भारतीय और पाश्चात्य विद्वानों ने काव्य-प्रयोजनों का विश्लेषण अत्यंत व्यापक और गंभीर दृष्टि से किया है। यहां के दार्शनिकों ने आत्मा को मनोमय और प्राणमय कहकर उसके वाङ्मय रूप का

विवेचन करते हुए उसके वाणी रूप अभिव्यंजना में एक प्रकार से काव्य-प्रयोजन का ही तात्त्विक संकेत कर दिया है। यशार्जन, धन-प्राप्ति, व्यावहारिक ज्ञान, शिवेतरक्षति, लोकोत्तर आनंदानुभूति तथा कांतासम्मित उपदेश आदि विषय भारतीय दृष्टि में काव्य के प्रमुख प्रयोजन हैं जिन्हें किसी न किसी रूप में सभी आचार्यों ने स्वीकार किया है। 'प्रयोजनमनुद्दिश्य न मंदोऽपि प्रवर्तते' की उक्ति से भी प्रयोजन की जीवनगत महत्ता सिद्ध होती है। काव्य-सर्जना के हेतु-तत्त्वों की विवेचना के पश्चात् अब हम भारतीय दृष्टि से काव्य के प्रयोजनों का विवेचन करेंगे जिसके मूल में नैतिकता, आदर्श और अध्यात्मवाद की भावनाएं स्वतः अनुस्यूत हैं। हमारा यह विवेचन आचार्य भामह से प्रारम्भ होकर मुख्य-मुख्य काव्यशास्त्रियों की मान्यताओं के आलोक में प्रतिपादित होगा।

काव्यप्रयोजनविषयक विभिन्न अभिमत

काव्यालंकारकार आचार्य भामह ने काव्य-प्रयोजन का निरूपण करते हुए लिखा है कि 'सत्काव्य का निर्माण धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष एवं कलाओं में वैचक्षण्य, आनंद तथा यश प्रदान करता है।'[1] उनका यह प्रयोजन-विश्लेषण कवि तथा भावक दोनों के लिए उपादेय है। भामह ने काव्य-प्रयोजन की निर्देशिका कारिका में मूलतः 'साधुकाव्य-निबंधनम्' पाठ रखा था या 'साधुकाव्यनिषेवणम्' पाठ यह एक विवादास्पद विषय है। साहित्यदर्पण तथा ध्वन्यालोकलोचन में 'निबंधनम्' के स्थान पर 'निषेवणम्' पाठ मिलत है जो अधिक व्यापक प्रतीत होता है, क्योंकि उससे काव्य के निर्माण और भावन दोनों का अभिप्राय ग्रहण किया जा सकता है। यों तो ये प्रयोजन काव्य के सर्जनात्मक पक्ष से सम्बन्धित हैं, किंतु लक्षण-ग्रन्थों की काव्यांगनिरूपकता को ध्यान में रखते हुए इन्हें उनके प्रयोजन भी माना जा सकता है। इन प्रयोजनों में भारतीय तत्त्व-चिंतकों की अध्यात्मपरक आदर्शवादी दृष्टि का भी आभास मिलता है। यहां के आचार्यों ने काव्य का प्रयोजन केवल प्रेयतत्त्व और लौकिक विधान को ही नहीं माना, अपितु उसे श्रेयत्व तथा आमुष्मिक भावनाओं से भी युक्त बना दिया। इसका प्रमाण काव्य-प्रयोजनों में निर्दिष्ट मोक्ष भावना है। कहने की आवश्यकता नहीं कि भरत मुनि के अनुक्रम से आचार्य भामह ही ऐसे प्रथम आचार्य हैं जिन्होंने काव्य-प्रयोजनों का उल्लेख अत्यन्त व्यापक दृष्टि से किया है। उनकी मान्यता का पर्याप्त प्रभाव परवर्ती आचार्यों पर भी परिलक्षित होता है। रुद्रट, कुंतक और विश्वनाथ आदि आचार्यों ने भी काव्यप्रयोजनों में क्रमशः 'चतुवर्ग' 'धर्मादिसाधनोपाय' और 'चतुर्वर्गफल प्राप्ति' का उल्लेख किया है जो भामह की मान्यता की ही प्रतिध्वनि है। भामह ने 'काव्यनिषेवणम्' अथवा 'काव्य-निबंधनम्' पद के पूर्व 'साधु' शब्द जोड़कर काव्य की सत्कर्मता की ओर भी संकेत किया है। वस्तुतः साधुकाव्य की सर्जना ही कवि का ध्येय होना चाहिए, क्योंकि उसी से जीवन का उन्नयन और चतुर्वर्ग की प्राप्ति सम्भव है। उन्होंने तो एक स्थल पर 'रहिता सत्कवि-

---

१. धर्मार्थकाममोक्षेषु वैचक्षण्यं कलासु च।
करोति प्रीतिं कीर्तिं च साधुकाव्यनिबंधनम्॥—काव्यालंकार, १।२।

त्वेन कीदृशी वाग्विदग्धता' द्वारा सत्काव्य में ही कवि का वाग्वैदग्ध्य माना है जो उनके आदर्शवादी दृष्टिकोण का प्रतीक है। काव्य से चतुर्वर्ग की तो प्राप्ति होती है, साथ ही साथ उससे कलाओं में भी प्रवीणता प्राप्त होती है। इस उपलब्धि का मुख्य संबंध काव्य के सहृदय पाठकों से है। आनंद का व्यावहारिक सम्बन्ध भले ही पाठकों से माना जाय किंतु मूल संबंध तो काव्यस्रष्टा से ही है, क्योंकि काव्य की रचना द्वारा सर्वप्रथम आनंदोपलब्धि तो वही करता है। काव्य द्वारा कीर्ति की सम्प्राप्ति तो काव्य-निर्माता को ही होती है। जहां तक चतुर्वर्ग की प्राप्ति का फल है वह कवि तथा सहृदय दोनों को ही उपलब्ध हो सकती है। भामह ने कारिका में जो 'प्रीति' शब्द रखा है, वह प्रेम का सूचक न होकर प्रसन्नता का प्रतीक है क्योंकि अमरकोष में भी 'मुत् प्रीतिः प्रमदो हर्षः प्रमोदामोदसंवदाः' द्वारा यही बात कही गई है।[1]

वामन ने काव्य-प्रयोजनों को निरूपित करते हुए लिखा है कि सत्काव्य एक ओर जहां कवि और पाठक दोनों की प्रीति (आनंद) का हेतु होने से दृष्ट अर्थात् लौकिक फल वाला होता है तो दूसरी ओर वह कवि के जीवनकाल तथा उसके निधन के पश्चात् भी कीर्ति का हेतु होने से अदृष्ट अर्थात् आमुष्मिक फल वाला भी कहा जाता है। उसकी रचना की प्रतिष्ठा यश-प्राप्ति की सरणि कही गई है जबकि कुकवित्व की विडम्बना को अकीर्ति का मार्ग निर्दिष्ट किया गया है। विद्वानों ने कीर्ति को स्वर्गफल प्रदात्री और 'यावच्चन्द्र दिवाकरौ' रहने वाली कहा है जब कि अकीर्ति को आलोकहीन नरक स्थान की दूती माना है। ऐसी स्थिति में वामन का भी यही मत है कि कीर्ति की उपलब्धि तथा अकीर्ति के विनाश के लिए सत्कवियों को ऐसे सुन्दर काव्य के निर्माण का प्रयत्न करना चाहिए जो कुकवित्व के दोषों से विहीन तथा श्रेष्ठ काव्य के गुणों से अलंकृत हो। कहने की आवश्यकता नहीं कि इस प्रकार की योग्यता सम्पादित कराने में काव्य-शास्त्रीय ग्रंथों का भी अत्यन्त महत्त्व है जिनके कारण उनके भी वे ही प्रयोजन सिद्ध होते हैं जो काव्यकृतियों के हैं। वामन का यह काव्य-प्रयोजन-विवेचन 'काव्यं सद् दृष्टादृष्टार्थ प्रीतिकीर्तिहेतुत्वात्' जैसे संक्षिप्त सूत्र समाविष्ट हो गया है जिसका पल्लवन हमें पर-वर्ती आचार्यों में मिलता है। इस विषय के वामन के उक्त सूत्र के वृत्त्यंतर्गत प्रयुक्त निम्नलिखित श्लोक उल्लेखनीय हैं—

प्रतिष्ठां काव्यबंधस्य यशसः सरणिं विदुः।
अकीर्तिवर्तिनीं त्वेवं कुकवित्व विडम्बनाम्।।
कीर्ति स्वर्गफलमाहुरासंसारं विपश्चितः।
अकीर्ति तु निरालोकनरकोद्देशदूतिकाम्।।
तस्मात् कीर्तिमुपादातुमकीर्ति च निर्बर्हितुम्।
काव्यालंकारसूत्रार्थः प्रसाद्यः कविपुंगवैः।[2]

आचार्य मम्मट ने काव्यप्रकाश में काव्य के जो छः प्रयोजन प्रतिपादित किये हैं उनमें से तीन प्रयोजनों को मुख्यतः कविनिष्ठ और शेष को मुख्यतः पाठकनिष्ठ कह

१. अमरकोष, ४।२४।
२. वामन, काव्यालंकारसूत्र वृत्तिः, १।१।५।१-३।

सकते हैं। 'यश', 'अर्थ-प्राप्ति' और 'शिवेतरक्षति' नामक प्रयोजन मुख्यतः कवि के उद्देश्य से निरूपित किये गये हैं जबकि 'व्यवहारज्ञान', 'सद्यः परनिर्वृति' तथा 'कांता-सम्मित उपदेश' मुख्यतः पाठकों के उद्देश्य से उल्लखित हुए हैं। इन प्रयोजनों के निरूपण से इस बात का सहज ही ज्ञान हो जाता है कि संस्कृत काव्य-शास्त्र की परम्परा में काव्य-प्रयोजनों का विकास किस रूप में हुआ था। मम्मट विवेचित काव्य-प्रयोजनों का उल्लेख उनकी निम्नलिखित कारिका में निरूपित है—

काव्यं यशसेऽर्थकृते व्यवहारविदे शिवेतरक्षतये।
सद्यः पर निर्वृत्तये कांतासम्मिततयोपदेशयुजे ॥[1]

यश-लिप्सा काव्य-सर्जना का एक ऐसा महिमामय प्रयोजन है जिससे अनुप्रेरित होकर अनेकानेक कवियों ने अपने अमर काव्यों की सृष्टि की है। इस विषय में रुद्रट का कहना है कि 'काव्य' के निर्माण से एक महाकवि की सुदृढ़ महिमा सहृदय पाठकों के मन में ऐसे प्रकार में प्रसारित हो जाती है कि वह उसके द्वारा कल्पांत स्थायी और सकल लोककमनीय हिमधवल यश को प्राप्त करने में समर्थ होता है।[2] आचार्य भामह के अनुसार 'यद्यपि उत्तम काव्यों के प्रणेता दिवंगत हो गये हैं, तथापि उनका काव्यमय कांतवपु इस लोक में निरातंक और अविनश्वर रूप में विद्यमान है। वस्तुतः कवि-कीर्ति में पृथ्वी और आकाश को आच्छादित करने की शक्ति सन्निहित है और उसके उपभोक्ता कवि देवपद पर आसीन होकर असाधारण प्रतिष्ठा प्राप्त करते हैं।[3] रुद्रट ने काव्य-निष्पन्न यश की अमरता को ध्यान में रखकर ही कवियों को इस विषय का परामर्श दिया है कि वे एकाग्रचित्त होकर निर्दोष काव्य के निर्माण में प्रयत्नशील हों जिससे उन्हें महर्षि व्यास आदि के समान परम यश प्राप्त हो सके।[4]

आचार्य कुंतक ने 'वक्रोक्तिजीवित' के प्रथमोन्मेष की तीन कारिकाओं में (कारिका संख्या तीन से ५ पर्यन्त) काव्य के प्रयोजनों का वर्णन करते हुए लिखा है—

धर्मादिसाधनोपायः सुकुमारक्रमोदितः।
काव्यबंधोऽभिजातानां हृदयाह्लादकारकः ॥ १।३ ॥
व्यवहारपरिस्पन्दसौन्दर्यं व्यवहारिभिः।
सत्काव्याधिगमादेव नूतनौचित्यमाप्यते ॥ १।४ ॥
चतुर्वर्गफलास्वादमप्यतिक्रम्य तद्विदाम्।
काव्यामृतरसेनान्तश्चमत्कारो वितन्यते ॥ १।५ ॥

—अर्थात् काव्यबंध उच्चवंश में उत्पन्न क्लेशभीरु और सुकुमार मति राजकुमार आदि के हृदयों को आह्लादित करने वाला कोमल तथा मधुर शैली में अभिहित धर्मादि साधनों का उपाय (मार्ग) है। १।३ ॥ लौकिक व्यवहार करने वाले पुरुषों को अनुदिन

१. मम्मट, काव्यप्रकाश, १।२।
२. रुद्रट, काव्यालंकार, १।२१।
३. भामह, काव्यालंकार, १।६-७।
४ रुद्रट, काव्यालंकार, १।२२

के नूतन औचित्य से युक्त, व्यवहार तथा चेष्टा आदि का सौन्दर्य सत्काव्य के अनुशीलन से ही प्राप्त होता है। १।४।। काव्यामृत का रस काव्यवेत्ता सहृदयों के अन्त:करण में चतुर्वर्गरूप फल के आस्वाद से भी अधिकतर चमत्कार को उत्पन्न करता है। १।५।।

कुन्तक ने उपर्युक्त कारिकाओं के वृत्ति भाग में काव्य-प्रयोजनों को और अधिक स्पष्ट किया है। उनके मतानुसार काव्यबंध चाहे सर्गबद्ध महाकाव्य के रूप में हो अथवा मुक्तक रचनाओं के रूप में—दोनों ही प्रकारों में वह चित्तवृत्तियों के लिए आनन्दजनक है। उन्होंने काव्य की आह्लादमयता मुख्यत: उच्चकुलोत्पन्न राजपुत्र आदि के लिए निरूपित की है क्योंकि वे धर्मादिरूप पुरुषार्थ चतुष्ट्य के अभिलाषी और विजयाकांक्षी होने पर भी अपने सुकुमार स्वभाववश क्लेशभीरु होते हैं। उनके लिए काव्यबंध यदि क्रीडनकवत् बनकर प्रस्तुत हों तो वे मनोरंजन के साथ-साथ धर्मादि पुरुषार्थों की उपलब्धि भी कर सकते हैं। यों तो पुरुषार्थ-चतुष्ट्य का उपदेश काव्येतर शास्त्र भी प्रदान करते हैं, किंतु काव्य का उपदेश-क्रम अत्यंत सुकुमार और सहृदय हृदयहारी होता है जिसमें किसी भी प्रकार का काठिन्य अथवा दुरवगाह नहीं। कुंतक ने अभिजातवर्गीय राजकुमारों के लिए जिस काव्य-प्रयोजन का उल्लेख किया है उसका केवल इतना ही अभिप्राय है कि सामान्य जनों की अपेक्षा वे अपनी वैभवसम्पन्नतावश अधिक प्रमादग्रस्त हो जाते हैं जिन्हें सुपथगामी बनाने का सर्वोत्तम साधन काव्यानुशीलन ही है। जब काव्य द्वारा वे भी 'रामादिवत् प्रवर्तितव्यं न रावणादिवत्' के मधुरोपदेश से प्रभावित किये जा सकते हैं तो इतर जनों के उपदेश्य होने में कोई कठिनाई हो ही नहीं सकती। कुंतक ने 'अभिजात' पद का प्रयोग अत्यंत विवेकसम्मत विधि में किया है।

काव्य की निर्दोषिता, गुणवत्ता, अलंकारिता और रसान्विति पर बल देते हुए भोजदेव ने भी लिखा है कि इन लक्षणों से समन्वित काव्य की रचना करने वाला कवि 'कीर्ति' तथा 'प्रीति' की उपलब्धि करता है।[1] 'प्रीति' पद से भोज का अभिप्राय सम्पूर्ण काव्यार्थ के आस्वादन से उद्‌भूत आनन्द से ही है जो केवल काव्य-रचयिता के मानसिक आह्लाद का व्यक्तिगत विषय ही नहीं अपितु सहृदयश्लाघा से जनित उसके उल्लास का भी विषय है। कीर्ति को तो अदृष्ट द्वारा स्वर्गफल की प्राप्ति भी कहा गया है जैसाकि 'कीर्ति स्वर्गफलामाहु:' की उक्ति से स्पष्ट है। इस प्रकार भोज के मत से प्रीति और कीर्ति काव्य के प्रमुख प्रयोजन कहे जा सकते हैं।

महिमभट्ट के मतानुसार सामान्य रूप से दोनों ही प्रकार के काव्यों (अभिनेय और अनभिनेय) का प्रयोजन अथवा फल शास्त्र की ही भांति विधि और निषेध की व्युत्पत्ति है। यदि काव्य, नाट्य और शास्त्र रूप उपायों में जो मात्राभेद अथवा वैभिन्न्य पाया जाता है तो वह केवल व्युत्पाद्य व्यक्ति की जड़ता या बुद्धिमत्ता के तारतम्य पर

१. निर्दोषं गुणवत्काव्यमलंकारैरलंकृतम्।
रसान्वितं कवि: कुर्वन् कीर्ति प्रीतिं च विंदति।—सरस्वतीकंठाभरण, १।२।

आधारित है न कि उसके फल पर क्योंकि उन तीनों से प्राप्त होने वाले फल में कोई तात्त्विक अन्तर नहीं रहता।'[1]

काव्यालंकारकार रुद्रट ने जिन काव्य-प्रयोजनों की चर्चा की है वे अनेक विषयों में उनके पूर्ववर्ती और परवर्ती आचार्यों की विचारधारा से पर्याप्त साम्य रखते हैं। उन्होंने भी काव्य का प्राथमिक प्रयोजन कवि तथा काव्य-नायक के यश का विस्तार माना है। वस्तुतः कवि की वाणी अलंकारों के योग से देदीप्यमान तथा दोषाभाव के कारण निर्मल बनकर जिस सरस काव्य की रचना करती है वह कल्प पर्यन्त अमर और अवदात रहता है। ऐसे कवियों की वाणी से उद्‌गीथ काव्य-नायकों ने जो स्थायी कीर्ति प्राप्त की है वह अन्य किसी भी साधन के द्वारा उसी रूप में धवलित और प्रकाशित हो पाती, इसमें संदेह ही है। इसका कारण यह है कि कवि-प्रतिभा में एक ऐसा अलौकिक चमत्कार रहता है जिसके कारण काव्यकार अपनी कलात्मक अभिव्यक्ति द्वारा काव्य-वर्णित कथा-नायकों के चरित्रों का विकास भव्यतम विधि से करता हुआ उन्हें नित्य-नवीन भास्वरता प्रदान करने में समर्थ होता है। यह कवि की वाणी का ही प्रभाव है जिसके कारण काव्य-वर्णित चरित्रों को काल-सीमा का व्यवधान धूमिल नहीं कर पाता। रुद्रट ने यश को काव्य-प्रयोजन के अंग रूप में विवेचित कर रस को काव्य का अनिवार्य तत्त्व माना है तथा अलंकारों को कवि-कर्म की उज्ज्वलता तथा दोषाभाव को काव्य-निर्मलता का अनिवार्य साधन। वस्तुतः अलंकारों, गुणों तथा रसों के समावेश से ही काव्य की सिद्धि होती हैं एवं इनका समुचित संयोजन ही काव्य-विषय और काव्यकृति को अमरत्त्व प्रदान करता है, यही उनके कथन का मुख्य आशय है।[2]

प्रश्न होता है कि जिन महापुरुषों के जीवन-चरित्रों को काव्यकार अपनी कथा-वस्तु बनाकर प्रस्तुत करता है वे तो अपने गुणों और कार्यों से स्वतः ही उज्ज्वल यश के अधिकारी हैं फिर उनको कीर्तिकलित बनाने में कवि-कर्म को श्रेय क्यों प्रदान किया जाय? इसका सीधा उत्तर यही है कि जो महापुरुष देवालय, मठ, सार्वजनिक सेवासदन आदि स्थानों के निर्माण तथा जनहितैषी कार्यों द्वारा अपने यश का विस्तार करते हैं, वह यश उक्त कार्यों की सत्ता और स्थिति पर्यन्त ही अपना अस्तित्त्व रख सकता है किंतु कवि की अक्षर-वाणी में अनुस्यूत होने पर उसे निश्चय ही अमर विभूति प्राप्त हो जाती है। राम, कृष्ण, बुद्ध और रघुवंशीय नरेशों के चरित्र को शाश्वत सुयश प्रदान करने में वाल्मीकि, व्यास, अश्वघोष और कालिदास आदि कवियों की कारयित्री प्रतिभा को इसी हेतु सर्वाधिक गुरुता प्रदान की गई है। सच तो यह है कि कवि-वर्णित नायक-चरित ही तथाकथित नायकों की महत्ता के ज्वलन्त प्रमाण हैं क्योंकि उनमें लोकहृदय को स्वसंवेद्य बनाने की अद्‌भुत क्षमता होती है। कविजनों के महत् कार्य को महज्जनों की कीर्ति का उपकारीभूत साधन मानते हुए आचार्य रुद्रट ने उचित ही कहा है—

---

१. 'सामान्येनोभयमपि च तद् शास्त्रवद् विधिनिषेध विषय व्युत्पत्तिफलम्। केवल व्युत्पाद्य जन जाड्या जाड्यतारतम्यापेक्षया काव्य नाट्य शास्त्ररूपो यमुपायमात्र भेदो न फलभदे।'

—व्यक्तिविवेक, चौखम्बा प्रकाशन, पृ० १०१।

२. रुद्रट, काव्यालंकार, १।६।

'इत्थं स्थास्नु गरीयो विमलोमलं सकललोककमनीयम्।
यो यस्य यशस्तनुते तेन कथं तस्य नोपकृतम्।[१]

काव्य-वर्णित महज्जनों का चरित धर्मचर्चा की प्रेरणा का एक ऐसा साधन है जिसका समर्थन भारत की आदर्शवादी विचारधारा तथा धर्मप्राण जनता ने मुक्तकंठ से किया है। वह कांतासम्मित उपदेश का निदर्शन और सत्कार्यों की ओर प्रवृत्त करने का हेतु है। उसके द्वारा चतुर्वर्ग की फल-प्राप्ति भी हो सकती है। रुद्रट के शब्दों में 'काव्य-वर्णित देवस्तोत्र आदि के द्वारा धन की प्राप्ति, अनर्थ का उपशमन, असाधारण सुख और शांति की उपलब्धि तथा इस लोक में मनोकामनाओं की प्रपूर्त्ति एवं परलोक में मोक्ष-सिद्धि भी की जा सकती है।[२] 'उदाहरणार्थ अनिरुद्ध आदि कवियों ने दुर्गा-स्तुति द्वारा अपनी पराधीनता का विपद्सिंधु उत्तीर्ण किया है तो वीर देव आदि कवियों ने उसमें अपनी रोग-विमुक्ति का साधन जुटाया है। राजाओं का आश्रय ग्रहण करने वाले कवियों ने किसी समय जो लौकिक अभ्युदय प्राप्त किया था, वह आज भी इतिहास-प्रसिद्ध वार्ता है। यद्यपि आज न तो वैसे रससिद्ध कवि ही रहे हैं और न वैसे प्रख्यात चरित काव्यनायक ही, तथापि यदि किसी कवि में दैवी चरित्रों के प्रति सहृदयजन-सुलभ आस्था हो तो वह उनकी गुण-गरिमा का काव्य-संस्तव करता हुआ आज भी अपनी अभीष्ट सिद्धि कर सकता है, ऐसा परम्परावादी आचार्यों का अभिमत है।[३] वस्तुतः कवि-कर्म अथवा काव्य तो 'गुरुगुणमणिसागर' है जिसकी अगाधता और अपारता की थाह लेना सामान्यजन सुलभ कार्य नहीं है। उस काव्य-रत्नाकर की लहरियों का हास-विलास महज्जनों की चारु चरितावली से ही संभव है, इस तथ्य को बिना विस्मृत किये जो कवि अपनी रचनाएं प्रस्तुत करता है वह परम्परावादी आचार्यों की मान्यताओं के अधिक अनुकूल है। रुद्रट ने इसी तथ्य को ध्यान में रखते हुए काव्य-प्रयोजनों का जो विश्लेषण किया है उससे भी यही निष्कर्ष निकलता है कि पुरुषार्थचतुष्टय की पूर्ण और विशद सिद्धि की आकांक्षा रखने वाले तथा निपुण एवं सम्पूर्ण पदार्थों के ज्ञाता कवियों को निर्दोष काव्य-रचना का सतत प्रयास करना चाहिए।[४] जिस प्रकार विद्वज्जनों के ज्ञान का सुफल उन्हें पद, वाक्य, और प्रमाण शास्त्रों के पवित्र आकलन द्वारा प्राप्त होता है उसी प्रकार सुन्दर काव्य-रचना द्वारा उनकी पावनीकृत वाणी भी सुफल हो जाती है, इस तथ्य को दृष्टिगत करके ही काव्य-रचना का सतत अभ्यास करना परम प्रयोजनीय है।[५] रसगंगाधरकार पंडित-राज जगन्नाथ ने काव्यलक्षणनिरूपक सूत्र की अवतारणा के पूर्व 'कीर्ति' 'परमाह्लाद' और 'गुरु, राजा तथा देवताओं के प्रसाद आदि विषयों को काव्य के प्रयोजन अथवा फल के रूप में निरूपित किया है जिनमें मम्मट आदि अन्य आचार्यों द्वारा निर्दिष्ट काव्य-प्रयोजनों का भी स्वतः समाहार हो गया है। काव्यकार अपने कवि कर्म द्वारा यशः प्राप्ति

---

१. रुद्रट, काव्यालंकार, १।६।
२. वही, १।८।
३. वही, १।९-१०।
४. रुद्रट, काव्यालंकार, १।१२।
५. वही, १।१३।

करना चाहे अथवा न चाहे—उसकी उपलब्धि तो उसे होकर ही रहती है। 'परमाह्लाद' वैद्यान्तरसम्पर्कशून्य अद्वितीय आनन्द तो गुरु और देवताओं के प्रसाद से प्रत्यवाय-निवारण तथा राजप्रसाद से धन-प्राप्ति स्वाभाविक है। व्यवहारज्ञान तथा कान्तासम्मित उपदेश का अन्तर्भाव भी उक्त प्रयोजनों में स्वभावतः अनुस्यूत है। इन प्रयोजनों से चतुर्वर्ग प्राप्ति की ध्वनि प्राप्त करना भी कठिन नहीं है। पण्डितराज ने काव्य की व्युत्पत्ति अर्थात् 'निपुणता रूप तद्विषयक विशिष्ट ज्ञान' की आवश्यकता न केवल कवि के लिए ही प्रयोजनीय मानी है अपितु 'सहृदय' के लिए भी उसकी उपयोगिता स्वीकार की है जिससे स्पष्ट है कि वे काव्य तथा काव्य शास्त्र का ज्ञान काव्य-स्रष्टा और काव्यास्वादयिता इन दोनों के लिए परम प्रयोजनीय समझते थे।

आचार्य विश्वनाथ ने अपने प्रसिद्ध ग्रंथ साहित्यदर्पण से अलंकारशास्त्र तथा काव्य-कृति के प्रयोजनों में अभिन्नता निरूपित की है। उनके मतानुसार दोनों की फलसिद्धि पुरुषार्थचतुष्टय की उपलब्धि है। काव्य का स्वरूप विवेचित करने के पूर्व उन्होंने इस बात का स्पष्ट उल्लेख निम्नलिखित प्रकार से किया है—

चतुर्वर्गफलप्राप्तिः, सुखादल्पधियामपि।
काव्यादेव यतस्तेन तत्स्वरूपं निगद्यते ॥[1]

काव्य द्वारा अल्प बुद्धि मनुष्य को किस प्रकार अनायास ही चतुर्वर्ग की फल-प्राप्ति होती है, इसका भी सामान्य विवेचन विश्वनाथ ने किया है। उनका स्पष्ट मत है कि काव्य द्वारा चतुर्वर्ग की फल-प्राप्ति का यह रहस्य है कि वह हमें 'रामादिवत्प्रव-र्तितव्यं न रावणादिवत्' इत्यादि कृताकृत्य की प्रवृत्ति निवृत्युपदेश द्वारा उद्बुद्ध करता है। अपने कथन की पुष्टि में उन्होंने आचार्य भामह का निम्नलिखित श्लोक उद्धृत किया है जिसके अन्तर्गत साधु काव्यानुशीलन का एक प्रमुख प्रयोजन धर्मार्थकाममोक्ष सिद्ध में संगुम्फित माना गया है। यह उल्लेख अग्निपुराण के काव्यशास्त्रीय अंग से भी समर्थित है। यथा—

धर्मार्थिकाक्षमोक्षेषु वैचक्षण्यं कलासु च।
करोति कीर्ति प्रीतिम् च साधुकाव्यनिबंधनम्।

विश्वनाथ ने काव्य द्वारा धर्म-प्राप्ति का उत्स भगवन्नारायण के चरणारविन्दों में समर्पित काव्य-स्तवों अथवा स्तोत्र-काव्य-रचनाओं में देखा है। अपने कथन की पुष्टि में उन्होंने उस सुप्रसिद्ध वेद वाक्य को उद्धृत किया है जिसके अनुसार 'एकः शब्दः सुप्रयुक्तः सम्यक्ज्ञातः स्वर्गे लोके कामधुग्भवति।' अर्थात् एक ही सुप्रयुक्त एवं सम्यक् ज्ञात शब्द स्वर्ग तथा लोक में कामधेनु के समान अभीष्ट सिद्धिप्रदायक होता है। 'उन्होंने काव्य द्वारा अर्थप्राप्ति को प्रत्यक्ष सिद्ध कहकर अर्थ द्वारा ही कामसिद्धि मानी है। काव्य को वे मोक्ष-प्राप्ति का साधन इस रूप में मानते हैं कि उसके द्वारा धर्मफल का अनुसंधान होता है और वह मोक्षोपयोगी विषयों की उत्पत्ति का आधायक धर्म है। यहां इस बात का संकेत करना आवश्यक है कि भारतीय जीवन का चरम लक्ष्य चतुर्वर्गप्राप्ति

१. साहित्यदर्पण, १।२।

है और वह वेद-शास्त्रों के आकलन द्वारा भी उपलब्ध की जा सकती है किन्तु साहित्य दर्पणकार के अनुसार वह एक ऐसी नीरस और दुःखद साधना है जो केवल प्रौढ़बुद्धि व्यक्तियों के लिए संभव है। इस विषय में उनका अभिमत है कि उपर्युक्त पुरुषार्थ-चतुष्टय की प्राप्ति सुकुमार मति पाठकों को केवल काव्यानुसेवन द्वारा सहज परमानन्द-संदोहजनक भाव से हो जाती है अतः वह अधिक सुग्राह्य है।

(४) काव्य-सर्जना की प्रेरणाएं

काव्य-सर्जना की प्रेरणाओं का विषय अपने आप में इतना अधिक रोचक एवं महत्त्वपूर्ण है जिस पर सभी देशों के काव्यशास्त्रियों ने गम्भीर तथा व्यापक दृष्टि से विवेचन किया है। उनके विवेचन में जहां एक ओर व्यावहारिक विभेद हैं, वहां दूसरी ओर तत्त्व-चिंतन का अद्‌भुत साम्य भी विद्यमान है। भारतीय काव्यशास्त्र में काव्य-हेतुओं के रूप में शक्ति, व्युत्पत्ति और अभ्यास आदि जिन काव्यांग-साधनों की चर्चा की गई है, वे साधन एक प्रकार से काव्यप्रेरणाओं के ही विविध प्रकार हैं। पश्चिमी काव्यालोचन की व्यापक परम्परा में अनुकरण, लोक-ज्ञान, शास्त्र-बोध और अभ्यास आदि की आवश्यकता पर बल देते हुए जिन काव्यप्रेरणाओं का निरूपण हुआ है, वह भारतीय चिंतन धारा के भी पर्याप्त निकट हैं। यह एक अत्यन्त उल्लेखनीय विषय है कि भारतीय और पाश्चात्य मनीषियों ने काव्य-सर्जना की दिव्य प्रेरणा के रूप में ईश्वरप्रदत्त शक्ति का महत्त्व समान रूप से स्वीकार किया है जो दैवी अनुग्रह अथवा प्रेरणा से कवित्वशक्ति अथवा प्रतिभा के रूप में प्रस्फुरित होती है। सभी देशों के आचार्यों और कवियों ने किसी न किसी रूप में दैवी प्रेरणा का महत्त्व स्वीकार करते हुए इस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है कि ईश्वरीय अनुग्रह से ही हमारी प्रतिभा का प्रस्फुरण होता है जिसके दिव्य आलोक के प्रभाववश हमारे अज्ञानांधकार का विनाश और उत्कृष्ट काव्य-सर्जना का विकास होता है। भारतीय कवियों ने अपनी कृतियों के शुभारम्भ में जिस वाग्देवता की वंदना अथवा सरस्वती का आवाहन मंगलाचरण के रूप में किया है, वह इस तथ्य का निर्देशक है कि भारतीय दृष्टि दैवी शक्ति के सम्मुख सदैव आस्थामयी रही है और उसी के प्रसाद में उसने अपनी साधना का प्रसाद स्वीकार किया है। पाश्चात्य कवियों और विचारकों की रचनाओं और सिद्धान्तचर्चाओं के अनेक स्थलों पर यही प्रवृत्ति प्राप्त होती है जिसके प्रमाण में महाकवि होमर आदि की परम्पराओं का एतद्‌विषयक उल्लेख किया जा सकता है। वहां के तत्त्वद्रष्टाओं ने 'पोएटिक इन्सपिरेशन' अर्थात् काव्य-प्रेरणा के विषय का विवेचन करते हुए ऐसे अनेक निष्कर्ष निकाले हैं जिनसे इस तत्त्व की सहज उपलब्धि हो जाती है कि वे दैवी शक्ति, सहज प्रतिभा और दिव्य प्रेरणा को किस प्रकार काव्य का प्रधान एवं मूलभूत हेतु समझते थे। उन आचार्यों ने काव्यहेतुओं के स्वभाव, कार्य तथा व्याप्ति के विषय में भी विचार विवेचित किये हैं जो कविता की उत्पत्ति के प्रधान एवं गौण कारणों का लेखा-जोखा प्रस्तुत करते हैं। सच तो यह है कि काव्य-प्रेरणा का स्वरूप-बोध करने के पश्चात् ही हम

किसी भी समालोच्य काव्य-कृति का सही मूल्यांकन करने की दिशा में सचेष्ट हो सकते हैं। अतः काव्य-प्रेरणा का अर्थबोध एवं सम्यक् ज्ञान प्राप्त करना हमारे लिए कितना अधिक उपयोगी है, यह किसी भी सुधीजन से अप्रकट नहीं हैं।

काव्य-प्रेरणा का प्रतिपाद्य रहस्य

काव्य-प्रेरणा के विवेचन के मूल में इस बात का विचार किया जाता है कि काव्य-स्रष्टा ने किन शक्तियों से अंतःप्रेरित होकर अपनी कवित्व शक्ति अथवा सर्जना को वाणी प्रदान की है। वस्तुतः काव्यकार की प्रेरक शक्तियों के आधार पर ही कवि-सृष्टि की प्राण-चेतना एवं रचना-प्रक्रिया का मूल रहस्य उद्घाटित किया जा सकता है। काव्य-कृतियों के अध्ययन और मनन से यह तथ्य स्वभावतः प्रकट हो जाता है कि जिस रचना में कवि का 'नैसर्गिक' मानस जितना अधिक सन्निविष्ट होकर अभिव्यंजित होता है, वह कृति उतनी ही महत्त्वमयी एवं सहृदय सामाजिकों के मनःप्रसादन अथवा चित्ताह्लाद का साधन बनती है। ऐसी कृति में हमारे सात्त्विक भावों के आकर्षण एवं उससे समुद्भूत चमत्कृति के आस्वादन के लिए पर्याप्त अवकाश रहते हैं। अन्तःकरण की प्रेरणा से विहीन किंतु व्युत्पत्ति एवं अभ्यास से निर्मित रचना में काव्य का वह नैसर्गिक औदात्य प्रस्फुटित नहीं होता जो सहृदयों के मानस को अनायासगत्या अभिभूत कर उन्हें तन्मयीभवन की उच्चतम दशा में अधिष्ठित कर सके। काव्य-सर्जना की यह मौलिक प्रेरणा केवल कवि-प्रतिभा के लिए ही अभीष्ट नहीं है अपितु काव्य-भावक के लिए भी परम अपेक्षणीय है। यों तो काव्य का प्रथम सहृदय व्यक्ति स्वयं कवि ही होता है किंतु काव्य-सर्जना केवल उसी के लिए 'स्वांतः सुखाय' बनकर परिसीमित नहीं हो जाती। सच तो यह है कि कवि-सृष्टि की सार्थकता 'उपजहिं अनत, अनत छबि लहहीं' के प्रयोजन में ही चरम सिद्धि प्राप्त करती है क्योंकि जब तक कवि-संवित् की आत्मविश्रांति विश्व-मानस के अधिष्ठान में नहीं हो जाती तब तक उसका 'प्रयोग-विज्ञान' साधुत्व को प्राप्त नहीं करता। निश्चित है कि कवि-प्रेरणा का भावक-प्रेरणा के साथ अविच्छेद्य संबंध है और कवि-प्रेरणा जितनी अधिक दैवी शक्ति अथवा सहज प्रतिभा से प्रादुर्भूत होती है, उतनी अधिक वह भावक-प्रेरणा को भी जागरित कर उसे रस-विभोर बना देती है। काव्य की प्रेषणीयता का भी यही मूल तत्त्व है जिसे हृदयंगम कर काव्य-रसिक कवि-प्रेरणा के साथ आत्मसाक्षात्कार सा कर लेता है। वस्तुतः काव्य-प्रेरणा का स्वरूप समझकर ही सहृदय पाठक अथवा काव्यालोचक उत्तम काव्य का परीक्षण कर सकता है। इस दृष्टि से कवि और भावक एक-दूसरे के विरोधी न होकर परस्पर पूरक हैं। उनकी अन्योन्याश्रित उद्भावनाओं से एक-दूसरे का उपकार भी होता है। सच्ची समालोचना वही है जिसमें काव्य का तत्त्वाभिनिवेश व्याख्यात किया जाय एवं कवि-मानस का रहस्योद्घाटन करते हुए उसकी सर्जन-प्रेरणाओं के आलोक में काव्यकृति की समीक्षा अथवा उसका अंतर्भाष्य किया जाय। इस दृष्टि से काव्य-प्रेरणाओं का अध्ययन एवं अनुशीलन काव्य-वैभव के उपनिषद् का वह मूलमंत्र है जिसकी साधना के उपरांत ही काव्य-शक्ति एवं कवि-व्यक्तित्व के विश्लेषण का प्रकृत उपक्रम किया जा सकता है।

'प्रतिभा-शक्ति' दैवी प्रेरणा का ही प्रतिरूप है

भारतीय काव्यशास्त्र में काव्य के प्रमुख हेतु के रूप में प्रतिभा-तत्त्व का जो विवेचन किया गया है वह अनेक स्थलों पर दैवी प्रेरणा का ही एक प्रतिरूप है। दर्शन-ग्रंथों में जिस आर्ष ज्ञान के प्रतिबोध का निरूपण हुआ है वह मूलतः प्रतिभाजन्य है जिसकी उत्पत्ति उन ऋषियों के समाहित मानस में होती है जिन्हें ईश्वरीय अनुग्रह का वरदान प्राप्त है। उस आर्ष ज्ञान को सामान्य कार्य-कारणों के लौकिक नियमों से परे तथा अंतःकरण से प्रतिभासित अथवा आलोकित कहकर आचार्यों ने उसे दैवी प्रेरणा के साथ अनुस्यूत कर दिया है जिसकी उपलब्धि योग-समाधि की वेला में होती है। आदि कवि बाल्मीकि को इसी प्रकार के प्रातिभज्ञान की अलौकिक अंतर्दृष्टि मिली थी जिसका उल्लेख करते हुए उत्तररामचरितकार महाकवि भवभूति ने ब्रह्माजी द्वारा महर्षि बाल्मीकि को संबोधित कराते हुए लिखा है—'अव्याहत ज्योतिषं ते चक्षुः प्रतिभातु। आद्यः कविरसि' अर्थात् 'तुम्हारे नेत्र अव्याहत ज्योति से प्रतिभासित हों। तुम आदि कवि हो।' शैवागम दर्शन में तो प्रतिभा का विवेचन और भी अधिक विस्तारपूर्वक किया गया है जिससे पता चलता है कि वह अलौकिक शक्तिरूपा एवं दैवी प्रेरणा का ही प्रसार है। अनेक आचार्यों ने प्रतिभा को भगवान् शंकर का तृतीय नेत्र कहा है जिसकी विवृति से कवि त्रिकालद्रष्टा बनकर सृष्टि के सम्पूर्ण रहस्यों के उद्‌घाटन का सामर्थ्य प्राप्त कर लेता है। काव्यशास्त्र के परम मनीषी विद्वान् आचार्य अभिनवगुप्त ने प्रतिभा को ऐसी पारलौकिक प्रभा माना है जो अपूर्ववस्तु के निर्माण में सक्षम अथवा समर्थ होती है। आचार्य राजशेखर, मम्मट, भट्टतौत, रुद्रट और पंडितराज जगन्नाथ आदि विद्वानों ने भी प्रतिभा को नवोन्मेषकारिणी सहज स्फुरणा कहकर उसकी लौकिकता प्रतिपादित की है। यों तो प्रतिभा के भी अनेक रूप और प्रकार माने गये हैं किंतु उनमें सहज प्रतिभा का महत्त्व ही सर्वोपरि है ऐसी प्रतिभा में ही दैवी प्रेरणा और आर्ष ज्ञान के अंश सन्निहित रहते हैं। काव्य की दैवी प्रेरणा के प्रसंग में प्रतिभा का नामोल्लेख एवं सामान्य विवेचन करने का मुख्य अभिप्राय इतना ही है कि उसके बिना काव्य-प्रेरणा का एक मूलभूत पक्ष अस्पृष्ट रह जाता है। वस्तुतः काव्य-प्रेरणा का मूल सिद्धांत प्रतिभा की बीजरूप कल्पना में विद्यमान है जिसका सम्यक् अभिमर्श करने पर ऐसी अनेक समस्याओं का निराकरण किया जा सकता है जो काव्य-सर्जना और काव्यास्वाद के विचार-पथ में समय-समय पर उत्पन्न होकर अनेक प्रकार के अवरोध उपस्थित करती रही हैं।

काव्य-सर्जना के मूल में कोई न कोई प्रेरणा अवश्य रहती है

काव्य-सर्जना के मूल में चाहे दैवी प्रेरणा का सिद्धांत स्वीकार किया जाय अथवा लौकिक चेतना का, दोनों ही स्थितियों में प्रेरणा की अनिवार्य आवश्यकता का महत्त्व तो अंगीकार करना ही पड़ता है। एक समय था जब दैवी प्रेरणा का सिद्धांत सर्वजन-प्रशंसित एवं बहुमान्य था, किंतु आज की परिवर्तित परिस्थिति तथा नवीन युग-दृष्टि के सम्मुख उसका महत्त्व नगण्यवत् हो गया है। आज का जड़वादी विचारक अथवा वस्तु-

वादी कवि अपने युग-जीवन की सीमा में आबद्ध होकर न तो जीवन की लोकोत्तरता में ही विश्वास करता है और न उसे काव्य का दिव्योपम औदात्य ही सुमान्य प्रतीत होता है। यही कारण है कि आज दैवी प्रेरणा विषयक प्रश्न भी अनावश्यक-सा हो गया है। हमें यहां इस बात का विश्लेषण नहीं करना है कि दैवी प्रेरणा के प्रति बनी हुई यह अनास्था कहां तक कदर्थनीय है और कहां तक प्रशंसनीय। हम तो यहां केवल इतना ही संकेत करना चाहते हैं कि प्रेरणा की दिव्यता भले ही सर्वजनग्राह्य न हो किंतु काव्य-सर्जना के मूल में प्रेरणा-तत्त्व का अंकुरण रहता अवश्य है जिसके अभाव में कवि अपना निर्माण कर ही नहीं सकता। भारतीय काव्यशास्त्र के अंतर्गत काव्य-हेतुओं के अतिरिक्त काव्य-प्रयोजनों और काव्य-फलों का जो विवेचन किया गया है, वह भी एक प्रकार से काव्य-प्रेरणाओं के ही परिवेश में व्याख्यात है क्योंकि उनमें उन तत्त्वों के उपबृंहण एवं अभिनिवेश का पक्ष अनावृत किया गया है जिनसे शक्ति-संचय कर कवि रचनोन्मुख बनता है। काव्य को चाहे प्रीति एवं कीर्ति आदि के प्रयोजनों से समादृत किया जाय अथवा 'यशसे' एवम् 'अर्थकृते' आदि की दृष्टि से निरूपित किया जाय, सभी स्थितियों में उसकी सर्जना की कोई न कोई प्रेरणा अवश्य रहती है। विश्व के अनेक कवियों ने अपनी काव्य-सृष्टि के मूल उत्स का अंकन करते हुए प्रेरणाविषयक विचारों का संकेत किया है जिनसे पता चलता है कि प्रेरणा के अभाव में वे अपनी सृष्टि कर ही नहीं सकते थे। आज की यूरोपीय सभ्यता और संस्कृति के प्रबल प्रभाववश जिन पाश्चात्य कवियों और विचारकों को विशेष गौरव प्रदान किया गया है, उन सबने अपनी काव्य-प्रेरणाओं का वर्णन किसी न किसी रूप में अवश्य किया है। शेक्सपीयर ने कवि की तीव्र सर्जनात्मक अनुभूति की चर्चा करते हुए काव्य-प्रेरणाओं के महत्त्व का ही प्रतिपादन किया है तो ड्राइडन ने प्रेरणा के अभाव में श्रेष्ठ काव्य की रचना को सर्वथा असंभव बतलाया है। अभिप्राय यह है कि यूरोप के प्रायः सभी कवियों ने काव्य-सर्जना की प्रेरणाओं का वर्णन करते हुए उन्हें कवि-कर्म की अनिवार्य आवश्यकता के रूप में व्याख्यात किया है। इस विषय में ब्लेक, कालरिज, वर्ड्सवर्थ, बादलेयर, रिम्बो, वर्लेन, वेलरी, रिल्के, येट्स और उनकी श्रेणी के अनेकानेक कवियों के विचार मनन करने योग्य हैं। स्वछंदतावादी एवं रहस्यवादी कवियों की विवेचना में तो काव्य-प्रेरणाओं का उल्लेख विशेष रूप से हुआ है यह एक सर्वविदित सत्य है।

काव्य-प्रेरणा की लोकोत्तर दिव्यता

काव्य-प्रेरणा का विषय-बोध और स्वरूप-ज्ञान हमारे सामान्य ज्ञान की उस कोटि से भिन्न है जिसे हम बाह्य जगत् के निरीक्षण और इन्द्रिजन्य अनुभवों के आधार पर प्राप्त करते हैं। साधारणतया ऐसा प्रतीत होता है कि जिस प्रकार हमारी ज्ञानेन्द्रियां दृश्यमान संसार के सम्पर्क और आघात से प्रभावित एवं उत्तेजित होकर अपने विषयों और भावनाओं की अनुभूति करती हैं, उसी प्रकार काव्य-प्रेरणाएं भी अपने संप्रेरक ज्ञानप्रत्ययों से उद्‌बुद्ध होकर अपनी सर्जना को मूर्त्तिमयी बनाती हैं, किंतु तत्त्वतः यह सिद्धांत उतना सत्य नहीं है जितना लौकिक व्यवहार में प्रतीत होता है। इसका कारण

यह है कि काव्य-प्रेरणाओं का स्वभाव और प्रभाव इन्द्रियज्ञान की प्रवृत्तियों से भिन्न है जिसे बहुल अंशों में लोकोत्तर और दिव्य भी कहा जा सकता है। सच तो यह है कि काव्य-प्रेरणाओं की उत्स-भूमि ज्ञान और तर्क की क्षेत्र-सीमा से व्यापक और जगत् की अनुभूतियों से पृथक् है जिसका मुख्य आधार यद्यपि हमारा मानस अथवा अंत:करण ही है तथापि जिसकी रहस्यमयता का विवेचन ज्ञान की सामान्य कोटि से नहीं किया जा सकता। सौन्दर्य-दर्शन के अध्येताओं और मनोविज्ञान के तत्त्ववेत्ताओं ने उनका विश्लेषण भिन्न दृष्टि से किया है जिसका समर्थन हमें रससिद्ध महाकवियों की आत्मविवृत्तियों के द्वारा भी प्राप्त होता है। प्रज्ञाचक्षु मिल्टन ने काव्य-प्रेरणा की कल्पना ऐसी अग्नि के रूप में की है जिसे देवदूत ईश्वर के राजसिंहासन से प्राप्त कर प्रत्येक राष्ट्र के विशिष्ट एवं असाधारण भाग्यशाली कवियों को रिक्थ-क्रम से प्रदान करते हैं। कविवर शैली ने काव्य-शक्ति को तर्क-शक्ति से पृथक् सिद्ध करते हुए उसे असाधारण और अलौकिक माना है क्योंकि व्यक्ति की सामान्य इच्छामात्र से ही काव्य का निर्माण नहीं हो सकता। उन्होंने कवि के सर्जनशील मन को ऐसे धूमायिता ज्योति—स्फुलिंग से उपमित किया है जिसे प्रेरणा की अदृश्य वायु अपने संचार के प्रभाव से सद्यमेव प्रज्वलित कर देती है। उनके शब्दों में काव्य-शक्ति का स्वरूप पुष्प के उस रूप के समान है जो अपना विकास और प्रसार प्राप्त करता हुआ अंत में उन्मीलित हो जाता है। शैली के कथन का अभिप्राय यह है कि काव्य-प्रेरणा मूलत: भाव-सुमनों की दिव्य अभिव्यंजना ही है जिसका स्वरूप-विश्लेषण केवल चेतन मन की साधारण प्रक्रियाओं के आधार पर करना सम्भव नहीं है। काव्य-प्रेरणा के प्रति बना हुआ पाश्चात्य कवियों का यह दृष्टिकोण अत्यन्त तत्त्व-पूर्ण और सुग्राह्य है जिसका समर्थन हमें भारतीय काव्य-साधना की भूमिका में भी प्राप्त होता है। वस्तुत: काव्य-प्रेरणा दिव्य चेतना के ज्योतित विद्युत्कण के रूप में कवि-मानस को आलोकित कर सर्जना के लिए प्रेरित करती है किंतु उसे केवल क्षणजीवी ही नहीं कहा जा सकता। यदि ऐसा होता तो वह केवल मुक्तक रचनाओं के लघु रूपों की सर्जना पर्यन्त ही सीमित हो जाती। जब हम महाकाव्यों के विशाल स्वरूप और महान् विस्तार में भी कवि-प्रतिभा का संचार देखते हैं तो निश्चित है कि उनमें प्रेरणा का स्थायी प्रसार स्वीकार करना अनिवार्य है। हां यह बात अवश्य है कि मुक्तक रचनाओं में उसकी दीप्ति जिस प्रबल संवेग में होती है, उतनी महाकाव्यों के सभी स्थलों पर समान रूप में नहीं हो सकती। महाकाव्य के दीर्घ आकार में ऐसे स्थल भी आते हैं जहां उसका रचयिता कथा-श्रृंखला के समुचित संयोजन के लिए केवल वस्तु-वर्णना में ही संलग्न रहता है जिसके लिए प्रेरणा का भास्वर स्वरूप सर्वत्र अपेक्षणीय नहीं है।

काव्य-प्रेरणा और भावना का सम्बन्ध

काव्य-प्रेरणा को भले ही हम अलौकिक स्तर पर विवेचित करें किंतु उसके उद्भव का सम्बन्ध हमारी भावनाओं, विचारधाराओं और मानसिक प्रतीतियों के साथ अवश्य रहता है। भावों और विचारों के अभाव में प्रेरणा का समुद्भव सम्भव नहीं है यद्यपि उसके विकासमान अस्तित्व के सम्मुख भावनाओं और विचारों का महत्त्व

गौण हो जाता है। मनोविश्लेषणवादी विचारकों का मत है कि विचारों के बिना प्रेरणा हमारे स्नायु मंडल की झंकृति मात्र है और उसे उसी स्थिति में कवि-मानस को आंदोलित और संप्रेरित करने का सामर्थ्य प्राप्त होता है जब वह विचारों और भावों से परिवेष्टित होकर सर्जना के आह्लादमय आलोक की दिशा में प्रवृत्त हो जाय। वस्तुतः भावनाओं और विचारों की आधारशिला पर अधिष्ठित और प्रेरणाओं के दिव्य चमत्कार से विस्फुरित कवि-हृदय में ऐसी नवोन्मेषकारिणी प्रज्ञा जागरित हो जाती है जिसके असाधारण प्रभाव में कवि का सम्पूर्ण व्यक्तित्व आंदोलित और रचनोन्मुख हुए बिना नहीं रहता। यदि हम चाहें तो प्लेटो के शब्दों में कवि-मानस की उस असाधारण स्थिति को दैवी उन्माद (Divine Madness) के रूप में व्याख्यात कर सकते हैं। वीणा की दिव्य झंकृति की भांति प्रेरणा की भी एक अलौकिक रागिनी है जिसका आविर्भाव कवि को आत्मविभोर बनाने के लिए पर्याप्त है। कहा जा सकता है कि उसका लौकिक और पार्थिव आधार तो हमारा इन्द्रियजन्य व्यापार ही है किंतु उसकी जड़ता में चेतना का स्पंदन उत्पन्न करने के मूल में कोई विशिष्ट शक्ति ही कार्य करती है। यदि ऐसा न होता तो काव्य-रचना की वेला में कवियों का अधिमानस समाधिस्थ नहीं हो पाता और वे अंतर्मुखी बनकर अपनी संवेदनाओं को शब्दार्थमयी सरस अभिव्यक्ति नहीं प्रदान कर पाते। प्रेरणा के प्रबल वेग और आग्रह के वशीभूत होकर कवियों ने जिन काव्य-कृतियों को जन्म दिया है, वे उनके भौतिक व्यवहारों और अनुभवों की ही प्रकाशिका नहीं हैं, अपितु उनके निर्माण में उनके आत्मतत्त्व की अभिव्यंजना की ऐसी आलोकमयी आकुलता भी रही है जिसके कारण वे 'अहं' और 'इदं' में सामरस्य और सामंजस्य स्थापित करने में भी समर्थ हुए हैं। किसी विशेष विचारधारा से प्रभावित होकर हम चाहे काव्य-सर्जना के सामाजिक प्रेरकों को कितना ही अधिक महत्त्व प्रदान करें किंतु उसका मूल हेतु तो कवि संवित् ही है जिसे वर्ड्स्वर्थ ने भावनाओं' और संवेदनाओं का नैसर्गिक उद्गार कहा है। काव्य-प्रेरणा के विवेचन में रचना और उसकी प्रेषणयीता के समान महत्त्व का संकेत तो हम कर ही चुके हैं।

काव्य-प्रेरणा के विशिष्ट गुण

काव्यशास्त्र में काव्य की प्रेरणाओं का स्वरूप-विवेचन करने के साथ-साथ उसके विशिष्ट गुणों का विश्लेषण किया गया है। उनसे संप्रेरित काव्य-स्रष्टा के मन में आत्म-प्रकाशन का संवेग इतना अधिक प्रबल होता है कि वह बाह्य व्यवधानों और विक्षेपों की धूम्रराशि को अपनी प्रतिभाग्नि में प्रज्वलित कर केवल आत्मविश्रांति में ही अपनी सर्जना का साध्य उपलब्ध करता है। प्रेरणा के प्रबल प्रवाह के सम्मुख जीवन की कातरता और तामसिक वृत्तियां नहीं ठहर पातीं और भाव और भाषा से ऐसा अद्भुत तादात्म्य हो जाता है जिसके कारण अभिव्यंजना के गुण भावों के परिधान बन जाते हैं तथा भावों की सुषमा अभिव्यंजना को चेतना प्रदान करती है। भावना और अभिव्यंजना का ऐसा मणि-कांचन-संयोग केवल सहज प्रतिभाशाली कवियों की कृतियों में ही सम्भव है अन्यथा काव्य-सर्जना की वेला में ऐसे अवसर भी आते हैं जब भावों का

सम्यक् एवं पूर्ण संवाहन करने में भाषा दुर्बल हो जाती है तथा भाषा पर अधिकार रखने वाले कवियों को भाव-सामग्री का अभाव खटकने लगता है। भाव और भाषा के अंतराल में यदि संयोगवश संगीत और लय की धारा प्रवाहित हो जाय तब तो काव्य-सौन्दर्य की रमणीयता द्विगुणित होकर और भी अधिक चमत्कारिणी बन जाती है। वस्तुतः प्रेरणा के असीम और अखंड राज्य में इस प्रकार के संयोग का लोकोत्तर महत्त्व है। काव्य-समीक्षकों और काव्य-स्रष्टाओं के मन की एकाग्रता और अनुभूति की तीव्रता का गौरव गान करते हुए उन्हें प्रेरणा के ऐसे विशिष्ट गुण माना है जिनके कारण कवि के एक-एक क्षण का महत्त्व अनंत काल की महिमा से कम नहीं होता। वस्तुतः काव्य-रचना के ऐसे लोकोत्तर क्षण पर काल की अनंतता न्यौछावर की जा सकती है क्योंकि उसमें अतीत और वर्तमान का अंतराल विलुप्त कर कालभेद और देशभेद जन्य क्षुद्रताओं को पीटने की शक्ति सन्निहित है। क्रौंचवध की घटना ने महर्षि वाल्मीकि के मानस को करुणा विगलित कर जिस आत्मसंविश्रांति अथवा तन्मयीभवन की स्थिति प्रदान की थी, वह अनंत काल के व्यापक प्रसार की निधि न होकर एक क्षण की ही परमाणु-शक्ति थी जिसके सूक्ष्मतम स्वरूप में रामायण जैसे विश्ववंद्य महाकाव्य के अनुबंध अथवा सर्जन की दिव्य प्रेरणा का अंतर्भाव था। काव्य-सर्जना के ऐसे प्रेरक क्षणों का अभिशंसन विश्व के अनेकानेक कवीश्वरों ने किया है जिनमें रहस्यवादी और स्वच्छंदतावादी कवियों का विशेष महत्त्व है। रहस्यवादी महाकवि ब्लेक ने एक घटिका की काल सीमा में अनंत युगों के दर्शन प्राप्त करने का उल्लेख किया है तो सौन्दर्य तथा प्रकृति के अनन्य उपासक कविवर शैली तथा वर्ड्स्वर्थ ने 'इटरनिटी' तथा 'इटरनल' शब्दों के प्रयोग द्वारा काल की अनंतता के प्रति अपना मंत्रमुग्ध मनोभाव व्यक्त किया है। वस्तुतः काल के अनंत प्रवाह में कवि-प्रतिभा को ऐसे अनेक महत्त्वपूर्ण क्षण प्राप्त होते हैं जिनमें कवि-मानस को आंदोलित करने की अद्भुत शक्ति रहती है तथा जिनकी सर्जनात्मक प्रेरणाओं से अभिभूत होकर कवि-मनीषी साक्षात् स्वयंभू के रूप में ऐसा निर्माण प्रतिष्ठित कर देते हैं जिसके सौन्दर्य और आलोक से उनकी कीर्ति अनंत काल के लिए शाश्वत और अमर बन जाती है।

प्रेरणा कवि-मानस की आलोक-शिखा है

प्रेरणा कवि-मानस की आलोक-शिखा है। उसके प्रकाश में कविजन केवल अन्तर्बोध ही नहीं प्राप्त करते अपितु दैवी शक्ति के प्रताप अथवा वाग्देवता के प्रसाद से अखिल जगत् को 'कर बदर सदृश' देखने लगते हैं। प्रेरणा का वह आलोक उन्हें जगत् और जीवन के गूढ़ रहस्यों का उद्घाटन करने की शक्ति प्रदान करता है जिसके कारण उनकी प्रतिभा ज्ञान लोक में विचारण करने की क्षमता प्राप्त करती है। इसके अतिरिक्त काव्य-प्रेरणा का एक आनन्दपूर्ण पक्ष भी है जो इस तत्त्व का व्यंजक है कि उसके कारण कवि को अपनी सृष्टि अत्यंत आह्लादकारिणी और रुचि-रमणीय प्रतीत होती है। आनन्दवादी भारतीय आचार्यों ने रस की सुखदुःखरूपता के स्थान पर 'केवल आनन्दमयता' का जो पक्ष प्रतिपादित किया है उसकी अभ्यर्थना का भी यह रहस्य है

कि काव्य प्रेरणा आनन्दरूपा है। काव्य-प्रेरणा की अन्तर्वृत्ति से आन्दोलित होकर कवि-रत्नों ने अपनी जो दिव्य आभा विकीर्ण की है, वह केवल उन्हीं के चित्तानुरंजन अथवा मनःप्रसादन का ही विषय नहीं रही है अपितु अपनी संप्रेषण-शक्ति के कारण वह काव्य-रसिकों के आह्लाद का भी आधार बनी है। प्रेरणा का वह दैवी आलोक तर्क, विचार और भावना से पृथक् और महान् है। कालरिज जैसे कवि-विचारकों ने उसका सम्बन्ध कल्पना के साथ जोड़ा है तो अभिव्यंजनावादी आचार्य क्रोचे उसे स्वयंप्रकाश्य अथवा सहज ज्ञान की समता प्रदान करना उचित समझते हैं। विद्वानों ने काव्य-प्रेरणा और कलात्मक प्रयास को एकजातीय सिद्ध करने का भी प्रयत्न किया है यद्यपि हमें वह मत सर्वथा सुग्राह्य प्रतीत नहीं होता। प्रेरणा यदि प्रतिभाकल्प है तो प्रयास कलात्मक अभ्याससाध्य। प्रेरणा के तीव्र संवेग से कवियों ने अनायास भाव से काव्य-रचनाएं की हैं जिनकी समता में कलात्मक प्रयासों से प्रादुर्भूत रचनाओं को नहीं रखा जा सकता। अनेक बार तो ऐसा देखा जाता है कि जो कवि प्रयाससाध्य कृतियों की सर्जना करते हैं वे अपनी रमणीयता और रस-निष्पंदता में प्रेरणाजन्य काव्यों की आंशिक सफलता भी नहीं प्राप्त करते। पंडितराज जगन्नाथ ने काव्य-हेतु के रूप में 'केवला प्रतिभा' को एकमात्र मान्यता प्रदान करते हुए एक प्रकार से प्रेरणा को ही काव्य-निर्माण की मूल आद्या शक्ति स्वीकार किया है। वस्तुतः प्रेरणा और प्रयास का गूढ सम्बन्ध है। एक के कारण काव्य के रूपसौष्ठव का निर्माण होता है तो दूसरे के कारण काव्य-कृति को परिष्कार प्राप्त होता है। भारतीय आचार्यों ने प्रतिभा के साथ-साथ व्युत्पत्ति और अभ्यास को भी काव्य-हेतुओं के रूप में स्थान देते हुए प्रेरणा और प्रयास को एकसूत्र में संग्रथित करने की चेष्टा की है जिसे पाश्चात्य विचारकों ने 'इन्सपिरेशन' और 'आर्ट' का समन्वय कहा है। कहने की आवश्यकता नहीं कि महान् कवियों की रचनाओं में काव्य की नैसर्गिक प्रेरणा और अभिव्यंजना के कलात्मक प्रयास का अंतर्सम्बन्ध अत्यन्त विलक्षण विधि से उत्पन्न होता है।

प्रेरणा का उदात्त वैभव

किसी भी सफल काव्य-रचना के लिए प्रेरणा का उदात्त वैभव स्वीकार करना अनिवार्य है। उसी के कारण कवि-प्रतिभा को परिष्कार अथवा निखार प्राप्त होता है। प्रेरणाजन्य काव्यों में इस बात की क्षमता होती है कि वे काव्य-भावकों के मानस को प्रभावित करते हुए उन पर अपनी सफलता का अखंड अंकन कर सकें। ऐसे काव्यों का अंतरंग और बहिरंग अत्यन्त सौष्ठवपूर्ण और आकर्षक होता है। उनमें मनमोहिनी मधुरता, आह्लादमयी अतिशयता, रमणीयतापूर्ण रोचकता, कांतिमयी कमनीयता, शांतिविधायिनी शमता, भावोन्मादिनी भव्यता, स्फूर्तिदायिनी सुन्दरता, शक्तिसंचारिणी शिवता और प्रबुद्धकारिणी प्रज्ञा आदि सहज गुणों का समन्वय रहता है। वाग्विलास के वर्चस्व से अनुप्राणित कवियों ने अपनी असाधारण प्रेरणा-शक्ति के कारण ऐसे महान् काव्यों की सृष्टि की है जो नवरसरुचिर, अनन्य परतंत्र, नियतिकृतनियम रहित और परम आह्लादमय होने के साथ-साथ उन्हें अजर-अमर बनाकर लोकातिक्रांतगोचर

कीर्ति और प्रीति प्रदान करने में समर्थ हुई है। ऐसे कवियों को न तो देश और काल के बंधन ही कारागस्त कर सके हैं और न उनके प्रभा-नैर्मल्य को ही कलंककालिमा से धूमायित होना पड़ा है। महर्षि वाल्मीकि, कवि कुल-गुरु कालिदास और भक्त-शिरोमणि तुलसीदास की दिगंत-व्यापिनी कीर्ति का रहस्य उनकी दिव्य प्रेरणा के प्रसाद में ही अन्तर्निहित है जिसे पाश्चात्य सुधीजनों और काव्य-मनीषियों ने भी संस्तुत किया है। यवन-कवि होमर और दांते की सफलता और आंग्ल कवि शेक्सपियर तथा वर्ड्स्वर्थ की यशस्विता का भी मूलाधार उनके प्रेरणाजन्य काव्य-वैभव को ही प्रदान किया जा सकता है। प्रेरणा का यह उन्मुक्त स्वरूप उनके काव्य-विषयों को ही गुरुत्व और औदात्य प्रदान करने का ही संबल नहीं रहा है अपितु उनके अभिव्यंजना-शिल्प को भी नित्य-नूतन अभिरामता से उपबृंहित कर सका है। ऐसे कवियों के विषय में 'क्षणे क्षणे यन्नवतामुपैति तदैव रूपं रमणीयतायाः' की उक्ति सार्थक अथवा फलितार्थ होती है। वस्तुतः प्रेरणा काव्य-सर्जना की दिव्य शक्ति है जो 'वस्तु' और 'रूप' में तादात्म्य स्थापित करती है तथा जिसके कारण काव्य-वैभव का गौरव चमत्कृत होता है। प्रेरणा की उच्चावचता ही काव्य-कृति का तात्त्विक निकष है और उससे अनुसृष्ट शब्दों में ही जीवन का सरस और अमृतोपम सत्व अनुस्यूत रहता है।

(५) कवि-कर्म और कवि-चर्या

काव्य-सर्जना के हेतु, प्रयोजन और प्रेरणाओं का विवेचन करने के पश्चात् अब यह आवश्यक हो गया है कि उसके उद्भावक 'कवि' के कर्म और उसकी जीवनचर्या का भी अभीष्ट ज्ञान प्राप्त कर लिया जाय जिससे यह तथ्य स्पष्ट हो सके कि काव्य-निर्माण की प्रक्रिया में उसका कर्मकौशल किस प्रकार अभिव्यक्त होता है। भारतीय काव्यशास्त्र में इस विषय में यत्र-तत्र अनेक संकेत किये गये हैं, जिनसे पता चलता है कि यहां के मनीषियों की आदर्शोन्मुखी दृष्टि में उक्त कार्यों का गौरव विशेष कोटि का था। यों तो उन्होंने काव्यहेतुओं के आभ्यंतरिक रूपों पर बल देते हुए 'प्रतिभा' को ही काव्य-सर्जना की एक मात्र आदि-शक्ति माना है, किंतु उनका वह विवेचन भी उपेक्षणीय नहीं कहा जा सकता जिसमें उन्होंने कवि-कर्म का व्यावहारिक विधान और कवि-चर्या का प्रयोग-पक्ष निरूपित किया है। कवि-शिक्षा के अन्तर्गत कवि-कर्म का महत्त्व द्योतित करते हुए भारतीय आचार्यों ने लिखा है कि कवि-कर्म अत्यंत पुनीत और उदात्त कर्म है जिसकी सफलता के लिए कवि को सदैव पवित्र आचरण रखना चाहिए। उसके लिए मन, वचन और कर्म की शुचिता अनिवार्य है। मन और वचन की पवित्रता शास्त्रों द्वारा प्राप्त होती है। शरीर की पवित्रता के लिए हाथ-पैरों की शुद्धि, नखों का छेदन, मुख में ताम्बूल, शरीर में इत्र आदि सुगंधित पदार्थों का लेप, स्वच्छ और उच्च कोटि का वस्त्र परिधान तथा सिर पर सुगंधित पुष्प धारण करना आवश्यक है। इस प्रकार की त्रिविध शुचिता रखने के पश्चात् जो कवि सरस्वती की आराधना करता है, वही कवि अपनी रचना में कृतकृत्य होता है। कवि के स्वभाव के निर्माण में उसके वातावरण का भी

प्रभूत अंश रहता है। अतः कवि की दिनचर्या इतनी आदर्श और अनुकरणीय होनी चाहिए जिसके कारण कवि की मनोवृत्ति में औदात्य और औदार्य बना रहे। श्रेष्ठ स्वभाव-सम्पन्न कवियों की कृतियां निश्चय ही श्रेष्ठ होती हैं, क्योंकि काव्य-सर्जना एक प्रकार से कवि-मानस का ही तो प्रतिबिम्ब है। राजशेखर ने काव्यमीमांसा (कविरहस्य) के दशम अध्याय में कविचर्चा का अत्यन्त विस्तृत विवेचन किया है जिससे कवि के स्वभाव, संलाप-कौशल, आवास-प्रसाधन, मनोरंजन-कक्ष, सहायक समुदाय और मित्र वर्ग का पता चलता है। कवि का भवन अत्यन्त संमृष्ट और समस्त ऋतुओं के अनुकूल होना चाहिए। उसमें विविध प्रकार की वृक्षावली और वाटिकाएं, क्रीड़ा-पर्वत, वाटिकाएं, पुष्करिणी और कृत्रिम सरिता-प्रवाह आदि आवश्यक हैं। कवि के लिपिक सर्वभाषा कुशल, शीघ्रवाक्, चार्वक्षर, इंगिताकारवेदी, नानालिपिज्ञ, कवि और लाक्षणिक होने चाहिए। इतिहास में ऐसे अनेक प्रमाण मिलते हैं जिनसे पता चलता है कि न केवल कवि-चर्चा में ही विविध प्रसाधनों की अपेक्षा रहती है अपितु उसका सम्बन्ध राजचर्या से भी रहा है। किंवदन्ती है कि मगध के काव्यप्रेमी राजा शिशुनाग ने अपने अन्तःपुर में कठोर वर्णों का प्रयोग वर्जित कर रखा था तथा मथुरा नरेश कुविन्द भी परुष अक्षरों के प्रयोग को उपेक्षा की दृष्टि से देखते थे। कुन्तल देश के राजा सातवाहन को प्राकृत भाषा इतनी अधिक प्रिय थी कि उन्होंने उसे अपने अन्तःपुर की भाषा निर्धारित कर दिया था। उज्जयिनी-नरेश साहसांक केवल उन्हीं व्यक्तियों को अपने अन्तःपुर में प्रविष्ट होने के अधिकारी मानते थे जिन्हें संस्कृत भाषा के प्रयोग का व्यावहारिक ज्ञान था।

'कविचर्या' से सम्बद्ध कुछ विशेष नियम

राजशेखर ने 'कविचर्या' के अन्तर्गत और भी अनक महत्त्वपूर्ण तथ्यों का उल्लेख किया है। 'अनियतकाला प्रवृत्तियों विप्लवंते' के सिद्धान्त में आस्था रखने के कारण उन्होंने दिन-रात का प्रहरगत विभाजन कर कवियों के लिए चौबीस घंटों की ऐसी समय-सारिणी प्रस्तुत कर दी है जिसका परिपालन करते हुए जीवन-यापन करने वाले कवि अपनी कृतियों में कदापि असफल नहीं हो सकते। अपनी आस्तिक भावना के कारण राजशेखर ने सारस्वत-सूक्त के अध्ययन पर तो बल दिया ही है, साथ ही साथ प्रतिभा के विकास-हेतु काव्यविधाओं और उपविधाओं के प्रत्यग्र संस्कार अथवा अभ्यास को भी वे कम महत्त्वपूर्ण मानकर नहीं चले हैं। उनके मतानुसार काव्य-रचना के लिए द्वितीय प्रहर अधिक उपयुक्त है। काव्य-गोठियों के आयोजन से भी कवियों की प्रतिभा का परिष्कार होता है। अपने रचित काव्य का पुनर्निरीक्षण, मित्र-भंडली के साथ विचार-विमर्श तथा आवश्यकता का अनुभव होने पर स्वनिर्मित काव्य में अपेक्षित परिवर्तन करना भी कवि के लिए कभी-कभी अनिवार्य हो जाता है। कवि का कर्तव्य है कि वह यथासंभव मौलिक रचना के लिए प्रयत्न करे तथा उसमें परछिद्रान्वेषण की प्रवृत्ति न हो। काव्य के सौष्ठवपूर्ण विधान में देश, काल और पात्र का भी यथोचित महत्त्व होता है, अतः कवि को उनके परिपालन का पूर्ण ध्यान रखकर ही रचनोन्मुख

होना चाहिए। संसार में ऐसी कविताए भी लिखी जाती हैं जो अन्यान्य काव्य-गुणों के उत्कर्ष से विहीन होने पर भी अपनी अल्प मनोरमता, सरलता और श्रुतिमधुरता के कारण सज्जनों, बालकों, स्त्रियों और सामान्य वर्गों का मनःप्रसादन करती हैं तथा ऐसी कविताओं का भी निर्माण हुआ है जो विशिष्ट वर्ग के विद्वानों, महात्माओं और राजाओं से ही प्रशंसित हुई हैं। कभी-कभी पिता की रचना को पुत्र, गुरु की रचनाओं को शिष्य तथा राजाओं की रचनाओं को उनके चाटुकार भृत्य ही आशंसित करते हैं जिनके संस्तव का सर्वजनग्राह्य आधार होना आवश्यक नहीं है।

राजशेखर ने कविचर्या के अन्तर्गत कवियों को कुछ सामान्य आदेश भी दिये हैं जिनका पालन करने से वे लाभान्वित हो सकते हैं। उनका परामर्श है कि कवि को अपनी अपूर्ण रचना किसी अन्य कवि को न सुनानी चाहिए क्योंकि ऐसा करने पर उसकी पूर्णता में बाधा आ सकती है। ऐसा प्रतीत होता है कि किसी समय काव्य-कृतियों की चोरी भी बहुत होती थी और ऐसे साहसिक कवियों की भी कमी न थी जो दूसरों की रचनाओं को अपने नाम से विज्ञप्त करने में किंचिन्मात्र भी संकोच नहीं करते थे। राजशेखर ने इसी प्रयोजनवश कवियों को यह सम्मति दी है कि वे अपनी नवीन रचना का प्रकाशन एकांत में किसी अकेले कवि के सम्मुख न करें क्योंकि समय आने पर वह श्रोता कवि उस रचना को अपनी निर्मिति कहकर प्रचारित भी कर सकता है और मूल रचयिता को उसके लिए साक्षी जुटाना अत्यन्त कठिन हो सकता है। राजशेखर के मतानुसार कवि को आवश्यकता से अधिक आत्मप्रशंसक और दंभी भी न होना चाहिए। उसे अपनी कृति का परीक्षण ऐसे तत्त्वाभिनिवेशी भावक से कराना चाहिए जो निष्पक्ष रूप से काव्य-सर्जना की परीक्षा कर सके। कहा भी है कि तटस्थ व्यक्ति की दृष्टि निर्माता की अपेक्षा अधिक विवेकमयी होती है। साथ ही साथ कवि का यह भी कर्तव्य है कि वह न तो मूर्खों के सम्मुख अपना काव्य-पाठ कर प्रशंसा की आशा रखे और न मूर्ख कवियों से ही उलझे क्योंकि ऐसा करने का परिणाम सदैव अनिष्टकर ही होता है।

कविकर्म और कविचर्या देशकाल के अनुसार परिवर्तनीय है

भारतीय काव्यशास्त्र के आलोक में कविकर्म और कविचर्या से संबंधित जिन विशेष नियमों का उल्लेख समुपस्थित किया गया, उसका मूल प्रयोजन केवल इतना ही है कि भारतीय काव्य की विवेचना के पूर्व उसे कवि की मानसिक पृष्ठभूमि के रूप में अवश्य ही विचार-पथ में रखा जाय। कविकर्म और कविचर्या के ये विशेष नियम किसी विशेष युग में अत्यन्त महिमामय थे, किंतु समय-चक्र के दुर्दमनीय आवर्तन तथा प्रत्यावर्तन ने उसके परिपालन के मार्ग में इतने अधिक व्यवधान उपस्थित कर दिये हैं जिनके परिणामस्वरूप कविकर्म और कविचर्या का गौरवपूर्ण आभिजात्य ही समाप्त-प्राय हो गया है। आज के संघर्षपूर्ण भौतिक जीवन ने हमारे भाव-क्षेत्र और विचार-जगत् में जो जटिल ग्रंथियां उत्पन्न कर दी हैं, वे कविकर्म की दिशाओं में आमूलचूल परिवर्तन लाने की प्रेरक शक्तियों का काम कर रही हैं। यहां पर उन ग्रंथियों के विस्तृत

विवेचन का अवसर नहीं है अतः हम कविकर्म और कविचर्या का अतीतकालीन प्रतिमान उपस्थित कर केवल इतना ही संकेत करना पर्याप्त समझते हैं कि काव्य-सर्जना के विश्लेषण में उनका भी अभीष्ट योगदान रहता है जिसे अपनी विवेचना का एक अपरिहार्य अंग बनाकर मनोविश्लेषणवादी काव्य-समीक्षकों को अत्यन्त विवेकपूर्ण पद्धति से कविकर्म का परीक्षण करना चाहिए।

काव्य-सर्जना के वाह्य उपकरण और क्रांतदर्शी कवि

काव्य-सर्जना में विशेष क्षणों का विशेष महत्त्व है। न जाने किस समय कवि की कारयित्री प्रतिभा काव्य-सर्जना के लिए प्रेरित हो जाय, अतः कवि को अपने कक्ष में उन समस्त पदार्थों को यथास्थान अवस्थित रखना चाहिए जो काव्य-लेखन के साधन स्वरूप हों। प्राचीन विद्वानों ने खटिक, लेखनी, भूर्जपत्र और मसिपात्र आदि उपकरणों का वर्णन काव्य-विधा की सहायक सामग्री के रूप में किया है जिनका नवीन रूपान्तर आधुनिक उपकरणों के रूप में समावेष्टित किया जा सकता है। वाह्य साधनों की दृष्टि से इन उपकरणों का सापेक्षिक महत्त्व अवश्य है किन्तु यदि कवि में प्रतिभा और व्युत्पत्ति न हो तो ये सारे साधन व्यर्थ सिद्ध होते हैं क्योंकि इन समस्त वस्तुओं से सुसज्जित होने पर भी प्रतिभा-विहीन कवि में काव्य-निर्माण की शक्ति का उन्मेष नहीं हो सकता। सच तो यह है कि काव्य-रचना के पूर्व कवि को अपनी योग्यता, निपुणता, शक्ति, अभिरुचि तथा आवश्यकतानुरूप अपने आश्रयदाता की प्रकृति आदि का भी पूर्ण अवबोध प्राप्त कर लेना चाहिए। इन सब बातों को पृष्ठ भूमि के रूप में अधिष्ठत करने के पश्चात् जो कवि अपनी काव्य-रचना प्रस्तुत करता है वही अपने प्रयोजन में सफल हो सकता है। प्रारम्भ में सभी कवियों को अल्पाधिक मात्रा में इन नियमों का पालन करना पड़ता है किन्तु अलौकिक प्रतिभासम्पन्न कवि इस प्रकार के प्रावैधिक बंधनों से कदापि आबद्ध नहीं रहते। स्वतंत्र और रससिद्ध कवि इन नियम-नियंत्रणों से परे होते हैं और उन्हें सभी भाषाओं पर समान अधिकार होता है जिसके कारण उनकी रचनाएं एक देशीय नहीं होतीं। इसका यह अभिप्राय नहीं कि एकदेशीय कवियों के काव्य का महत्त्व नहीं है। भूतकाल में गौड़ देश के कवियों ने संस्कृत में, लाटदेश के कवियों ने प्राकृत में, मरुभूमि और पंचनद-प्रदेश के कवियों ने अपभ्रंश भाषा में जिस अधिकारपूर्ण प्रणाली में काव्य-रचनाएँ की हैं, वे एकदेशीय होने पर भी अभिनंदनीय हैं। वस्तुतः जो कवि जनरुचि का ध्यान रखकर अपनी कृतियों की सर्जना करते हैं उनके मार्ग में काव्य-भाषा का प्रश्न उतना अधिक महत्त्वपूर्ण नहीं होता जितना उनकी संवेदनाओं के अभिव्यंजन-कौशल का गौरव रहता है। कभी-कभी कवियों को जनरुचि की उपेक्षा कर उसके विरुद्ध भी काव्य-सर्जना करनी पड़ती है जिसका प्रमुख कारण यह है कि उन्हें जनरुचि में इतनी अधिक विकृति मिलती है जिसके साथ उनके मानस का साधारणीकरण संभव नहीं हो पाता। वैसी स्थिति में कवियों को विद्रोहपूर्ण स्वर में काव्य-निनाद करना पड़ता है जिसका उद्देश्य काव्य के माध्यम से जनरुचि का परिशोधन अथवा कायाकल्प करना होता है। ऐसे विद्रोही कवियों का सम्मान तत्कालीन पतनोन्मुख जनरुचि तथा

उस युग की विकृति भले ही न कर सके किन्तु समय आने पर उनके प्रशंसक काव्यरसिक उत्पन्न हो ही जाते हैं। अनेक बार ऐसा भी देखा गया है कि युग-विशेष से युग के क्रांति स्रष्टा कवि प्रतिष्ठित न होने पर भी कालान्तर में अत्यन्त वन्दनीय सिद्ध हुए हैं। इस विषय में एक विद्वान् ने उचित ही कहा है—

गीतसूक्तिरतिक्रान्ते स्तोता देशांतरस्थिते।
प्रत्यक्षते तु कवौ लोकः सावज्ञः सुमहत्यपि ॥

कवित्व-प्रशंसा और काव्युपदेश

कवित्व विद्वत्ता का भूषण है। उसे समस्त विद्याओं का प्राणरूप कहा गया है। जिस प्रकार रमणियों का लावण्य उनकी शोभा अथवा सौन्दर्यशक्ति का जनक होता है उसी प्रकार कवित्व को भी शास्त्रज्ञान और विद्वत्ता का शुभाशंसक माना जाता है। उसकी महत्ता का एक प्रमाण यह भी है कि त्रयी विद्या के परम ज्ञाता वेदपारंगत विद्वान् भी उसकी प्राप्ति के लिए सदैव उत्सुक रहते हैं। नाट्यदर्पणकार ने रसज्ञ जनों की व्रीडा के लिए दो वस्तुओं को 'नासिकोत्थ-कुष्ठ के समान' निर्दिष्ट किया है और वे हैं किसी मृगाक्षी के शरीर में कामोद्दीपक कुचों का अभाव तथा विद्वान् में काव्यशक्ति की हीनता।[1] वस्तुतः 'अकवित्व' विद्याभ्यासिक के लिए कलंक के समान है, अतः उसे दूर करने की दिशा में प्रयासतत्पर होना विद्वान् का पावन कर्तव्य है। जो विद्वान् अपनी कवित्वविहीन विद्या के आधार पर जगत् को प्रसन्न बनाने की इच्छा रखते हैं, वे मानो नेत्र-निमीलन कर पर्वतारोहण का असफल प्रयत्न करते हैं।[2] उनका वह प्रयास निश्चयमेव निरर्थक एवं अविवेकपूर्ण ही कहा जा सकता है।

नाट्यदर्पणकार रामचन्द्र-गुणचन्द्र ने कवियों से इस बात का विशेष अनुरोध किया है कि वे अपनी कृतियों में रस-निबंधना करते समय अधिक सतर्क और सावधान होकर चलें। उन्होंने अभिनेय तथा अनभिनेय की संज्ञा से काव्य के द्विविध भेद निरूपित कर शब्द और अर्थ को उसका शरीर तथा रस को उसका प्राण कहा है। उनका मत है कि विभावों के समावेश-रूप उपकरणों से निष्पन्न रसों के द्वारा जब कोई भी काव्य-कृति सहृदय काव्यास्वादयिताओं के हृदय में अनुप्रविष्ट होकर उनके आनंद का आधार बनती है तो कविनामधारी व्यक्ति के मन में काव्य के प्राणभूत रसों के प्रति सहज प्रीति अथवा सौहार्द स्वाभाविक ही है। जो कवि अपनी सर्जना में रस-निबंधना का सहज प्रयत्न करते हैं, उन्हें अलंकार-योजना के लिए पृथक् चेष्टा नहीं करनी पड़ती क्योंकि उनके काव्यों में अलंकारों की अवतारणा स्वाभाविक क्रम में ही हो जाती है। वस्तुतः रसाविर्भाव के प्रयत्न की प्रक्रिया में जिन अलंकारों का अनुबंध काव्य-कृतियों में होता हैं, वे निश्चय ही सहृदयजनों के चित्त में आनंदजन्य चमत्कार उत्पन्न करने की क्षमता रखते हैं। उनका कथन है—

---

१. रामचन्द्र-गुणचन्द्र, नाट्यदर्पण, १।६-१०।
२. वही, १।११।

अर्थ-शब्दवपुः काव्यं रसैः प्राणैर्विसर्पति ।
अंजसा तेन सौहार्दम् रसेषु कविमानिनाम् ।[1]

'काव्य-पाठ' का महत्त्व और उसके नियम

यद्यपि 'काव्य-पाठ' हमारे विवेच्य विषय से अधिक सम्बद्ध नहीं है तथापि उसका सामान्य उल्लेख करना आवश्यक है क्योंकि किसी समय इस कर्म को अत्यधिक महत्त्व प्रदान किया जाता था। प्रचीन विद्वानों का मत था कि प्रतिभासम्पन्न कवि काव्य-रचना में निपुण हो सकते हैं, किन्तु काव्य का कलात्मक पाठ करना तो केवल उन्हीं कवियों के लिए संभव है जिन्हें सरस्वती सिद्ध हो। जिस प्रकार पूर्वजन्म के संस्कार से किसी को सुरीला कण्ठ मिलता है, उसी प्रकार काव्य-कृति के सरस पाठ का सौन्दर्य भी अनेक जन्मों से उपलब्ध होता है। काव्यशास्त्रियों ने विभिन्न भाषाओं में किये जाने वाले काव्य-पाठ के कुछ विशेष नियम बनाये हैं जिनमें काव्य-गुणों की दृष्टि से भी विमर्श किया गया है। आचार्यों का मत है कि संस्कृत और अपभ्रंश की कविता का पाठ अत्यन्त लालित्यपूर्ण विधान से करना चाहिए तथा प्राकृत और पैशाची भाषा की कविता को सौष्ठवोत्तर विधि के साथ पढ़ना चाहिए। प्रसाद गुणमयी कविता का पाठ मन्द्र स्वर से और ओजमयी कविता का पाठ तार स्वर से किया जाना समुचित है। जिन काव्यों में प्रसाद तथा ओज संज्ञक गुणों का मिश्रण हो, उनका स्वर द्विविध प्रकार का भी हो सकता है। काव्यपाठ के समय इस बात का भी ध्यान रखना आवश्यक है कि वह न तो अतिशीघ्र हो और न अतिविलम्बित ही। उल्बण नाद तथा अतिमंदनाद भी काव्य-पाठ की आदर्शविधि में त्याज्य है। काव्य-पाठक के लिए इस बात का ध्यान रखना भी आवश्यक है कि उसका पाठ गम्भीर, मन्द्र और तार स्वर से नियंत्रित और संयुक्त वर्णों के उच्चारण में भी लावण्यमय होना चाहिए। जिस प्रकार कोई व्याघ्री अपने कोमल बच्चों को दांतों से पकड़ती हुई भी उन्हें गिरने और कटने से भी बचाती है, उसी प्रकार काव्य के पाठकर्ता को भी वर्णों का उच्चारण ऐसे ढंग से करना चाहिए जिससे उनमें किसी भी प्रकार की त्रुटि न आ सके। आदर्श काव्य-पाठ में विभक्तियों का स्पष्टीकरण समासों की स्फुट प्रतीति और पदसंधियों का समुचित समावेश होना आवश्यक है। राजशेखर ने भिन्न-भिन्न देशों की पाठ-प्रणालियों का विवरण देते हुए बतलाया है कि वहां के अधिवासी किन-किन भाषाओं में कैसा-कैसा पाठ करते हैं? उनका मत है कि वाराणसी से पूर्व मगध देश के कवि संस्कृत-काव्यों को तो सुन्दर विधि से पढ़ते हैं, किन्तु प्राकृत भाषा के पाठ में वे कुंठित रहते हैं। गौड़ देश वासियों को प्राकृत-भाषा का काव्यपाठ करना नहीं आता। उनका पाठ विस्वर और कर्ण-कटु होता है। कर्णाट देश के कवि सर्वत्र टंकारध्वनि करते हुए कविता पढ़ते हैं तो द्रविड़ देश के काव्यमर्मज्ञ गद्य, पद्य और चम्पू को एक ही ढंग से लय प्रदान करते हैं। लाट देश के कवि प्राकृत भाषा का पाठ तो बहुत अच्छा कर सकते हैं किंतु संस्कृत भाषा के पाठ में उनकी

१. रामचन्द्र-गुणचन्द्र, नाट्यदर्पण, तृतीया विवेक, कारिका १२३, सूत्र १७७।

गति नहीं होती। सौराष्ट्र, गुर्जर और त्रवण देशों के कवियों में संस्कृत तथा अपभ्रंश-
दोनों भाषाओं की कविता को सुन्दर और स्पष्ट रूप से पढ़ने की योग्यता होती है।
काश्मीरी कवियों का पाठ अत्यन्त कर्णकटु, उत्तरापथ के कवियों का पाठ अत्यन्त
सानुनासिक और पांचाल देश के कवियों का पाठ अत्यधिक मधुर होता है। काव्य-पाठ
करते समय स्वर, काल, स्थान, प्रयत्न और अनुप्रदान का भी पूर्ण ध्यान रखना चाहिए
अन्यथा उसमें अनेक प्रकार की विकृतियां आ सकती हैं। साधारणतया काव्य-पाठ के
विषय में ये ही सामान्य संकेत है जिनको समझकर जो कवि अपने पाठ को सब प्रकार से
सम्पन्न और पूर्ण बनाने की चेष्टा करते हैं, वे ही अपनी कला-कृति में सफल और
अनुकरणीय हैं। यद्यपि आधुनिक युग में काव्य-पाठ का पूर्वयुगीन महत्त्व और गौरव नहीं
रहा है तथापि इस विषय को व्यापक भूमिका प्रदान करने के अनेक अवसर विद्यमान हैं।
वर्तमान कवि-सम्मेलनों और कवि-गोष्ठियों में छन्दोयुक्त तथा छन्दविहीन वाणी में जो
भिन्न-भिन्न प्रकार के काव्य-पाठ किये जाते हैं वे काव्य-विषयों और भाव-व्यंजनाओं की
दृष्टि से भी परम विवेच्य हैं। अपने प्रबंध की परिसीमा को ध्यान में रखते हुए हम
इसका आनुषंगिक संकेत करना ही पर्याप्त समझते हैं।

काव्य-सर्जना का माहात्म्य और सारस्वत कवियों का अभिवंदन

काव्यकार की महिमा अपार है। उसके सम्मुख सम्राटों का वैभव भी हतप्रभ
है। रससिद्ध कवीश्वरों को यशः शरीर में 'जरामरणजं भय' नहीं होता। वे अपनी कृतियों
से वर्ण्यमान विषयों और व्यक्तियों को भी अमरता प्रदान कर देते हैं।[1] उनका काव्य-रस
अपने वैविध्य में विचित्र आस्वादमय होता है।[2] वस्तुतः उनकी सूक्तियां सुधानिष्यंदिनी
होती हैं जिनका कथा-शरीर भगवान् शंकर के माहात्म्य से विनिर्मित होकर सांसारिक
तापों का विच्छेद करने की शक्ति रखता है।[3] ऐसे कवियों की रचनाएं किसी भी भाषा-
साहित्य का गौरव बन सकती हैं। इसका यह अभिप्राय नहीं कि काव्य-कृतियों में सर्वत्र
ही उत्कर्ष विधान रहता है। सच तो यह है कि अनेक स्थलों पर उनमें उत्कर्षापकर्ष का
अपचय भी संभव है किंतु वह भी कई दृष्टियों से अभिनंदनीय ही है क्योंकि जब विधाता
की सृष्टि ही गुणदोषमय है तो काव्यकार उससे अस्पृष्ट कैसे रह सकता है? हां, यह
बात अवश्य है कि वह अपनी प्रतिभा से उसका परिष्करण करता हुआ उसे ऐसा स्वरूप

---

१. हेम्नां भारशतानि वा मदमुचां वृंदानि वा दंतिनां
श्रीहर्षेण तदर्पितानि गुणिने वाणाय कुत्राद्य तत्।
या वाणेन तु तस्य सूक्ति विसरैरुट्टंकिताः कीर्त्तय—
स्तत् कल्पप्रलये पि याति न मनाङ् मन्ये परिम्लानतां ॥

२. पुण्ड्रेक्षोः परिपाकपाण्डुनिबिडे यो मध्यमे पर्वणि,
ख्यातः किं च रसः कषायमधुरो यो राजजम्बूफले।
तस्यास्वाददशाविलुण्ठनपटुर्येषा वचोविभ्रयः
सर्वत्रैव जयंति चित्रसतयस्ते भर्तृमेण्ठादयः ॥

३. नमो स्तु ताभ्यौ भुवने जयंति ताः सुधामुचस्ताश्च कवीन्द्रसूक्तयः।
भवैक विच्छेदि कथाशरीरतामुपैति यासां चरितं पिनाकिनः ॥

विधान तो प्रदान कर ही सकता है जिससे वह सहृदयजनग्राह्य और स्वसंवेद्य हो सके। वस्तुतः रस-संसिद्ध कवि कवि-साधना का सर्वोत्तम प्रतिफल है जिसकी निष्पत्ति के लिए सजग सतर्कता की परम आवश्यकता है। जिस प्रकार 'सेवा-धर्म' को 'परम गहन' और 'योगिनामप्यगम्य' कहा गया है उसी प्रकार कवि-धर्म भी अपनी निष्ठा में परम महान् और विरलजनसाध्य है। ठीक भी है, क्योंकि कवि जब अक्षर-ब्रह्म तथा शब्दज्योति का उपासक है तो उसमें क्षरित भाव की तमोराशि कैसे रह सकती है? नीरस रचना तो उसके लिए सबसे बड़ा अभिशाप है क्योंकि उसके द्वारा कवि-कार्य की कुत्सा होती है। नीरस रचना करने की अपेक्षा तो कहीं वह अधिक अच्छा है कि काव्य-निर्माण ही न किया जाय ताकि कवि के लिए अपशब्द का प्रयोग ही न हो—

नीरसस्तु प्रबंधो यः सोपशब्दो महान् कवेः।
स तेनाकविरेव स्यादन्येनास्मृत लक्षणः।

सजीव काव्य का स्रष्टा कवि निश्चय ही प्रतिभा-सम्पन्न होता है। वह अपनी प्रतिभा के प्रभाव से लौकिक अनुभवों को भी नवीन तथा लोकोत्तर परिष्कार प्रदान करता है। प्रतिभा के ही कारण कवि का व्यक्तिगत बंध अपनी 'परिमितप्रमातृता को परित्यक्त कर उसे ऐसी लोकसामान्य भावभूमि पर अधिष्ठित कर देता है जो समस्त विश्व पर्यन्त व्याप्त हो सके। उसकी प्रतीति 'स्वात्मद्वारेण विश्वं तथा पश्यन्' के रूप में इतनी महनीय बन जाती है कि उसकी चर्वणा से आस्वाद्य बना हुआ उसका अनुभव केवल लौकिक अनुभव न रहकर उसके आत्मतत्त्व में व्याप्त हो जाता है जिसके कारण उसका भावजीवन अपनी सहज क्रिया में अभिव्यक्त होकर सहृदयमात्र का भावालोक बन जाता है। सच तो यह है कि जब तक कवि के भाव-जीवन में इस प्रकार की आत्म-विश्रांति नहीं आती तब तक वह उसे शब्दार्थरूप काव्य का अभिधान प्रदान कर ही नहीं सकता। उसकी मनःस्थिति में निर्मित काव्य के शब्दार्थ रूप भले ही लौकिक हों किन्तु वे कवि की आत्मसहज वाणी का आधार पाकर विश्वव्यापक प्रतीति कराने की क्षमता प्राप्त कर लेते हैं। महर्षि वाल्मीकि का 'शोक' जिस प्रक्रिया से 'श्लोकत्व' को समागत हुआ, यह इस कथन का जीवन्त प्रमाण है।

काव्य-निर्माण कवि की अन्तर्मुखी साधना का प्रतिफल है। उसकी श्रेयस्करी सर्जना तभी सम्भव है जब उसका साधक काव्यकार आगम मतानुयायियों की भांति अपनी इन्द्रियों की बाह्य वृत्तियों को समाधिस्थ करते हुए चिदानन्द ज्योति की ओर विशेषोन्मुख कर सके। उस समय जिस महान् काव्य-साहित्य का जन्म होता है, वह अपनी रस-सिद्धि में निश्चय ही अजरामर बनकर अपने स्रष्टा को अक्षय कीर्ति प्रदान करता है। कालिदास ने मेघदूत में एक स्थान पर 'करण-विगम' तथा शूद्रक ने मृच्छकटिक के मंगलाचरण में 'व्यपगतकरणम्' पदों का प्रयोग करते हुए जिन प्राकरणिक अर्थों का प्रकाशन किया है, वे अपनी शब्दशक्ति में अत्यन्त व्यापक हैं। उनसे इस बात का सहज तथ्योद्घाटन किया जा सकता है कि जिस प्रकार योग साधकों और संत-महात्माओं ने 'साधो सहज समाधि भली' की अभ्यर्थना करते हुए इन्द्रियों को विपरीत दिशा की ओर अन्तर्मुखी बनाने में ही परम ज्योति का साक्षात्कार प्राप्त किया था, उसी प्रकार शब्द-

ब्रह्म की समाधि में लीन रहने वाला काव्य-सृष्टा भी जितना अधिक अन्तर्मुखी बनकर अपनी संवेदनाओं को वाणी-वैभव की साकारता प्रदान करता है, वह उतना ही महान् कहा जा सकता है। वस्तुतः काव्य-निर्माण की अवस्था कवि-मानस के चिदानन्द रूप की तन्मय-दशा है जिसमें उसकी वृत्तियां उसके वर्ण्यविषयों में जितनी अधिक अन्तर्निलीन हो सकती हैं, उसका निर्माण उतना ही श्रेष्ठ और सरस बन सकता है।

प्रतिभाशाली अथवा सारस्वत कवि का दृष्टिकोण अत्यन्त गम्भीर और व्यापक होता हैं। उसके लिए न तो काव्योचित वर्ण्यविषयों की कमी है और न अभिव्यंजना-शिल्पों तथा कल्पना-चमत्कारों की ही न्यूनता है। उनके कर्तृत्व-कौशल को देखते हुए न तो यह कथन ही उचित प्रतीत होता है कि काव्य का जो कुछ भी वर्ण्य है, वह प्राचीन कवियों ने चित्रित कर दिया है और न यह मान्यता ही युक्तिसंगत लगती है कि केवल दूसरों की कृतियों का आकलन करने से ही काव्य-शक्ति का उन्मेष होता है। हमारा तो विश्वास है कि जगन्नियन्ता परमेश्वर ने कवि को ऐसा ज्ञानमय सारस्वत-चक्षु प्रदान किया है जिसके द्वारा वह मन और वाणी से अगोचर समाधि लगाकर इस विषय का सहजबोध कर लेता है कि काव्य के लिए कौन-सा विषय स्पृष्ट है और कौन-सा विषय अस्पृष्ट। भारतीय जीवन की आस्तिक भावना ने तो यहां तक स्वीकार किया है कि भगवती वीणापाणि के असीम और अलौकिक अनुग्रह से उसके कृपापात्र महाकवियों को सुषुप्ति अवस्था में भी काव्यरचनानुरूप शब्दों और अर्थों का सम्यक् ज्ञान हो जाता है। इसके विपरीत जो व्यक्ति प्रतिभा किंवा कवित्वशक्ति से विहीन हैं वे जाग्रत अवस्था में भी अन्ध-चक्षु हैं। सारस्वत कवियों की यह अद्वितीय विशेषता होती है कि जिन विषयों पर अन्य कवियों ने लिखा है, उन्हें वे उच्छिष्ट तथा दृष्ट समझकर त्याग देते हैं और उनकी दिव्य दृष्टि ऐसे-ऐसे नवीन तत्त्वों की ओर प्रधावित होती है जिसकी कल्पना करना भी अन्य कवियों के लिए संभव नहीं है। सच तो यह है कि अपने रचना-काल में रससिद्ध कवि सहस्राक्ष बन जाते हैं और भगवान् शंकर की भांति उनका ज्ञानमय तृतीय नेत्र सांसारिक पंकिलताओं को और स्वार्थमय बन्धनों को विनष्ट कर ऐसी दिव्य आभा विकीर्ण करता है जिसमें योगियों की समाधि और मधुमती भूमिका की स्थिति आ जाती है। महाकवियों के मतिदर्पण में समस्त विश्व प्रतिबिम्बित होता है और उनके सम्मुख शब्द और अर्थ परस्पर प्रतिस्पर्धा की भावना रखकर अहंपूर्विकावृत्ति से उपसर्पण करते हैं। वस्तुतः जिन विषयों को समाधिसिद्ध योगी दिव्य-दृष्टि से देखते हैं, उन्हीं विषयों में हमारे रससिद्ध कविजन वाणी द्वारा विचरण करते हैं। प्रतिभासम्पन्न महाकवियों की इन अलौकिक विशेषताओं का पूर्ण विवेचन करना असम्भव-सा है, अतः हम उन्हें सभी स्थितियों में वन्दनीय समझकर उनके प्रति अपने श्रद्धा-सुमन समर्पित करके ही संतोष-लाभ करना पर्याप्त समझते हैं।

द्वितीय खण्ड

५

रीति-तत्त्व और काव्य-मार्ग

रीति-तत्त्व का पूर्वाभास

आचार्य वामन ने जिस रीति-तत्त्व को काव्य का आत्मस्थानीय स्वरूप निर्धारित कर उसकी विवेचना की है, उसका पूर्वाभास हमें भामह द्वारा निरूपित वैदर्भमार्ग और गौडीय मार्ग के विवेचन में मिलता है। अंतर इतना ही है कि वामन ने वैदर्भी, पांचाली और गौडीया नामक तीन रीतियां मानकर उनकी व्याख्या की है जबकि भामह ने 'त्रिविध रीति' के स्थान पर 'द्विविध मार्ग' की प्रतिष्ठा कर वामन से भिन्न दृष्टिकोण उपस्थापित किया है। भामह की विवेचना से प्रकट है कि यों तो उनके समय में काव्य-रचना में वैदर्भ और गौडीय नामक दो मार्ग प्रचलित थे, किन्तु वे स्वयं दोनों मार्गों में तात्विक विभेद मानने के पक्ष में न थे। उन्होंने इस प्रकार के मार्ग-भेद में अरुचि-सी प्रदर्शित करते हुए उस भेद-कल्पना को व्यर्थ माना है और उसे गतानुगतिकता अथवा गड्डलिक प्रवाह का ही निदर्शन कहा है। भामह को यह तथ्य भी स्वीकार नहीं है कि वैदर्भ मार्ग गौडीय मार्ग से श्रेष्ठ है। उनका मत है कि काव्य का सौन्दर्याधायक तत्त्व तो एक ही है चाहे उसे 'वैदर्भ मार्ग' के नाम से निरूपित किया जाय अथवा गौडीय मार्ग की संज्ञा से अभिहित किया जाय। वे तो किसी भी काव्य-रचना की श्रेष्ठता के लिए अलंकारयुक्तता, ग्राम्यत्वदोष-रहितता, सुंदर अर्थसम्पन्नता और सुग्राह्य संगति को आवश्यक समझते हैं और ये विशेषताएँ जिस कृति में उपलब्ध होती हैं वही उनकी दृष्टि में सुष्ठुतामयी है। इन गुणों से विहीन रचना यदि वैदर्भ मार्ग में भी निर्मित हो तो भी भामह की दृष्टि से वह वरेण्य नहीं कही जा सकती। भामह का यह विवेचन जहाँ इस विषय का संकेत करता है कि उनके समय में काव्य की तीन रीतियों के स्थान पर काव्य के दो मार्ग प्रसिद्ध थे वहाँ उनके विवेचन से इस बात का भी पता चल जाता है कि वे अपने समय में प्रचलित काव्य-मार्गों के प्रति किस प्रकार का विरोधी किंतु उदार दृष्टिकोण रखते थे।

रीति-तत्त्व का रूप

वामन के मतानुसार रीति ही काव्य की आत्मा है जिसका अभिप्राय यह है कि वह शरीर में रहने वाले जीवनाधायक आत्मतत्त्व की भाँति काव्य के लिए भी जीवन-विधायिनी है। उनके मत से काव्य में शब्द और अर्थ तो शरीर-स्थानीय है, किन्तु रीति

आत्मस्थानीय तत्त्व है। साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ आदि आचार्यों ने रस को काव्य की आत्मा कहकर रीति को अवयव-संस्थान के समान माना है, किंतु वामन इस मत से विपरीत धारणा रखते हैं। उनका कथन है कि काव्य का चमत्कार रीति में ही निहित है, अतः उसे ही काव्य की आत्मा स्वीकार करना चाहिए।

रीति पद की व्याख्या करते हुए वामन ने 'विशिष्टपदरचना रीतिः' सूत्र का प्रवर्तन किया है जिसका अर्थ यह है कि 'विशेषयुक्त पद-रचना' का नाम रीति है। 'विशेष' शब्द को उन्होंने 'विशेषो गुणात्मा' कहा है जिसका यह अभिप्राय है कि 'विशेषता' गुण रूप है जो वैदर्भी, गौडी और पांचाली संज्ञक तीन रीतियों में विवेचित होती है। रीतियों के ये नाम यद्यपि देश-विशेषों के आधार पर रखे गये हैं किंतु इससे यह नहीं माना जा सकता कि काव्यों के द्रव्यगुण अर्थात् वैशिष्ट्य की उत्पत्ति केवल देश-विशेष के कारण ही होती है जिसके फलस्वरूप रीतियों में विदर्भ, गौड़ और पांचाल आदि देशों से उनका नामकरण किया गया है। वास्तव में देश-विदेश से 'द्रव्य-गुण' अर्थात् काव्य-गुणों की उत्पत्ति नहीं होती और न इस कारण देशों के नाम पर ही रीतियों के नाम रखे गये हैं। सच तो यह है कि तथाकथित देशों के व्यक्तियों ने विशेष-विशेष प्रकार की रचना-शैलियों का आविष्कार किया है, अतः तथाकथित देशों के नाम पर ही उक्त रीतियों का नामकरण किया गया है। वैसे देशों से काव्य का कोई उपकार नहीं होता जिसके कारण किसी देश-विशेष के नाम पर रीतियों का भी नामकरण किया जाय।

गुण-संघटना और रीति

वामन ने 'बंध' को 'पदरचना' तथा 'विशिष्टपदरचना' को 'रीति' कहकर रीतियों की गुणात्मकता सिद्ध की है जिसका एक अभिप्राय यह भी है कि रीति और गुण पृथक्-पृथक् नहीं किये जा सकते। जो विद्वान् 'संघटना' और गुणों को पृथक्-पृथक् मानते हैं उनमें से एक वर्ग का मत यह है कि गुण 'संघटना' के आश्रित रहते हैं जबकि दूसरे वर्ग के मतानुसार 'संघटना' गुणों के आश्रित रहती है। आनंदवर्धन के शब्दों में इन दोनों पक्षों का निरूपण 'संघटनाश्रया गुणाः' एवं 'गुणाश्रया वा संघटना' द्वारा किया जा सकता है। भट्टोद्भट ने गुणों को संघटना का धर्म कहकर उनकी स्थिति संघटना के आश्रित मानी है, क्योंकि धर्म सदा धर्मी के आश्रित रहता है। इस प्रकार उनके मत से 'गुण' आधेय तथा 'संघटना' आधार है। यहाँ एक बात उल्लेखनीय है कि आनंदवर्धन ने अपनी विवेचना में जहाँ संघटना को 'गुणाश्रया' कहा है, वहाँ उसका एक प्रयोजन यह भी है कि वे संघटना के रूप में रीतियों का निर्देश कर उनका गुणों के साथ संबंध निरूपित करना चाहते थे। यद्यपि वे रीति-सिद्धांत के समर्थक न होकर ध्वनि-सिद्धांत के प्रवर्तक थे तथापि उनके विवेचन में गुण-संघटना और रीति के पारस्परिक सम्बन्धों का जो पक्ष मुखरित हुआ है, वह उनके समन्वयकारी दृष्टिकोण का ही परिचायक है।

दण्डी ने वाणी को 'विचित्रमार्गमयी' कहकर उसके बहुविध रचना-प्रकारों का संकेत किया है जिनके पारस्परिक सूक्ष्म भेदों का बोध केवल परिपक्वबुद्धि विद्वान् ही कर सकते हैं। वाणी का वह वाग्वैचित्र्य रीतिभेद के आधार पर स्पष्ट किया गया है

जिसे दृष्टिगत कर वामन ने विशिष्टपदरचना परक 'रीति' को काव्य का आत्मतत्त्व माना और जिसके प्रमुख भेदों में वैदर्भी, गौडी और पांचाली की गणना की थी। विश्वनाथ ने उस पदसंघटना को रीति कहा है जो 'अंगसंस्थानविशेषवत्' तथा 'रसादिकों की उपकर्त्री' होती है। उनके मतानुसार रीति के चार भेद हैं—वैदर्भी, गौडी, पांचाली तथा लाटिका। सरस्वती-कण्ठाभरण में छः प्रकार की रीतियाँ मानी गई हैं। दण्डी का मत है कि इन प्रभेदों में वैदर्भ और गौडीय मार्ग ही दो स्फुट भेद हैं जो क्रमशः 'सुकुमार' और 'विकट बंधात्मक' होते हैं। 'सरस्वती कंठाभरण' में रीति-भेदों के लक्षणों और उदाहरणों का विस्तृत विवेचन किया गया है।

रीतियों के भेद और उनके आधार

रीतियों के जितने भी भेद किये गये हैं वे सब गुणों के भेदों के आधार पर हैं। उन रीतियों में वैदर्भी रीति को सर्वोत्कृष्ट माना गया है क्योंकि वह समस्त गुणों से युक्त होती है। उसकी प्रशंसा में अनेक श्लोक प्रसिद्ध हैं जिनमें इस बात का उल्लेख विशेष रूप से किया गया है कि वैदर्भी रीति सब प्रकार के काव्य-दोषों की मात्रा से रहित और समस्त गुणों से युक्त होने के कारण वीणा के स्वर के समान सौभाग्या और मधुरा प्रतीत होती है।[1] उस रीति के अभाव में वाणी का मधु स्रवित ही नहीं हो सकता, भले ही उसका सुकविरूप योग्य वक्ता, सुन्दर वर्ण्य विषय रूप अर्थ और शब्दानुशासन विशिष्ट श्रेणी का ही क्यों न हो।[2] वैदर्भी रीति का भी उत्कृष्टतम रूप वह है जिसमें सामासिक पदों का अभाव हो। ऐसी वैदर्भी को शुद्ध वैदर्भी कहा गया है। उसमें अर्थगुणों का वैभव आस्वाद करने योग्य होता है। विद्वानों की मान्यता है कि वैदर्भी रीति के बल पर काव्यार्थ गुणों का लेशमात्र भी आस्वाद्य हो जाता है। यदि किसी रचना में अर्थगुण-सम्पत्ति का पूर्ण सौन्दर्य विद्यमान हो और उसमें वैदर्भी रीति प्रयुक्त की जाय, तब तो उस काव्य-रचना के सौष्ठव का अनुमान ही नहीं लगाया जा सकता। उसकी प्रशंसा में प्रसिद्ध श्लोकों का यह तथ्य स्पष्ट रूप से निरूपित किया गया है कि "वैदर्भी रीतिमयी रचना कुछ और ही प्रकार की लोकोत्तर पदरचना है जिसमें निबद्ध होने पर 'न कुछ' अर्थात् तुच्छ या असत्-सी वस्तु भी कुछ अलौकिक चमत्कारमयी हो जाती है और वह सहृदयों के कर्णगोचर होकर उनके चित्त को ऐसी विधि में आह्लादित कर देती है जिससे यह प्रतीत होने लगता है कि कहीं से अमृत की ही वर्षा हो रही है।[3] "इस विषय में

१. अस्पृष्टा दोषमात्राभिः समग्रगुणगुम्फिता।
विपंचीस्वर सौभाग्या वैदर्भी रीतिरिष्यते॥

२. सति वक्तरि सत्यर्थे सति शब्दानुशासने।
अस्ति तन्न विना येन परिस्रवति वाङ्मधु॥
—काव्यालंकार सूत्र वृत्ति १,२,११ में उद्धृत श्लोकद्वय।

३. किन्त्वस्ति काचिदपरैव पदानुपूर्वी,
यस्यां न किंचिदपि किंचिदिवावभाति।
आनंदयत्यथ च कर्णपथं प्रयाता,
चेतः सताममृत वृष्टिरिव प्रविष्टा।—वही।

वामनोक्त एक अन्य श्लोक[1] उद्धृत करने योग्य है जिसमें कहा गया है कि वैदर्भी रीति को काव्यरूप वाक्य में प्राप्त कर शब्दसौन्दर्य स्पंदित होने लगता है, नीरस अथवा वितथ वस्तु सरस अथवा अवितथ हो जाती है एवं सहृदयों के हृदय को रंजित करने वाला ऐसा अनिर्वचनीय शब्दपाक उदित हो जाता है जिसके कारण शब्द-शोभा नृत्य-सी करने लगती है।

वैदर्भी रीति का विवेचन

यों तो वैदर्भी रीति के अनेक उदाहरण दिये जा सकते हैं किंतु वामन ने उसके आदर्श उदाहरण के रूप में अभिज्ञान शाकुंतलम् के द्वितीयअंक का षष्ठ श्लोक उद्धृत किया है जिसमें इस विषय का चित्र अंकित किया गया है कि मृगया के लिए गये हुए महाराज दुष्यंत शकुंतला के रूप-सौन्दर्य पर मुग्ध होकर आखेट के प्रति किस प्रकार विरक्त बन जाते हैं और सेनापति द्वारा प्रेरित करने पर भी शिकार की ओर रुचि नहीं दिखाते तथा वन के प्राणियों तथा अपने धनुष को विश्राम करने का आदेश देते हैं। उक्त श्लोक में वामन ने समस्त गुणों से युक्त वैदर्भी रीति स्वीकार की है। उनके अनुसार ओज, प्रसाद, माधुर्य, सौकुमार्य, उदारता, श्लेष, कांति, समता, समाधि और अर्थव्यक्ति नामक दस प्रकार के गुण इस श्लोक में विद्यमान हैं जिनके कारण यह 'समग्र गुणा वैदर्भी' का उदाहरण माना गया है। श्लोक इस प्रकार है—

गाहतां महिषा निपानसलिलं शृंगैर्मुहुस्ताड़ितं,
छायाबद्धकदम्बकं मृगकुलं रोमंथमभ्यस्यतु।
विस्रब्धं कुरुतां वराह विततिर्मुस्ता क्षति पल्वलि,
विश्रांति लभतामिदं च शिथिल ज्याबंधमस्मद् धनुः[2]॥

गौडीया रीति का स्वरूप

वामन ने गौडीया रीति उसे कहा है जिसमें 'ओज' और 'कांति' नामक केवल दो गुण विद्यमान हों। माधुर्य और सौकुमार्य नामक गुणों के अभाववश यह रीति समासबहुला एवं अत्यन्त उग्र पदों वाली होती है। उसके विषय में पाद-टिप्पणी में उल्लिखित[3] श्लोक अत्यन्त प्रसिद्ध है जिसमें कहा गया है कि रीति-विचक्षण पंडितों ने गौडीया रीति उसे माना है जो अत्यधिक समासयुक्त, उत्कट पदों से समन्वित तथा ओज एवं कांति गुणों से सम्पन्न हो। वामन ने इस रीति के उदाहरण रूप में महाकवि

---

१. वचसि यमधिगम्य स्पंदते वाचक श्री-
वितथमवितथत्वं यत्र वस्तु प्रयाति।
उदयति हि स तादृक् क्वापि वैदर्भ रीतौ,
सहृदयहृदयानां रंजकः को पि पाकः॥—काव्यालंकार सूत्र वृत्ति १,२,२१ में उद्धृत श्लोकद्वय।

२. कालिदास, अभिज्ञानशाकुंतलम्, २।६।

३. समस्तात्युद्भटपदाभोजः कांतिगुणान्विताम्।
गौडीया मिति गायंति रीतिं रीति विचक्षणाः।

भवभूति विरचित 'महावीर चरितम्' नामक नाटक के प्रथम अंक का चतुर्दश श्लोक उद्धृत किया है जिसमें लक्ष्मण ने भगवान् श्रीराम द्वारा तोड़े गये शिव-धनुष के भयंकर शब्द का चित्र अंकित किया है। इस उदाहरण में बंध की गाढ़ता और पदों की उज्ज्वलता प्रकृत्या विद्यमान है जिसके कारण वह गौडीया रीति का उदाहरण माना गया है। श्लोक इस प्रकार है—

दोर्दण्डांचित चन्द्रशेखरधनुर्दण्डावभंगोद्यत-
ष्टंकारध्वनिरार्यबाल चरितप्रस्तावनाडिण्डिमः।
द्राक्पर्यस्तकपालसम्पुट मिलद् ब्रह्माण्डभाण्डोदर—
भ्राम्यत्पिण्डित चण्डिमा कथमहो नाद्यापि विश्राम्यति ॥

पांचाली रीति का लक्षण तथा वैदर्भी का सर्वोपरि महत्त्व

माधुर्य और सौकुमार्य रूप-गुणों से उत्पन्न रीति का नाम 'पांचाली' है। इसमें ओज और कांति नामक गुणों का अभाव रहता है, अतः इसके पद गाढ-बंधत्व रूप ओज से विहीन तथा सुकुमार एवं कांति का अभाव होने से 'विच्छाय' होते हैं। इस रीति के सम्बन्ध में एक श्लोक अत्यन्त प्रसिद्ध है जिसमें पांचाली रीति को गाढबंध से रहित, शिथिल पदों से युक्त, माधुर्य, सौकुमार्य गुणों से समन्वित एवं सम्पूर्ण सौन्दर्य से शोभित कहा गया है।[१] इन तीन रीतियों के अंतर्गत काव्य उसी प्रकार समाविष्ट हो जाता है जिस प्रकार रेखाओं के भीतर चित्र। इन रीतियों का आपेक्षिक महत्त्व तथा उपादेयतागत तारतम्य भी है। विद्वानों का मत है कि इन तीनों प्रकार की रीतियों में वैदर्भी रीति ही सर्वाधिक ग्राह्य है, क्योंकि वह सम्पूर्ण काव्यगुणों से युक्त होती है। गौडी तथा पांचाली रीतियों में क्रमशः ओज तथा कांति एवं माधुर्य तथा सौकुमार्य नामक गुणयुग्म विद्यमान रहते हैं अतः वे अपने अल्प-गुणत्व के कारण वैदर्भी के समान सर्वोपरि नहीं समझी जाती। वैदर्भी रीति की सर्वगुण-सम्पन्नता की प्रशंसा केवल काव्यशास्त्रियों ने ही नहीं की अपितु अनेक काव्यकारों द्वारा भी उनका संस्तव यथाप्रसंग किया गया है जिनमें से कतिपय प्रमुख कवियों की एतद्विषयक प्रशस्तियों का उल्लेख करना हम आवश्यक समझते हैं। वे प्रशस्तियां इस प्रकार हैं—

तत्त्वस्पृशस्ते कवयः पुराणा श्री भर्तृमेण्ठ प्रमुखा जयंति।
निस्त्रिंशधारा सदृशेन येषां वैदर्भमार्गेण गिरः प्रवृत्ताः ॥१॥[२]
अनभ्रवृष्टिः श्रवणामृतस्य सरस्वती विभ्रम जन्म भूमि।
वैदर्भ रीतिः कृतिनामुदेति सौभाग्यलाभप्रतिभूः पदानाम् ॥२॥[३]

---

१. अश्लिष्ट श्लथभावां तां पूरणच्छाययाश्रिताम्।
मधुरां सुकुमारां च पांचाली कवयो विदुः ॥—काव्यालंकार सूत्र वृत्ति, १।२।१४।

२. पद्मगुप्त परिमल, नवसाहसांक चरितम्, १।५।

३. विल्हण, विक्रमांकदेव चरितम्, १।९।

आदि: स्वादुषु या परा कवयतां काष्ठां यदारोहणे,
या ते नि:श्वसितं नवापि च रसा यत्र स्वदतेतराम्।
पांचालीति परम्परापरिचितो वाद: कवीनां परं,
वैदर्भी यदि सैव वाचि किमित: स्वर्गे पवर्गेऽपि वा ॥३॥[1]
धन्यासि वैदर्भि गुणैरुदारैर्य या समाकृष्यत नैषधोऽपि।
इत: स्तुति: का खलु चंद्रिकाया यदब्धिमप्युत्तरलीकरोति ॥४॥[2]
गुणानामास्थानीं नृपतिलक नारीष्ति विदितां,
रसस्फी तामन्त: तव च तव वृत्ते च कवितु:।
भवित्री वैदर्भीमधिकमधिकण्ठं रचयितुम्,
परीरम्भ क्रीडा चरणशरणाम न्व हमयम् ॥५॥[3]

वैदर्भी, गौडीया और पांचाली संज्ञक जिन तीन रीतियों का परिचय पूर्ववर्ती पंक्तियों में दिया गया, उससे स्पष्ट है कि वैदर्भी रीति ही अन्य रीतियों से श्रेष्ठ और सर्वगुणसम्पन्न है। उसकी प्राप्ति के लिए गौड़ीया तथा पांचाली रीतियों का अभ्यास उपयोगी अथवा साधनभूत हो सकता है। जो कवि प्रारम्भ में गौडीया तथा पांचाली रीतियों में काव्य-रचना करते हैं वे शनैः शनैः अभ्यास करते हुए वैदर्भी रीति में भी दक्षता प्राप्त कर सकते हैं। किंतु रीतियों के इस प्रकार के क्रमिक औदात्य की प्राप्ति के विषय में विद्वानों में मतभेद भी है। इस सम्बन्ध में आचार्य वामन का कथन है कि जिस प्रकार अतत्त्व के अभ्यास से तत्त्व की निष्पत्ति नहीं की जा सकती उसी प्रकार गौड़ीय तथा पांचाली रीतियों की रचना के अभ्यास से भी वैदर्भी रीति में रचना-नैपुण्य नहीं प्राप्त किया जा सकता। अपनी मान्यता का स्पष्टीकरण करने के लिए उन्होंने सन (शण) और टसर (त्रसर) का निदर्शन प्रस्तुत करते हुए लिखा है कि जिस प्रकार सन की सुतली से टाट की पट्टी बुनने वाला व्यक्ति अपने उस अभ्यास से सुंदर दुकूल बुनने में कौशल प्राप्त नहीं कर सकता उसी प्रकार पांचाली और गौडीया के अभ्यास से वैदर्भी रीति में भी विचक्षणता नहीं प्राप्त की जा सकती। वामन ने अतत्त्व से तत्त्व की उपलब्धि की जिस असम्भवता का संकेत इस प्रसंग में किया है उससे मिलता-जुलता निदर्शन योग-दर्शन के प्रथम पाद में भी आया है जिसमें सम्प्रज्ञात या सालम्बन समाधि के अभ्यास से असम्प्रज्ञात या निरालंबन समाधि की असिद्धि की बात कही गई है।[4]

जिस वैदर्भी रीति का गुण-संस्तव विभिन्न आचार्यों द्वारा किया गया है वह वस्तुत: 'विशिष्ट पद रचना' ही है अत: वह केवल पद-रचना-गत अपना कितना ही गुणात्मभूत वैशिष्ट्य क्यों न रखे, उसमें तब तक चमत्कार नहीं आ सकता जब तक उसका काव्य-विषय भी उदात्त और महान् न हो। इसमें कोई संदेह नहीं कि समग्र गुण-सम्पन्नता से व्याख्यात वैदर्भी रीति द्वारा काव्यबंध में सौष्ठव आता है, किंतु जीवित

१. नीलकंठ, नल चरितम् नाटक, २।१।
२. श्रीहर्ष, नैषधचरितम्, ३।११६।
३. वही, १४।९१।
४. योगदर्शन, १।१८।

अर्थात् चमत्कारयुक्त पदार्थ के बिना केवल वैदर्भी रीति के प्रस्फुरण मात्र से वाक्य या काव्य के सौन्दर्य का चरमोत्कर्ष हो सकता है, यह भी नहीं कहा जा सकता। इस विषय में गोपेन्द्रत्रिपुरहरभूपाल विरचित वामनालंकारसूत्रवृत्ति की कामधेनु व्याख्या के प्रसंग में उद्धृत निम्नलिखित पंक्तियां उल्लेखनीय हैं जिनमें इसी तथ्य का प्रतिपादन विशेष रूप से हुआ है—

जीवन पदार्थ परिरम्भणमन्तरेण,
शब्दावधिर्भवति न स्फुरणेन सत्यम्।

रीतियों की रसानुगत सामासिकता

वैदर्भी अथवा पांचाली रीति की असमस्त पदावली की प्रशंसा विभिन्न आचार्यों ने की है, जो कुछ स्थलों पर स्पृहणीय भी नहीं होती। उदाहरणार्थ शांत, शृंगार और करुण रसों की योजना में समासविहीन पद शोभनीय हो सकते हैं किंतु वीर, रौद्र और भयानक आदि रसों में उनकी आवश्यकता अपेक्षणीय नहीं होती। इसका कारण यह है कि छन्द, वृत्ति (कैशिकी, उपनागरिका आद) और काकु आदि की भाँति समास भी रसाभिव्यक्ति के हेतु हैं और वाचिक अभिनय के अंतर्गत समाविष्ट किये जा सकते हैं। समास-प्रयोग के विषय में आचार्यों ने एक नियम यह भी निर्धारित किया है कि वह किसी पद्य की अर्धान्त-अवधि पर्यन्त ही प्रयुक्त किया जाना चाहिए क्योंकि वैसा न करने पर समस्त छन्द गद्यवत् बन जाता है। चूँकि गद्य में छन्द का विधान नहीं होता अतः अपनी छन्दोविच्छित्ति के अभाव में वह उतनी रसात्मकता प्रदान नहीं कर सकता जितनी काव्य की छन्दोमयता में सहज सम्भव है। कभी-कभी समास-रचना से वर्णगुम्फ में एक प्रकार का घनत्व और सौष्ठव भी आ जाता है, अतः इस बात का भी ध्यान रखना आवश्यक है कि समासों का सर्वत्र विच्छेद नहीं किया जाय, क्योंकि वैसा करने पर अनेक बार रसभंगकारिणी स्थिति उत्पन्न हो जाती है। समासों की ग्राह्यता और अग्राह्यता का विश्लेषण शब्द-प्रयोग का एक अत्यन्त रुचिकर विषय है। उसके सम्बन्ध में काव्य-विषय के प्राधान्य और अप्राधान्य की विवक्षा भी अपना अभीष्ट महत्त्व रखती है। यों तो वैयाकरणों ने भी समास-प्रयोग के विशुद्ध स्थल निरूपित कर इस बात का निरूपण किया है कि उनकी पदार्थगत क्या उपयोगिता है, किंतु इस विषय में काव्य-भावकों का अभिमत अधिक महत्त्वपूर्ण है। काव्य-विमर्शकों ने वैयाकरणों और मीमांसकों के शब्द-विवेचन में शब्दों की शुष्क व्युत्पत्तिजनित अभिमान का उल्लेख कर उन्हें काव्य-तत्त्वज्ञों से हीन श्रेणी प्रदान की है क्योंकि वे स्वप्न में भी साहित्य-सुधा के रसास्वाद के चमत्कार की अनुभूति नहीं कर सकते। इस विषय में व्यक्तिविवेककार महिमभट्ट का वह मत उल्लेखनीय है जिसने उन्होंने शब्द-रचना और समास-प्रयोग का विश्लेषण करते हुए कवियों और खण्डिकोपाध्यायों के दृष्टिकोण का अंतर स्पष्ट किया है—

"यद्धा कवीनामेवैष विषयो न खण्डिकोपाध्यायानामित्यनवगततदभिप्रायैस्तैरुपेक्षितमेतत्। ते हि स्वप्ने प्यनासादितसाहित्यसुधारसास्वादचमत्काराः शुष्कशब्दव्युत्पत्तिमात्रोपजनिताभिमानदुर्विदग्धा विविधाभिधानाधानोद्धारा अभिप्रेयप्रतीतिवैचित्र्य विवेक

कौशल शालीना: लक्षणमस्तीत्यैवरसाभि व्यक्तिविघ्नभूतमपरमपि बहुतरमवकरप्रायं प्रयुंजत इति रसास्वादानुगुणप्रयोगावहित चेतसां कवीनामेव तच्चिन्तोचिता नान्येषाम्।[1]

काव्य के त्रिविध मार्ग

काव्य-मार्ग की प्रतिष्ठा का रहस्य

कुंतक द्वारा विवेचित काव्य के त्रिविध मार्ग एक प्रकार से रीति-तत्त्व के ही प्रकाशक है। 'रीति' के स्थान पर 'मार्ग' पद का प्रयोग करते हुए कुंतक ने काव्य के विशेष लक्षण के प्रतिपादनार्थ उसका मार्गभेदमूलक त्रैविध्य निरूपित किया है। उनके मतानुसार काव्य के केवल तीन ही मार्ग हो सकते हैं और उनके नाम हैं—१. सुकुमार, २. विचित्र और ३. मध्यम अर्थात् सुकुमार तथा विचित्र मार्ग का छायोपजीवी पथ। ये तीनों मार्ग कवि-कृत काव्य-रचना-रूपकार्य के लिए प्रस्थान (प्रवृत्ति) के हेतुभूत हैं।[2] इन मार्गों के त्रित्ववाद के सम्बन्ध में मतभेद भी हो सकते हैं किंतु कुंतक ने संगीतप्रयुक्त सप्त स्वरों की भाँति इनकी संख्या भी निश्चित कर दी है। उनका मत है कि ये काव्य-मार्ग न तो तीन से कम हो सकते हैं और न अधिक। कुंतक के पूर्व वामन आदि आचार्यों ने विदर्भ आदि देश-विशेषों के आश्रय से वैदर्भी आदि तीन रीतियों का वर्णन करते हुए उनके उत्तम, मध्यम और अधम रूप तीन भेद माने थे[3] तथा दण्डी आदि आचार्यों ने वैदर्भ और गौडीय रूप दो काव्य-मार्गों का वर्णन किया था[4] जिनसे कुंतक सहमत नहीं हैं। उनका मत है कि देशभेद के आधार पर रीतिभेदों की गणना करने से देशों की अनंतता की भाँति उनकी भी अनंतता हो जाती है और देश-विशेष की विशिष्ट सामाजिक परम्पराओं की भाँति काव्य-रचना के मार्ग में भी अनेक प्रकार की अव्यवस्थाएँ आ सकती हैं जिनके कारण अनेक प्रकार के अनावश्यक विभेद होने सहज संभव हैं। उनके मतानुसार देशधर्म केवल वृद्धों की व्यवहारपरम्परा पर आधारित है जिनका अनुष्ठान देश-विशेष में ही सम्भव है जबकि काव्य-रचना का सम्बन्ध देश-विशेष से न होकर काव्य-प्रतिभा और व्युत्पत्ति आदि कारणों से संयोजित है जिसे देशभेद के साथ संघटित नहीं किया जा सकता। अत: देश-धर्म की भाँति केवल विदर्भ या पांचाल में आवासित होने मात्र से ही वैदर्भी या पांचाली रीतिमयी काव्य-रचना सम्भव नहीं है।

कुंतक ने दाक्षिणात्यों की संगीत विषयक सुस्वरता आदि रूप ध्वनि की रमणीयता के समान काव्य-रचना को स्वाभाविक नहीं माना है, क्योंकि वैसा मानने पर सबके लिए तथाविध काव्यकरण सम्भव हो जाता है। यदि काव्यशक्ति को सबमें स्वाभाविक मान लिया जाय तो भी काम नहीं चल सकता क्योंकि शक्ति के साथ-साथ व्युत्पत्ति आदि आहार्य कारण-सामग्री भी काव्य-रचना के लिए अपेक्षित होती है जिसे प्रतिनियत देश

---

१. व्यक्तिविवेक, द्वितीय विमर्श, चौखम्बा प्रकाशन, पृ० २७६।
२. सम्प्रति तत्र ये मार्गाः कविप्रस्थानहेतवः।
सुकुमारो विचित्रश्च मध्यमश्चोमयात्मकः॥ —वक्रोक्तिजीवितम्, प्रथमोन्मेष, कारिका सं० २४।
३. वामनः काव्यालंकार सूत्र वृत्ति, १।२।९-१३।
४. डण्डी, काव्यादर्श, १।४१।

विशेष में स्थित नहीं माना जा सकता। व्युत्पत्ति का सम्बन्ध न तो देश-विशेष से ही होता है और न उसका किसी देश-विशेष के कवियों में अभाव ही माना जा सकता है। अतः देश-विशेष के आधार पर वैदर्भी आदि रीतियों की व्यवस्था कुंतक को किसी भी रूप में स्वीकार नहीं है।

कुंतक ने देश-विशेष के आधार पर किये गये रीति-भेदों की दोषमयता निरूपित करने के साथ-साथ उत्तम, मध्यम और अधम रूप रीतियों का त्रैविध्य भी खंडित किया है। उनका मत है कि सहृदयजनों के मनःप्रसादन के हेतुभूत काव्य की रचना में वैदर्भी रीति के समान अन्य किसी भी रीति में सौन्दर्य-तत्त्व नहीं होता अतः वैदर्भी युक्त काव्य ही सहृदयहृदयाह्लादकारी हो सकता है और काव्य के मध्यम और अधम रीति-रूपभेद व्यर्थ हो जाते हैं। यदि यह कहा जाय कि मध्यम तथा अधम रीतियों का उपदेश उनके परित्याग के लिए किया गया है तो समुचित नहीं है, क्योंकि वामन ने भी तीनों रीतियों की उपादेयता स्वीकार की है। कुंतक को भामह और दण्डी द्वारा प्रतिपादित वैदर्भ और गौडीय मार्ग में भी दोष ही दृष्टिगोचर हुए हैं जिनका विवेचन करने के उपरांत उन्होंने अपने सिद्धांत की प्रतिष्ठा की है।

कवियों का स्वभाव-भेद ही काव्य-मार्ग-भेद का युक्तिसंगत आधार है

कुंतक के मतानुसार देश-भेद के स्थान पर कवियों के स्वभाव-भेद के आधार पर किया गया काव्य-मार्ग-भेद ही युक्तिसंगत है। सुकुमार स्वभाव वाले कवि में काव्य-रचना की सहज सुकुमार शक्ति होती है जिसके द्वारा वह सहज सुकुमार रमणीय व्युत्पत्ति को प्राप्त करता है। जिन कवियों में सुकुमार स्वभाव से विचित्र रमणीयता होती है, वे विचित्र शक्ति से सम्पन्न होने के कारण वैदग्ध्यमयी सुंदर व्युत्पत्ति प्राप्त करते हैं। ऐसे कवियों का अधिमानस शक्ति और व्युत्पत्ति की वैचित्र्य-वासना से अधिवासित होकर विचित्र मार्ग से काव्य-रचना का आभ्यासिक हो जाता है। उपर्युक्त दोनों स्वभावों से युक्त कवियों में ऐसी उभयात्मक काव्य-शक्ति और व्युत्पत्ति होती है जिनके द्वारा वे मध्यममार्गीय काव्य-रचनाएँ कर सकते हैं। वस्तुतः काव्य-रचना में प्रवृत्त करने में कवियों के स्वभाव ही प्रस्थान-हेतु हैं। यों तो कवियों के स्वभाव की अनंतता की भांति काव्य-मार्ग की भी अनंतता हो सकती है, किंतु कुंतक ने सामान्य रूप से स्वभावों का त्रैविध्य ही युक्तिसंगत माना है। रमणीय काव्य के ग्रहण करने के प्रसंग में सुकुमार-स्वभाव काव्य का प्रथम रूप है जिससे भिन्न और रमणीयता-विशिष्ट उसका द्वितीय भेद 'विचित्र' संज्ञा से अभिहित किया जाता है। दोनों प्रकार के काव्य-मार्गों की रमणीयता से युक्त और उनकी छाया पर उपजीवित काव्य का तृतीय भेद मध्यम काव्य-मार्ग है। इन तीनों भेदों में पृथक्-पृथक् रूप में निर्दोष स्वभाव होते हैं जिनकी तद्विदाह्लादकारिता का विचार करते हुए किसी भी काव्य-मार्ग को एक-दूसरे से हीन नहीं कहा जा सकता। काव्य के ये तीनों मार्ग उत्तम काव्य के प्रस्थान-हेतु हैं, यद्यपि उभयात्मक मार्ग को मिश्रित रचना-शैली की दृष्टि से मध्यम मार्ग भी कहा गया है।

कुंतक ने कवियों के स्वभाव के आधार पर जो काव्य-भेद निरूपित किये हैं

उनकी स्वाभाकिता के सम्बन्ध में एक शंका उत्पन्न होती है और वह यह है कि जब काव्य के हेतु शक्ति, व्युत्पत्ति और अभ्यास तीन माने गये हैं तो इन हेतुओं में शक्ति को स्वाभाविक हेतु कहकर भले ही उसके आधार पर कवि-स्वभाव की दृष्टि से काव्य का विभाजन कर दिया जाय किंतु व्युत्पत्ति और अभ्यास तो काव्य के आहार्य हेतु हैं अतः उनके आधार पर कवि-स्वभाव से काव्य-मार्ग का निर्धारण कैसे किया जा सकता है? कुंतक ने उक्त शंका का समाधान करते हुए लिखा है कि शक्ति, व्युत्पत्ति और अभ्यास को क्रमशः काव्य के स्वाभाविक और आहार्य हेतु मानने से कवि-स्वभाव कृत काव्य-भेदों में कोई अंतराय उपस्थित नहीं होता, क्योंकि काव्य-रचना के क्षेत्र में ही नहीं अपितु अन्य विषयों में भी अनादिवासना के अभ्यास से अधिवासित चेता व्यक्ति को अपने स्वभाव के अनुसार ही व्युत्पत्ति तथा अभ्यास की उपलब्धि होती है। सच तो यह है कि व्युत्पत्ति और अभ्यास केवल स्वभाव की अभिव्यक्ति द्वारा ही सफलता प्राप्त करते हैं और उन दोनों में उपकार्य-उपकारक भाव का सम्बन्ध होता है। स्वभाव और व्युत्पत्ति आदि का सम्बन्ध चेतन और अचेतन पदार्थों पर्यन्त व्याप्त है। अचेतन पदार्थों का स्वभाव भी अपने अनुरूप अन्य पदार्थों के सन्निधान के प्रभाव से अभिव्यक्ति को प्राप्त करता है। उदाहरणार्थ चन्द्रकांतमणियों को प्रस्तुत किया जा सकता है जो अपने स्वभाववश चन्द्र-किरणों के संस्पर्शमात्र से स्वाभाविक रूप से स्यंदमान होकर रस को प्रवाहित करने लगती है। कुंतक के कथन का आशय यह है कि जिस प्रकार चन्द्रकांत-मणियों का स्वभाव चन्द्रकिरणों के स्पर्श से अभिव्यक्त होता है उसी प्रकार कवियों का सुकुमार, विचित्र तथा उभयविध स्वभाव व्युत्पत्ति तथा अभ्यास से उनकी रचनाओं में अभिव्यक्त होता है। कहने के लिए व्युत्पति और अभ्यास काव्य के आहार्य हेतु हैं, किंतु उनकी उपलब्धि स्वभाव अथवा सहजशक्ति से ही होती है अतः स्वभाव के आधार पर काव्य-मार्गों का विभाजन करने में किसी भी प्रकार की आपत्ति नहीं होनी चाहिए।

कुंतक ने कवि-स्वभाव के आधार पर काव्य के जिस मार्गत्रय का विवेचन किया है वह अत्यन्त प्रौढ और विवेकसम्मत है। उसमें न केवल काव्य-सौष्ठव के आवश्यक उपकरण ही व्याख्यात हुए हैं अपितु उन गुणों की भी विवेचना हो गई है जो काव्य-मार्गों के लिए जीवातुभूत हैं। इस विषय में अपनी ओर से अधिक न कहकर हम कुंतक-प्रतिपादित काव्य-मार्गों का उल्लेख करना ही पर्याप्त समझते हैं जिनमें उनकी प्रमुख विशेषताओं का अभिनिवेश सम्यक् रूप से हो गया है। संक्षेप में उन मार्गों का सामान्य परिचय इस प्रकार है—

'सुकुमार' मार्ग और उसकी विशेषताएँ

कुंतक ने काव्य के सुकुमार मार्ग की विवेचना में जो कारिकाएं लिखी हैं उनसे स्पष्ट है कि वे इस मार्ग के अनन्य प्रशंसक थे। उन्होंने कालिदास प्रभृति श्रेष्ठ कवियों को सुकुमार मार्ग के अनुगामी कहकर उन्हें मधुकर-पदवी से उपमित किया है क्योंकि वे उत्फुल्लकुसुमकाननपथ से गमन करते हुए भ्रमरतुल्य कुसुममकरंद (तत्त्वसंग्रह स्वभाव) को प्राप्त कर चुके थे। इस मार्ग में संसार का सम्पूर्ण सौन्दर्य (वक्रोक्तियुक्तत्व) कवि

की सहज प्रतिभा से उत्पन्न होकर काव्य के शोभातिशय को पुष्ट करता है जिसे कुंतक ने 'सौकुमार्यपरिस्पंदस्यंदी' कहा है। कुंतक के मतानुसार 'सुकुमार मार्ग' कवि की नवनवोन्मेषशालिनी प्रतिभा से उद्भिन्न नवीन शब्द और लोकोत्तर अर्थ से मनोहर और स्वाभाविक रूप से विरचित सुंदर अलंकारों से युक्त होता है। इस मार्ग में पदार्थ के स्वभाव की प्रधानता और आहार्य (कृत्रिम) कौशल की उपेक्षा की जाती है जिसका रहस्य केवल सहृदयजन ही समझ सकते हैं। वस्तुतः सुकुमार मार्ग की महिमा का वर्णन शब्दों द्वारा नहीं किया जा सकता। वह अविभावित (अज्ञात) रूप से स्थित सौन्दर्य से आह्लादित करने वाला और विधाता के वैदग्ध्य से उत्पन्न सृष्टि के अलौकिक सौन्दर्य रूप अतिशय के समान होता है।

कुंतक ने सुकुमार मार्ग रचित छंदों के जो उदाहरण प्रस्तुत किये हैं, उनसे उसके स्वरूप-लक्षण का विशद स्पष्टीकरण होता है। उसके अनुगामी कवि अलंकारों का अकृत्रिम प्रयोग करते हुए काव्य-रचना का अपूर्व सौन्दर्य परिपुष्ट करते हैं। उनके द्वारा प्रयुक्त शब्दों की शक्ति अभिधावृत्ति पर्यन्त ही सीमित नहीं रहती अपितु अर्थान्तर की प्रतीति कराने में भी हेतुभूत होती है। सुकुमार मार्ग का काव्यबंध दोषों से अनुपहत और कवि-प्रतिभा से समुल्लसित होने के साथ-साथ अभिनव आह्लादशक्ति से युक्त और हृदयहारी होता है। कुंतक के शब्दों में 'अयत्नविहितस्वल्पमनोहारिविभूषण' से युक्त बंध वाला मार्ग ही सुकुमार मार्ग है। इस मार्ग में कवि की प्रतिभारूप शक्ति से उन्मीलित पदार्थ के स्वाभाविक सौन्दर्य का चमत्कार अलौकिक-सा प्रतीत होता है जिसके सम्मुख अनेक काव्यों का व्युत्पत्तिजन्य सौन्दर्य तिरस्कारास्पद-सा लगता है। कालिदास ने रघुवंश के नवम सर्ग में जो मृगयावर्णन किया है उसमें स्वाभाविक सौन्दर्य की वक्रता होने के कारण कुंतक ने उसे सुकुमार मार्ग का उदाहरण निर्दिष्ट किया है। इसी प्रकार कुमारसम्भव के तृतीय सर्ग के ३५ वें छंद से लेकर ४२ वें छंद पर्यन्त वसंतकालीन सुषमा के प्रसंग में भ्रमर और भ्रमरी आदि के युगल-प्रणय के अंतर्गत जो प्राणिधर्म का वर्णन किया गया है वह भी अपनी स्वाभाविक चमत्कृति में सुकुमार मार्ग का ही निदर्शन है।

सुकुमार मार्ग शृंगारादि रसों के तत्त्वज्ञ सहृदयों का मनःसंवादी अर्थात् हृदयाह्लादकारी होता है। उसमें रसादि पद से रत्यादि स्थायिभाव और रसाभास तथा भावाभास आदि का भी परिग्रहण किया जाता है। पूर्वानुभूत विषयों का प्रत्यक्षीकरण भी सुकुमार मार्ग का वर्ण्य विषय बनता है। उदाहरणार्थ यदि कोई कवि विभाव आदि रूप से रस के अंगभूत पक्षियों के शब्द, वृक्ष, सलिल और कुसुमसमय प्रभृति पदार्थों के सातिशय स्वभाव का वर्णन करे तो ये विषय रसांगता के प्रतिबोधक हो सकते हैं। कभी-कभी विशिष्ट चेतना से युक्त देव, गंधर्व और अन्यान्य दिव्य चरित्र भी शृंगारादि रस से परिपूर्ण रूप से वर्णित होने पर सहृदयों के लिए आह्लादजनक हो जाते हैं। सुकुमार मार्ग के अनुगामी कवियों में ऐसा रचना-कौशल होता है जिसके कारण उनकी सौन्दर्य-वर्णना को सीमित नहीं किया जा सकता। कुंतक ने उनके निर्माण-कौशल को 'विधिवैदग्ध्य निष्पन्ननिर्माणातिशयोपम' कहा है जिसका अभिप्राय यह है कि उसमें विधाता के वैदग्ध्य के समान अवर्णनीय कौशल होता है।

'सुकुमार' मार्ग के गुण

कुन्तक ने सुकमार मार्ग का लक्षण-विधान करने के पश्चात् उसके गुणों का भी निरूपण किया है। उनके मतानुसार सुकुमार मार्ग के प्रथम गुण का नाम 'माधुर्य' है जिसमें समास-रहित मनोहर पदों का विन्यास किया जाता है। समासरहित पदों का यह आशय नहीं है कि माधुर्य गुण में समस्त पदों का नितांत अभाव होता है। उसका अभिप्राय केवल इतना ही है कि उसमें स्वल्प मात्रा में लघु समासों का प्रयोग भी किया जा सकता है जिनके कारण काव्य-रचना में माधुर्य का सन्निवेश हो जाता है। स्वल्प समासों के प्रयोग से काव्य-रचना के शब्दार्थों में रमणीयता और विन्यास-विचित्रता आती है जिससे रचना का आह्लादतत्त्व संवर्धित हो जाता है।

सुकुमार मार्ग का द्वितीय गुण 'प्रसाद' है जो रस और वक्रोक्ति के विषय में बिना किसी क्लेश के अर्थात् अनायास सरलतापूर्वक कवि के अभिप्राय का अभिव्यंजक तथा सद्यमेव अर्थ का प्रतिपादक होता है। इस गुण की मुख्य विशेषता यह है कि काव्य-श्रवण के साथ प्रथमतर ही अर्थसमर्पण अथवा वस्तु-प्रतिपादन हो जाता है और काव्यास्वादयिता को किसी भी प्रकार का प्रयास नहीं करना पड़ता। प्रसादगुण में पदों की समासहीनता, प्रसिद्ध अर्थ का प्रतिपादन, अर्थ के साथ लक्षणा आदि के व्यवधान के बिना साक्षात् सम्बन्ध तथा समास होने पर भी उसकी स्पष्टार्थक समासयुक्तता आदि रहते हैं। रससिद्ध कवियों की रचनाओं में प्रसाद गुण के स्वाभाविक सौन्दर्य को निष्पन्न करने की सहज क्षमता होती है।

सुकुमार-मार्ग का तृतीय गुण 'लावण्य' है जिसे कुन्तक ने 'वर्णविन्यास की विच्छित्ति (सौन्दर्य) संयुक्त पदों की योजना की सम्पत्ति से उत्पन्न रचना का सौष्ठव' कहा है। इस गुण में वाक्य-विन्यास का सौन्दर्य 'वर्णों की विन्यास-विच्छित्ति' तथा 'पदों की संयोजनशोभा' से परिलक्षित होकर रचना की रमणीयता को सहृदय-संवेद्य बना देता है। सुकुमार मार्ग का चतुर्थ गुण 'आभिजात्य' है जिसमें श्रुतिपेशलता के साथ-साथ सुखद स्पृशता तथा स्वभाव मसृणता की छाया विद्यमान होती है। इस गुण से समन्वित रचना श्रवणमात्र से ही हमारे मन में रमणीयता का संचार कर देती है जिसके सुखद स्पर्श से हमारा मन आनन्द-विभोर हो जाता है। जो विद्वान् लावण्य और आभिजात्य को लोकोत्तर तरुणी-सौन्दर्य रूप वस्तु का धर्म मानकर काव्य-मार्ग का धर्म या गुण स्वीकार नहीं करते, उनसे आचार्य कुन्तक सहमत नहीं है। उनका मत है कि जब गुडादि मधुर पदार्थों के धर्म रूप में प्रसिद्ध माधुर्य और स्वच्छ जल अथवा स्फटिक आदि पदार्थों के धर्मरूप से प्रसिद्ध प्रसाद आदि धर्म भी काव्य-गुणों के रूप में ग्रहण किये जाते हैं तो लावण्य और आभिजात्य जैसे गुण भी काव्य के धर्म हो सकते हैं। वस्तुतः आह्लादकारित्व साधर्म्य के कारण उपचार (गौणी वृत्ति) से काव्य में जिस प्रकार माधुर्य गुण का प्रयोग होता है, उसी प्रकार स्फुटावभासित्व रूप साधर्म्य के द्वारा उपचार (गौणी वृत्ति) से त्वरित अर्थ-प्रतीति रूप सुन्दरता का बोधक प्रसाद संज्ञक काव्य-धर्म अवश्यमेव स्वीकार किया जाना चाहिए। माधुर्य एवं प्रसाद गुणों के औपचारिक प्रयोग

के समान काव्य में कविप्रतिभा-कौशल से समुल्लसित कांति से कमनीय रचना का सौन्दर्य सहृदयों में चमत्कारोत्पादन के साधर्म्म के उपचार द्वारा 'लावण्य' और स्वाभाविक सुकुमार सौन्दर्य के उपचार द्वारा आभिजात्य कहा जाता है।

'विचित्र' मार्ग का वैचित्र्य और वैशिष्ट्य

कुन्तक के मतानुसार काव्य का 'विचित्र मार्ग' अत्यन्त दुर्गम है जिस पर केवल विदग्ध कवि ही चल सकते हैं। उस मार्ग को 'खंगधारापथ' से उपमित किया गया है जिसका अभिप्राय यह है कि जिस प्रकार सुभटों के मनोरथ 'असिमार्ग' पर चलने की परिकल्पना से ही आह्लादमय हो उठते हैं, उसी प्रकार व्युत्पन्न काव्यकार भी विचित्र-मार्गमयी रचना करने के भावावेश में ही आनन्द-विभोर हो जाते हैं।[1] इस मार्ग में प्रतिभा के प्रथमोद्भेद के समयवाचक और वाच्य अर्थात् शब्द और अर्थ की अन्तःस्वरूप-वर्तिनी वक्रता (भणितिविच्छिति) अपनी स्वाभाविक प्रवृत्ति से प्रस्फुरित होती है जिससे काव्य का लोकोत्तर सौन्दर्य निष्यंदित हो जाता है।[2] उदाहरणार्थ यदि कोई कवि अप्रस्तुत वायु के वर्णन द्वारा प्रस्तुत रूप किसी ऐसे महापुरुष का वर्णन करे जिसमें दुष्ट जनों के प्रति भी सद्भावना हो तो अन्योक्ति अथवा अप्रस्तुत प्रशंसा आदि अलंकारों की योजना में उपनिबद्ध काव्यरचना अपनी विचित्र कल्पना-शक्ति के कारण ऐसे प्रतीयमान अर्थ की प्रतीति करा देती है जिसे केवल अलंकारगत नहीं माना जा सकता। इसका यह आशय नहीं कि ऐसी अन्योक्ति-प्रधान रचनाओं में अलंकार की सत्ता नहीं होती। इसका मूल अभिप्राय तो केवल इतना ही है कि विचित्र मार्ग के अनुयायी कविजन एक ही अलंकार से संतुष्ट न होने के कारण एक ही अलंकार को अलंकृत करने के लिए हार आदि में 'मणिबंध' के समान अन्य अलंकारों का भी निबंधन करते चलते हैं। एक अलंकार में अन्य अलंकारों की योजना वैसी ही है जैसी वेकटिकों (जौहरियों) द्वारा मुक्ताहार आदि में रत्नादि की संरचना।[3] उसे अलंकारों की संसृष्टि अथवा संकरता नहीं कहा जा सकता, क्योंकि ऐसे स्थलों पर न तो संकर अलंकारों के लिए अभीष्ट अंगांगिभाव, एकाश्रयानुप्रवेश अथवा संदेह रूप अन्यतर स्थिति ही होती है और न संसृष्टि अलंकारों के लिए अपेक्षित समप्रधान रूप स्थिति ही। वस्तुतः विचित्रमार्गमयी काव्य-रचना में अनेक अलंकारों का सुष्ठु प्रयोग रत्नरश्मियों से विभूषित उस शरीर की शोभा के समान है जो भ्राजमान अलंकारों के द्वारा अपने शोभातिशय के अन्तस्थ रसादि रूप अलंकार्य को प्रकाशित करता है।[4]

विचित्र मार्ग के गुण-चतुष्टय का स्वरूप

काव्य के विचित्र मार्ग के गुणों के लक्षण सुकुमार मार्ग के गुणों से भिन्न हैं।

---

१. कुन्तक, वक्रोक्तिजीवितम्, प्रथमोन्मेष, कारिका संख्या ४३।३४-३७।
२. वही।
३. वही।
४. वही।

विचित्र-मार्ग का माधुर्यगुण वैदग्ध्य समर्थक पदों से आबद्ध और अशिथिल बंध के सौन्दर्य से युक्त होता है। उसमें रचना-वैचित्र्य की माधुरी वाक्य के एकदेश अवयव रूप पदों में सन्निविष्ट रहती है तथा उसका शैथिल्य कोमल भाव को छोड़कर रचना की सुन्दरता का अंग बनता है।[१] विचित्र मार्ग का प्रसाद गुण समासयुक्त पदों से रहित और ओज का यत्किंचित् स्पर्श करने वाला होता है।[२] इसी गुण को प्रकारांतर से स्पष्ट करते हुए कुन्तक ने लिखा है कि विचित्र मार्ग में वाक्य में परस्पर अन्वित पदों के समान परस्पर अन्वित रूप से अन्य सुन्दर व्यंग्यार्थ के व्यंजक अन्य वाक्य भी ग्रथित किये जाते हैं जिनसे उसकी सौन्दर्य-विच्छिति संवर्धित होती है।[३] इस मार्ग के लावण्य गुण का लक्षण यह है कि उसमें एक-दूसरे से मिले हुए ऐसे पदों का प्रयोग किया जाता है जिनके अन्त के विसर्गों का लोप नहीं होता और संयोग से पूर्व लघु पदों का संचार रहता है जिनसे काव्य-लावण्य की अतिशयता प्रकट होती है।[४] कुन्तक ने विचित्र-मार्ग के आभिजात्य गुण को कवि की सम्पूर्ण शक्ति से निर्मित और मनोहारी माना है जिसमें न तो अत्यधिक कोमल छाया (कांति) होती है और न अत्यन्त कठोरता ही रहती है। वस्तुतः विचित्र मार्गीय आभिजात्य गुण प्रौढि-निर्मित होता है जिससे सहृदयजनों के अन्तःकरण में आनन्दातिरेक का उन्मेष होता है।[५]

'मध्यम' मार्ग में विचित्र और सुकुमार मार्ग का सहज सम्मिश्रण है

काव्य का मध्यम मार्ग विचित्र और सुकुमार मार्ग का पारस्परिक सम्मिश्रण है है जिसमें कवि की सहज प्रतिभा और आहार्य-व्युत्पत्ति से जन्य शोभातिशयता का संयोग रहता है। उस मार्ग में माधुर्य, प्रसाद, लावण्य और आभिजात्य आदि गुणों का स्वरूप मध्यम वृत्ति का आश्रय लेकर रचना-सौन्दर्य को पुष्ट करता है। इस मार्ग की एक विशेषता यह भी है कि इसमें विचित्र और सुकुमार मार्गों का सौन्दर्य स्पर्धापूर्वक विद्यमान होता है जिससे नाना प्रकार की रुचियों वाले सहृदय अपना मनःप्रसादन करते हैं। कहा जा सकता है कि जिस प्रकार रसिक नागरिकों की अभिरुचि विविध रंगमय वस्त्रादि की वेशभूषा के प्रति विशेषतः उन्मुख होती है उसी प्रकार मध्यम मार्ग के अनुरागी रसिकजन भी सौन्दर्यानुसंधान के प्रति लालायित होकर विच्छिति-वैचित्र्य से अनुरंजित इस मार्ग के प्रति निष्ठावान बनते हैं। कुन्तक ने मध्यम मार्ग के पूर्वोक्त लक्षण निर्धारित कर[६] उसमें प्रयुक्त माधुर्य, प्रसाद, लावण्य और आभिजात्य गुणों के उदाहरण प्रस्तुत किये हैं। उन्होंने बतलाया है कि जिस प्रकार कालिदास और सर्वसेन आदि कवियों की रचनाएं सहज सौकुमार्य की प्रतीक एवं बाणभट्ट की कृतियां विचित्र मार्ग की सूचक हैं, उसी प्रकार मातृगुप्त, मायुराज और मंजीर प्रभृति कवियोंकी रचनाओं में मध्यम मार्ग के गुण विद्यमान हैं। कहने के लिए तो काव्य-रचना के ये त्रिविध मार्ग पृथक्-पृथक् हैं, किन्तु रचना-संहति में उनका सम्मिलन ऐसे अपूर्व कौशल में रहता है कि केवल विवेकी समालोचक ही उनकी सूक्ष्मता का पर्यवेक्षण कर सकते

१-५ कुन्तक: वक्रोक्तिजीवितम्, प्रथमोन्मेष, कारिका ४४-४८।

६. वही, कारिका ४९-५२।

हैं। महाकवियों ने अपनी प्रबंध-चातुरी के अतिरिक्त मुक्तक-रचनाओं में भी इन मार्गों के विविध गुणों का संयोजन किया है जिनके अनन्त विस्तार का सम्पूर्ण विवेचन करना संभव नहीं है। उनकी कृतियों में इन गुणों का पदपार्थक्य तथा समुदाय-धर्मत्त्व भी प्राप्त होता है जिनका विश्लेषण करने के लिए भावयित्री प्रतिभा की विशेष आवश्यकता है।

काव्य-मार्ग के दो विशिष्ट गुण

कुन्तक ने काव्य के त्रिविध मार्गों में माधुर्य, प्रसाद, लावण्य और आभिजात्य नामक चार गुणों का पृथक्-पृथक् विवेचन कर औचित्य तथा सौभाग्य नामक दो अन्य सामान्य गुणों का भी विश्लेषण किया है जिनके योग से काव्य-मार्ग में छः गुण हो जाते हैं। औचित्य गुण के सम्बन्ध में उनका कहना है कि 'उचित वर्णन ही जिसका प्राण है, इस प्रकार के स्वभाव का महत्त्व जिसके द्वारा स्पष्ट रूप से परिपुष्ट किया जाता है, उसे औचित्य गुण कहते हैं।'[1] उचित वर्णन से कुन्तक का अभिप्राय है स्वाभावानुकूल उदार वर्णन जिसके द्वारा काव्य का विभूषण-विन्यास अथवा वक्रतावैचित्र्य शोभातिशय को प्राप्त होता है। इस गुण की काव्यगत सफलता तभी संभव है जब काव्यकार अपनी कृतियों में प्रयुक्त अलंकारों को औचित्यपूर्ण बनाकर प्रस्तुत करे जिससे गुणों का परिपोष हो सके तथा स्वभाव-चित्रण में भी औदार्य का संचार हो। औचित्य गुण की एक अन्य परिभाषा यह भी हो सकती है कि 'जहां वक्ता अथवा प्रमाता के शोभातिशायी स्वभाव से वाच्य वस्तु आच्छादित हो जाती है, वहां औचित्य गुण होता है।'[2] वक्ता के स्वभाव से वाच्य वस्तु के आच्छादन का उदाहरण रघुवंश का वह श्लोक है[3] जिसमें लोकोत्तर प्रभावशाली महाराजा रघु के स्वभाव के वर्णनीय होने पर वनवासी कौत्स अपने अनुभव-सिद्ध अलंकार की योजना करता हुआ उन्हें 'आरण्यकोपात्तफलप्रसूतिः स्तम्बेन नीवार इवावशिष्टः' से उपमित करता है जो औचित्य से परिपुष्ट है तथा जिसके द्वारा वक्ता के स्वभाव से वाच्य अर्थ का स्वभाव आच्छादित-सा हो गया है। प्रमाता के स्वभाव से अर्थ के दब जाने का उदाहरण किरातार्जुनीयम् काव्य का वह श्लोक कहा जा सकता है[4] जिसमें वधूजनों के अपने अनुभव के अनुसार लताओं की उस प्रकार की शोभाभिरामता का वर्णन औचित्य को परिपुष्ट करता है।

सौभाग्य संज्ञक काव्यगुण की परिभाषा देते हुए कुन्तक ने लिखा है कि 'शब्दादि रूप उपादेय वर्ग में कवि की प्रतिभा जिस अर्थ के उपादान या ग्रहण करने के लिए विशेष रूप से प्रयत्नशील होती है उस वस्तु का सौन्दर्यरूप गुण सौभाग्य कहलाता है।'[5] सौभाग्य गुण भी काव्य-मार्ग का सामान्य गुण है। यह गुण केवल प्रतिभा के व्यापारमात्र से साध्य नहीं है, अपितु उसके साथ-साथ कवि या काव्य के लिए विहित व्युत्पत्ति,

---

१. वक्रोक्तिजीवितम्, १।५३।
२. वही, १।५४।
३. कालिदास, रघुवंश, ५।१५।
४. भारवि, किरातार्जुनीयम्, ८।६।
५. वक्रोक्तिजीवितम्, १।५५।

वक्रोक्ति, गुण और मार्ग आदि काव्योचित सम्पूर्ण सामग्री से सम्पादित करने योग्य है जिससे सहृदयजन लोकोत्तर आनन्द की उपलब्धि करते हैं। कुन्तक ने उसे काव्य का प्राण अथवा परम तत्त्व कहा है। इस गुण के द्वारा काव्य में विविधरूपिणी वक्रताएं संचरित होती हैं जिनका विश्लेषण कुन्तक ने विस्तृत रूप से किया है।[1]

औचित्य और सौभाग्य की गरिमा

औचित्य और सौभाग्य गुण काव्य के त्रिविध मार्गों में अत्यन्त उज्ज्वल रूप में रहते हैं। उनका क्षेत्र, पद, वाक्य तथा प्रबंध पर्यन्त व्याप्त है। पदों का औचित्य उनका नाना प्रकार के भेदों से युक्त वक्रभाव है। स्वभाव का स्पष्ट रूप से परिपोषण ही वक्रता का परम रहस्य है क्योंकि यदि उसमें किसी बात की न्यूनता अथवा कमी होने से काव्यानन्द में बाधा आती है। उदाहरणार्थ रघुवंश का वह श्लोक जिसमें भगवान् राम के मुख से कालिदास ने 'कैकेयि कामाः फलितास्तवेति' जैसी तुच्छ बात का स्मरण कराते हुए सहृदयों के आह्लाद में हानि होने की स्थिति उत्पन्न कर दी है।[2] वस्तुतः किसी भी प्रबन्ध काव्य के किसी प्रकरण-विशेष में कहीं पर भी यदि औचित्य का अभाव हो तो वह काव्य उसी प्रकार दूषित हो जाता है जिस प्रकार किसी एक स्थान पर जला हुआ कोई वस्त्र उसकी सम्पूर्ण शोभा को दूषित कर देता है।[3] महाकवियों की कृतियों में यदा-कदा ऐसे दोष अनायास ही उपलब्ध हो जाते हैं जिनके प्रक्षालन का प्रयत्न करने पर भी उनकी वास्तविकता प्रकट हो ही जाती है। महाकवि कालिदास ने अपने कुमारसंभव नामक महाकाव्य में कामदेव के मुख से इन्द्र को सम्बोधित कराते हुए जो यह उक्ति कहलाई है कि 'वह अपने प्रभाव से उसके द्वारा अभीष्ट उस पतिव्रता को भी ऐसे विधि से विचलित कर सकता है कि वह लज्जा का परित्याग कर स्वयं उसके कंठ में अपनी बाहु डाल दे,'[4] एक प्रकार से 'एकदेशदाहदूषितपट' के समान ही है क्योंकि उससे वक्ता और श्रोता की सदाशयता और चारित्रिक महत्ता में कमी ही आती है। काव्य के त्रिविध मार्गों में जिस प्रकार औचित्य गुण के निर्वाह की आवश्यकता है उसी प्रकार सौभाग्य गुण की भी अनिवार्यता है क्योंकि उसके द्वारा भी काव्य के पद, वाक्य, प्रकरण तथा प्रबंधों में लोकत्तर रमणीयता तथा गुणों की संवृद्धि होती है। यह गुण भी काव्य के लिए प्राणस्वरूप तथा चमत्कारी है जिसके कारण काव्य की सहृदयसंवेद्यता तथा रसास्वादसुंदरता में नवीन प्रस्फुरण-सा होने लगता है। सच तो यह है कि रससिद्ध कवि काव्य के त्रिविध मार्गों की गुण-गरिमा का सुचारु संयोजन करके ही अपनी कृतियों द्वारा शाश्वत कीर्ति उपार्जित कर सके हैं। उनकी कृतियां ही सहृदयजनों के मानस की आह्लादप्रद मुक्तामणियां कही जा सकती हैं।

निष्कर्ष यह है कि वामन ने रीति-तत्त्व तथा कुन्तक ने काव्य-मार्ग की संज्ञा से

---

१. वक्रोक्तिजीवितम्, १।५७।१२१ की वृत्ति।
२. कालिदास, रघुवंश, १३।५९।
३. वक्रोक्तिजीवितम्, १।५७ की वृत्ति।
४. कुमारसंभव, ३।७।

उन्हें जिस तर्क-शक्ति और विचार-प्रणाली से काव्य के आत्म-बोध तथा प्रस्थान-हेतुओं के रूप में व्याख्यात किया है, वे एक ही सत्य के द्विविध तथ्य हैं जिनमें काव्य के स्वरूप-विधान और सर्जनस्वभाव का निरूपण हुआ है। आचार्यद्वय की मान्यताओं के मूल में उनके काव्यानुशीलन और तत्त्वदर्शन का शब्द-रसायन अनुलिप्त है तभी तो वे उनकी गम्भीर और सूक्ष्म व्याख्या प्रस्तुत कर सके हैं। शोध-प्रबंध के प्रथम खंड की विवेच्य सामग्री में काव्य की रूप-रचना अथवा स्वरूप-सर्जना के विशेष तत्त्वों की शास्त्रीय विवेचना में उनकी अनिवार्य आवश्यकता और उपयोगिता का अनुभव करके ही हमने उन्हें काव्य के स्वरूप-विधायक तत्त्वों के अन्तर्गत विवेचित किया है। इस विवेचना से स्पष्ट है कि काव्य मूलतः भले ही शब्दरूप हो, किन्तु उस शब्द को जिस विधि से रुचिर रमणीयता और सरस संवेद्यता प्रदान की जाती है, वह रीति-तत्त्व और काव्य-मार्ग की विवेचित निधि में भी अन्तर्गुम्फित है। इस विवेचना के पश्चात् अब हम गुणालंकारों का विवेचन करेंगे जिनके कलेवर में भी काव्य के स्वरूपविधान का सौष्ठवमय सत्प्रयास हुआ है।

६

काव्य-सर्जना और गुणालंकार

गुणालंकारों की गरिमा

काव्य की स्वरूप-सर्जना में गुणालंकार का विचार अनिवार्य है। उसके विमर्श से इस तथ्य की स्वतः उपलब्धि हो जाती है कि भारतीय काव्यशास्त्र में उनकी स्थिति प्रारम्भ ही से गौरवमयी रही है। काव्य के आत्मतत्त्व 'रस' तथा शरीरतत्त्व 'शब्दार्थ' में जिस प्रकार का व्यंग्यव्यंजक सम्बन्ध माना जाता है, उस पर गुणालंकारों का भी प्रभाव विद्यमान है। यों तो काव्य-प्रयुक्त शब्द भी वस्तुतः लौकिक ही होते हैं, किन्तु जब वे कवि-प्रतिभा द्वारा प्रकाशित किये जाते हैं तो उन पर गुणालंकार के संस्कार आरोपित होने के कारण उनमें व्यंजना-शक्ति का संचार हो जाता है। गुणालंकार को लौकिकगत शब्दार्थों को रसरूप में पर्यवसित करने का साधन भी कहा जा सकता है। रीतिवादी आचार्यों के मतानुसार गुण और अलंकार दोनों ही काव्य के शब्दार्थों के धर्म हैं, किन्तु उन्हें क्रमशः नित्य तथा अनित्य धर्म कहना भी अनुचित नहीं है। रस-ध्वनिवादियों ने रस तथा शब्दार्थ में जीव-शरीर-सम्बन्ध मानकर यही बतलाया है कि गुण की स्थिति रसाश्रित है, किन्तु अलंकारों की शब्दाश्रित।

'काव्य में गुणों का क्या स्थान है' यह एक अत्यन्त रुचिकर विषय है। आचार्यों ने इसका विवेचन विविध दृष्टियों से किया है। यदि काव्य-पुरुष को शब्दार्थ-शरीरी मान लिया जाय तो गुणों को उसके परम आत्मतत्त्व रसरूप के उत्कर्षविधायक धर्म मानना अधिक उपयुक्त होगा। बात यह है कि जिस प्रकार प्राणिमात्र के शरीर-संस्थान में आत्मतत्त्व की महत्ता सर्वोपरि है और उसके बिना उसकी चेतना का कोई अस्तित्व नहीं, उसी प्रकार रसात्मक वाक्य-रूप काव्य में गुणों की सत्ता असंदिग्ध है क्योंकि वे उसके कलेवर में माधुर्य, ओज और प्रसाद आदि संज्ञाओं से वैसी ही स्थिति प्राप्त करते हैं जैसी शौर्य और औदार्य आदि गुण मानवीय शरीर में। वस्तुतः वे रस के परम धर्म हैं जो उसका परम संवर्धन करते हैं एवं जिनकी महत्ता समस्त आचार्यों ने यथामति स्वीकार की है।

गुणों और अलंकारों का भेदाभेद

गुणों और अलंकारों का भेद-विवेचन भारतीय काव्यशास्त्र का अत्यन्त विचारणीय विषय रहा है। उस विवेचन को अधिक स्पष्ट करने के लिए अभेदवादी

और भेदवादी दृष्टिकोण का आधार लेना आवश्यक है। भामह और उद्भट आदि विद्वानों ने अपनी अभेदवादी दृष्टि से गुणों और अलंकारों में कोई भेद नहीं माना है और जो लोग उनमें भेद-निरूपण करते हैं उन्हें वे 'गड्डलिका प्रवाह' से उपमित करते हैं। उनका मत है कि काव्य में ओज और प्रसाद आदि गुण और अनुप्रास तथा उपमा आदि अलंकार समवाय-सम्बन्ध से रहते हैं, अतः उनमें भेद मानना उचित नहीं है क्योंकि दोनों ही के द्वारा काव्य की शोभा होती है। इस विषय में भामह के व्याख्याकार भट्टोद्भट का निम्नलिखित मत उल्लेखनीय है—

'समवायवृत्या शौर्यादयः संयोगवृत्या तु हारादय इत्यस्तु गुणालंकाराणां भेदः, ओजः प्रभृतीनामनुप्रासोपमादीनां चोभयेषामपि समवायवृत्या स्थितिरिति गड्डलिका प्रवाहेणैवैषां भेदः।'

गुणों और अलंकारों के प्रति भेदवादी दृष्टि रखने वाले आचार्यों में भी मतभेद है। वामन के मतानुसार गुणों में काव्य का शोभाजनकत्व तथा अलंकारों में काव्य का शोभातिशयहेतुत्व रहता है जबकि आनंदवर्धन के मतानुसार गुण 'रस के अचल स्थिति धर्म' तथा अलंकार 'शब्द और अर्थ के अस्थिर धर्म' हैं। उनके शब्दों में गुणों को अंगीभूत रस के आश्रित रहने वाले धर्म तथा अलंकारों को अंगभूत शब्द और अर्थ में रहने वाले धर्म कहा जा सकता है। मम्मट ने गुणों की स्थिति शौर्यादिवत् मानकर अलंकारों की स्थिति 'हारादिवत्' मानी है। उनके विवेचन से स्पष्ट है कि वे गुणों में अलंकारों की गणना करना युक्तिसंगत नहीं समझते थे। गुणों और अलंकारों के भेद का आधार भी उन्होंने क्रमशः उनकी 'रसगत-नियतधर्मिता' और 'शब्दार्थगत-अनियतधर्मिता' माना है। मम्मट का तो स्पष्ट कहना है कि जिस प्रकार किसी अलंकार्य युवती में वास्तविक सौन्दर्य होने पर हारादि अलंकार उसके उत्कर्षाधायक होते हैं किन्तु उसके सौन्दर्याभाव पर भी वे दृष्टि-वैचित्र्य-मात्र के तो हेतु होते ही हैं, उसी प्रकार काव्य में रस की स्थिति होने पर उपमा और अनुप्रास आदि अलंकार उसके उत्कर्षाधायक होते हैं, किन्तु संयोगवश उसमें रस न हो तो भी अलंकारों के प्रयोग से काव्य में उक्तिवैचित्र्य तो आता ही है। कभी-कभी ऐसा भी होता है कि जिस प्रकार किसी अनिन्द्य सुन्दरी के शरीर पर धारण किये गये ग्रामीण अलंकार उसके सौन्दर्य की वैसी अभिवृद्धि नहीं कर पाते जैसी अभिवृद्धि उसके सौन्दर्योपयुक्त अलंकारों के धारण से होती है, उसी प्रकार यदा-कदा रसगर्भित काव्य में भी ग्रामीण अलंकार उनका उतना उत्कर्ष नहीं कर पाते जितना उसके उपयुक्त अलंकार करते हैं। गुणों और अलंकारों की भेदाभेदता तथा उसकी काव्यगत महत्ता के विषय में अन्य आचार्यों ने भी अपने विचार प्रकट किये हैं जिनसे सिद्ध होता है कि काव्य में अलंकारों की अपेक्षा गुणों की स्थिति निस्संदेह अधिक महत्त्वपूर्ण रही है जैसाकि सरस्वतीकंठाभरणकार महाराज भोज ने भी गुण-विवेचन के प्रसंग में लिखा है—

युवतेरिव रूपभंग काव्यं,
स्वदते शुद्ध गुणं तदप्यतीव।

विहितप्रणयं निरंतराभि,
सदलंकारविकल्पकल्पनाभिः ।।[1]
यदि भवति वचश्च्युतं गुणेभ्यो,
वपुरिव यौवनवन्ध्यमंगनायाः ।
अपि जनदयितानि दुर्भगत्वं,
नियतमलंकरणानि संश्रयन्ते ।।[2]

अर्थात् अलंकारों से अमिश्रित किंतु शुद्ध गुणों से युक्त काव्य युवती के अलंकार-विहीन शुद्ध रूप की भाँति रसिकजनों को अत्यन्त आस्वाद्य लगता है तथा उसके साथ-साथ अत्यधिक अलंकार से युक्त रचनाओं से विभूषित उसका रूप भी अत्यंत आह्लादपूर्ण होता है।

किसी स्त्री के यौवनवन्ध्य तथा लावण्यशून्य शरीर के समान काव्य की वाणी भी यदि प्रसादादि गुणों से शून्य हो तो निश्चय ही उसके धारण किये हुए लोकप्रिय आभूषण भी अभद्र प्रतीत होते हैं।

आचार्य भोज को काव्य-गुणों की महत्ता इतनी अधिक स्वीकार है कि वे अलंकृत किन्तु गुणवर्जित काव्य को किसी भी रूप में श्रवण के भी योग्य नहीं समझते।[3] काव्य-प्रयुक्त गुणों और अलंकारों के योग में उन्हें गुण-योग अधिक श्रेयस्कर प्रतीत होता है। उनका मत है कि काव्य में कविसम्मत गुण केवल तीन प्रकार के होते हैं जिन्हें 'बाह्य,' 'आभ्यंतर' और 'वैशेषिक' गुणों की संज्ञा दी जा सकती है। 'बाह्य गुण' शब्द गुण हैं जबकि 'आभ्यंतर' गुण 'अर्थसंश्रित' रहते हैं। 'वैशेषिक' गुण वे हैं जो दोष की न्यूनतावश गुण ही कहे जाते हैं। भोज के उक्त श्लोकों का भी यही अभिप्राय है कि गुणों के होने पर अलंकारों के बिना भी काव्य की शोभा हो सकती है किंतु गुणों के अभाव में केवल अलंकारों से काव्य की शोभा नहीं हो सकती, अतः अन्वय-व्यतिरेक से ही गुणों को काव्यशोभा के उत्पादक कहा जाता है जिसकी अभिवृद्धि के हेतु अलंकार होते हैं।

गुणों का काव्यगत रूप

(अ) काव्य-शोभा के उत्पादक धर्मों का नाम 'गुण' है

वामन ने 'काव्यशोभायाः कर्तारो धर्मो गुणाः' द्वारा काव्य की शोभा को उत्पन्न करने वाले शब्द एवं अर्थ के धर्मों को गुण माना है। उनके मतानुसार ओज और प्रसाद आदि ही गुण कहे जा सकते हैं न कि यमक और उपमा आदि; क्योंकि ओज तथा प्रसाद आदि के अभाव में केवल यमक और उपमा आदि अलंकारों से काव्य की शोभा का आधान नहीं हो सकता। यमक और उपमा आदि अलंकारों को तो केवल काव्य की शोभा-वृद्धि के हेतु कहा जा सकता है, अतः अन्वय-व्यतिरेक से ओज और प्रसाद आदि

१. सरस्वतीठकांभरण, १।१५८।
२. वही, १।१५६।
३. वही, १।५६

गुणों को ही काव्य-शोभा के उत्पादक मानना उचित है।

आचार्यों ने शब्द और अर्थ की परिसीमा में जिन काव्य-गुणों का विवेचन किया है उनसे स्पष्ट है कि गुण सहृदयों द्वारा अनुभूत होते हैं अतः इन्हें 'असत्' नहीं कहा जा सकता। इस पर यदि यह कहा जाय कि प्रतीति के होने मात्र से गुणों को सखा मानना अनिवार्य नहीं है क्योंकि शुक्ति में रजतप्रतीति की भाँति इन गुणों की प्रतीति भी भ्रांतिमूलक हो सकती है तो भी उचित नहीं है। उक्त शंका का समाधान करते हुए वामन ने लिखा है कि गुण विषयक प्रतीति अथवा अनुभूति 'निष्कम्प' अथवा 'अबाधित' होती है, अतः उसे भ्रांत प्रतीति नहीं कहा जा सकता। वामन का मत है कि गुणों को केवल पाठ का धर्म नहीं कहा जा सकता, क्योंकि वे तो बंध अथवा काव्य-रचना के गुण हैं। यदि ये गुण केवल पाठ-धर्म होते तो बिना किसी विशेषता के सर्वत्र प्रतीत होने लगते। वस्तुतः किसी विशेषता की अपेक्षा से ही ओज और प्रसाद आदि गुणों की प्रतीति होती है, अतः किसी 'विशेष' के ही गुण रूप होने से गुणों की सत्ता स्वीकार करनी ही पड़ती है। अतः सभी दृष्टियों से गुणों का स्वतंत्र अस्तित्व सुमान्य ही समझा जाना चाहिए।

(आ) गुणों का सम्बन्ध रस-तत्त्व से है

आचार्य मम्मट ने काव्य-गुणों के विषय में अपना जो मत प्रतिष्ठित किया है, उस पर वामन तथा आनंदवर्धन आदि आचार्यों की विचार धारा का पर्याप्त प्रभाव है। उन्होंने भट्टोद्भट के गुणविषयक दृष्टिकोण का खंडन किया है क्योंकि उसके अनुसार गुण और अलंकार में कोई भेद नहीं होता। मम्मट ने अपना गुण-सिद्धांत निरूपित करते समय एक ओर जहां वामन द्वारा निरूपित गुणों की अपरिहार्यता का ध्यान रखा था तो दूसरी ओर आनंदवर्धन द्वारा प्रतिपादित गुणों की रसधर्मता का भी। उन्होंने गुणों का लक्षण निर्धारित करते हुए लिखा है कि जिस प्रकार शौर्य आदि गुण शरीर (आकार) के धर्म न होकर आत्मा के धर्म हैं उसी प्रकार माधुर्य आदि गुण भी वर्णों के धर्म न होकर काव्य के आत्मभूत रसतत्त्व के अपरिहार्य और उत्कर्षाधायक धर्म हैं।[१] यहाँ यह बात ध्यान में रखने योग्य है कि जिस प्रकार कहीं-कहीं शौर्य आदि आत्मगुणों के योग्य शरीर की आकारगुरुता को देखकर 'इसका आधार ही शूरवीर है' इस प्रकार का प्रयोग किया जाता है, उसी प्रकार माधुर्य आदि गुणों के व्यंजक सुकुमार आदि वर्णों में भी माधुर्य आदि गुणों का व्यवहार कर दिया जाता है। ऐसा भी देखा गया है कि जिस प्रकार कहीं-कहीं अशूर शरीर में भी केवल वृहदाकृति को देखकर 'यह शूर है' कह दिया जाता है उसी प्रकार अमधुर आदि रस के अंगभूत वर्णों की सुकुमारता आदि मात्र से ही माधुर्य आदि गुणों का व्यवहार किया जाता है। इसके विपरीत कभी-कभी केवल किसी के आकार गठन का लाघव देखकर ही भ्रांतजन अपनी अविश्रांत प्रतीति के कारण

---

१. ये रहस्यांगिनो धर्माः शार्यादय इवात्मनः।
उत्कर्षहेतवस्ते स्पुरचलस्थितयो गुणाः ।।—काव्यप्रकाश-कारिका ६६, सूत्र ८६।

उसे 'अशूर' कह दिया करते हैं, उसी प्रकार मधुरादि रसों के अंगभूत वर्णों के असुकुमार (कठोर) होने से रस-मर्यादा से अनभिज्ञ भ्रांत व्यक्ति उनमें अमाधुर्य आदि का व्यवहार करने लगते हैं। ऐसी स्थिति में गुण-विवेचन के प्रसंग में इस बात का ध्यान रखना आवश्यक है कि माधुर्य आदि गुण वस्तुतः रस के धर्म हैं और वे केवल वर्णों के आश्रित रहने वाले नहीं हैं। उनकी अभिव्यक्ति गुणों के योग्य वर्णों द्वारा ही की जाती है जिसका अभिप्राय यह है कि वे वर्ण माधुर्य आदि गुणों के व्यंजक होते हैं।

(इ) गुणों द्वारा रसों का उत्कर्ष होता है

गुणों में केवल रसनिष्ठता ही नहीं होती अपितु रसोत्कर्षकता भी होती है जिनके कारण उनकी व्याख्या करते हुए 'रसोत्कर्षकत्त्व सति रसाव्यभिचारित्वं' तथा 'अव्यभिचारेण रसोपकारकत्त्व' गुणत्वम् जैसे लक्षणों की संघटना की गई है। अलंकारों में गुण के उक्त लक्षणों की अतिव्याप्ति नहीं होती, अतः रस के अभाव में भी उनकी स्थिति होने के कारण उनमें रसाव्यभिचारित्व नहीं होता और न वे अव्यभिचार से रसोपकारक ही होते हैं। आचार्य मम्मट ने अनुप्रास और उपमा आदि अलंकारों की स्थिति हारादिवत् मानते हुए लिखा है कि वे अलंकार काव्य में विद्यमान अंगीरस को शब्द तथा अर्थ रूप अंगों के द्वारा कभी-कभी उपकृत अथवा उत्कर्षयुक्त करते हैं।[1] आचार्य का मत है कि अलंकारों का प्रमुख प्रयोजन वाचक शब्दों और वाच्य अर्थों के अंगोत्कर्ष द्वारा काव्य के मुख्य रस का उत्कर्ष करना है और वे कंठादि अंगों के उत्कर्षाधान द्वारा शरीरी अर्थात् आत्मा के भी उसी प्रकार उपकारी बनते हैं, जिस प्रकार सुकंठ में धारण किये गये हारादि आभूषण। इसका तात्पर्य यह है कि अलंकार रस के अनुवर्ती हैं और जहां रस नहीं होता वहां वे केवल उक्ति-वैचित्र्यमात्र प्रतीत होते हैं। उस स्थिति में उनकी तुलना किसी कुरूप स्त्री द्वारा धारण किये गये उन अलंकारों से की जा सकती है जिसके अलंकार उत्कर्षाधायक अथवा सौन्दर्यवर्धक न होकर दृष्टि-वैचित्र्य-मात्र के प्रयोजन होते हैं। ऐसा भी देखा जाता है कि काव्य-कृति में रस की विद्यमानता होने पर भी कभी-कभी ग्राम्य अलंकार उसी प्रकार उसका उत्कर्षवर्द्धन नहीं कर पाते जिस प्रकार लोकोत्तर सौन्दर्यशालिनी नायिका के कमनीय कलेवर पर धारण किये गये ग्रामीण अलंकार उसकी शोभा नहीं बढ़ाते। अलंकारों की उपर्युक्त तीनों प्रकार की स्थितियों के अनेक उदाहरण कवियों की रचनाओं में उपलब्ध होते हैं जिनका संकेत मात्र देना हमें अभीष्ट है। कहीं-कहीं शब्दालंकारों में प्रयुक्त वाचक शब्दों द्वारा काव्य में विद्यमान अंगीरस का उत्कर्ष-विधान किया जाता है तो कहीं पर अर्थालंकारों द्वारा ही रस का उत्कर्षाधान होता है। रस के अभाव में संभावित अलंकारों के उदाहरण चित्र-काव्य में मिलते हैं जिनका प्रयोजन उत्कर्षाधान करना न होकर उक्तिवैचित्र्य मात्र होता है। ऐसा भी देखा जाता है कि कभी-कभी अनुचित वर्णों का प्रयोग रस तथा अलंकारों की विद्यमानता में भी रस-विशेष का अपकर्षक होता है, भले ही वह वाचक शब्द का उपकारी

१ उपकुर्वन्ति तं संतं ये उद्धारेण जातुचित्।
हारादिवदलंकारास्तेऽनुप्रासोपमादयः ॥—काव्यप्रकाश, कारिका ६७, सूत्र ८७।

भी क्यों न हो। वस्तुतः अनुप्रास तथा उपमा आदि अलंकार रस की पुष्टि के लिए प्रयुक्त होने चाहिए अन्यथा वे केवल अर्थ की पुष्टि करने के कारण अनेक बार प्रकृत के लिए अननुरूप या अयोग्य ही सिद्ध होंगे। निष्कर्ष यह है कि मम्मट के मतानुसार गुण रस के उत्कर्षाधायक, रस के अव्यभिचारी और रसमात्रनिष्ठ धर्म हैं जबकि अलंकारों की स्थिति उनसे भिन्न है क्योंकि वे रस के अभाव में भी रह सकते हैं तथा रस की विद्यमानता में भी कभी उनके पोषक हो भी सकते हैं और कभी नहीं भी हो सकते। वस्तुतः आचार्य मम्मट को आचार्य भट्टोद्भट का वह मत सुग्राह्य प्रतीत नहीं होता जिसमें उन्होंने गुणों और अलंकारों का अभेद प्रतिपादित किया है।

(ई) गुण काव्य-व्यवहार के प्रयोजक नहीं है

आचार्य मम्मट ने काव्यालंकारसूत्रकार आचार्य वामन के पूर्ववर्णित मत को भी असंगत कहा है जिसमें 'काव्य शोभायाः कर्त्तारो धर्माः गुणाः, तदतिशयहेतवस्त्वलंकाराः' का प्रतिपादन हुआ है। इस मान्यता में दो विकल्पों की संभावना निरूपित करते हुए मम्मट ने लिखा है कि क्या समस्त गुणों के होने से ही काव्यव्यवहार हो सकता है अथवा कतिपय गुणों से ही काम चल सकता है? यदि प्रथम विकल्प स्वीकार कर लिया जाय तो समस्त गुणों से रहित गौड़ी अथवा पांचाली रीति को काव्य की आत्मा कैसे माना जा सकता है? यदि द्वितीय विकल्प माना जाय तब तो उसके अनुसार कतिपय गुणों की विद्यमानता में भी काव्य का व्यवहार हो सकता है और वैसी परिस्थिति में तो रसविहीन काव्यलक्षणरहित वाक्य में भी ओज आदि कतिपय गुणों की स्थितिवश उनमें काव्यव्यवहार होने लगेगा जिसे सुग्राह्य नहीं कहा जा सकता। मम्मट के कथन का आशय यह है कि वामन के मतानुसार केवल वैदर्भी रीति ही सर्वगुणसम्पन्न होती है अतः उसके प्रस्फुटन में भले ही 'काव्यशोभायाः कर्त्तारो धर्माः गुणाः' कह दिया जाय, किंतु अन्य रीतियों में केवल दो-दो गुणों की विद्यमानता होने के कारण वामन का मत स्वतः निरस्त हो जाता है। मम्मट ने वामन द्वारा प्रतिपादित इस सिद्धांत का भी खंडन किया है कि काव्य शोभा के उत्पादक धर्मों को 'गुण' तथा काव्य-शोभा के उत्कर्षहेतुओं को 'अलंकार' कहा जाता है। उनका मत है किसी रचना में गुणों की स्थिति होने पर भी उसमें काव्यव्यवहार का अभाव पाया जाता है तथा किसी कृति में गुणों के अभाव में भी काव्यव्यवहार होता है, अतः गुणों को काव्यव्यवहार का प्रयोजन नहीं माना जा सकता क्योंकि उनमें अन्वय-व्यतिरेक दोनों का व्यभिचार विद्यमान है। मम्मट ने गुणों के अभाव में भी काव्यव्यवहार सिद्ध करने और वामन द्वारा प्रतिपादित 'तैः (गुणैः) विना काव्यशोभानुपपत्तेः' सिद्धांत का खंडन करने के लिए जो उदाहरण प्रस्तुत किया है उसमें केवल विशेषोक्ति तथा व्यतिरेक अलंकारमात्र से ही काव्यव्यवहार संभव है। वह उदाहरण निम्नलिखित है—

स्वर्गप्राप्तिरनेनैव देहेन वरवर्णिनी।
अस्या रदच्छदरसो न्यक्करोति तरां सुधाम्॥

गुणों का रसाश्रित रूप

साधारणतया गुणों की स्थिति रसाश्रित कही जाती है किंतु किस रस के साथ किस गुण का आश्रयभाव होता है, यह एक विवादास्पद विषय है। एक आचार्य के मतानुसार चित्तद्रुति की विलक्षण आर्द्रता की दृष्टि से माधुर्य गुण का संबंध उत्तरोत्तर आतिशय्य के विचार से क्रमशः संयोग शृंगार, करुण, विप्रलम्भ शृंगार और शांत रस से है तो दूसरे आचार्य के मत से यह क्रम संयोग-शृंगार, करुण, शांत और विप्रलम्भ हो जाता है। एक मत यह भी है कि शृंगार करुण और शांतरस से उपलब्ध माधुर्य में किसी प्रकार का तारतम्य-भाव नहीं होता। अतः पूर्वोक्त रसों में माधुर्य गुण की तुल्यस्थिति भी मानी जा सकती है। आचार्यों ने चित्तदीप्ति की दृष्टि से ओज का आतिशय्य क्रमशः वीर, बीभत्स और रौद्र रस में माना है। एक आचार्य के मत से अद्भुत, हास्य और भयानक रसों में ओज और प्रसाद का सम्मिश्रण रहता है तो दूसरे आचार्य के मत से उनमें केवल प्रसाद गुण का ही अधिष्ठान है। आचार्यों का एक मत यह भी है कि प्रसाद गुण समस्त रचनाओं में परिव्याप्त रहता है अतः उसका क्षेत्र अन्य गुणों की भाँति रस विशेषों पर्यन्त ही सीमित नहीं किया जा सकता। इन गुणों में माधुर्य, ओज और प्रसाद क्रमशः चित्त की द्रुति, दीप्ति और विकास के जनक न होकर प्रयोजक हैं जिसका तात्पर्य यह है कि इन गुणों से ये तीनों चित्तवृत्तियाँ साक्षात् रूप से उत्पन्न नहीं होतीं अपितु विशिष्ट रसों के आस्वाद के माध्यम से उत्पन्न होती हैं। व्यावहारिक भाषा में यह कहा जा सकता है कि काव्य के मधुरतापूर्ण रसास्वाद से चित्त पिघल जाता है, वीरादि रसों के आस्वाद से चित्त में एक प्रकार की दीप्ति या जोश उत्पन्न हो जाता है एवं प्रसाद गुण युक्त रस के आस्वादन से चित्त-वृत्ति का विकास होता है। गुणों को रसधर्म मानने का अर्थ यह है वे आत्मस्थ शौर्यादि की भाँति होते हैं, न कि देहस्थ अवयवसंस्थानविशेष रूप, फिर भी 'ओजस्वी बंध' और 'मधुरा रचना' जैसे जो व्यावहारिक प्रयोग किये जाते हैं वे 'आकारोऽस्य शूरः' जैसे लाक्षणिक प्रयोगों की भाँति ही मान्य समझे जाने चाहिए।

गुणों की स्थिति रचनाश्रित भी रहती है

गुणों की रसधर्मिता के विषय में पंडितराज जगन्नाथ का अपना स्वतंत्र मत है। उन्होंने पूर्ववर्ती आचार्यों की मान्यता का खंडन किया है कि गुणों की स्थिति रचना आदि में न होकर केवल रसाश्रित होती है। उनके मतानुसार आचार्यों का यह तर्क असंगत-सा है कि गुणों की रसधर्मिता में प्रत्यक्ष प्रमाण का बल है। अतः रसों के आस्वाद से हमें तदद् चित्तवृत्तियों की उत्पत्ति का अनुभव होता है। पंडितराज का मत है कि जिस प्रकार अग्नि के दाहादि रूप कार्य से पृथक् अग्नि के उष्णस्पर्श आदि गुणों का प्रत्यक्ष होता है उस प्रकार रसों के कार्य से भिन्न द्रुतादि चित्तवृत्तियों से पृथक् रसों में रहने वाले माधुर्य आदि गुणों का अनुभव नहीं होता। इससे स्पष्ट है कि गुण केवल रस में ही नहीं होते अपितु रचना आदि में भी रहते हैं।[1]

१. रसगंगाधर, रसचंद्रिका टीका, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणणी, पृ० २०४।

पंडितराज ने उन आचार्यों का भी विरोध किया है जो यह मानते हैं कि गुणहीन रसों से द्रुति आदि चित्तवृत्तियों की उत्पत्ति नहीं होती अपितु माधुर्य आदि गुणों से युक्त होकर ही रस हमारी चित्त द्रुति आदि के कारण बनते हैं। पंडितराज के मतानुसार यह मान्यता युक्तिसंगत नहीं है क्योंकि गुणविशिष्ट रसों से ही द्रुति आदि की उत्पत्ति मानने पर रस और द्रुति आदि में कार्य-कारण-भाव कल्पित करना होगा और उसमें गुणों के सन्निवेश की कोई उपयोगिता नहीं रहेगी। उन्हें कार्य कारण भाव में गुणों का समाहार स्वीकृत नहीं है और वे अनुमान प्रमाण से भी गुणों की सिद्धि अथवा रसधर्मता नहीं मानते। उन्होंने 'किं चात्मनो निर्गुणतयाऽत्मरूपरसगुणत्वं माधुर्यादीनामनुपपन्नम्' द्वारा यही तथ्य निर्दिष्ट किया है कि किसी भी स्थिति में गुणों को रसधर्म नहीं माना जा सकता क्योंकि काव्यशास्त्रीय धारणा के अनुसार रस आत्मस्वरूप है और वेदांतादि दर्शन आत्मा को निर्गुण कहते हैं अतः गुण और रस का धर्म-सम्बन्ध कैसे हो सकता है ? यदि यह कहा जाय कि 'गुण रस के धर्म हैं' इस उक्ति का तात्पर्य यह है कि रस के उपाधिभूत रति आदि स्थायिभावों के धर्म गुण है तो भी यह व्याख्या युक्तिसंगत नहीं है क्योंकि प्रथम तो इस मान्यता के समर्थन में कोई प्रमाण ही नहीं है और दूसरे मम्मट आदि आचार्यों के मत से रति आदि सुख रूप होने के कारण वे स्वयं गुण हैं फिर उनमें अन्य गुणों की स्थिति कैसे सम्भव हो सकती है क्योंकि गुण में गुण नहीं रहते, यह एक दार्शनिक मत है। प्रश्न यह है कि जब गुण न तो रस के धर्म हैं और न रसोपाधिभूत रत्यादि भावों के तो फिर उनकी निराधार अवस्था में ऐसा क्यों कहा जाता है कि 'श्रृंगार रस मधुर होता है। इसका उत्तर देते हुए पंडितराज कहते हैं कि 'द्रुत्यादिचित्तवृत्तिप्रयोजकत्व' अर्थात् द्रुति आदि चित्तवृत्तियों का परम्परा से कारण होना ही गुण है अथवा प्रयोजकता सम्बन्ध से द्रुति आदि चित्तवृत्तियां ही गुण हैं अर्थात् जब उक्त चित्तवृत्तियां रस आदि के साथ प्रयोजकता संबंध रखती है तो उन्हें माधुर्य आदि गुण कहते हैं। यदि प्रयोजकता को वृत्तितानियामक सम्बन्ध नहीं माना जाय तो 'वाजिगंधोष्णा' अर्थात् 'असगंध' (औषधि) उष्ण (गर्म) है 'ऐसे व्यवहार नहीं बन सकते, क्योंकि प्रयोजकता सम्बन्ध से ही असगंध को उष्णता का आश्रय मानकर 'असगंध उष्ण है' यह व्यवहार किया जाता है। यदि यह कहा जाय कि इस प्रकार के प्रयोजकता-सम्बन्ध से द्रुत्यादि रूप माधुर्यादि गुण तो अदृष्ट काल आदि में भी रह सकते हैं क्योंकि अदृष्ट काल ईश्वरेच्छा आदि कार्यमात्र के प्रयोजक हैं अतः द्रुति आदि की प्रयोजकता भी उनमें स्वीकार करनी पड़ेगी और वैसी स्थिति में तो 'अदृष्ट मधुर है' इत्यादि व्यवहार भी होने लगेंगे। इस शंका का समाधान करते हुए पंडितराज कहते हैं कि रस में रहने वाली द्रुत्यादि प्रयोजकता असाधारण होती है और अदृष्टादि की प्रयोजकता साधारण, अतः अदृष्ट आदि से व्यावृत्त (उनमें नहीं रहने वाली) शब्द, अर्थ और रचना में ही रहने वाली प्रयोजकता उसके सम्बन्ध-रूप में ही ग्राह्य है और उसमें कोई दोष नहीं है। अभिप्राय यह है कि माधुर्य आदि गुणों का निर्वचन करने पर 'यह रचना मधुर है', 'यह अर्थ ओजस्वी है' इत्यादि व्यवहारों को सिद्ध करने के लिए लक्षण का आश्रयण नहीं करना पड़ता क्योंकि उक्त प्रकार के माधुर्य आदि गुण शब्द, अर्थ और रचना आदि में

भी रह सकते हैं। इस प्रकार पंडितराज ने गुणों की सत्ता रचना आदि में भी सिद्ध की है जो उनकी मौलिकता की परिचायक है।

गुणानुरूप वर्ण-संघटना का विधान

किसी भी काव्य-रचना में गुणानुरूप वर्ण-संघटना का अत्यधिक महत्त्व है। इसका कारण यह है कि वर्णों में भी गुणाभिव्यंजन की शक्ति होती है। आचार्यों ने इस बात को सैद्धांतिक चर्चा का विषय बनाकर अपना शास्त्रीय विवेचन प्रस्तुत किया है। जहाँ शृंगार रस का वर्णन अभीष्ट हो, वहाँ माधुर्यव्यंजक वर्ण-रचना सौष्ठवपूर्ण होती है किन्तु जहाँ काव्य में वीर रस अभिप्रेत हो वहाँ ओजाभिव्यंजक वर्णों का प्रयोग शोभनीय होता है। जहां किसी छंद में दो रसों की भाव-व्यंजना सम्मिश्रित हो, वहाँ रचयिता का काव्य-कौशल इस बात में है कि वह दोनों प्रकार के रसाभिव्यंजन के अनुरूप वर्ण-रचना का निर्वाह करने का प्रयास करे। वीरादि ओजस्वी रसों और अमर्ष आदि ओजगुणाश्रित भावों के वर्णन में परुष वर्णों का विन्यास अभीष्ट होता है।

आचार्य मम्मट ने भी 'त्रिगुणवाद' की प्रतिष्ठा करते हुए उनके व्यंजक, वर्णों और पदों का भी विवेचन किया है। वर्ण, समास तथा रचना को तीनों गुणों के व्यंजक कहकर उन्होंने बतलाया है कि कौन-सा वर्णन किस प्रकार के गुण की व्यंजना करता है। उनका मत है कि 'अपने सिर पर स्थित अपने-अपने वर्ण के अंतिमवर्ण से युक्त, ट वर्ग को छोड़कर शेष स्पर्श वर्ण, ह्रस्व रकार तथा णकार और अवृत्ति समासरहित अथवा स्वल्प समासवाली रचना माधुर्य गुण व्यंजक होती है।[1] ओज गुण के व्यंजक वर्णों का प्रतिपादन करते हुए उन्होंने लिखा है कि वर्ग के प्रथम तथा तृतीय वर्ण के साथ उनके अनुवर्ती द्वितीय जिस चतुर्थ वर्णों का प्रयोग ऊपर, नीचे तथा दोनों स्थानों पर विद्यमान रेफ के साथ जिस किसी वर्ण का प्रयोग दो तुल्य वर्णों का उसी वर्ण के साथ योग, णकार को छोड़कर टवर्ग का प्रयोग, शकार तथा षकार का प्रयोग तथा दीर्घ समास और विकट रचना विधान ओज गुण के व्यंजक कहलाते हैं।[2] प्रसाद गुण तो समस्त रसों और रचनाओं का साधारण धर्म है अतः उसके विषय में इतना उल्लेख करना ही पर्याप्त है कि जिस शब्द, समास या रचना के श्रवणमात्र से शब्द से अर्थ की प्रतीति हो जाय, वह सब वर्णों, समासों और रचनाओं में रहने वाला गुण प्रसाद माना जाता है।[3] मम्मट का मत है कि यद्यपि 'संघटना' आदि गुणों के आश्रित होती है किन्तु कहीं-कहीं वक्ता, वाच्य तथा प्रबंध के औचित्य से भी रचना, समास तथा वर्णों का अन्य प्रकार का प्रयोग भी उचित माना जाता है।[4] ऐसा भी देखा जाता है कि कहीं-कहीं

---

१. मूर्ध्नि वर्गान्त्यगाः स्पर्शा अटवर्गा रणौ लघू।
अवृत्तिर्मध्यवृत्तिर्वा माधुर्ये घटना तथा॥ —काव्यप्रकाश, कारिका संख्या ७४।

२. योग आद्य तृतीयाभ्यामन्त्ययोः रेण तुल्ययोः।
टादि शषौ वृत्ति दैर्घ्यं गुम्फ उद्धत ओ जति॥—काव्यप्रकाश, कारिका सं० ७५।

३. श्रुति मात्रेण शब्दात्तु ये नार्थ प्रत्ययो भवेत्।
साधारणः समग्राणां स प्रसादो गुणो मतः॥—काव्यप्रकाश, कारिका सं० ७६।

४. काव्यप्रकाश, अष्टम उल्लास, सूत्र सं० १०१।

वाच्य तथा प्रबंध की उपेक्षा करके भी केवल वक्ता के औचित्य से ही रचना होती है तथा कहीं पर वक्ता तथा प्रबंध दोनों की उपेक्षा करके केवल वाच्य के औचित्य से ही रचना-प्रयोग किया जाता है। काव्य-ग्रंथों के आकलन से इस विषय का भी आभास मिलता है कि कहीं-कहीं वक्ता तथा वाच्य की उपेक्षा करके प्रबन्ध के औचित्य के अनुसार रचना की जाती है। उदाहरणार्थ 'आख्यायिका' में शृंगाररस के वर्णन में भी कोमल वर्णों का प्रयोग नहीं होता तथा 'कथा' के अंतर्गत रौद्ररस में भी अत्यन्त उद्धत वर्ण-रचना प्रयुक्त नहीं की जाती। नाटक आदि में रौद्र रस में भी दीर्घसमास पदावली का अप्रयोग इसी कथन का प्रमाण है। अभिप्राय यह है कि इन सब बातों का ध्यान रखकर ही काव्य में अन्य औचित्यों का भी अनुसरण करना चाहिए। कहने की आवश्यकता नहीं कि आचार्य मम्मट ने यह विवेचन ध्वन्यालोक के आधार पर प्रस्तुत किया है जिसकी सत्यता का परीक्षण ध्वनिकार के एतद्विषयक विचारों का अध्ययन करते हुए किया जा सकता है।

पंडितराज के अनुसार गुण-व्यंजक वर्णरचना

पंडितराज ने भी माधुर्य, ओज तथा प्रसाद नामक गुणों को व्यंजित करने वाली वर्णरचना का विवेचन किया है। उनके मतानुसार 'क्रमबद्ध वर्णविन्यास रूपा वह रचना माधुर्य गुण को अभिव्यक्त करती है जो टवर्ग से भिन्न वर्गों के प्रथम और तृतीय वर्णों से युक्त, अन्तस्थ और ऊष्म वर्णों से संघटित, निकटता से प्रयुक्त किये गये अनुस्वरों, परसवर्णों और अनुनासिकों से शोभित, आगे वर्णित होने वाले सामान्यतया तथा विशेष रूप से निषिद्ध संयोगादि से रहित और समास से शून्य तथा 'छोटे-छोटे समासों से युक्त हों।[1] उन्होंने टवर्ग से अतिरिक्त चार वर्गों के द्वितीय और चतुर्थ वर्णों के दूरस्थ सन्निवेश में यह बात मानी है कि उनसे न तो माधुर्य गुण का उपकार होता है और न अपकार। वस्तुतः उनकी स्थिति उदासीन-सी है जिनके रहने अथवा न रहने से कुछ भी बनता-बिगड़ता नहीं है।' यदि इन वर्णों का प्रयोग नैकटय से किया जाय अथवा उनसे अनुप्रास आदि बनें तो वे प्रतिकूल भी हो जाते हैं। कुछ विद्वानों का मत है कि टवर्ग से भिन्न वर्गों के पांचों अक्षर समान रूप से माधुर्य को अभिव्यक्त करते हैं।[2]

ओजव्यंजक रचना के सम्बन्ध में पंडितराज का कहना है कि 'उसका गुम्फ (रचना-विशेष) नैकट्य-प्रयुक्त टवर्गातिरिक्त वर्गों के द्वितीय और चतुर्थ आदि वर्णों, टवर्ग के पांचों अक्षरों और जिह्वामूलीय, उपध्मानीय विसर्ग तथा सकार बहुल वर्णों से बना हुआ तथा वर्गों के आदि चार-चार अक्षररूप झय् प्रत्याहार अथवा रेफ के द्वारा बने हुए संयोगपरक ह्रस्वों से युक्त एवं दीर्घ समास वाला होना चाहिए। इस रचना के मध्य में आगत वर्गों के प्रथम और तृतीय आदि वर्ण यदि संयुक्त न हों तो वे न तो ओजगुण के अनुकूल होते हैं और न प्रतिकूल। यही स्थिति अनुस्वार और परसवर्ण की

---

१. रसगंगाधर, रसचंद्रिकाटीका, पृ० २३३-३४।
२. वही, पृ० २३४।

है।[1] प्रसाद व्यंजक रचना के सम्बन्ध में उनका कथन है कि वह श्रवणमात्र से वाक्य के अर्थ को 'करतलबदरमिव' प्रकट कर देती है। वस्तुतः प्रसादगुण एक प्रकार से सर्वसाधारण गुण है जिसकी अभिव्यक्ति 'झटितिप्रतीतिविषयक' रचनाओं में स्वतः ही हो जाती है।[2]

माधुर्य गुण का आश्रित रसव्यंजक रचना में प्रसंगवश वैदर्भी रीति का निरूपण करना भी आवश्यक है क्योंकि उसका विशेष श्रृंगार आदि मधुर रसों से है। यह वैदर्भी रीति काव्य के विशेष तथा सामान्य दूषणों से रहित, माधुर्य के भार से अत्यंत मधुर और सुन्दर पदों और वर्णों के विन्यास से युक्त, कवि की व्युत्पत्ति की प्रकाशक और प्रसादगुण से युक्त होती है जिसमें रस-परिपाक की पूर्ण क्षमता होती है। उस रीति का लक्षण निम्नलिखित प्रकार में निरूपित किया गया है—

'एभिर्विशेषविषयैः, सामान्यैरपि च दूषणै रहिता।
माधुर्यभारभंगुर सुन्दर पद-वर्ण-विन्यासा।।
व्युत्पत्तियुद्गिरंती, निर्मातुर्या प्रसाद युता।
तां विबुधा वैदर्भी, वदंति वृत्ति गृहीतपरिपाकाम्।'

गुणों के भेदोपभेद

भरतमुनि का अभिमत

गुणों की भेदोपभेद-विवेचना में आचार्य भरतमुनि का सर्वप्रथम उल्लेख करना आवश्यक है क्योंकि उन्हीं के नाट्यशास्त्र से अन्य काव्यविषयों की भाँति गुण-विमर्श का भी सूत्रपात हुआ है। भरतमुनि ने श्लेष, प्रसाद, समता, समाधि, माधुर्य, ओज, पद-सौकुमार्य, अर्थव्यक्ति, उदारता और कांति नामक दस प्रकार के काव्य-गुणों का उल्लेख कर दोषों की विपर्यस्त स्थितिमें उनकी सत्ता मानी है।[3] उनके मतानुसार जो काव्य-रचना वृत्ति अथवा तर्क से विचार्यमाण होकर ग्रहण की जाय तथा स्वभावतः स्फुट एवं स्वतः सुप्रतिबद्ध हो वहाँ 'श्लेष' नामक गुण होता है। वस्तुतः इष्ट-पदों से परस्पर सम्बद्ध पदों की श्लिष्टता का नाम ही श्लेष गुण है। शब्द और अर्थ के संयोग के सरल होने के कारण विद्वानों द्वारा अव्याख्यात होने पर भी शब्द की अर्थस्फुटता में 'प्रसाद,' अलंकारों और गुणों की समभाव विद्यमानता तथा एक-दूसरे के सादृश्य तथा शोभावर्द्धन में 'समता,' उपमा द्वारा व्यंजित तथा प्राप्त अर्थों के यत्नपूर्वक अतिसंयोग में 'समाधि,' वाक्य के पुनः पुनः कथन श्रवण किये जाने पर भी अनुद्विग्नता बनी रहने में 'माधुर्य,' निंदित तथा हीन होने पर भी उदात्त के अवभावक तथा शब्द और अर्थ की सम्पत्ति से युक्त काव्य-बंध में 'ओज,' सुश्लिष्ट संधियुक्त सुख प्रयोज्य शब्दों और सुकुमार अर्थ से युक्त वाक्य में 'सौकुमार्य,' प्रयोगोपरान्त ही मन में अर्थ का अनुप्रवेश कराने वाली

१. रसगंगाधर, रसचंद्रिकाटीका, पृ० २३६।
२. वही, पृ० २३६।
३. नाट्यशास्त्र, १७।९७-१०७।

रचना में 'अर्थ-व्यक्ति,' सौष्ठवसंयुत एवं सुप्रकार से कथित अनेकार्थ विशेषों से युक्त सूक्तियों में 'उदात्त' एवं मन तथा श्रोतेन्द्रिय के विषय तथा प्रयोग द्वारा आह्लादजनक शब्दबंध में 'कांति' नामक गुण होते हैं।[1]

भामहकृत गुण-विवेचन

उपलब्ध सामग्री के आधार पर कहा जा सकता है कि भरतमुनि के पश्चात् आचार्य भामह ने काव्य-गुणों का सामान्य निरूपण किया है जिससे किसी भी प्रकार की महत्त्वपूर्ण उपलब्धि नहीं होती। उन्होंने काव्य-गुणों का परिचय अत्यंत सामान्य और संक्षिप्त रूप में दिया है जिससे स्पष्ट है कि वे माधुर्य और प्रसाद गुण के जितने अधिक प्रशंसक थे, उतने ओज गुण के नहीं। उन्होंने समासबहुल पदों को काव्य की प्रासादिकता और मधुरता के लिए उपयोगी नहीं माना है। उनके मत से वही काव्य मधुर कहा जा सकता है जो श्रव्य, असमस्त तथा बालकों से लेकर अंगनाओं और विद्वानों तक के लिए प्रतीतियोग्य हो।[2] ओजगुणसम्पन्न काव्य में ऐसी विशेषता नहीं होती क्योंकि उसकी समासबहुला पदावली रसप्रतीति के मार्ग में व्यवधान उपस्थित करती है। भामह का गुण-विवेचन इस तथ्य का निर्देशक है कि उनके समय में काव्य के स्वरूप-विधान के लिए अलंकारों का जितना अधिक महत्त्व था उतना गुणों का नहीं। उनके टीकाकार भट्टोद्भट ने 'काव्यालंकार' पर लिखे गये अपने 'भामहविवरण' नामक ग्रंथ में लौकिक दृष्टि से गुणों और अलंकारों में भेद माना है किंतु काव्य-दृष्टि से वे दोनों में अभेद स्थापित करते हैं। उनके मतानुसार लौकिक आभूषणों का शरीर आदि के साथ संयोगसम्बन्ध होने तथा शौर्य आदि गुणों का आत्मा के साथ समवायसम्बन्ध रहने के कारण दोनों में अन्तर स्वीकार किया जा सकता है, किन्तु काव्य में ओज आदि गुणों तथा अनुप्रास आदि अलंकारों की स्थिति समवाय संबंध से रहने के कारण उनका पृथक्करण संभव नहीं है।

दण्डी और वामन के विचार

दण्डी ने श्लेष, प्रसाद, समता, माधुर्य, सुकुमारता, अर्थव्यक्ति, उदारता, ओज, कांति और समाधि नामक दस काव्यगुण माने हैं और उन्हें वैदर्भमार्ग के प्राण अर्थात् स्थिति हेतु कहा है। भरतमुनि ने भी दस प्रकार के काव्यार्थ गुण माने थे जिनकी प्रतिच्छाया दण्डी के विचारों पर विद्यमान है। गौड़ीय मार्ग में वैदर्भ मार्ग के गुणों का विपर्यय होता है जिसका तात्पर्य यह है कि उसमें दीर्घसमास, परुषाक्षर प्राचुर्य और ओजव्यंजक औद्धत्य रहता है। वामन आदि आचार्यों ने पृथक् पृथक् रूप से दस प्रकार के शब्द-गुण तथा अर्थगुण माने हैं किन्तु दण्डी के मतानुसार श्लेष, समता, सुकुमारता और ओज नामक चार शब्द-गुण, प्रसाद, अर्थव्यक्ति उदारता, कांति और समाधि संज्ञक पांच अर्थगुण और माधुर्य नामक एक उभयगुण है। दण्डी ने गौड और वैदर्भ मार्ग के स्वरूप

१. नाट्यशास्त्र, १७।९७-१०७।
२. भामह, काव्यालंकार, २।३।

का निरूपण करते हुए जिन दस गुणों को वैदर्भ मार्ग के प्राण कहा है, उनका विपर्यय गौड़मार्ग में प्रायः देखा जाता है। इन मार्गों के अवांतर भेद इतने अधिक हैं कि उन सबका वर्णन करना अशक्यवत् है। इस विषय को इस प्रकार स्पष्ट किया जा सकता है कि जैसे इक्षु, क्षीर और गुड़ आदि पदार्थों के माधुर्य में परस्पर तारतम्य होते हुए भी महान् अन्तर होता है उसी प्रकार वैदर्भ और गौड आदि काव्य-प्रस्थानों के भेदोपभेदों में भी इतना अधिक अन्तर अन्वेषित किया जा सकता है जिसका आख्यान करने में स्वयं सरस्वती भी समर्थ नहीं हैं।[1]

वामन ने ओज, प्रसाद, श्लेष, समता, समाधि, माधुर्य, सौकुमार्य, उदारता, अर्थव्यक्ति और कांति को 'बंधगुण' (बंध का गुण) कहा है जिसका अभिप्राय यह है कि वे शब्द अथवा पद-रचना के गुण हैं। पद-रचना का पर्यायवाची शब्द 'संघटना' भी हो सकता है जिसका प्रयोग ध्वनिकार ने करते हुए संघटना और गुणों का सम्बन्ध-विवेचन अत्यंत विस्तारपूर्वक किया है। उन्होंने जिस विधि में दस प्रकार के शब्द-गुणों का विवेचन किया है उसी प्रणाली में अर्थगुणों का भी निरूपण किया है। उनके अनुसार अर्थगुणों के नाम तथा संख्या वही है जो शब्द-गुणों की है। उनमें यदि अन्तर है तो केवल इसी बात का है कि शब्दगुणों के स्थल में प्रौढि आदि 'वाचक' अर्थात् शब्द के धर्म होते हैं जबकि अर्थगुणों में वे 'वाच्य' अर्थात् अर्थ के धर्म कहे जाते हैं।

शब्द और अर्थ तथा उनकी उभयविध स्थिति को ध्यान में रखकर वामन के परवर्ती आचार्यों ने भी अपनी-अपनी सैद्धांतिक और शास्त्रीय दृष्टि को अंगी बनाकर उनके आलोक में काव्य-गुणों का वैभव-विस्तार किया है, किन्तु उनके निरूपण में परम्पराभुक्त मान्यताओं का प्रभूत अंश होने के कारण उनका पृथक्-पृथक् विश्लेषण करना किसी मौलिक उपलब्धि का उत्स नहीं कहा जा सकता। सच तो यह है कि उनमें गुणों के नाम-निर्धारण तथा लक्षण-निरूपण में यत्किंचित् परिवर्तित पदावली के अतिरिक्त उल्लेखनीय वैशिष्ट्य नहीं है, अतः उनके निरर्थक प्रसाद को अनुपयुक्त समझकर अब हम केवल उन गुणों का ही सामान्य विवेचन करना पर्याप्त समझते हैं जो गण्यमान आचार्यों द्वारा निरूपित हुए हैं तथा जिनमें काव्य के स्वरूप-विधान और रूप-सर्जन को स्पष्ट करने की क्षमता है। हमारा यह विवेचन तथ्यपरकता के अधिक निकट है क्योंकि उसमें तत्त्व-विमर्श की अधिक उलझनें नहीं हैं। तदुपरांत ही हम गुण-त्रितयवाद की सिद्धान्त-प्रतिष्ठा करेंगे जिसको प्रश्रय प्रदान करने की ओर परवर्ती आचार्यों का ध्यान विशेष रूप से आकृष्ट रहा है।

गुणदशक का विवेचन

१. श्लेषगुण

दण्डी ने उस रचना को श्लेष गुणमयी माना है जो अस्पृष्ट शैथिल्य अर्थात् शिथिल वर्णों से रहित और अल्पप्राण अक्षरों से बाहुल्यमयी हो। पंडितराज जगन्नाथ ने

१. काव्यादर्श १-१०२।

'शब्दानां भिन्नानामपि एकत्वप्रतिभानप्रयोजकः संहितयैकजातीयवर्णविन्यासविशेषो
गाढत्वापरपर्यायः श्लेषः' लिखा है जो एक प्रकार से दण्डीकृत लक्षण का परिष्कृत रूप
है। आचार्य भरतमुनि ने स्वभावस्पष्ट और विचारगहन वचन को श्लेष कहा था जिसमें
अभिधानाभिधेय पद्धति का आभास पाकर वामन ने मसृणत्व को ही शब्द-श्लेष माना।
भोजराज ने 'सुश्लिष्टतपदता' को श्लेष गुण कहकर उसे अर्थ गुण भी निर्दिष्ट किया तो
काव्यप्रकाशकार ने बहुत से पदों की एक पदवत् आभासात्मकता को श्लेष गुण की संज्ञा
दी। साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ तथा उनके समकालीन आचार्यों ने श्लेष गुण का
अन्तर्भाव ओज गुण में करना युक्तिसंगत समझा है। वामन ने 'मसृणत्व' को 'श्लेष'
शब्द गुण का लक्षण माना है जिसका अभिप्राय यह है कि जहां बहुत से पद एक पद के
समान मिले हुए-से प्रतीत होते हैं अर्थात् उनमें 'एकपदवत्भासनात्मकता' रहती है वहां
श्लेष गुण माना जाता है। 'श्लेष' नामक अर्थ गुण की विवेचना करते हुए वामन ने
'घटना' को 'अर्थ श्लेष' गुण कहा है और 'घटना' पद की विवृत्ति करते हुए उसमें क्रम,
कौटिल्य, अनुल्वणत्व और उपपत्ति का योग माना है। 'क्रम' शब्द का अर्थ अनेक क्रियाओं
की परम्परा है जिनके भीतर अनुस्यूत विदग्ध चेष्टाओं को 'कौटिल्य' कहा जाता है।
अप्रसिद्ध वर्णन के विरह अर्थात् प्रसिद्ध वर्णन-शैली को 'अनुल्वणत्व' और युक्ति विन्यास
को 'उपपत्ति' कहते हैं। इन सब बातों का योग जिस काव्य-रचना में होता है उसे 'श्लेष'
नामक अर्थ गुणमयी रचना कहा जाता है। शूद्रक रचित 'मृच्छकटिक' नाटक में इस
प्रकार के अर्थ-श्लेष गुण का प्रयोग विस्तारपूर्वक हुआ है।

२. प्रसाद गुण

'प्रसाद' गुण का सामान्य लक्षण यह है कि वह काव्य-प्रयुक्त शब्द-रचना द्वारा
अर्थ की प्रतीति श्रवणमात्र से करा देने में समर्थ होता है और उसमें निहतार्थत्व आदि
दोष नहीं होते। भरतमुनि का मत है कि प्रसाद गुण में 'शब्दार्थ-बोध की सहज क्षमता
होती है जिसका समर्थन भोजराज, मम्मट, वाग्भट और विश्वनाथ आदि आचार्यों ने
भी किया है। वामन ने शिथिलता और ओज के सम्मिश्रण में श्लेष माना है और इन
विरोधी धर्मों के सम्मिलन को युक्तिसंगत सिद्ध करने के लिए यह तर्क प्रस्तुत किया है
कि जिस प्रकार करुण रस पूर्ण नाटकों द्वारा सुख और दुःख का संप्लव एक साथ होता
है उसी प्रकार प्रसाद गुण में भी शैथिल्य और ओज संज्ञक विरोधी गुणों का एकाधि-
करण्य हो सकता है। पंडितराज का मत भी इसी मान्यता के यथेष्ट अनुरूप है। कुछ
आचार्यों ने प्रसाद को शब्दगुण के साथ-साथ अर्थगुण भी माना है। आचार्य वामन के
मतानुसार 'प्रसाद' नामक अर्थ-गुण का लक्षण 'अर्थवैमिल्य' है जिसके द्वारा विवक्षित
अर्थ का प्रयोजन स्पष्टतापूर्वक सिद्ध हो जाता है। जैसे 'रूप यौवनारम्भशालिनी सवर्णा
कन्यका' के प्रयोग में प्रयुक्त 'सवर्णा' पद कन्या की उपादेयता अर्थात् विवाह योग्यता
सूचित करता है। 'प्रसाद' गुण का विपर्यय होने से काव्य में 'अपुष्टार्थत्व' और 'अनर्थकत्व'
दोष आ जाते हैं जिनका विवेचन दोष-प्रकरण के अन्तर्गत किया गया है।

काव्य की आस्वादन-क्रिया में प्रसाद गुण का भी योगदान रहता है। आनंदवर्धन

ने सब रसों के प्रति काव्य के समर्पकत्व को प्रसाद गुण से संज्ञित कर उसे शब्द और अर्थ की स्वच्छता में अधिष्ठित किया है।[1] समर्पकत्व का अर्थ है सम्यक् प्रकार से अर्पण करने का भाव अथवा गुण। अभिनवगुप्त ने उसका स्पष्टीकरण करते हुए लिखा है कि जिस प्रकार शुष्क काष्ठ में अग्नि शीघ्रगत्या व्याप्त हो जाती है अथवा स्वच्छ वस्त्र के तन्तुओं को पानी एकदम ग्रहण कर लेता है उसी प्रकार प्रसाद गुण भी प्रतिपत्ताओं के प्रति अपने आवेश अथवा अकालुष्य द्वारा शीघ्र ही क्रियाशील होकर उन्हें आह्लादमय बना देता है। यह गुण सर्वसाधारण रूप में रहता है जिसका अभिप्राय यह है कि उसकी स्थिति सभी रचनाओं में होती है। इसको मुख्य रूप से व्यंग्यार्थ की अपेक्षा से ही स्थित होने वाला समझना चाहिए।

प्रश्न होता है कि जब गुण की सत्ता रसगत मानी गई है तो आनन्दवर्धन ने उसे शब्द और अर्थ की स्वच्छता क्यों कहा है? इसका उत्तर यह है कि ध्वनिकार ने उसे शब्दार्थगत स्वच्छता कहकर उसकी स्थिति शब्दार्थमयी रचना में तो मानी ही है, साथ ही साथ उसे सर्वरससाधारण कहकर उसे 'सर्वसाधारण' पर्यन्त व्याप्त भी बना दिया है। हां, यह बात अवश्य है कि उसे सर्वसाधारणत्व का भाव प्रदान करके भी एक शर्त लगा दी है और वह यह कि उसे मुख्यतया व्यंग्यार्थ की अपेक्षा से ही ग्रहण करना चाहिए। उनके कथन का आशय यह है कि अर्थ की समर्पकता तो केवल व्यंग्यार्थ के प्रति ही हो सकती है, अन्यथा नहीं। यों तो शब्द में समर्पकता का गुण उसके वाच्यार्थ को शीघ्रातिशीघ्र समर्पित करने के रूप में भी हो सकता है किन्तु उसमें अलौकिकता नहीं होती। यदि प्रसाद गुण शब्दगत हो तो भी शब्द में इतनी शक्ति होनी चाहिए कि वह व्यंग्यार्थ को ध्वनित कर दे। वस्तुतः प्रसादादि गुण प्रतिपत्ता की आस्वादमयी चित्त-वृत्तियों के वाचक हैं, अतः आस्वाद्य रस के अतिरिक्त शब्द और अर्थ में भी उनका लाक्षणिक प्रयोग समझा जा सकता है।

'ओज' और 'प्रसाद' गुण का सम्बन्ध

वामन ने पद-रचना के गाढबंधत्व को 'ओज' तथा उसके शैथिल्य को 'प्रसाद' कहा है। साधारणतया बंधगाढत्व और बंधशैथिल्य एक प्रकार से विरोधी गुण प्रतीत होते हैं अतः उनके कारण कहीं ओज और प्रसाद गुणों का विरोध आभासित न हो जाय, इस शंका के निवारणार्थ उन्होंने इस विषय का विशेष स्पष्टीकरण किया है। उन्होंने बतलाया है कि यों तो ओज का विपर्यय रूप 'शैथिल्य' काव्य का दोष प्रतीत होता है, किन्तु ओज के साथ मिश्रित होकर रचना का शैथिल्य रूप 'प्रसाद' भी गुण ही हो जाता है। सरल रूप में कहा जा सकता है कि जहां ओज और प्रसाद दोनों सम्प्लवित अथवा मिले-जुले रहते हैं वहां 'प्रसाद' गुण होता है और जहां पर ओज से रहित सर्वथा बंध-

१. समर्पकत्वं काव्यस्य यत्तु सर्वरसान् प्रति।
स प्रसादो गुणो ज्ञेयः सर्वसाधारणक्रियः॥
प्रसादस्तु स्वच्छता शब्दार्थयोः। सच सर्वरस साधारणो गुणः सर्वरचनासाधारणश्च व्यंग्यार्थापेक्षयैव मुख्यतया व्यवस्थितो मन्तव्यः।—आनन्दवर्धन, ध्वन्यालोक, २।१०, पृ० ४६५।

शैथिल्य रहता है, वहां वह शुद्ध-शैथिल्य गुण न होकर दोष रूप माना जाता है। इस पर यह प्रश्न हो सकता है कि जब ओज और प्रसाद नामक गुण विरुद्ध स्वभाव वाले गुण हैं तो उनका मिश्रण किस प्रकार सम्भव है ? इस प्रश्न का उत्तर देते हुए वामन ने लिखा है कि इस विषय का प्रमाण तो केवल सहृदयजनों के अनुभव से ही सिद्ध माना जा सकता है। वस्तुतः जिस प्रकार रत्नों की विशेषता केवल उनके परीक्षक जौहरियों के अनुभव से सिद्ध की जा सकती है उसी प्रकार गाढबंधरूप ओज तथा बंध-शैथिल्य प्रसाद का मिश्रण भी सहृदयानुभव-सिद्ध विषय है। इस सम्बन्ध में काव्यशास्त्र में एक उक्ति अत्यंत प्रसिद्ध है जिसमें कहा गया है कि ओज और प्रसाद का सम्प्लव उसी प्रकार अनुभवसिद्ध है जिस प्रकार करुण रस के नाटकों में एक-दूसरे के विरोधी सुख और दु:ख के सम्प्लव (मिश्रण) की सह-स्थिति सहृदयों को सिद्ध रहती है।[1] वामन का तो यहाँ तक कहना है कि ओज और प्रसाद का सम्प्लव ही नहीं अपितु उनका साम्य और उत्कर्ष भी सहृदयों का अनुभवसिद्ध विषय है। काव्य-ग्रंथों के अध्ययन से प्रकट होता है कि कहीं पर ओज से प्रसाद उत्कृष्ट बनकर अभिव्यक्त हुआ है तो कहीं प्रसाद से ओज का उत्कर्ष अधिक सुग्राह्य बन गया है। ऐसी स्थिति में ओज और प्रसाद के विरोध का निर्णय अत्यन्त गम्भीर और विवेकसम्मत विधि से किया जाना समीचीन है।

३. समता गुण

काव्यसंघटना का प्रारम्भ जिस प्रकार के बंध से किया जाय, उसी बंध में उसकी समाप्ति होने पर 'समता' नामक गुण होता है। मृदु (कोमल), स्फुट (विकट) और मध्यम (तदुभयमिश्र) संज्ञक त्रिविध 'बंध' होते हैं। मृदुबंध में ह्रस्व, वर्ग के अन्त्याक्षर एवं दंत्य व्यंजन, स्फुट बंध में दीर्घ स्वर, ओष्ठ्य वर्ण एवं ठड और ऊष्म व्यंजन तथा मिश्रबंध में दोनों का समन्वय रहता है। इन बंधों की रचना असमास, दीर्घसमास और अल्पसमास द्वारा भी उपलक्षित की जाती है जिनसे संघटित होने वाली समता क्रमशः वैदर्भी, गौडी एवं पांचाली रीतियों का कारण बनती है। वामन के अनुसार 'समता' गुण का लक्षण 'मार्गाभेद' है जिसके कारण काव्य में प्रारम्भ की हुई रचना-शैली का अंत तक अभेद बना रहता है। वस्तुतः प्रक्रम के अभेद तथा सुगमत्व का ही नाम 'समता' है जिसे वामन ने 'अवैषम्य' भी कहा है। इसमें प्रक्रमभेद रूपदोष का अभाव रहता है। उदाहरणार्थ यदि कोई कवि शिशिर और वसंत की ऋतु-संधि का वर्णन करते समय वसंत ऋतु के विशेष धर्म मलय-पवन का वर्णन करे तो वर्णन की उस स्पष्टता में ऋतु-संधि का विपर्यय होने प्रक्रमभेद रूप दोष होता है। इस प्रकार के दोषों से बचते हुए कविजन जब अपनी काव्यरचना करते हैं तो उनमें 'समता' गुण पाया जाता है। 'सुगमता' रूप समता गुण वहां होता है जहाँ वर्ण्य विषय सरलतापूर्वक बोधगम्य हो जाता है।

वामन के मतानुसार 'समता' नामक शब्द-गुण से विभूषित रचनाएं आदि से

---

१. करुणप्रेक्षणीयेषु सम्प्लवः सुखदुःखयोः।
यथाऽनुभवतः सिद्धस्तथैवोजः प्रसादयोः।।

अंत तक एक ही प्रकार की रचना-शैली में आबद्ध होकर चलती हैं चाहे वे मुक्त-परम्परा में लिखी जायं अथवा प्रबंध-परम्परा में। इस गुण का सफल निर्वाह करने के लिए कवि में विशिष्ट प्रतिभा और शक्ति अपेक्षित है। आचार्य भरतमुनि, वामन, भोजराज, वाग्भट और पंडितराज जगन्नाथ ने भी समतागुण के लक्षण और उदाहरण अपने-अपने दृष्टिकोण से प्रस्तुत किये हैं जिनमें पर्याप्त साम्य है। आचार्य मम्मट का मत है कि मार्गाभेद स्वरूप समता, गुण का दोष रूप बन जाती है किंतु जहां पर वह 'मार्गाभेद-स्वरूपतिरिक्त स्वरूप' है वहां पर उसे प्रबंध के अनुसार माधुर्य, ओज और प्रसाद गुणों के अंतर्भूत मान लिया जाता है। आचार्य विश्वनाथ तथा हेमचंद्र ने भी समता की स्थिति पृथक् गुण के रूप में स्वीकार नहीं की है और वे मम्मट की मान्यता से सहमत हैं। यहां इस बात का ध्यान रखना आवश्यक है कि गौडी रीति के स्तोता आचार्य उपर्युक्त बंधों के वैषम्य की ओर उतना ध्यान नहीं देते जितना काव्य के अर्थ और अलंकारों पर देते हैं। वस्तुतः उन आचार्यों को काव्यगत अतिशयोक्ति आदि अलंकारों द्वारा अभिव्यक्त अर्थ-चमत्कार और अनुप्रासादि अलंकारों का शब्द-चमत्कार ही अभीष्ट है, जबकि वैदर्भी रीति के समर्थक आचार्यों की दृष्टि में काव्यगत बंधों का आद्यंत निर्वाह प्रधान है और अलंकारादि की सत्ता गौण है।

४. माधुर्य गुण

माधुर्य गुण की विवेचना के पूर्व यह प्रश्न स्वतः उपस्थित होता है कि जब रसवत् (सरस) वाक्य को ही मधुर कहा जाता है तो रस और माधुर्य का पार्थक्य किस प्रकार सम्भव है? आचार्यों ने गुणों को 'साक्षात् परम्परया' रस के उपकारक माना है अतः माधुर्य संज्ञक गुण भी रस का उपकारक होना चाहिए न कि स्वयं रसस्वरूप। आचार्य दण्डी ने इस प्रश्न का उत्तर देने के प्रयोजन से 'वाचि वस्तुन्यपि रसस्थितिः' स्वीकार की है जिसका अभिप्राय यह है कि शब्द में (वाचि) और अर्थ में (वस्तुनि) भी रस की स्थिति व्यंजकता सम्बन्ध से होती है जिसका साधन मधुर वर्णों का संघटन कहा जा सकता है। अतः माधुर्य गुण की स्वतंत्र स्थिति मानी जा सकती है। भामह ने उस काव्य को 'मधुर' कहा है जो 'श्रव्यं नातिसमस्तार्थम्' हो। भरत के अनुसार उस काव्य को माधुर्य गुणयुक्त कहा जा सकता है जो 'बहुशः श्रुत' एवं 'पुनः पुनः उक्त' होने पर भी उद्वेगजनक न हो। वामन ने 'पृथक्पदत्व' को माधुर्य गुण कहा है क्योंकि उस प्रकार के रचनाबंध में जिन पदों का प्रयोग किया जाता है वे पृथक्-पृथक् और असमस्त (दीर्घसमासविहीन) होते हैं। उन्होंने उक्तिवैचित्र्य को 'माधुर्य' नामक अर्थगुण माना है। इस गुण के कारण काव्य की उक्तियों में ऐसे वैचित्र्य अथवा वैशिष्ट्य की सृष्टि होती है जिसके कारण शब्दों के श्रवण तथा अर्थों के ग्रहण में विशेष प्रकार का माधुर्य प्राप्त होता है।

वामन ने वाक्य में 'पृथक्पदता' को जिस रूप में माधुर्य नामक शब्द गुण कहा है, वह युक्तिसंगत नहीं है, क्योंकि काव्य की अपृथक्पदता अथवा सामासिकता में भी माधुर्यगुण का स्वरूप उपलब्ध होता है। मम्मट ने भामह के लक्षण को सर्वथा सुग्राह्य

न मानते हुए लिखा है कि असमस्त पदावली में ही माधुर्य नहीं होता अपितु ओज और प्रसाद की श्रव्यता में भी माधुर्य हो सकता है। उनके शब्दों में 'आह्लादकत्व' का ही नाम माधुर्य है जो शृंगाररस में द्रुति का कारण होने के साथ-साथ करुण, विप्रलम्भ और शांत रस में भी अतिशयान्वित रहता है। वाग्भट ने 'यत्र आनंदमदं मनोद्रवति तन्माधुर्यम्' कहकर रसभेद से उसके विविध रूप निर्दिष्ट किये हैं। विश्वनाथ के अनुसार 'चित्तद्रवीभावमय आह्लाद' का नाम ही माधुर्य है। पंडितराज ने 'एक ही उक्ति के भंग्यंतर से पुनः कथनात्मक उक्ति वैचित्र्य' को माधुर्य माना है। इस प्रकार माधुर्य गुण के सम्बन्ध में भिन्न-भिन्न आचार्यों के भिन्न-भिन्न मत हैं। यहां पर इस बात का ध्यान रखना आवश्यक है कि दण्डी ने रस की व्यंजना में जिस विशिष्ट वर्णविन्यास को साधन माना है उस विषय में वैदर्भ मार्ग और गौड़मार्ग भिन्न-भिन्न दृष्टिकोण रखते हैं। उदाहरणार्थ वैदर्भमत के समर्थक विद्वानों ने समानस्थानोच्चरित वर्णों की अव्यवधानता में श्रुत्यनुप्रास मानकर उसके सन्निवेश में माधुर्य गुण माना है जबकि गौड़मार्गीय आचार्यों द्वारा वर्णावृत्तिरूप अनुप्रास सामान्य में ही माधुर्य गुण स्वीकार किया गया है। इस विषय को अधिक विवादास्पद न बनाकर हम केवल यही कहना अधिक उचित समझते हैं कि इस प्रकार के मत-वैभिन्नय का आधार केवल रुचिभेद है और 'तस्य तदेव हि मधुरं यस्य मनो यत्र संलग्नम्' मानना ही श्रेयस्कर है। वस्तुतः माधुर्यगुण के लिए सानुप्रासता आवश्यक है तभी तो भोजराज ने लिखा है—

यथा ज्योत्स्ना शरच्चंद्र यथा लावण्यमंगनाम्।
अनुप्रासस्तथा काव्यमलंकर्त्तुमिह क्षमः ॥

५. सुकुमारता गुण

बंध की अजरठता अथवा अपरुषक्ता का नाम सुकुमारता है जिसके कारण रचना-शैली में कठोरता नहीं आती। श्रुतिकटुत्व आदि दोषों से अस्पृष्ट एवं कोमल वर्णों के बाहुल्य से संघटित वाक्यरचना में 'सुकुमारता' नामक गुण होता है। सुकुमारता में सर्वत्र कोमलवर्णों की संघटना आवश्यक नहीं है क्योंकि ऐसे स्थल और प्रसंग भी आ सकते हैं जहांकोमलवर्णों के बाहुल्यके अंतर्गत कठोरवर्णों का सर्वतोभावेन किया गया प्रयोग काव्यबंध के शैथिल्य का कारण बनकर उसके लिए दोषरूप भी बन जाता है जबकि कोमल अक्षरों के बीच-बीच किया गया परुषाक्षरों का विन्यास मुक्तामाला के अन्तराल में संगुम्फित रत्नराशि से समुद्भूत चारुता से उपमित किया जा सकता है। भरतमुनि ने सुकुमारता गुण के लक्षण प्रसंग में लिखा है कि यह गुण सुकुमार अर्थ से संयुक्त और सुखप्रयोज्यशब्दों और सुश्लिष्ट संधियों से युक्त होता है। दण्डी ने 'अनिष्ठुराक्षर प्राय' वर्ण-रचना में सुकुमारता गुण माना है जिसका समर्थन भोजराज ने भी किया है। वामन ने 'अजरठता' को सुकुमारता का लक्षण निर्दिष्ट कर उसे 'अपारुष्यस्वरूप' माना है। मम्मट आदि विद्वान् सुकुमारता को श्रुति कटुत्व के दोष का अभाव स्वरूप कहकर उसे पृथक् गुण नहीं मानते। पंडितराज के शब्दों में 'सुकुमारता का लक्षण 'अकाण्डे शोकदायित्वाभावरूपमपारुष्यं' है तो विश्वनाथ के अनुसार 'ग्राम्य और दुःश्रवता के त्याग के

कारण समुद्भूत कांति' का नाम ही सुकुमारता है। सौकुमार्य का सद्भाव काव्य में न केवल शब्दगत ही होता है अपितु उसकी स्थिति अर्थगत भी रहती है। वामन ने अपारुष्य को सौकुमार्य कहकर अर्थ-कथन की कठोरता में सुकुमारता नामक अर्थ-गुण माना है। कुछ विद्वानों का मत है कि अर्थगत सुकुमारता एक प्रकार से अमंगल रूप और अश्लीलताख्य दोषों के प्रभाव का ही नाम है। आचार्य दण्डी ने सौकुमार्य गुण की स्वतंत्र सत्ता मानी है और उसे केवल दोषाभावरूप में ही स्वीकार नहीं किया है। उनका तो स्पष्ट मत है कि काव्य में अर्थचमत्कृति और अलंकार योजना होने पर भी यदि उसमें गुण-वैचित्र्य न हो तो वह शोभाधायक नहीं हो सकता।[1] सच तो यह है कि सुकुमारता आदि गुणों की विद्यमानता में ही कोई काव्य सहृदयजनों का चित्ताह्लादन कर सकता है। भोजराज ने भी 'अलंकृतमपि श्रव्यं न काव्यं गुणवर्जितम्' कहकर काव्य में गुणों की विशेष महत्ता स्वीकार की है। उनका तो स्पष्ट रूप से कथन है कि जिस प्रकार सर्वालंकार विभूषता रमणी यौवनाभाववश आकर्षक नहीं होती उसी प्रकार अलंकारयुक्त किंतु गुणविहीन काव्य-रचना भी हृदयसंवेद्य नहीं कही जा सकती।[2]

६. अर्थव्यक्ति गुण

काव्य के जिन शब्दों में अविलम्ब अथवा त्वरित गति से अर्थ-प्रतीति कराने की क्षमता होती है वे 'अर्थ व्यक्ति' गुण-सम्पन्न माने जाते हैं। इस गुण के अभाववश किसी भी काव्य-कृति में असाधुत्व, अप्रतीत्व, अनर्थकत्व, अन्यार्थत्व, नेयार्थत्व, यतिभ्रष्टत्व, क्लिष्टत्व, संदिग्धत्व और अप्रयुक्तत्व आदि दोष आ जाते हैं। वर्ण्यवस्तुओं के स्वभाव की स्पष्टता में 'अर्थव्यक्ति' नामक अर्थगुण होता है। इस गुण के कारण अर्थ की प्रतीति 'करतलामलकवत्' होने लगती है। 'अर्थव्यक्ति' शब्द का अर्थ ही है अध्याहार आदि कष्ट कल्पनाओं के बिना पदों अथवा वाक्यों में विवक्षित अर्थों की स्पष्ट प्रतीति। भरतमुनि ने काव्य में उस क्रिया को अर्थव्यक्ति गुण से अभिहित किया है जो सुप्रसिद्ध धातु से लोककर्म की व्यवस्थापिका होती है। भोजराज ने 'सम्पूर्ण वाक्यत्व' को अर्थ-व्यक्ति माना है तो वाग्भट ने सुखपूर्वक की गई अर्थप्रतीति को अर्थव्यक्ति की संज्ञा दी है। इस विषय में पंडितराज का मत अधिक स्पष्ट है। उन्होंने अर्थव्यक्ति को 'झटिति प्रतीयमानार्थान्वयकत्वं' कहकर उसके दो रूप माने हैं—शब्दगता और आर्थी। उनके शब्दों में 'वर्णनीय वस्तु का असाधारण क्रियारूप में वर्णन करना ही अर्थव्यक्ति है। काव्यप्रकाशकार मम्मट ने स्वभावोक्ति में अर्थव्यक्ति का समाहार करते हुए लिखा है—'अभिधास्यमानस्वभावोक्त्यलंकारेण वस्तुस्वभावस्फुटत्वरूपार्थ व्यक्ति' अर्थात् स्वभावोक्ति अलंकार द्वारा वस्तु स्वभाव का स्फुटत्व रूप ही 'अर्थव्यक्ति' है। विश्वनाथ ने 'अर्थव्यक्तेः प्रसादानव्यगुणेनेव परिग्रहः' द्वारा प्रसाद गुण में अर्थव्यक्ति को अंतर्भूत कर दिया है। एक प्रकार से नेयार्थदोष का विपर्यय 'अर्थव्यक्ति संज्ञक गुण में दृष्टिगोचर होता है। नेयार्थ दोष का लक्षण 'रूढिप्रयोजनाभावादशक्तिकृतं

१. दण्डी, काव्यादर्श, १-७१।
२. भोज, सरस्वतीकंठाभरण, १।१५६।

लक्ष्यार्थ प्रकाशनं नेयार्थत्वम्' है जिसका अभिप्राय यह है कि जहां काव्यप्रयुक्त शब्दों में विवक्षित अर्थ का असामर्थ्य होता है वहां नेयार्थत्व संज्ञक दोष होता है। नेयार्थत्व दोष में एक प्रकार से शब्दन्याय का उल्लंघन होता है अतः वह किसी भी काव्यमार्ग से संस्तुत नहीं है। ऐसे काव्यों के आस्वादन में समय काव्य-भावकों को वर्णों के श्रवणमात्र से ऐसी भावना होने लगती है कि काव्य-प्रयुक्त वर्णों में नृत्य के समान लीलायमानत्व का संचार हो गया है। 'उदारता' गुण का लक्षण रचनाबंध की 'विकटता' है जिसके वस्तुतः काव्य-रचना के पद नृत्य-सा करते हुए सहृदयजनों के सम्मुख उपस्थित होते हैं।

७. उदारता गुण

जिस वाक्य में वर्णनीय वस्तु की महत्ता का सूचक धर्म विशेष प्रतीयमान हो, उस वाक्य में 'उदारता' नामक गुण माना जाता है। इस गुण की संघटना से काव्यपद्धति में चमत्कार का संपोषण होता है जिसे दृष्टिकोण में रखकर कुछ आचार्यों ने 'उदारता' को काव्य का जीवन मानने में भी संकोच नहीं किया है। चूंकि वाक्य अपने अर्थ द्वारा ही गुणव्यंजक होते हैं अतः उदारता एक प्रकार से अर्थगुण है किंतु वामन आदि आचार्यों ने उदारता को विकटत्व स्वरूप कहकर उसकी गणना शब्द-गुणों में की है। उनकी दृष्टि में ग्राम्यता के अभाव में उदारता नामक अर्थ-गुण होता है। 'उदारता' गुण का लक्षण रचनाबंध की 'विकटता' है जिसके द्वारा काव्य-रचना के पद नृत्य-सा करते हुए सहृदयजनों के सम्मुख उपस्थित होते हैं। ऐसे काव्यों के आस्वादन के समय काव्य-भावकों को वर्णों के श्रवण मात्र से ऐसी भावना होने लगती है कि काव्य-प्रयुक्त वर्णों में नृत्य के समान लीलायमानत्व का संचार हो गया है। भरतमुनि ने उदारता को अनेक भावों से संयुक्त, दिव्य भावों से व्याप्त तथा श्रृंगाराद्भुत रसों से चेष्टित' माना है। भोजराज के शब्दों में विकटाक्षरबन्धत्व का ही नाम औदार्य है जिसमें भूत्युत्कर्ष' रहता है। अग्निपुराण में श्लाघ्य विशेषणों से युक्त उत्तानपदता को उदारता कहा गया है। मम्मट आदि परवर्ती आचार्यों का मत है कि उदारता की सत्ता स्वतंत्र गुण के रूप में स्वीकार करना युक्तिसंगत नहीं है क्योंकि शब्दगुण-उदारता का अंतर्भाव ओज गुण में हो जाता है जबकि अर्थगुण-उदारता एक प्रकार से अग्राम्यता दोष का अभाव रूप ही है।

८. ओजगुण

ओजगुण समासों के बाहुल्य में होता है। उसे गद्य का जीवित कहा गया है क्योंकि सामासिक पदों के प्रयोग से गद्य-रचना में विशेष प्रकार का उत्कर्ष संचरित हो जाता है। गौड़मार्गीय विद्वानों ने गद्य के साथ-साथ पद्य में भी ओजगुण के सन्निवेश का समर्थन किया है जबकि वैदर्भमार्गीय आचार्यों के मतानुसार गद्यकृतियों को ही ओजगुण की उपजीव्य निधि माना जा सकता है। दण्डी ने ओज को 'समासभूयस्त्वम्' कहा है जिससे वह शब्दगुण सिद्ध होता है क्योंकि समास शब्दगत वस्तु है। वामन ने अर्थ की

प्रौढ़ि में अर्थगत ओज तथा गाढबंधत्व में शब्दगत ओज माना है। आचार्य भोजराज, वाग्भट, हेमचंद्र और जगन्नाथ आदि पंडितों ने ओज का विस्तार शब्दार्थगत मानकर उसके उभयविध लक्षण और उदाहरण प्रस्तुत किये हैं। मम्मट के अनुसार ओज चित्त का विस्ताररूप दीप्ततत्त्वजनक है जिसका आधिक्य क्रमशः वीर, बीभत्स और रौद्र संज्ञक रसों में होता है। इस विषय में कविराज विश्वनाथ अधिकांशतः मम्मट के ही अनुयायी हैं। ओज गुण में कहीं गुरु वर्णों का बाहुल्य रहता है तो कहीं लघु वर्णों अथवा उभयविध वर्णों का आधिक्य, जिनके अनुसार ओज के अनेक अवांतर भेद हो जाते हैं। इस गुण का विशेष प्रयोग 'आख्यायिका', 'विरुद' और 'चम्पू' प्रभृति गद्यप्रचुर ग्रंथों में उपलब्ध होता है।

वामन ने अर्थ की प्रौढि को भी 'ओज' कहा है जो पांच प्रकार की मानी गई है—१. पद के अर्थबोधन में दीर्घवाक्य का कथन जैसे 'चन्द्र' पद से वाच्य चन्द्रमा रूप अर्थ के बोधन के लिए 'नयनसमुत्थं ज्योतिरत्रेः' जैसे दीर्घवाक्य का प्रयोग करना। यहां पर यह शंका उत्पन्न हो सकती है कि जब चन्द्रमा को 'दक्षात्मजादयितवल्लभः' कहकर उसे व्यवहितार्थ बोधक क्लिष्टत्व दोष का उदाहरण माना जाता है तो फिर उसके लिए प्रयुक्त 'नयनसमुत्थ ज्योतिरत्रेः' पद में ओजगुण क्यों माना जाय जबकि दोनों प्रयोगों में वाच्यार्थ के बोधन के लिए सुदीर्घ पदावली का प्रयोग हुआ है। इस शंका का समाधान करते हुए वामन ने लिखा है कि चन्द्र के लिए प्रयुक्त 'दक्षात्मजादयितवल्लभ' आदि पदों में प्रौढि रूप अर्थगुण की अतिव्याप्ति नहीं समझनी चाहिए क्योंकि ऐसे उदाहरणों में अर्थप्रतीति के व्यवहित होने से गुण की अपेक्षा दोष-लक्षण की विद्यमानता ही अधिक है जबकि 'नयनसमुत्थं ज्योतिरत्रेः' जैसे प्रयोगों में काव्य-शोभा का धायकत्व रूप गुण के सामान्य लक्षण की संगति सिद्ध होती है। इन प्रयोगों के गुणदोषों का विवेक केवल वे ही व्यक्ति कर सकते हैं जिनमें नीरक्षीर विवेक की प्रतिभा और काव्य-परीक्षण की शक्ति होती है।

२. वाक्य के प्रतिपाद्य अर्थ के बोधन में संक्षेप में केवल एक पद का कथन अर्थ प्रौढि का द्वितीय प्रकार है। इस प्रकार की अर्थप्रौढि सभी भाषाओं की अभिव्यंजन-शक्ति में समान रूप से नहीं मिलती। उदाहरणार्थ 'यह दिव्य अप्सरा नहीं है किंतु मानुषी है' इतना लम्बा वाक्य कहने के स्थान पर यदि यह कहा जाय कि वह पलक मारती है (निमिषति) तो उससे उसके मानुषी रूप का बोध हो जायगा क्योंकि 'निमेष' जैसी विशेषता देवताओं तथा अप्सराओं में न होकर केवल भूलोकवासियों में ही पाई जाती है।

३. अर्थप्रौढि का तृतीय प्रकार वह है जिसमें उपर्युक्त दोनों प्रकारों के अतिरिक्त अन्य प्रकार से अर्थ का विस्तार किया जाता है। जैसे यदि कोई व्यक्ति सुख और दुःख के नाना प्रकार के सम्बन्धों का वर्णन करता हुआ उनके भावाभावों को अनेक प्रकार से चित्रित करे तो उस चित्रण में यह तीसरे प्रकार की अर्थगत प्रौढि मानी जायगी।

४. अर्थप्रौढि के चतुर्थ प्रकार में बहुत से वाक्यों द्वारा प्रतिपाद्य विषय को समास अथवा संक्षिप्त रूप में वर्णित किया जाता है। ऐसे वर्णन की क्षमता केवल व्युत्पन्न

कवियों में ही संभव है।

५. जिस अर्थ प्रौढि से अर्थ का विशेष रूप से साभिप्रायत्व सूचित होता है वह पंचम प्रकार की अर्थ प्रौढि है। इन पांचों प्रकार की अर्थप्रौढियों का उल्लेख निम्न-लिखित श्लोक में हुआ है जो इस प्रकार है—

पदार्थे वाक्यवचनं वाक्यार्थे च पदाभिधा।
प्रौढिर्व्यासससमासौ च साभिप्रायत्वमेव च॥

९. कांति गुण

लोकप्रिय वस्तु का अनतिक्रमण करने के कारण जो काव्य-रचना सर्वलोकप्रिय हो उसे कांतिगुणमयी कहा जाता है। उसमें लोकप्रसिद्ध अर्थ का वर्णन होता है अतः दण्डी ने उसे अर्थगुण माना है। इस गुण में एक विशेषता यह भी है काव्य-रचना में अर्थ का अनुसंधान होने पर ही उसकी सर्वहृद्यता प्रतीत होती है। भरतमुनि ने उस गुण को कांति की अभिधा प्रदान की है जो लीलादि अर्थों से उपपन्न और कर्णेन्द्रिय तथा मन के विषयों को इन्दुवत् आह्लादपूर्ण बनाने वाला हो। वामन ने औज्ज्वल्य को कांति का पर्याय कहकर 'नवप्रतिभाप्रकर्ष' को औज्ज्वल्य का लक्षण निरूपित किया है जिसके अभाव में काव्यरचना में नवोत्कर्ष आ ही नहीं सकता। रचना के दीप्तरसत्व का नाम 'कांति' है वस्तुतः जो शृंगार आदि रसों में विशेष रूप से प्राप्त होती है। आचार्यों ने अन्य रसों में भी दीप्त रसत्व का विवेचन बंध की उज्ज्वलता अथवा नवीनता को भी 'कांति' गुण का नाम दिया है। जिसके अभाव में काव्यकृति पुरानी छाया अथवा नकल के समान प्रतीत होती है। वस्तुतः कवि-कल्पना की नूतनता और कमनीयता ही 'कांति' गुण का लक्षण है जिसके कारण उसकी उज्ज्वलता संवर्धित हो जाती है।

भोजराज के अनुसार भी काव्य में बंध की उज्ज्वलता को कांति गुण कहा जा सकता है जिसकी व्याख्या करते हुए पंडितराज ने कांति को 'अविदग्ध वैदिकादिप्रयोग योग्यानां पदानां परिहारेण प्रयुज्यमानेषु पदेषु लोकोत्तर शोभारूपमौज्ज्वल्यं' माना है। मम्मट ने कांति को पृथक् गुण न मानकर उसे ग्राम्यत्व दोष का अभाव रूप स्वीकार किया है। दण्डी का मत है कि कांति गुण का प्रयोग वार्ताभिधान (लोकिकोपचार वचन प्रयोग) तथा प्रशंसापरक वर्णना में विशेष रूप से प्रदर्शित होता है। इस गुण के प्रयोग में इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि वह दोनों स्थितियों में संभवदुक्तिक हो जिसके कारण वह लोकव्यवहार-निष्णात व्यक्तियों के लिए सुग्राह्य हो सके। कांतिगुण के स्वरूपलक्षण के विषय में गौड़मार्गीय तथा वैदर्भमार्गीय विद्वानों में मतभेद भी है। गौड़-मार्ग के अनुसार लोकातीन अर्थ के अध्यारोपण में भी कांतिगुण हो सकता है जबकि वैदर्भमार्गीय विद्वान उसमें अत्युक्ति अथवा अतिशयोक्ति का आभास पाते हैं।

१०. समाधि गुण

समाधिगुण का सामान्य लक्षण यह है कि जहाँ लौकिक मर्यादा-परायण कवि अप्रस्तुत वस्तुओं के धर्म प्रस्तुत वस्तुओं पर आरोपित करते हैं वहां 'समाधि' संज्ञक

काव्यगुण होता है। अर्थ में अर्थान्तर का आरोप होने के कारण यह अर्थ गुण कहलाता है। वामन के अनुसार आरोहावरोह क्रमरूप समाधि को शब्दगुण भी कहा जा सकता है। भोजराज के शब्दों में 'अन्य धर्मों का अन्यत्र अधिरोपण' समाधि है तो वाग्भट ने समाधि का लक्षण 'अन्यस्य धर्मो यत्रान्यत्रारोप्यते' निर्दिष्ट किया है। भरतमुनि ने उस गुण को 'समाधि' कहा है जो अभियुक्तों द्वारा विशेष अर्थ का उपालम्भ कर उस अर्थ से सम्पन्न हो। दण्डी का मत है कि समाधि मुख्यत: अर्थगुण है क्योंकि उसमें प्रस्तुत के धर्म का तिरोधान कर उसके सादृश्य के कारण अप्रस्तुत के धर्म का अध्यवसान किया जाता है। इस गुण में लाक्षणिक प्रयोगों की प्रमुखता होती है और यदि 'निष्ठूत' आदि पद लक्ष्यार्थ का बोध न कराते हुए केवल मुख्यार्थ के ही द्योतक हों तो वहां ग्राम्यत्व आदि दोष हो सकते हैं। इस गुण में अनेक धर्मों का भी आरोप एक साथ हो सकता है। दण्डी ने इसे काव्य का सर्वस्व कहा है क्योंकि गौड़ और वैदर्भ आदि मार्गों में विभक्त समस्त प्रकार के कवि समाधिगुण संयोजन अपनी रचनाओं में करते हैं। पंडितराज ने समाधि को काव्य-गुण न मानकर कवि का गुण माना है जिसके कारण काव्य की सर्जना होती है। उनके शब्दों में समाधि का लक्षण इस प्रकार है—

"अवर्णितपूर्वो यमर्थ, पूर्ववर्णितच्छायो वेति कवेरालोचनं समाधिः। समाधिस्तु कविगतः काव्यस्य कारणं, न तु गुणः, प्रतिभा या अपि काव्य-गुणत्वापत्ते।"

'समाधि' गुण की स्थिति स्वतंत्र

वामन ने 'आरोह और अवरोह के क्रम' को 'समाधि' गुण कहा है। इस गुण के कारण काव्य की विशिष्ट पदरचना में शनैः-शनैः जिस क्रम से आरोह होता है, उसी क्रम से उसका अवरोह भी होता है। इस पर यह प्रश्न हो सकता है कि पदरचना में जब बंध की गाढ़ता और बंध की शिथिलता ही 'आरोह' और 'अवरोह' के नामान्तर है तो उन लक्षणों से युक्त ओज तथा प्रसाद के अंतर्गत ही समाधि का समावेश क्यों नहीं किया जा सकता ? इसका उत्तर देते हुए वामन ने लिखा है कि जब ओज और प्रसाद गुण की सत्ता और उनका क्षेत्र पृथक्-पृथक् है तो उन दोनों के अंतर्गत 'समाधि' गुण का समाहार कैसे किया जा सकता है। वस्तुत: समाधि गुण में उक्त दोनों गुणों की सम्पृक्ति होती है और उसमें ओज और प्रसाद गुण नदी की दो धाराओं के समान मिलकर बहते हैं, अत: उसकी स्वतन्त्र सत्ता मानना सर्वथा न्यायसंगत है। वामन का तो यहां तक कहना है कि जो लोग आरोह और अवरोह को क्रमश: ओज तथा प्रसाद गुणमयी रचनाओं के साथ संघटित कर 'समाधि' नामक गुण की स्वतंत्र स्थिति के सम्बन्ध में विश्वास नहीं करते वे भ्रांतिग्रस्त हैं, क्योंकि यह कोई आवश्यक नियम नहीं है कि काव्यबंध के ओज में सर्वत्र आरोह तथा प्रसाद में अवरोह विद्यमान ही हो। वस्तुत: आरोह और अवरोह की काव्यगत स्थिति 'अनैकांतिक' होती है तथा उक्त नियम का उसमें व्यभिचार भी पाया जाता है, अत: केवल आरोह और अवरोह के क्रम पर ओज तथा प्रसाद गुणों की विवेचना कर उनके मिश्रण में समाधि गुण की सिद्धि करना उचित नहीं है।

वामन ने 'समाधि' गुण की स्वतंत्र सिद्धि करने के लिए और भी अनेक तर्क उपस्थित

किये हैं। उनका कथन है कि ओज और प्रसाद के किसी भाग में तीव्रावस्था होने पर ही आरोह और अवरोह होते हैं न कि सर्वत्र ओज तथा प्रसाद मात्र में, अतः इस मान्यता के आधार पर भी 'समाधि' गुण की स्वतंत्र सत्ता माननी पड़ती है। उन्होंने 'समाधि' को 'आरोहावरोहक्रम' कहकर उसकी जो विवेचना की है उसमें प्रयुक्त 'क्रम' पद का अर्थ गौणी लक्षणा द्वारा 'निमित्त' लेने पर इस विषय का स्पष्टीकरण और भी अधिक सुबोधतापूर्वक किया जा सकता है। उस स्थिति में उनके सूत्र का अर्थ यह होगा कि 'ओज और प्रसाद की तीव्रता रूप जो विशेष अवस्था है उसमें पाया जाने वाला जो आरोह अथवा अवरोह होता है, उसी का 'निमित्त' समाधि गुण होता है। इस प्रकार वामन ने अपने सूत्र तथा उसकी वृत्ति द्वारा समाधि गुण की स्वतंत्र सत्ता सिद्ध करने का यथाशक्ति प्रयत्न किया है किंतु उनके तर्क भी सर्वथा निर्विवाद नहीं हैं जिन पर संशय उपस्थित कर अनेक आचार्यों ने समाधि गुण की पृथक सत्ता स्वीकार करने का समर्थन नहीं किया है।

वामन के मतानुसार अवधानमूलक अर्थदृष्टि का नाम 'समाधि' है। उसके कारण कवि अपने काव्य में एकाग्रचित्त होकर ऐसी विशेषताओं का समावेश करता है जो पाठकों को भी विशेष प्रकार की अर्थदृष्टि प्रदान कर सकती हैं। इस अर्थगुण द्वारा जिस अर्थ का प्रदर्शन किया जाता है वह दो प्रकार का होता है—१. अयोनि और २. अन्यच्छायायोनि। अयोनि का अर्थ है अकारण अर्थात् 'अवधानमात्रनिमित्तक' जहां कवि अन्य कवि के वर्णन से स्फूर्ति पाये बिना स्वयं जिस अर्थ का वर्णन करता है वह 'अयोनि' अर्थ कहलाता है। इसके विपरीत दूसरे कवि की काव्य-रचना की छाया जिस अर्थ का कारण हो उसे 'अन्यच्छायायोनि' नामक दूसरे प्रकार का 'समाधि' अर्थगुण कहा जाता है। समाधिरूप अर्थगुण 'व्यक्त' तथा 'सूक्ष्म' नाम से दो प्रकार का माना गया है। 'व्यक्त' अर्थगुण स्थूल और सर्वजनसंवेद्य होता है जबकि सूक्ष्म नामक अर्थ 'सहृदयमात्रसंवेद्य'। 'भाव्य' और 'वासनीय' नाम से 'सूक्ष्म' अर्थ के दो प्रकार होते हैं। 'भाव्य' नामक सूक्ष्म अर्थ वह है जो शीघ्र निरूपण से ही समझ में आ जाय तथा 'वासनीय' सूक्ष्म अर्थ वह है जो एकाग्रता के प्रकर्ष से बोधगम्य हो।

तत्त्वतः त्रिगुणवाद का सिद्धांत ही युक्तिसंगत है

गुणों के जिन दस प्रकारों का विवेचन विविध आचार्यों की विचारधारा के अनुसार किया गया है, उन सबका मनोयोगपूर्वक अनुशीलन कर मम्मट आदि आचार्यों ने कतिपय महत्त्वपूर्ण निष्कर्ष निकाले हैं। उन्होंने गुणों की संख्या-वृद्धि में विश्वास न कर आचार्य वामन की भांति न तो दस प्रकार के शब्दगुण माने हैं और न दस प्रकार के अर्थगुण। उनके मतानुसार तो माधुर्य, ओज तथा प्रसाद संज्ञक केवल तीन ही गुण होते हैं न कि दस।[1] मम्मट ने गुणों को शब्द या अर्थ का धर्म न मानकर रस का धर्म माना है, अतः उनकी दृष्टि से शब्द-गुण और अर्थगुणनामक गुण-विभाग करना युक्तिसंगत नहीं है। मम्मट के

१. 'माधुर्यौजः प्रसादाख्यास्त्रयस्ते न पुनर्दश।'—काव्यप्रकाश, सूत्र ८८।

मतानुसार चित्त के द्रवीभाव का कारण और शृंगार में रहने वाला आह्लादकत्वमाधुर्य गुण है।[१] वस्तुतः यहां आह्लादकत्व का अभिप्राय आह्लादस्वरूपता है क्योंकि शृंगार आदि रसों को आह्लादजनक कहने की अपेक्षा आह्लादस्वरूप मानना अधिक उपयुक्त है। शृंगार में भी संभोग शृंगार में द्रुति अर्थात् चित्त का विगलितत्त्व अधिक सहज है। यों तो भामह ने भी माधुर्य, ओज तथा प्रसाद नामक तीन ही गुण माने हैं किंतु उन्होंने माधुर्य का जो लक्षण निर्धारित किया है वह अति-व्याप्ति दोष से ग्रस्त है क्योंकि भामह ने जिस श्रव्यत्व को माधुर्यगुण का लक्षण माना है वह ओज तथा प्रसाद गुणों में भी विद्यमान रहता है। सामान्यरूप से माधुर्यगुण की सत्ता संभोग शृंगार में मानी गई है किंतु वह क्रमशः करुण, विप्रलम्भ तथा शांतरस में भी उत्तरोत्तर चमत्कारजनक होता है।[२] चित्त के विस्ताररूप दीप्तत्व का जनक ओज गुण है जिसकी सत्ता सामान्यतः वीररस में होती है किंतु बीभत्स तथा रौद्र रसों में भी उसका क्रमशः आधिक्य रहता है।[३] प्रसाद गुण का विस्तार उपर्युक्त दोनों गुणों से अधिक है क्योंकि वह समस्त रसों में व्याप्त रहता है। आचार्य मम्मट ने उसका स्पष्टीकरण करते हुए लिखा है कि जिस प्रकार शुष्क ईंधन में अग्नि तथा स्वच्छ धुले हुए वस्त्र में जल की व्याप्ति होती है उसी प्रकार प्रसाद गुण भी सहृदय-जनों के चित्त में व्याप्त रहता है।[४] मम्मट ने वीर और रौद्र आदि उग्र रसों में प्रसाद गुण की व्याप्ति निर्दिष्ट करने के लिए उसे 'शुष्केन्धनाग्निवत्' कहा है तथा शृंगार और करुण आदि कोमल रसों में उसका स्वरूप 'स्वच्छजलवत्' निरूपित किया है। वस्तुतः प्रसादगुण की व्याप्ति के लिए किसी भी प्रकार का आयास नहीं करना पड़ता अतः उसकी व्याप्ति को 'सहसैव' अर्थात् अनायास होने वाली माना गया है। यों तो ये सभी गुण मुख्य रूप से रस के धर्म हैं तथापि गौणी वृत्ति से उनकी स्थिति शब्द और अर्थनिष्ठ भी होती है अतः उपचार से उन्हें शब्द-गुणों और अर्थगुणों के परिवेश में भी व्याख्यात किया जाता है। मम्मट की मान्यता है कि वामन ने शब्द तथा अर्थ की दृष्टि से गुणों के जो बीस भेद (प्रत्येक के दस-दस) निरूपित किये हैं वे केवल संख्या-वृद्धि के लिए हैं क्योंकि उन सब गुणों का अंतर्भाव माधुर्यादि तीन गुणों में सहज ही किया जा सकता है। उन्होंने वामनोक्त दस शब्द-गुणों में से श्लेष, समाधि, उदारता और प्रसाद गुणों को ओज गुण में अंतर्भूत कर लिया है तथा माधुर्य गुण का माधुर्य में ही सन्निवेश। 'अर्थव्यक्ति' गुण प्रसाद में समाविष्ट हो जाता है तथा समता गुण कहीं दोष रूप हो जाता है अतः वह गुण ही नहीं है। सौकुमार्य तथा कांतिगुण वस्तुतः कष्टत्व और ग्राम्यत्व नामक दोषों के ही परिहार रूप हैं अतः अंततोगत्वा केवल तीन गुण ही स्वीकार किये जाने योग्य हैं।

---

१. आह्लादकत्वं माधुर्यं शृंगारे द्रुतिकारणम्।—काव्यप्रकाश, सूत्र, ८९।
२. करुणे विप्रलम्भे तच्छान्ते चातिशयान्वितम्।—वही, सूत्र ९०।
३. दीप्त्यात्मविस्तृतेर्हेतुरोजो वीररसस्थितिः।
बीभत्स-रौद्र रसयोस्तस्याधिक्यं क्रमेण च।—वही, सूत्र ९१-९२।
४. शुष्केन्धनाग्निवत् स्वच्छजलवत्सहसैवयः।
व्याप्नो त्यन्यत् प्रसादो सौ सर्वत्र विहितस्थिति.।—वही, सूत्र ९३।

दस अर्थ-गुणों की अनुपपत्ति

आचार्य मम्मट ने वामनोक्त दस अर्थगुणों की अनुपपत्ति भी विवेचित की है। उनका मत है कि वामन ने जिस अर्थ-प्रौढ़ि को ओज कहा है वह गुण न होकर वैचित्र्य-मात्र है क्योंकि उसके विना भी काव्य-व्यवहार हो सकता है। उनका मत है कि अपुष्टार्थत्व, अधिकपदत्व, अनवीकृतत्व, अमंगलरूप अश्लील तथा ग्राम्यत्व के निराकरण द्वारा साभिप्रायत्व रूप ओज अर्थात् 'ओज' गुण का दूसरा स्वीकृत स्वरूप किया जाना चाहिए। उनके मतानुसार अर्थ वैमल्यरूप 'प्रसाद', उक्तिवैचित्र्यरूप 'माधुर्य', अपारुष्यरूप 'सौकुमार्य' तथा अग्राम्यत्वरूप 'उदारता' नामक गुण वस्तुतः दोषाभाव के अंतर्गत ही समाविष्ट हो जाते हैं। स्वाभावोक्ति अलंकार तथा रसध्वनि और गुणीभूतव्यंग्य द्वारा वस्तु के स्वभाव की स्पष्टतारूप 'अर्थव्यक्ति' तथा दीप्तरसत्वरूप 'कांति' स्वीकृत की जा सकती है। उन्होंने 'क्रम-कौटिल्य' अनुल्वणत्व उपपत्ति योगरूप रचना-स्वरूप श्लेष को विचित्रतामात्र कहा है। अवैषम्यरूप 'समता' तो दोषाभावमात्र है, उसे गुण मानना असमीचीन है। उनका मत है कि 'समाधि' को गुण न मानकर अर्थदृष्टि रूप समझना चाहिए क्योंकि यदि अयोनि (अकारण ही कवि की कल्पना से उद्भूत अर्थ) अथवा अन्यच्छायायोनि अर्थ का दर्शन न हो तो कवि द्वारा काव्य की रचना की ही नहीं जा सकती। अभिप्राय यह है कि समाधि को काव्य का गुण न मानकर काव्य के कारणों (हेतुओं) में स्थान देना चाहिए। इस प्रकार मम्मट के मत से तत्त्वतः केवल तीन गुण ही सिद्ध होते हैं।

तीन गुणों में बीस गुणों का अंतर्भाव सहज है

वामन आदि आचार्यों ने शब्द और अर्थ की दृष्टि से जो बीस काव्य-गुण माने हैं उनमें कुछ गुणों का अंतर्भाव तो माधुर्य, ओज तथा प्रसाद नामक मुख्य गुणों में किया जा सकता है तथा कुछ गुण अलंकारस्वरूप तथा कुछ दोषों के अभावरूप माने जा सकते हैं। आचार्य मम्मट ने उनमें से कुछ गुणों को वैचित्र्य मात्र रूप कहा है तथा कुछ गुणों को दोष-रूप भी माना है। उन गुणों में से श्लेष, उदारता, प्रसाद और समाधि नामक गुण ओजव्यंजक रचनाओं में अंतर्भूत किये जा सकते हैं। कुछ आचार्यों के मत से श्लेष और उदारता नामक गुण अपने सर्वांगीण गाढबन्धत्व के कारण ओजव्यंजक रचनाओं में भले ही गतार्थ कर लिये जायं, किन्तु प्रसाद और समाधि गुणयुक्त रचनाओं में गाढ़ और शिथिल संज्ञक दोनों प्रकार की वृत्तियों का मिश्रण होने से उनका गाढ अंश तो ओज-व्यंजक रचनाओं में अंतर्भुक्त हो भी सकता है यद्यपि उनमें शिथिल अंश के अंतर्भाव की समस्या तो बनी ही रहती है। इस विषय में पंडितराज का परामर्श है कि उनका समावेश माधुर्य अथवा प्रसाद व्यंजक रचनाओं में किया जा सकता है। इसका अभिप्राय यह है कि उपर्युक्त चार गुणों की अतिरिक्त संख्या मानना आवश्यक नहीं है। वामन आदि द्वारा प्रतिपादित माधुर्य गुण का गुणत्व मम्मट आदि द्वारा विवेचित रसनिष्ठ-व्यंग्य और माधुर्यगुण व्यंजक रचना में निरस्त किया जा सकता है। इसी प्रकार सर्वत्र व्यंजक रचना में व्यंग्य शब्द का लाक्षणिक प्रयोग निर्दिष्ट करते हुए आचार्यों ने ओज

गुण का अंतर्भाव ओज व्यंजक रचनाओं में किया है। समता को इस आधार पर गुण नहीं माना जा सकता कि काव्य में समता का सर्वत्र संचार अनुचित है क्योंकि एक ही पद्य में जहां वाच्य उद्धत होता है वहां 'उद्धत रचनेष्टा' तथा जहां वाच्य अनुद्धत होता है वहाँ 'कोमल रचनेष्टा' रहती है जिसके कारण सम्पूर्ण पद्य में एकविधता न होने से मार्गाभेदरूपा 'समता' गुण नहीं हो सकता। ग्राम्यत्व दोष का अभाव कांति तथा श्रुतिकटुत्वरूप कष्टत्व दोष के अभाव का नाम सुकुमारता है। अर्थव्यक्ति नामक गुण में गतार्थ हो जाता है। इस प्रकार दस शब्दगुणों का अंतर्भाव केवल तीन गुणों में करना सहज संभव है।

प्राचीन आचार्यों ने शब्दगुणों की भाँति जो दस अर्थगुण माने हैं उनका भी निरसन तीन गुणों में किया गया है। इस विषय में पंडितराज का मत है कि श्लेष और ओज आदि गुण चतुष्ट्य तो गुण न होकर वैचित्र्यमात्र है अतः उन्हें गुणों के अन्तर्गत नहीं माना जा सकता।[1] उनका यह मत उचित भी है क्योंकि वैचित्र्यमात्र को ही यदि गुण मान लिया जाय तो काव्य के प्रत्येक छन्द में किसी न किसी प्रकार का अर्थ-वैचित्र्य अथवा भाव-वैलक्षण्य होने से गुणों की गणना करना असंभव-सा हो जायगा। वामन ने प्रसाद, माधुर्य, सुकुमारता, उदारता और समता नामक पांच गुणों को क्रमशः अधिकपदत्व, अनवीकृतत्व, अमंगलरूप अश्लीलत्व, ग्राम्यत्व और भग्नप्रकयत्व नामक दोषों का अभाव कहकर उन्हें ओज का ही प्रकार माना है। स्वभावस्फुटत्वात्मिका अर्थव्यक्ति नामक गुण स्वभावोक्ति अलंकार में गतार्थ हो जाता है तथा स्फुटरसत्वरूप कांति गुण रस की प्रधानता होने पर रसध्वनि में अथवा रसवत् अलंकार में गतार्थ हो जाता है। समाधि को गुण न कहकर काव्य का कारण मानना अधिक उचित है क्योंकि उसका स्वरूप आलोचनात्मक माना गया है। वस्तुतः आलोचन एक प्रकार का ज्ञान है जो रस किंवा अर्थ में न रहकर कविनिष्ठ होता है अतः उसे अर्थगुण मानना समुचित नहीं है। यदि समाधि जैसे काव्य के कारण को भी गुण मान लिया जाय तब तो प्रतिभा को भी काव्य का गुण मानना पड़ेगा क्योंकि जिस आधार पर काव्य का कारणभूत समाधि एक अर्थगुण है उसी प्रकार प्रतिभा को भी अर्थगुण कहा जा सकता है।[2] इस प्रकार अंततोगत्वा यही निष्कर्ष निकलता है कि काव्य के जो शब्दार्थगत बीस गुण माने गये हैं वे मम्मट तथा पंडितराज आदि विद्वानों की सम्मति में भी माधुर्य, ओज तथा प्रसाद नामक तीन गुणों में समाविष्ट हो जाते हैं।

निष्कर्ष यह है कि काव्य-सर्जना में 'गुणों' के समाहार का विश्लेषण चाहे उन्हें शब्दनिष्ठ मानकर किया जाय अथवा अर्थोपवृहण की मर्यादा में, किन्तु तत्त्व-दर्शन की बात तो केवल इतनी ही है कि उनकी चरम सिद्धि काव्य की रसचर्वणा में ही है। रस-चर्वणा के व्यापक क्षेत्र में भाव, भावाभास, भावसंधि और भावशबलता आदि समस्त असंलक्ष्यक्रम ध्वनिक्षेपों का अन्तर्भाव स्वतः ही रहता है। रस और शब्दार्थ में व्यंग्य-

१. रसगंगाधर, रसचंद्रिका टीका, पृ० २३२।
२. वही, पृ० २३३।

व्यंजक सम्बन्ध मानने का अभिप्राय केवल इतना ही है कि शब्दार्थ ही रसाभिव्यक्ति के व्यंजक होते हैं। यह एक उल्लेखनीय बात है कि कवि-प्रयुक्त शब्दों की सत्ता लौकिक होते हुए भी उनकी कवि-प्रतिभा-प्रकाशित सत्ता के कारण उनमें 'गुणालंकारों के संस्कार आ जाते हैं जिनसे वे व्यंजनाशक्ति के द्योतक बनकर काव्य-सर्जना की श्रीवृद्धि करते हैं। वस्तुतः शब्दार्थों को रस-रूप में पर्यवसित करने के माध्यम गुणालंकार ही हैं। इसी तथ्य को ध्यान में रखकर आचार्य वामन ने 'गुणालंकारसंस्कृतयोरेव शब्दार्थयोः काव्यशब्दोऽयं प्रवर्तते' की मतप्रतिष्ठा की थी। गुण और अलंकार दोनों शब्दार्थों के धर्म हैं। उनका भेदकतत्त्व इतना ही है कि गुण शब्दार्थों के नित्य धर्म हैं जबकि अलंकार अनित्य धर्म। आचार्य आनन्दवर्धन ने रस तथा शब्दार्थ में जीवशरीर-सम्बन्ध माना है और गुणों को रसाश्रित तथा अलंकारों को शब्दार्थाश्रित कहा है। उन्होंने ध्वनिकारिका ३/३३ की वृत्ति के इस विषय का गम्भीर विवेचन किया है कि रस और शब्दार्थों में धर्मधर्मिसम्बन्ध न मानकर जीव-शरीर-सम्बन्ध क्यों मानना चाहिए? आनन्दर्धन के पूर्व गुणों को शब्दार्थों के साक्षात् धर्म माना जाता था और शब्दों की श्रव्यता तथा असमस्तता आदि को ही माधुर्य कहा जाता था किन्तु आनन्दवर्धन ने उन्हें प्रत्यक्षतः शब्दार्थ सम्बद्ध स्वीकार करना युक्तिसंगत नहीं समझा। उनका मत है कि जिस प्रकार श्रव्यत्व धर्म माधुर्य के लिए आवश्यक है, उसी प्रकार ओज के लिए भी वह परम उपादेय है। वे समासमयी रचना को ओज का साधारण धर्म नहीं मानते क्योंकि अनेक स्थलों पर माधुर्यमयी श्रृंगार-रचना में भी समासयुक्तता उपलब्ध होती है। उनका तो स्पष्ट कहना है कि गुण रसों के धर्म हैं और उन्हें जिस रूप में शब्दार्थ-धर्म कहा जाता है वह उपचारमात्र है। माधुर्य और ओज मूलतः हमारे चित्त की दृति तथा दीप्ति के ही रूप होने के कारण रस-धर्म के रूप में ही सुमान्य सिद्ध होते हैं। उन्हें एक प्रकार से आस्वादरूप चित्तवृत्ति के 'विशेष' कहा जा सकता है। जिस प्रकार माधुर्य गुण का सम्बन्ध श्रृंगार, करुण और शान्त आदि रसों से विशेष रूप से है उसी प्रकार ओज का सम्बन्ध रौद्र और वीर आदि रसों से है। श्रृंगार आदि रसों के आस्वाद के समय काव्यास्वादयिता को चित्तदृति की प्रतीति होती है तो वीरादि रसों के आस्वाद के समय चित्त दीप्ति की अनुभूति। चित्त की निर्विघ्न और प्रसन्न अवस्था का नाम ही 'प्रसाद' है जिसमें काव्य-रसिक का हृदय रससमर्पित हो जाता है। उस अवस्था में तन्मयीभवनक्रम से रसिकजनों का जो हृदय-संवाद होता है उससे प्रसाद गुण की भी रसधर्मता सिद्ध होती है। अभिप्राय यह है कि गुणों को मूलतः आस्वादरूप चित्तवृत्ति के 'विशेष' ही मानना चाहिए क्योंकि काव्य-रसिक सहृदय के ये 'आस्वाद-विशेष' आस्वाद्य रस पर ही उपचरित होकर व्यंजक शब्दार्थों पर उपचरित होते हैं।

काव्य का रूप-विधान और अलंकार-तत्त्व

'अलंकार' शब्द अपने व्यापक अर्थ में काव्य-शोभा अथवा काव्य-सौन्दर्य का वाचक है। प्राचीन आचार्यों के मत में सौन्दर्य ही काव्य-मीमांसा का सारभूत तत्त्व था

जिसके प्रमाण में अनेक उक्तियां उद्धृत की जा सकती हैं। आचार्यों ने काव्य-विवेचना के प्रसंग में चारुत्व, कामनीयक, सौन्दर्य और रमणीयता आदि शब्दों का प्रयोग करते हुए सौन्दर्य-प्रतीति को जिस अर्थ में काव्यात्मतत्त्व के साथ सम्पृक्त किया है, वह अलंकार शब्द की व्याप्ति की व्यंजना है। ध्वन्यालोक में 'शब्दगताश्चारुत्वहेतवः', 'कामनीयकम् अनतिवर्तमानस्य', 'काव्यस्य हि ललितोचितसंनिवेश चारुणः' तथा 'विविधविशिष्टवाच्यवाचक रचनाप्रपंचचारुणः' आदि जो प्रयोग मिलते हैं वे भी अलंकार-प्रयोग के ही अवांतर रूप हैं। अभिनवगुप्त ने 'प्रतिभाविशेष की व्याख्या करते हुए उस सौन्दर्य को काव्य का स्वरूप माना है जो प्रज्ञा-नैर्मल्य के द्वारा प्रतीत होता है। आनन्द-वर्धन ने अनेक स्थलों पर सौन्दर्ययुक्त अर्थप्रतीति को काव्य का आवश्यक घटक माना है जिससे स्पष्ट है कि काव्य में अर्थ-चारुत्व का आतिशय्य होना चाहिए क्योंकि उसके बिना काव्य अभ्यर्थनीय नहीं होता।

अलंकार की 'अलंकरोति इति अलंकारः' व्युत्पत्ति के अनुसार काव्य-शरीर को विभूषित करने वाले अर्थ या तत्त्व का नाम अलंकार है। जिस प्रकार लौकिक रूप में कटक-कुंडल आदि आभूषणों को धारण करने से शरीर की शोभा बढ़ती है, उसी प्रकार काव्य में अनुप्रास और उपमा आदि अलंकारों का प्रयोग करने से काव्य के शब्दार्थों का उत्कर्ष होता है। अलंकारों को काव्य का स्वरूपाधायक या जीवनाधायक तत्त्व मानने की अपेक्षा उत्कर्षाधायक तत्त्व मानना अधिक उपयुक्त है क्योंकि उनके द्वारा अलंकार्यों का केवल उत्कर्ष विधान ही होता है। इसी दृष्टिकोण से आचार्यों ने अलंकारों को काव्य के 'अस्थिर धर्म' माना है और आचार्य मम्मट ने भी काव्य-लक्षण को निर्धारित करते समय 'अनलंकृती पुनः क्वापि' का ही प्रयोग किया है। मम्मट ने काव्यप्रकाश के अष्टम उल्लास में अलंकारों की स्थिति 'हारादिवत्' मानी है[1] जिसकी पुष्टि साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ ने यह कहकर की है कि अलंकार काव्य के अस्थिर धर्म 'अंगदादिवत्' हैं और उनसे रसादि का उपकार होता है।[2] अलंकार के प्रति इस प्रकार का दृष्टिकोण मुख्यतः रसवादी तथा ध्वनिवादी आचार्यों का है क्योंकि अलंकार-वादियों ने तो अलंकारविहीन रचना की कल्पना को भी निरर्थक माना है। भामह ने अलंकारों की प्रतिष्ठा में 'न कान्तमपि निर्भूषं विभाति वनिताननम्' का उल्लेख किया है जबकि चन्द्रालोककार जयदेव ने तो अलंकाररहित काव्य की उपमा उष्णताविहीन अग्नि से दी है।

काव्य-लक्षणों में अलंकारों का अंकुरण अन्तर्निहित है

यहां यह बात उल्लेखनीय है कि भरतमुनि ने नाट्यशास्त्र में जिन लक्षणों का निरूपण किया था वे ही कालांतर में अलंकारों में परिवर्तित होते गये। यद्यपि उस परिवर्तन का एक क्रमबद्ध इतिहास उपलब्ध नहीं है तथापि उन लक्षणों तथा अलंकारों

१. काव्यप्रकाश, ८।२।
२. साहित्यदर्पण, १०।१।

के तुलनात्मक अध्ययन से उनके साम्य का अनुमान सहज ही लगाया जा सकता है। लक्षणों और अलंकारों के साम्य तथा वैषम्य का विशद विवेचन करना हमें यहाँ अभीष्ट नहीं है। हम तो यहाँ पर केवल एक सामान्य संकेत करना चाहते हैं कि भरतमुनि-विवेचित लक्षणों में अलंकारों के भावी विकास का अन्तर्बीज किस प्रकार अनुव्याप्त है। उदाहरणार्थ कहा जा सकता है कि 'शोभा' लक्षण का स्वरूप 'तुल्ययोगिता' अलंकार से मिलता-जुलता है तो 'निरुक्त' लक्षण में 'अर्थान्तरन्यास' अलंकार का बीज अर्न्तनिहित है। इसी प्रकार 'संशय' लक्षण से 'संदेह' अलंकार तथा 'दृष्ट' से 'स्वभावोक्ति' अलंकार की व्युत्पत्ति समझी जा सकती है। 'गुणातिपात' तथा 'गर्हणा' लक्षण का सम्मिलन यदि 'व्याजस्तुति' अलंकार में विद्यमान है तो 'मनोरथ' लक्षण में 'अप्रस्तुतप्रशंसा' तथा 'सूक्ष्म' अलंकार के तत्त्व-कण सन्निहित हैं। इसी प्रकार 'प्राप्ति' से 'काव्यलिंग' 'निदर्शन' से 'निदर्शना', 'मिथ्याध्यवसाय' से 'अपह्नुति', 'प्रसिद्धि' से 'उदात्त', 'प्रतिबोध' से 'आक्षेप', 'अतिशय' से 'अतिशयोक्ति' तथा 'प्रियवचन' से 'प्रेयस' अलंकार का साम्य स्पष्ट किया जा सकता है। आचार्य अभिनवगुप्त ने नाट्यशास्त्र में वर्णित लक्षणों के संग्रह की तो तालिकाएं प्रस्तुत की हैं जिनमें पृथक्-पृथक् रीत्या प्रति तालिका में ३६ लक्षणों का निरूपण हुआ है जिनको द्विगुणित करने से इन काव्यलक्षणों की संख्या ७२ हो जाती है। इनमें १७ लक्षण दोनों तालिकाओं में समनिष्ठ हैं जिनको कम करने से दोनों तालिकाओं में प्रतिपादित लक्षणों की संख्या ५५ रह जाती है। अभिनवगुप्त ने गुरुपरम्परा से प्राप्त तथा उपजाति वृत्त में ग्रथित लक्षणों को मूल माना है तथा उस पर लिखी हुई टीका में अनुष्टुप् छंद की तालिका का स्थान-स्थान पर निर्देश किया है। ताताचार्य ने लक्षणों और अलंकारों की साम्यमूल सूची भी प्रस्तुत की है जिससे इस विषय का सहज ही परिज्ञान हो जाता है कि भारतीय काव्यशास्त्र की परम्परा में भरतमुनिकृत काव्यलक्षणों का भावी विकास किस प्रकार अलंकारशास्त्र के रूप में दृष्टिगोचर हुआ। आचार्य भट्टतौत ने इस विषय में उचित ही कहा है कि 'लक्षणों से अलंकारों में वैचित्र्य सिद्ध होता है'। अभिनवगुप्त के मतानुसार औपम्य का भिन्न-भिन्न लक्षणों से संयोग होने पर उसकी भिन्न-भिन्न सौन्दर्य-सुषमाएं ही विविध अलंकारों के उद्भव का कारण बनती हैं।[1] लक्षणों का अलंकारों की ओर इस प्रकार का प्रयाण भारतीय काव्यशास्त्र में निरूपित काव्य-चर्चा का एक प्रमुख सोपान समझा जाना चाहिए।

काव्यलक्षणों और काव्यालंकारों में सहज सम्बन्ध है

नाट्यशास्त्र-वर्णित काव्यलक्षण एक प्रकार से 'काव्यविभूषण' अथवा 'भूषण-संमित' हैं। अलंकार के स्वरूप-विश्लेषण के साथ उनका सहज सम्बन्ध अन्वेषित किया जा सकता है। भरतमुनि ने निंदोपमा तथा प्रशंसोपमा आदि उपमा-भेदों को लक्षणकृत माना है और अन्य अलंकारों को भी लक्षणानुक्रम से समझने का निर्देश किया है। आचार्य

१. अभिनवगुप्त, अभिनवभारती, २।३२६।

अभिनवगुप्त का मत है कि ऐसे उपमा-भेदों का मूलकारण 'तद्गतशरीरभेद' है जो एक प्रकार से शरीरलक्षण ही है। यदि लक्षणमुख से अलंकार-भेद करने का सूत्र सुचारुरूपेण समझ लिया जाय तो अलंकारप्रपंच का विस्तार करने में कोई विशेष कठिनाई नहीं हो सकती। भरतमुनि ने औपम्यमूलक तीन अर्थालंकारों (उपमा, रूपक तथा दीपक) में छत्तीस लक्षणों का संयोग-वैचित्र्य निरूपित कर तज्जन्य शतसहस्र अलंकारों की परिकल्पना की है। उनके मतानुसार 'भूषण' नामक लक्षण का स्वरूप ही मूलतः गुणालंकारों के उचित सन्निवेश के रूप का है तो 'गुणानुवाद' नामक लक्षण को एक प्रकार की उपमा ही कहा जा सकता है। दण्डी आदि आचार्यों ने उपमा का जो भेद-विस्तार किया है उसका भेदक अंश लक्षण ही है। निश्चय ही प्रारम्भिक काव्यचर्चा 'लक्षणमुख' होती थी जिसके कारण काव्यालोचन को 'काव्यालंकार' के पूर्व 'काव्यलक्षण' तथा उसके विवेचकों को 'काव्यलक्षणकारी' तथा 'काव्यलक्षणविधायी' कहा जाता था। ऐसा प्रतीत होता है कि भरतमुनि द्वारा जिस लक्षणसम्मत अलंकार-चक्र का प्रवर्तन किया गया था वह क्रमशः विकसित होता हुआ कालांतर में ऐसी स्थिति में पहुंचा जिससे अनेक प्रकार के स्वतंत्र अलंकारों का समुद्भव संभव हो सका। उन अलंकारचक्रों में अनेक अलंकार लक्षण समाविष्ट थे जिनके वैचित्र्य पर उनका विकल्पन हुआ था। अलंकारों का वह आख्यान प्रारम्भ में न तो अधिक जटिल था और न विवादास्पद ही, किंतु शनैः-शनैः शास्त्रचर्चा के विकास ने उसमें भी मत-वैभिन्न्य उत्पन्न कर दिया। उदाहरणार्थ भामह और दण्डी के पूर्व हेतु, मनोरथ, लेश और आशी लक्षणों से उन्हीं की अभिधा वाले जो अलंकार प्रवर्तित हुए, वे परवर्ती काल में मान्य नहीं समझे गये और आचार्यों ने भिन्न-भिन्न दृष्टियों से अलंकारों का वर्ग-विभाजन कर उनके लक्षण तथा उदाहरण प्रस्तुत किये। अलंकारों का यह प्रसार नाट्य के संध्यंग तथा वृत्यंग पर भी आधारित था, जिसका परिज्ञान आचार्य दण्डी के काव्यादर्श से किया जा सकता है। कहने की आवश्यकता नहीं कि जिस प्रकार युग-परिस्थिति में लक्षणों से अलंकारों के विकास का क्रम उपस्थित किया था उसी प्रकार लक्ष्य ग्रंथों ने शास्त्र-ग्रंथों की विवेच्य सामग्री को भी नवीन दिशा प्रदान की थी। इसका एक प्रमाण तो यही है कि काव्य-साहित्य की परिवर्तित विधाओं में सर्गबंध महाकाव्य सर्वसंग्राहक बना जिसकी महत्ता के सम्मुख नाटक आदि का महत्त्व गौण होता गया।

'काव्य-लक्षण' और 'काव्यालंकार' में अवांतर अर्थ-भेद

प्रश्न होता है कि क्या लक्षणों के नामांतर ही अलंकार हैं अथवा उनमें अवांतर अर्थ-भेद भी है। इसका व्यावहारिक उत्तर तो यही है कि जब एक ही अर्थ के वाचक दो पर्यायवाची शब्दों में भी किसी न किसी प्रकार का सूक्ष्म अन्तर अन्वेषित किया जा सकता है तो लक्षणों और अलंकारों की एकरूपता कैसे स्वीकार्य समझी जा सकती है? काव्य-लक्षणों के सर्वप्रथम निरूपक आचार्य भरतमुनि ने भी अलंकारों के साथ उनका विभेद स्वीकार किया है। यह एक ऐसा मौलिक प्रश्न है जिसको साधारण समझकर उपेक्षित नहीं किया जा सकता। इस विषय में आचार्य अभिनवगुप्त का मत उल्लेखनीय

है। उन्होंने गुण तथा अलंकारों को शब्दार्थ से सम्बद्ध सिद्ध करते हुए लक्षण का सम्बन्ध पूर्णरूपेण कवि-व्यापार से जोड़ा है। उनका कथन है कि कवि के प्रयत्न से काव्य में शब्दार्थों द्वारा वैचित्र्य आता है किंतु जिस प्रयत्न से उस वैचित्र्य की संसिद्धि होती है, उसी का नाम 'लक्षण' है।[1] वस्तुतः कवि-कर्म का ही नाम काव्य है अतः उस कर्म की सफलता का श्रेय केवल कवि-कृत प्रयत्न व्यापार को ही प्रदान किया जाना चाहिए। आचार्य अभिनवगुप्त ने काव्य-गुण, काव्य-लक्षण तथा काव्यालंकार का अंतर एक अत्यन्त व्यावहारिक उदाहरण से स्पष्ट किया है। उनका कथन है कि 'सामान्यतया पुष्टता अथवा पीवरत्व एक गुण है किंतु वह गुण यदि स्तनों में हो तो वह स्तनों का लक्षण है किंतु कटिप्रदेश में हो तो वह उसका कुलक्षण हो जाता है। इसी प्रकार किसी एक प्रकार से कही जाने वाली वस्तु यदि उसी पदार्थक्रम से रसोचित विभाव के रूप में प्रकट हो तो वह लक्षण होता है अन्यथा वह कुलक्षण पद का अधिकारी तो है ही। यही कारण है कि गुण और अलंकार अलक्षणसमुदाय से भिन्न है क्योंकि लक्षण का सम्बन्ध जितना अधिक औचित्य के साथ प्रतीत होता है उतना गुण और अलंकार के साथ नहीं।[2] सच तो यह है कि किसी काव्यकृति में शब्द, अर्थ, गुण तथा अलंकार की जो संघटना होती है, उसी से काव्य-लक्षण का निर्धारण किया जाता है। अभिनवगुप्त ने लक्षण का विवेचन करते हुए 'परमौचित्यख्यापने प्रयोजनं' द्वारा यह तथ्य उद्घाटित किया है कि काव्य में औचित्य का ख्यापन ही लक्षण का प्रयोजन है। यह काव्य-लक्षण का ही प्रताप है कि 'कवि व्यापार के बल से लौकिक वस्तु भी अलौकिक स्वभाव से काव्य-रूप में प्रकट होती है। लक्षण ही शब्दार्थमय काव्य-शरीर है और उसे अलंकारों का अनुग्राहक भी कहा जा सकता है।[3]

'काव्य-लक्षण' का पुनराख्यान

आचार्य अभिनवगुप्त ने नाट्यशास्त्र के 'काव्य-लक्षण' को ध्यान में रखकर उसका पुनराख्यान-सा किया है। उन्होंने लक्षण को ही शब्दार्थमय काव्य-शरीर कहकर अलंकार को उसकी सौन्दर्य-वृद्धि का साधन माना है। उनका मत है कि जिस प्रकार पृथग्भूत हार से रमणी विभूषित होती है, उसी प्रकार चन्द्र आदि पृथक्-सिद्ध उपमानों से रमणी के मुख आदि का सौंदर्यातिशय प्रतीत होता है। यों तो रमणी का मुख और उसका उपमान चंद्र—ये दोनों पृथक्-सिद्ध और लौकिक वस्तुएं हैं किन्तु उनकी लौकिक

---

१. ...इदं अनेन शब्देन, अनया इतिकर्तव्यतया, अमुना आशयेन, इत्थं बुद्धिजननायब्रुवे, इति कविः प्रयतते। स तथा भूतं रसवत् काव्यं विधत्ते। तत्र चित्रवृत्यात्मकं रसं लक्षयत् तद्रसोचित विभावात् वैचित्र्यसंपादकः त्रिविधोऽभिधा व्यापारः लक्षणशब्देन उच्यते।

२. यथा पीवरत्वं स्तनयोर्लक्षणं मध्यस्य च कुलक्षणं, एवं किंचिदभिधीयमानं केनचिद्रूपेण रसोचित-विभावादिरूपेण तमेव पदार्थक्रमं लक्षयत् लक्षणं, अन्यथा कुलक्षणं। तेन सर्वे अलंकारा गुणाः च तत्समुदायात् विलक्षणा भवंति।

३. एवं कविव्यापारबलात् यदर्थजातं लौकिकात् स्वभावात् विद्यमानं तदैव लक्षणमित्युक्तम्।
—काव्ये तावल्लक्षणं शरीरम्।

सृष्टि में भी कवि की प्रतिभा एक ऐसा सादृश्य देखती है जिसके द्वारा वे दोनों वस्तुएं परिवर्तित-सी होकर उपमेयोपमान भाव के विचित्र सम्बन्ध से अभिव्यक्त हो जाती हैं जिनसे उनके सौन्दर्य की संवृद्धि हो जाती है। वस्तुतः काव्य में वर्णनीय वनितावदन आदि की सौन्दर्याभिवृद्धि का एकमात्र कारण कवि की प्रतिभा ही है जिसके द्वारा वह लोकोत्तर सृष्टि करने में समर्थ होता है। अभिनवगुप्त ने 'कवि-व्यापार' को ही 'लक्षण' कहकर उसे एक प्रकार से 'कवि-प्रतिभा के शब्दार्थमय आविर्भाव के रूप में विवेचित किया है जिससे स्पष्ट होता है कि 'लक्षण' द्वारा ही काव्य-सृष्टि में सौन्दर्य-वृद्धि होती है और उसी के द्वारा काव्य के अलंकार भी सार्थक बनते हैं। इस विषय में आचार्य अभिनवगुप्त ने उचित ही कहा है कि यों तो पार्थिव व्यवहार में सादृश्य, अभेद, अध्य-वसाय और विरोध आदि अनेक प्रकार के लौकिक सम्बन्ध प्रदर्शित होते हैं किंतु अपनी बाह्यरूपता में उन्हें काव्यालंकारों का प्रशस्त गौरव प्रदान नहीं किया जा सकता क्योंकि यदि ऐसा होता तो 'गौरिव गवयः' में उपमा तथा 'स्थाणुर्वा पुरुषो वा' में संदेह अलंकार हो जाते। वस्तुतः इस प्रकार के कथन तो लौकिक सम्बन्ध मात्र हैं किन्तु जब इन लौकिक सम्बन्धों के रूप में अधिष्ठानभूत कविव्यापार या लक्षण प्रतीत होता है तभी उसे काव्यालंकारत्व की गरिमा प्राप्त होती है। इस प्रकार आचार्य अभिनव ने 'काव्यबंधेषु काव्यलक्षणेषु सत्सु' द्वारा उस हेतु का निरूपण किया है जो प्रत्येक अलंकार के मूल में अनुस्यूत है। उनके इसी विचार की प्रतिध्वनि हमें परवर्ती आचार्यों द्वारा निरूपित 'वैचित्र्य सति' पद में मिलती है जिस अभाव में काव्यालंकारों का प्रयोजन सिद्ध हो ही नहीं सकता।

भामह का दृष्टिकोण

भामह ने अलंकारों का निरूपण जितनी अधिक व्यापकता से किया है, उस समता में गुण-विवेचन नगण्य-सा है। उन्होंने अनुप्रास, यमक, रूपक, दीपक और उपमा नामक पांच अलंकारों को वाणी के सौन्दर्य कहा है और अपने विवेचनक्रम में शब्दालंकारों को प्राथमिकता दी है जिसका कारण उनकी व्यक्तिगत अभिरुचि या शब्दालंकारों की संवर्धनशीलता ही है। यहां एक उल्लेखनीय बात यह है कि भरतमुनि के समय में 'अनुप्रास' अलंकार की काव्यगत प्रतिष्ठा नहीं हुई थी, किन्तु भामह ने अनुप्रास को 'सरूपवर्ण-विन्यास' कहकर उनका गौरव परिवर्द्धित कर दिया। वे शब्दालंकारों के भेद-प्रभेद-निरूपण की ओर भी आकृष्ट थे तभी तो उन्होंने अनुप्रास और यमक का विश्लेषण पूर्ववर्ती आचार्यों की अपेक्षा व्यापक रूप में किया। कहने की आवश्यकता नहीं कि भामह का प्रतिपादन कुछ विशिष्ट प्रकार का था जिसका अनुगमन करने का विशेष प्रयास परवर्ती आचार्यों ने नहीं किया। चूंकि भामह का युग अलंकार-विवेचन का किशोर-काल था अतः उसमें अभीष्ट प्रौढ़ता की न्यूनता भी थी। उस विश्लेषण में वैज्ञानिक क्रमबद्धता का भी अनुसरण नहीं है जिसका एक प्रमाण तो यह है कि भामह अलंकार-विश्लेषण करते-करते दोष-विवेचन की ओर प्रवृत्त हो जाते हैं जिनका तारतम्य अन्वेषित करने में कठिनाई उपस्थित होती है। उनका इस प्रकार का दोष-निरूपण अलंकार-

विवेचन से सम्बद्ध अवश्य है, किन्तु उसकी अनेक प्रकार की विसंगतियाँ भी अस्पष्ट नहीं रहतीं। ऐसा प्रतीत होता है कि कुछ स्थलों पर भामह अलंकारों और दोषों के पारस्परिक सम्बद्ध के विषय में सुनिश्चित धारणा नहीं बना सके थे जिसके कारण वे अपनी मान्यताओं को स्पष्ट रूप नहीं प्रदान कर सके। इसके लिए उनको अधिक दोष भी नहीं दिया जा सकता क्योंकि उनका समय काव्य-विवेचना का पौगण्डकाल ही था। उन्होंने अलंकार-विवेचन के अन्तर्गत अलंकारों का पारस्परिक साम्य और वैषम्य भी निरूपित किया है जिससे उनकी तुलनात्मक दृष्टि का आभास मिलता है। यह तुलनात्मक दृष्टिकोण कहीं-कहीं तो काव्यस्वरूप के निर्धारण में अत्यधिक उपादेय सिद्ध हुआ है जिसका विस्तार परवर्ती आचार्यों द्वारा विशेष रूप से किया गया। उदाहरणार्थ हम अतिशयोक्ति और वक्रोक्ति अलंकारों को ले सकते हैं जो अलंकार-रूप में विवेचित होने पर भी अपनी सामान्य सत्ता भी रखते हैं। उनका अतिशयोक्ति-विवेचन अलंकार-विशेष का ही निर्देशक नहीं अपितु काव्यमात्र का रहस्योद्घाटक है। भामह का अभिमत है कि समस्त अलंकारों के मूल में अतिशयोक्ति वर्तमान रहती है क्योंकि उसके द्वारा वाणी में चमत्कार आता है। अतिशयोक्ति की महत्ता का इससे अधिक और क्या प्रमाण हो सकता है कि आलंकारिकों के एक वर्ग ने अतिशयोक्ति और स्वभावोक्ति को अलंकार-विशेष ही न मानकर उन्हें काव्य के दो प्रमुख भेदों के रूप में निरूपित किया। भामह के अनुसार अतिशयोक्ति ही समग्र वक्रोक्ति है जिसके कारण अर्थ में रमणीयता आती है और जिसके बिना कोई भी अलंकार संभव नहीं है।[1] भामह ने जिस रूप में अतिशयोक्ति की प्रतिष्ठा की है वह अत्यंत गरिमामयी है। उसकी गुरुता का अनुभव करते हुए समस्त कवियों को अपनी रचना-कला में प्रयास-तत्पर होना चाहिए। आचार्य आनन्दवर्धन ने 'प्रथमं तावदतिशयोक्तिगर्भता सर्वालंकारेषु शक्यक्रिया। कृतैव च सा महाकविभिः कामपि काव्यच्छायां पुष्यतीति' लिखकर अतिशयोक्ति को समस्त अलंकारगत सामर्थ्य ध्वनित किया है तो काव्यप्रकाशकार मम्मट ने उसे 'सर्वत्र एवंविध विषयेऽतिशयोक्तिरेव प्राणत्वेनावतिष्ठते तां विना प्रायेणालंकार त्वायोगात्' द्वारा कुछ स्थलों पर तो अतिशयोक्ति को काव्य का प्राणतत्व मान लिया है। भामह का तो स्पष्ट निर्णय है कि अतिशयोक्ति के अभाव में काव्य की रचना इतनी चमत्कारहीन हो जाती है कि उसे काव्य न कहकर वार्ता कहना ही समीचीन प्रतीत होता है।[2] कहने की आवश्यकता नहीं कि आचार्य दण्डी ने भी इस विषय में भामह की वाणी को ही प्रतिध्वनित किया था।[3]

भामह के अलंकार-विवेचन के अन्तर्गत 'स्वभावोक्ति' का भी अलंकारत्व निरूपित करना आवश्यक है क्योंकि उसे अलंकार-सिद्धान्त में विवेचित किया जाय

---

१. सैषा सर्वैव वक्रोक्तिरनयार्थो विभाव्यते।
यत्नोऽस्यां कविना कार्यः काऽलंकारोऽनया विना।—काव्यालंकार, २।८५

२. गतोऽस्तमर्को भातीन्दुर्यान्ति वासाय पक्षिणः।
इत्येवमादि किं काव्यं वार्तामेनां प्रचक्षते॥—वही, २।८७।

३. गतोऽस्तमर्को भातीन्दुर्यान्ति वासाय पक्षिणः।
इतीदमपि साध्वेव कालावस्था निवेदने॥—काव्यादर्श, २।२४४।

अथवा रस-सिद्धांत में, यह भी एक अत्यन्त विचारणीय विषय रहा है। ऐसा प्रतीत होता है कि भामह स्वभावोक्ति को अलंकार रूप में स्वीकार नहीं करते थे और उनके मतानुसार काव्य-वर्णना में स्वभावोक्ति को एक प्रकार की नैसर्गिक क्रिया के रूप में स्थान मिलना चाहिए।[१] इसी प्रकार उन्होंने वक्रोक्ति को अलंकारमात्र न मानकर वाणी की सौन्दर्य-वृद्धि का आवश्यक तत्त्व माना। उनका तो स्पष्ट कहना था कि समृद्धि के वर्णन से वाणी में अलंकारिता नहीं आती अपितु वाणी के सौन्दर्य के लिए वक्रोक्ति अपेक्षित है। वस्तुतः मणियों से आभूषण की, वृक्षों से उपवन की और पुष्पों से माला की शोभा बढ़ती है, वाणी की नहीं। वाणी की शोभा तो शब्द और अर्थ की वक्रता से बढ़ती है अतः कवि को इन बाह्य उपादानों के संचयन में व्यस्त न होकर काव्य के निष्पादक वक्रोक्ति-तत्त्व पर ध्यान देना चाहिए।[२] उनके अलंकार-विश्लेषण की एक विशेषता यह भी है कि उन्होंने अपनी निजी रचना-शैली द्वारा अलंकारों के जो लक्षण निर्धारित किये उनमें 'विस्तार' की अपेक्षा 'संक्षेप' ही अधिक है। उन्हें अलंकारों के भेदोपभेदों का वैसा पृथुल विस्तार अभीष्ट नहीं था जैसा कि परवर्ती आचार्य दण्डी के काव्यादर्श में विवेचित हुआ है। इससे यह अभिप्राय नहीं कि भामह को अलंकारों के भेदोपभेदों की अभिज्ञता नहीं थी। सच तो यह है कि वे अलंकार-विस्तार से सुपरिचित थे किंतु उन्होंने यथारुचि उन्हीं अलंकारों की विवेचना की जो अत्यधिक आवश्यक प्रतीत हुए। उनकी विवेचना की एक अन्य विशेषता यह भी है कि उन्होंने अलंकारों के उदाहरण अन्य कवियों की रचनाओं से उद्धृत न कर उनका स्वयं निर्माण किया है।

दण्डी की मान्यता

आचार्य दण्डी ने 'इष्टार्थव्यवच्छिन्ना पदावली' को काव्य-शरीर से अभिहित कर उसके शोभाकारक धर्मों को अलंकारों की अभिधा प्रदान की है।[३] अलंकारों का समग्ररूप से वर्णन करना सम्भव नहीं है क्योंकि उनका निर्माण और उद्भावन विविध कल्पनाओं से सम्बद्ध होने के कारण किसी प्रकार की सीमारेखा में समाहित नहीं हो सकता। दण्डी की भाँति ध्वनिकार ने भी अलंकारों की संख्यावधि स्वीकार नहीं की है। उनके मतानुसार सहस्रों महात्माओं और मेधावी कवियों ने प्रस्तुताप्रस्तुत-योजना द्वारा जो कल्पना-चमत्कार प्रदर्शित किये हैं, उनके विविध प्रकारों में अनेकानेक अलंकार प्रकाशित किये जा चुके हैं और किये जायेंगे। कालांतर में भले ही अलंकारों का आनंत्य होता गया, किंतु उनके विकल्पों का सामान्यमूलक बीज भरत आदि प्राचीन आचार्यों द्वारा समारोपित किया जा चुका था।

आचार्य दण्डी ने अलंकारों को काव्य के शोभाकारक धर्म कहकर उनकी असंख्येय

१. स्वभावोक्तिरलंकार इति केचित् प्रचक्षते।
अर्थस्य तदवस्थत्वं स्वभावोऽभिहितोतथा।—काव्यालंकार, २।९३।

२. भामह, काव्यालंकार ५।६४-६६।

३. काव्यशोभाकरान् धर्मानलंकारान् प्रचक्षते।
ते चाद्यापि विकल्प्यन्ते कस्तान् कार्त्स्न्येन वक्ष्यति॥—काव्यादर्श, २।१।

सत्ता स्वीकार की है जिसका तात्पर्य यह है कि उनका समग्र भाव से वर्णन नहीं किया जा सकता। वस्तुतः अलंकारों के निर्माण के मूल में विविध कल्पनाओं और नवीन उद्‌भावनाओं की प्रेरणा होती है जिनकी अनंतता के कारण अलंकारों की भी कोई इयत्ता नहीं हो सकती। ध्वन्यालोककार आनंदवर्धन भी इस प्रकार के तत्त्व से सुपरिचित थे अतः उन्होंने भी 'सहस्रशो हि महात्मभिरन्यैरलंकारप्रकाराः प्रकाशिताः प्रकाश्यन्ते च' लिखकर यही सत्य प्रतिष्ठित किया है कि अलंकारों को सीमाबद्ध करना संभव नहीं है। अलंकारों के विकल्पों का बीज भरत आदि आचार्यों ने प्रदर्शित किया है जिसको आधार बनाकर परवर्ती आचार्यों ने उनका प्रस्तार करने की चेष्टा की है। आचार्य दण्डी भी इस प्रकार के तथ्य से अभिज्ञ थे, अतः उन्होंने भी अपने 'काव्यादर्श' की रचना का प्रयोजन भरतादि आचार्यों द्वारा प्रतिपादित अलंकार-बीजों का सम्यक्‌रीत्या स्फुटीकरण निर्दिष्ट किया है। दण्डी ने पूर्वाचार्यों द्वारा विवेचित पैंतीस अलंकारों का उल्लेख[1] कर बतलाया है कि यद्यपि वे अलंकार अर्थगत हैं तथापि वे वाणी अर्थात् शब्द के अलंकार भी कहे जाते हैं क्योंकि वैयाकरणों के मतानुसार शब्द और अर्थ में तादात्म्य या अभेद मानना युक्तिसंगत है।

अलंकार-प्रयोग में ग्राम्याग्राम्यता का विचार

यों तो काव्य में अनुप्रासादि अलंकारों का प्रयोग करने से उसके वाग्विलास में माधुर्यादि गुणों का संचार होता है, किंतु सर्वत्र यही स्थिति नहीं रहती। बात यह है कि अलंकारों में शब्दार्थगत चमत्कारोद्‌भव की शक्ति होने के कारण वे रसोद्रेक में भी 'यथानुपातविधिना' सहायक बनते हैं, किंतु ज्यों ही उनमें ग्राम्यता दोष का संचार होता है, वे न तो रसपोषक ही रह पाते हैं और न माधुर्यादिगुण व्यंजक ही। इसका यह अभिप्राय नहीं कि ग्राम्यता सर्वत्र त्याज्य है। वस्तुतः ग्राम्यता के भी अनेक पक्ष और रूप हैं जिनका देशकाल और पात्र की दृष्टि से विचार करने के पश्चात् ही इस विषय का निर्णय किया जा सकता है कि वह किस स्थल पर अवैदग्ध्य की व्यंजक है तथा किस स्थान पर उसमें अश्लीलत्व अथवा असभ्यार्थनिबंधन हुआ है। दण्डी का मत है कि ग्राम्यता और अग्राम्यता का निर्णय अनेक बार प्रयोग-पद्धति पर भी निर्भर है। उन्होंने एक ही आशय के व्यंजक दो वाक्यों को[2] लेकर स्पष्ट किया है कि प्रथम उदाहरण में 'कन्या' पद के प्रयोग द्वारा किया गया रति-निवेदन विदग्धजनों के हृदय में लज्जोत्पादक होने से रसास्वाद का वैमुख्यजनक अथवा वैरस्यपूर्ण है जबकि द्वितीय उदाहरण में वामाक्षि' पद से सम्बोधित कामिनी के प्रति किया गया किसी प्रेमी का रति-निवेदन सभ्यजन व्यवहार्य अर्थ का सूचक और विप्रलम्भ शृंगार का पोषक है, अतः उसमें रसवहन

---

१. दण्डी, काव्यादर्श, २।४-७।

२. (अ) कन्ये कामयमानं त्वां न त्वं कामयसे कथम्।
इति ग्राम्यो यमर्थात्मा वैरस्याय प्रकल्पते।।

(आ) कामं कंदर्पचाण्डालो मयि वामाक्षि निर्दयः।
त्वयि निर्मत्सरो दिष्ट्येत्य ग्राम्योऽर्थो रसावहः।।—दण्डी, काव्यादर्श, १।६३-६४।

की शक्ति होने के कारण वह ग्राम्यता दोष से विहीन है। अभिप्राय यह है कि काव्यगत रससंसिद्धि के लिए किये गये अलकार-प्रयोग में ग्राम्यता और अग्राम्यता का विमर्श करना भी आवश्यक है। जिसे ध्यान में रखकर आचार्य दण्डी ने लिखा है—

कामं सर्वोऽप्यलंकारो रसमर्थे निषिचतु।
तथाप्यग्राम्यतैवैनं भारं वहित भूयसा ।।[1]

महिमभट्ट का अभिमत

महिमभट्ट ने भी कवि की काव्यक्रिया का आरम्भ अलंकार-निष्पत्ति के लिए न मानकर अर्थ की सौन्दर्यातिरेकमयी निष्पत्ति के लिए माना है। उनका मत है कि कवि की सर्जना में अलंकार का आगमन तो स्वत: ही हो जाता है क्योंकि जब उसे अपने कथन में भंगीभणिति का प्रयोग करना होता है तो वह भंगीभणिति अपने भेदोपभेदों के वैचित्र्य में अलंकारों के बिना नहीं चल सकती।[2] वास्तव में काव्य का प्रयोजनीय रस-निष्पत्ति है न कि अलकार निष्पत्ति, क्योंकि अलंकार तो रस-निष्पत्ति से संलग्न होकर स्वत: ही निष्पन्न हो जाते हैं। रस की समता में अलंकारों की स्थिति अप्रधान है जिसका एक कारण यह भी है कि विभाव आदि ही रस के अंग बनकर उसे साक्षात् रूप से निष्पन्न करते हैं जबकि अलंकारों की सत्ता तो उसकी समता में आश्रित ही रहती है। प्रधान अलंकारों का प्रयोजन तो केवल इतना ही है कि वे रस की विचित्र ढंग से कथन-पुष्टि मात्र करने में समर्थ हो सकें। रससिद्ध कवि अपनी रचनाओं के चमत्कार का चारुत्व प्रतिष्ठित करने के लिए ही अलंकार का यथाप्रसंग ग्रहण तथा त्याग करते चलते हैं। इस विषय में ध्वनिकार का भी कथन है कि यों तो महाकवियों' की वाणी अलंकारमयी ही होती है तथापि उसकी वास्तविक शोभा इस बात में है कि वह प्रतीय-मान अर्थ की छाया उसी प्रकार उपस्थित करे जिस प्रकार रमणियों में उनकी लज्जा करती है।[3]

अलंकार-चक्र के भेद-प्रभेद

शब्द और अर्थ को लक्ष्य बनाकर आचार्यों ने विविध दृष्टियों से अलंकार-चक्र के भेदोपभेदों का अनंत विस्तार किया है जिनकी तत्त्वमीमांसा एक स्वतंत्र शोध-कृति का विवेच्य विषय बन सकती है। उनके ऊहापोह के वात्याचक्र में उलझने पर हमारे

---

१. दण्डी, काव्यादर्श, १।६२।

२. किंच सौन्दर्यातिरेक निष्पत्तयेऽर्थस्य काव्यक्रियारम्भः कवेः, न त्वलंकारनिष्पत्तये, तेषां नांतरीयकतयैव निष्पत्तिसिद्धेः भंगिभणिति भेदानामेवालंकारत्वोपगमात्। यथा हि—

न चालंकार निष्पत्यै रसबंधोद्यतः कवि
यतते ते हि तत्सिद्धिनांतरीयक सिद्धयः।—व्यक्तिविवेक, पृ० ३९।

३. मुख्या महाकवि गिरामलंकृति भृतामपि।
प्रतीयमान च्छायैव भूषा लज्जैव योषिताम् ॥—ध्वन्यालोक, तृतीय उद्योत।

प्रतिपाद्य शोध-विषय के अंगीरूप में अनौचित्य तथा दोष आना सम्भव है, अतः हम केवल आचार्य रुद्रट का ही अलंकार-वर्गीकरण विषय मतोल्लेख करना पर्याप्त समझते हैं जिससे यह अनुमान हो सके कि अलंकारों के वर्गीकरण में किस प्रकार नवोन्मेष होने लगा था। आचार्य रुद्रट (नवम शतक का प्रारम्भ) ने अलंकारों का वर्गीकरण करने में निश्चय ही अपनी नवीन दृष्टि का परिचय दिया है। उन्होंने 'वास्तव', 'औपम्य', अतिशय' और 'श्लेष' नाम से चार प्रकार के अर्थालंकार मानकर उनके लक्षण और उदाहरण विवेचित किये हैं। वस्तु के स्वरूप-वर्णन करने वाले को 'वास्तव' कहकर उन्होंने उसे अर्थ का पुष्टिकारक, विपरीत परिस्थिति का निरोधक तथा उपमा, अतिशय एवं श्लेष आदि से भिन्न माना है।[1] इस वर्ग के अलंकारों के तेईस भेद हैं जिन्हें रुद्रट ने सहोक्ति, समुच्चय, जाति, यथासंख्य, भाव, पर्याय, विषम, अनुमान, दीपक, परिकर, परिवृत्ति, परिसंख्या, हेतु, कारणमाला, व्यतिरेक, अन्योन्य, उत्तर, सार, सूक्ष्म, लेश, अवसर, मीलित और एकावली संज्ञाओं से व्याख्यात किया है। 'औपम्य' अलंकारों की परिभाषा देते हुए उन्होंने लिखा है कि उनमें वक्ता, किसी वस्तु प्रतिपादन करने के लिए उसके समान अन्य वस्तु का वर्णन करता है।[2] इस वर्ग के इक्कीस अलंकार हैं जिनके नाम उपमा, उत्प्रेक्षा, रूपक, अपह्नुति, संशय, समासोक्ति, मत, उत्तर, अन्योक्ति, प्रतीप, अर्थान्तरन्यास, उभयन्यास, भ्रान्तिमान, आक्षेप, प्रत्यनीक, दृष्टांत, पूर्व, सहोक्ति, समुचय, साम्य और स्मरण हैं। अतिशय श्रेणी के अलंकारों में किसी अर्थ और धर्म का नियम प्रसिद्धि के बाध से लोकसीमा का उल्लंघन करके अन्यथा स्वरूप को प्राप्त कर लेता है।[3] इस वर्ग के अलंकारों में पूर्व, विशेष, उत्प्रेक्षा, विभावना, तद्गुण, अधिक, विरोध, विषम, असंगति, पिरित, व्याघात और अहेतु नामक बारह प्रकार के अलंकार परिगणित किये गये हैं। श्लेष वर्ग के अन्तर्गत अविशेष, विरोध, अधिक, वक्र, व्याज, उक्ति, असम्भव, अवयव, तत्त्व और विरोधाभास नामक दस प्रकार के शुद्ध श्लेषों का वर्णन कर उन सब की स्थिति इस बात में मानी है कि वे अनेकार्थक पदों से एक ही वाक्य में अनेक अर्थों का बोध कराते हैं।[4]

ऐसा प्रतीत होता है कि अलंकारशास्त्र के विकास के साथ ही साथ अलंकारों की भी संख्या-वृद्धि होती गई है। आचार्य भरतमुनि ने अपने नाट्यशास्त्र के अंतर्गत उपमा, रूपक, दीपक और यमक नामक केवल चार अलंकार ही माने थे जबकि वामन ने उसकी संख्या तैंतीस तक पहुंचा दी। आचार्य दण्डी, भामह और उद्भट ने अपने अलंकार-ग्रंथों में अलंकारों के क्रमशः ३५, ३९ और ४० भेद माने हैं। रुद्रट ने उनकी संख्या ५२ तथा मम्मट ने उनकी संख्या ६७ निर्धारित की है। चन्द्रालोक में एक सौ अलंकारों का निरूपण हुआ है तो कुवलयानंद में १२४ अलंकारों का। 'काव्यप्रकाश' में छः शब्दालंकार, इकसठ अर्थालंकार और एक उभयालंकार, इस प्रकार कुल मिलाकर ६८

१. काव्यालंकार, ७।१०।
२. वही, ८।२।
३. वही, ९।१।
४. वही, १०।१-२।

अलंकारों का विवेचन हुआ है। 'काव्यप्रकाश' और 'अलंकारसर्वस्व' की अलंकार-विवेचना पर्याप्त साम्य रखती है। इन अलंकारों का विस्तृत विवेचन करना हमें अभीष्ट नहीं है अतः हमने यहाँ केवल उनका संकेत मात्र करना ही पर्याप्त समझा है।

अलंकार-प्रयोग का सौष्ठव

प्रतिभा-सम्पन्न कवियों की कृतियों में किया गया अलंकारों का प्रयोग भाव-व्यंजना की संवृद्धि का कारण और रस-चर्वणा का हेतु होता है। अलंकारों के वैचित्र्य से अनेक बार रसव्यंजना को बल मिलता है। रसाविष्ट कवियों की शब्द-रचना के वाच्यार्थ में भी एक ऐसा सौष्ठव रहता है जिसकी अलंकृति के लिए कवि को पृथक् प्रयास नहीं करना पड़ता। सच तो यह है कि उनकी स्वाभावोक्ति भी किसी वक्रोक्ति अथवा रसोक्ति से कम मनोरम नहीं होती। काव्य में की जाने वाली अप्रस्तुत योजना जब रस-व्यंजना में सहयोगिनी बनकर आती है तभी उसकी सार्थकता समझनी चाहिए। जिन रचनाओं में अलंकारों की स्थिति रस की अंतरंगवर्तिनी नहीं होती, वे अलंकार विविध परिस्थितियोंवश काव्य-रस की चर्वणा में बाधक ही होते हैं। लक्ष्य ग्रंथों के अनुशीलन से यह तथ्य स्पष्ट किया जा सकता है कि रस-परिपोष में साधक अलंकार किस सरलता से सिद्ध होते हैं तथा केवल क्लिष्ट और दुरूह कल्पना के ही वशवर्ती बने हुए कृत्रिम अलंकारों से रससिद्धि में कैसे बाधा पहुंच सकती है। काव्य-रचनाओं में ऐसे अलंकारों के प्रयोग भी अनुसंधित किये जा सकते हैं जो रसाभिव्यंजक तो नहीं होते किंतु उनसे रस में बाधा भी नहीं पहुंचती। ऐसे अलंकार रसमय काव्य के व्यंजक न होकर उसके बाह्यमात्र हैं। अलंकारों का प्रयोग करते समय कवि के लिए औचित्यानौचित्य का विवेक करना परम वांछनीय है। वस्तुतः काव्य में रसानुगुण के रूप में प्रयुक्त अलंकार ही काव्य के शब्दार्थों में व्यंजना का सामर्थ्य उत्पन्न करते हैं। यदि उनकी सीमा का अतिक्रमण किया जाय और केवल ऊहा तथा अलंकारों के आयोजनमात्र के लिए ही वे प्रयुक्त हों तो निश्चय ही काव्यदोष उपस्थित हो जाते हैं। अलंकारों का समुचित सन्निवेश ही लौकिक शब्दार्थों में व्यंजनाशक्ति का संचार कर सकता है जिसे ध्यान में रखकर आचार्यों ने औचित्य को ही रस का परम रहस्य तथा अनौचित्य को रसभंग करने का एकमात्र दोष कहा है। आचार्य आनंदवर्धन के कथन से भी इस बात की पुष्टि होती है तथा क्षेमेन्द्र ने तो दृष्टांतपूर्वक इस कथन का स्पष्टीकरण किया है। वस्तुतः औचित्य-विचार-दृष्टि से ही अलंकारों और गुणों का विवेचन करना युक्तिसंगत प्रतीत होता है क्योंकि यों तो मेखला और हार भी अलंकार ही हैं, किंतु यदि कोई नायिका मेखला को कंठ में अथवा हार को नितम्बफलक पर धारण करे तो उस क्रिया से उसकी शोभावृद्धि नहीं हो सकती। इसी प्रकार शौर्य और करुणा भी दो उदात्त गुण हैं किंतु यदि कोई शरणागत पर शौर्य तथा शत्रु पर करुणा प्रदर्शित करे तो वह अनौचित्यपूर्ण प्रवृत्ति ही कही जायगी। अभिप्राय यह है कि व्यावहारिक जीवन के गुणालंकारों की भाँति काव्यगत गुणालंकारों की भी विशिष्ट सत्ता है जिसकी महत्ता का विचार करके ही उनका सुष्ठु प्रयोग करना सर्वथा समुचित है। आचार्य आनंदवर्धन

का मत है कि कभी-कभी महाकवियों के काव्य में भी रसभंग के जो प्रसंग प्रदर्शित होते हैं उनका एक कारण यह भी है कि उन प्रसंगों में प्रयुक्त अलंकारों का अवधान रस में न होकर केवल बाह्य कल्पना पर्यन्त ही रहता है जिसे 'असमीक्ष्यकारिता' कहा जा सकता है। रससिद्ध कवि इस प्रकार की असमीक्ष्यकारिता से बचकर चलते हैं।

अलंकारों की रसव्यंजकता

रसध्वनिवादी आचार्यों ने अलंकारों की रसव्यंजकता भी सिद्ध की है। उनका मत है कि यों तो अलंकार शब्दार्थाश्रित होते हैं किंतु उनके प्रयोग से शब्दार्थों में भी व्यंजकता का सामर्थ्य आता है। इसमें कोई संदेह नहीं कि रसाभिव्यक्ति के लिए काव्य को प्रथमतः वाचक शब्दों तथा वाच्यार्थों का आश्रय लेना पड़ता है किंतु उनमें रसाभिव्यक्ति का सामर्थ्य लाने में अलंकार भी प्रधान उपकरण है। अलंकारों के प्रयोग से वाच्यार्थ में लोकोत्तरता आ जाती है। प्रतिभाशाली कवियों की रचना में जो 'शब्दप्रयोग' होता है उसमें एक प्रकार का 'उक्तिवैचित्र्य' भी रहता है जिसे वाच्यार्थ का अलंकृत रूप कहा जा सकता है। रससिद्ध कवियों की कृतियों में अलंकारों का प्रयोग सहजवृत्ति से होता है जिसे आनंदवर्धन ने 'अहम्पूर्विकया' पद से स्पष्ट किया है। उनका मत है कि रसाभिव्यक्ति की दृष्टि से काव्यप्रयुक्त अलंकारों को काव्य का बाह्य-धर्म न मानकर उन्हें रसधर्म मानना चाहिए क्योंकि काव्य-रचना के समय वे कवि के समक्ष अहम्पूर्विकया उपस्थित रहते हैं। वस्तुतः रसाभिव्यक्ति और अलंकारसृष्टि कवि-कर्म के अभिन्न अंग हैं जो काव्यरचना के समय कवि के एक ही प्रयास से सिद्ध किये जा सकते हैं। ऐसा मानकर ही अलंकारों की रसांतरंगता तथा व्यंजनक्षमता प्रतिपादित की जा सकती है। यदि अलंकार-सृष्टि के लिए कवि को पृथक् प्रयास करना पड़े तो उनकी रस-व्यंजकता में बाधा आने की पूर्ण संभावना है। इस प्रकार के अलंकार-प्रयोग रसव्यंजक नहीं हो सकते और यदि उनसे रसबाधा न भी हो तो रस में गौणता तो आ ही जाती है। इस मान्यता की संपुष्टि करते हुए ध्वनिवादी आनंदवर्धन आचार्य ने उचित ही लिखा है—

"अलंकारान्तराणि हि निरूप्यमाणदुर्घटनान्यपि रससमाहितचेतसः प्रतिभावतः कवेः अहंपूर्विकया परापतंति।—युक्तं चैतत्। यतो रसाः वाच्यविशेषैरेवाक्षेप्तव्याः। तत्प्रतिपादकैश्च शब्दैः तत्प्रकाशिनो वाच्यविशेषाः एव रूपकादयोऽलंकारः। तस्मान्न तेषां वहिरंगत्वं रसाभिव्यक्तौ।"

काव्य-रचना के विशिष्ट अलंकारों का तत्त्वबोध

काव्य के रूप-सर्जन और सौष्ठव-विधान में अलंकारों की स्थिति और उपयोगिता का तत्त्व-विमर्श करने के पश्चात् अब उन विशिष्ट अलंकारों का शास्त्रीय विवेचन करना आवश्यक प्रतीत होता है जो काव्यशास्त्रियों के वाद-विवाद के महत्त्वपूर्ण अंग रहे हैं। उन अलंकारों में सर्वप्रथम स्थान 'स्वभावोक्ति' का है जिसकी अलंकारालंकार्यता को लेकर तथाकथित अलंकारवादियों और रसवादियों में दृष्टिभेद रहा है। उन आचार्यों

की मान्यताओं में हमें उतना तात्त्विक अंतर नहीं प्रतीत होता जितना व्यावहारिक दृष्टि से बना दिया गया है। उनकी भेद-दृष्टि का मुख्य आधार यह है कि वे क्रमशः अलंकार और रस को अपने-अपने दृष्टिकोणों से काव्य का अंगीतत्त्व मानकर चले हैं जिसकी सिद्धि के लिए उन्होंने स्वभावोक्ति को भी अपने परिवेश में व्याख्यात किया है। यही स्थिति रसवदादि अलंकारों के विवेचन की भी रही है। उन अलंकारों का तत्त्व-बोध काव्य के रूप-विधान और सर्जन-सौष्ठव में उपयोगी सिद्ध होता है, अतः हमने उनका विशेष विमर्श करना विषयोचित समझा है।

स्वभावोक्ति की अलंकारालंकार्यता

'स्वभावोक्ति' को अलंकार माना जाय या नहीं, इस विषय में भिन्न-भिन्न मत हैं। भामह के पूर्व स्वाभावोक्ति को अलंकार माना जाता था जिसका संकेत 'स्वभावोक्ति-रलंकार इति केचित् प्रचक्षते' द्वारा करने के साथ-साथ उन्होंने उसकी स्थिति के विषय में संदेह किया है। आचार्य दण्डी ने जाति, गुण, क्रिया और द्रव्य की रूपता से स्वभावोक्ति के चार प्रकार माने हैं। उन्होंने शुक के जातिगत धर्म, क्रियागत चेष्टाओं और गुणगत विशेषताओं को उद्धृत कर उनमें स्वभावोक्ति सिद्ध की है।[1] द्रव्यस्वभावोक्ति के उदाहरण में उन्होंने भगवान् शंकर के गरलपान का चित्रण प्रस्तुत किया है।[2] उन्हें स्वभावोक्ति का साम्राज्य शास्त्रों में भी मान्य है, क्योंकि तत्त्वद्रष्टा विद्वानों ने स्वाभावोक्ति को ही उपजीव्य बनाकर अपने लक्ष्यसाधन अर्थात् तत्त्वनिर्णय को अध्यवसित किया है। काव्यों में तो उसकी उपयोगिता और भी अधिक है क्योंकि कवियों को अपने अभिचित्रण को सजीव तथा सरस बनाने के लिए पद-पद पर स्वभावोक्ति की आवश्यकता पड़ती रहती है। दण्डी के मतानुसार 'भिन्न-भिन्न अवस्थाओं में स्थित पदार्थों के रूप में स्थित पदार्थों के रूप को प्रत्यक्षवत् प्रदर्शित करने वाली अलंकृति का नाम स्वाभावोक्ति या जाति है[3] जिसमें पदार्थों का वर्णन ऐसी सजीव और चमत्कारमयी स्वभाविकता से किया जाता है कि वर्ण्य वस्तु का साक्षात्कार-सा होने लगता है। दण्डी के कथन का अभिप्राय यह है कि यों तो स्वभावोक्ति में किसी वस्तु का यथावत् स्वरूप विवृत होता है किंतु उसमें एक प्रकार की असाधारण धर्मता भी रहनी चाहिए क्योंकि अन्य अलंकारों की भांति स्वभावोक्ति के लिए भी चमत्कार-प्राणता नितांत अपेक्षित है। दण्डी ने स्वभावोक्ति के लक्षण में 'नानावस्थं' पद का प्रयोग सप्रयोजन किया है क्योंकि वस्तु की एकावस्थता के वर्णन मात्र में स्वभावोक्ति अलंकार नहीं हो सकता।[4] यदि एकावस्थवर्णन में ही स्वभावोक्ति मानी जाय तब तो 'अम्भोदमुदितं दृष्ट्वा मुदानृत्यन्ति

---

१. दण्डी, काव्यादर्श, २।६-११।

२. दण्डी, काव्यादर्श, २।१२।

३. नानावस्थं पदार्थानां रूपं साक्षाद्विवृण्वती।
स्वभावोक्तिश्च जातिश्चेत्याद्या सालंकृतिर्यथा। —काव्यादर्श, २।८।

४. अलंकारकृतां येषां स्वभावोक्तिरलंकृतिः।
अलंकार्यतया तेषां किमन्यदवशिष्यते॥

र्बाहिणः' अर्थात् 'मेघ को देखकर मयूर प्रसन्नतापूर्वक नृत्य करने लगे' जैसी उक्तियों में भी स्वभावोक्ति माननी पड़ेगी। इसी प्रकार चमत्कारविहीन स्वाभाविक उक्तियों में स्वभावोक्ति अलंकार मानने पर निम्नलिखित छंद भी स्वभावोक्ति अलंकार मान लिया जायगा क्योंकि उसमें भी बलीवर्द की स्वाभाविक रूप-क्रियाओं का वर्णन किया गया है—

"दीर्घपुच्छश्चतुष्पादः ककुद्मान लम्बकम्बलः।
गोरपत्यं बलीवर्दस्तृणभत्ति मुखेन सः।"

आचार्य भोजराज ने स्वभावोक्ति नामक अर्थालंकार और अर्थव्यक्ति संज्ञक अर्थ गुण का अंतर निरूपित करते हुए लिखा है कि आगंतुक वस्तु के स्वरूपवर्णन को स्वभावोक्ति अलंकार और सार्वकालिक वस्तु के स्वरूप-वर्णन को अर्थव्यक्ति गुण कह सकते है। दण्डी के मतानुसार अर्थव्यक्ति अनेयार्थत्वरूपशब्दगुण है और स्वभावोक्ति में केवल आगंतुक वस्तुस्वरूप वर्णन का ही समावेश न होकर सार्वकालिक स्वरूप-वर्णन भी हो सकता है। आचार्य कुंतक स्वभावोक्ति को अलंकार रूप मानने के विरुद्ध हैं और उन्होंने उसके समर्थक आलंकारिकों का उपहास किया है।

महिमभट्ट का अभिमत

'स्वभावोक्ति' के सम्बन्ध में आचार्य महिमभट्ट के विचार भी पठनीय हैं। उनके पूर्व आचार्य दण्डी स्वभावोक्ति की अलंकाररूपता सिद्ध कर चुके थे जिसका खण्डन वक्रोक्तिकार कुंतक ने किया था। आचार्य महिमभट्ट उनके तर्कों से अभिज्ञ थे। उनका विमर्श करते हुए उन्होंने लिखा है कि संसार में वस्तुओं के दो रूप होते हैं—सामान्य और विशिष्ट। सामान्य रूप का चित्रण किसी विषय के सामान्य अर्थ का बोधमात्र कराता है, किंतु विशिष्ट रूप के चित्रण में बिम्बग्रहण कराने की शक्ति होती है। वह वैशिष्ट्य केवल प्रतिभा है जो रस के अनुरूप शब्दार्थ के चिन्तन में निश्चल चित्त होकर कवियों में काव्योन्मेष किया करती है। उसे भगवान् शंकर के तृतीय नेत्र से भी उपमित किया जा सकता है जिसके द्वारा तीनों कालों के पदार्थों का साक्षात् दर्शन किया जाता है। महिमभट्ट ने अपने 'तत्वोक्तिकोष' नामक ग्रंथ में प्रतिभा-तत्त्व का विशेष विवेचन किया था, किंतु वह ग्रंथ अद्यावधि प्रकाश में नहीं आया है। स्वभावोक्ति के विषय में उनका अभिमत यह है कि यदि वह केवल स्वभाव के कथन-मात्र का ही अर्थबोध कराने पर्यन्त ही सीमित रहती है तो उसमें और सामान्य कथन में कोई अंतर नहीं होता, किंतु जब वह कविप्रतिभा का संसर्ग पाकर पदार्थों का सजीव चित्रण करती है तो वे पदार्थ साक्षात् मूर्तिमान बनकर उपस्थित हो जाते हैं और वैसी स्थिति में उसकी अलंकारता सहज भाव से सुग्राह्य समझी जानी चाहिए। महिमभट्ट के विचारों का निष्कर्ष उन्हीं के शब्दों में निम्नलिखित है—

उच्यते वस्तुनस्तावद् द्वैरूप्यमिह विधते।
तत्रैकमत्र सामान्यं यद्विकल्पैकगोचरः॥

स एव सर्वशब्दानां विषयः परिकीर्तितः।
अतएवाभिधेयं ते सामान्यं बोधयन्त्यलम् ॥
विशिष्टमस्य यद्रूपं तत् प्रत्यक्षस्यं गोचरः।
स एव सत्कविगिरां गोचरः प्रतिभा भुवाम् ॥

रसानुगुणशब्दार्थ चिन्तास्तिमित चेतसः।
क्षणं स्वरूपस्प शोत्था प्रज्ञैव प्रतिभा कवेः ॥
सा हि चक्षुर्भगवत स्तृतीयमिति गीयते।
येन साक्षात्करोत्येष भावांस्त्रैकालपवर्तिनः ॥

अर्थ स्वभावस्योक्तिर्या सालंकारतया मता।
यतः साक्षादिवाभांति तत्रार्थाः प्रतिभार्पिताः ॥

रसवत् अलंकार

भामह ने रसवत् अलंकार का लक्षण 'रसवद् दर्शितस्पष्ट श्रृंगारादिरस यथा'[1] किया है जिसकी प्रतिध्वनि उद्भट के शब्दों में 'रसवद्दर्शित स्पष्ट श्रृंगारादि रसोदयम्'[2] में मिलती है। इन दोनों लक्षणों में 'दर्शित स्पष्ट श्रृंगारादि' अंश समान है। कुन्तक ने उक्त लक्षणों द्वारा संभावित अनेक प्रकार की व्याख्याएँ प्रस्तुत कर अन्ततः यही सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि उन लक्षणों से न तो 'अलंकार्य-अलंकार-भाव' ही बनता है और न रसवत् का अलंकारत्व ही सिद्ध होता है। उनके मतानुसार उक्त लक्षण में 'दर्शितस्पष्ट' तथा 'दर्शितस्पृष्ट' नामक दो पाठ हो सकते हैं। यदि अन्य पद प्रधान बहुव्रीहि समास द्वारा उनका विग्रह किया जाय तो उसका रूप होगा 'दर्शिताः स्पृष्टाः स्पष्टं वा श्रृंगारादयो यत्र' जिसके अनुसार काव्य के अतिरिक्त समास का अर्थरूप कोई अन्य पदार्थ दृष्टिगोचर नहीं होता। यदि यह कहा जाय कि 'रसवत् अलंकार काव्य ही है' तो उसका सौन्दर्य अथवा समन्वय स्पष्ट नहीं हो पाता क्योंकि काव्य के एकदेश अवयव रूप शब्द तथा अर्थ के पृथक्-पृथक् अलंकार है। ऐसी प्रतिज्ञा करके ही भामह ने 'काव्यालंकार' का प्रारम्भ किया था और आगे चलकर 'काव्य ही अलंकार है' ऐसा मानने पर उसके उपक्रम और उपसंहार में विरोध रूप दोष आ जाता है।

आचार्य भामह ने रसवत् अलंकार का जो लक्षण निर्धारित किया है उसका विग्रह 'दर्शिताः स्पष्टं श्रृंगारादयो येन' भी किया जा सकता है जिसमें प्रयुक्त 'येन' (जिसके द्वारा अथवा जिसने) पद से यह जिज्ञासा होती है कि उससे सूचित होने वाले पदार्थ क्या हैं? यदि यह कहा जाय कि प्रतिपादन का वैचित्र्य ही 'येन' पद से सूचित होने वाला 'वह पदार्थ' है तो भी संगति नहीं बैठती क्योंकि प्रतिपाद्यमान अलंकार से

१. भामह काव्यालंकार, ३।६।
२. उद्भट, काव्यालंकारसारसंग्रह, ४।४।

पृथक् और उसकी शोभा का कारण-भूत अलंकार रूप प्रतिपादन का वैचित्र्य अलग ही मानना होगा। वैसी स्थिति में भी अलंकार्य ही को अलंकार नहीं कहा जा सकता। रसवत् अलंकार के भामहकृत लक्षण की व्याख्या 'स्पष्टतया दर्शित रसानां प्रतिपादन-वैचित्र्यं' करने पर भी उसका प्रतिपादन स्पष्ट रूप से नहीं किया जा सकता क्योंकि श्रृंगार आदि रसों के स्पष्ट दर्शन में उनके स्वरूप की ही सिद्धि होती है और उनके अतिरिक्त अलंकार अथवा अलंकार्य में से किसी की भी सिद्धि नहीं हो पाती। यदि यह कहा जाय कि 'रसवत् काव्य का अलंकार ही रसवदलंकार होता है (रसवतः काव्यालंकार इति) तो भी उससे कोई स्पष्ट अर्थ नहीं निकलता क्योंकि रसवत् अलंकार के कारण काव्य को 'रसवत्' कहने से उसका अर्थ 'रसवत् का अलंकार' नहीं होता अपितु रसवत् ही अलंकार है, ऐसी निकलता है जिसके कारण रसवत् काव्य भी रसवत् अलंकार हो जाता है जो व्याख्या की दृष्टि से उचित नहीं है। यदि यह कहा जाय कि प्रथमतः अलंकार्य काव्य ही रस होता है जो बाद को उस 'रसवत् काव्य के साथ सम्बन्ध होने से 'अग्निष्टोमयाजी' जैसे शब्दों की भाँति अलंकार को भी रसवत् कहा जा सकता है तो भी ठीक नहीं है क्योंकि 'अग्निष्टोमयाजी' शब्द तो पहले भूतकाल में निष्पन्न होने से अन्य विषय में प्रसिद्धि प्राप्त कर चुका है जो 'होगा' वाक्यार्थ के साथ सम्बन्ध के योग्यं होने से उसके साथ सम्बन्ध भी किया जा सकता है किंतु 'रसवदलंकार' में इस प्रकार का प्रयोग सम्भव नहीं है क्योंकि 'रसवत् काव्य का अलंकार' क्रम के प्रयोग में रसवत् काव्य के सम्बद्ध रूप से ही रसवत् अलंकार को अपने स्वरूप की प्राप्ति होती है जिसके सम्बन्ध से ही काव्य में रसवत्ता आती है जो इतरेतराश्रय दोष का कारण है। यदि रसवत् अलंकार की व्याख्या 'रसोविद्यते यस्यासो तद्वानलंकारः' की जाय तो भी ठीक नहीं है क्योंकि जिसमें रस विद्यमान हो ऐसा पदार्थ तो काव्य या अलंकार ही हो सकता है जिनके पक्षों का खंडन किया ही जा चुका है। कुन्तक की दृष्टि से भामह और उद्भट कृत 'रसवत् अलंकार' की लक्षणविवेचना तर्कसम्मत नहीं है।[1] आचार्य दण्डी ने जिस उदाहरण द्वारा रसवदलंकार की व्याख्या की है, कुन्तक ने उसका भी खण्डन किया है क्योंकि उस उदाहरण में वर्णनीय के शरीरभूत रति परिपोष अर्थात् श्रृंगार रस रूप चित्तवृत्ति के अतिरिक्त और कोई अन्य अलंकार रूप पृथक् वस्तु नहीं प्रतीत होती। वस्तुतः रतिपरिपोष रूप प्रतीत होने वाली चित्तवृत्ति वर्णनीय पदार्थ की शरीरभूत होने से उसकी अलंकार्यता ही युक्तिसंगत है न कि उसकी अलंकारता।

आचार्य उद्भट ने रसवत् अलंकार को विशेष रूप से व्याख्यात करने के लिए उसे 'स्वशब्दस्थायिसंचारिविभावाभिनयास्पदम्' भी कहा है जो उनकी पूर्वोक्त कारिका का उत्तरार्द्ध है। इस लक्षण के अनुसार स्वशब्द, स्थायिभाव, संचारिभाव, विभाव तथा अनुभाव (अभिनय आदि) में रहने वाले रस को स्पष्ट रूप से प्रदर्शित कराने वाला अलंकार रसवदलंकार होता है। उद्भट की इस मान्यता से स्पष्ट है कि वे रसों की स्वशब्दनिष्ठता मानते थे। कुन्तक आदि आचार्यों ने उनकी इस मान्यता का विरोध

---

१. कुन्तक, वक्रोक्तिजीवितम्, ३।११ की वृत्ति।

किया है। उनका कथन है कि रसों की स्वशब्दनिष्ठता स्वीकार करने के पूर्व इस बात का विचार करना आवश्यक है कि वह स्वशब्दनिष्ठत्व रस का होता है अथवा रसवत् अलंकार का ? यदि रस की स्वशब्दनिष्ठता स्वीकार की जाय तो शृंगार आदि शब्दों के श्रवणमात्र से शृंगाररस का आस्वाद होना चाहिए जबकि वास्तविकता इसके विपरीत है। अपने वाचक शब्दों द्वारा अभिधीयमान तथा श्रोता द्वारा श्रवणग्रहीत शृंगार आदि शब्द सहृदयों को रसास्वादन कराते हैं ऐसा कथन वैसा ही है जैसे किसी मिष्ठान्न का नाम मात्र सुनकर ही उसके उपभोग का आनन्द प्राप्त करना। अभिप्राय यह है रस को स्वशब्दवाच्य मानना किसी भी रूप में तर्कसंगत नहीं है क्योंकि जैसे त्रैलोक्य के राज्य का सुखोपभोग केवल नाममात्र के उच्चारण से साध्य न होकर अनुभूतिगम्य है उसी प्रकार रस भी स्वशब्दवाच्य न होकर व्यंग्य रूप होता है। रसों की स्वशब्दवाच्यता रसवदलंकार के सिद्धान्त की मान्यता में भी बाधक है।

आचार्य दण्डी ने 'रसवद रससंश्रयात्' द्वारा यह तथ्य निरूपित किया है कि रस के संश्रय से रसवत् अलंकार होता है। इससे भी यह शंका उत्पन्न होती है कि रस जिसका संश्रय है वह कौन-सा रसेतर पदार्थ है ? यदि काव्य ही को रससंश्रय माना जाय तो भी उचित नहीं है क्योंकि काव्य स्वतः अलंकार नहीं होता और उसके एकदेश शब्द अथवा अर्थ के धर्म ही अलंकार होते हैं अतः काव्य को रसवदलंकार कहना उचित नहीं है। काव्य अथवा कोई भी अन्य पदार्थ जिसे रसवत् कहा जाय, स्वयं ही अलंकार्य तथा अलंकार नहीं हो सकते। यदि रससंश्रयात् की दूसरी व्याख्या यह की जाय कि रस का संश्रय या रस जिसका संश्रय ले वह रस-संश्रय हुआ तो भी ठीक नहीं है क्योंकि रस संश्रय अथवा रस जिसका आश्रय ले वह ऐसा कौन-सा पदार्थ है जिसे रसवत् अलंकार कहा जा सके। 'रसवत् रससंश्रयात्' की मान्यता में भी अस्पष्टता है। दण्डी के 'काव्यादर्श' में 'रसवत् रससंश्रयम्' के स्थान पर कहीं-कहीं 'रसवद्रस पेशलम्' पाठान्तर भी मिलता है जो एक प्रकार से 'रसवत् रससंश्रयम् की पूर्व विवेचना के अनुसार ही चिन्त्य है। यदि 'दुर्जनतोष' न्याय के अनुसार उसकी प्रामाणिकता स्वीकार भी कर ली जाय तो भी प्रधानभूत अलंकार्य के अलंकार रूप में गौण हो जाने पर गुण प्रधान भाव का परिवर्तन हो जाता है जो सैद्धांतिक दृष्टि से उचित नहीं है। रसवदलंकार की संसिद्धि के लिए दिया जाने वाला यह तर्क भी समुचित नहीं है कि जिस प्रकार रस के संचार से नीरस तथा रूक्ष वृक्ष भी हरे-भरे हो जाते हैं उसी प्रकार रस के अनुप्रवेश से वाक्य का पदार्थ रूप अलंकार्य भी अलंकारता धारण कर लेता है। इस तर्क की सबसे बड़ी विसंगति तो यह है कि जो पहले अलंकार्य था वह बाद में अलंकार कैसे हो सकता है ? कुन्तक ने 'शब्दार्थासंगतेरपि' द्वारा भी रसवत् अलंकार की असंगति सिद्ध की है क्योंकि शब्द और अर्थ अथवा वाचक और वाच्य का समन्वय उससे संयोजित नहीं हो पाता। निष्कर्ष यह है कि काव्य या रस के अतिरिक्त 'रसवत्' नामक किसी अन्य पदार्थ के अभाव में भी 'रसवत् का अलंकार' शब्द तथा अर्थ की संगति सिद्ध करने में असमर्थ हैं।

आनन्दवर्धन ने रस और अलंकार की विषय-सीमा निर्धारित करते हुए लिखा है कि 'जहाँ रस इत्यादि वाक्यार्थीभूत होते हैं वह सब रस इत्यादि अलंकार का विषय

नहीं होता, वह ध्वनि का प्रभेद है, उसके उपमा इत्यादि अलंकार होते हैं। जहाँ पर प्रधान रूप में अर्थान्तर के वाक्यार्थ होने पर रस इत्यादि के द्वारा चारुत्वनिष्पत्ति की जाती है वह रस इत्यादि की अलंकारता का विषय है।"[1] उन्होंने ध्वनि, उपमा और रसवत् इत्यादि अलंकारों का विषय-विभाजन भी किया है। उनके मतानुसार रस की अलंकार्यता ध्वनि का विषय है तो उसकी अलंकार्यता के साथ रसान्तर की अंगभूतता शुद्ध उपमादि अलंकारों का विषय होती है। रसवत् अलंकार की स्थिति उन्होंने वहाँ मानी है जहाँ पर रस तो अलंकार्य होता है किन्तु उसका अलंकरण उपमा इत्यादि अलंकारों के द्वारा न किया जाकर अन्य रसों के द्वारा किया जाता है। रसवत् अलंकार से भाव इत्यादि अलंकारों का भी ग्रहण हो जाता है जिनके अन्तर्गत प्रेय, ऊर्जस्वी और समाहित नामक अलंकार सम्मिलित हैं।

रसवत् अलंकार के सम्बन्ध में आचार्यों की भिन्न-भिन्न धारणाएँ हैं। आचार्य आनन्दवर्धन का मत है कि जो विद्वान् चेतन पदार्थों के वाक्यार्थ होने में ही 'रसाद्यलंकार' मानते हैं वे भूल करते हैं। क्योंकि चेतनों का वाक्यार्थीभाव यदि सर्वत्र रसालंकार का विषय माना जाएगा तो उपमादि अलंकारों का क्षेत्र या तो अत्यन्त संकुचित हो जायगा या उनका कोई विषय ही नहीं रहेगा। ऐसी स्थिति में यह मान्यता कदापि सुग्राह्य नहीं कही जा सकती कि मुख्यार्थ के चेतन परक होने पर ही रसाद्यलंकार होते हैं। इसमें कोई संदेह नहीं कि रसाश्रयत्व के लिए चित्तवृत्ति का होना नितांत वांछनीय है और वह चित्त-वृत्ति अचेतनों में नहीं होती किंतु यह मानना भी अतिरेक्यपूर्ण है कि जहाँ वाक्यार्थ अचेतन-परक होता है वह रस हो ही नहीं सकता। बात यह है कि अचेतनपरक वाक्यार्थ में भी चेतन-वस्तु के वृत्तांत की योजना विभाव इत्यादि के रूप में किसी न किसी प्रकार हो ही सकती है।[2] अचेतनपरक वाक्यार्थ को रसाद्यलंकार का विषय न मानने का एक परिणाम यह होगा कि अनेक रससंसिक्त महाप्रबन्धों (महाकाव्यों) की रचना को नीरस मानना पड़ेगा। जो विद्वान् रसवत् अलंकार की महत्ता का प्रतिपादन करते हुए यह मानते हैं कि जहाँ रसवत् अलंकार नहीं होता वहाँ रस भी नहीं रहता, यह मत भी समीचीन नहीं है। आनन्दवर्धन

---

१. ध्वन्यालोक, पृ० ४२०।

२. इसका उदाहरण निम्नलिखित पद्य है जिसमें पुरुरवा का वियोगजन्य उन्माद चित्रित किया गया है। इस पद्य का वाक्यार्थ अचेतन नदीपरक है किन्तु उसमें चेतन नायिका (उर्वशी) के वृत्तांत की योजना की गई है। पद्य इस प्रकार है—

तरंगभ्रूभंगा क्षुभितविहगश्रेणिरसना
विकर्षन्ती फेनं वसनमिव संरम्भ शिथिलम्।
यथाविद्धं याति स्खलितमभिसंधाय बहुशो—
नदीरूपेणेयं ध्रुवमसहना सा परिणता॥

अर्थात् मेरी वह असहिष्णु प्रेयसी ही नदी रूप में परिणत हो गई है। क्योंकि नदी की तरंगें ही उसका भ्रूभंग है, क्षुब्ध पक्षियों की पंक्तियां ही उसकी मेखला है, संरम्भ के कारण शिथिल बने हुए वस्त्र के समान यह फेन को खींच रही है। बहुत से स्खलनों का अनुसरण करते हुए यह कुटिल गति में जा रही है।

तथा अभिनवगुप्त की मान्यता है कि किसी भी काव्य में रसवत् अलंकार के अभाव में नीरसता नहीं आती अपितु नीरसता तो वहां आती है जहाँ काव्य में ध्वन्यात्मभूत रस का अभाव होता है।[1] संस्कृत तथा हिन्दी के काव्यग्रंथों से ऐसे अनेक उदाहरण प्रस्तुत किये जा सकते हैं जिनका वाक्यार्थ तो अचेतन है किंतु जिनमें चेतन के वृत्तांत की योजना की गई है। उन उदाहरणों से यह स्पष्ट हो जाता है कि अचेतन वस्तु-वृत्त के वाक्यार्थ होने पर भी चेतन वस्तु वृत्त की योजना ऐसे रूप में की जा सकती है जिसमें रसवत् अलंकार का आभास मिल सके। इस कथन के समर्थन में हम निम्नलिखित छन्द को उद्धृत करने का लोभ संवरण नहीं कर सकते जिसमें अचेतन लता विषयक वाक्यार्थ द्वारा चेतन उर्वशी के वृत्तांत की योजना की गई है और जिसमें रसाद्यलंकार का प्रस्फुटन हो सका है—

तन्वी मेघजलार्द्रपल्लवतया धौताधरेवाश्रुभिः,
शून्येवाभरणैः स्वकालविरहाद्विश्रांतपुष्पोद्गमा।
चिंता मौनमिवाश्रिता मधुकृतां शब्दैर्विना लक्ष्यते।
चण्डी मामवधूय पादपतितं जातानुतापेव सा॥

ध्वन्यालोककार आचार्य आनन्दवर्धन ने रसवदलंकार का लक्षण निर्धारित करते हुए लिखा है कि 'जहाँ किसी अन्य वस्तु आदि की प्रधानता हो तथा रस उसका अंग हो वहाँ रसवदलंकार होता है। अपने लक्षण की संगति सिद्ध करने के लिए उन्होंने दो उदाहरण दिए हैं जिनमें नायिकाओं पर क्रमशः लता तथा नदी रूप वस्तु के आरोप के कारण रूपक का प्राधान्य है तथा उनमें जो रस की प्रतीति हो रही है वह रूपक के अंग अथवा परिपोषक रूप के कारण हो रही है जिसके कारण उनके मतानुसार रसवदलंकार है। कुंतक का कहना है कि उन उदाहरणों में रसवदलंकार को सिद्ध करने के लिए षष्ठी तत्पुरुष (रसवतोअलंकारः रसवदलंकारः) अथवा कर्मधारय समास (रसवांश्चासी अलंकारः रसवदलंकारः) से शब्द और अर्थ की संगति सिद्ध करना अनुचित है क्योंकि रसवदलंकार कहने में रस का प्राधान्य नहीं रहता अतः उसके स्थान पर केवल 'रसवान्' कहना ही उचित जान पड़ता है। यदि रसवदलंकार शब्द से 'रसवान् अलंकार है' ऐसी प्रतीति मानी जाय तो भी युक्तिसंगत नहीं है। 'रसवान् का अलंकार' इस षष्ठी तत्पुरुष से भी उसका स्पष्ट समन्वय नहीं हो पाता क्योंकि किसी भी काव्य में रसत्व ही उसका काव्यत्व है। सच तो यह है कि जिस रसत्व के अतिशय के लिए सहृदयहृदयाह्लादकर काव्य की रचना की जाती है उसे 'रसवान् का अलंकार' मात्र कहना भी उचित प्रतीत नहीं होता। यदि यह कहा जाय कि रसवत् काव्य का अलंकार रसवदलंकार है तो भी उचित नहीं है क्योंकि वैसी स्थिति में रूपक आदि सभी अलंकारों के रसवत् काव्य में प्रयुक्त होने के कारण उनका ही रसवदलंकारत्व मानना पड़ेगा। यों तो सभी रसात्मक वाक्य ही सहृदयाह्लादक होने से काव्य कहलाते हैं इसलिए प्रत्येक काव्य रसवत् काव्य होता है। वैसी स्थिति में रसवदलंकार शब्द में चाहे षष्ठी तत्पुरुष माने

१. ध्वन्यालोक, पृ० ४२७।

अथवा कर्मधारय समास, दोनों स्थितियों में रसवत् काव्य में प्रयुक्त होने वाले सभी अलंकार रसवदलंकार कहलायेंगे जिसके फलस्वरूप रसवदलंकार की कोई पृथक् अथवा विशिष्ट सत्ता नहीं सिद्ध हो सकेगी।

रसध्वनि और रसवदलंकार का अन्तर

पंडितराज ने 'रसध्वनि' और रसवदलंकार का अन्तर निरूपित करते हुए लिखा है कि जहाँ प्रधानता से रस व्यंग्य होते हैं वहाँ रसवदलंकार अथवा रसालंकार होता है। कुछ विद्वानों का मत है कि रसों की प्रधानतावश 'रसध्वनि' का प्रतिपादन तो उचित है किंतु उनके अन्यथाभाव में 'रसालंकार' पद उपयुक्त नहीं है क्योंकि उस समय रस का गुणीभाव उसे अलंकारमात्र बना देता है। काव्यशास्त्र में 'रसालंकार' के प्रयोग की जो परिपाटी बनी हुई है उसका अभिप्राय केवल इतना ही है कि जो पहले कभी रस था वह अब अलंकार मात्र रह गया है। इस कथन का स्पष्टीकरण ब्राह्मणश्रमणन्याय से किया जा सकता है। वस्तुतः अलंकार्यता रस के लिए अनिवार्य है किंतु जब वह गौण हो जाती है तो उसके अलंकार मात्र रह जाने के कारण उसमें रस कहलाने की योग्यता नहीं रह जाती। उस स्थिति में भी गौण रसों के लिए जिस रसालंकार पद का प्रयोग किया जाता है उसे केवल 'अलंकार-ध्वनि' जैसा प्रयोग ही समझना चाहिए। अलंकार-ध्वनि का अर्थ भी यही है कि जो पहले कभी अलंकार था वह अब ध्वनिमात्र है। आचार्यों ने केवल उन्हीं स्थायिभावों को रस माना है जो असंलक्ष्यक्रमव्यंग्य रूप में रहते हैं किंतु ज्योंही उनका क्रम संलक्षित हो जाता है तो उनका व्यवहार 'वस्तु' शब्द से किया जाने लगता है। रस को असंलक्ष्यक्रम व्यंग्य कहने का तात्पर्य केवल इतना ही है कि सहृदयों को रस की प्रतीति ऐसी शीघ्रता से होती है कि विभावादि के विमर्श और रस की प्रतीत के मध्य वस्तुतः विद्यमान क्रम अलक्षित-सा रहता है। उस क्रम का स्पष्टीकरण इस प्रकार किया जा सकता है कि जैसे किसी सुई के द्वारा शतपत्र कमल के पत्तों का एक साथ वेधन करने पर उनका पूर्वापरक्रम लक्षित नहीं होता और ऐसा प्रतीत होता है कि वे एक साथ ही वेध दिये गये हैं उसी प्रकार विभाव, अनुभाव और व्यभिचारिभावों के विमर्शक्रम की विद्यमानता में भी रस की अभिव्यक्ति ऐसी आशुता से होती है उसका भी कोई क्रम लक्षित नहीं होता। वस्तुतः रसप्रतीति में भी एक क्रम रहता अवश्य है किंतु उसका विवेचन करना अत्यन्त रहस्यमय है।

आचार्य कुंतक ने भामह, उद्भट, दण्डी आदि आचार्यों के द्वारा निरूपित रसवदादि अलंकारों की विवेचना का युक्तिसंगत खंडन कर उनकी अलंकार्यता सिद्ध की है। उनका कथन है कि यदि किसी का रसवत् के साथ अलंकार पद का प्रयोग करने का विशेष आग्रह ही हो तो रसवत् शब्द की व्युत्पत्ति में 'मतुप्' प्रत्यय न मानकर 'तेन तुल्यक्रिया चेद्वति' सूत्र से सादृश्य अर्थवाचक 'वति' प्रत्यय मानना सर्वांशेन उचित होगा जिसका अर्थ 'रस से युक्त अलंकार' न होकर 'रस के समान आह्लाददायक अलंकार' हो जायगा। उन्होंने अपनी इस व्याख्या की दृष्टि से रसवत् को समस्त अलंकारों का जीवित तथा काव्य का अद्वितीय साररूप कहा है।[1] इस विषय में हम

उन्हीं के शब्द उद्धृत करना समुचित समझते हैं जिनसे उनका विचारपक्ष स्पष्ट हो सकेगा—

'योऽलंकारः स रसवत्' इत्यन्वयः। यः किल एवंस्वरूपो रूपकादिः रसवदभिधीयते। किं स्वभावेन 'रसेन वर्तते तुल्यं' रसेन शृंगारादिना तुल्यं वर्तते यथा ब्राह्मणवत् क्षत्रियस्तथैव स रसवदलंकारः। कस्मात्—'रसवत्वविधानतः'। रसोऽस्यास्तीति रसवत् काव्यं, तस्यभावस्तत्वं, ततः सरसत्वसम्पादनात्, तद्विदाह्लादनिर्मितेश्च। तत् काव्य विदंतीति तद्विदः तज्ज्ञास्तेषामाह्लादनिर्मितेरानंदनिष्पादनात्। यथा रसः काव्यस्य रसवत्तां तद्विदाह्लादं च विदधाति एवमुपमादिरप्युभयं निष्पादयन् भिन्नो रसवदलंकारः सम्पद्यते।'[2]

उपर्युक्त उद्धरण से स्पष्ट है कि जो अलंकार है, वह सब रसवत् हो सकता है। रूपक आदि जितने भी अलंकार हैं वे सब शृंगार आदि रसों के तुल्य होने से गौण रूप से तात्कर्म्य सम्बन्धमूलक लक्षणा से रसवत् अलंकार कहे जा सकते हैं क्योंकि वे रस ही के समान आह्लादकारक होते हैं। इसको इस प्रकार स्पष्ट किया जा सकता है कि जिस प्रकार ब्राह्मण के समान कर्म करने वाला क्षत्रिय ब्राह्मणवत् कहलाता है उसी प्रकार रसवदलंकार भी रस के समान आह्लाददायक होने से तात्कर्म्य लक्षणा द्वारा रसवत् कहलाता है। जैसे रस काव्य को सरस बनाता हुआ सहृदयों के आह्लाद का कारण होता है उसी प्रकार रसवदलंकार भी काव्य की सरसता और तद्विदाह्लाद को सम्पादित करते हुए साधारण उपमा आदि से भिन्न विशेष रूप से अलंकार की अभिधा प्राप्त करता है।

कुंतक ने रसवदलंकार का स्पष्टीकरण करते हुए जो उदाहरण प्रस्तुत किये हैं वे अत्यन्त प्रसिद्ध और हृदयानुरंजक हैं। उनमें सर्वप्रथम उदाहरण पाणिनि रचित कहा जाता है जिसमें संध्या के समय उदित होते हुए चन्द्रमा का वर्णन किया गया हैं। कवि ने चन्द्रमा के लिए पुंल्लिग शब्द 'शशि' तथा रात्रि के लिए स्त्रीलिंग शब्द 'निशा' का प्रयोग कर उनमें परस्पर नायक-नायिका-व्यवहार का आरोप किया है।[3] इस उदाहरण में ध्वन्यालोककार आदि ने समासोक्ति अलंकार माना था किंतु कुंतक ने इसमें समासोक्ति के लिए अपेक्षित व्यवहार का आरोप न मानकर वस्तु का आरोप माना है जिसके अनुसार यहां रूपक अलंकार सिद्ध होता है। वह रूपक अलंकार श्लेष की छाया से मनोहर विशेषणों की वक्रता से और निशा तथा शशि शब्दों के पुंल्लिग तथा स्त्रीलिंग रूप विशेष लिंगों की सामर्थ्य से काव्य की सरसता को उल्लसित करता हुआ सहृदयों के मन को आह्लाद प्रदान करता है जिसके कारण यहाँ रसवदलंकार हो गया है। इसी अलंकार का दूसरा उदाहरण अभिज्ञानशाकुंतलम् का वह प्रसिद्ध श्लोक है जिसमें वाटिका-सिंचन में व्यस्त शकुंतला को झुरमुट से देखते हुए दुष्यन्त ने उसके मुख पर

१. वक्रोक्तिजीवितम्, ३।१४।

२. कुन्तक, वक्रोक्तिजीवितम्, ३।१५ की वृत्ति।

३. उपोढरागेण विलोलतारकं तथा गृहीतं शशिना निशामुखं।
यथा समस्तं तिमिरांशुकं तया पुरोऽपि रागाद् गलितं न लक्षितं ।।

मंडराते हुए भ्रमर को देखकर अपने मनोभाव व्यक्त किये हैं[1] जिनसे भ्रमर में कान्त (नायक) के व्यवहार का आरोप अपनी अतिशय सरसता तथा आह्लादकारिता के कारण शृंगार रस की शोभा को उद्भूत करता है अतः इसमें भी रसवदलंकार है। यहाँ यह बात उल्लेखनीय है कि जहाँ अन्य आचार्यों ने इन उदाहरणों में समासोक्ति अलंकार माना है वहाँ कुंतक ने उन्हें रूपक सिद्ध किया है और उनमें शृंगार आदि के अभिव्यंजक प्रतीयमान रस की सत्ता सिद्ध की है जिससे स्पष्ट है कि वे रूपक और उपमा आदि अलंकारों की साधारण स्थिति में रसवदलंकार नहीं मानते थे अपितु रस की विशेष सम्बद्धता में ही उसकी सत्ता स्वीकार करते थे। उन्होंने प्रतीयमान उत्प्रेक्षा को भी रसवदलंकार का ही रूप कहा है जिससे स्पष्ट है कि उनका रसवदलंकार विषयक दृष्टिकोण अन्य आचार्यों की अपेक्षा व्यापक था और वे उसे समस्त अलंकारों का चूडामणि समझते थे।

कुंतक ने उन विद्वानों की मान्यता का भी खंडन किया है जो चेतन पदार्थ के रसादि के वर्णन के विषय में रसवदलंकार तथा अचेतन पदार्थों के वर्णन में उपमा आदि अन्य अलंकार मानते हैं। उनका कथन है कि अचेतन पदार्थों के साथ भी किसी न किसी रूप में चेतन का सम्बन्ध अवश्यमेव जुड़ा रहता है और उनमें भी सुकुमारता अथवा सरसता के कारण रसो दीप्ति का सामर्थ्य हो सकता है जिसके कारण वे रसवदलंकार की श्रेणी में आ सकते हैं। यदि अचेतन पदार्थों का किसी भी रूप में रस-सम्बन्ध न माना जाय तो शृंगारादि रसों के प्रवाह से मनोहर सत्कवियों के अचेतन पदार्थों के वर्णनों में सरसता का अभाव हो जायगा। आनन्दवर्धन ने भी इस सिद्धांत का खण्डन किया है कि चेतन पदार्थों के सम्बन्ध में रसवदलंकार तथा अचेतन पदार्थों के सम्बन्ध में उपमादि अलंकार होते हैं जिसका उल्लेख कुंतक द्वारा 'इति प्रतिपादितमेव पूर्वसूरिभिः' द्वारा किया गया है। सारांश यह है कि रसवदलंकार के विषय में कुंतक की एक विशिष्ट धारणा है जिसके द्वारा उन्होंने उसकी व्याख्या वक्रोक्तिजीवित के तृतीयोन्मेष की १४-१५ संख्यक कारिकाओं में की है।

रसवत् अलंकार के विषय में कुंतक का निर्णय

कुंतक ने पदार्थों के स्वभावप्रधान तथा रसप्रधान नामक दो स्वरूपों का विवेचन कर उनके स्वाभाविक रूप को अलंकार्य माना है। उन्होंने भामह आदि प्राचीन आलंकारिकों द्वारा समर्थित प्रधान चेतन देवासुरमनुजादि के स्वभाव रूप वर्ण्यमान पदार्थों में अधिष्ठित रसात्मक स्वरूप की अलंकारता का निराकरण किया है। उनका मत है कि रसादि की प्रतीति के स्थल में रस के अपने स्वरूप के अतिरिक्त अन्य किसी प्रतीति अलंकार्य रूप से न होने तथा रस के साथ अलंकार शब्द का प्रयोग करने पर शब्द

---

१. चलापांगां दृष्टिं स्पृशसि बहुशो वेपथुमतीं,
रहस्याख्यायीव स्वनसि मृदु कर्णान्तिकचरः।
करौ व्याधुन्वत्याः पिबसि रतिसर्वस्वमधरम्।
वयं तत्वान्वेषान्मधुकर हतास्त्वं खलु कृती।

तथा अर्थ की संगति न बैठने से 'रसवत्' अलंकार नहीं हो सकता।[1] अपने कथन को वृत्तिभाग में स्पष्ट करते हुए उन्होंने लिखा है कि 'रसवत्' की अलंकारता किसी भी रूप में सिद्ध नहीं की जा सकती क्योंकि उसमें अपने स्वरूप के अतिरिक्त अलंकार्य रूप से किसी अन्य की प्रतीति नहीं होती। यदि 'रसवत्' को अलंकार माना जाय तो सत्कवियों की कृतियों में अलंकार्य-अलंकार-भाव से किया गया विभाजन तथा विश्लेषण कुछ भी महत्त्व नहीं रखता। भामह आदि आचार्यों ने रसवत् को अलंकार कोटि में रखकर एक प्रकार की दुविधा उत्पन्न कर दी है क्योंकि जब शृंगार आदि रस ही प्रधान रूप से वर्ण्यमान है तो वे एक प्रकार से अलंकार्य ही हैं जिनका अलंकरण किसी अन्य द्वारा होना चाहिए। यदि प्रधान रूप से वर्णित रस ही को सहृदयों के आह्लाद का जनक होने से अलंकार मान लिया जाय तो फिर उससे भिन्न 'अलंकार्य' क्या होगा? भामह आदि आचार्यों ने इस तथ्य की ओर कोई ध्यान नहीं दिया है। उन्होंने 'रसवत्' अलंकार की सिद्धि के लिए जो उदाहरण प्रस्तुत किये हैं उसमें किसी ऐसे तत्त्व का विचार नहीं है जिसे अलंकार्य कहा जा सके। यही कारण है कि कुंतक ने भामह तथा उद्भट आदि आचार्यों द्वारा निर्धारित रसवत् अलंकार के लक्षणों की निस्सारता निरूपित कर उनकी असंगति सिद्ध की है।

वस्तुतः रसवत् अलंकार संस्कृत काव्यशास्त्र की विवेचना का एक अत्यंत महत्त्वपूर्ण और विचारोत्तेजक विषय रहा है। उसका निष्कर्ष इस रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है कि भामह से लेकर उद्भट पर्यन्त जितने भी आलंकारिक हुए हैं उन्होंने रस के स्पष्ट प्रकाशन अथवा रसयुक्त वर्णन को ही रसवत् अलंकार माना है क्योंकि उनके मतानुसार अलंकार ही काव्य-सौन्दर्य का पर्याय है और रस भी अलंकार का ही तत्त्व है। उनके परवर्ती आचार्यों ने रसवत् अलंकार की विवेचना चेतन और अचेतन पदार्थों की दृष्टि से करते हुए चेतन व्यक्तियों के प्रसंग में रसवत् अलंकार तथा अचेतन पदार्थों के संदर्भ में उपमादि अलंकार माने हैं जिनकी निस्सारता आनंदवर्धन ने सिद्ध की है। चूंकि आनंदवर्धन का दृष्टिकोण ध्वनिपरक था अतः उन्होंने रस के अंगीभाव में रसध्वनि तथा जहाँ रस किसी अन्य वाक्यार्थ का चमत्कारवर्धक अंग हो वहाँ रसवत् अलंकार माना है। कुंतक के मतानुसार रस के संयोग से जिस अलंकार में सरसता का संचार होता है वही रसवद् अलंकारहै। उन्होंने चमत्कार के दो रूप निर्धारित कर रसप्रपंच को भावगत चमत्कार तथा अलंकार-प्रपंच को कल्पनाजन्य चमत्कार के अंतर्गत प्रतिष्ठित किया है। उनके मतानुसार रसवद् अलंकार उसी स्थिति में अलंकारचूडामणि कहा जा सकता है जब वह उक्त दोनों चमत्कारों से समाविष्ट हो। कहने के लिए तो कुंतक ने रसवदलंकार को अलंकार—चूडामणि तथा नीरस पदार्थों की सरसअभिव्यक्ति का प्रतीयमान अपूर्व साधन भी माना है किंतु उससे स्वतंत्र तथा विशिष्ट अलंकारता सिद्ध नहीं होती। उन्होंने 'कहीं-कहीं रस के संयोग से अलंकार भी रसवत् सहृदय-आह्लादकारी हो जाता है' कहकर एक सामान्य काव्य-सिद्धांत का ही निरूपण किया है न कि किसी अलंकार-

1. वक्रोक्तिजीवितम्, ३।११।

विशेष का। कुंतक के रसवदलंकारविषयक विवेचन का मूल आधार यही है कि उस अलंकार के विवेचक आचार्य अलंकार्य तथा अलंकार का मौलिक विभेद नहीं समझ सके जिसके कारण उनकी विवेचना में भ्रांतिपूर्ण विसंगतियां आ गईं। उन्होंने रसवत् अलंकार के माध्यम से एक प्रकार से काव्य की रसवत्ता ही स्थापित की है क्योंकि रस के संयोग से ही अलंकार में काव्यमयी चारुता आती है। इस विषय में उनकी निम्नलिखित कारिका रसवत् अलंकार का मान्य आदर्श कही जा सकती है—

रसेन वर्तते तुल्यं रसत्वविधानतः।
योऽलंकारः स रसवत् तद्विदाह्लादनिर्मितेः।[1]

प्रेयोऽलंकार

'रसवत् अलंकार' की भाँति 'प्रेयोऽलंकार' की स्थिति भी विरोधमयी है। भामह ने इस अलंकार का प्रसंग उपस्थित होने पर इसका उदाहरण तो अवश्य दिया है किंतु लक्षण-निर्धारण नहीं किया जिससे उनका दृष्टिकोण पूर्णतया स्पष्ट नहीं होता।[2] दण्डी के अनुसार 'प्रियतर आख्यान ही प्रेय अलंकार है।' उनका उदाहरण भामह पर ही आधारित है जिसमें विदुर की उस प्रेयोक्ति का उल्लेख है जो उन्होंने कृष्णागमन पर अत्यंत प्रीतिपूर्वक कही थी।[3] उस कथन में भगवद्दर्शन के संयोग से उद्भावित आह्लाद का भाव संयोजित है जो प्रेयालंकार का प्राणभूत है। कुंतक उस कथन की अलंकारता से सहमत नहीं हैं क्योंकि उसमें जो बात कही गई है वह अपनी वर्ण्यमानता में वस्तु का स्वभाव अर्थात् अलंकार्यमात्र है जिसे अलंकार संज्ञा से अभिहित नहीं किया जा सकता।[4] उस उक्ति को अलंकार मानने पर 'अलंकार्य' किसे कहा जायगा, यह प्रश्न सहज ही उत्पन्न होता है। यदि उसमें एक साथ अलंकार्य-अलंकार-भाव माना जाय तो भी युक्ति-संगत नहीं है क्योंकि कुंतक के मतानुसार एक ही क्रिया में एक साथ ही वस्तु का कर्म (अलंकार्यत्व) और करण (अलंकारत्व) सिद्ध करने का प्रयत्न व्यर्थ है। अभिप्राय यह है कि अलंकार्य के स्वरूप से अतिरिक्त अलंकरण रूप में अलग विभक्त किसी अन्य-वस्तु की प्रतीति न होने से 'प्रेय' को अलंकार नहीं कहा जा सकता। उसमें अलंकार्य अलंकार-भाव का अभेद स्वीकार करना भी वैसा ही है जैसा किसी व्यक्ति द्वारा अपने कंधे पर ही आरोहण करने का प्रयास जो किसी भी दशा में शक्य नहीं है।[5] यहां इस बात का उल्लेख करना भी आवश्यक है कि कुंतक ने उन आचार्यों की मान्यताओं का भी खंडन किया है जो व्याजस्तुति को भी प्रेयालंकार की श्रेणी में रखकर उनकी एकता

---

१. कुंतक, वक्रोक्तिजीवितम्, ३।१४।
२. भामह, काव्यालंकार ३।५।
३. प्रेयो गृहागतं कृष्णमवादीद् विदुरो यथा।
अद्य या मम गोविंद जाता त्वयि गृहागते॥
कालेनैषा भवेत् प्रीतिस्तवैवागमनात् पुनः॥ —भामह, काव्यालंकार, ३।५।
४. दण्डी, काव्यादर्श, २।२७६।
५. आत्मैव नात्मनः स्कंधं क्वचिदप्यधिरोहति। —वक्रोक्तिजीवितम्, ३।११।४९।

सिद्ध करते हैं। इस विषय में कुंतक का कहना है कि काव्य में प्रिय-कथन अलंकार्य-रूप तथा व्याजस्तुति अलंकार-रूप होते हैं जिन्हें न तो एक ही श्रेणी में रखा जा सकता है और न उन दोनों का सांकर्य ही सम्भव है। दोनों को अलंकार रूप में मानने पर किसी तीसरी वस्तु की कल्पना अलंकार्य रूप में करनी पड़ती है जो संभव नहीं है। प्रेय को अलंकार रूप मानने में एक अन्य कठिनाई यह भी है कि 'प्रेयोभणिति' से रहित किसी अन्य वर्णनीय विषय में भी प्रेय का प्रयोग उपमा आदि अलंकारों की भाँति होना चाहिए जबकि ऐसी संभावना बहुत कम है अतः 'रसवत्' की भाँति प्रेय को भी अलंकार्य रूप में ही मान्यता प्रदान करना सर्वथा समुचित है।

ऊर्जस्वित्, उदात्त और समाहित अलंकार

आलंकारिकों ने ऊर्जस्वित्, उदात्त तथा समाहित आदि अलंकारों की काव्यगत स्थिति का भी विवेचन यथामति किया है। इस विषय में भामह ने जो उदाहरण प्रस्तुत किये हैं उनसे स्पष्ट है कि वे ऊर्जस्वी वचन को ऊर्जस्वित् अलंकार तथा उदात्त वस्तु के वर्णन को उदात्त अलंकार मानते थे।[1] अन्य आचार्यों ने रस के अंगत्व में रसवत् भाव के अंगत्व में प्रेय, रसाभास और भावाभास के अंगत्व में ऊर्जस्वित और भावशांति के अंगत्व में समाहित अलंकार माने हैं। इन लक्षणों से स्पष्ट है कि रसाभास तथा भावाभास के अंग होने पर उर्जस्वित् अलंकार होता है। रस शब्द से प्रसिद्ध शृंगार आदि रसों का ग्रहण होता है तथा भाव शब्द से देवादि विषयक रति का बोध होता है। काव्य के जिस स्थल में रस तथा भाव जब अनुचित रूप से वर्णित होते हैं तो उन्हें रसाभास तथा भावाभास कहा जाता है और वे दोनों जहाँ किसी अन्य के अंग बनकर उपस्थित हो वहाँ ऊर्जस्वित अलंकार होता है। आचार्य कुंतक इस मत से विपरीत धारणा रखते हैं। उनकी मान्यता है कि रसवत् तथा प्रेय की भाँति ऊर्जस्वित् भी अलंकार्य है क्योंकि अनौचित्य के अतिरिक्त रसभंग का अन्य कोई कारण नहीं होता और जहाँ अनौचित्य का संसर्ग आता है वहाँ रस के दूषित होने पर उसे अलंकारता नहीं प्रदान की जा सकती। साथ ही साथ रसवत् और प्रेय की भाँति ऊर्जस्वित् भी वर्णनीय वस्तु का स्वरूपभूत है अतः उसकी अलंकार्यता ही सुग्राह्य है। आचार्य उद्भट ने काम और क्रोध आदि कारणों से अनुचित रूप में प्रवृत्त भावों और रसों के वर्णन में ऊर्जस्वित् अलंकार माना है[2] जबकि कुंतक ने उसका खंडन किया है। उद्भट ने ऊर्जस्वित् अलंकार का जो उदाहरण दिया है[3] उसमें

१. ऊर्जस्वि कर्णेन यथा पार्थाय पुनरागतः।
द्विः संदधाति किं कर्णः शल्येत्यहिरपाकृतः॥ —काव्यालंकार, ३।७।
अपहर्ताहमस्मीति हृदि ते मास्म भूद्भयम्।
विमुखेषु न मे खंगः प्रहर्तुं जातु वांछति॥ —वक्रोक्तिजीवितम्, ३।१२।५१।
उदात्तं शक्तिमान् रामो गुरुवाक्यानुरोधकः।
विहायोपनतं राज्यं यथा वनमुपागतः॥ —काव्यालंकार, ३।११।

२. काव्यालंकारसार संग्रह, ४।९-१०।

३. तथा कामोऽस्य ववृधे यथा हिमगिरेः सुताम्।
संग्रहीतु प्रववृते हठेनापास्य सत्पथम्॥ —कुमारसंभव, षष्ठ सर्ग।

भगवान् शंकर का कामावेशमूलक अनुचित आचरण द्योतित है जो उनके मत से ऊर्जस्वित् अलंकार का कारण है जबकि आचार्य आनंदवर्धन तथा कुंतक उसके अनौचित्य को रसाभास तथा भावाभास के क्षेत्र का विषय मानते हैं।[1] अभिप्राय यह है कि ऊर्जस्वित् की अलंकार्यता तथा अलंकारता के सम्बन्ध में आचार्यों में मतभेद है जिसके आधारभूत कारण का अनुमान उनके भेदमूलक दृष्टिकोण से लगाया जा सकता है।

भामह ने उदात्त अलंकार के विवेचन के प्रसंग में जो उदाहरण प्रस्तुत किया है, उसमें राम के उदात्त चरित्र का संकेत है जिससे स्पष्ट है कि वे उदात्त वर्णन में उदात्त अलंकार मानते थे।[2] रुद्रट ने ऋद्धिमत् वस्तु के वर्णन तथा महात्माओं के चरित्रोल्लेख में उदात्त अलंकार का स्वरूप चित्रित किया है।[3] कुंतक इस विषय में अपना स्वतंत्र मत रखते हैं। उन्हें उदात्त का अलंकारत्व स्वीकार नहीं है क्योंकि किसी वस्तु का ऋद्धिमत् वर्णन अथवा चरित्रों का औदात्यपूर्ण चित्रण वर्ण्यमान वस्तु का अभिन्न अंग होने के कारण अलंकार्य ही हो सकता है, न कि अलंकार। वस्तुतः अलंकार काव्य का होता है न कि काव्य ही अलंकार होता है अतः उद्भट का यह कथन कि 'महापुरुषों का चरित्र-वर्णन अथवा ऋद्धिमत् वस्तु का चित्रण जहाँ प्रधान रूप से वर्ण्यमान अर्थात् इतिवृत्त रूप न होकर उपलक्षणता अथवा गौणता को प्राप्त होता है, वही उदात्त अलंकार है' किसी भी रूप में संगत नहीं है। इसको इस प्रकार भी स्पष्ट किया सकता है कि जिस प्रकार हस्तादि अंगों का शरीर के साथ अवयव रूप संबंध होता है न कि अलंकाररूप में, उसी प्रकार महापुरुषों के चरित अथवा ऋद्धिमत् वस्तु का प्रकृत वाक्यार्थ के साथ अवयव रूप से ही संबंध हो सकता है न कि अलंकार रूप में अतः उदात्त के इन दोनों स्वरूपों को केवल अलंकार्य मानना ही उचित है।

भामह ने समाहित अलंकार का भी लक्षण निरूपित न कर उसका केवल उदाहरण दिया है किंतु उस उदाहरण से भी यह लक्षण अन्वेषित किया जा सकता है। उसमें भावशांति आदि की अंगरूपता होती है जिसके कारण वह समाहित अलंकार कहलाता है। उसके उदाहरण में कहा गया है कि 'परशुरामजी के पास क्षत्रिय नारियां जिस भाव से जा रही थीं, वह भाव मार्ग में नारदजी को देखकर तिरोहित हो गया।[4] भाव का वह तिरोधान एक प्रकार से भावशांति का ही पर्याय है जिसके अनुसार वहाँ समाहित अलंकार है। उद्भटकृत समाहित अलंकार के लक्षण में भी यही बात कही गई है।[5] कुंतक ने रसवदादि अलंकारों की भाँति समाहित की अलंकारता भी खंडित की है। उनके विवेचन से स्पष्ट है कि भामह और उद्भट आदि विद्वानों ने समाहित के जिन रूपों को अलंकार माना है उन्हें वे अलंकार न कहकर अभिधा के प्रकार मात्र मानते हैं।[6]

१. कुंतक वक्रोक्तिजीवितम्, ३।१२ की वृत्ति।

२. काव्यालंकार, ३।११।

३. काव्यालंकारसार ४।१७।

४. भामह, काव्यालंकार, ३।१०।

५. रसभावतदाभासवृत्तेः प्रशमबंधनम्।
अन्यानुभवनिः शून्यरूपो यत्तात् समाहितम्। —काव्यालंकारसारसंग्रह, ४।१४।

६. वक्रोक्तिजीवितम्, ३।१३।

अलंकारों की काव्यगत सत्ता का निष्कर्ष

अलंकारों को चाहे विद्वान् किसी भी रूप में विवेचित करे पर तत्त्वतः वे 'चारुत्वहेतु' के ही रूप में प्रसिद्ध हैं। वे स्वयं ही अपनी चारुता में हेतु नहीं होते अपितु उनकी अलंकारता इस बात में सन्निहित है कि रस और भाव इत्यादि का आश्रय लेकर वे किस प्रकार विनिवेष्टित किये जाते हैं। अलंकारों के लिए अलंकार्य की आवश्यकता परम वांछनीय है। साधारणतया काव्य-वर्णित वस्तु-योजना को अलंकार्य कहा जाता है किंतु शास्त्रीय भाषा में विभाव आदि के अंतर्गत उनका समावेश कर लिया जाता है क्योंकि उनका पर्यवसान काव्य के प्रधानीभूत आत्मतत्त्व-रस—में होता है। अलंकारों का समुचित प्रयोग वाच्य अर्थ को भी अलंकृत करता है तथा उनसे व्यंग्यार्थ की अभिव्यक्ति में भी कलानिपुणता एवं शक्ति प्राप्त होती है। आचार्यों ने 'ध्वन्यात्मक रस' को अलंकार्य कहकर अलंकारों की स्थिति शरीरसमवायि-संबंध से कटककुंडलवत् मानी है। उनके कथन का अभिप्राय यह है कि शरीर को अलंकृत करने के कारण ही अलंकार चमत्कारजनक कहे जाते हैं और उनका शरीर से समवाय संबंध होता है। इसका यह आशय नहीं कि शरीर पर अलंकार नित्य धारण किये जाने चाहिए अपितु इसका तो यही मंतव्य है कि अलंकार शरीर को विभूषित करते हैं। एक प्रकार से आभूषणों के द्वारा चेतन आत्मा ही अलंकृत की जाती है क्योंकि वे विशेष प्रकार की चित्तवृत्तियों के औचित्य को सूचित करते हैं। अभिनवगुप्त ने लौकिक उदाहरण द्वारा इस विषय को स्पष्ट करते हुए लिखा है कि जिस प्रकार किसी नवयुवक के शरीर पर धारण किये हुए कटक-कुंडल आदि आभूषण उस युवक की रागात्मिका चित्तवृत्ति के द्योतक हैं उसी प्रकार काव्य-वर्णित अलंकार भी रसव्यंजना के कार्य में उपयोगी सिद्ध होते हैं। अलंकारों का औचित्य एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण विषय है क्योंकि नवयुवक की चित्तवृत्ति के अनुकूल कटककुंडल की महत्ता है तो किसी संन्यासी के लिए काषाय वस्त्रों की। वस्तुतः जिस प्रकार चेतन आत्मा का सम्बन्ध पंचभौतिक शरीर से है उसी प्रकार उसको अलंकृत करने वाले अलंकारों से भी है।

अलंकार्य-चेतना के अभाव में अलंकारों की कोई शोभा नहीं होती क्योंकि किसी शव पर सजाये हुए अलंकारों को कौन व्यक्ति शोभनीय कहेगा? जिस प्रकार शव पर धारण किये गये कटक-कुंडल आदि अलंकार निरर्थक हैं उसी प्रकार संन्यासी आदि द्वारा किया गया कटक-कुंडलादि का प्रयोग अनुचित एवं उपहासास्पद है। बात यह है कि अलंकार्य के अनुरूप ही अलंकारों का धारण करना शोभावर्द्धक होता है और जड़-स्वरूप अलंकारों का उपयोग चेतन-स्वरूप आत्मा के लिए होता है तभी तो बोलचाल की भाषा में भी यह कहा जाता है कि 'मैं (आत्मा) अलंकृत हो गया' इत्यादि। अभिनवगुप्त ने अलंकार्य और अलंकारों के पारस्परिक सम्बन्ध का विवेचन जिस रूप में किया है उसे उद्धृत करके ही हम अपनी काव्य-सर्जनागत अलंकार-विवेचना समाप्त करते हैं।

उनकी मान्यता इस प्रकार है जिसका आशय निष्कर्ष रूप में स्पष्ट किया जा चुका है—

"कटककेयूरादिभिरपि शरीरसमवायिभिश्चेतन आत्मैव तत्तचित्तवृत्ति विशेषौचित्यसूचनात्मतयालंक्रियते। तथाहि—अचेतनं शवशरीरं कुण्डलाद्युपेतमपि न भाति, अलंकार्यस्याभावात्। यतिशरीरं कटकादियुक्तं हास्यावहं भवति, अलंकार्यस्यानौचित्यात्। नहि देहस्य किंचिदनौचित्यमिति वस्तत आत्मैवालंकार्यः अहमलंकृत इत्यभिधानात्।"

८

काव्य-सर्जना और दोष-विमर्श

भारतीय दृष्टि के आलोक में काव्य के स्वरूप-विधान और रचना-वैशिष्ट्य को प्रयोजनीय बनाकर पूर्ववर्ती अध्याय में जिन गुणालंकारों का शास्त्रीय विवेचन किया गया, वे निश्चय ही काव्य-सर्जना के उत्कर्ष हेतु एवं शोभावर्द्धक धर्म हैं। उनके भेदोपभेदों के विमर्श से स्पष्ट है कि काव्य का रूपबोध एवं आस्वाद-विश्लेषण करने की प्रक्रियाओं में उनका महत्त्वपूर्ण सहयोग रहता है। यों तो यह विवेचन मूलतः भारतीय काव्यशास्त्र की परिनिष्ठ प्रणाली में शब्दायित हुआ है, किन्तु गम्भीरतापूर्वक विचार करने पर उससे ऐसे तत्त्व-बिन्दु भी निष्यंदित किये जा सकते हैं जिनसे विश्व-काव्य की स्वरूप-सर्जना का अन्तर्बोध करने में भी सहायता मिल सकती है। गुणालंकारों की काव्यगत स्थिति का सम्पूर्ण विवेचन करना अत्यन्त दुःसाध्य एवं निरपेक्ष स्वतंत्रता का विषय है, अतः मैंने अपनी विवेचना में केवल उन्हीं गुणालंकारों को विशेष रूप से ध्यान में रखा था जिनका निरूपण करना प्रसंगानुकूल प्रतीत हुआ। इन गुणालंकारों से ही सम्बद्ध एक महत्त्वपूर्ण विषय काव्यगत दोषों का निरूपण है जिनकी बहुस्वीकृत विवेचना किये बिना गुणालंकारों का विषयप्रबोध सम्पूर्णरीत्या नहीं किया जा सकता। यही कारण है कि मैंने काव्य-दोषों का गुणाभाव का पर्याय तत्त्व न मानकर गुणविरोधी भावों के रूप में ही एक स्वतंत्र अध्याय का विषय बनाया है। साधारणतया अलंकारों की भाँति दोष भी काव्य की स्वरूप-विवेचना के अनिवार्य अंग नहीं कहे जा सकते तथापि उनका परिज्ञान काव्य-सर्जना को निर्दुष्ट बनाने की दिशा में एक महत्त्वपूर्ण अवधान है, इस तथ्य की भी अवहेलना नहीं की जा सकती। आचार्यों ने पद-रचना के स्थूल उपकरणों से लेकर रस-चर्वणा के सूक्ष्मतम आयामों में भी दोष-दर्शन का परामर्श किया है जो अत्यंत गुरुगम्भीर और तत्त्वसंवलित है। वस्तुतः अनौचित्य को ही दोष-विधान का आधार कहा जा सकता है, क्योंकि उसके कारण रचना के शब्दार्थों और रसों का अपकर्ष होता है। प्रस्तुत अध्याय में काव्य-दोषों के स्वरूप-लक्षण, भेद-प्रभेद तथा नित्यानित्य रूप एवं उनकी परिहार्यता का विश्लेषण करने के पश्चात् उन वर्जनीयों और निषिद्ध प्रसंगों की भी विवेचना की जायगी जिनको निराकृत करने के लिए काव्यशास्त्रियों ने अनेक प्रकार के आवश्यक निदेश प्रदान किये हैं। इस प्रकार गुणालंकारों और काव्यदोषों की अवधारणा के पश्चात् हम अपनी शोध-यात्रा के उस स्थल पर पहुंच सकेंगे जहाँ हमारे लिए काव्यगत औचित्य-विधान का निरूपण करना मात्र अवशिष्ट रह जायगा।

काव्य-दोषों का स्वरूप-लक्षण

यों तो भारतीय काव्यशास्त्र के आद्याचार्य भरतमुनि से लेकर अद्यावधि काव्य-दोषों के निरूपण की व्यापक परम्परा रही है किंतु उसका उल्लेखनीय विषयप्रवर्तन आचार्य भामह के कार्यकाल से हुआ है। आचार्य भामह ने अपने 'काव्यालंकार' नामक ग्रंथ में काव्यदोषों का जो विवेचन किया है वह उक्त ग्रंथ के प्रथम परिच्छेद से लेकर पंचम परिच्छेद पर्यन्त-व्याप्त है। प्रथम परिच्छेद की ३७वीं कारिका में छः दोषों का तथा ४७वीं कारिका में चार दोषों का वर्णन है। द्वितीय परिच्छेद में उपमा के सात दोषों का तथा चतुर्थ परिच्छेद में पन्द्रह दोषों का विवरण दिया गया है जो क्रमशः पंचम परिच्छेद तक निरूपित होता चला है। इस विवेचन से यह तथ्य स्पष्ट होता है कि कालांतर में जिस प्रकार अलंकारों की संख्या में वृद्धि होती गई, उसी प्रकार दोषों की संखया में भी विस्तार हुआ। अपनी प्रारम्भिक अवस्था के कारण भामह कृत दोष-विवेचन में अनेक प्रकार की विसंगतियाँ भी विद्यमान हैं। उनमें कहीं पर विवेच्य दोष का लक्षणमात्र प्रस्तुत किया गया है तो कहीं पर उदाहरण मात्र। यदि कहीं पर दोनों का प्रयोग हुआ है तो उनकी संगति में अस्पष्टता आ गई है। कालांतर में जिन आचार्यों ने काव्य-दोषों का विवेचन किया, वे भामह से भिन्न दृष्टिकोण लेकर चले हैं जिससे स्पष्ट है कि वे भामह के दोष-विवेचन की अपूर्णताओं से परिचित थे और उन्हें उचित रूप में प्रतिष्ठित करना चाहते थे। इस प्रकार का परिवर्तन आचार्यों के विकासमान विचार-बिंबु का भी निर्देशक है।

काव्य-दोषों के सम्बन्ध में आचार्य दण्डी का दृष्टिकोण भामह की अपेक्षा अधिक स्पष्ट है। उन्होंने दुष्प्रयुक्त वाणी की निंदा करते हुए उसके प्रयोक्ता को गौः बलीवर्द पद से उपलक्षित किया है। उनके मतानुसार काव्य के पद, पदांश, वाक्य और अर्थ में परिवेष्टित दोष का आंशिक अस्तित्व उसके सौन्दर्य को उसी प्रकार लांछित कर देता है जिस प्रकार यथोचित परिधान से परिष्कृत सुन्दर और सुगठित शरीर किसी अवयव-विशेष पर अवस्थित श्वेतकुष्ठ द्वारा सौभाग्यवर्जित और निन्दास्पद हो जाता है।[1] दण्डी ने काव्य को 'इष्टार्थव्यवच्छिन्न पदावली' कहते हुए दोषों को केवल शब्द और अर्थपर्यन्त ही सीमित रखा है और रसादिगत दोषों की ओर ध्यान नहीं दिया है।

वामन ने काव्यालंकार सूत्र के द्वितीय अधिकरण को 'दोषदर्शन' नाम से संज्ञित कर उसके दो अध्यायों में क्रमशः 'पदपदार्थ दोषों' तथा 'वाक्यवाक्यार्थदोषों' का विवेचन किया है। उनके मतानुसार दोष काव्य-सौन्दर्य के विघातक अथवा आक्षेपहेतु है जिनका त्याग किये बिना काव्य-शरीर में 'गुणधान' हो ही नहीं सकता। उनके शब्दों में दोष का लक्षण 'गुणविपर्ययात्मानो दोषाः' है जिसका अर्थ यह है कि 'दोष गुणों के विपरीत विरुद्धगामी स्वरूप वाले होते हैं।' यदि कोई चाहे तो गुणों के विपर्यय का अर्थ 'गुणों का अभाव' भी ले सकता है, किंतु वह अधिक ग्राह्य नहीं है, क्योंकि वैसा मानने

१. दण्डी, काव्यादर्श, १।७।

पर गुणाभाव की भाँति दोष भी अभावरूप हो जायेंगे जब कि वामन का अभिप्राय उन्हें गुणविरोधी भावरूप मानने से है। अपने इसी प्रयोजन की सिद्धि के लिए उन्होंने दोष-लक्षण-निरूपक सूत्र में 'आत्म' शब्द का प्रयोग किया है।

आचार्य मम्मट ने दोष का सामान्य लक्षण निर्धारित करते हुए लिखा है कि 'जिसके द्वारा मुख्यार्थ की हति' (अपकर्ष) होती है, उसे दोष कहते हैं। उनका मुख्यार्थ से अभिप्राय वाच्यार्थ मात्र न होकर 'रस' से है क्योंकि काव्य में रस ही मुख्य अर्थ है।[1] यों तो रस का आश्रय होने से वाच्य अर्थ भी मुख्य अर्थ कहलाता है, किन्तु रस के साथ उसका सम्बन्ध जोड़कर उन्होंने उसका यह अभिप्राय ध्वनित किया है कि जहाँ पर चमत्कारपूर्ण वाच्य का अपकर्ष होता है, वहीं दोष की स्थिति रहती है। यह दोष 'शब्द' और 'अर्थ' दोनों में होता है जिनके अन्तर्गत वर्ण और रचना का समावेश होने के कारण दोषों की सीमा अत्यंत विस्तृत हो जाती है। मम्मट ने दोषों का सामान्य लक्षण निरूपित करने के पश्चात् विशेषलक्षण के अन्तर्गत उनके सोलह प्रकार गिनाये जिनका उल्लेख निम्नलिखित कारिकाओं में इस प्रकार हुआ है—

१ २ ३ ४
दुष्टं पदं श्रुतिकटु च्युतसंस्कृत्यप्रयुक्तमसमर्थम्।
५ ६ ७ ८ ९
निहतार्थमनु चितार्थं निरर्थकमवाचकं त्रिधाश्लीलम्॥
१० ११ १२ १३ १४
संदिग्धमप्रतीतं ग्राम्यं नेयार्थमथ भवेत्क्लिष्टम्।
१५ १६
अविमृष्टविधे यांशं विरुद्ध मति कृत्समासगतमेव॥[2]

'अग्राम्यता' का महत्त्व और ग्राम्यता की निंदा

दण्डी ने अग्राम्यता का महत्त्व प्रतिपादित करते हुए लिखा है कि यद्यपि किसी काव्यकृति में सब प्रकार के (शब्दगत, अर्थगत और शब्दार्थगत) अलंकार उसके वाच्य, लक्ष्य और व्यंग्य नामक अर्थों में रस अथवा चमत्कारविशेष का अभिसेचन करते हैं, किन्तु तत्त्वतः अग्राम्यता अथवा विदग्धजनव्यावहारिकता को ही रसोद्बोधन के दायित्व का प्रधान श्रेय प्राप्त है।[3] अग्राम्यता के कारण काव्य-रचना में वैचित्र्यपूर्ण सौष्ठव संचरित हो जाता है और जिन उक्तियों में अश्लीलता, असभ्यार्थनिबंधना और अविदग्धता की संभावना हो सकती है, वे उक्तियाँ भी अग्राम्यता के निर्वाह के कारण सहृदय ग्राह्य बनकर उनका चित्तानुरंजन कर सकती हैं। अपने कथन को स्पष्ट करने के लिए दण्डी ने एक ही अभिप्राय के सूचक दो वाक्य लिये हैं और उनमें क्रमशः ग्राम्यता और अग्राम्यता के लक्षण उपघटित कर क्रमशः उनकी विरसता और रसव्यंजकता सिद्ध

१. काव्यप्रकाश, ७।१।
२. काव्यप्रकाश, सप्तम उल्लास क्रमागत सूत्र सं० ७२।
३. काव्यादर्श, १-६२।

की है। दण्डी का कथन है कि यदि कोई कामासक्त युवक 'कन्ये कामयमानं मां न त्वं कामयसे कथम्' जैसे प्रयोग करे तो उसमें ग्राम्यत्व दोष के कारण एक प्रकार की विरसता का ही लज्जास्पद भाव अन्तर्निहित कहा जायगा जिससे विदग्धजनों के मानस में ग्लानि-सी उत्पन्न होगी। इसके विपरीत यदि कोई प्रेमी उसी उक्ति को इस रूप में कहे कि 'कामं कंदर्प चाण्डालो मयि वामाक्षि निर्दयः। त्वयि निर्मत्सरो दिष्ट्या'—तो इस कथन में अग्राम्यता का अर्थ-निर्वाह होने के कारण रसव्यंजकता ही मानी जायगी। अभिप्राय यह है कि ग्राम्यता चाहे शब्दगत हो अथवा अर्थगत—सभी दृष्टियों से निन्दनीय है क्योंकि उसके द्वारा काव्य-रस का अपकर्ष ही होता है।

दण्डी ने माधुर्य प्रतिबंधक अर्थगत ग्राम्यत्व के साथ-साथ शब्दगत ग्राम्यत्व का भी स्वरूप निरूपित किया है। उनका कथन है कि असभ्य शब्दों के उच्चारण से शब्द में ग्राम्यता नामक दोष होता है जैसे रतिक्रीडाप्रसंग 'यम्' धातु से निष्पन्न 'याम' पद का प्रयोग जो नितांत ग्राम्य है और जिसके श्रवणकाल से ही वैरस्य उत्पन्न हो जाता है। ('यम्' धातु मैथुनार्थवाची है और 'या भवतः प्रिया' जैसे प्रयोगों में यदि समीपस्थ संधि कर दी जाय तो 'याभवतः' का अर्थ सततमैथुनानुरक्त हो जाता है। पदसंधि का एक अन्य उदाहरण 'चलं डामर चेष्टितम्' है जिसको सन्निधानवृति से संधित करने पर 'लंडा' पद बन जाता है जो असभ्यार्थत्व का वाचक है) पदसंधानवृत्ति के अतिरिक्त वाक्यार्थत्व द्वारा भी अश्लीलतापूर्ण ग्राम्यत्व दोष होता है जो किसी भी काव्यमार्ग से संस्तुत नहीं है। इसका उदाहरण 'खरं प्रहृत्य विश्रांतः पुरुषो वीर्यवानिति' है जिसका प्राकरणिक अर्थ तो यह है कि पराक्रमशाली (वीर्यवान्) दाशरथि राम (पुरुष) ने खर नामक दैत्य को मारकर विश्राम प्राप्त किया, किंतु इसका एक अन्य असभ्य अर्थ यह भी हो सकता है कि वीर्यमान (गाढशुक्र) पुरुष (कामुक) ने मदनध्वज से मदनमंदिर को प्रताडितकर (खरं प्रहृत्य) ग्लानि प्राप्त की (विश्रांतः)। दण्डी ने उक्त उदाहरण को ग्राम्यत्व दोष के कारण हेय कहा है। यहां इस बात का उल्लेख करना आवश्यक है कि दण्डी ने 'भगिनी, भगवती, शिवलिंग, विश्वयोनि' प्रभृति शब्दों के प्रयोग को असभ्यार्थ का सूचक न मानकर काव्य रीतियों में सुव्यवहृत माना है, क्योंकि उनमें किसी भी प्रकार की दुष्टता नहीं है। इस सम्बन्ध में आचार्य भोजराज का कथन है कि संवीत (अपुष्टतया अंगीकृत) गुप्त (प्रसिद्ध अर्थ से अप्रसिद्ध असभ्य अर्थ का गोपन) और लक्षित संज्ञक तीन प्रकारों में असभ्यार्थक शब्दसमुदाय भी निर्दोष रह सकता है।[1] इन तीनों प्रकारों के उदाहरण क्रमशः निम्नलिखित हैं—

१. ग्राम्यं घृणावदश्लीलामंगलार्थम् यदीरितम्।
तत्संवीतेषु गुप्तेषु लक्षितेषु न दुष्यति।
संवीतस्य हि लोकेऽस्मिन् न दोषान्वेषणं क्षमं।
शिवलिंगस्यसंस्थाने कस्यासभ्यत्व भावना।—भोज, सरस्वतीकण्ठाभरण, १।१०५।

संवीत प्रकार

तस्मै हिमाद्रेः प्रयतां तनूजां यतात्मने रोचयितुं यतस्व।
योषित्सु तद्वीर्यं निषेकभूमिः सैवक्षमेत्यात्मभुवोपदिष्टम् ।।

गुप्त प्रकार

सुदुस्त्यजा यद्यपि जन्मभूमिः गजैरसंवाधमयां बभूवे।
स तेऽनुनेयः सुभगोऽभिमानी भगिन्ययं न प्रथमाभिसंधिः।।

लक्षित प्रकार

ब्रह्माण्डकारणं योऽप्सु निदधे बीजमात्मनः।
उपस्थानं करोम्येष तस्मै शेषाहिशायने।।

उपर्युक्त उदाहरणों में रेखांकित पद संवीत, गुप्त और लक्षित प्रकारों से निर्दोषतावाचक हैं अतः उनमें ग्राम्यता नहीं मानी गई है।

वस्तुकाल की विशेष दशाओं में दोष भी गुणालंकारित बन जाते हैं

भारतीय आचार्यों ने जिस प्रकार अयथार्थत्व आदि दोषों की अनित्यता का उल्लेखकर उन दशाओं का वर्णन किया है जिनके प्रभाववश वे गुणालंकार का रूपधारण कर लेते हैं, उसी प्रकार देशकालादि विरोधी दोषों की गुणवत्ता भी निर्दिष्ट की है। उनका मत है कि देशकालादिविरुद्धत्व दोष कवि-प्रतिभा के कौशल से दोषगणना का अतिक्रमण कर गुणगणना को प्राप्त कर लेते हैं। उदाहरणार्थ यदि कोई कवि किसी राजा के अलौकिक सामर्थ्य और प्रभाव का अतिशयोक्तिपूर्ण वर्णन करते हुए उसके उद्यानों में कल्पवृक्षों का प्ररोहण निरूपित करे तो उसमें राजा का प्रभावातिशय्य व्यंजित होने के कारण वहाँ देश-विरोधी दोष नहीं होगा। कालसम्मत दृष्टि से कदम्ब पुष्प के साथ सप्तपर्ण पुष्पोद्गम का वर्णन करना अनुचित है, किंतु यदि कोई कवि 'अकाले फल पुष्पाणि देशविद्रवकारणम्' के अनुसार उक्त पुष्पों का एक साथ उद्गम निरूपित कर शत्रुनरेश के विनाश की संसूचक स्थिति का चित्रण करे तो वहाँ पर देश-विरुद्धत्व दोष नहीं माना जायगा। यों तो विषमलयगान का रागवर्धकत्व कला-विरुद्ध है किंतु कामासक्त व्यक्तियों के उत्कट राग का संसूचक बनकर वह 'कलाविरुद्धत्व' दोष के स्थान पर गुण बन जाता है। 'शीतलचन्द अग्नि सम लागत' जैसे वर्णन लोक-विरुद्धत्व दोष के उदाहरण कहे जा सकते है, किंतु विरही जनों की मनोदशा के वर्णन में वे उद्दीपन विभाव के निर्देशक गुण बन जाते हैं। यों तो साधारणतया परस्पर विरोधी धर्मों का एकत्र वर्णन न्याय विरुद्ध है, किंतु परमेश्वर के लोकातीत माहात्म्य का संसूचन करने के कारण वे गुण बन जाते हैं। आगमविरुद्ध दोष का एक उदाहरण एक स्त्री के अनेक पति होना है, किंतु द्रौपदी का देवताभाव सूचित करने के लिए वैसा वर्णन दोष न होकर गुण ही होता है। अभिप्राय यह है कि दोषों और गुणों की स्थिति वस्तुकाल पर बहुत

अधिक निर्भर है, अतः काव्यग्रंथों का सम्यक् समीक्षण करते समय पूर्वापर परिस्थितियों का पूर्ण ध्यान रखकर ही अपना निर्णय देना न्यायोचित है। आचार्य दण्डी ने भरतादि आचार्य-सम्मत गुण-दोषों का विवेचन कर यह उचित निर्णय ही दिया है कि साहित्य-मर्मज्ञ विद्वान् वाणी को वशवर्त्तिनी बनाकर उसके साथ उसी प्रकार विलास करता है, जिस प्रकार कोई धन-वैभव-सम्पन्न सुन्दर युवक किसी रमणी को अंकस्थ कर सुख और सौभाग्य के साथ-साथ कीर्त्तिलाभ भी करता है।[1]

दोषों का नित्यानित्य स्वरूप

काव्य-दोषों के विवेचन का एक प्रमुख अंश उनके नित्यानित्य स्वरूप का विश्लेषण है। काव्य-कृतियों के अनुशीलन से स्पष्ट होता है कि उन दोषों के अनेक अपवादस्थल भी हैं जिनके कारण एक स्थान पर प्रतीत होने वाला काव्यदोष दूसरे स्थान पर गुण हो जाता है। इस प्रकार के दोषों को आचार्यों ने अनित्य दोषों की संज्ञा दी है। मम्मट इस विषय में अन्य आलंकारिकों से सहमत हैं कि 'च्युतसंस्कृति' आदि नित्य दोष हैं क्योंकि वे प्रत्येक स्थिति में रस का अपकर्ष ही करते हैं। इससे विपरीत श्रुतिकटु आदि दोष अनित्य दोष कहलाते हैं, क्योंकि उनके कारण रौद्र और वीर आदि कठोर रसों में रस का अपकर्ष नहीं होता। आचार्यों ने 'कर्णावतंस' आदि पदों में 'कर्ण' आदि के प्रयोग को सन्निधान आदि के बोधन के लिए निरूपित कर उनको दोषरूप नहीं माना है क्योंकि कर्णावतंस, श्रवणकुंडल, धनुर्ज्या, मुक्ताहार और पुष्पमाला आदि प्रयोग प्राचीन महाकवियों की कृतियों में परम्परा से उपलब्ध होते आये हैं। ऐसे दोषों के निराकरण का आधार उन्होंने कर्ण, श्रवण, धनु, मुक्ता तथा पुष्प आदि विशेषणों से द्योतित होने वाली प्रकृष्टता को निर्दिष्ट किया है। वस्तुतः इस प्रकार के प्रयोगों से हमें श्रुत्यभ्यास-सा हो गया है और उनमें किसी भी प्रकार की 'मुख्यार्थ-हति' प्रतीत नहीं होती। हां, यह बात अवश्य है कि इस तर्क का आधार लेकर 'जघनकांची' आदि पदों का प्रयोग नहीं करना चाहिए क्योंकि उनमें पूर्ववर्णित पदों का सा प्रकृष्ट भाव ध्वनित नहीं किया जा सकता। इस विवेचित प्रसंग से स्पष्ट है कि मम्मट ने आचार्य वामन के 'काव्यालंकारसूत्र' नामक ग्रंथ में उल्लिखित 'तदिदं प्रथक्तेषु' (२-२-१९ की वृत्ति) के आधार पर अपने सूत्र-श्लोक[2] की रचना कर उनके उसी अभिमत का समर्थन किया है जो उन्हें युक्तिसंगत लगा है। उन्हें वामन का मत स्वीकार नहीं है कि 'विशेषण जोड़ने के लिए कहीं-कहीं गतार्थ विशेष्य का भी प्रयोग किया जा सकता है" (गतार्थस्यापि विशेष्यस्य विशेषणादानार्थ कचित्प्रयोगः कार्यः)। वामन ने 'जगाद मधुरा वाचः विशदाक्षरशालिनीम्' द्वारा यह निर्दिष्ट किया था कि इस उदाहरण में क्रियाविशेषण होने पर भी विवक्षित अर्थ की प्रतीति सिद्ध हो सकती है जो मम्मट को मान्य नहीं है। मम्मट

१. दण्डी, काव्यादर्श, ३।१८७।

२. कर्णावतंसादिपदे कर्णादिध्वनि निर्मितिः।
सन्निधानादि बोधनार्थं स्थितेष्वेतत्समर्थनम्॥
—काव्यप्रकाश, सप्तम उल्लास क्रमागत सूत्र संख्या ७६,७७।

का मत है कि यदि वामन का पूर्वोक्त सिद्धांत उचित माना जाय तब तो निम्नलिखित श्लोक[1] में प्रयुक्त 'पादाभ्याम्व्रजन्' जैसे प्रयोग भी ठीक कहे जा सकते हैं। कहने की आवश्यकता नहीं कि मम्मट का यह निर्णय भी सर्वथा निर्विरोध रूप में स्वीकार नहीं किया जा सकता।

मम्मट का मत है कि जो बात लोकविख्यात है उसके लिए किसी भी प्रकार का हेतु न देने पर भी दोष नहीं होता[2] जैसे, रात्रि में पद्मसंकोच तथा दिन में चन्द्रमा का निष्प्रभत्व आदि। उनके मतानुसार यदि कोई वक्ता दूसरों के दूषित पदों का प्रयोग अनुकरण द्वारा निर्दिष्ट करता है तो वह अपने उन उच्चरित पदों के कारण दोष का भागी नहीं होता।[3] ऐसा भी देखा जाता है कि वक्ता आदि के औचित्य के कारण कहीं दोष भी गुण हो जाता है और कहीं न वह दोष रहता है और न गुण।[4] इसका एक प्रमाण यह है कि यदि कहीं कोई वैयाकरण वक्ता है तो रौद्र आदि रसों के व्यंग्य होने पर कष्टत्व आदि दोष गुण बन जाते हैं। वीर रौद्र और वीभत्स आदि रसों के व्यंग्य होने पर रस के अनुरोध से श्रुतिकटुदोष के गुण हो जाने की बात तो प्रारम्भ में ही कही जा चुकी है। सिंह आदि के वाच्य होने पर कठोर शब्दों का प्रयोग श्रुति कष्टत्व दोष न रहकर गुण हो जाता है। मम्मट ने श्रुतिकटुत्व और अतीत्व आदि दोषों को लक्षणा से कष्टत्व दोष कहा है। उनका कथन है कि नीरस काव्य की रचना में क्लिष्ट रचना न दोष होती है और न गुण। श्लेष प्रधान रचना में अप्रयुक्तत्व तथा निहतार्थतत्व दोष नहीं होते। सुरतारम्भ की गोष्ठी में अश्लीलता भी गुण हो जाती है पर उसके लिए आवश्यक है कि कामशास्त्र के सिद्धांत के अनुसार गुप्तवस्तु को द्वयर्थक पदों से सूचित किया जाय। वैराग्यविषयक चर्चा के समय जुगुप्सा-व्यंजक अश्लीलता भी गुण हो जाती है। ऐसा भी देखा गया है कि कहीं-कहीं अमंगल-व्यंजक अश्लीलता भी गुणत्व का रूप धारण कर लेती है जैसे 'वेणीसंहार' नाटक के प्रथम अंग में प्रयुक्त सूत्रधार की उस उक्ति में जहां पाण्डवों की विजय तथा कौरवों के भावी अमंगल की सूचना दी गई है। संदिग्धत्व भी कहीं वाच्य के प्रभाव से नियत अर्थ का प्रतीतिजनक होने के कारण व्याज-स्तुति का पर्यवसायी होकर गुण हो जाता है। बौद्धा तथा वक्ता के किसी शास्त्र-विशेष के ज्ञाता होने पर उनके काव्य में प्रयुक्त 'निर्विल्पकरूप समाधि' तथा 'आत्मरमण' आदि योग-शास्त्र-प्रसिद्ध पदों में अप्रतीतत्व दोष नहीं रहता। कभी-कभी स्वयं चिंतन करने में भी अप्रतीतत्व दोष गुण हो जाता है जैसे 'मालतीमाधव' नाटक के पंचम अंक में कपाल-कुंडला की स्वगतोक्ति जिसमें नाडी-चक्र, शक्ति और शक्तिनाथ आदि हठयोगशास्त्र के शब्दों के प्रयोग दोष न होकर गुणव्यंजक हैं। नीच प्रकृति के पात्रों की उक्तियों में

१. चरणत्रपरित्राणरहिताभ्यामपि द्रुतम्।
पादाम्यां दूरमध्वानं व्रजन्नेष् न खिद्यते ॥
२. 'ख्यातेऽर्थे निर्हेतोरदुष्टता। —काव्यप्रकाश, क्रमागत सूत्र सं० ७८।
३. 'अनुकरणे तु सर्वेषाम्'। —वही, सूत्र सं० ७६।
४. वक्त्राद्यौचित्य वशाद्दोषोऽपि गुणः क्वचित्। —वही, सूत्र सं० ८०

ग्राम्यत्व दोष नहीं होता। कहीं-कहीं न्यूनपदत्व भी गुण हो जाता है और कहीं पर वह न गुण होता है और न दोष। अधिक-पदत्व का गुण-रूप भी काव्य-व्यवहृत हुआ है। कथितपदत्व अथवा पुनरुक्तत्व नामक दोष लाटानुप्रास, अर्थान्तरसंक्रमित वाच्य तथा विहित का अनुवाद करने के स्थलों पर गुण बन जाता है। यदि कहीं प्रतत्प्रकर्ष दोष गुण हो जाता है तो कहीं समाप्तपुनरात्तत्व दोष न तो दोष रहता है और न गुण। काव्य में कहीं अपदस्थ समास तथा गर्भितत्त्व दोषों में भी गुणों का अंतर्भाव प्रदर्शित होता है। इस प्रकार मम्मट आदि आचार्यों ने दोषों की नित्यानित्यता का विवेचन अत्यन्त सूक्ष्म दृष्टि से करते हुए उनके प्रसंगप्राप्त स्वरूप का विश्लेषण करने में जो प्रमाण संकलित किये हैं वे उनके बहुज्ञान और विवेकबोध के प्रतीक हैं।

अन्वय-व्यतिरेक से दोषों की स्थिति रसाश्रित रहती है

रसध्वनिवादी आचार्यों ने रसों के नित्यानित्य रूप की विवेचना विभिन्न दृष्टि-बिंदुओं से की है। उनका तो स्पष्ट कथन है कि जब काव्य का आस्वाद रस है तो दोषादि प्रकरण का विवेचन भी उसी के प्रसंग में किया जाना समीचीन है। ध्वन्यालोककार ने दोषों की नित्यानित्यता निरूपित करते हुए बतलाया है कि दोषों की स्थिति बहुत कुछ प्रसंगों पर निर्भर है। उदाहरणार्थ श्रुतिदुष्टादि दोष शृंगारादि कोमल रसों में दोष होते हैं तो रौद्रादि कठोर रसों में गुण।[1] वस्तुतः उनकी नित्यानित्य-व्यवस्था का सम्बन्ध काव्य में व्यंजित चित्रण से है क्योंकि अन्वय-व्यतिरेक से वे रसाश्रित ही सिद्ध होते हैं। ध्वनिकार का तो यहां तक कहना है कि जब रसध्वनि ही काव्य की आत्मा है तो इन दोषों की व्यवस्था भी व्यंग्यार्थ के आधार पर ही निश्चित की जानी चाहिए। ये दोष न तो केवल वाच्यार्थ में होते हैं और न शृंगारातिरिक्त किसी अन्य व्यंग्यार्थ में। वास्तव में उनकी स्थिति ध्वन्यात्मक शृंगार में ही होती है। इन दोषों के कारण काव्य के आस्वाद में बाधा अथवा अपकर्ष आता है, अतः प्रसंगानुकूल इनका परित्याग करना परम वांछनीय है।

दोषों की परिहार्यता

आचार्य भामह ने दोष-विवेचना के प्रसंग में दोषों के परिहार का भी निरूपण किया है जो उल्लेखनीय है। उनका मत है कि सन्निवेश के कारण 'वैशिष्ट्य' तथा 'आश्रय के सौन्दर्य' से दोषों का परिहार हो जाता है। प्रथम प्रकार के परिहार का स्पष्टीकरण करते हुए उन्होंने लिखा है कि 'जिस प्रकार सन्निवेश की विशेषता के कारण पुष्पों की माला के अंतराल में संग्रथित नील पलाशपत्र भी शोभित होने लगता है, उसी प्रकार काव्य-रचना के मध्य आया हुआ कोई भी दोष सुंदर शब्दों का सन्निवेश प्राप्त कर चमत्कार पूर्ण बन जाता है।[2] आश्रय-सौंदर्य का उदाहरण किसी रमणी के नेत्रों में

---

१. श्रुतिदुष्टादयो दोषा अनित्या ये च दर्शिताः।
ध्वन्यात्मन्येव शृंगारे ते हेया इत्युदाहृताः। —ध्वन्यालोक, २।११।

२. काव्यालंकार, प्रथम परिच्छेद, कारिका सं० ५४।

लगाया गया अंजन है जो अपनी निरपेक्ष स्थिति में कुछ भी चारुता नहीं रखता किंतु नारी के नेत्रों का आश्रय पाकर वह उसके शोभाधान का कारण बन जाता है।[१] भामह के कथन का मूल आशय यह है कि काव्यकार को चाहिए कि वह यथासंभव अपनी कृति को दोषविहीन रखे क्योंकि एक भी रमणीय पद अच्छा कहा जा सकता है, किंतु उसके विपरीत महान् प्रबंध भी ग्राह्य नहीं होता और अपने वैपरीत्य के कारण वह काव्य-यश को भी विपर्यस्त कर देता है।[२] महाभाष्यकार ने भी 'एक: शब्द: सम्यग् ज्ञात: सुप्रयुक्त: स्वर्गे लोके च कामधुग् भवति' द्वारा शब्द का माहात्म्य स्पष्ट किया है। इस मान्यता के साथ ही साथ भामह ने कवियों को एक छूट भी दे रखी है और वह यह है कि यदि किसी कारणवश कवि दोषयुक्त प्रयोग करने के लिए बाध्य ही हो जाय तो वह ऐसी व्यवस्था अवश्य कर ले जिससे संनिवेश-वैशिष्ट्य अथवा आश्रय सौंदर्य के प्रभाव से उन दोषों का निराकरण हो जाय।[३] इस विषय में अधिक न लिखकर हम आचार्य भामह के उन शब्दों को अंकित करना चाहते हैं जिनमें उन्होंने कवि के रचना-सौष्ठव का रहस्य प्रकट किया है। उनका कथन है—

एतद्ग्राह्यं सुरभि कुसुमं ग्राम्यमेतन्निधेयं,
धत्ते शोभां विरचितमिदं स्थानमस्यैतदस्य।
मालाकारो रचयति यथा साधु विज्ञाय मालां,
योज्यं काव्येष्व वहितधिया तद्वदेवाभिधानम्॥

अर्थात् 'यह सुगंधित पुष्प ग्रहण करने योग्य है, यह भद्दा है अतः त्याज्य है, यह गूंथने पर सुंदर लगेगा, इसका यह उपयुक्त स्थान है और इसका यह' इस प्रकार पुष्पों का सुचारुरूप से ज्ञान प्राप्त करने के पश्चात् जैसे माली माला बनाता है, उसी प्रकार सावधान होकर काव्यों में शब्दों का प्रयोग करना चाहिए।

काव्य-दोषों के भेद-प्रभेद

भरतमुनि ने गूढार्थ, अर्थान्तर, अर्थहीन, भिन्नार्थ, एकार्थ, अभिप्लुतार्थ, न्यायापेत, विषम, विसंधि और शब्दच्युत नामक दस प्रकार के काव्य-दोष माने हैं।[४] उनके मतानुसार पर्याय-शब्दों से अभिहित नाम से 'गूढार्थ अवर्णनीय को वर्णित करने में 'अर्थान्तर', असम्बद्धार्थ में 'अर्थहीन', असभ्य और ग्राम्य कथन में 'भिन्नार्थ', शब्दों के अर्थ-भेद या अर्थ-साम्य पर ध्यान दिये बिना उनके द्वारा एक अर्थ के अभिधान में, 'एकार्थ', काव्य के प्रत्येक पाद में वाक्यार्थ को संक्षेपतः पूर्ण किये जाने में 'अभिप्लुतार्थ', प्रमाण-वर्जित विज्ञप्ति में 'न्यायापेत', छंद के दोष में 'विषम', अनुप्रतिष्ठ अथवा संधि-रहित शब्द-प्रयोग में 'विसंधि' एवं अशब्द की संयोजना में 'शब्द-च्युत' अथवा 'शब्दहीन' नामक दोष होते हैं। उन्होंने 'भिन्नार्थ' दोष की विवेचना के संदर्भ में भिन्नार्थ काव्य की

---

१. भामह, काव्यालंकार, १।५५।
२. वही, १।५९।
३. वही. १।६१।
४. नाट्यशास्त्र, १७।८८।

भी विवेचना करते हुए लिखा है कि जहाँ विवक्षित अर्थ के स्थान पर उससे भिन्न अर्थ कह दिया जाता है कि वहाँ काव्य-विचक्षण विद्वान् भिन्नार्थ दोष से युक्त काव्य मानते हैं। भरतमुनि का मत है कि 'उपर्युक्त सभी दोष नाटकाश्रित हैं जो अपनी विपरीत परिस्थिति में काव्य-कृतियों में गुण के नाम से संकीर्तित होते हैं।[1]

भामह ने काव्यालंकार के प्रथम परिच्छेद में नेयार्थ, क्लिष्ट, अन्यार्थ, अवाचक, अयुक्तिमत्, गूढशब्दाभिधान, श्रुतिदुष्ट, अर्थदुष्ट, कल्पनादुष्ट और श्रुतिकष्ट नामक दस काव्य-दोषों का सोदाहरण विवेचन करने की चेष्टा की है, यद्यपि वे इस कार्य में पूर्ण सफल नहीं हो सके हैं। उनके मतानुसार नेयार्थ, क्लिष्ट, अन्यार्थ अवाचक, अयुक्तिमत् और गूढशब्दाभिधान नामक दोषों का प्रयोग करना कवियों के लिए अभीष्ट नहीं है। 'शब्द-न्याय' अथवा भाषा के नियमों की प्रतिकूलतावश जहाँ काव्य का अर्थ-बोध सुगमतापूर्वक न हो वहाँ 'नेयार्थ' दोष होता है तो अर्थ में व्यवधान तथा अर्थ की अनुपलब्धि में क्रमशः 'क्लिष्ट' तथा 'अन्यार्थ' दोष होते हैं। 'अवाचक' दोष के कारण वाच्य अर्थ में जो शब्द साक्षात् रूढ़ नहीं है, उसकी प्रतीति नहीं होती। मेघ, चन्द्र, पवन, भ्रमर, हारात, चक्रवाक और शुक आदि जीवधारियों को दूत रूप में कल्पित कर काव्य-वर्णित करने से 'अयुक्तिमत्' दोष होता है क्योंकि वे विचाराभिव्यंजन की पूर्ण शक्ति नहीं रखते।[2] गूढशब्दाभिधान दोष से काव्य का अपकार होता है। श्रुतिदुष्ट, अर्थदुष्ट, कल्पनादुष्ट और श्रुतिकष्ट नामक दोष मूलतः काव्य के भावादोष हैं। भामह ने इन दोषों के लक्षणों तथा उदाहरणों में विसंगतियां भी की हैं।

दोषों की संख्या निर्धारित करने में दण्डी ने भरतमुनि का आधार ग्रहण किया है। भरतमुनि ने भी दस प्रकार के दोष माने थे जिनका पर्याप्त प्रभाव दण्डी पर विद्यमान है। उन्होंने भामह के उस विचार को कर्कश कहा है। जिसके अनुसार प्रतिज्ञा, हेतु और दृष्टान्तों की हीनता नामक तीन इतर दोष होते हैं।[3] दण्डी के अनुसार इन त्रिविध दोषों का विचार अनपेक्षित है, क्योंकि साध्यनिर्देशक 'प्रतिज्ञा' का सम्बन्ध काव्य-कृतियों से उतना नहीं है जितना शास्त्र-ग्रंथों से। काव्य-रचनाओं के आकलन से प्रकट है कि कवियों ने अप्रतिज्ञात वस्तुओं का भी वर्णन अत्यन्त सरसतापूर्वक किया है। साध्य-साधन-हेतु का हीनत्व भी दोष नहीं माना जा सकता, क्योंकि प्रसिद्ध हेतु-स्थलों में हेतु-निरूपण की कोई आवश्यकता नहीं होती। काव्य में अनेक स्थलों पर प्रसिद्ध उदाहरणों के अनुपन्यस्त होने पर भी उनमें चमत्कार होता है, अतः दृष्टांतहीनता को भी काव्य-विरसता का कारण नहीं माना जा सकता। ऐसी स्थिति में दण्डी के मतानुसार दोषों के केवल दस प्रकार ही सिद्ध होते हैं जिनका सामान्य परिचय इस प्रकार है—

---

१. नाट्यशास्त्र १७।९५।

२. भामह का यह मत विचित्र-सा प्रतीत होता है क्योंकि संस्कृत साहित्य में जो दूतकाव्य लिखे गये हैं, वे अपनी रमणीयता में इतने अधिक महिमामंडित हैं कि आज भी उनका आकर्षण कम नहीं हुआ है। कालिदास की अमर कृति 'मेघदूत' को यदि अयुक्तिमत् दोष युक्त कह दिया जाय तो फिर काव्य-सौन्दर्य का आदर्श क्या होगा ?

३. काव्यालंकार, ३।१२७।

१. अपार्थत्वदोष

काव्य के जिस अंश में पद या वाक्य का तो अर्थ हो, किंतु समुदाय वाक्य या महावाक्य का कोई अर्थ न हो, उसे 'अपार्थ' दोष कहते हैं। अपार्थवाक्य में सभी पदों के सार्थक रहने पर भी उनका परस्पर सम्मिलित अर्थ नहीं होता तथा अपार्थ महावाक्य में अवांतर वाक्यों की सार्थकता में भी उनके परस्पर सम्बद्ध अर्थों का अभाव रहता है। इस दोष को नित्य दोष नहीं कहा जा सकता, क्योंकि पागल, मदमत्त और बालकों की परस्पर असम्बद्ध वचनावली अपनी स्वाभाविकता के कारण अपार्थदोष का परिहार कर देती है। शेष स्थलों पर तो यह दोष रहता ही है।

२. व्यर्थत्व दोष

जिस वाक्य अथवा प्रबंध में परस्पर विरुद्धार्थक बातें कही जायं वहाँ 'व्यर्थत्व' दोष होता है। 'व्यर्थत्व' पद में प्रयुक्त 'वि' उपसर्ग 'अभाव' का सूचक न होकर विरोध का ज्ञापक है। इस दोष में विरुद्धार्थ का बोध शाब्दबोध के अनन्तर ही हो जाता है जबकि 'अयार्थत्व' दोष में आकांक्षा आदि की विहीनता के कारण शाब्दबोध ही नहीं हो पाता। दण्डी ने इस दोष की विवेचना करते हुए इसके अंतर्गत 'पराभिमत' 'विरुद्धमति-कारिता', 'अमतपरार्थता' और 'परिपंथिरसांगविभावादिपरिग्रह' नामक दोषों का समाहार कर लिया है। दण्डी का मत है कि यदि कोई दुःखाभिभूत व्यक्ति अपने चित्त की अस्तव्यस्तता के कारण अविवेकसम्मत विरोधी बातों का वर्णन करे तो उस स्थिति में तत्कथित वाणी में 'व्यर्थत्व' दोष नहीं होगा, क्योंकि तथाकथित वाणी में उसके मानसिक वैकल्य का ही परिचय मिलता है। इस प्रकार की विरोधपूर्ण उक्तियां कामाभिभूत व्यक्तियों के कथन में विशेष रूप से पाई जाती हैं जो दोषमूलक न होकर गुण-व्यंजक है।

३. एकार्थत्व दोष

पूर्वोक्त वचन को बिना किसी 'विशेष' के पुनः कथन को 'एकार्थत्व' दोष कहते हैं। यदि कोई शब्द या अर्थ-विशेष कथन के लिए पुनरुक्त किया जाय तो वहां 'एकार्थत्व' दोष नहीं होता। शब्दभेद रहने पर भी यदि अर्थ में अभेद हो तो अर्थ में 'पुनरुक्ति' तथा एक ही अर्थ शब्द एक-सा हो तो 'शब्दर्थोमय पुनरुक्ति' होती है। शब्द एक-सा हो और अर्थ भिन्न हो तो दोष नहीं होता। इस दोष में 'पुनरुक्तत्व' और 'कथितपदत्व' नामक दोषों का अंतर्भाव हो जाता है। दण्डी का मत है कि यदि किसी व्यक्ति-विशेष के प्रति अतिशय अनुकम्पा अथवा दयादिभावों का प्रकर्ष विवक्षित हो तो वहां पुनरुक्त दोष नहीं होता प्रत्युत वह अलंकार, गुणस्वरूप हो जाता है। यह पुनरुक्ति विहितानु-वादस्थल में भी गुण हो जाती है।

४. ससंशय दोष

निश्चयात्मक ज्ञान-बोध के लिए प्रयुक्त पद जहाँ अनिश्चयात्मक ज्ञान अर्थात्

संशय उत्पन्न करते हैं, वहां संसशय दोष होता है । जहाँ संशय हो जाने से निश्चितान्वय ज्ञान न होने के कारण निश्चयार्थ का बोध नहीं हो पाता, वहाँ 'शब्दगत संशय' होता है तथा जहाँ प्रकरण ज्ञान के अभाववश वक्ता आदि का निश्चय नहीं होता वहाँ 'अर्थगत संशय' दोष होता है । यह दोष उस स्थल पर गुण हो जाता है जहाँ संशय उत्पन्न करने के लिए ही संशययुक्त वाक्य का प्रयोग किया जाय । दण्डी ने लक्षणाप्रसक्ति को अदोषता का कारण मानकर उस स्थल में संशयालंकार भी माना है ।

५. अपक्रमत्व दोष

जिस क्रम से अर्थों का पूर्वकथन हो, उसी क्रम से तत्संबंधी पदार्थों का कथन न होने पर 'अपक्रमत्व' दोष होता है । यदि अन्वय-बोध के लिए प्रयत्न किया गया हो तो वहाँ क्रमलंघनरूप अपक्रम दोष नहीं होता ।

६. शब्दहीनत्व दोष

जहाँ पर प्रयुक्त पदों में लक्ष्यलक्षणमार्ग अर्थात् सूत्रादिकृत साधुत्व का बोध न हो, वहाँ शब्दहीनत्व दोष होता है । कहीं-कहीं सूत्रादिकृत साधुत्व के होने पर भी शिष्टजनगर्हित शब्दों के प्रयोग में भी यह दोष मान लिया जाता है। इस दोष के दो प्रकार हैं—१. व्याकरण-लक्षणहीन और २. अप्रयुक्त । दण्डी ने 'अप्रयुक्त असमर्थत्व' को भी शब्दहीन ही माना है । यदि शब्दहीन दोष शिष्ट-परिगृहीत हो तो वहाँ पर वह गुण होकर आर्षप्रयोग का रूप धारण कर लेता है ।

७. यतिभ्रष्टत्व दोष

छन्दशास्त्र के आचार्यों ने छन्दों में जो विरामस्थल निश्चित कर दिये हैं उनका विचार न रखते हुए जहाँ अस्थान में विराम कर दिया जाय, वहाँ 'यति भ्रष्टत्व दोष' होता है । अस्थान में विराम होने के कारण पद और पदार्थ का बोध सुगमतापूर्वक नहीं होता और श्रवणक्रिया में भी उद्वेग उत्पन्न हो जाता है । दण्डी का मत है कि जहाँ संधिविकार द्वारा सम्मिलित दो पदों के मध्य यति होती है तो वह श्रवणोद्वेगकरी नहीं होती और वह स्थल यतिभ्रष्ट का अपवाद होने के कारण गुणयुक्त हो जाता है । हाँ, यह बात अवश्य है कि पदांत में संधि-विकार द्वारा शिष्टभाग का पदत्व स्वीकार करने पर भी यदि वहाँ कर्णकटु श्रुत्युद्वेग उपस्थित हो जाय तो ऐसे प्रयोगों से कवियों को दूर रहना चाहिए ।

८. भिन्नवृत्तत्व दोष

जिस छंद में वर्णों की न्यूनता या अधिकता हो अथवा जहाँ लघु के स्थान पर गुरु और गुरु के स्थान पर लघु वर्ण का प्रयोग कर दिया जाय, वहाँ 'भिन्न वृत्तत्व' दोष होता है । इस प्रकार का दोष काव्यशास्त्र में अत्यन्त निन्दित और वर्जनीय माना गया है ।

९. विसंधिकत्व दोष

व्याकरणशास्त्र में एक ऐसा नियम है जिसके अनुसार एक चरण के मध्य जहाँ संहिता हो वहाँ संधि होना अनिवार्य है, किंतु यदि कोई काव्यप्रयोक्ता वहाँ पर इस नियम का पालन न करे तो वहाँ 'विसंधिकत्व' दोष होता है। जहाँ प्रगृह्यादि संज्ञा के कारण संधिकार्य नहीं हो पाता वहाँ यह दोष नहीं माना जाता।

१०. देशकालकलालोकन्यायागमविरोधित्व दोष

काव्यकार का कर्त्तव्य है कि वह देश, काल, कला, लोक, न्याय, श्रुतिस्मृति ग्रंथ तथा शैवादि आगमशास्त्रों में प्रतिपादित विषयों का यथेष्ट ज्ञान प्राप्त कर उनके अनुकूल रचना-प्रयोग करे। वैसा न करने से न केवल काव्यकार का अज्ञान और प्रमाद ही सिद्ध होता है अपितु काव्य-प्रयोजन भी दूषित हो जाता है। देशविरुद्ध विषयों में कर्पूरवृक्ष के संसर्ग से दक्षिणानिल का वर्णन, कलिंगवन में मृगप्राय मतंगजों का उल्लेख और चोल देश में कावेरी नदी तथा कृष्णागुरु का चित्रण आदि विषय आते हैं। यदि कोई कवि रात्रिकाल में कमलिनी की प्रफुल्लता, दिन में कुमुदिनी का विकास, वसंत में निचुल वृक्षों का पल्लवन और ग्रीष्म में मेघावृत आकाश का वर्णन करे तो वहाँ कालविरुद्धता दोष होता है। वर्षा ऋतु में हंसध्वनि की श्रव्यता, शरद् ऋतु में मयूरों की प्रसन्नता, हेमंत में आदित्य का प्रकाश और शिशिर में चन्दन-लेप की सुखदता का वर्णन भी काल-विरुद्ध दोष के उदाहरण हैं। कलाविरुद्ध दोष का क्षेत्र अत्यन्त व्यापक है क्योंकि चौंसठ प्रकार की कलाओं का परिपूर्ण ज्ञान होने पर ही उनका काव्यगत निर्दोष चित्रण किया जा सकता है। उदाहरणार्थ नाट्यकला-विरुद्ध दोष की स्थिति उस समय हो सकती है जहाँ वीर रस और शृंगार रस के स्थायी भाव क्रोध एवं विस्मय निर्दिष्ट किये जायं। लोक-विरुद्ध दोषों में जंगम और स्थावर लोक के विरोधी विषय आते हैं जैसे हाथियों द्वारा केसर का धुनन, अश्वों की तीक्ष्ण शृंगता, एरंडवृक्ष की गुरुसारता तथा खदिरद्रुम की निःसारता आदि का वर्णन। न्याय-विरुद्ध दोषों में अनेक विषय आते हैं जैसे सर्वक्षणिकता वादी भगवान् बुद्ध को साक्षी बनाकर संस्कारों की अविनश्वरता का प्रतिपादन करना तथा सांख्यमत का उल्लेख कर असत् से उत्पत्ति का निरूपण करना आदि। श्रुति-विरुद्ध दोष का उदाहरण अग्न्याधान और पुत्र के बिना विश्वानर यज्ञ का वर्णन करना है। स्मृतिविरुद्ध दोष की स्थिति उस अवस्था में समझनी चाहिए जब यज्ञोपवीत संस्कार के बिना ही विद्याभ्यास का वर्णन किया जाय। अभिप्राय यह है कि देशकालादि विरोधी दोषों के अनेक रूप, प्रकार और स्थल हो सकते हैं जिनका ध्यान मनोयोगपूर्वक रखते हुए कवियों को उनसे बचे रहने का प्रयत्न करना चाहिए।

पदगत दोष

मम्मट का दोष-विवेचन अत्यंत स्पष्ट और क्रमबद्ध है। उन्होंने क्रमशः पद, पदांश और वाक्य के अन्तर्गत समाविष्ट होने वाले काव्य-दोषों का निरूपण करने के

पश्चात् अर्थ-दोषों की विवेचना की है जो अन्य आचार्यों की समता में अधिक प्रौढ़ और गम्भीर है। पद-दोषों के अन्तर्गत उन्होंने श्रुतिकटु को 'परुषवर्णरूप,' च्युतसंस्कृति को 'व्याकरण लक्षणहीन' अप्रयुक्त को 'कोशसम्मत होते हुए भी कवियों द्वारा अनादृत,' असमर्थ को 'जो उसके प्रयोग से पढ़ा जा रहा है वहाँ पर उसकी शक्ति का अभाव रूप माना है। उनके मत से दो अर्थों के वाचक शब्द का अप्रसिद्ध अर्थ में किया गया प्रयोग' निहतार्थ दोष का लक्षण है तो 'पादपूरण-मात्रप्रयोजन' वाले 'चकार' आदि पद निरर्थक' दोष के निर्देशक। अवाचक दोष के उन्होंने तीन उदाहरण प्रस्तुत किये हैं किंतु उनकी दोषवृत्ति के निर्धारण में उन्हें बहुत अधिक प्रयत्न साधन करना पड़ा।[1] अश्लीलता-दोष व्रीडा, जुगुप्सा और अमंगल की व्यंजकता के कारण तीन प्रकार का होता है। 'वन्द्या' आदि पदों के प्रयोग में संदिग्ध दोष होता है क्योंकि ऐसे पदों के दो अर्थ—(नियंत्रित की गई तथा वंदना करने योग्य) होने से उनका अर्थ-निधारण करने में संदेह उत्पन्न हो जाता है। दोष-विशेष में प्रसिद्ध शब्दों का काव्यगत प्रयोग करने से अप्रतीतत्व दोष होता है तो लोक-प्रयुक्त शब्दों में ग्राम्यत्व। नेयार्थ दोष का लक्षण निर्धारित करते हुए उन्होंने लिखा है कि रूढि और प्रयोजन के अभाव में अशक्ति के कारण किया गया किसी लक्षणा का प्रयोग 'नेयार्थ' दोष का लक्षण है तो अर्थ की प्रतीति में व्यवधान होने पर क्लिष्टत्व दोष होता है। काव्य के जिन पदों में विधेयांश का विचार नहीं किया जाता वहाँ अविमृष्टविधेयांश दोष होता है जिसके अनेक रूप (समासगत तथा समासहीन आदि) काव्यजगत् में प्रचलित हैं। मम्मट ने विरुद्धमतिकृत दोष के चार उदाहरण उद्धृत कर उनका विरुद्धमतिकारी रूप निरूपित किया है। यहाँ यह बात उल्लेखनीय है कि मम्मट ने क्लिष्टत्व, अविमृष्ट विधेयांश तथा विरुद्धमतिकृत नामक तीन दोषों को केवल समासगत कहकर उनके उदाहरण प्रस्तुत किये हैं किंतु श्रुतिकटु आदि दो रूप (समासगत तथा पदगत) होने के कारण उनका पृथक्-पृथक् विवेचन किया गया है। इस प्रकार मम्मट ने सोलह प्रकार के पद-दोषों का सोदाहरण विवेचन प्रस्तुत कर उनके कारण काव्य के मुख्यार्थ में उपस्थित होने वाले अपकर्ष का निरूपण किया है।

वाक्यगतदोष

मम्मट ने जिस क्रम में श्रुतिकटु आदि पददोषों की विवेचना की है, उसी क्रम में वाक्यगत दोषों की भी। उनका मत है कि च्युतसंस्कार, असमर्थ और निरर्थक नामक तीन पददोषों को छोड़कर शेष सब दोष वाक्य में भी होते हैं तथा कुछ पदांश में भी रहते हैं। उन्होंने वाक्यगत अप्रयुक्तत्व, निहतार्थत्व, अनुचितार्थत्व, अवाचकत्व, अश्लीलत्व, संदिग्धत्व, अप्रतीतत्व, ग्राम्यत्व, नेयार्थत्व और क्लिष्टत्व नामक दोषों के क्रमशः उदाहरण देकर उनकी दोषवाच्यता सिद्ध की है। वाक्यगत अविमृष्टविधेयांश

१. मम्मट की दोषदर्शन अथवा छिद्रान्वेषण की प्रवृत्ति पर कटु व्यंग्य करते हुए एक विचारक ने उन्हें काव्याली रूप कुलांगना पर बलात्कार करने वाला यवन तक कह दिया है—

'काव्यप्रकाशो यवनो काव्याली च कुलांगना।
अनेन प्रसभाकृष्टा कष्टमेषाश्नुते दशाम्॥'

नामक दोष के विभिन्न रूपों का आभास देने के लिए उन्होंने कुछ विशेष प्रयोगों की विद्यमानता के कारण होने वाले दोषों और उनके अपवादों का भी उल्लेख किया है। उनका यह विवेचन पूर्ववर्ती वाक्यदोषों की अपेक्षा अधिक विशद भी हो गया है क्योंकि वैसा किये बिना अविमृष्टविधेयांश दोष स्पष्टतः विवेचित नहीं किया जा सकता था। उनका मत है कि किसी वाक्य के मुख्यार्थ में विरुद्धप्रतीति होने पर विरुद्धमतिकृत दोष हो जाता है। अपने वाक्यदोष-विवेचन के लक्षण के अन्तर्गत मम्मट ने 'पदस्यांशेऽपि केचन्' द्वारा जो यह संकेत किया था कि काव्य के पदांश में भी दोष हो सकते हैं, उनका निरूपण भी उन्होंने क्रमशः किया है। श्रुतिकटु आदि सोलह काव्यदोषों का पद, पदांश और वाक्यगत स्वरूप प्रसंगप्राप्त काव्य-कृतियों में किस-किस प्रकार अवांतर-भेद के साथ उपस्थित होता है, इसका जितना स्पष्ट और विद्वत्तापूर्ण विवेचन आचार्य मम्मट ने किया है, उतना अन्य आलंकारिकों के लक्षण ग्रंथों में नहीं हुआ है। एक विशेष बात यह है कि मम्मट ने रसापकर्ष के कारणभूत प्रतिकूलवर्णता, उपहतविसर्गता, विसंधि दृतवृत्तता, न्यूनपदता, अधिकपदता, कथितपदता, पतत्प्रकर्षता और समाप्तपुनरात्तता नामक ऐसे नौ दोष और माने हैं जो केवल वाक्यगत ही होते हैं। इन दोषों के विवेचन से मम्मट की मौलिक प्रतिभा और निरूपण-विशिष्टता का सहज ही बोध हो जाता है। संस्कृत काव्यशास्त्र के अध्येताओं के लिए उनका परिज्ञान प्राप्त करना अत्यन्त उपादेय है, क्योंकि आचार्य मम्मट ने इन नौ दोषों के अंग-प्रत्यंगों और उपभेदों की भी विवेचना की है। मम्मट के कथन का मुख्य आशय यह है कि प्रत्येक स्थिति में ये दोष काव्य के अर्थबोध और आस्वाद में किसी न किसी प्रकार का व्यवधान अथवा अपकर्ष ले ही आते हैं, अतः काव्यकारों के लिए उचित है कि वे अपनी कृतियों में यथाशक्ति उनका संचार न होने दें।

अर्थ-दोषों का विवरण

मम्मट का 'काव्यदोषविवेचन' अन्य आचार्यों की समता में अधिक व्यापक और सूक्ष्मदृष्टि का परिचायक है। इस कथन की सत्यता का परीक्षण उनके द्वारा निरूपित अर्थ-दोषों का अध्ययन करने से किया जा सकता है। मम्मट ने अपुष्टार्थ, कष्ट, व्याहत, पुनरुक्त, दुष्क्रम, ग्राम्य, संदिग्ध, निर्हेतु, प्रसिद्धिविरुद्ध, विधाविरुद्ध, अनवीकृत, नियम में अनियम, अनियम में नियम, विशेष में अविशेष तथा अविशेष में विशेष रूप, विशेष-परिवृत्त, साकांक्षता, अपदयुक्तता, सहचरभिन्नता, प्रकाशितविरुद्धता, विध्ययुक्तत्व, अनुवादायुक्तत्व, त्यक्त, पुनः स्वीकृत और अश्लील संज्ञक २३ अर्थ-दोष माने हैं जिनका उल्लेख काव्यप्रकाश के सप्तम उल्लास के अन्तर्गत क्रमागत ७५ वें सूत्र में हुआ है। इन दोषों के उदाहरण और उनमें दोषता रूप को निर्धारण करने में मम्मट को अत्यन्त परिश्रम करना पड़ा है। इस प्रकार की दोषगत सूक्ष्म विवेचना इतर काव्यशास्त्रीय ग्रंथों में कदाचित ही उपलब्ध हो। ऐसा प्रतीत होता है कि आचार्य मम्मट अन्य प्रकरणों की भांति अपने ग्रन्थ के दोष-प्रकरण को भी अधिकाधिक संपुष्ट और पूर्ण बनाना चाहते थे जिसकी सिद्धि के लिए उन्होंने उक्त प्रकरण में प्रयुक्त काव्य-खंडों के अन्य पक्षों की

विवेचना की ओर बहुत कम ध्यान दिया है। उनकी यह प्रवृत्ति अधिकांशतः प्रसंगोचित भी है क्योंकि उस कार्य के सम्पादन में सहृदय-मनोवृत्ति उतनी सफल कदापि नहीं हो सकती थी जितनी विवेचक-शक्ति। काव्यगत-दोष विवेचन का उपसंहार करते हुए उन्होंने उचित ही कहा है कि जिन उदाहरणों में पृथक्रीत्या एक दोष प्रदर्शित किया गया है, उनमें अन्य दोष भी हो सकते हैं किंतु वहाँ उस प्रकार का विवेचन-प्रसंग न होने के कारण उनका निरूपण नहीं किया गया है।

रस-दोषों का विवेचन

आचार्यों ने पद, पदांश, वाक्य और अर्थ के विचार से जिन काव्य-दोषों का निरूपण किया है, उनका सामान्य विवेचन प्रस्तुत किया जा चुका है। अब हमारे लिए यही कार्य अविशिष्ट रह गया है कि उनके द्वारा निरूपित रस-दोषों का भी विमर्श उपस्थित करें। मम्मट ने रसदोषों का उल्लेख निम्नलिखित कारिकाओं में किया है—

व्यभिचारिरस स्थायिभावानां शब्दवाच्यता।
कष्ट कल्पनया व्यक्तिरनुभाव विभावयोः।
प्रतिकूलविभावादिग्रहो दीप्तिः पुनः पुनः।
अकाण्डे प्रथन च्छेदौ अंगस्या प्यतिविस्तृतिः॥
अंगिनोऽननुसंधानं प्रकृतीनां विपर्ययः।
अनंगस्याभिधानं च रस दोषाः स्युरीदृशाः॥[1]

अर्थात् व्यभिचारिभावों, रसों अथवा स्थायिभावों की स्वशब्दवाच्यता (अपने वाचक शब्द द्वारा कथन) अनुभाव और विभाव की कष्टकल्पना से अभिव्यक्ति, रस के प्रतिकूल विभाव आदि का ग्रहण, रस की बारंबार दीप्ति, रस का अनवसर में विस्तार और अनवसर में विच्छेद. अंग (अप्रधान) रस का अधिक विस्तार तथा अंगी (प्रधान) रस की अवहेलना, प्रकृतियों (पात्रों) का विपर्यय और अनंग अर्थात् जो प्रकृत रस का उपकारक नहीं है उसका कथन, इस प्रकार काव्य में तेरह प्रकार के रस-दोष होते हैं।

मम्मट ने संस्कृत-साहित्य के विविध काव्य-ग्रथों में अनेकानेक उदाहरणों का संचयन कर उनके द्वारा रस-दोषों का स्पष्टीकरण किया है। उनका मत है कि क्रीडा आदि व्यभिचारिभावों का अपने वाचक शब्दों द्वारा कथन किये जाने पर व्यभिचारि-भावों का स्वशब्दतावाच्य संज्ञक दोष होता है जिसका निवारण केवल उसी स्थिति में किया जा सकता है जब व्यभिचारिभावों के वाचक शब्दों के स्थान पर अन्य शब्द प्रयुक्त किये जायं। रस की स्वशब्दवाच्यता में रसदोष होने का आशय है काव्य में 'रस' अथवा 'श्रृंगार' आदि शब्दों का प्रयोग करना। इसका यह अभिप्राय है कि काव्य में रस तो ध्वनित होता है अतः रस सामान्यवाचक 'रस' विशेष शब्द से ही काव्य में उसका निर्देश करना दोष है। रस की भांति स्थायिभाव की स्वशब्दवाच्यता (यथा उत्साह आदि स्थायिभावों का 'काव्य में' वाच्य रूप में प्रयोग) होने पर भी वहाँ रस-दोष हो जाता है।

---

१. काव्यप्रकाश, सप्तम उल्लास, सूत्र संख्या ८१।

विभाव और अनुभावों की कष्टकल्पना में भी रसरोष होता है। इसका यह अभिप्राय है कि काव्य में जहाँ नायक के अंतःकरण में उत्पन्न होने वाले अनुभावों का वर्णन न किया जाकर नायक को ऐसी उद्दीपक स्थिति में रख दिया जाय जिसमें नायिका को देखकर उसके हृदय में स्वेद और रोमांच आदि अनुभावों की होने वाली उत्पत्ति क्लिष्टकल्पना से प्रतीत हो। उदाहरणार्थ किसी काव्य में वर्णित रतिपरिहार आदि अनुभावों की करुण आदि रसों में भी संभावना होने के कारण जहाँ कामिनी-रूप विभाव कठिनता से ही प्रतीत हो वहाँ विभाव की कष्टकल्पना रूप रस-दोष होता है। यह दोष उस स्थिति में भी हो सकता है जिसमें श्रृंगार रस के प्रतिकूल यौवन की अनित्यता-प्रकाशनरूप शांत-रस के विभाव और उससे प्रकाशित शांतरस के निर्वेदरूप व्यभिचारिभाव का प्रतिपादन किया जाय। प्रतिकूल अनुभावों का ग्रहण होने पर भी रस-दोष हो सकता है तथा रस की बार-बार दीप्ति होने पर भी। रस की पुनः-पुनः दीप्ति का उदाहरण कुमारसंभव में वर्णित रति-विलाप है। आनंदवर्धन ने भी एक ही उपभुक्त रस का पुनः-पुनः वर्णन करने में वैरस्य भाव की उत्पत्ति मानी है।[1] मम्मट का मत है कि अकांड में प्रथन अर्थात् अवसर न होने पर भी अवसर के प्रतिकूल रस का प्रसार कर देने पर भी रसदोष होता है जैसे 'वेणीसंहार' नाटक के द्वितीय अंक में भीष्म आदि अनेक वीरों की मरण-स्थिति में भानुमती के साथ दुर्योधन के संभोग श्रृंगार का वर्णन। अनुचित स्थान पर रस को भंग कर देने से भी दोष होता है तथा अप्रधान रस या पात्र का अत्यन्त विस्तारपूर्वक वर्णन करने पर भी रसदोष हो जाता है। इसके विपरीत प्रधान नायक या नायिका का विस्मरण भी एक प्रकार का रसदोष है क्योंकि वैसा करने से रस की प्रतीति में विच्छेद-सा हो जाता है। प्रकृतियों के विपर्यय में भी रस-दोष होता है जिसका अभिप्राय यह है कि नायक-नायिक भेद के अंतर्गत दिव्य, अदिव्य और दिव्यादिव्य तथा धीरोदात्त, धीर, ललित, धीर प्रशांत तथा धीरोद्धत आदि नायकों के जो भेद किये हैं उनकी उत्तमता, मध्यमता तथा अधमता के विचार से नायक के जो बारह भेद होते हैं उनका आयोजन रसानुकूल विधि से न किया जाय। साधारणतया धीरोदात्त, धीरोद्धत्त, धीर ललित और धीरप्रशांत नामक नायक क्रमशः वीर, रौद्र, श्रृंगार तथा शांतरस प्रधान रचनाओं के अधिकारी पात्र होने चाहिए क्योंकि वैसी स्थिति में उनकी प्रकृति का विपर्यय नहीं होता और काव्य में औचित्य बना रहता है। अन्य आचार्यों की भांति आचार्य मम्मट ने भी इस बात को स्वीकार किया है कि जिस प्रकार रति, हास, शोक और विस्मय रूप स्थायिभाव और उनसे क्रमशः निष्पन्न होने वाले श्रृंगार, हास्य, करुण और अद्भुत रसों का वर्णन अदिव्य उत्तम प्रकृति के नायकों में किया जाता है उसी प्रकार दिव्य उत्तम प्रकृति के नायकों में भी किया जाना चाहिए। इस विषय में इस बात का ध्यान रखना आवश्यक है कि दिव्य नायकों के चरित्र के प्रसंग में परस्पर अवलोकन के अतिरिक्त संभोग श्रृंगार की चेष्टाओं का वर्णन करना उसी प्रकार अनुचित है जिस

---

१. परिपोषं गतस्यापि पौनः पुन्येन दीपनम्।
रसस्य स्याद्विरोधाय वृत्यनौचित्यमेव च ।। —ध्वन्यालोक, ३।१९।

प्रकार माता-पिता के संभोग श्रृंगार का वर्णन करना त्याज्य है। कुमारसंभव में महाकवि कालिदास ने शिव-पार्वती के संभोग श्रृंगार का वर्णन कर जो अनौचित्य प्रदर्शित किया था, उसका उन्हें जो प्रतिफल उपलब्ध हुआ, वह साहित्य-संसार में सर्वविदित वार्ता है। मम्मट का मत है कि भ्रकुटि आदि विकारवर्जित क्रोध, स्वर्ग-पाताल में गमन तथा समुद्रोल्लंघन आदि उत्साहपूर्ण कार्यों का वर्णन केवल दिव्य प्रकृतियों में ही करना उचित है। अदिव्य अर्थात् मनुष्य पात्रों के चरित्र में या तो वे बातें आनी चाहिए जो इतिहास प्रसिद्ध हैं या मानव-चरित के लिए उचित कही जा सकती हैं। वस्तुतः मनुष्य के लिए साध्य उत्साह का वर्णन करने से काव्य में जो स्वाभाविक चमत्कार आता है, वह लोकोत्तर वर्णन करने से नहीं। काव्य में दिव्यादिव्य प्रकृति की क्षेत्र-मर्यादा का जितना अधिक ध्यान रखा जाता है उतना ही उसमें सौष्ठव संचरित होता है। जिस प्रकार दिव्य नायकों के औचित्य के विपरीत वर्णन करना काव्य-दोष है उसी प्रकार अदिव्य नायकों की प्रकृति के प्रतिकूल चित्रण करना भी दोष है। इस प्रकृति-विपर्यय के अंतर्गत सम्बोधन-पदों के औचित्य का विपर्यय भी सम्मिलित है। कवि पर इस बात का दायित्व है कि वह भिन्न-भिन्न पात्रों अथवा व्यक्तियों की मर्यादा और क्षमता के स्तर का ध्यान रखकर उनके लिए औचित्यपूर्ण सम्बोधनों का प्रयोग करे। वैसा न करने पर भी प्रकृति-विपर्यय दोष हो जाता है। आचार्य मम्मट ने कुछ ऐसे नियम बतलाए हैं जिनका परिपालन करने से प्रकृति-विपर्यय दोष की संभावना नहीं रहती। उनका कथन है कि 'तत्रभवान्', 'भगवन्' आदि सम्बोधनों का प्रयोग केवल उत्तम पात्रों द्वारा मुनि प्रभृति जनों के लिए किया जाय। ऐसे पदों का प्रयोग न तो राजा आदि के लिए ही किया जा सकता है और न अधम पात्र ही ऐसे करने के अधिकारी हैं। राजा आदि के अधम पात्र तो 'भट्टारक' आदि पदों का प्रयोग कर भी सकते हैं किंतु उत्तम पात्र नहीं कर सकते क्योंकि उनके द्वारा ऐसा करने पर प्रकृति-विपर्यय दोष हो जाता है। इसी प्रकार देश, काल, अवस्था, जाति, वेश तथा व्यवहार आदि का भी उचित रूप से ही वर्णन करना चाहिए जिससे काव्य में प्रकृति-विपर्यय नामक दोष नहीं आ सके। अब केवल एक ही रस-दोष का वर्णन करना अवशिष्ट है और वह है 'अनंग'। इसका अभिप्राय यह है कि काव्य में प्रकृत रस के अनुपकारक पदार्थों का वर्णन नहीं करना चाहिए। काव्य में जहाँ नायिका के चरण-प्रहार आदि से नायक के कोप आदि का वर्णन किया जाता है वहाँ पर इस प्रकार का रसदोष होता है। सारांश यह है कि ये जितने भी रसदोष हैं उन सबका मूल कारण किसी न किसी प्रकार का अनौचित्य ही है तभी तो आचार्य आनंदवर्धन ने लिखा है कि "अनौचित्य के अतिरिक्त रस भंग का अन्य कोई कारण नहीं हो सकता और औचित्य-वर्णन ही रस के परिपोषण का परम रहस्य है।

रस-दोषों के अपवाद

अन्य दोषों की भांति रसदोषों के भी कुछ विशेष अपवाद हैं जो कुछ विशेष परिस्थितियों में उनका दोषत्व निवारित कर देते हैं। उन परिस्थितियों का रूप निम्नलिखित प्रकारों में किया जा सकता है।

(१) कहीं संचारिभाव का स्वशब्द से कथन होने पर भी काव्य में रस-दोष नहीं होता। ऐसा करने के लिए कवि को विशेष सतर्कता से काम लेना पड़ता है। विद्वानों का मत है कि जहाँ व्यभिचारी भावों का अनुभावों द्वारा निश्चित रूप से प्रतिपादन करना संभव न हो, वहां स्वशब्द से कथन करने पर दोष की सम्भावना नहीं रहती।

(२) प्रकृत रस के विपरीत संचारिभाव, विभाव और अनुभाव आदि 'बाध्यत्वेन' कथन करना दोष नहीं, अपितु गुणाधायक है क्योंकि वैसा करने से प्रकृत रस का परिपोषण ही होता है। इस प्रकार के वर्णन में ऐसा भी देखा जाता है कि कभी-कभी विरोधी रस के साथ संघर्ष में उसके (विरोधी रस के) व्यभिचारिभावों का बाध होकर प्रकृतरस की विजय होती है अतः बाध्यरूप से विरोधी रस के व्यभिचारिभावों का वर्णन दोष नहीं अपितु प्रकृतरस का परिपोषक होने से गुण ही होता है। आचार्य मम्मट ने दोषों की इस प्रकार की जो गुणाधायकता निर्दिष्ट की है वह ध्वन्यालोककार को भी स्वीकृत है। यद्यपि आचार्य मम्मट उनके मत से पूर्ण सहमत नहीं हैं। इसका स्पष्टीकरण इस प्रकार किया जा सकता है कि ध्वनिकार ने शृंगार रस का रसराजत्व स्वीकार कर इस मत की पुष्टि की है कि उसके विरोधी शांत आदि रसों में भी उसके विभाव आदि अंगों का प्रयोग किया जा सकता है जिससे प्रबोधित किये जाने वाले व्यक्तियों में एक ओर जहाँ शांत आदि रसों के प्रति उन्मुखता हो जाती है तो दूसरी ओर शृंगार का पुट होने से उसकी काव्यशोभा में भी वृद्धि हो जाती है जिसके कारण शांत आदि रसों के साथ उनका सम्पर्क दोषाधायक नहीं बनता। ध्वनिकार ने विनेयों के उन्मुखीकरण तथा काव्यशोभारूप के दो हेतुओं द्वारा शांतरस में शृंगाररस के पुट का समर्थन किया है किंतु मम्मट के मत से इस प्रकार के दृष्टिकोण में तीन प्रकार की आपत्तियां हैं—

(१) जब यह बात मान ली गई है कि विरोधी रसांग के बाध्यत्वेन कथन में दोष नहीं होता तो इस सिद्धांत की पुनः प्रतिष्ठा करना पुनरुक्तिमात्र है।

(२) 'मत्तांगनापांग' को उपमान तथा जीवन की अस्थिरता को उपमेय रूप में प्रस्तुत करने से उपमान की अस्थिरता में अधिक उत्कर्ष नहीं हो पाता।

(३) उक्त उदाहरण में शृंगाररस के आलम्बन तथा उद्दीपन विभावादि रूप अंगों का वर्णन न होने से वहाँ शृंगाररस का अस्तित्व ही नहीं है इसलिए विरोध-परिहार के लिए नवीन नियम बनाने का कोई प्रश्न ही नहीं उठता।

पंडितराज की दोष-विषयक मान्यताएं

पंडितराज ने जिस दार्शनिक प्रतिपत्ति और नव्य न्याय-प्रणाली से रस के स्वरूप का विवेचन किया है, उसका समानधर्मी स्तर रसदोष के विवेचन में उपलब्ध नहीं होता। उनके दोष-निरूपण की प्रक्रिया अन्य आचार्यों से भिन्न कोटि की है। उन्होंने काव्य के रसास्वाद को व्यंजनामात्र से निष्पाद्य मानकर अभिधा वृत्ति में चमत्कार की स्थिति ही स्वीकार नहीं की है और यही दृष्टिकोण उनके द्वारा विवेचित

रसदोष के स्पष्टीकरण का पृष्ठाधार सिद्ध हुआ है। संक्षेप में उनके मतानुसार रस-दोषों का विवेचन निम्नलिखित है—

(१) **वमन दोष**—पंडितराज के मतानुसार समस्त व्यंग्यों में प्रादुर्भूत होने वाला यह सामान्य दोष है। काव्य में जहाँ कहीं भी विभाव आदि से अभिव्यक्त रस का अभिधावृत्ति द्वारा ज्ञान कराया जाता है अथवा जहाँ व्यंग्य का वाच्यीकरण हो जाता है, वहाँ यह दोष होता है। इसे वमनाख्य दोष कहने का कारण यह है कि व्यंजना-वृत्ति द्वारा ज्ञात अर्थ का अभिधावृत्ति द्वारा पुनः ज्ञान करना वैसा ही कार्य है जैसे भुक्त अन्न का वमन करना। पंडितराज ने समस्त व्यंग्यों में इस दोष की स्थिति मानी है।[1]

(२) **निरर्थकत्व दोष**—जब श्रृंगारादि पदों से रसों को वाच्य बना दिया जाता है तो निरर्थकत्व नामक विशेष दोष होता है। पंडितराज का कथन है कि आस्वाद्यता-वच्छेदक रूप से प्रतीयमान होकर अर्थात् व्यंजनावृत्ति के द्वारा अपरोक्ष ज्ञान का विषय बनकर ही रस चमत्कारी होता है और यदि उसकी प्रतीति अभिधा वृत्ति से की जाय तो उसमें न तो चमत्कार ही आता है और न रसादि की प्रतीति ही होती है अतः 'आस्वाद्यतावच्छेद रूप से प्रतीतिजनक न होने के कारण रस-स्थल में अभिधावृत्ति का प्रयोग उसी प्रकार से निरर्थक है जिस प्रकार से वानरों की चेष्टाएं।[2] यही इस दोष का सामान्य परिचय है।

(३) स्थायिभावों और व्यभिचारिभावों का शब्दवाच्यत्व भी एक दोष है अर्थात् जहाँ पर अभिधावृत्ति द्वारा इन भावों का नामोल्लेखपूर्वक वर्णन किया जाता है वहाँ पर किसी भी प्रकार का चमत्कार उत्पन्न न होने से श्रोताओं अथवा पाठकों के मन में एक प्रकार का वैमुख्य-सा उद्भूत हो जाता है जिसके कारण वहाँ दोष होता है।[3]

(४) विभावों और अनुभावों की सम्यक् प्रतीति न होने अथवा विलम्ब से प्रतीति होने पर भी रस-दोष होता है क्योंकि वैसा होने पर रस का आस्वादन नहीं हो पाता।[4]

(५) जहाँ जिस रस का वर्णन करना कवि को इष्ट हो, उस प्रकृत अथवा वर्ण्य रस के प्रतिकूल रसों के समबल अथवा प्रबल अंगों का वर्णन करना दोष है क्योंकि उनके द्वारा प्रकृत रस के परिपाक में बाधा आती है।[5]

(६) किसी भी प्रबन्ध में जिस रस का वर्णन चल रहा हो, उसका यदि एक

---

१. पंडितराज जगन्नाथ, रसगंगाधर, प्रथमाननम्, प्र० चौखम्बा विद्या भवन, वाराणसी, भाष्यकार बदरीनाथ झा, पृ० १८९।

२. आस्वाद्यताऽवच्छेदकरूपेण प्रत्ययाजनक तथा रसस्थले वाच्यवृत्तेः कापेयकल्पत्वेन विशेषदोषत्वाच्च।

३. स्थायिव्यभिचारिणामपि शब्दवाच्यत्वं दोषः।

४. विभावानुभावयोरसम्यक् प्रत्यये, विलम्बेन प्रत्येय वा न रसास्वाद इति तयोर्दोषत्वम्।

५. समबल-प्रबल-प्रतिकूलरसांगानां निबंधनन्तु प्रकृतरसपोष प्रातीपिकमिति दोषः।

बार किसी भी प्रसंगान्तर से विच्छेद हो जाय और उसे दीपित करना पड़े जिससे विच्छिन्न कथा पुनः जागृत हो सके, वहाँ 'विच्छिन्न दीपन' नामक दोष होता है।[1] चूँकि बीच में ही कथा का विच्छेद हो जाने से सहृदयजन प्रकृत रस का पूर्णतः आस्वादन नहीं कर पाते जिसके कारण वहाँ रसदोष हो जाता है। इस विषय में प्रदीपकार का मत पंडितराज से कुछ भिन्न है। उनका कहना है कि अंगभूत रसों का पुनः-पुनः दीपन भले ही दोष कहा जा सके किंतु अंगी रसों का पुनः-पुनः दीपन करने पर काव्य के आस्वादन में किसी प्रकार की न्यूनता न आकर संपुष्टि ही होती है। इसके प्रमाण रामायण और महाभारत नामक प्रबंध काव्य हैं जिनमें क्रमशः करुण और शांत नामक अंगी रसों का पुनः-पुनः दीपन किया गया है।

(७) जहाँ जिस रस का प्रस्ताव करना उचित न हो वहाँ उस रस का प्रस्ताव करना और जहाँ जिस रस का विच्छेद करना समीचीन नहीं है, वहाँ उस रस का विच्छेद करना भी दोष है।[2] इस दोष के प्रथम खंड अर्थात् रस-प्रस्ताव के अनर्ह अवसर पर रस के प्रस्ताव का उदाहरण है 'संध्यावंदन और देवयजन आदि धर्म-वर्णन के प्रसंग पर, किसी कामिनी के साथ किसी कामुक का अनुराग-वर्णन करना।' दोष के द्वितीय खंड अर्थात् रसविच्छेदनार्ह स्थान पर रस के विच्छेद का उदाहरण है 'मर्मभेदी वचनों का उच्चारण करने वाले युद्धोन्मत्त शत्रु-योद्धाओं की उपस्थिति में नायक का संध्या-वन्दन आदि विषयक अनुचित वर्णन।' इन दोनों प्रकार के वर्णनों में क्रमशः शृंगार का अनवसर में प्रस्ताव तथा वीर अथवा रौद्र का अनवसर में विच्छेद होता है जिनके कारण उनमें रसदोष उत्पन्न हो जाते हैं।

(८) जिनका प्रधानतया वर्णन करना अभीष्ट नहीं है उन प्रतिनायक आदि के नानाविध चरित्रों और अनेकविध सम्पदाओं का ऐसा अतिशयोक्तिपूर्ण वर्णन करना जिसके सम्मुख प्रधान वर्णनीय नायक का चरित्र और उसकी सम्पदाएं हीन-सी प्रतीत होने लगें, एक प्रकार का रसदोष है।[3] ऐसा करने से नायक का अभीष्ट उत्कर्ष सिद्ध नहीं होता और प्रतिनायक-गत उत्कर्ष की प्रतीति होने लगती है जिससे तत्प्रयुक्त रस के पोषण में बाधा आती है। यदि यह कहा जाय कि प्रतिनायक के उत्कर्ष का वर्णन तो एक प्रकार से विजेता नायक के उत्कर्ष का ही अंग या पोषक होता है अतः उसमें किसी प्रकार का अनौचित्य या रस-दोष संभावित नहीं है तो इसका सामान्य उत्तर यही है कि जहाँ इस प्रकार का वर्णन नायकोत्कर्ष का पोषक हो तब तो वह स्वीकार्य है अन्यथा अपनी विपरीत स्थिति में वह रस-दोष ही है। प्रश्न हो सकता है कि प्रतिनायक का उत्कर्ष चाहे किसी भी रूप में वर्णित हो विजेता नायक के लिए तो वह और भी अधिक उत्कर्षप्रद हो सकता है अतः उसमें दोष की संभावना कैसे हो सकती है। इसका उत्तर

१. प्रबंधे प्रकृतस्य रसस्य प्रसंगान्तरेण विच्छिन्नस्य पुनर्दीपने सामाजिकानां न सामग्रयेण रसास्वाद इति विच्छिन्न दीपनं दोषः।

२. तत्तद्रसप्रस्तावनानर्हे वसो प्रस्तावः, विच्छेदानर्हे च विच्छेदः।

३. न च प्रतिनायकोत्कर्षस्य यदभिभावक—नायकोत्कर्षांगत्वात् कथमवर्णनीयत्वमिति वाच्यम्।

देते हुए पंडितराज कहते हैं कि यह कोई आवश्यक नहीं है कि उत्कृष्ट व्यक्ति का विजेता या वधकर्त्ता विजित या मृत व्यक्ति से अधिक उत्कृष्ट हो ही। व्यावहारिक जीवन से प्रकट है कि कभी-कभी किसी महान् राजा का वध एक क्षुद्र शबर अपने विषमय बाण द्वारा कर देता है किंतु इस कार्य की सफलता से क्या वह शबर किसी महाराज की अपेक्षा श्रेष्ठ सिद्ध हो जायगा ? यही बात नायक और प्रतिनायक के वर्णन के प्रसंग में भी घटित होती है। अतः कवि पर इस बात का बहुत बड़ा दायित्व है कि वह प्रति नायक का उत्कर्ष वर्णन करते समय उपर्युक्त तथ्यों का पूर्ण ध्यान रखे अन्यथा उसका वर्णन अपने अनौचित्य के कारण रस-दोष का कारण हो सकता है।

(९) रस के आलम्बन और आश्रय का अनुसंधान अंतरान्तर रूप में न होने पर भी रसदोष होता है।[1] इसका आशय यह है कि रसास्वाद की प्रक्रिया मुख्यतः आलम्बन और आश्रय के पुनः-पुनः अनुसंधान के ही आश्रित है अतः बीच-बीच में उनका अनुसंधान न होने से रस-प्रतिपत्ति की धारा विच्छिन्न भी हो सकती है जिसके कारण रस में अपकर्ष या दोष-सृष्टि की सहज सम्भावना है।

(१०) जिस वस्तु का वर्णन प्रकृत (प्रस्तुत) रस का उपकारक न हो, उसका वर्णन करना भी रस-दोष है क्योंकि ऐसा होने पर प्रकृत रस की धारा का विच्छेद हो सकता है।[2]

(११) अनौचित्य तो रसभंग का कारण प्रसिद्ध ही है अतः उसका त्याग तो सभी दृष्टियों से वांछनीय है।[3]

हमने पंडितराज जगन्नाथ कथित रसदोषों का सामान्य परिचय इस प्रयोजन से दिया है कि उनके द्वारा यह तथ्य प्रकट हो जाय कि वे किन-किन प्रसंगों और परिस्थितियों में काव्यास्वादन की प्रक्रिया में बाधक बनते हैं। इस दोष-विवेचन की यह भी एक विशेषता है कि वह मुख्यतः रसास्वादन के संदर्भ में ही विवेचित किया गया है। पंडितराज के मतानुसार रस या काव्यास्वाद व्यंजनामात्र से निष्पाद्य है, अतः वे उसकी आस्वादन-क्रिया में अभिधावृत्ति का संचरण देखते ही उसे दोषपूर्ण निर्दिष्ट कर देते हैं। उन्होंने रसदोष की विवेचना में काव्य के व्यावहारिक पक्ष का अत्यधिक आधार लिया है।

काव्य के वर्जनीय वर्ण और दोष

आचार्यों ने काव्य के वर्जनीय वर्णों के प्रकारों तथा उनकी अश्राव्यता के साथ-साथ रस-विशेष के अनुसार काव्य-विशेष में उपस्थित होने वाले वर्जनीय दोषों का भी वर्णन किया है। उन वर्जनीयों की विवेचना का लक्ष्य काव्य-स्रष्टाओं को इस तत्त्व का अवबोध कराना है कि वे अपनी रसानुगामिनी रचनाओं में ऐसे किन-किन नियमों का परिपालन करे जिनके कारण उनमें अपकर्ष का संचार न हो सके। वस्तुतः काव्य-

---

१. रसालम्बनाश्रययोरनुसंधानमन्तरान्तरा न चेद्, दोषः।
२. प्रकृतरसानुपकारकस्य वस्तुनो वर्णनमपि, प्रकृतरसविरामहेतुत्वाद् दोष एव।
३. अनौचित्यं तु रसभंगहेतुत्वात् परिहरणीयम्।

वर्जनीय एक प्रकार से काव्यदोष ही है जिनको निराकृत करते हुए कवियों को अपनी गुणाभिव्यंजक रचनाओं का निर्माण करना चाहिए। उन वर्जनीयों में कतिपय वर्जनीय निम्नलिखित हैं जिनका निरूपण पंडितराज ने 'रसगंगाधर' में किया है—

(१) एक ही पद में कोई वर्ण निरन्तर दो बार प्रयुक्त हो तो वह किंचित् अश्रव्य होने के कारण त्याज्य है; जैसे ककुभ, वितत, पलल आदि।

(२) एक ही पद में एक ही अक्षर का निरन्तर रूप से अनेक बार प्रयोग हो तो उसमें और भी अधिक अश्रव्यता-दोष आ जाता है; जैसे वितततर आदि।

(३) भिन्न-भिन्न पदों में भी एक ही अक्षर के बार-बार आने से भी वह कुछ अश्रव्य प्रतीत होता है।

(४) भिन्न पदों में भी बार-बार एक अक्षर का प्रयोग और अधिक अश्रव्य होता है।

(५) जिस वर्ग का अक्षर पूर्व में आ चुका हो, उसके साथ-साथ उसी वर्ग के भिन्न अक्षर का प्रयोग यदि एक पद में और एक बार किया जाता है, तो वह भी कानों में कुछ खटकता है।

(६) एक पद में एक वर्ग के भिन्न-भिन्न वर्णों की यदि बार-बार आवृत्ति हो तो और अधिक अश्रव्य होता है।

(७) भिन्न-भिन्न पदों में भी एकवर्गीय अक्षरों की एक बार लगातार आवृत्ति भी अश्रव्य होती है।

(८) भिन्न पदों में भी बार-बार ऐसा होने पर और अधिक अश्रव्य हो जाता है।

(९) एक वर्ग के वर्णों का सह-प्रयोग प्रथम के पश्चात् द्वितीय का और तृतीय के पश्चात् चतुर्थ का हो, तो भी अश्रव्य होता है।

काव्य-वर्णों की अश्रव्यता

पंडितराज ने उपर्युक्त वर्जनीयों के साथ-साथ इस तथ्य की ओर भी संकेत किया है कि काव्य-रचना में कभी-कभी वर्णों का सहप्रयोग इस प्रकार का भी होता है जिसकी अश्रव्यता को रचना-मर्मज्ञ व्यक्ति ही समझ सकते हैं। उनके मतानुसार काव्य-वर्णों की अश्रव्यता का भी निवारण विशेष-विशेष नियमों के आधार पर किया जा सकता है जैसे दो अश्रव्य व्यंजनों के बीच गुरु स्वर का प्रयोग आदि। पंडितराज ने उपर्युक्त अश्रव्यताओं को काव्य की पंगुता कहा है (इदं चाश्रव्यत्वं काव्यस्य पंगुत्वमिव प्रतीयते)। अश्रव्यों के ये समस्त प्रकार काव्य में वर्जनीय हैं। सभी रसों में इनका परि-हार करना समीचीन है। यहाँ एक बात विशेष रूप से उल्लेखनीय है कि 'अश्रव्यत्व' को श्रुतिकटुत्व का पर्याय नहीं समझना चाहिए क्योंकि ये दो पृथक्-पृथक् दोष हैं। श्रुति-कटुत्व एक अनित्य दोष है क्योंकि वह मधुर रसों के प्रतिकूल तथा ओजस्वी रसों के अनुकूल है। अश्रव्यत्व का अर्थ और प्रयोग उससे भिन्न है। उसका सामान्य अर्थ है 'उन-उन वर्णों के अनंतर उन-उन वर्णों के आगमन आदि अनेक कारणों से रचना का सुनने योग्य न होना, चाहे वह कोमल वर्णों से ही क्यों न बनी हो।' यह दोष सब रसों का

प्रतिकूल ही है अतएव नित्य है और सभी प्रकार के काव्यों में त्याज्य है।

रसविशेष के अनुसार काव्य-विशेष के वर्जनीय दोष

पंडितराज ने रसविशेष के अनुसार काव्य विशेष में वर्जनीय दोषों का भी वर्णन किया है। उदाहरणार्थ माधुर्य गुण के आश्रित रहने वाले शृंगार, करुण और शांत आदि मधुर रसों में दीर्घसमास आदि का प्रयोग निषिद्ध है किंतु वीर, बीभत्स और रौद्र रसों में वे ही प्रयोजनीय और अनुकूल बन जाते हैं। पंडितराज ने मधुर रसों में प्रतिकूल अतएव वर्जनीय दोषों का विवरण प्रस्तुत करते हुए लिखा है—

"मधुररसेषु दीर्घसमासं झयूघटित संयोगपरह्रस्वस्य विसर्जनीयादेशसकार जिह्वामूलोपध्मानीयानां टवर्ग-झयां, रेफ-हकारान्यतरघटित संयोगस्य, हलां ल-म-न-भिन्नानां स्वात्मना संयोगस्य, झयद्वयघटितसंयोगस्य चासकृत् प्रयोगं नैकट्येन वर्जयेत्।"[१]

—"अर्थात् मधुर रसों में लम्बे समास, जिनके आगे झय् प्रत्याहार के वर्णों के संयोग हों ऐसे ह्रस्वस्वर, विसर्ग, विसर्ग के स्थान में आदेश द्वारा आये हुए सकार, जिह्वामूलीय, उपध्मानीय, टवर्ग के वर्ण, प्रत्येक वर्ग के आद्य चार अक्षर, रेफ अथवा हकार द्वारा बने हुए संयोग, ल, म और न के अतिरिक्त अन्य व्यंजनों के उन्हीं के साथ संयोग इन सबके पास-पास में बार-बार प्रयोग त्याज्य हैं।" मधुर रसों में वर्जनीय अश्रव्यों को संक्षेप में इस प्रकार कहा जा सकता है—"सवर्णझय्द्वयघटितसंयोगस्य, शर्भिन्नमहाप्राणघटित-संयोगस्य सकृदपीति" अर्थात् मधुर रसों में सवर्ण तथा वर्गों के प्रथम से चतुर्थ तक के वर्णों से बने हुए संयोग और श-ष-स के अतिरिक्त किसी महाप्राण अक्षर के द्वारा बने हुए संयोग का एक बार भी प्रयोग करना वर्जित है। पंडितराज ने उपर्युक्त वर्जनीयों का सोदाहरण विवेचन करते हुए उनकी संगति सिद्ध की है। उनके मतानुसार 'त्व' प्रत्यय, यङ्न्त, यङ्लुगंत तथा इसी प्रकार के कृदंत तद्धित आदि के प्रयोग मधुर रस में वर्जनीय हैं, भले ही वे वैयाकरणों को अधिकाधिक प्रिय हों। उन्होंने ध्वनिकार के साथ अपनी सहमति प्रकट करते हुए उन अनुप्रासों और यमकादिकों को भी त्याज्य माना है जिनमें व्यंग्यरस की चर्वणा से अतिरिक्तयोजनाविशेष अपेक्षित हो। उनकी वर्जनीयता का कारण यह है कि यदि वे काव्य में आवश्यकता से अधिक प्रधान हो जाते हैं तो उनका अन्तर्भाव रसास्वादन में नहीं हो सकता और सहृदयजन उन्हीं के चमत्कार से अभिभूत होकर रसास्वाद से वंचित भी रह सकते हैं। विप्रलम्भ शृंगार में तो ऐसे वर्जनीयों की ओर विशेष ध्यान देना चाहिए। पंडितराज ने उनकी वर्जनीयता का हेतु प्रतिपादित करते हुए लिखा है 'यतो मधुरतमत्वेनास्य निर्मलसितानिर्मितपानकरसस्येव, तनीयानपि स्वातंत्र्यमावहन् पदार्थः, सहृदयहृदयारुन्तुदत या न सर्वथैव सामानाधिकरण्यमर्हति'[२] अर्थात् संभोग शृंगार की अपेक्षा विप्रलम्भ शृंगार में अधिक मधुरता होती है अतः पानकरस के आस्वाद के समान उसका भी एक प्रकार से स्वतंत्र आस्वादन होने

१. रसगंगाधर, रसचंद्रिका टीका, पृ० २५०।
२. वही, पृ० २६०।

के कारण उसमें किसी अन्य वस्तु का लेशमात्र सम्पर्क भी सहृदयजनों के मानस के लिए उद्वेगकर हो सकता है अतः उसके साथ अनुप्रास आदि अलंकारों का समावेश अविधेय है। इस विषय में ध्वनिकार का मत इस प्रकार है—

ध्वन्यात्मभूते शृंगारे यमकादिनिवेशनम्।
शक्तावपि प्रमादित्वं विप्रलम्भे विशेषतः।

—अर्थात् ध्वनिकाव्य के आत्मभूत शृंगार रस में यमक आदि अलंकारों का सन्निवेश करना शक्ति (काव्य-निर्माण की शक्ति अर्थात् प्रतिभा) की विद्यमानता में भी प्रमाद का ही सूचक है और वह भी विशेष रूप से विप्रलम्भ शृंगार में, तो क्या अनुप्रासादि अलंकार विप्रलम्भ शृंगारादि रसों में सभी स्थितियों में वर्जनीय है? इसका उत्तर देते हुए पंडितराज लिखते हैं—

'ये तु पुनरक्लिष्टतया नुन्नतस्कंधतया च न पृथग्भावनामपेक्षन्ते, किंतु रसचर्वणायामेव सुसुखं गोचरी कर्तुम् शक्याः, न तेषामनुप्रासादीनां त्यागो युक्तः।'[1]

—अर्थात् जो अनुप्रास आदि क्लिष्ट और विस्तृत न होने के कारण रसनिवेश के प्रयत्न से पृथक् फल की अपेक्षा नहीं रखते किंतु रस की चर्वणा को ही सुखपूर्वक गोचरीभूत करने में समर्थ होते हैं उनका त्याग उचित नहीं है। वस्तुतः वे अलंकार ही काव्य में सुग्राह्य हैं जिनकी सर्जना काव्य में स्वतः सम्भवी और नैसर्गिक रूप में होती है और जिनकी सृष्टि के लिए कवि को पृथक् प्रयत्न नहीं करना पड़ता।

निष्कर्ष

काव्य-पुरुष के शब्दार्थमय शरीर में काणत्वादि रूपों में विद्यमान रहने वाले तथा उसके आत्मतत्त्व का अपकर्ष करने वाले दोषों और वर्जनीयों की विवेचना के पश्चात् अब केवल इस विषय का उल्लेख करना आवश्यक है कि उनकी स्थिति अधिकांशतः काव्य-वर्णित प्रकरणों अथवा प्रसंगों पर निर्भर है। रसवादी आचार्यों ने उनके नित्या-नित्य रूप का विश्लेषण करते हुए इसी तथ्य को अपने विचार-पथ में रखा था। विश्व के महान् विचारकों ने जब विधाता की सृष्टि को भी गुणों के साथ-साथ दोषमय कहकर उसका विकास-विधान निरूपित किया है तो कवि-सृष्टि से उनका पूर्णतया निष्कासन कैसे सम्भव है? वस्तुतः काव्य-सर्जना का स्वरूप-बोध स्पष्ट करने के लिए उनकी अनिवार्यता को ध्यान में रखकर ही हमने उनके विभिन्न रूपों की विवेचना की है। आचार्य मम्मट ने काव्य का स्वरूपलक्षण निर्धारित करते समय भले ही उसकी 'अदोषता' को उसका एक अनिवार्य अंग माना हो, किन्तु ऐसी कृतियों की संख्या तो अत्यल्प है जो सर्वथा निरपेक्षभाव से दोषमुक्त कही जा सकें। ऐसी स्थिति में हम काव्य-सर्जना के रूपविधान में दोषों की संस्थिति का एकमात्र आधार अनौचित्य-तत्त्व को ही मानते हैं जो काव्य की वर्ण-रचना से लेकर रसव्यंजना तक परिव्याप्त रह सकता है। दोषों के कारण ही काव्य की रस-चर्वणा में विघ्न उपस्थित होते हैं जिनका विशेष विवेचन काव्य के

१. रसगंगाधर, रसचन्द्रिका टीका, पृ० २६०।

रसास्वाद-विषयक तृतीय खंड में किया गया है। काव्य-संघटना के लिए रीति-तत्त्व और काव्यमार्ग की उपयोगिता तथा उसके उत्कर्षहेतु और शोभाधायक धर्मों के रूप में गुणालंकारों की संस्थिति की अभीष्ट विवेचना पूर्ववर्ती अध्यायों में की जा चुकी है। अतः इसी तारतम्य में यह आवश्यक हो गया है कि हम दोष-प्रकरण की समाप्ति के पश्चात् काव्य-सर्जना के औचित्य-पक्ष का रहस्योद्घाटन करें जिसका सम्यक् निर्वाह किये बिना काव्य-सर्जना में ऐसा सौन्दर्य और चमत्कार आ ही नहीं सकता जो उसकी अखंड एवं पूर्ण रसानुभूति करा सके। 'काव्य-सर्जना और औचित्य विधान' शीर्षक परवर्ती अध्याय में औचित्य तत्त्व का काव्यगत प्रसार निरूपित करने के अनन्तर प्रबंध-काव्यों के विशिष्ट विधान में उसका रसाभिव्यंजक औचित्य विवेचित किया जायगा जिसकी व्याख्या के उपरांत हम काव्यास्वाद की भूमिका में प्रविष्ट हो सकेंगे।

९

वक्रोक्ति-सिद्धांत

वक्रोक्ति-सिद्धांत की पूर्वपीठिका

वक्रोक्ति-सिद्धान्त को काव्यजीवित के रूप में प्रतिष्ठित करने का श्रेय आचार्य कुंतक को प्रदान किया जाता है, किंतु उनके पूर्ववर्ती आचार्यों और कवियों ने भी उसका माहात्म्य किसी न किसी रूप में स्वीकार अवश्य किया था। राघवपांडवीयम् में सुबंधु, बाणभट्ट और कविराज को जिस अर्थ में 'वक्रोक्तिमार्गनिपुण' कहा गया है वह वक्रोक्ति के अर्थ-विस्तार का सूचक है, क्योंकि वहां 'वक्रोक्ति' पद शब्दालंकार मात्र का वाचक न होकर 'वचन-वैदग्ध्य' एवं 'उक्ति-वैचित्र्य' का पर्याय है जिसके द्वारा काव्य के शब्दार्थ-युगल में चमत्कार का प्रस्फुरण किया जाता है। बाण ने 'कादम्बरी' और 'हर्षचरित' में प्रसंगवश 'वक्रोक्ति' शब्द का प्रयोग करते हुए उसे इतिवृत्तात्मकता से भिन्न और शब्दक्रीड़ा के विविध बंधों से युक्त माना है जिसका सम्यक् निर्वाह करने की क्षमता केवल महाकवियों में ही संभव है। आचार्य भामह ने वक्रोक्ति में शब्द और अर्थ की उभयविध वक्रता का समावेश कर उसे वाणी और अर्थ का मूल अलंकार निर्दिष्ट किया है। उनके शब्दों में वक्रोक्ति 'वक्राभिधेयशब्दोक्तिरिष्टावाचामलंकृतिः' ही नहीं है अपितु वह 'वाचांवक्रार्थशब्दोक्तिरलंकाराय कल्पते' भी है जिससे वक्रोक्ति का वस्तु-विषय शब्द और अर्थ की वक्रता तक व्याप्त होकर अलंकार मात्र का मूल आधार बनता है। अतिशयोक्ति की 'लोकातिक्रांतगोचरता' और 'गुणातिशयता' का निरूपण करते हुए आचार्य भामह ने उसे वक्रोक्ति-रूप ही माना है जिसका समर्थन काव्यप्रकाश की बालबोधिनी टीका से भी किया जा सकता है। कहने के लिए भामह भले ही अलंकारवादी माने जायं किंतु उनका विशेष आग्रह 'वक्रोक्ति' की ओर है जिसका वैशिष्ट्य व्यक्त करते हुए उन्होंने उसे अलंकार का सर्वस्व माना है।[1] उन्हें तो काव्य के समस्त रूपों में वक्रोक्ति का ही चमत्कार प्रदर्शित होता है और जहाँ वक्रता नहीं होती, वहाँ वे किसी भी प्रकार का अलंकारत्व ही स्वीकार नहीं करते। वक्रोक्ति के अभाव के कारण ही भामह ने 'हेतु,', 'सूक्ष्म' और 'लेश' नामक अलंकारों की स्थिति न मानकर अलंकार-विहीन रचना को 'वार्तामात्र' कहा है क्योंकि उसमें किसी भी प्रकार की चमत्कृति नहीं

---

१. सैषा सर्वत्र वक्रोक्तिरनयाऽर्थो विभाव्यते।
यत्नोऽस्यां कविना कार्यः कोऽलंकारोऽनया विना ॥—भामहः, काव्यालंकार, २.८५।

होती। आचार्य दण्डी ने तो सम्पूर्ण वाङ्मय का विभाजन भी 'स्वभावोक्ति' और 'वक्रोक्ति' संज्ञक द्विविध प्रकारों में ही किया है। वे स्वभावोक्ति को आद्यलंकार मानते हुए भी वक्रोक्ति की महत्ता कम नहीं करते क्योंकि वक्रोक्ति के आश्रय से ही समस्त अलंकारों का चमत्कारपूर्ण संपोषण होता है।[1] यद्यपि दण्डी ने भामह की भांति अतिशयोक्ति और वक्रोक्ति को अत्यन्त निकटवर्ती रूप में प्रतिष्ठित किया है, किंतु वे स्वभावोक्ति का समावेश वक्रोक्ति के अन्तर्गत नहीं करते। भामह के अनुसार स्वभावोक्ति भी अपने ढंग से वक्रोक्ति हो सकती है किंतु दण्डी का अभिमत है कि वक्रोक्ति की अपेक्षा उसका महत्त्व न्यूनतर है।

कुंतक का वक्रोक्ति-विषयक दृष्टिकोण

आचार्य कुंतक ने 'वक्रोक्ति' शब्द को अत्यन्त व्यापक क्षेत्र प्रदान करते हुए उसे काव्य का जीवित कहा है। यद्यपि उन्होंने भी भामह और वामन आदि आलंकारिकों की भाँति अपने कारिका-ग्रन्थ का नाम 'काव्यालंकार' ही रखा था, किंतु उसका 'वक्रोक्तिजीवित संज्ञक वृत्ति भाग इतना अधिक प्रसिद्ध एवं प्रचलित हुआ कि लोग उनके कारिका भाग को विस्मृत कर वृत्ति भाग को ही मूल रचना कहने लगे। उन्होंने अपने ग्रंथ की प्रथम कारिका की वृत्ति में इस तथ्य का उल्लेख भी किया है।[2] यहाँ यह बात स्मरण रखने योग्य है कि जीवन की भाँति काव्य को भी स्वाभाविक सौन्दर्य से मण्डित कहने वाले आचार्यों ने अद्भुत अथवा वैचित्र्यपूर्ण पदार्थ का निषेध कर वक्रोक्ति-वादी दृष्टिकोण का खंडन किया था जिसे आचार्य कुंतक ने अमान्यता प्रदान की और बतलाया कि स्वभाववादी सिद्धांत में उस तथ्य का अभाव है जिसके कारण किसी काव्य में वैचित्र्य अथवा वैदग्ध्य आता है। ऐसा प्रतीत होता है कि आचार्य कुंतक उस दृष्टिकोण का पूर्ण खंडन करना चाहते थे जिसमें वक्रोक्ति को प्रौढिमात्र कहकर उसे कृत्रिम, स्वमनः कल्पित और अयथार्थ मात्र मान लिया गया था और जिसके अनुसार काव्य के स्वाभाविक सौन्दर्य के सम्मुख उसका कुछ भी अस्तित्व न था। कुंतक ने अपने ग्रंथ का प्रतिपाद्य विषय 'वक्रोक्ति' रूप अभिनव तत्त्व की स्थापना माना है जिसका प्रयोजन सहृदय विद्वानों को अद्भुत आनंद अथवा वक्रता-वैचित्र्य का आमोद किम्वा सौन्दर्य प्रदान करना है। उन्होंने अपने ग्रंथ के मंगलाचरण में जिस वाणीरूपिणी सरस्वती देवी की वंदना की है उसका तात्पर्य भी यही है कि वह वाग्देवता कवीन्द्रों के वक्त्रेन्द्ररूप लास्यभवन की नर्त्तकी तथा सूक्ति परिस्पन्द अर्थात् सुभाषितों के विलास से सुन्दर, अभिनयों से उज्ज्वल और मनोहारिणी होने के कारण एक प्रकार से वक्रोक्ति रूपा ही है जिसके द्वारा कवियों की यशः प्रशस्ति की गौरव-वृद्धि होती है।[3]

जैसाकि पहले संकेत किया जा चुका है कि कुंतक के पूर्व भामह, वामन और

---

१. भिन्नं द्विधा स्वभावोक्तिर्वक्रोक्तिश्चेति वाङ्मयम्।
श्लेषः सर्वासु पुष्णाति प्रायो वक्रोक्तिषु श्रियम्॥—दण्डी, काव्यादर्श, २।३६।

२. अस्य ग्रंथस्यालंकार इत्यभिधानं, उपमादिअमेयजातमभिधेयं, उक्तर, पवैचित्र्यसिद्धि प्रयोजनं इति।

३. कुन्तक, वक्रोक्ति जीवितम्, १।१।

रुद्रट आदि आचार्यों ने काव्यालंकार के नाम से अपने-अपने लक्षण ग्रंथों का प्रणयन किया था, किंतु कुंतक ने उनसे भिन्न दृष्टि रखकर अपने ग्रंथ की रचना की। उन्होंने अपने ग्रंथ को मूलतः 'काव्यालंकार' कहकर 'लोकोत्तर चमत्कारी वैचित्र्य' की सिद्धि के लिए उसका निर्माण किया था। उसमें काव्य का अतिशय सौन्दर्याधायक वक्रता-व्यापार कुछ अपूर्व (लोकोत्तर) तत्त्व के रूप में प्रतिष्ठित हुआ है। कुंतक को अपने इस नूतन प्रयास की सिद्धि पर इतना अधिक विश्वास था कि उन्होंने किसी भी रूप में उसे निकृष्ट नहीं समझा क्योंकि उनसे पूर्व रचित 'काव्यालंकारों' में इस प्रकार का वक्रोक्ति विवेचन नहीं हुआ था। उनका तो स्पष्ट मत था कि व्यावहारिक जगत् में 'अलंकार' शब्द मुख्यतया शरीर के शोभातिशयकारी कटक (कुण्डल) आदि का अर्थबोधक है, किंतु काव्यशास्त्रीय सीमा में वह उपमा आदि अलंकारों, माधुर्य आदि गुणों और वैदर्भी आदि रीतियों तक व्याप्त होकर अपना काव्य-सौन्दर्य व्यक्त करता है। सामान्य प्रयोग में अलंकार-पद शब्दों और अर्थों के शोभाधायक धर्म कहे जा सकते हैं किंतु अपनी विशिष्टता में वे रूप बनकर काव्य के जीवित सिद्ध होते हैं क्योंकि वक्रोक्ति के कारण काव्य में लोकोत्तर चमत्कार की वृद्धि होती है।

वक्रोक्ति के भेदोपभेद

कुंतक का वक्रोक्ति-विषयक दृष्टिकोण अत्यन्त व्यापक है। उनके मतानुसार वक्रोक्ति को 'कवि-कौशल' अथवा 'काव्य-सौन्दर्य' का पर्याय कहा जा सकता है। काव्य के शब्दों और अर्थों में जो कुछ भी अलंकृति अथवा चमत्कृति होती है अथवा हो सकती है, वह सब वक्रोक्ति की परिसीमा में ही समाहित रहती है। उसका क्षेत्र एक ओर वर्ण-विन्यास से लेकर प्रबंध-कल्पना पर्यन्त व्याप्त है तो दूसरी ओर वह उपसर्ग और प्रत्यय आदि पदावयवों से लेकर महाकाव्य तक विस्तृत है। ध्वनि-सिद्धांत की भांति वक्रोक्ति-सिद्धांत भी काव्य-संसार का सार्वभौमप्रभुत्वसम्पन्न सिद्धांत रहा है जिसकी कुंतक के वस्तुपरक दृष्टिकोण ने महती प्रतिष्ठा की है। उन्होंने वक्रोक्ति के जो छः भेद परिकल्पित किये हैं उनमें काव्य के लघुतम अवयव 'वर्ण' से लेकर महत्तम रूप 'महाकाव्य' पर्यन्त का विस्तार है। उनकी विचारधारा के आधार पर वक्रोक्ति के भेदोपभेदों का विवेचन निम्नलिखित रूप में किया जा सकता है—

१. वर्ण-विन्यास-वक्रता

कुंतक के मतानुसार 'वर्ण-विन्यास-वक्रता' वर्ण-रचना की वक्रता है जिसमें एक, दो या बहुत से वर्ण स्वल्प अन्तर से पुनः-पुनः उसी रूप में बध्यमान रहते हैं। इस वक्रता को अन्य आचार्यों द्वारा प्रतिपादित 'अनुप्रास' अलंकार का पर्यायवाची शब्द कहा जा सकता है क्योंकि इसमें भी अनुप्रास की ही भाँति व्यंजनों का साम्य अभीष्ट है, भले ही स्वर-साम्य हो अथवा न हो। इसके अन्तर्गत एक, दो तथा उनसे अधिक वर्णों की आवृत्ति होने से उसके तीन प्रकार होते हैं। कुंतक ने वर्ण-विन्यास-वक्रता के तीन भेद एक अन्य दृष्टि से भी किये हैं जिनमें क्रमशः 'वर्गान्तयोगी स्पर्श वर्णों की आवृत्ति', 'त, ल

और न आदि वर्णों की द्वित्व रूप में आवृत्ति तथा पूर्वोक्त दोनों प्रकारों के अतिरिक्त 'वर्णों की रेफ आदि से संयुक्त रूप में आवृत्ति' होती है। वस्तुतः इन्हें 'वर्ण-संयोगों के विभिन्न रूप-प्रकार' भी कहा जा सकता है जिनका अन्तर्भाव अनुप्रास-चक्र तथा उपनागरिका, परुषा और कोमला आदि आलंकारिक वृत्तियों में सहजरीत्या हो जाता है। कुंतक ने यमक, यमकाभास तथा यमक से साम्य रखने वाले विविध वर्ण-चमत्कारों का समावेश वर्ण-विन्यास-वक्रता में कर लिया है। प्रतिभासम्पन्न कवियों की कृतियों में वर्ण-विन्यास-वक्रता के विविध रूप प्रदर्शित होते हैं। कुंतक ने वर्ण-विन्यास-वक्रता की असंख्य संयोजनाओं की स्वतंत्रता स्वीकार करने के साथ-साथ उसके लिए कुछ विशेष नियम भी निर्धारित किये हैं जिनके अनुसार वर्ण-योजना सदैव प्रस्तुत विषय के अनुकूल, अत्यन्त आग्रहपूर्वक विरचित तथा सुन्दर वर्णों से विभूषित होनी चाहिए। वर्ण-वक्रता में वैचित्र्य और श्रुतिपेशलता का अन्तर्भाव होना भी अनिवार्य है। कुशल कवि का कर्तव्य है कि वह पूर्वावृत्त वर्णों का परित्याग करते हुए उसे नवीन वर्णों के पुनरावर्त्तन से मनोहर बनावे तथा यमकादि की वर्ण-योजना के लिए 'विशेष रूप से' और साधारण वर्ण-योजना के लिए 'सामान्य रूप से' प्रसाद-गुण का संयोजन करे। कुंतक के मतानुसार उसमें प्रस्तुत रसादि के अनुकूल वर्णविन्यास में अन्य चाहे कोई भी चमत्कार वर्तमान हो किंतु वह श्रुति-पेशल तो प्रत्येक स्थिति में होना ही चाहिए।

२. पद-पूर्वार्द्ध-वक्रता

सुबन्त अथवा तिङ्न्त रूप पद के प्रातिपादिक अथवा धातुरूप के पूर्वार्द्ध में जो वक्रभाव अथवा विन्यास-वैचित्र्य पाया जाता है, उसमें पद-पूर्वार्द्ध-वक्रता होती है। इस वक्रता के प्रमुख आठ भेद हैं—१. रूढिवैचित्र्यवक्रता, २. पर्यायवक्रता, ३. उपचारवक्रता, ४. विशेषण वक्रता, ५. संवृतिवक्रता, ६. वृत्तिवैचित्र्य वक्रता, ७. लिंगवक्रता और ८. क्रिया वैचित्र्य वक्रता। इन वक्रताओं का सामान्य विवेचन निम्नलिखित रूप में किया जा सकता है—

(१) रूढिवैचित्र्यवक्रता

जहाँ लोकोत्तर तिरस्कार अथवा प्रशंसा के कथन करने के अभिप्राय से वाच्य अर्थ की प्रतीति या तो रूढ़ि शब्द से असंभव अर्थ के अध्यारोप से युक्त अथवा किसी विद्यमान अर्थ के अतिशय के आरोप से गर्भित रूप में होती है, वहां 'रूढिवैचित्र्य-वक्रता' मानी जाती है।[१] इस वक्रता के अनेक प्रकार हो सकते हैं जिनमें दो मुख्य हैं—

(क) जहाँ रूढि शब्द का ही प्रकरण के अनुरूप, वाच्य रूप से प्रसिद्ध धर्म से भिन्न धर्म के अध्यारोप को लेकर प्रयोग किया जाय वहाँ प्रथम प्रकार की रूढ़ि

१. कुन्तक, वक्रोक्तिजीवितम्, द्वितीयोन्मेष, कारिका संख्या ८,९।

वैचित्र्य-वक्रता होती है। इसका उदाहरण महानाटक के पंचम अंक का सप्तम श्लोक है[1] जिसमें प्रयुक्त 'राम' शब्द केवल वाच्यभूत साधारण 'राम' अर्थ को अभिहित नहीं करता अपितु वाच्यत्वेन प्रसिद्ध साधारण राम से भिन्न अत्यन्त दुःख सहिष्णुत्व रूप धर्म का अध्यारोप करता है जिसके कारण उसमें पद-पूर्वार्द्ध-वक्रता का प्रथम भेद व्यक्त हुआ है। साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ ने इसी श्लोक को 'धर्मिगत फल व्यंजना' का उदाहरण माना है जबकि आनन्दवर्धनाचार्य ने 'अर्थान्तरसंक्रमित वाच्य ध्वनि' का। वस्तुतः मेरी दृष्टि में उक्त तीनों मतों के तत्त्वनिष्पंद में उल्लेखनीय वैभिन्न्य नहीं है।

(ख) जहाँ रूढ़ि संज्ञा शब्द वाच्य रूप से प्रसिद्ध धर्म में लोकोत्तर अतिशय का अध्यारोप गर्भ में रखकर प्रयुक्त किया जाय वहाँ द्वितीय प्रकार की रुढिवैचित्र्य-वक्रता होती है। इस भेद को धर्मगत अतिशय का बोधक कहा जा सकता है। इसका उदाहरण निम्नलिखित श्लोक है जिसमें प्रयुक्त 'राम' शब्द लोकोत्तर शौर्य आदि धर्म के अतिशय के अध्यारोप पर त्वेन प्रयुक्त होने से पदपूर्वार्द्धवक्रता को सूचित करता है—

रामोऽसौ भुवनेषु विक्रमगुणैः प्राप्तः प्रसिद्धिं परां,
अस्मद्भाग्य विपर्ययाद्यदि परं देवो न जानाति तम्।
बन्दीवेष यशांसि गायति मरुद्यस्यैक बाणाहति—
श्रेणीभूत विशाल ताल विवरोद् गीर्णैः स्वरैः सप्तभिः ।।

यहाँ यह बात उल्लेखनीय है कि कुंतक ने इस उदाहरण में प्रयुक्त 'राम' पद में ही वक्रता का प्रतिपादन किया है जबकि काव्यप्रकाशकार मम्मट ने 'असौ' पद से सर्वनाम का, 'भुवनेषु' पद में प्रातिपादिक का, 'गुणैः' पद में बहुवचन रूप वचन का, 'अस्मत्' पद से न केवल तुम्हारा अथवा हमारा अपितु समस्त लंकावासियों का और 'भाग्यविपर्ययात्' पद से अन्यथा विपरिणाम द्वारा कथन का वीररस-व्यंजकत्व अथवा वक्रत्व प्रतिपादित किया है।

रूढ़िवैचित्र्यवक्रता में प्रयुक्त 'रूढि' शब्द का अभिप्राय है कोश तथा लोकव्यवहार में प्रसिद्ध परम्परागत वाच्य अर्थ। जहाँ कवि अपनी रचना-शक्ति द्वारा रूढ अर्थ पर किसी असम्भाव्य किंतु रमणीय अर्थ का अध्यारोप अथवा किसी उत्तम धर्म के अतिशय का गर्भित रूप में आरोप करता है, वहाँ उस प्रयोग विशेष में विचित्र सौन्दर्य या चमत्कार उत्पन्न हो जाता है। यह चमत्कार रूढ अर्थ का अर्थान्तर में संक्रमण करने से उद्भूत होने के कारण लक्षणा के आश्रित रहता है जिसे ध्वनिकार ने अर्थान्तरसंक्रमित-वाच्यध्वनि के अन्तर्गत विवेचित किया है। वस्तुतः ऐसे उदाहरणों में शब्दों का वाचकत्व अभिधा-व्यापार नहीं होता अपितु प्रतीयमान वस्तु का व्यंजना-व्यापार होता है जिसके कारण उनके अर्थों में चमत्कार आ जाता है। कुन्तक ने रूढ़िवैचित्र्यवक्रता के जो दो भेद—'असम्भाव्यधर्माध्यारोपगर्भता' तथा 'सद्धर्मातिशयाध्यारोपगर्भता' किये हैं उन्हें

---

१. स्निग्धश्यामलकांतिलिप्तवियतो वेल्लद्बलाका घनाः,
वाताः शीकरिणः पयोदसुहृदामानंद केकाः कलाः।
कामं संतु दृढ़ं कठोरहृदयो रामोऽस्मि सर्वं सहे,
वैदेही तु कथं भविष्यति हहा हा देवि धीरा भव ।।

ध्वनिकार द्वारा विवेचित 'अत्यन्त तिरस्कृत वाच्य' तथा 'अर्थान्तर संक्रमित वाच्य' नामक ध्वनि-भेदों के अन्तर्गत रखा जा सकता है। कहने की आवश्यकता नहीं कि वह रूढिवैचित्र्य वक्रता प्रतीयमान धर्मों के बाहुल्य के कारण विविध प्रकार की हो सकती है जिसका ज्ञान केवल काव्य-ग्रंथों के आकलन से ही किया जाना सम्भव है। कुंतक ने इस वक्रता का रहस्य 'स्वरश्रुतिन्याय' से स्पष्ट किया है जिसका अभिप्राय यह है कि जिस प्रकार एक ही स्वर में अनेक प्रकार के आरोह-अवरोह की ध्वनि अथवा श्रुति हो सकती है, उसी प्रकार व्यक्तिवाचक संज्ञा शब्द यद्यपि एक व्यक्ति-विशेष के ही वाचक होते हैं, किंतु उनमें भी व्यक्ति की अनेक अवस्थाओं का कवि-विवक्षित वर्णन होने से अवस्थाविशेष के अनुसार विशेषार्थ भी हो सकता है जो रूढिवैचित्र्यवक्रता का ही रूप है।

२. पर्यायवक्रता

पद-पूर्वार्द्धवक्रता का द्वितीय भेद 'पर्याय-वक्रता' है जिसमें किसी वस्तु का कथन अनेक शब्दों से सम्भव होने पर भी प्रकरण के अनुरूप उसके लिए किसी 'सर्वातिशायी विशेष पद' का ही प्रयोग किया जाता है। प्रत्येक भाषा में एक ही अर्थ के वाचक अनेक समानार्थक शब्द होते हैं, जिनमें अवांतर अर्थ-भेद भी पाये जाते हैं। कुशल कवियों की प्रतिभा उन शब्दों के साथ आत्म-साक्षात्कार करती हुई उनकी प्रकरणोचित उपयुक्तता की परीक्षा करने के पश्चात् ही उनका प्रयोग करती है जिससे काव्य में अपूर्व सौन्दर्य आ जाता है। कुंतक ने ऐसे विशिष्ट प्रयोगों में ही पर्याय-वक्रता का निर्देश कर उनके लक्षण का निरूपण तीन कारिकाओं[1] में किया है जिनका अर्थ यह है कि पर्यायवक्रता में प्रयुक्त होने वाले शब्दों में एक ऐसी शक्ति होती है जिसके द्वारा वाच्य अर्थ का अंतरतम भाव संस्पृष्ट हो जाता है जिससे उसके अतिशय का पोषण और सुन्दर शोभान्तर के स्पर्श से वाच्यार्थ का अलंकरण होता है। वे पर्याय शब्द जो स्वयं विशेषण के संयोग अथवा विशेषण के अभाव में भी अपने सौन्दर्यातिशय के कारण मनोहर होते हैं तथा जो असम्भव अर्थ के आधार रूप से हो सकते हैं, पर्याय-वक्रता के उपकरण बनते हैं। कुंतक का मत है कि पर्यायवाची संज्ञशब्दों में अलंकारों के उपसंस्कार से ऐसी मनोहारिणी निबंधना आ जाती है जिसका वैचित्र्य उन्हें 'पर्यायवक्रता' का रूप प्रदान कर देता है। यों तो पर्यायवक्रता के अनेक प्रकार हो सकते हैं किंतु कुंतक ने उसके छः अवांतर भेदों का वर्णन किया है जो निम्नलिखित हैं—

(क) पर्यायवक्रता के प्रथम भेद में पर्याय शब्द वाच्य अर्थ का अत्यन्त निकटवर्ती अन्तरंग अथवा अन्तरतम होता है जिसके कारण उसमें विवक्षित वस्तु को जिस रूप और प्रकार में प्रकट करने की शक्ति होती है, वह किसी अन्य समानार्थक शब्द में हो ही नहीं सकती। उदाहरणार्थ महाकवि भारवि ने किरातार्जुनीयम् के त्रयोदश सर्ग के ५८वें

---

१. कुंतक : वक्रोक्तिजीवितम्, द्वितीयोन्मेष, कारिका १०-१२।

श्लोक में[1] अर्जुन और शिवदूत के मध्य प्रयुक्त वार्तालाप में अर्जुन द्वारा इन्द्र के लिए जिस 'वज्रिणः' शब्द का प्रयोग कराया है, वह इन्द्र के पराक्रम और शौर्य की लोकोत्तर प्रतीति कराने वाला है, क्योंकि उससे इन्द्र का शक्ति-स्रोत व्यंजित होता है। यदि 'वज्रिणः' के स्थान पर इन्द्रवाचक किसी अन्य पर्याय शब्द का प्रयोग किया जाता तो उसमें वैसा चमत्कार नहीं आ सकता था। इसी प्रकार उसी छंद का 'तपस्वी' शब्द भी अत्यन्त रमणीय रूप में प्रयुक्त है, क्योंकि उससे यह अर्थ ध्वनित होता है कि वीरों के बाणों का तो सम्मान फिर भी उचित है किंतु तपस्वियों के बाणों में सम्मानार्ह बात कुछ भी नहीं है। भारतीय साहित्य-समुद्र की यह एक विशेषता रही है कि उसके रत्नकोष में पर्यायवाची शब्दों की अनंत राशि विद्यमान है जिसकी प्राणसत्ता के परीक्षक कवि उनका अभिधेयान्तरतम रूप में प्रयोग करते हैं। एक ही भगवान् शंकर के 'शिव', 'रुद्र', 'कपाली' और 'शूलपाणि' आदि ऐसे अनेक पर्यायवाची शब्द हैं जिनकी अन्तरात्मा में प्रविष्ट होकर जो कवि उनका प्रकरणोचित प्रयोग करते हैं वे ही अपनी प्रयोजन-सिद्धि करने में सफल होते हैं। कवियों का कर्तव्य है कि वे पर्याय-वक्रता के इस भेद की गरिमा का अनुभव कर समानार्थक शब्दों का औचित्यपूर्ण चयन करें।

(ख) पर्यायवक्रता का दूसरा प्रकार वह है जिसमें प्रयुक्त पर्याय शब्द उसके वाच्यार्थ के उत्कर्ष अथवा अतिशय का पोषण हो। ऐसे शब्दों के काव्यगत प्रयोगों से सहज सौकुमार्य-सुभग पदार्थ भी पर्याय शब्दों की उत्कृष्टता से विशेष सहृदय हृदयहारी बन जाते हैं। कुंतक ने राजशेखर कृत बालरामायण नाटक के दशम अंक का ४१वां श्लोक उद्धृत कर इस प्रकार की पर्यायवक्रता का स्पष्टीकरण किया है। उनका कहना है कि उस लोक में लंका-विजय के पश्चात् पुष्पक विमान से अयोध्या की ओर प्रतिगमन करते हुए भगवान् श्रीराम ने सीताजी के सम्मुख जो चन्द्र-वर्णन किया है, उसमें प्रयुक्त पर्याय-विशेषणभूत शब्द, सहजसौन्दर्यसमन्वित चन्द्रमा के सहृदय आह्लाद-उत्कर्ष को उत्पन्न कर पदपूर्वार्द्धवक्रता की पुष्टि करते हैं। उक्त श्लोक में प्रयुक्त विशेषण प्रकारांतर से चन्द्रमा के विषय में आदरातिशय प्रकट करते हैं तथा शेष शब्द उस सौन्दर्य की अतिशय आधानपरता बतलाते हैं जिससे पर्यायवक्रता का चमत्कार ध्वनित होता है।

(ग) पर्यायवक्रता का तीसरा रूप अभिधेयार्थ को अलंकृत करने में समर्थ होता है। उसके द्वारा 'रम्य छायान्तर के स्पर्श से' वाच्यार्थ रूप वस्तु का अलंकरण तो होता ही है, साथ ही साथ श्लेष अथवा विशेषणभूत अन्य पदार्थों के द्वारा उसमें अन्य प्रकार की सौन्दर्य-प्रतीति भी होती है। इस प्रकार की वक्रता में प्रयुक्त होने वाले श्लिष्ट पद अपनी शब्दार्थ-शक्ति द्वारा अन्योक्ति का भी ध्वनन करते हैं। उदाहरणार्थ यदि कोई भ्रमर मदमस्त मातंग (हाथी) के सम्मुख अपनी क्लेशकथा निवेदित करे और हाथी

---

१. नाभियोक्तुमनृतं त्वमिष्यसे,
कस्तपस्वि विशिखेषु चादरः।
संति भूभृति हि नः शराः परे,
ये पराक्रमवसूनि वज्रिणः॥

केवल कान फड़फड़ाकर उसे भगा दे तो उस वर्णन में अन्योक्ति का चमत्कार लाने के लिए 'हाथी' के लिए किया गया 'मातंग' पद का प्रयोग अपनी श्लिष्ट योजना में 'चाण्डाल' के आचरण की भी अर्थ-ध्वनि व्यक्त करेगा। 'सुभाषितावली' में भट्ट वासुदेव के नाम से उद्धृत ६२८ वां श्लोक 'मातंग एवं किमतः परमुच्यतेऽसौ' द्वारा 'मातंग' पद से हाथी और चांडाल के द्विविध पक्ष का अर्थ-बोध कराता है क्योंकि इसमें विशेष्यभूत 'मातंग' शब्द के श्लिष्ट होने से उसके साथ चाण्डाल रूप अन्य अर्थ के संस्पर्श से वाच्यार्थ में चारुत्व आ गया है। इस प्रकार की वक्रता रूपक और उपमा अलंकारों द्वारा भी निरूपित होती है जिसे ध्वनिवादी आचार्य 'शब्दशक्तिमूल संलक्ष्यक्रमव्यंग्य पदध्वनि' का विषय मानते हैं। कुंतक ने छायान्तर स्पर्श से रमणीय बनी हुई इस प्रकार की पर्यायवक्रता की संसिद्धि विशेष्य तथा विशेषण पद के श्लेष द्वारा की है।

(घ) कुंतक ने पर्याय-वक्रता का विवेचन करते हुए उसके लिए 'स्वच्छायोत्कर्ष-पेशल' पद का प्रयोग किया है जिससे चतुर्थ प्रकार की पर्याय-वक्रता का बोध होता है। इस प्रकार की वक्रता में अभिधेयार्थ की छाया, कांति अथवा सुकुमारता उसके उत्कर्ष से मनोहारिणी बनकर सहृदयजनों को आह्लाद प्रदान करती है। उदाहरणार्थ यदि कोई विरहातुर कामी चन्द्रिका चर्चित यामिनी में समुद्र वेला पर चन्द्रमा और सागर-लहरियों का विलासपूर्ण दृश्य देखता हुआ अपनी मनःस्थिति के अनुरूप चन्द्रमा के लिए 'विषमकांडकुटुम्ब' अर्थात् 'पंचशरधारी कामदेव का कुटुम्बी' पद का प्रयोग करे तो वह प्रयोग अप्रसिद्ध होने पर भी सुन्दर सम्बन्ध के कारण प्रसिद्धि को प्राप्त कर अपनी अपूर्व कल्पना द्वारा सहृदय-हृदयों को चमत्कृत कर सकेगा। वस्तुतः 'विषमकांडकुटुम्ब' शब्द चन्द्रमा के पर्यायवाची शब्द के रूप में प्रसिद्ध न होने पर भी उसके अन्य प्रसिद्ध पर्याय शब्दों की अपेक्षा कवि की मनोदशा के वैशिष्ट्य का द्योतक और चमत्कारजनक है अतः ऐसे शब्द-प्रयोग भी पर्याय-वक्रता के आधार बनते हैं। किसी नायिका के लिए 'कृष्णकुटिलकेशी' जैसे विशेषणों के स्थान पर यदि उसे कोई 'यमुनाकल्लोलवक्रालका' कहे तो उस प्रकार के प्रयोग में इसी प्रकार की पर्याय-वक्रता ही उपलक्षित होगी।

(ङ) कुंतक ने पंचम प्रकार की पर्याय-वक्रता का लक्षण 'असम्भाव्यार्थपात्रत्वगर्भ' पद से अभिहित किया है जिसका अभिप्राय यह है कि यह वक्रता उस समय होती है जब कोई कवि सामान्य शब्द से किसी असम्भाव्य तुल्य अर्थ-विशेष को बोधित कराने के प्रयोजन से किसी शब्द-विशेष रूप पर्याय को प्रयुक्त करता है। उदाहरणार्थ रघुवंश के द्वितीय सर्ग के ३४ वें श्लोक में प्रयुक्त 'महीपाल' शब्द राजा के असम्भाव्यार्थ पात्रत्व को व्यक्त करता है क्योंकि इस प्रयोग द्वारा यह ध्वनित होता है कि 'महीपाल' दिलीप में पृथ्वीमण्डल के परिपालन की शक्ति होते हुए भी वह सिंहवशवर्तिनी नंदिनी की रक्षा करने में असमर्थ है। राजा के वाचक अनेक समानार्थक शब्द होने पर भी कविकुलगुरु कालिदास ने उसके लिए 'महीपाल' शब्द का प्रयोग विशेष रूप से किया है। यह शब्द व्यंग्य सम्बोधन-पद के रूप में रखा गया है जिससे राजा दिलीप का 'असम्भाव्यार्थ पात्रत्व' सिद्ध होता है।

(च) कुंतक के मतानुसार पर्याय-वक्रता का छठा भेद 'अलंकारोपसंस्कार

मनोहारिनिबंधना' पद से निरूपित किया जा सकता है। इसका अर्थ यह है कि रूपक आदि अलंकारों से उपसंस्कार अर्थात् शोभान्तराधान से युक्त मनोहारिणी रचना में इस प्रकार की वक्रता हो सकती है। कभी-कभी उत्प्रेक्षा आदि अलंकारों के उपसंस्कार या शोभान्तर के आधान से भी यह वक्रती होता है। जैसे तालावृन्त के साथ चन्द्रकला के कार्य आदि की समानता के कारण अभेदोपचार से रूपकालंकार का विन्यास करना अथवा मुख और कमल की समानता को ध्यान में रखकर प्रतीयमान उत्पेक्षा रूप अलंकार की शोभा का आधान करना आदि।

३. उपचार-वक्रता

जहाँ प्रस्तुत से अप्रस्तुत पदार्थ में रहने वाली नाम मात्र की समानता को भी किसी धर्म के अतिशय को प्रतिपादन करने के लिए उपचार या गौणी वृत्ति से वर्णन किया जाता है, उसको 'उपचार-वक्रता' कहते हैं। इसके द्वारा रूपक आदि अलंकार सरसता को प्राप्त होते हैं। उपचार अर्थात् 'सादृश्यमूलक गौणी लक्षणावृत्ति' के प्राधान्य के कारण ही इसे 'उपचार-वक्रता' कहा जाता है।[१] इस प्रकार की वक्रता में मूर्त वस्तु के वाचक शब्द द्वारा अमूर्त वस्तु का कथन सादृश्यलक्षणामूलक उपचार द्वारा किया जाता है। इसके अनेक उदाहरण प्रस्तुत किये जा सकते हैं जैसे 'हस्तापचेययश,' 'स्निग्धश्यामलकांतिलिप्त आकाश', 'श्वासजनित कम्प से तरंगित स्तनतट' और 'अपमान की कणिका' आदि। इन उदाहरणों में पहले उदाहरण का सरलार्थ है 'हाथ से बटोरने योग्य यश'। स्पष्ट है कि संसार में केवल पुष्प आदि मूर्त पदार्थों का ही अपचय (संग्रह) सम्भव है जिसके साम्य को ध्यान में रखकर यश जैसे अमूर्त विषय का भी 'अपचय' 'पुष्पादि' के समान वर्णित किया गया है जिसके कारण उपचारवश वक्रता आ गई है। दूसरे उदाहरण में मेघों की स्निग्धता और श्यामता का अतिशय-बोध कराने के लिए आकाश को मेघ की स्निग्ध और श्यामल कांति से लिप्त (लीपा हुआ) कहा गया है। इसका अभिप्राय यह है कि जिस प्रकार कोई मनुष्य वस्त्र आदि में रंग की गहराई (वर्णच्छाया) का अतिशय उत्पन्न करने की इच्छा से उसमें नील आदि लेपनीय द्रव्यों का प्रयोग करते हैं, उसी प्रकार मेघों ने अपनी स्निग्ध और श्यामल कांति से आकाश को संलिप्त कर दिया है। इस उदाहरण में 'लिप्त' शब्द का औपचारिक प्रयोग हुआ है। इसका 'स्निग्ध' शब्द भी उपचारवक्रता का द्योतक है, क्योंकि जिस प्रकार कोई मूर्त्त वस्तु देखने तथा स्पर्श में अनुभव करने योग्य स्नेहन रूप गुण के सम्बन्ध से 'स्निग्ध' की जाती है, उसी प्रकार इस उदाहरण में अमूर्त कांति भी 'स्निग्ध' कही गई है। यहाँ 'स्निग्ध' शब्द का प्रयोग उपचारमूलक होने से यह उपचारवक्रता का उदाहरण है। तीसरे उदाहरण में ठोस स्तनतट को द्रववाचक तरंग से युक्त कहा गया जिसके कारण श्वास से कम्पित स्तन में तरंग का साम्य निरूपित होने से उसमें एक विशेष प्रकार का चमत्कार उत्पन्न हो गया है। कवि-समाज में द्रवरूप वस्तु के वाचक शब्द, तरंगितत्व

१. वक्रोक्तिजीवितम् २।१३-१४।

आदि धर्म के कारण किसी रमणीय सादृश्य को लेकर ठोस वस्तु के वाचक रूप में प्रयुक्त होते रहे हैं। कवियों ने अमूर्त अर्थ के लिए भी द्रव पदार्थ के वाचक शब्दों का वाचक रूप से प्रयोग किया है जिसके कारण ऐसे स्थलों पर भी 'उपचार-वक्रता' हुई है। अंतिम उदाहरण में 'मूर्त वस्तु के स्वल्प भाग का वाचक' 'कणिका' शब्द अपने अल्पता रूप साम्य के कारण उपचार से अमूर्त (भाववाचक) अपमान की अल्पता का बोध कराने के अभिप्राय से प्रयुक्त हुआ है जिसके कारण उसमें एक प्रकार की सौन्दर्यमयता आ गई है, अतः यह भी उपचारवक्रता का ही उदाहरण है। संस्कृत में प्रयुक्त 'सूचिभेद्यतम' और 'स्निग्ध सौदामिनी' आदि प्रयोग इसी वक्रता के निर्देशक हैं। मेघ और चन्द्रमा के लिए 'मत्त' और 'निरहंकार' जैसे चेतन प्राणी-सुलभ सामान्य धर्मों का आरोप भी उपचार-वक्रता के उदाहरण हैं। काव्य-कृतियों में उपचार-वक्रता के सहस्रों प्रकार के प्रयोग मिलते हैं जिनका बोध उन रचनाओं का अनुशीलन करने से ही तय किया जा सकता है। उपचार-वक्रता के कारण रूपक आदि अलंकारों में भी सरसता और सौन्दर्यातिशयता आती है। कुंतक ने अन्योक्ति को अप्रस्तुत प्रशंसा अलंकार का एक भेद मात्र मानकर उसके प्रयोग में भी उपचार-वक्रता मानी है। अन्योक्तिकार कवि अभिधीयमान अप्रस्तुत रूप से किसी अन्य वस्तु का वर्णन करता है, किंतु उसका वास्तविक अभिप्राय किसी अन्य प्रस्तुत वस्तु की स्तुति अथवा निंदा के प्रतिपादन में होता है, अतः ऐसे वर्णन भी उपचार-वक्रता के अन्तर्गत ही समाहित किये जा सकते हैं।

४. विशेषणवक्रता

जहाँ विशेषण के माहात्म्य या प्रभाव से क्रिया अथवा कारक का सौंदर्य प्रस्फुटित होता है, वहाँ 'विशेषणवक्रता' होती है। विशेषण एक प्रकार का भेदक धर्म है जिसके प्रभाव से विशेष्य में अतिशयता आती है। यह अतिशयता दो प्रकार की होती है—१. वस्तु के स्वाभाविक सौंदर्य की प्रकाशिका और २. अलंकार के सौंदर्यातिशय की परिपोषिका। कुशल कवि विशेषण प्रयोग करते समय प्रसंगौचित्य का पूर्ण ध्यान रखते हैं, क्योंकि ऐसा करने से काव्य-वर्णित वस्तु के स्वभाव अलंकार और रस आदि का पोषण होता है। कुंतक ने स्वाभाविक सौन्दर्य के प्रकाशक अतिशय के उदाहरणस्वरूप ऐसी नायिका का चित्र उपस्थित किया है जो विभिन्न प्रकार के कारक-विशेषणों की स्वाभाविकता से रमणीय और अपनी विरहावस्था के अनुरूप चेष्टाओं से मण्डित है। 'वह नायिका अपने दोनों हाथों के बीच अपने कपोलों को दबाये हुए अत्यन्त ध्यानमग्न मुद्रा में गीत-ध्वनि का श्रवण कर रही है। उसके अश्रु प्रवाह से उसकी पत्र लेखा विगलित हो गई है तथा उसकी समस्त चित्तवृत्तियाँ कर्णेन्द्रियस्थ हो गई हैं।'[1] इस प्रकार का वर्णन विरहिणी बाला के स्वाभाविक सौन्दर्य का बिम्ब-विधान कराता हुआ रस-परिपाक में सहायता प्रदान करता हैं। उसकी चित्रोपमता और भावाभिव्यंजना की सफलता का रहस्य इस छंद में प्रयुक्त विशेषण-वक्रता ही है।

१. करान्तरालीनकपोलभित्तिवष्पोच्छलत्कूणितपत्रलेखा।
श्रोत्रान्तरे पिंडित चित्तवृत्तिः शृणोति गीतध्वनिमत्र तन्वी॥

विशेषण-वक्रता का स्वाभाविक सौन्दर्य क्रियाओं की प्रसंगोचित योजना में भी निखरता है। कुंतक ने इसका उदाहरण प्रस्तुत करने के लिए एक ऐसे गजपति का चित्रण उद्धृत किया है जो अपनी बंधनग्रस्तता में आँखें बंद करता हुआ अपने स्वेच्छाविहार का स्मरण करता है।[1] इस चित्रण में प्रयुक्त क्रिया-विशेषण स्वाभाविक सौन्दर्य का प्रकाशक है, क्योंकि इसके द्वारा गजपति की असहायावस्था के प्रति करुण-भाव का उद्‌बोधन होता है। विशेषण-वक्रता से अलंकार के सौन्दर्यातिशय का भी पोषण होता है। उदाहरणार्थ यदि कोई प्रेमी किसी नायिका के मुख-सौन्दर्य की प्रशंसा करता हुआ यह कहे कि 'हे देवि, चन्द्र शोभा को तिरस्कृत करने वाले तुम्हारे मुख के द्वारा पराजित कमल कांतिहीन हो रहे हैं'[2] तो इस उदाहरण में प्रयुक्त विशेषण के द्वारा प्रतीयमान उत्प्रेक्षा अलंकार की सौन्दर्य-वृद्धि ही होगी। कुंतक ने विशेषणवक्रता को प्रस्तुत औचित्य के अनुसार समस्त उत्तम काव्यों का जीवित कहा है क्योंकि उसके द्वारा रस 'परमपरिपोष पदवी' को प्राप्त करता हुआ-सा प्रतीत होता है। कवि को चाहिए कि वह उसी पद को विशेषण रूप में प्रयुक्त करे जिसके माहात्म्य से रस, वस्तुओं के स्वभाव और अलंकार आदि विषय लोकोत्तर सौन्दर्य से युक्त बनाये जा सकें। चित्रात्मक विशेषण जहाँ वर्ण्य वस्तु की स्वाभाविक अथवा अलंकृत छटा को सजीवता प्रदान करते हैं, वहाँ भावमय विशेषण भावोद्‌बोधन में सहायक होते हैं। विशेषणों के प्रयोग से कवि का चिन्तन और विचार-पक्ष भी मुखरित होता है। विशेषणों में संगुम्फित वक्रता, संक्षिप्तता, सरसता और सचित्रता आदि विशेषताएँ अपनी सामासिक शैली द्वारा उक्ति-वैचित्र्य की सौन्दर्य-वृद्धि कर काव्य-वैभव को रमणीयता प्रदान करती है। संस्कृत काव्य की गद्य-छटा में इस प्रकार का विशेषण-प्रयोग प्रभूत मात्रा में हुआ है। महाकवि बाणभट्ट, सुबंधु और दण्डी की कृतियाँ इसका प्रमाण हैं। हिन्दी के छायावादी कवियों और पश्चिम के स्वच्छन्दतावादी रोमानी कवियों ने विशेषण वक्रता के अद्‌भुत चमत्कार अपनी कृतियों में प्रदर्शित किये हैं। विशेषण वक्रता का सम्बन्ध पर्याय-वक्रता और उपचार-वक्रता से भी घनिष्ठतम रूप से है। व्युत्पन्न कवियों में इन वक्रताओं का सांकर्य एवं संश्लिष्ट स्वरूप भी चित्रित किया है। अनेक स्थलों पर तो उनका विभेदीकरण भी दुःसाध्य होता है। पंतजी ने 'भावी पत्नी के प्रति' तथा 'बापू और महात्मा जी के प्रति' जैसी कविताओं में चित्रमय तथा विचारगर्भित विशेषणों के प्रयोग कर उनकी रस-दीप्ति और विचार-गरिमा व्यक्त की है। हिन्दी के आधुनिक कवियों के निराला जी कृत 'राम की शक्ति-पूजा', प्रसाद जी रचित कामायनी के 'श्रद्धा' और 'लज्जा' आदि सर्ग तथा महादेवीजी के गीतों में उक्त प्रकार की वक्रताओं की अद्‌भुत त्रिवेणी प्रवाहित हुई है।

५. संवृतिवक्रता

जहाँ किसी वैचित्र्य के कथन की इच्छा से किन्हीं सर्वनाम आदि के द्वारा वस्तु का संवरण अथवा निगूहन (आच्छादन, छिपाना) किया जाता है, वहाँ संवृति-

१. वक्रोक्तिजीवितम्, २।१५।५४।
२. वक्रोक्तिजीवितम्, २।१५।५५।

वक्रता होती है।[1] संवृतिवक्रता पद का समास-विग्रह 'संवृति से वक्रता' अथवा 'संवृति-प्रधाना वक्रता' की द्विविध प्रणालियों से किया जा सकता है। इस वक्रता में जिन सर्व-नामों से जो वस्तु संवृत की जाती है, उसमें एक प्रकार की विचित्रता आ जाती है। इस वक्रता के अनेक प्रकार हो सकते हैं जिनमें निम्नलिखित मुख्य हैं—

(क) जहाँ कोई अत्यंत सुन्दर वस्तु, जिसका वर्णन करना संभव होने पर भी, साक्षात् वर्णित न की जाकर इस प्रकार से प्रस्तुत की जाय कि वह 'इतनी है' इस प्रकार की इयत्ता से परिच्छिन्न होकर परिमित रूप में प्रतीत न हो तथा जिसको सामान्य-वाचक सर्वनाम आदि से आच्छादित कर उसके कार्य रूप अर्थ को कहने वाले उसके अतिशयबोधक किसी अन्य वाक्य से उसकी प्रतीति कराई जाय, वहाँ प्रथम प्रकार की संवृतिवक्रता होती है। इस प्रकार की वक्रता का उदाहरण देते हुए कुंतक ने लिखा है कि इस श्लोक में सदाचार-परायण, पितृभक्त और विरक्तचित्त भीष्म ने असम्भव होने पर भी अपनी इंद्रियों का निग्रह कर लिया यह बात सामान्य शब्दों द्वारा वर्णित की जा सकती थी, किन्तु कवि ने सामान्य मात्र के वाचक 'किमपि' सर्वनाम से आच्छादित कर श्लोक के उत्तरार्द्ध में कामदेव के ध्यानरूप अन्य कार्य का कथन करने वाले दूसरे वाक्य से जो प्रतीति कराई है, उससे रचना में कुछ अपूर्व चमत्कार आ गया है अतः यह संवृति-वक्रता का प्रथम प्रकार है।

(ख) संवृतिवक्रता का दूसरा प्रकार वह है जिसमें 'अपने स्वभाव-सौंदर्य की चरम सीमा पर आरूढ होने के कारण प्रतिपाद्य वस्तु का शब्दों द्वारा वर्णन करना असम्भव है। इस बात को दिखलाने के लिए सर्वनाम के प्रयोग से वस्तु को संवृत कर उसके कार्य के अभिधायी तथा अतिशय के प्रतिपादक किसी अन्य वाक्य से उसका प्रकाशन किया जाता है। कुंतक ने इसका जो उदाहरण[2] दिया है उसमें प्रयुक्त 'तथा रुदतं' अर्थात् 'ऐसी रोई' पद से अनिवर्चनीय अतिशयता को संवृत कर व्यक्त किया गया है। कुंतक का कथन है कि यहाँ पूर्वार्द्ध में संवृत की गई रोदन-रूप वस्तु उत्तरार्द्ध में उसके अतिशयकारक दूसरे वाक्य द्वारा प्रतिपादित होने पर अत्यंत आह्लादकारक बन गई है।

(ग) संवृतिवक्रता का तीसरा प्रकार वह है जिसमें अत्यन्त सुकुमार वस्तु उसके कार्य के अतिशय कथन के बिना ही केवल संवृतिमात्र से रमणीय होकर सौन्दर्य की चरम सीमा को पहुँच जाती है। इसका उदाहरण कालिदास विरचित 'कुमारसंभव' के अष्टम सर्ग का ग्यारहवाँ छन्द है जिसमें कवि ने 'कानि कानि' पदों से उन चेष्टाओं का संवरण किया है जो परिभोगदर्शिनी पार्वती ने पृष्ठवर्ती प्रियतम के प्रतिबिम्ब को अपने प्रतिबिम्ब के समीप देखकर सलज्जभाव से की थी।[3] इस प्रकार के संवरण से वर्ण्य विषय का सौन्दर्य अपनी पराकाष्ठा पर पहुंच गया है।

---

१. वक्रोक्तिजीवितम् २।१६।

२. तथा रुदितं कृष्ण विशाखया रोधगद्गद्गिरा।
यथा कस्यापि जन्मशतेऽपि कोऽपि मा वल्लभो भवतु।।—वक्रोक्तिजीवितम्, २।१६।६०।

३. दर्पणे च परिभोगदर्शिनी पृष्ठतः प्रणयिनो निषेदुषः।
वीक्ष्य बिम्बमनुबिम्बमात्मनः कानि कानि न चकार लज्जया।।

(घ) संवृतिवक्रता के चतुर्थ प्रकार में कोई वस्तु केवल अपने अनुभव द्वारा संवेदनीय किन्तु वाणी द्वारा अनिर्वचनीय है, इस बात को प्रदर्शित करने के लिए संवृत की जाती है। 'प्रियतमा के संभोग-काल के वे शब्द आज भी हृदय में कुछ अपूर्व प्रतिध्वनि कर रहे हैं।'[1] इस कथन में रेखांकित शब्द आनंदानुभूति की अवर्णनीयता के प्रतिपादिक हैं, अतः इनके कारण यहाँ संवृतिवक्रता है।

(ङ) जहाँ परानुभवसंवेद्य वस्तु का वर्णन करना संभव नहीं है, इस बात का प्रतिपादन करने के लिए वस्तु का संवरण किया जाता है, वहाँ पंचम प्रकार की संवृतिवक्रता होती है। उदाहरणार्थ 'उस देवव्रत भीष्म ने कामदेव को कुछ अवर्णनीय रूप से चिन्तामग्न कर दिया'[2] के कथन में प्रयुक्त' कुछ सर्वनाम—पद कामदेव की त्रिभुवनप्रथितप्रतापमहिमा पर भीष्म-प्रतिज्ञा से पड़ने वाले प्रभाव के कारण उसकी विषण्णता की अनिर्वचनीयता को संवृत कर देता है, अतः दूसरे के अनुभवगोचर वस्तु की शब्दों में वर्णन किये जाने की असमर्थता का सूचक यह संवृतिवक्रता का पंचम प्रकार हुआ।

(च) संवृतिवक्रता के षष्ठ प्रकार में कोईवस्तु स्वभाव अथवा कवि की विवक्षा से किसी दोष अथवा न्यूनता से युक्त महापातक के समान कथनीय नहीं है, इस बात को सूचित करने के लिए संवृत की जाती है। महाकवि कालिदास ने पार्वती द्वारा 'शिव-निन्दा प्रकीर्तनीय है' की जो बात कुमारसंभव में कहलाई है,[3] वह वस्तु की अकीर्तनीयता के कारण होने वाली संवृति इसी वक्रता का उदाहरण है। कवि-विवक्षा के कारण होने वाली संवृतिवक्रता का उदाहरण इससे भिन्न होता है, जिसे संवृतिवक्रता का सप्तम प्रकार भी माना जा सकता है।[4]

६. वृत्तिवैचित्र्यवक्रता

जिसमें अव्ययीभाव आदि समास, तद्धित और कृदंत आदि वृत्तियों का सौन्दर्य प्रकाशित होता है, वह वृत्ति वैचित्यवक्रता है। कुंतक ने 'अधिमधु' पद में अव्ययीभाव समास द्वारा चमत्कार निरूपित किया है जो 'मधौ' मधुऋतु में जैसे प्रयोगों से नहीं आ सकता था। उनके मतानुसार पांडुता, पांडुत्व अथवा पांडुभाव आदि शब्दों की विद्यमानता में भी 'पांडिमा' शब्द के प्रयोग में वृत्तिवैचित्यवक्रता का चमत्कार है क्योंकि पांडु शब्द में 'इमनिच्' प्रत्यय जोड़कर बनाया गया तद्धितांत पांडिमा शब्द अधिक सुकुमार और माधुर्यपरक है। 'एकातपत्रायते' शब्द सुबंत 'एकातपत्रं' शब्द को धातु बनाकर उसके द्वारा निर्मित हुआ है जिसमें सुब्धातु की वृत्ति से चमत्कार उत्पन्न हो गया है। इस प्रकार की शब्द-निर्मित हिन्दी-भाषा की प्रकृति के अधिक अनुकूल नहीं है, क्योंकि यहाँ के शब्द-कोश में नाम धातुओं की संख्या बहुत कम है, अतः हिन्दी भाषा में

१. कुंतक : वक्रोतिजीवितम्, प्रथम उन्मेष, श्लोक संख्या ५१।
२. कुंतक : वकोक्तिजीवितम्, द्वितीय उन्मेष, श्लोक संख्या ५८।
३. निवार्यतामालि किमप्ययं वटु पुनर्विवक्षुः स्फुरितोत्तराधरः।
न केवलं यो महतोऽपभाषते शृणोति तस्मादपि यः स पापभाक्।—कालिदास, कुमारसंभव, ५।८३।
४. कुंतक, वक्रोक्तिजीवितम्, २।१६।६६।

वृत्तिवैचित्र्यवक्रता का अधिक चमत्कार अन्वेषित करना व्यर्थ है। यहाँ इस बात का उल्लेख करना आवश्यक है कि कुंतक ने वृत्तिवक्रता के अंतर्गत जिस समास-वक्रता का पदरचनाश्रित सौन्दर्य निरूपित किया है, उसके अनेक भेदों का विवेचन वामन ने श्लेष और उदारता आदि शब्द-गुणों के अन्तर्गत कर दिया है। वस्तुतः अनेक बार समास-बहुला पद-रचना द्वारा चित्रण में सरस सघनता और चारु-चमत्कृति भी आ जाती है।

७. लिंगवैचित्र्यवक्रता

जहाँ वैचित्र्य-सम्पादन के लिए भिन्न लिंग के शब्दों का भी समानाधिकरण रूप से प्रयोग होता है, वहाँ लिंगवैचित्र्यवक्रता होती है। इस वक्रता का सौन्दर्य लिंग-प्रयोग पर आश्रित है क्योंकि प्रतिभाशाली कवि विभिन्न लिंगों के शब्दों का समानाधिकरण रूप से प्रयोग कर अपनी उक्ति में अपूर्व चमत्कार-सा उत्पन्न कर देते हैं। कुंतक ने दो भिन्न-भिन्न लिंगों के समानाधिकरण को चमत्कार का विधायक माना है और बतलाया है कि वैषम्य अथवा विरोधाभास के आधार पर उनमें चमत्कार उत्पन्न होना सहज सम्भव है। उनका मत है कि जहाँ अन्य लिंगों का प्रयोग सम्भव होने पर भी स्त्रीलिंग का प्रयोग नारी की नैसर्गिक रमणीयता को ध्यान में रखकर किया जाता है, वहाँ एक विचित्र प्रकार की शोभातिरेकता आ जाती है अतः ऐसे स्थल लिंग वक्रता के उदाहरण कहे जायेंगे। संस्कृत में 'तट' आदि ऐसे अनेक शब्द हैं जिनका प्रयोग 'तटः', 'तटी' और 'तटम्' रूपों से त्रिविधलिंगों में होता है, किंतु कवियों ने सुकुमार-व्यंजकता की दृष्टि से स्त्रीलिंग वाचीतटी शब्द का प्रयोग करना अधिक रमणीय और सौन्दर्यजनक माना है। कवियों का कर्तव्य है कि वे अर्थ तथा प्रकरण के औचित्य का ध्यान रखकर अन्य लिंगों की सम्भावना होने पर भी ऐसे लिंग विशेष का प्रयोग करें जो शोभाधायक हों। रससिद्ध कवियों की वाणी अपनी नवनवोन्मेषशालिनी प्रज्ञा द्वारा ऐसे प्रसंगों की भाव-सुषमा को हृदयंगम कर वर्ण्यमान विषय में लिंगवैचित्र्यवक्रता द्वारा चमत्कारजन्य विच्छित्ति उत्पन्न कर देती है। महाकवि कालिदास ने रघुवंश के त्रयोदशसर्ग में लंका-विजय के पश्चात् पुष्पक विमान द्वारा अयोध्या की ओर प्रतिगमन करते हुए भगवान् श्रीराम द्वारा पूर्वानुभूत स्थानों का जो परिचय प्रदान कराया है उनमें उनकी विरह-वेदना के प्रति सहानुभूति और संवेदना रखने वाले पदार्थों में प्रकृति के विभिन्न उपादान हैं, किंतु कवि ने अपनी सरस संवेदना के कारण लताओं की चेष्टाओं को मुख्य रूप से उल्लिखित किया है जिसका हेतु यह है कि लताओं की स्त्रीलिंगता अन्य पदार्थों की अपेक्षा अधिक सहानुभूति का संभार रखने वाली है। ऐसे स्थल पर लताओं की भाँति मृगांग-नाओं का उल्लेख भी लिंगवैचित्र्यवक्रता का अत्यन्त उपयुक्त उदाहरण प्रस्तुत कर सका है। यदि कवि चाहता तो ऐसे प्रसंग में लता और मृगी के स्थान पर वृक्ष और मृग आदि पुंल्लिग शब्दों का भी प्रयोग कर सकता था किंतु उनमें स्त्रीलिंगता का-सा चमत्कार और सौन्दर्य नहीं आ पाता। 'नामेव स्त्री पेशलम्' के सिद्धान्तानुसार स्त्रियों के स्वभाव में जो कोमल संवेदना होती है वह अन्यत्र दुर्लभ है तभी तो राम ने उसी प्रसंग में सीता के सम्मुख कहा है—

त्वं रक्षसा भीरु यतोऽपनीता तं मार्गमेताः कृपया लता में ।
अदर्शयन् वक्तुमशक्नुवन्त्यः शाखाभिरावर्जित पल्लवाभिः ।।
मृग्यश्च दर्भांकुर निर्व्यपेक्षास्तवागतिज्ञं सम्बोधयन् माम् ।
व्यापारयंत्यो दिशि दक्षिणस्यामुत्पक्ष्मराजीनि विलोचनानि ।।[1]

कहने की आवश्यकता नहीं कि उपर्युक्त उदाहरणों में प्रयुक्त 'लता' और मृगियों के स्त्रीलिंग-प्रयोग से जो भावमय चमत्कार आ सका है, वह अन्य लिंगों के प्रयोग से कदापि नहीं आ सकता था। हिन्दी के छायावादी कवियों ने इस प्रकार की लिंगवैचित्र्यवक्रता के अनेक अभिनव प्रयोग किये हैं। सुमित्रानंदन पंत के 'बाल-विहंगिनि' और 'मधुपकुमारि' जैसे स्त्रीलिंग प्रयोग भाव-पेशलता के रमणीय उदाहरण हैं। कवियों ने अचेतन-पदार्थों की लिंग-कल्पना द्वारा भी इस प्रकार की वक्रता का सौन्दर्य निरूपित किया है। ऐसे प्रयोगों में नारीत्व और पुरुषत्व की कोमल और परुष व्यंजना की कल्पनाएँ भी सन्निहित रहती हैं।

८. क्रियावैचित्र्यवक्रता

इसे धातुवैचित्र्यवक्रता भी कहा जाता है। इस प्रकार की वक्रता में सुबन्त तथा तिङन्त पदों का जो धातुरूप पूर्वभाग संभव हो सकता है, उसकी वक्रता का विचार किया जाता है। कुंतक ने इसके पाँच भेद निरूपित किये हैं जो निम्नलिखित हैं—

१. कर्त्ता की अत्यंत अंतरंगता, २. अन्य कर्ता की विचित्रता, ३. अपने विशेषण की विचित्रता, ४. उपचार के कारण मनोज्ञता और ५. कर्म आदि की संवृति। ये पांचों भेद[2] वर्ण्यमान वस्तु अथवा प्रस्तुत के औचित्य से मनोहारी होते हैं। कुंतक ने इनका जो विवेचन किया है, उसका सार इस प्रकार है—

(१) जहाँ क्रिया कर्ता की अत्यंत अंतरंग अर्थात् उससे अत्यंत अभिन्न हो, वह क्रिया वैचित्र्यवक्रता का प्रथम प्रकार है। उदाहरणार्थ 'क्या मैं चन्द्रलेखा को धारण करने से सुन्दर लगती हूँ?' इस प्रकार पार्वती द्वारा पूछने पर भगवान शंकर ने उसके उत्तर में उस स्थान का चुम्बन कर लिया जहाँ चन्द्रिका बँधी थी।[3] इस उदाहरण में चुम्बन रूप क्रिया उत्तर-रूप कर्ता का अभिन्न अंग है जिसे ध्यान में रखकर कुंतक ने इसका विमर्श करते हुए लिखा है कि यहाँ पार्वती के इस प्रकार की क्रिया के द्वारा कथन, चुम्बन के अतिरिक्त अन्य किसी प्रकार की क्रिया के द्वारा संभव नहीं था, अतः अपने क्रियावैचित्र्य मूलक वक्रभाव के कारण इस उक्ति में कर्ता की अंतरंगतावश सौन्दर्य आ गया है।

(२) जहाँ क्रिया द्वारा किसी अन्य कर्ता की विचित्रता का प्रतिपादन हो, वहाँ दूसरे प्रकार की क्रियावैचित्र्यवक्रता होती है। इसके उदाहरण 'शिवजी की वह शराग्नि

---

१. कालिदास : रघुवंश, १३।२४-२५।
२. वक्रोक्तिजीवितम्, २।२४-२५।
३. कालिदास, कुमारसम्भव, ३।३३।

तुम्हारे दुःखों का निवारण करे'[1] तथा 'भगवान् नृसिंह के प्रपन्नार्तिच्छिद् (दुखियों के संतापनाशक) नख तुम्हारी रक्षा करें[2]' हो सकते हैं। प्रथम उदाहरण में प्रयुक्त 'शराग्नि' का कार्य संतप्त करना है, किंतु कवि ने उसे दुःखनाशक कहा है जिसके कारण क्रिया द्वारा कर्ता की वैचित्र्य-सिद्धि हुई है तथा दूसरे उदाहरण में नखों की छेदन-रूप-क्रिया उन्हें वैचित्र्य प्रदान करती है, क्योंकि अंततः वे नर की रक्षा करने वाले कहे गये हैं। इन दोनों उदाहरणों में कर्ता की अन्य कर्ताओं से विचित्रता होने के कारण इनमें क्रिया-वैचित्र्य-वक्रता का अंतर्भाव है।

(३) जहाँ मुख्य रूप से क्रिया के विशेषण अथवा भेदक धर्म की विचित्रता से काव्य-सौन्दर्य का उन्मेष होता है, वहाँ तृतीय प्रकार की क्रियावैचित्र्यवक्रता होती है। इस प्रकार की वक्रता में क्रिया-विशेषण के वैचित्र्य पर उसका चमत्कार आश्रित रहता है जिससे कारक तथा क्रिया इन दोनों की सौन्दर्य-संवृद्धि होती है। उदाहरणार्थ यदि यह कहा जाय कि भाव-संवेग के कारण विपरीत वेश-विन्यास से सखीजन को हँसाते हुए अंगनाओं ने आभूषण धारण करने आरम्भ किये (विपरीतभूषाविन्यासहसितसखीजनं) तो इस उक्ति में 'विपरीतवेशविन्यास से सखीजन को हँसाते हुए' प्रयोग से क्रिया-विशेषणवश चमत्कार आ गया है। बात यह है कि कवि को इस उक्ति में यह भावाभिव्यंजन करना अभीष्ट है कि रमणियों ने प्रियतम का संदेश प्राप्त करते ही प्रेम-विह्वल होकर वेशालंकार धारण करने आरम्भ किये, किंतु उनके मन तथा नेत्रों की विचित्र गति हो जाने के कारण उन्हें अपनी परिधान-प्रक्रिया का कोई ध्यान नहीं रहा और वे अपने विपरीत वेशविन्यास और सौन्दर्य प्रसाधन द्वारा सखियों द्वारा उपहासास्पद बन गईं। उनकी इस प्रकार की क्रिया में क्रियाविशेषणवश चमत्कार आने से क्रिया वैचित्र्यवक्रता का रूप संगठित हुआ है, क्योंकि उसके द्वारा नायिकाओं के प्रियानुराग की तीव्र व्यंजना भी होती है।

(४) क्रियावैचित्र्यवक्रता का चतुर्थ प्रकार 'उपचारमनोज्ञता' है। उपचार का अर्थ सादृश्यादि सम्बन्धों के आधार पर अन्य पदार्थों के धर्म का अध्यारोप करना है। उदाहरणार्थ किसी वयः संधि प्राप्त तरुणी के अंग-सौन्दर्य का वर्णन करते हुए यह कहा जाय कि 'तारुण्योदय के कारण वयः संधि में वर्तमान नायिका के अंग मानो निर्झर रूप में ऊपर से गिरते हुए स्वच्छ लावण्य-सागर में तैरते हुए-से प्रतीत हो रहे हैं तो इस वाक्य में चेतन पदार्थों में संभाव्य सादृश्य के उपचार से चंचल नायिका के अंगों में तैरने की उत्प्रेक्षा हो गई है जिसके कारण उपचार-मनोज्ञता आ गई है। इसी प्रकार नायिका की आँखों की चपल चेष्टाएँ स्पष्ट रूप से सरलता का प्रतिवाद कर रही हैं। कहने पर उपचार के अर्थ-सादृश्य से यह स्पष्ट हो जाता है कि जिस प्रकार कोई चेतन व्यक्ति किसी विषय में प्रचलित व्यवहार-विशेष को समाप्त कर अपने अभिप्राय से किसी अन्य प्रकार के व्यवहार की प्रतिष्ठा करता है उसी प्रकार वयः संधि में विद्यमान नायिका के हावभावों

१. अमरुकशतक, २।
२. ध्वन्यालोक का मंगलाचरण।

में सरलता के प्रतिवाद का औपचारिक प्रयोग किया गया है। इस प्रयोग का आधार पूर्वोक्त वाक्य में 'तैरते हुए-से प्रतीत हो रहे हैं' तथा 'प्रतिवाद-से कर रहे हैं' क्रियाएं हैं जिनके कारण उन वाक्यों में वक्रता-विच्छित्ति का संचार हो गया है।

(५) 'कर्मादि की संवृति' क्रियावैचित्र्यवक्रता का पंचम प्रकार है। इस वक्रता में वर्ण्यमान वस्तु के औचित्य के अनुसार सौन्दर्यातिशय की प्रतीति के लिए कर्म आदि कारकों की संवृति (आच्छादन) की जाती है। उदाहरणार्थ आयतनयना नायिका के रागालस मन में प्रेम की शोभा नेत्रों के अंतर्गत कुछ अपूर्व मधुरता अर्पित कर रही है। इस वाक्य में कवि ने कर्म के कथन की संभवता को 'कुछ' सर्वनाम द्वारा अच्छादित कर चमत्कार-सा उत्पन्न कर दिया है, जिसके कारण यहाँ कर्मादि की संवृति से क्रियावैचित्र्य-वक्रता हो गई है। वस्तुतः 'अर्पित कर रही है' क्रिया का प्रयोग इस अपूर्व सौन्दर्य का उद्भावक है क्योंकि उसके कर्म का कथन शब्दतः न होकर 'कुछ' सर्वनाम द्वारा संवृत रूप में किया गया है। इस उदाहरण में 'उपचारवक्रता' भी विद्यमान है क्योंकि 'अर्पित कर रही है' क्रिया में 'अर्पण' पद उपचारमूलक रूप में प्रयुक्त है।

पदपूर्वार्द्धवक्रता के अन्य रूप

कुंतक ने पदपूर्वार्द्धवक्रता के जिन आठ भेदों का विवेचन किया है, उनका संक्षिप्त परिचय उनके प्रभेदों सहित पूर्व पृष्ठों में दिया गया है। यह परिचय केवल दिङ्मात्र प्रदर्शन के लिए है जिसे हृदयंगम कर लक्ष्य ग्रंथों के आकलन द्वारा इनकी विच्छित्ति समझी जाती है। कुंतक ने प्रसंगवश पदमध्यान्तर्भूत प्रत्ययवक्रता और भाववैचित्र्यवक्रता का भी विवेचन पदपूर्वार्द्धवक्रता के ही अंतर्गत सामान्य रूप से किया है। उनका मत है कि 'अपने प्रभाव से प्रस्तुत अर्थ अथवा प्रकरण के औचित्य के अनुरूप सौन्दर्य को प्रकाशित करता हुआ तथा पद के मध्य में प्रयुक्त प्रत्यय कुछ अन्य प्रकार से ही वक्रता (सुन्दरता) को प्रकट करता है।'[1] इस वक्रता के स्पष्टीकरण के लिए कुंतक ने 'वेल्लद्बलाका घनाः' तथा 'स्निह्यत्कटाक्षेदृशौ' के उदाहरण प्रस्तुत करते हुए बतलाया है कि इन उदाहरणों में वर्तमान काल के अभिधायक शतृ-प्रत्यय अतीत तथा अनागत सौन्दर्य से रहित तात्कालिक स्वभावतः सुन्दर वस्तु की औचित्य शोभा को प्रकाशित कर सहृदय हृदयहारिणी प्रत्ययवक्रता का निदर्शन है।[2] कहने की आवश्यकता नहीं कि इस प्रकार की प्रत्ययवक्रता के लिए संस्कृत-काव्यों में जितना अधिक अवकाश है उतना हिन्दी-काव्यों में नहीं है। हमने इस वक्रता का परिचय मात्र देने के लिए इसका उल्लेख किया है।

कुंतक के मतानुसार भाव या क्रिया को सदैव साध्य रूप में स्वीकार कर उसकी साध्यरूपता का भी तिरस्कार करके जब उसे सिद्ध रूप में कहा जाता है तो वहाँ भाववैचित्र्यवक्रता होती है।[3] उदाहरणार्थ यदि किसी के प्रताप का आधिक्य सूचित करने के लिए उसके क्रियारूप भाव का कथन 'उत्प्रताप' शब्द द्वारा सिद्ध रूप से किया जाय तो

---

१. वक्रोक्तिजीवितम्, २।१७।

२. वही, पूर्वोक्त कारिका की वृत्ति।

३. वक्रोक्तिजीवितम्, २।२०।

वहाँ विशेष प्रकार का चमत्कार आने के कारण भाववैचित्र्यवक्रता होती है। प्रत्यय-वक्रता की भाँति इस वक्रता का भी सम्बन्ध संस्कृत-भाषा की प्रकृति से अधिक है। कुंतक ने इन वक्रताओं को सामान्य रूप से पदपरार्द्धवक्रता के अंतर्गत भी विवेचित किया है।

३. पदपरार्द्धवक्रता

इसे प्रत्यय-वक्रता भी कहा जाता है क्योंकि इसमें सुबन्त तथा तिङ्न्त रूप पदों के परार्द्ध में लगने वाले प्रत्ययों से उद्भूत वक्रता का विचार होता है। इस वक्रता के मुख्य छः भेद हैं जिनका विवेचन निम्नलिखित है—

(क) कालवैचित्र्यवक्रता

जहाँ औचित्य की अंतरमता से प्रकरण में अधिकृत काल-विशेष रमणीयता को प्राप्त होता है, वहाँ कालवैचित्र्यवक्रता होती है।[1] इस वक्रता में औचित्य का प्रस्तुतीकरण आवश्यक है, क्योंकि उसके बिना काल की वक्रता प्रसंग तथा परिस्थिति के अनुकूल नहीं हो सकती। कुंतक ने इस वक्रता का स्पष्टीकरण करने के लिए जो उदाहरण दिया है उसमें एक वियोगी वर्षाकालीन परिस्थिति का चित्रण करते हुए कह रहा है कि 'सम-विषम के विभेद से रहित तथा मंद-मंद संचरण के योग्य मार्ग शीघ्र ही मनोरथों के लिए भी दुर्लभ्य हो जायेंगे।'[2] विरही की इस उक्ति में प्रयुक्त 'हो जायेंगे' क्रिया अपने भविष्यत्कालिक प्रयोग में चमत्काराधायक है क्योंकि उसके कारण ही यहाँ पर यह अर्थ-व्यंजना आ सकी है कि जब वर्षाकाल की संभावना मात्र से इतना भय है तो उसकी उपस्थिति में तो न जाने क्या होगा ? इस छंद में प्रयुक्त भविष्यत्कालिक क्रिया-पद से स्पष्टतः यह वक्रता ध्वनित होती है कि कोई विरही अपनी प्रियतमा के वियोग-ताप के कारण वर्षा ऋतु की संभावना के अनुमान मात्र की कल्पना से विप्रलम्भ शृंगार के उद्दीपन विभाव स्वरूप वर्षाकालिक सौन्दर्य-दर्शन में असमर्थ-सा होकर उसकी भयजन्य अनुभूति की आशंका से यह उद्‌गार प्रकट कर रहा है। वस्तुतः भविष्यत्काल का बोधक 'हो जायेंगे' क्रियारूप ही इस वक्रता का मूल आधार है। 'बौरन चुमि कोएलिया घूमि करेजन की किरचैं करि दैहैं' इस पंक्ति में प्रयुक्त 'करि दैहैं' क्रिया-प्रद काल-वैचित्र्य-वक्रता का ही उदाहरण है। यह वक्रता उन स्थलों पर भी हो जाती है जहाँ 'ऐतिहासिक वर्तमान' (Histrical Present) में भूतकालिक घटना का वर्तमानकालिक क्रियाओं द्वारा वर्णन कर सौन्दर्य-सृष्टि की जाती है। इसका एक उदाहरण बिहारी का निम्न-लिखित दोहा है जिसमें प्रयुक्त 'कसकति' क्रिया का वर्तमानकाल भूतकालिक चेष्टाओं के लिए प्रयुक्त होकर चमत्कार उत्पन्न कर रहा है—

नासा मोरि नचाय दृग, करि कका की सौंह।
कांटे-सी **कसकति** हिये गड़ी कंटीली भौंह॥

---

१. वक्रोक्तिजीवितम्, २।२६।

२. वही, २।२६।६५ (गाथा सप्तशती का ६७५ वां श्लोक)।

(ख) कारक-वक्रता

इस वक्रता का मूल आधार कारकों का प्रयोग है। जहाँ सामान्य कारक का मुख्य रूप से और मुख्य कारक का सामान्य रूप से अध्यारोप किया जाता है, वहाँ कारक-वक्रता होती है। काव्य-रचना में जहाँ किसी कथन-शैली को परिपुष्ट करने के लिए कारकों का विपर्यास किया जाता है अर्थात् कर्ता को कर्म या करण तथा कर्म या करण को कर्ता बना दिया जाता है, वहाँ पर भी कारक-वक्रता होती है।[१] उदाहरणार्थ महानाटक के चतुर्थ अंक का ७८ वां श्लोक उद्धृत किया जा सकता है जिसकी अंतिम पंक्ति में भगवान् श्रीराम समुद्र द्वारा मार्ग न प्रदान करने पर क्रोधाभिभूत होकर कहते हैं— 'पाणिः सम्प्रति ते हठात् किमपरं स्प्रष्टुं धनुर्धावति' अर्थात् 'तुम्हारी धृष्टता के कारण मेरा हाथ अब विवश होकर धनुष को उठाने के लिए बढ़ रहा है।' राम की इस उक्ति में 'मैं हाथ से धनुष उठाना चाहता हूँ न कहा जाकर उसके स्थान पर करण रूप हाथ पर कर्तृत्व का अध्यारोप हुआ है जिसके कारण यहाँ कारकवक्रता हो गई है। 'राम की शक्तिपूजा' में कविवर निराला ने 'हर धनुर्भंग को पुनर्वार ज्यों उठा हस्त' पंक्ति में 'हस्त' पद के प्रयोग द्वारा 'कारक-वक्रता' का सन्निवेश किया है। कारकवक्रता उन स्थलों पर भी होती है जहाँ अचेतन पदार्थ में भी चेतनता का अध्यारोप कर रसादि के परिपोषण के लिए उनमें चेतन की ही क्रिया का समावेश रूप कर्तृत्व आदि कारक के रूप में उस अचेतन पदार्थ का वर्णन किया जाता है। जैसे 'आंसुओं का प्रवाह धीरे-धीरे दोनों स्तनों को नहला रहा है (स्तनद्वन्द्व मंदं स्नपयति बलाद्वाष्पनिवहो[२])' इस वाक्य में वाष्पनिवह आदि अचेतन पदार्थों में भी चेतनत्व का अध्यारोप करके कवि ने उसमें नहला रहा है (स्नपयति) क्रिया द्वारा उसके कर्तृत्व का प्रतिपादन किया है अतः यहाँ कारक-वक्रता है। छायावादी कवियों की उक्तियों में कारक-वक्रता के असंख्य उदाहरण प्राप्त होते हैं।

(ग) संख्या-वक्रता

जिस वक्रता में कविगण काव्य में वैचित्र्य-वर्णन की इच्छा के परतंत्र होकर संख्या अथवा वचन का परिवर्तन कर देते हैं वह संख्या-वक्रता कहलाती है। इसका यह अभिप्राय है कि कभी-कभी एकवचन के स्थान पर बहुवचन तथा बहुवचन के स्थान पर एकवचन का प्रयोग करने से विशेष चमत्कार उत्पन्न हो जाता है। संख्या अथवा वचन के विपर्यास का कारण वैचित्र्य-विवक्षा होती है। उदाहरणार्थ 'अभिज्ञानशाकुंतलम्' नाटक के प्रथम अंक में शकुंतला के ऊपर उड़ते हुए भ्रमर को देखकर दुष्यंत की यह उक्ति 'वयं तत्वान् वेषान्मधुकर हतास्त्वं खलु कृती' अर्थात् 'हे भ्रमर, हम तो तत्त्वान्वेषण में ही मारे गये, किंतु तुम इसका अधर-पान करके कृतार्थ-से हो गये' प्रस्तुत की जा

१. वक्रोक्तिजीवितम्, २।२७-२८।
२. राजशेखरः बालरामायण, १।५०।

सकती है जिसमें दुष्यन्त द्वारा एकवचन के स्थान पर बहुवचन का प्रयोग (वयं अर्थात् हम) किये जाने से उसके एक प्रकार का वचन-वैचित्र्य आ गया है। कहने की आवश्यकता नहीं कि बहुवचन के प्रयोग द्वारा राजा ने अपनी विरक्ति अथवा आत्मनिंदा की व्यंजना की है। कुंतक का कथन है कि कहीं-कहीं भिन्न वचनांत शब्दों के समानाधिकरण्य में भी विचित्र चमत्कार होता है, जैसे 'शास्त्राणि चक्षुर्नवम्' अर्थात् शास्त्र उसका नवीन नेत्र है जैसे प्रयोग में। इसमें शास्त्र बहुवचनांत है तथा नेत्र एकवचन जो वचन-वक्रता का आधार है। संख्या-वक्रता का एक उदाहरण संस्कृत की 'फुल्लेन्दीवरकाननानि नयने पाणी सरोजाकरा' है जिसमें 'नयने' और 'पाणी के द्विवचन और 'काननानि' तथा 'सरोजकरा:' के बहुवचन के साथ समानाधिकरण्य रूप वचन-विपर्यास होने से उनमें सहृदयग्राह्य चमत्कार आ गया है।

(घ) पुरुष-वक्रता

जहाँ काव्य में सौन्दर्योद्भावना करने के लिए आत्मभाव और परभाव का विपरीत रूप से प्रयोग किया जाता है, वहाँ पुरुष-वक्रता होती है। इसका अभिप्राय यह है कि कभी-कभी उत्तम और मध्यम पुरुषों के स्थान पर अन्य पुरुष का प्रयोग करने से काव्य-शोभा में संवृद्धि हो जाती है। काव्य-बंध में ऐसे अनेक स्थल आते हैं जहाँ कवि को विभिन्न प्रकार की भाव-व्यंजनाएं करनी पड़ती हैं। उन भाव-व्यंजनाओं का संबंध पुरुष-प्रयोग से भी रहता है। उदाहरणार्थ उत्तम तथा मध्यम पुरुषों के प्रयोग में एक प्रकार की प्रत्यक्षता अथवा तज्जन्य समीपता रहती है जबकि कभी-कभी उदासीनता, सम्मान अथवा निरहंकारिता आदि भावों की अभिव्यक्ति के लिए प्रत्यक्ष-वाचक पुरुषों के स्थान पर अन्यवाचक अन्य पुरुष का प्रयोग किया जाता है जिससे वहाँ की व्यंजना अत्यंत साभिप्राय और चमत्कारपूर्ण बन जाती है। काव्य-ग्रंथों में इस प्रकार की वक्रता के असंख्य उदाहरण मिलते हैं। कुंतक ने तापसवत्सराज नाटक के प्रथम अंक का ६७ वां श्लोक उद्धृत कर यह तथ्य स्पष्ट किया है कि उसमें प्रयुक्त 'जानातु देवी स्वयं' अर्थात् देवी स्वयं जाने; देवी के स्थान पर युष्मद् शब्द के मध्यम पुरुष 'त्वं' का प्रयोग भी किया जा सकता था, किंतु उसमें 'देवी' के स्वतंत्रतापूर्वक कर्तव्य-निर्धारण करने की भावना नहीं आ सकती थी। वस्तुत: 'देवी' पद के प्रयोग से एक प्रकार की उदासीनता की व्यंजना होती है। यदि उसके स्थान पर मंत्री यौगन्धरायण 'आप' शब्द का प्रयोग करता तो उसमें निकटता के कारण अधिकार तथा आग्रह का भाव आ सकता था जिसके संस्पर्श से रानी पर उतना अधिक मनोवैज्ञानिक प्रभाव नहीं पड़ सकता था जो 'देवी' पद के प्रयोग से सम्भव हुआ है। संस्कृत में 'अत्रभवान्', 'तत्रभवान्', 'आर्यपुत्र' आदि पदों के प्रयोग की जो प्रणाली है, वह पुरुष-वक्रता का ही एक रूप है। व्यावहारिक संवादों में भी 'मैं' के स्थान पर 'आपका सेवक' जैसे प्रयोग अत्यधिक विनम्रता प्रदर्शित करने के लिए ही किये जाते हैं। 'साकेत' में गुप्त जी ने उर्मिला की 'करके ध्यान आज इस जन का निश्चय वे मुसकाये' उक्ति में 'इसजन' पद का प्रयोग पुरुषवक्रता की दृष्टि से ही किया है।

(ङ) उपग्रहवक्रता

जहाँ काव्य की शोभा के लिए आत्मनेपद तथा परस्मैपद में से औचित्य के कारण विशेष रूप से किसी एक का प्रयोग किया जाता है, वहाँ उपग्रहवक्रता होती है। इस प्रकार की वक्रता का चमत्कार रूढ़ रूप में तो केवल संस्कृत-भाषा में ही सम्भव है, क्योंकि हिन्दी में आत्मनेपद यथावत् नहीं होता। हिन्दी में उन कर्मकर्तृवाच्य प्रयोगों में उपग्रहवक्रता का चमत्कार मिलता है जहाँ कवि सौन्दर्य-व्यंजना के लिए 'मैं जभी तोलने का करती उपचार स्वयं तुल जाती हूं' जैसे प्रयोग करता है। आत्मनेपद के प्रयोग से समुद्भूत उपग्रहवक्रता का उदाहरण रघुवंश में वर्णित महाराज दशरथ की मृगया का वह प्रसंग है जिसमें कवि ने भयभीत मृगियों के नेत्रों की चपल चेष्टाओं से प्रियतमा के नेत्रों के हावभावों का स्मरण आने पर महाराज दशरथ के शारीरिक प्रयत्नों के शिथिल हो जाने की बात कही है जिसके कारण उनकी मुष्टि स्वतः खुल जाती थी अर्थात् वे बाण नहीं चला पाते थे। कवि ने उस वर्णन में कर्मकर्तृनिबंधनरूप आत्मनेपद का प्रयोग कर चमत्कारपूर्ण वक्रत्व की सृष्टि की है जो अत्यंत भव्य और चित्ताकर्षक है।

(च) प्रत्ययमालावक्रता

जहाँ एक प्रत्यय से किया हुआ दूसरा प्रत्यय किसी अपूर्व सौन्दर्य का पोषक होता है वहाँ दूसरे प्रकार की प्रत्ययवक्रता होती है। इस वक्रता के उदाहरण में हम ऐसा श्लोक उद्धृत करना चाहते हैं जिसमें प्रयुक्त 'वंदेतरां' पद तिङन्त से तरप् प्रत्यय करने पर निष्पन्न होकर कवि-मानस में अपूर्व वक्रता उद्भासित कर सका है। कवि ने उस श्लोक में 'पुनः' शब्द का प्रयोग दो कवियों (१. काव्य और २. विधाता) के नमस्कार से विशेषता का बोध कराने के लिए किया है। इस श्लोक की यह भी एक विशेषता है कि उसमें कवि तथा परमात्मा को नमस्कार करने के साथ-साथ भावक अथवा आलोचक के प्रति भी नमन किया गया है जो दो के परिश्रम को समझने वाला तथा उनकी रचना की यथार्थ प्रशंसा द्वारा उन दोनों के मानसिक बोझ को हल्का करने में समर्थ है। श्लोक इस प्रकार है—

लीनं वस्तुनि येन सूक्ष्मसुभगं तत्वं गिरा कृष्यते,
निर्मातुं प्रभवेन्मनोरममिदं वाचैव यो वा बहिः।
वन्दे द्वावपि तावहं कविवरौ वन्देतरां तं पुन—
र्यो विज्ञातपरिश्रमो यमन योर्भारावतार क्षमः॥

अर्थात् जो सत्काव्य का निर्माता महाकवि वस्तुओं में अन्तर्निहित सूक्ष्म और सुन्दर तत्त्व को अपनी वाणी द्वारा बाहर निकालता है और जो परमात्मा अपनी वाणी मात्र से इस मनोहर जगत् का बाह्य निर्माण करता है, उन दोनों कविवरों को मैं नमस्कार करता हूँ। किंतु इन दोनों से भी अधिक मैं उस कवि या विद्वान् को नमस्कार करता हूँ जो दोनों के परिश्रम को समझने वाला तथा उनकी रचना की यथार्थ प्रशंसा द्वारा उन

दोनों के मानसिक बोझ को हलका करने में समर्थ है।

पद-वक्रता के अन्य स्वतंत्र रूप

अभी तक परपूर्वार्द्ध तथा परपरार्द्ध नामक वक्रताओं के जिन विभेदों का विवेचन किया गया, वे नाम और आख्यात अर्थात् सुबन्त और तिङ्न्त के प्रकृति और प्रत्यय आदि अवयवों से सम्बद्ध थे। इनके अतिरिक्त उपसर्ग और निपात पदों में भी वक्रता होती है जिनमें प्रकृति और प्रत्यय की भाँति व्युत्पन्न रूप नहीं होता। इस वक्रता में वैयाकरणों में प्रसिद्ध नाम वाले उपसर्ग तथा निपात श्रृंगार आदि रसों के द्योतक होते हैं। उपसर्ग और निपात की व्युत्पत्ति प्रकृति और प्रत्यय विभाग में सम्भव नहीं है, अतः कुंतक ने उनके अवयवराहित्य को ध्यान में रखकर उनका स्वतंत्र विवेचन किया है जिनका निष्कर्ष इस प्रकार है—

(१) उपसर्ग-वक्रता

इस वक्रता का आधार उपसर्गों का चमत्कारपूर्ण प्रयोग है जिसके कारण उक्ति अथवा शब्दों में वैचित्र्य आता है। वैयाकरणों का मत है कि किसी समय उपसर्ग भी मूल शब्द थे जो कालांतर में परिवर्तित होकर अर्थ-विशेष के वाचक बन गये हैं। इन उपसर्गों के प्रयोग से काव्य के अर्थ-सौन्दर्य में वक्रता आती है। 'चुम्बित' के स्थान पर 'विचुम्बित', 'मज्जित' के स्थान पर 'विनिमज्जित' जैसे प्रयोग विशेष भावों का द्योतन करते हुए उन्हें रमणीय-स्पर्श प्रदान करते हैं। उदाहरणार्थ प्रिय-वियोग यों ही असह्य होता है किंतु वर्षाकाल में उसकी असह्यता और अधिक बढ़ जाती है जिसका अभिव्यंजन करने के लिए असह्य के स्थान पर 'सुदुःसह्य' पद का प्रयोग किया जाय तो वहाँ रसादि की विशेष संपुष्टि होने के कारण उसमें उपसर्ग-वक्रता मानी जायगी। ऐसे प्रयोग में 'सु' और 'दुस्' उपसर्ग विरह की असह्यता को और भी अधिक प्रबल रूप में व्यक्त करते हैं। जैसे—

'अयमेकपदे तया वियोगः प्रियया चोपनतः सुदुःसहो मे।'

कभी-कभी छंद के लक्षणों की प्रपूर्ति के लिए भी उपसर्गों का प्रयोग किया जाता है जिनमें रसादि की संपुष्टि अथवा औचित्य का निर्वाह न होने के कारण वहाँ उपसर्ग-वक्रता नहीं होती। वस्तुतः काव्यवर्णित भावों की रमणीयता और चमत्कृति का विचार करके ही उपसर्ग-वक्रता का वैचित्र्य समझा जाना चाहिए।

(२) निपात-वक्रता

'निपात' का अर्थ अवयवरहित अव्यय है जिनकी व्युत्पत्ति नहीं की जा सकती। ऐसे अव्युत्पन्न पदों के प्रयोग से भी काव्य-सौन्दर्य और रस-चर्वणा में चमत्कार आता है। निपात अर्थ के द्योतक ही होते हैं। उदाहरणार्थ 'वैदेही तु कथं भविष्यति हहा हा देवि धीरा भव' में 'तु' अवयव निपात-वक्रता का मूल आधार है, क्योंकि उसके द्वारा रस-व्यंजना में विशेष चमत्कृति आ गई है। वस्तुतः 'तु' पद राम की व्यथा को और

अधिक सघन और तीव्र बना देता है। हिन्दी में भी 'तो', 'ही', 'आह', 'धिक्' आदि प्रयोग निपातवक्रता का अभिव्यंजन करते हैं। अभिप्राय यह है कि वक्रता का प्रसार नाम, आख्यात, उपसर्ग और निपात रूप पदों से लेकर वाक्य, प्रकरण तथा प्रबंध काव्यों तक व्याप्त है। कुशल कवि अपनी प्रतिभा द्वारा एक ही रचना में अनेक प्रकार की वक्रताओं का सन्निवेश कर उसे सहृदयग्राह्य बना देते हैं। वक्रताओं का एक ही पद अथवा वाक्यों में संगठित सम्मिलन उसे चित्र-छाया की-सी मनोरमता प्रदान करता है। इस विषय में हम कुंतक का वह छंद उद्धृत करना चाहते हैं जिसमें उन्होंने वाग्वल्ली के पद-पल्लवों में रहने वाली वक्रतोद्भासिनी विच्छित्ति का मधुपान करने का अधिकार विदग्धजन रूप मधुकरों को प्रदान किया है—

वाग्वल्ल्याः पदपल्लवास्पदतया या वक्रतोद्भासिनी
विच्छित्तिः सरसत्वसम्पदुचिता काप्युज्ज्वला जृम्भते।
तामालोच्य विदग्धषट्पदगणैर्वाक्यप्रसूनाश्रयं
स्फारामोदमनोहरं मधु नवोत्कण्ठाकुलं पीयताम् ॥[1]

(४) वाक्य-वक्रता

कुंतक ने वाक्य के अवयव भूत पदों की वक्रता का विवेचन करने के साथ-साथ वाक्यों की वक्रताविच्छित्ति का भी निरूपण किया है। जिस प्रकार पद-वक्रता को शब्द-वक्रता की भी संज्ञा प्रदान की जाती है। इस वक्रता की सामान्य परिभाषा यह है कि 'इसमें किसी वर्णनीय पदार्थ रूप वस्तु का वर्णन 'उदारस्वपरिस्पंदसुन्दरत्वेने' किया जाता है और उसमें सुन्दर शब्दगोचरता रहती है।'[2] कुंतक का उदार पद से तात्पर्य 'उत्कर्षयुक्त सर्वातिशायी' और 'स्वपरिस्पंद' से 'स्वभावमहिमा' है जिसके सुन्दरत्व अर्थात् सौकुमार्यातिशय से काव्य में शोभा का संचार होता है। ऐसा प्रतीत होता है कि कुंतक वर्णनीय वस्तुओं अथवा पदार्थों के स्वभाव की सुकुमारता के वर्णन-प्रसंग में उपमा आदि वाच्य अलंकारों की उपयोगिता एक सीमा पर्यन्त ही स्वीकार करते थे क्योंकि उनका विश्वास था कि अलंकारों का आधिक्य अनेक बार पदार्थों के स्वाभाविक सौंदर्यातिशय में मलिनता का सन्निवेश भी कर देता है। वस्तुतः किसी वस्तु के स्वाभाविक स्वरूप का ही सुन्दर रूप में सुन्दर शब्दों द्वारा किया गया वर्णन ही कुंतक को अभीष्ट था और उसी में वे वस्तुवक्रता मानते थे।

---

१. कुंतक : वक्रोक्तिजीवितम्, ३।३५।

२. तदिदमुक्तं भवति यदेवंविधे भावस्वभाव सौकुमार्यवर्णनप्रस्तावेभूयसां न वाच्यालंकाराणामुपमादीनामुपयोगयोग्यता संभवति, स्वभावसौकुमार्यातिशयम्लानता प्रसंगात्। वक्रोक्तिजीवितम्, तृतीयोन्मेष, कारिका १ की वृत्ति।

वाक्य-वक्रता अथवा वस्तु-वक्रता के प्रकार

(१) स्वभावोक्ति-विवेचन

कुंतक ने वर्णन की स्वाभाविकता और सुन्दरता के जिस रूप में वस्तु-वक्रता अथवा वाच्यवक्रता मानी है उसे भामह और दण्डी आदि प्राचीन आचार्यों ने 'स्वभावोक्ति' अलंकार कहा है। इसका यह अभिप्राय हुआ कि वस्तु के स्वभाव-सुन्दर वर्णन में संभाव्यमान वस्तु-वक्रता को भामह आदि आचार्य अलंकार्य नहीं मानते। यह एक स्पष्ट बात है कि उपमा आदि अलंकारों के अनौचित्य अथवा प्रतिकूलत्व से केवल अलंकार्यों के सौन्दर्यातिशय में ही म्लानता आ सकती है, न कि अलंकारों में। ऐसी स्थिति में यह भी एक विचारणीय विषय बन जाता है कि कुंतक ने पदार्थों के स्वाभाविक सौन्दर्य-वर्णन में उपमा आदि वाच्यालंकारों के अधिक प्रयोग से जिस म्लानता की बात कही है वह तभी युक्तिसंगत मानी जा सकती है जब स्वभावोक्ति को 'अलंकार' न मानकर 'अलंकार्य' समझा जाय। स्वभावोक्ति को अलंकार मानने पर एक शंका यह भी उत्पन्न होती है कि उस दशा में 'अलंकार्य' किसे कहा जायगा? इसका समाधान करते हुए अलंकारवादियों का कथन है कि वस्तु के सामान्य धर्ममात्र को अलंकार्य तथा उसके 'सातिशय स्वभाव-परिपोषक धर्म' का नाम स्वभावोक्ति अलंकार कहा जा सकता है। वैसी स्थिति में कुंतक द्वारा विवेचित सातिशयपूर्ण वस्तु-वक्रता एक प्रकार से स्वभावोक्ति अलंकार ही है और उन्होंने उपमा आदि अलंकारों के आधिक्य से उद्भूत जिस मलिनता का उल्लेख किया है, वह चिंत्य है।

अलंकारवादियों ने जिस रूप में कुंतक की स्वाभावोक्ति को 'अलंकार्य' न मानकर 'अलंकार' कहा है, उसे कुंतक स्वीकार नहीं करते। उनका मत है कि वस्तुतः स्वभावोक्ति को अलंकार्य मानना ही समीचीन है तथा जो विद्वान् वस्तु के सामान्य धर्ममात्र को अलंकार तथा 'सातिशय स्वभाव-वर्णन' को स्वभावोक्ति अलंकार कहते हैं वे भूल करते हैं। कुंतक के मतानुसार वस्तु के सामान्य धर्म का वर्णन तो प्रत्येक व्यक्ति कर सकता है, क्योंकि उसके लिए कवित्व शक्ति की कोई आवश्यकता नहीं रहती, किंतु सहृदयाह्लादकारी वर्णन करने की क्षमता तो केवल प्रतिभा-सम्पन्न कवियों में ही होती है जिसके लिए सातिशय स्वभाव वर्णन की परम आवश्यकता रहती है। वस्तुतः वह चमत्कारपूर्ण वर्णन अपनी सातिशयता में 'अलंकार्य' रूप ही होता है, क्योंकि चमत्कारशून्य सामान्य धर्म का 'अलंकार्य' रूप् में कोई स्थान नहीं होता। अनुत्कृष्ट धर्मयुक्त सामान्य अर्थ को भी अलंकार्य मानने पर उसमें सुन्दर अलंकारों द्वारा भी सौन्दर्य-आधान नहीं किया जा सकता, क्योंकि वैसा करना एक प्रकार से अयोग्य भित्ति पर चित्रांकन करने के समान ही होगा।[1] कुंतक का कथन है कि सातिशय स्वभाव-वर्णन को वस्तुवक्रता रूप अलंकार्य ही मानना चाहिए जो यथोचित अलंकारों से समाविष्ट होकर सौंदयाधायक बनता है। इस प्रकार अलंकार्य की महत्ता को दृष्टि में

१. कुंतक : वक्रोक्तिजीवितम् ३।१ की वृत्ति (पृ० २६७)।

रखकर ही कुंतक ने अपना अभिमत प्रकट करते हुए लिखा है कि जहाँ केवल स्वाभाविक सौंदर्य के प्राधान्य की विवक्षा हो वहाँ रूपक आदि अलंकारों का अधिक प्रयोग करना उचित नहीं है क्योंकि उससे वस्तु के स्वाभाविक सौंदर्य के आच्छादन की आशंका बनी रहती है। कुंतक ने स्वाभाविक सौंदर्य की आह्लादकारिता तथा अलंकारों की परिमितिका को उस सुन्दरी से उपमित किया है जो सब प्रकार से अलंकार्य (अलंकरण के योग्य) होने पर भी स्नान के समय अथवा विरह के कारण व्रत लिये हुए होने पर अथवा सुरत-क्रीड़ा के पश्चात् अधिक अलंकारों को सहन नहीं कर सकती। इस विषय में हम कुंतक का मत उद्धृत करना आवश्यक समझते हैं—

'तथा चैतस्मिन् विषये सर्वाकारमलंकार्य विलासवतीव पुनरपि स्नानसमय—विरह-व्रतपरिग्रह-सुरतावसानादौ नात्यन्तमलंकरण-सहतां प्रतिपद्यते। स्वाभाविक सौकुमार्यस्यैव रसिकहृदयाह्लादकारित्वात्।'[१]

काव्य-कृतियों के अनुशीलन से यह तथ्य स्वतः प्रकट हो जाता है कि कुशल कवियों ने स्वाभाविक सौन्दर्य की मनोहारिता तथा शोभातिशयता का अभिव्यंजन ही अपनी कला का चरम साध्य माना है। वस्तुतः स्वाभाविक सौन्दर्य की प्रधानता से ही अलंकारों को सुग्राह्य समझना चाहा, क्योंकि स्वाभाविक सौंदर्य का अतिरोध करने वाले तथा स्वभाव से भिन्न सादृश्य या रूपक अलंकार के प्रयोजक तथा अन्य धर्मों की प्रतीति की अपेक्षा रखने वाले अलंकारों की कल्पना काव्य के शोभाधान में कदापि उपयोगी नहीं हो सकती। रस के परिपोष से सुन्दर रसादि की प्रतीति की ऐसी उपस्थिति जिसमें विभाव, अनुभाव और व्यभिचारिभावों का औचित्य नहीं होता, किसी भी प्रकार से वर्ण्यमान पदार्थ की शोभा का विधान कर ही नहीं सकती। सच तो यह है कि रमणियों के नवयौवन के लावण्य तथा ऋतुराज वसंत की शोभातिशयता को जैसे अन्य अलंकरण की आवश्यकता नहीं रहती उसी प्रकार वस्तु-वक्रता का स्वाभाविक सौंदर्य किसी बाह्य अलंकार की अपेक्षा नहीं रखता। रससिद्ध कवियों ने अपनी सहजात प्रतिभा द्वारा चेतन प्राणियों और जड़ प्रकृति की सुन्दरता और सुषमा का वर्णन ऐसी वक्रता से किया है जिसमें अलंकारों का प्रयोगाधिक्य न होने पर भी उनकी सौन्दर्या-भिवृद्धि हुई है। इस विषय में वक्रोक्तिवादी आचार्य कुंतक ने भी उचित ही कहा है कि यदि कोई वस्तु सातिशयधर्मशून्य हो और उसे अलंकारों से सुसज्जित किया जाय तो वह कार्य पिशाचादि को अलंकृत करने के समान ही होगा जिससे सहृदयों का चित्त किसी भी रूप में आह्लादोपलब्धि नहीं कर सकता।[२] श्रेष्ठ कवि केवल प्रस्तुत अथवा वर्ण्यमान वस्तु के औचित्यानुरोध से ही सौंदर्य का अभिव्यंजन करते हैं और ऐसी कोई अप्रस्तुत योजना नहीं करते जिससे वर्ण्यमान वस्तु का सौंदर्य अपकृष्ट हो जाय। इस विषय में अधिक न लिखकर हम दो श्लोक उद्धृत करने पर्याप्त समझते हैं जिनमें क्रमशः

१. कुंतक, वक्रोक्तिजीवितम्, ३।१ की वृत्ति (पृ० २९७)।

२. सातिशयत्वशून्यधर्मयुक्तस्य वस्तुनो विभूषितस्यापि पिशाचादेरिव तद्विदाह्लादकारित्वविरहादनुपादेयत्वमेवेत्यलमतिप्रसंगेन।

—वक्रोक्तिजीवितम् ३।१ की वृत्ति।

पार्वती के स्वाभाविक शोभा के आकर्षण से मंत्रमुग्ध बनी हुई नारियाँ उसका कृत्रिम अलंकरण करने में किंकर्तव्यविमूढ बन जाती हैं अथवा वयःसंधि प्राप्त नायिका का यौवनोद्भव रसिक जनों को सहज ही आनंदविभोर बना देता है उसी प्रकार काव्यवर्णित वक्रतामयी स्वाभाविक सुन्दरता ही कवियों तथा काव्यरसिकों के लिए सर्वस्व होती है। निम्नोक्त श्लोकों से उपर्युक्त धारणा का समर्थन होता है—

(१) तां प्राङ्मुखी तत्र निवेश्य तन्वीं क्षणं व्यलम्बंत पुरो निषण्णाः।
भूतार्थ शोभाह्रियमाणनेत्राः प्रसाधने सन्निहितेऽपि नार्यः।[1]

(२) स्मितं किंचिन्मुग्धं तरलमधुरो दृष्टिविभवः
परिस्पंदो वाचामभिनवविलासोक्तिसरसः।
गतानामारंभः किसलयितलीलापरिमलः।
स्पृशंत्यास्तारुण्यं किमिवहि न रम्यं मृगदृशः।[2]

इसका यह अभिप्राय नहीं कि कुंतक स्वभावोक्ति की अलंकार्यता के विषय में अत्यंत रूढिग्रस्त धारणा रखते हैं। उन्होंने गौण रूप से उसे अलंकार भी माना है किंतु प्रधानता उसके अलंकार्य रूप को ही दी है। इस संबंध में उन्होंने एक प्रकार से अलंकारवादियों के साथ समझौता भी कर लिया है। उनका कथन है कि जो विद्वान् स्वभावोक्ति को अलंकारमात्र मानते हैं वे उनके अभिमत से दूर नहीं है क्योंकि स्वभावोक्ति के लिए अलंकार शब्द का प्रयोग मुख्य रूप से न होकर सादृश्यमूलक गौणी लक्षणा से ही हो सकता है। उनका तो स्पष्ट मत है कि स्वाभाविक सौंदर्य के वर्णन-स्थल से अन्यत्र रहने वाले उपमा और रूपक आदि अलंकारों को अलंकार के अभिप्राय से कहने में उनका कोई विवाद नहीं है।[3] कुंतक का स्वभावोक्ति विषयक वस्तु विवेचन वस्तुवक्रता का प्रथम प्रकार माना जा सकता है।

लोकातिक्रांतगोचरवर्णना

वस्तुवक्रता अथवा पदार्थवक्रता का द्वितीय प्रकार वह है जिसमें कवि के सहज शक्तिजन्य तथा आहार्य कौशल से शोभित होने वाली ऐसी काव्य-रचना की जाती है जो अभिनव कवि-निर्मिति होने के कारण लोकातिक्रांतगोचरा कही जाती है।[4] इसका तात्पर्य यह है कि कवि जिन पदार्थों का वर्णन करता है वे ऐसे नहीं होते कि उनकी पूर्ववर्ती सत्ता का सर्वथा निषेध ही कर दिया जाय। वास्तव में कवि द्वारा वर्ण्यमान पदार्थों की विद्यमानता उसके पूर्व भी होती है किंतु लोक में केवल सत्तामात्र से प्रतीत होने वाले उन पदार्थों में कवि कुछ ऐसी विशेषता उत्पन्न कर देता है जिसके कारण वे साधारण लौकिक पदार्थ भी सहृदयहारिणी किसी अपूर्व रमणीयता को प्राप्त हो जाते हैं। साधारण और लौकिक पदार्थों में अलौकिक सौन्दर्य को उत्पन्न करने की क्षमता रखने के कारण

---

१. कालिदास : कुमारसंभव, ७।१३।
२. वक्रोक्तिजीवितम्, ३।१।२।
३. वही, ३।१ की वृत्ति, पृ० ३०४।
४. वक्रोक्तिजीवितम्, ३।२।

ही कवियों को प्रजापति ब्रह्मा से उपमित किया गया है। अग्निपुराण के ३३८वें अध्याय के दशम श्लोक में जिस रूप में कवि को ही प्रजापति कहा गया है, वह अत्यंत तर्कसंगत है क्योंकि कवि भी विधाता की ही भांति इस विश्व को अपनी अभिरुचि के अनुकूल परिवर्तित कर देता है। वह श्लोक ध्वन्यालोक में भी उद्धृत हुआ है। उसके द्वारा कवि-कृति के महत्त्व का आभास सहज ही हो जाता है। श्लोक निम्नलिखित है—

अपारे काव्यसंसारे कविरेव प्रजापतिः
यथा स्मै रोचते विश्वं तथेदं परिवर्तते ।।

सहजा और आहार्य वक्रता की अलंकार्यता और अलंकारता

सहजा और आहार्या के अभिधान से वर्णनीय वस्तु की जो द्विविध वक्रताएँ कही जाती हैं उनमें सहजा वक्रता का विवेचन स्वभावोक्ति की अलंकार्यता तथा अलंकारता के माध्यम से किया जा चुका है। आहार्य वक्रता प्रस्तुत सौन्दर्य रूपा होने पर भी अलंकार के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं होती। उसके बहुविध प्रकारों द्वारा पदार्थों के वर्णन आदि का व्यवहार विस्तृत किया जा सकता है। इस विषय में हम विक्रमोर्वशीय का एक श्लोक[1] उद्धृत करना चाहते हैं जिसमें महाराज पुरूरवा ने अपनी प्रियतमा उर्वशी के सौन्दर्य का वर्णन विविधरूपा कल्पनाओं द्वारा किया है। उस वर्णन में जहाँ एक ओर उत्प्रेक्षा अलंकार की सहायता से सौन्दर्यातिशय की अनेक सम्भावनाएँ की गई हैं, वहाँ दूसरी ओर संदेह अलंकार द्वारा उर्वशी के सौन्दर्य का संपोषण भी हुआ है। वास्तव में कवि ने पुरूरवा के मुख से अलंकारमयी अप्रस्तुत योजनाओं तथा कल्पनाओं द्वारा नायिका में रहने वाले सौन्दर्यरूप पदार्थ में लोकोत्तर निर्माण की अपूर्व विशेषता का बिम्ब-विधान कराया है जिसके कारण उर्वशी का सौन्दर्यरूप पदार्थ मानो प्रथम बार ही उत्पन्न हुआ है, ऐसा प्रतीत होने लगता है। कवियों ने अपने वर्ण्यमान विषय में चमत्कृति लाने के लिए सातिशयतापूर्ण उत्प्रेक्षा, रूपक, उत्प्रेक्षा और अप्रस्तुत प्रशंसा आदि अलंकारों की योजनाएँ की हैं जिनसे भावों का उत्कर्ष संवर्धित हुआ है। सच तो यह है कि ऐसी योजनाओं में कवि की व्युत्पत्तिजन्य काव्यशक्ति ही प्रधान कारण है क्योंकि उसी के द्वारा वे अतिशयोक्तिपूर्ण भाव-बिम्ब और कला-वैचित्र्य प्रस्तुत करते हैं। भामह ने इसी दृष्टि से अतिशयोक्ति अथवा वक्रोक्ति को सभी अलंकारों का मूल स्रोत माना था जिसके विविध रूप विभिन्न अलंकारों में प्रदर्शित होते हैं।[2] कुंतक की 'उत्प्रेक्षातिशयान्विता' का भी यही अभिप्राय है। अनेक स्थलों पर कवियों ने असंभव रूप से उत्प्रेक्षित अर्थ की जो कल्पनाएँ की हैं, वे भी केवल अतिशयोक्ति पर ही आधारित हैं।

---

१. अस्याः सर्गविधौ प्रजापतिरभूच्चन्द्रो न कांतिप्रदः
शृंगारैकरसः स्वयं नु मदनो मासो न पुष्पाकरः।
वेदाभ्यासजडः कथन्नु विषयव्यावृत्त कौतूहलो,
निर्मातुं प्रभवेन्मनोहरमिदं रूपं पुराणो मुनिः।।—विक्रमोर्वशीय, १।८।

२. भामहः काव्यालंकार, २।८५।

वाक्यवक्रता काव्य-सौन्दर्य की एक अपूर्व विच्छित्ति है

वाचक शब्द और वाच्य अर्थ की वक्रता का परिज्ञान करने के पश्चात् 'वाक्य-वक्रता' का बोध सहजगतया किया जा सकता है। कुंतक ने वाक्यवक्रता की आशंका करते हुए लिखा है कि वाक्यवक्रता की स्थिति अन्य वक्रताओं से सर्वथा भिन्न प्रकार की होती है क्योंकि उसमें काव्य के त्रिविध मार्गों में स्थित शब्द, अर्थ, गुण तथा अलंकारों के सौन्दर्य से भिन्न एक विशेष शैली में काव्य-वर्णना की जाती है।[1] अपने कथन को स्पष्ट करते हुए कुन्तक ने लिखा है कि उसके कौशल को मनोज्ञ फलक पर अंकित चित्र के रंगों के सौन्दर्य से भिन्न, चित्रकार की मनोहारिणी अनिर्वचनीय निपुणता से उपमित किया जा सकता है।[2] यहाँ यह बात उल्लेखनीय है कि कुन्तक ने अपनी कारिका में फलक शब्द का अर्थ 'चित्र की आधारभित्ति', उल्लेख का अर्थ 'चित्र का सूत्रप्रमाणोपपन्न रेखा विन्यास', वर्ण का अर्थ 'रंजकद्रव्यविशेष' और छाया का अर्थ 'कांति' किया है जिनकी अर्थगरिमा का विचार कर वाक्य वक्रता का स्वरूप हृदयंगम किया जा सकता है।[3] प्रसाद जी ने 'छायावाद' की विवेचना करते हुए 'छाया' शब्द का जो अर्थ ग्रहण किया था, उसमें कुन्तक की वक्रताविच्छित्ति अथवा कांति का भी एक प्रमुख आधार था, इस तथ्य का स्मरण रखे बिना छायावाद की तात्त्विक विवेचना नहीं की जा सकती। हमारा वह उल्लेख किसी भी रूप में अप्रासंगिक न समझा जाय क्योंकि उसका ज्ञान किये बिना न तो कुंतक की वक्रता को ही बोधगम्य किया जा सकता है और न छायावाद की आत्मचेतना ही स्पष्ट की जा जकती है। अभिप्राय यह है कि कुंतक की वाक्य-वक्रता काव्य-सौन्दर्य का एक अद्भुत प्रकार है जिसमें काव्यवर्णित पदार्थों का स्वरूप चित्र-फलक के साधन-समुदाय से भिन्न चित्रकार के कौशल की भाँति भिन्न रूप में ही प्रस्फुरित होता है। उसमें वर्णन की सुकुमारता, रसों की संवैद्यता और अलंकारों की चमत्कृति का एक ऐसा समन्वय रहता है जिसके कारण काव्य-रसिकों को आनंदमय आत्मतोष की उपलब्धि होती है। वर्ण, पद और पदार्थों की वक्रता के अनेक रूप उसके वैचित्र्य को संपुष्ट करते हैं जिन्हें ध्यान में रखकर आचार्यों ने कवियों की उर्वर प्रतिभा का संस्तव बहुविध रूपों में किया है। राजशेखर ने काव्यमीमांसा में जिस प्राकृत पद्य की संस्कृत छाया उद्धृत की है, वह वाग्विलास के अद्भुत कोष की अलौकिकता का ही निदर्शन प्रस्तुत करती है क्योंकि उसमें कहा गया है कि 'सृष्टि के प्रारम्भ से लेकर अद्यावधि कविपुंगवो द्वारा प्रतिदिन सारग्रहण करने पर भी वाणी के सौन्दर्य की मुहर भी नहीं टूटी है।'[4] अभिप्राय यह है कि काव्य-सर्जना के नित्य-नवीन कल्पनाओं का

---

१. वक्रोक्तिजीवितम्, ३।३।

२. वही, ३।४।

३. फलकमाल्लेख्याधारभूता भित्तिः। उल्लेखश्चित्रसूत्र प्रमाणोपपन्नं रेखाविन्यसनमात्रं। वर्णा रंजक द्रव्य विशेषाः। छाया कांतिः।— वक्रोक्तिजीवितम्, ३।४ की वृत्ति।

४. आसंसारं कविपुंगवैः प्रतिदिवसगृहीतसारोऽपि।
अद्याप्यभिन्नसमुद्र इव जयति वाचां परिस्पंदः॥

प्रस्फुरण होता रहता है और भारती का कोष अक्षय और अनंत है जिसके अद्वितीय रत्नों का प्रकाशन चाहे कितना किया जाय, उसकी इयत्ता नहीं हो सकती क्योंकि वह अक्षर-ब्रह्म का ही तो साकार प्रसार है।

वाक्य-वक्रता में सम्पूर्ण अलंकारों, स्वभावों और रसों का समाहार है

कुंतक ने जिस वाक्य-वक्रता का विवेचन किया है, उसके अंतर्गत सम्पूर्ण अलंकार समुदाय आ जाता है क्योंकि उसमें कवि-कौशल से समुद्भूत अलंकार-चमत्कृति भी रहती है। केवल सादृश्य कथन मात्र से किसी उक्ति में आह्लादमयता नहीं आ सकती, क्योंकि उसमें कवि-प्रतिभा का संयोग न रहने से न तो मनोहर कल्पनाओं के लिए ही अवकाश रहता है और न लोकोत्तर रचना-शैली का ही वैशिष्ट्य। यों तो कुंतक ने 'रसस्वभावालंकाराणां सर्वेषां कविकौशलमेव जीवितम्' द्वारा कवि-कौशल को रस, स्वभाव तथा अलंकार—इन तीनों का ही प्राणाधार कहा है, किंतु व्युत्पत्तिजन्य चमत्कार-सृष्टि के लिए अलंकार-योजना अपना प्राधान्य रखती है। एक प्रकार से वाक्यवक्रता को अलंकार वक्रता, स्वभाववक्रता तथा रस-वक्रता के त्रिविध प्रकारों में भी विभक्त किया जा सकता है। अलंकार वक्रता का सामान्य उल्लेख किया जा चुका है। स्वभाव-वक्रता का सामान्य लक्षण यह है कि यों तो उसमें किसी वस्तु में संभाव्यमान सहृदयसंवेद्य मात्र स्वभाव का ही वर्णन रहता है, किंतु कवि की रचना चातुरी उसे केवल साधारण प्रणाली से व्यक्त न कर ऐसी वक्रताविच्छित्ति से चित्रित करती है जिससे दिग्ध सहृदयों के लिए वह सरस अनुभवगम्य, नूतन कल्पनाओं से मनोहर और पदार्थों में व्याप्त सूक्ष्म और सुन्दर वृत्ति द्वारा अतिरंजना का विषय हो जाता है।[१] रस-वक्रता में कवि-कौशल निमित्तक रस का सौन्दर्य ऐसी प्रविधि से निष्पन्न किया जाता है जिसमें विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भावों से परिपुष्ट स्थायी भाव अत्यंत आस्वाद्यमानता (रसरूपता) को प्राप्त होकर वाक्यवक्रतारूप कुछ अपूर्व कवि कौशल की व्यंजना करता है।[२] वस्तुतः वाक्यवक्रता की कांति अत्यधिक रमणीय और हृदयग्राह्य है जिसकी प्रशंसा में कुंतक ने दो अन्तर श्लोक उद्धृत किये हैं जिनसे उसकी क्षमता और अपूर्वता का आभास मिलता है—

> वक्रतायाः प्रकाराणामौचित्यगुणशालिनाम्।
> एतदुत्तेजनायालं स्वस्पंदमहतामपि ।।
> रसस्वभावालंकारा आसंसारमपि स्थिताः।
> अनेन नवतां यांति तद्विदाह्लाददायिनीम् ।।[३]

अर्थात् यह कवि कौशल अपने स्वाभाविक महत्त्व से युक्त और औचित्यगुणशाली वक्रता के समस्त प्रकारों को भी उत्तेजित तथा अधिक मनोहर करने में समर्थ है।

---

१. हिन्दी वक्रोक्तिजीवितम् (व्याख्याकार आचार्य विश्वेश्वर), पृ० ३२०।
२. हिन्दी वक्रोक्तिजीवितम् (व्याख्याकार आचार्य विश्वेश्वर), पृ० ३२१।
३. वक्रोक्तिजीवितम्, ३।४।२३-२४।

सृष्टि के आदिकाल से स्थित रस, स्वभाव तथा अलंकार इस कवि-कौशल के द्वारा सहृदयों को आह्लादित करने वाली अलौकिक अपूर्वता को प्राप्त हो जाते हैं।

वस्तु-वक्रता के वर्ण्यमान विषय

कुंतक ने वाचक शब्द, वाच्य अर्थ और वक्रतायुक्त कथन-शैली के स्वरूप का विवेचन करने के अतिरिक्त वस्तु-वक्रता में वर्ण्यमान विषयों का विभाजन चेतन तथा अचेतन नामक दो पदार्थों में किया है। चेतन पदार्थों में ज्ञानयुक्त प्राणियों की गणना की जाती है तो अचेतन में उनसे भिन्न जड़ पदार्थों की। इन दोनों पदार्थों का वर्णन 'अपरिम्लान स्वभाव के औचित्य से सुन्दर' विधि द्वारा ही आनंदप्रद बनाया जा सकता है। चेतन पदार्थों में देवता आदि उच्च योनियों से लेकर सिंह आदि तिर्यक् प्राणी आते हैं जिन्हें प्रधान तथा अप्रधान रूप से दो भेदों में विभक्त किया जा सकता है।[1] देवादि प्राणियों को चेतन धर्म बुद्धि से 'मुख्य चेतन' तथा सिंहादि को उनसे हीनता स्थिति के कारण 'गौण चेतन' भी कहा जाता है। कवियों ने अपनी काव्य-कृतियों में यथाप्रसंग दोनों प्रकार के विषयों का वर्णन किया हैऔर करते हैं। उन वर्णनों में यह बात ध्यान देने योग्य है कि जहाँ पर वे रत्यादि के परिपोष से मनोहर तथा अपने जातिसुलभ स्वभाव से रमणीय बनते हैं, वहीं पर कवि-कार्य की सफलता मानी जाती है।[2] देवादि जातियों के स्वभाव और गुणों का परिज्ञान कर जो कवि उनकी भाव-भंगिमाओं का अभिचित्रण जितनी निपुणता और कुशलता से कर पाता है वह उतना ही महान है। उदाहरणार्थ विक्रमोर्वशीय नाटक के चतुर्थ अंक का द्वितीय श्लोक लिया जा सकता है जिसमें पुरूरवा का वियोगजन्य उद्वेग विविधरूपिणी कल्पनाओं और संभावनाओं द्वारा चित्रित किया गया है। विरहदग्ध पुरूवरा अपनी प्रेयसी उर्वशी के स्वर्गगमन पर जिस प्रकार के संकल्प-विकल्पों की उद्भावनाएं करते हैं, वे अत्यन्त स्वाभाविक, सुकुमार और अवसरोपयुक्त हैं जिनसे विप्रलम्भ शृंगार रस की परिपुष्टि होती है। इसी से मिलती-जुलती मानसिक स्थिति 'तापसवत्सराज' में वर्णित वत्सराज उदयन की है जिसमें रसपरिपोष के कारण रूप विभाव आदि सामग्री का वैभव पूर्ण रूप से प्रदर्शित किया गया है। रससिद्ध कवियों में एक ऐसी अद्भुत कर्तृत्व-शक्ति होती है जिसके द्वारा वे वर्णनीय विषयों की महत्ता का अनुभव कर उसे रचना-शैली तथा भाव-व्यंजना द्वारा सहृदयजनसंवेद्य बना देते हैं। 'रामचरितमानस' जैसे काव्य-सर्वस्व ग्रंथों और 'प्रियप्रवास', 'साकेत' तथा 'कामायनी' जैसे आधुनिक काव्यों में ऐसे अनेक स्थल विद्यमान हैं जिनमें वस्तुवक्रता का यह रूप सफलतापूर्वक चित्रित हुआ है।

अप्रधान चेतन प्राणियों में सिंहादि की गणना की जाती है और उनका काव्यगत चित्रण तभी सफल माना जा सकता है जब वह उनकी जाति के योग्य स्वभाव के उल्लेख से मनोहर और शोभातिशायी बनाया जाय। वस्तुतः प्रत्येक प्राणी की अपनी-अपनी

१. कुंतक : वक्रोक्तिजीवितम्, ३।५।
२. कुंतक, वक्रोक्तिजीवितम्, ३।७।

सामान्यरूपा जाति होती है जिसके स्वभावानुकूल व्यापारों का समुल्लेख जब काव्य-कृतियों में किया जाता है तो उससे उनकी रूप-वर्णना में एक उज्ज्वल शोभा प्रस्फुटित हो जाती है। इस प्रकार का चित्रण तभी संभव है जब कवि में विषयान्तर्व्यापिनी सूक्ष्म दृष्टि और संवेदनीय अनुभूति हो। इस विषय का स्पष्टीकरण कालिदास रचित 'अभिज्ञानशाकुंतलं' नामक नाटक के प्रथम अंक का वह प्रसिद्ध श्लोक है[1] जिसमें कवि ने अप्रधान चेतन रूप मृग का वर्णन 'स्वजात्युचितदेवाकसमुल्लेखोज्जल' विधि से करते हुए उसे अत्यन्त सजीव और सरस बना दिया है। इसके अतिरिक्त वस्तु-वक्रता के वर्णनीय विषयों में ऐसे जड़ पदार्थों का भी समावेश किया जाता है जो रसोद्दीपन की सामर्थ्य-निबंधना से मनोहर होते हैं। रस के उद्दीपन विभाव के रूप में कवियों ने जड़ प्रकृति के उपादानों का चित्रण ऐसे कौशलपूर्वक विधान से किया है जिनसे काव्य की रमणीयता और रसव्यंजना की श्रीवृद्धि हुई है। यों तो प्रकृति को आलम्बन विभाव के रूप में प्रस्तुत कर 'प्रकृति-रस' की उद्भावना भी आचार्यों द्वारा की गई है किंतु प्रस्तुत प्रसंग में हमने उसके परम्परागत उद्दीपन रूप का ही उल्लेख विशेषत: किया है जिससे इस बात का संकेत मिल सके कि उसमें रस-परिपोषण तथा वस्तु-वक्रत्व की कितनी अधिक शक्ति है। यहाँ इस बात का उल्लेख करना भी आवश्यक है कि यों तो काव्य में जितने भी चेतनाचेतन पदार्थ वर्णित होते हैं उन सबका अपना निजी सौन्दर्य अथवा शोभाधान होता है, किंतु जब वे अलंकार-वक्रता द्वारा चित्रित किये जाते हैं तो उनकी शोभा में अतिरेक्य ही आता है। उनका रमणीयता से परिपूर्ण और दोषत्व से विहीन शरीर ही काव्य में ग्राह्य होता है। अनेक स्थलों पर उनके स्वरूप के शोभातिशय से शोभित होने वाले वर्णनीय वस्तु के शरीर को अलंकार दूसरी उपशोभा से अलंकृत करते हैं। यहाँ यह बात भी ध्यान में रखने योग्य है कि काव्य में वर्ण्यमान वृत्ति वाले मुख्य चेतन पदार्थ चतुर्वर्ग के सम्पादन में उपायभूत स्वभाव की मुख्यता से ही वर्णनीय होते हैं जबकि अप्रधान चेतन स्वरूप तिर्यक् प्राणी धर्मादि के उपायभूत अपने व्यापार की मुख्यता से ही कवियों के वर्णनीय होते हैं। इस विषय में आचार्य कुंतक का स्पष्ट अभिमत है कि 'कादम्बरी' आदि काव्य ग्रंथ में शूद्रक आदि राजाओं और शुकनास आदि मंत्रियों के जो चरित्र वर्णित हुए हैं वे एक प्रकार से चतुर्वर्ग के अनुष्ठान के उपदेशपरक रूप में है जबकि पशु-पक्षियों के वर्णन उनके स्वभाव-व्यापार के अनुसार संगठित किये गये हैं। अत: कुंतक का कथन है कि स्वभावप्राधान्य तथा रसप्राधान्य संज्ञक दो प्रकार से वर्णना के विषयभूत वस्तु का सहज सौकुमार्य से रसमय स्वरूपभूत शरीर अलंकार्यता के ही योग्य है।

कुंतक ने वाक्य-वक्रता के अंतर्गत अपनी मान्यता के अनुरूप समस्त अलंकारचक्र का विवेचन किया है। रस अलंकारों का विश्लेषण उन्होंने विशेष दृष्टि से करते

१. ग्रीवाभंगाभिरामं मुहुरनुपतति स्यंदने दत्तदृष्टि:
पश्चार्धेन प्रविष्ट: शरपतनभयाद् भूयसा पूर्वकायं।
शष्पैरर्धावलीढै: श्रमविवृतमुखभ्रंशिभि: कीर्णवर्त्मा,
पश्चोदग्रप्लुतित्वाद् वियति बहुतरं स्तोकमुर्व्यां प्रयाति ॥

हुए उनकी अलंकार्यता ही प्रतिपादित की है। वे अलंकारों की संवर्धमान संख्या को एक प्रकार की सीमाबद्ध व्यवस्था प्रदान करना चाहते थे जिसकी विवेकसम्मत विधि उन्हें यही प्रतीत हुई कि या तो वे अनेक अलंकारों को अलंकार्य सिद्ध कर उनका निषेध करें या उनकी चमत्कारहीनता का निरूपण कर उनका बहिष्कार करें। उन्होंने अनेक अलंकारों का अन्तर्भाव कुछ विशिष्ट अलंकारों में करते हुए उनका भेद-विस्तार सीमित कर दिया है। वक्रता-वैभव से उनके द्वारा जो अलंकार विवेचित हुए हैं उनमें दीपक, रूपक, अप्रस्तुतप्रशंसा, पर्यायोत, उत्प्रेक्षा, अतिशयोक्ति, उपमा, उपमेयोपमा, तुल्ययोगिता, अनन्वय, परिवृत्ति, श्लेष, व्यतिरेक, सहोक्ति, दृष्टांत, अर्थान्तरन्यास, आक्षेप, विभावना, संदेह और अपह्नुति आदि हैं। यथासंख्य, आशी, विशेषोक्ति, हेतु, सूक्ष्म और लेश आदि कुछ ऐसे अलंकार हैं जिनका भामह आदि प्राचीन आलंकारिकों ने तो प्रतिपादन किया है किंतु कुंतक को वे अमान्य प्रतीत हुए हैं। यह निश्चित है कि उनकी विवेचना अलंकार विषयक मान्यता को कुछ नवीन आलोक अवश्य प्रदान करती है। उदाहरणार्थ उन्होंने क्रिया-पद को ही दीपक पद न मानकर वस्तु पद को भी दीपक माना है। उन्होंने दीपक के दो भेद किये हैं—केवल दीपक तथा पंक्तिसंस्थ दीपक। उन्होंने वस्तु दीपक का निरूपण स्वतंत्र रूप में किया है। तृतीयोन्मेष की २०-२१ कारिका में रूपक, २२-२३ कारिका में अप्रस्तुत प्रशंसा, २४वीं कारिका में पर्यायोक्त, २५ से २८ कारिकाओं में उत्प्रेक्षा और २६वीं कारिका में अतिशयोक्ति अलंकारों का विवेचन है। ३०-३१ कारिका में उपमा का विवेचन करने के पश्चात् कुंतक ने उपमेयोपमा, तुल्ययोगिता, अनन्वय, परिवृत्ति और निदर्शना नामक अलंकारों को सादृश्यमूलक मानकर उनका अंतर्भाव उपमा में ही कर दिया है। कुंतक का मत है कि समासोक्ति को श्लेष के अंतर्गत ही मानना चाहिए, क्योंकि समासोक्ति में श्लेष की स्थिति अनिवार्य है। वे सहोक्ति को सादृश्यमूलक उपमालंकार में अंतर्भूत करने के पक्षपाती हैं। एक प्रकार से उनकी सहोक्ति समासोक्ति ही है। यह एक विचारणीय विषय है कि उन्होंने प्रतिवस्तूपमा और निदर्शना जैसे अलंकारों को तो स्वतंत्र नहीं माना, किंतु उत्प्रेक्षा और संदेह आदि को स्वतंत्र मान लिया है जबकि वास्तविकता यह है कि साम्य की दृष्टि से वे उपमा के निकटतर हैं। इसी प्रकार समासोक्ति को श्लेष में अंतर्भूत करना भी समुचित नहीं कहा जा सकता क्योंकि दोनों की प्रकृति तथा चमत्कृति में भिन्नता है। उनके द्वारा निरूपित प्रतीयमान रूपक एक प्रकार से रूपक ध्वनि ही है। ऐसा प्रतीत होता है कि कुंतक अलंकार-विवेचना को कुछ मौलिक रूप देना चाहते थे, किंतु वे अपनी योजना को प्रौढ़ि प्रदान नहीं कर सके। उनकी अलंकार विषयक मान्यता का सामान्य संकेत निम्नलिखित कारिका से लग सकेगा जिसमें उन्होंने लावण्यादि गुणों से उज्ज्वल, प्रतिपदविन्यास में विलासपूर्ण, रसवत्ता से आर्द्रहृदय तथा वक्रतामयी वाणी को नायिका से उपमित कर अलंकारों की परिमितता में ही उसकी शोभा मानी है—

१. वक्रोक्तिजीवितम्, ३।१७।

लावण्यादिगुणोज्ज्वला प्रतिपदन्यासैर्विलासांचिता
विच्छित्या रचितैर्विभूषणभरैरल्पैर्मनोहारिणी।
अत्यर्थं रसवत्तयार्द्रहृदया भावैरुदाराभिधा,
वाग वश्यं कुरुते जनस्यहृदयं नित्यं यथा नायिका।
—वक्रोक्तिजीवितम् ३।४६।

(५) प्रकरण-वक्रता

प्रबंध-काव्य के एकदेश अवयवभूत अंग का नाम प्रकरण है। उसके विन्यास-वैचित्र्य से जब प्रतिभाजात सहज सुन्दरता तथा व्युत्पत्तिलभ्य आहार्य सुकुमारता का समुन्मेष किसी काव्य-कृति में होता है तो उसे प्रकरणवक्रता की अभिधा प्रदान की जाती है। कुंतक ने प्रकरणगत वक्रभाव को उदाहृत करते हुए लिखा है कि रामायण में छद्मरूपधारी स्वर्णमय मारीच-मृग के पीछे गये हुए भगवान् श्रीराम के करुणक्रन्दन के श्रवण से कातर बनी हुई सीता ने जब भत्सर्नापूर्ण शब्दों में लक्ष्मण को अपने स्वामी के परित्राणार्थ भेजा, उसमें एक प्रकार का अनौचित्य है जिसके निवारण-हेतु 'उदात्तराघव' नामक नाटक में उसके रचयिता ने वैदग्ध्य के वशीभूत होकर कथा में परिवर्तन कर दिया है जिसके अनुसार मायामृग का वध करने के लिए गये हुए लक्ष्मण की प्राण-रक्षा के लिए सीता ने राम को प्रेरित किया था। यह परिवर्तन उक्त नाटक के प्रकरण में सहृदयाह्लादकारी वक्रत्व का संचार कर सका है क्योंकि उसमें छोटे भाई की विद्यमानता में ज्येष्ठभ्राता का, सेवा कार्य के लिए गमन तथा परम शक्तिशाली राम की प्राण-रक्षा के लिए उनके अनुज लक्ष्मण का अनुगमन जैसे अनौचित्यपूर्ण कार्यों के लिए अवकाश नहीं रहा है जिसके कारण वहाँ प्रकरण वक्रता आ गई है।[१] इसका दूसरा उदाहरण भारवि रचित किरातार्जुनीयम् नामक महाकाव्य का वह प्रकरण है जिसमें किरात-पुरुष के वचनों में वाच्यरूप से केवल अपने बाणों के मार्गणमात्र का वर्णन हुआ है किन्तु वास्तव में तात्पर्यार्थ की पर्यालोचना से अर्जुन के साथ युद्ध-प्रकरण की वाक्यार्थता की भूमिका बाँधी गई है जिसे प्रकरण-वक्रता का रूप कहा जा सकता है। कुन्तक ने वक्रोक्तिजीवत के चतुर्थोन्मेष की प्रारम्भिक दो कारिकाओं में प्रकरण-वक्रता का लक्षण निरूपित करते हुए लिखा है कि जहाँ अपने अभिप्राय को व्यक्त करने वाली तथा निर्बन्ध उत्साह के व्यापार से शोभायमान कवियों की व्यावृत्ति (प्रवृत्ति) होती है वहाँ प्रकरण-वक्रता की स्थिति माननी चाहिए। इस वक्रता में काव्य-स्रष्टा प्रारम्भ ही से निर्भय होकर अपने अभीष्ट प्रकरण का विकास ऐसी चतुरता से करते हैं कि साधारण व्यक्ति चाहने पर भी वैसा कथानुबंध संयोजित नहीं कर पाते। ऐसे परिवर्तन प्रकरण में नवीन शोभा अथवा सौंदर्य का उत्सेक करते हैं। कुंतक ने 'अभिजातजानकी' नामक नाटक के सेतुबंध नामक तृतीय अंक में वर्णित सेनापति नील और उनके सहयोगी वानरों के कथोपकथनों में प्रकरण-वक्रता का उल्लेख किया है, क्योंकि उनसे प्रकरण-योजना में

१. कुंतक : वक्रोक्तिजीवितम्, १।२१ की वृत्ति, पृ० ६०-६१।

चमत्कार आ गया है। उनके शब्दों में इस प्रकार की योजना को 'भोगभंगीसुभग' (रसास्वाद से सुन्दर) और अभिनव तथा अद्‌भुत सुभाषित काव्य का सर्वस्व कहा जा सकता है। कुंतक के अनुसार प्रकरण-वक्रता के निम्नलिखित रूप संभाव्यमान हैं—

(१) पात्र-प्रवृत्तिवक्रता

काव्य के प्रकरण में जहाँ किसी ऐसी भावपूर्ण स्थिति की उद्‌भावना की जाय जो पात्रों के चरित्र की उत्कर्षकारिणी हो, वहाँ पात्र-प्रवृत्ति वक्रता होती है। इसके उदाहरणस्वरूप रघुवंश से पंचम सर्ग में वर्णित महाराज रघु और वरतंतु-शिष्य कौत्स का संवाद प्रस्तुत किया जा सकता है जिसमें विश्वजित् यज्ञ में अपना सर्वस्व त्यागकर मिट्टी के पात्रों से अपना काम चलाने वाले महाराज रघु की दानशीलता और गुरु प्रदेय दक्षिणा से अधिक धन के प्रति निःस्पृह बने हुए कौत्सकी संतोषवृत्ति का अत्यन्त स्वाभाविक और शालीन चित्र अंकित हुआ है। वस्तुतः रघुवंश का यह सम्पूर्ण प्रकरण अत्यंत सौन्दर्यातिशायी और भव्य है क्योंकि उसमें रघु के परम औदार्य, अलौकिक सामर्थ्य एवं सुदृढ़ आत्मविश्वास के साथ-साथ कौत्स की अपूर्व गुरुभक्ति, दिव्य आत्मनिष्ठा तथा निःस्पृह कर्तव्य-भावना का सौंदर्यपूर्ण चित्रण हुआ है। उन दोनों के लोकोत्तर गुणों से अभिभूत साकेतवासियों ने उन्हें जिस रूप में अभिनंद्य समझा, उसे प्रकरण-वक्रता की दृष्टि से चित्रण करते हुए कालिदास ने उस प्रसंग को जो अलौकिक रसमयता प्रदान की है, वह अत्यन्त हृदयहारिणी और सहृदयजन संस्तुत्या है।

(२) उत्पाद्यकथावक्रता

इसे उत्पाद्य-लावण्य-वक्रता अथवा कल्पना-प्रसूत मधुर उद्‌भावना भी कह सकते हैं। इस वक्रता का लक्षण देते हुए कुंतक ने लिखा है कि 'जहां कुशल कवि इतिहास-वर्णित कथा के वैचित्र्य-मार्ग में कल्पना-प्रसूत अंश का सौन्दर्य संयोजित कर उसे लोकोत्तर रमणीयता प्रदान करता है, वहाँ उत्पाद्य-लावण्य-लव-वक्रता होती है।'[1] कवि-कृत-परिवर्तन के कारण ऐसे स्थल में इतना अधिक काव्य-सौंदर्य आ जाता है जिससे वह सम्पूर्ण प्रकरण चरम सीमा पर प्रतिष्ठित रस से परिपूर्ण होकर काव्य-प्रबंध का प्राणस्वरूप बन जाता है। उत्पाद्य-लावण्य में कवि अविद्यमान की कल्पना अथवा विद्यमान का संशोधन करता हुआ कथा-वस्तु के प्रकरण को वक्रतामय बना देता है। प्रख्यात कथानकों के आधार पर निर्मित प्रबंधकाव्यों के प्रकरणों में ऐसे स्थल अन्वेषित किये जा सकते हैं। अविद्यमान की कल्पना का निदर्शन 'अभिज्ञानशाकुन्तलम्' नाटक के चतुर्थ अंक में वर्णित दुर्वासा-शाप का प्रकरण है जिसकी उद्‌भावना कर महाकवि कालिदास ने महाराज दुष्यंत के चरित्र-दोष का प्रक्षालन अत्यंत मनोवैज्ञानिक प्रणाली से किया है। महाभारत की मूल कथा में दुर्वासा शाप की कथा नहीं है, किंतु कालिदास कृत उस कल्पना से नाटक का सम्पूर्ण कथानक प्रभावित हुआ है और दुष्यंत के चरित्र में नायकोचित औदात्य भी

---

१. कुंतक, वक्रोक्तिजीवितम्, ४।३।

उत्पन्न हो सका है। इस कल्पना का प्रसार नाटक के चतुर्थ अंक के प्रथम श्लोक से प्रारम्भ होकर पंचम अंक के द्वितीय श्लोक तथा षष्ठ अंक के षष्ठ तथा विंशति संख्यक श्लोक पर्यन्त है जिनमें क्रमशः दुर्वासा का शाप, दुष्यन्त का अनुचिंतन, प्रणयस्मृति और विरह-वेदना से दुष्यन्त की दुर्बलता तथा अन्त में मत्स्योदर से प्राप्त मुद्रिका के पश्चात् राजा की मनोदशा का अभिचित्रण अत्यन्त वक्रविधि से हुआ है। वस्तुतः ऐतिहासिक कथानकों पर आधारित काव्य-बंधों में इस प्रकार के 'उत्पाद्य परिवर्तन' नवीन और अद्भुत चमत्कार उद्भावित कर देते हैं क्योंकि उनमें जीवन की सहज संवेदनीय भावनाओं का सरस संभार प्रस्फुटित होता है। ऐसे प्रसंगों की अवतारणा को ही कुंतक ने उत्पाद्य कथावक्रता का आदर्श माना है।

उत्पाद्य-लावण्य का द्वितीय प्रकार विद्यमान कथा का संशोधन है। कुंतक ने इसके उदाहरणार्थ 'उदात्तराघव' में मारीच-वध को प्रस्तुत किया है। यद्यपि 'उदात्त-राघव' नाटक प्रामाणिक रूप से उपलब्ध नहीं है, किंतु कुंतक की विवेचना से प्रकट है कि उसमें कविवर मायूराज ने मारीचवध के प्रसंग में भगवान् राम के चरित्रौदात्य के अनुरूप यत्किंचित् परिवर्तन अथवा विद्यमान कथा में संशोधन किया है जिसके अनुसार मायामृग मारीचवध के लिए सीताराम के परम आज्ञाकारी वीरवर लक्ष्मण जाते हैं और उनकी करुण पुकार पर सीता उनकी प्राणरक्षा के निमित्त राम को भेजती है। कुंतक के मत से यह परिवर्तन अधिक रमणीय और सौंदर्यपूर्ण बन गया है। कहने की आवश्यकता नहीं कि हिन्दी में रामकथा पर आधारित साकेत, कृष्ण-कथा पर आधारित प्रियप्रवास तथा पौराणिक कथा पर आधारित कामायनी आदि महाकाव्यों और ऐतिहासिक घटना पर निर्मित चन्द्रगुप्त, स्कंदगुप्त तथा ध्रुवस्वामिनी आदि नाटकों में जो रस संवेद्य परिवर्तन एवं संशोधन किये गये हैं, वे सब उत्पाद्य कथावक्रता अथवा उत्पाद्य-लव-लावण्यता के ही उदाहरण हैं। भवभूतिविरचित 'उत्तररामचरित' नाटक के तृतीय अंक में 'छाया-सीता' की कल्पना कवि की प्रतिभा से समुद्भूत है जिसके द्वारा उन्होंने करुण-रस को चरम सीमा पर प्रतिष्ठित कर दिया है। वस्तुतः महाकवियों के प्रबंध निरन्तर गत्या-रस प्रवाहकारी संदर्भों से परिपूर्ण रहते हैं और उनमें केवल कथामात्र का ऐतिहासिक आश्रय ही नहीं होता। उनकी प्रतिभा मूल कथा के साथ संश्लिष्ट होकर कथानुक्रम में ऐसा चमत्कार उत्पन्न कर देती है जिसके कारण उनकी रचनाओं में शाश्वत जीवन-संवेदना के उपकरण समाहित हो जाते हैं।

(३) उपकार्योपकारक-वक्रता

प्रधान कार्य से सम्बद्ध प्रकरणों का पारस्परिक उपकार्य-उपकारक भाव प्रकरण-वक्रता का तृतीय प्रकार है। इसमें सन्निवेश क्रम से शोभित प्रबंध के प्रकरणों का प्रधान कार्य के सम्बन्ध के अनुसार अनुग्राह्य अनुग्राहक भाव रहता है जो स्वभावतः सुन्दर कवि की प्रतिभा से प्रकाशित होकर वक्रता के चमत्कार से युक्त किसी विशेष कवि की रचनाओं में वक्रतापूर्ण किसी अपूर्व सौंदर्य को अभिव्यक्त करता है।[1] कुंतक ने इस प्रकार

१. वक्रोक्तिजीवितम्, ४।५-६ की वृत्ति, पृ० ४६७।

की प्रकरण-वक्रता के उदाहरण स्वरूप 'पुष्पदूतिकम्' नामक प्रकरण (रूपक का एक भेद) के द्वितीय अंक का उल्लेख किया है जो सम्प्रति किसी भी रूप में उपलब्ध नहीं है किंतु जिसकी चर्चा दशरूपक के अवलोक में अध्याय ३ कारिका ४२ तथा साहित्यदर्पण के षष्ठ परिच्छेद में भी की गई है। उक्त ग्रंथ की कुंतक लिखित तथा अनुमानाश्रित कथा के आधार पर कहा जा सकता है कि उसके कथानक में वर्णित द्वितीय अंक में समुद्रदत्त ने जो मुद्रिका अपने द्वारपाल कुवलय को उत्कोच रूप में प्रदान की थी, उसी को देखकर चतुर्थ अंक में सागरदत्त को अपनी पुत्र-वधू की सच्चरित्रता पर विश्वास हुआ, अतः उक्त दोनों अंकों के प्रकरण में परस्पर उपकार्य-उपकारक भाव होने के कारण उसे तृतीय प्रकार की प्रकरण-वक्रता कहा गया है। इसी भाव की संगति 'उत्तर-रामचरित' नाटक के उस प्रकरण से स्पष्ट की जा सकती है जिसके प्रथम अंक में भगवान् श्रीराम ने देवी सीता से कहा था कि उनके मंत्रसिद्ध जृम्भ का रूप उनकी संतान को पूर्ण रूप से प्राप्त होंगे और वही प्राप्ति उक्त नाटक के पंचम अंक में लव और चन्द्रकेतु के पारस्परिक युद्ध के समय प्रतिपादित की गई है। इसी प्रकार अन्य लक्ष्य ग्रन्थों से भी इस प्रकरण-वक्रता का बोध सहज ही किया जा सकता है।

(४) आवृत्ति-वक्रता

इस प्रकार की प्रकरण-वक्रता का अभिप्राय यह है कि एक ही प्रतिपाद्य पदार्थ प्रस्तुत प्रकरण के अनुरूप सुन्दर रचना का विषय बनकर पुनः-पुनः निबद्ध होता हुआ भी कवि की प्रौढ़ प्रतिभा से आयोजित अर्थ की पुनरुक्ति में भी सर्वथा नवीन चमत्कार का विषय बनता है। आवृत्ति-वक्रता में एक ही पदार्थ का पुनः-पुनः वर्णन पुनरुक्तिदोष का बोधक नहीं होता, क्योंकि उसमें 'क्षणे क्षणे यन्नवतामुपैति तदैव रूपं रमणीयतायाः' के अनुसार शृंगारादि रस तथा रूपकादि अलंकार नवीन रूप से उल्लसित होते रहते हैं। कुंतक ने 'तापसवत्सराज' नामक नाटक में वर्णित उदयन के वियोग-विलाप में एक ही बात का पुनः-पुनः कथन होने पर भी उसमें प्रकरण के अनुरूप आवृत्ति-वक्रता मानी है, क्योंकि वह समस्त प्रकरण विरह-विधुर उदयन की विविध वेदनाओं की अभिव्यक्ति अत्यंत चमत्कृत और सौन्दर्यमयी वक्रता में करता है। रघुवंश के नवम सर्ग में महाराज दशरथ का मृगया-वर्णन पुनरुक्तिदोष का निर्देशक न होकर आवृत्तिवक्रता का ही संसूचक है जिसकी यथार्थता का परिज्ञान उसके श्लोकों का अनुशीलन करके ही किया जा सकता है। वस्तुतः ऐसे प्रसंगों में घटना का स्थूल रूप नगण्य-सा है, किंतु उनके रस-प्लावन की संवेदनाओं का सूक्ष्म और गम्भीर चित्रण अत्यंत सुग्राह्य और भव्य है जिनसे कथा भाग में अपूर्व आह्लाद का उन्मेष हो गया है। 'साकेत' के नवम सर्ग का काव्य-वैभव उर्मिला के विरह वर्णन की अभिव्यजना कराते हुए उसे आवृत्ति गरिमा अथवा विशिष्ट प्रकरण की अतिरंजना प्रदान करता है तो 'कामायनी' का लज्जा-वर्णन अपनी वक्रता-विच्छित्ति से घटना-वैरल्य को समावृत कर काव्यबंध की प्रकरण-योजना को रसोद्दीप्त करने में पूर्ण समर्थ है।

(५) प्रासंगिक प्रकरण-वक्रता

सर्गबंध महाकाव्यों अथवा नाटकों में कथा-वैचित्र्य के सम्पादनार्थ जल-क्रीडा, उद्यान-शोभा, ऋतु-वर्णन, चन्द्रोदय, कुसुमोत्सव और मृगया आदि अनेक प्रासंगिक प्रकरणों का भी वर्णन किया जाता है जिनसे उनके रचनाबंध में सौन्दर्यमयी वक्रता आती है। आचार्यों ने एतद्विषयक वर्णनों का अन्तर्भाव महाकाव्य के लक्षणों में ही कर दिया है। ये वर्णन काव्य-बंध की वस्तु-व्यंजना और भाव-व्यंजना में सहयोगी बनकर काव्य-सौन्दर्य की संवृद्धि करते हैं। कुंतक ने रघुवंश के षोडश सर्ग में चित्रित महाराज कुश की जल-क्रीड़ा के सूचक कतिपय छंदों को उदाहृत कर उनकी प्रासंगिक प्रकरण-वक्रता निरूपित की है। उस वर्णन का वह अंश अत्यंत ही चित्तानुरंजक है जिसमें महाराज कुश के दिव्य आभरण के सरयू में गिर जाने पर उनके तथा कुमुद नामक नाग के बीच कवि ने वार्तालाप कराया है।[1] कवि ने उस प्रसंग के अनुसार जिस प्रणाली में वह वर्णन प्रस्तुत किया है वह अत्यंत वक्रतापूर्ण और सौन्दर्यशालीन है।

(६) प्रकरणरसवक्रता

जिस प्रकरण में पूर्व तथा उत्तर अर्थात् सभी अंगों से असम्पाद्य प्रधान रस के प्रवाह की परीक्षा किसी अपूर्व कसौटी से की जाती है वहाँ अंग आदि की कुछ अलौकिक वक्रता प्रकरणरसवक्रता कहलाती है। इसके उदाहरणार्थ विक्रमोर्वशीय नाटक के चतुर्थांक का वह अंश प्रस्तुत किया जा सकता है जिसमें विप्रलम्भ शृंगार अपने चरमोत्कर्ष पर पहुंच गया है। इसी प्रकार 'किरातार्जुनीयम्' नामक महाकाव्य में वर्णित 'बाहुयुद्ध' वीररस की चरम कोटि पर अधिष्ठित है जिसके कारण प्रकरण-रस में वक्रता का संचार हो गया है।

(७) अवांतरवस्तुवक्रता

जहाँ प्रधान वस्तु की सिद्धि के लिए अन्य (अप्रधान) वस्तु की उल्लेखनीय तथा विशेष महत्त्वशाली विचित्रता प्रतीत होती है, उसे अवांतरवस्तुवक्रता कहते हैं।[2] इस वक्रता में प्रधान उद्देश्य की सिद्धि के लिए कवि जिस अवांतर प्रकरण की अवतारणा करता है, वह सम्पूर्ण कथा में एक प्रकार की रसप्रवण विचित्रता उत्पन्न कर देती है। उदाहरणार्थ मुद्राराक्षस नाटक का षष्ठ अंक लिया जा सकता है जिसमें लेखक ने प्रधान उद्देश्य की सिद्धि के लिए चाणक्य द्वारा नियुक्त पुरुष की वाणी से उसकी आत्महत्या का प्रपंच महामंत्री राक्षस के सम्मुख उपस्थित कराया है। यह प्रकरण राक्षस को जीवित बंदी बनाने की भावना से उद्भावित किया गया है जिससे प्रभावित होकर राक्षस चाणक्य के सम्मुख आत्म-समर्पण करने के लिए प्रस्तुत हो जाता है, क्योंकि ऐसा न करने

---

१. कालिदास, रघुवंश, १६।८३-८७।
२. वक्रोक्तिजीवितम्, ४।११।

पर उसके अभिन्न मित्र चन्दनदास के वध की सम्भावना बनी रहती है। वस्तुतः यह अवांतरकथा ही नाटकीय वक्रता का मेरुदण्ड है जिसकी संयोजना द्वारा चाणक्य अपने उद्देश्य में सफल हो सका है।

(८) नाटकान्तर्गत नाटक-वक्रता

जहाँ किसी विशेष नाटक में ही अपरिमित कौशल वाले नट अपनी भूमिका द्वारा रंगमंच को अलंकृत करते हुए अन्य नटों के द्वारा अभिनीत नाटक की महिमा को प्रसारित करने वाले दूसरे नाटक में सामाजिक बनकर विविध भावभंगियों से सामाजिकों के लिए किसी अपूर्व चमत्कार का वैचित्र्य उत्पन्न करते हैं, वहाँ प्रकरण के अन्तर्गत प्रकरण अर्थात् गर्भांक आदि का नियोजन होने से अष्टम प्रकार की प्रकरण-वक्रता होती है।[1] उदाहरणार्थ राजशेखर रचित 'बालरामायण' के चतुर्थ अंक में प्रयुक्त सीता-स्वयम्वर नामक गर्भांक को प्रस्तुत किया जा सकता है जिसमें प्रहस्त का अनुकरण करने वाले नट से अनुवर्त्यमान लंकेश्वर रावण का अनुकारी नट कोहल आदि द्वारा अभिनीत 'गर्भनाटक' को देखता है। भवभूति ने उत्तररामचरित नाटक के सप्तम अंक में वाल्मीकि विरचित नाटक को अप्सराओं द्वारा अभिनीत कराते हुए सीतापरित्याग के पश्चात् गर्भांक में सीता को गंगा में कूदते हुए देखकर राम का जो भावावेश निरूपित किया है, वह भी गर्भांक वक्रता का ही उदाहरण है।

(९) सन्ध्यंग-विनिवेश-वक्रता

इसे प्रकरण-वक्रता का अंतिम प्रकार कहा जा सकता है। इस वक्रता में मुख, प्रतिमुख और गर्भ आदि नाट्य प्रयुक्त पंच संधियों के यथोचित सन्निवेश से प्रकरणों के पूर्वापर क्रम में उपजीव्य उपजीवक भाव से एक विशेष प्रकार की अन्विति रहती है जिससे काव्य-बंध अथवा नाटक में किसी भी प्रकार की विसंगति नहीं आती और कथानुक्रम में सौन्दर्यमयी प्रौढि का संचार हो जाता है। कुंतक ने इस वक्रता का स्पष्टीकरण 'कुमारसंभव' नामक महाकाव्य का उदाहरण देते हुए किया है जिसमें पार्वती के नवयौवन की अवतारणा से लेकर भगवान शंकर के साथ उनके पाणिग्रहण तथा कुमारजन्य तक की कथा एक विशेष अनुक्रम से विन्यस्त की गई है जिसकी पूर्वापर-अन्विति उसे काव्य-सौन्दर्य का भव्यतम स्वरूप प्रदान कर सकी है। गोस्वामी तुलसीदास ने 'रघुनाथगाथा' को स्वान्तःसुख के लिए जिस रूप में भाषा-निबद्ध किया है, उसमें भी इसी वक्रता का सुन्दर निर्वाह है। इस वक्रता के संयोजन के अभाव में महाकाव्यों का सुचारु संगठन किया ही नहीं जा सकता।

६. प्रबंध-वक्रता

प्रबंध-वक्रता सर्गबंध महाकाव्यों की ऐसी वैदग्ध्यमयी विशेषता है जिसके द्वारा

---

१ वक्रोक्तिजीवितम, चतुर्थोन्मेष कारिका से १२-१३ की वृत्ति ।

रससिद्ध कवि अपने प्रबंध रस में अभीष्ट परिवर्तन करते हुए उसका समापन-कार्य, कथा-विच्छेद, आनुषंगिक फल तथा तुल्यकथानकों की योजनाओं में वैचित्र्यपूर्ण भंगिमाओं का संचार करते हैं, उसकी विवेचना निम्नलिखित रूपों में की है—

(१) प्रबंध-रस-परिवर्तनवक्रता

'प्रबंध-रस-परिवर्तन' को प्रबंधवक्रता का प्रथम भेद कहा जा सकता है। इसका स्पष्टीकरण करते हुए आचार्य कुंतक ने लिखा है कि इतिहास में (अर्थात् नाटक आदि की मूलकथा जिस ऐतिहासिक आधार पर ली गई है उसमें) अन्य प्रकार से प्रदर्शित रस-सम्पत्ति की उपेक्षा करके जहाँ किसी अन्य रमणीय रस से कथा की समाप्ति की जाती है वहाँ 'प्रबंध रस परिवर्तनवक्रता' होती है। इस प्रकार के परिवर्तन का प्रयोजन उन विनेयों को आनन्द प्रदान करना है जिनके शिक्षण और आह्लाद के लिए काव्य या नाटक आदि ग्रंथों की रचना की जाती है।[1] उदाहरणार्थ रामायण तथा महाभारत पर आधारित 'उत्तररामचरित' तथा 'वेणीसंहार' नामक नाटकों को लिया जा सकता है जिनकी रचना यदि अपने उपजीव्य ग्रंथों पर होती तो उनका प्रधान रस शांत रस ही रहता, किंतु उक्त नाटकों के रचयिताओं ने रसपरिवर्तन करते हुए उन्हें क्रमशः करुण रस तथा वीर रस की कृतियाँ बना दिया है। रामायण और महाभारत के अंगीरस के विषय में विद्वानों में मतभेद होना संभव है, किंतु आनंदवर्धन आदि आचार्यों ने शांतरस को ही उनका प्रधान रस माना है[2] अतः उनके साथ सहमत होते हुए कुंतक ने उपर्युक्त नाटकों को 'प्रबंधरस-परिवर्तनवक्रता' के उदाहरण रूप में प्रस्तुत किया है।

(२) समापन-वक्रता

प्रबंध-वक्रता का द्वितीय भेद 'समापन-वक्रता' है जिसमें कोई महाकवि किसी इतिहास-प्रसिद्ध सम्पूर्ण कथा का शुभारंभ कर उसके नायक के त्रैलोक्यचमत्कारकारण भूत अनुपम यश को प्रदर्शित करने वाले भाग से आगे बढ़ने में नीरसता का अनुमान कर बीच में ही कथा की समाप्ति (समापन) कर डालता है। इसका उदाहरण भारवि रचित किरातार्जुनीयम् नामक महाकाव्य है जिसके प्रथम सर्ग की कथा से ऐसा प्रतीत होता है कि उसमें दुर्योधन की मृत्युपर्यन्त धर्मराज युधिष्ठिर की अभ्युदयकारी सम्पूर्ण कथा का उपक्रम होगा, किंतु वस्तुस्थिति उससे भिन्न हो गई है। उसमें महाभारत की सम्पूर्ण कथा का वर्णन न होकर किरात वेशधारी शिवजी के साथ अर्जुन का युद्ध और अर्जुन की वीरता से प्रसन्न हुए आशुतोष द्वारा उसे पाशुपतास्त्र प्रदान करने की कथा का ही उल्लेख हुआ है जिसके कारण यद्यपि महाभारत की कथा बीच में ही समाप्त हो गई है तथापि उसके फलस्वरूप काव्यबंध में विरसता और विशृंखलता नहीं आ सकी है अतः इसे समापन-वक्रता कहा गया है।

---

१. वक्रोक्तिजीवितम, ४।१६-१७।

२. ध्वन्यालोक, ४।५।

(३) कथाविच्छेद-वक्रता

प्रबंधवक्रता का तृतीय भेद 'कथा-विच्छेद वक्रता' है जिसमें प्रधान वर्णनीय कथावस्तु के सम्बन्ध को तिरोहित करने वाले किसी कार्यान्तर के व्यवधान से विच्छिन्न और विरस वनी हुई कथा-विच्छेद-स्थल पर ही प्रधान कार्य की मानो सिद्धि हो जाने से अबाध रस से उज्ज्वल प्रबंध-काव्य की किसी अनिर्वचनीय वक्रता को उत्पन्न अथवा पुष्ट करती है ।[1] इस प्रकार की वक्रता में विरस कथा का अत्यन्त महत्त्व है, क्योंकि साधारणतया वह कथा विच्छिन्न-सी प्रतीत होती है किंतु उसका सौन्दर्य अभिधा का विषय नहीं होता और वह बीच में टूटी हुई तथा आकर्षण-विहीन होती हुई भी प्रधान कार्य की सिद्धि हो जाने के कारण निर्विघ्न रूप से प्रवाहित प्रधान रस से शोभायमान प्रबंध की वक्रता को पुष्ट करती है । इसका उदाहरण महाभारत की कथा का एक भाग शिशुपालवध है जिसका उद्देश्य महाराज युधिष्ठिर के राजसूय यज्ञ का सम्पादन करना है । यों तो उक्त कथा के कारण महाभारत की कथा का प्रयोजन (दुर्योधन की पराजय) विच्छिन्न-सा प्रतीत होने लगता है क्योंकि शिशुपालवध की घटना उसे तिरोहित कर देती है, किंतु तत्त्वतः यह कथा महाभारत के प्रधानकर्म की बाधक न होकर साधक ही है क्योंकि उसी के पश्चात् कार्य-सिद्धि का उपक्रम हो जाता है। कुंतक ने इस प्रकार की वक्रता को 'कथाविच्छेदवक्रता' की संज्ञा प्रदान करते हुए लिखा है कि शिशुपालवध रूप अप्रस्तुत कार्य से प्रस्तुत कार्य की पूर्णता को वल मिलता है जिससे प्रबंधकाव्य की रमणीयता में 'इंदीवरसितरसनिर्भरवक्रता' की सिद्धि होती है । ऐसी कथाएं वैरस्यजनक न होकर वक्रताधायक होती हैं जिनके अनुबंध की ओर कवियों को विशेष सतर्क रहना चाहिए ।

(४) आनुषंगिकफलवक्रता

प्रबंध-वक्रता का चतुर्थ प्रकार आनुषंगिक फलवक्रता है । इस प्रकार की वक्रता में 'एक ही विशेष कार्य के फल की प्राप्ति के लिए उद्यत नायक उसी के समान स्पृहणीय अन्य अनंत फलों में अपने प्रभाव के चमत्कार से प्राप्त होने वाले अत्यधिक यश का पात्र होकर कारण बनता है ।[2] इसका उदाहरण 'नागानंद' नाटक है जिसके नायक जीमूतवाहन ने शंखचूड़नामक नागकुमार के प्राणघातक गरुड को अपना शरीर दान करते हुए न केवल उसके कुल की रक्षा की अपितु वह गरुड़ की कृपा से स्वयं भी बच गया तथा उसके द्वारा अन्य अनंत फलों की सिद्धि भी प्राप्त कर सका । वस्तुतः प्रधान फल के साथ आनुषंगिक फलों की योजना करने से प्रबंध के वैचित्र्य में प्रभावोत्पादकता आ जाती है और एक फल सम्पत्ति के लिए उद्यत नायक को अन्य अभीष्ट वस्तुओं की प्राप्ति का भी सुयोग उपलब्ध हो जाता है जिससे प्रबंध-चारुता का वैदग्ध्य बढ़ जाता है ।

---

१. वक्रोक्तिजीवितम्, ४।२०-२१ ।
२. वक्रोक्तिजीवितम, ४।२२-२३ ।

(५) नामकरणवक्रता

प्रबंध-वक्रता का पंचम प्रकार 'नामकरणवक्रता' है जिसमें वस्तु-वैचित्र्य अर्थात् प्रकरण प्रतिपाद्य पदार्थों में वैदग्ध्य न होने पर भी प्रधान कथा के द्योतक चिह्न-रूप नाम से भी प्रतिभासम्पन्न कवि अपनी कृतियों में अपूर्व सौन्दर्य उत्पन्न कर देते हैं।[१] नामकरण की वक्रता काव्य-बंध अथवा नाटक-प्रकरण की प्राणभूत-कथा योजना का संबोध कराने में पूर्ण समर्थ कही जा सकती है। 'अभिज्ञानशाकुंतलं', 'मुद्राराक्षस', 'प्रतिभानिरुद्ध', 'मायापुष्पक' और 'छलितराम' आदि काव्यग्रंथीयनाम इसी प्रकार के चमत्कार के द्योतक हैं जबकि 'शिशुपालवध', 'रामचरित' और 'पाण्डवाभ्युदय' आदि नामों में इस प्रकार का वक्रतापूर्ण चमत्कार नहीं है। 'अभिज्ञानशाकुन्तल' नामकरण में प्रयुक्त 'अभिज्ञान' पद दुष्यंत की चिह्नस्वरूप मुद्रिका की प्राप्ति द्वारा दुष्यन्त को शकुन्तला की स्मृति का परिज्ञान करा देती है तो 'मुद्राराक्षस' पद मुद्र या परिगृही तो 'राक्षसो यत्र' की व्युत्पत्ति द्वारा कथावस्तु के प्रधान बिंदु का संकेत करता है। सर्गबद्ध महाकाव्यों अथवा अंकगर्भित नाटकों में नामकरण विषयक विच्छित्ति वस्तुतः परम आवश्यक है क्योंकि उनके द्वारा कथा-चमत्कार का प्रतीक प्रस्तुत किया जा सकता है।

तुल्य कथा वक्रता आदि प्रबंध रूप काव्य की रस-गरिमा के हेतु है

महाकवियों की प्रतिभा में नवनिर्माण की अद्भुत क्षमता और निपुणता होती है जिसके कारण वे अपनी कृतियों में लोकोत्तर सौन्दर्य का अभिनिवेश करने का सामर्थ्य रखते हैं। कुंतक ने उसी सौन्दर्य को 'वक्रता' अथवा 'वक्रभावविच्छित्ति' की अभिधा प्रदान की है जो समस्त प्रकार के काव्य-प्रबंधों में किसी न किसी रूप में अवश्यमेव दृष्टिगोचर होती है। यों तो वक्रता का नितांत अभाव साधारण कवियों में भी नहीं होता, किंतु महाकवियों की कृतियों में उसकी योजना के अधिकाधिक अवसर विद्यमान रहते हैं। वक्रता की महत्ता के कारण उपदेशपरक काव्यों में भी एक प्रकार की अभिनव शैली का समाहार हो जाता है जिसके द्वारा तथाकथित उपदेश भी 'नूतनोपायनिष्पन्न' होकर वैचित्र्याभिवृद्धि के साधन बन जाते हैं। संस्कृत के 'मुद्राराक्षस' और 'तापसवत्सराज' आदि काव्य-प्रबन्धों तथा हिन्दी में भ्रमर-गीत की परम्परा में लिखे गये ग्रन्थों में जिस प्रकार की वक्रभाव विच्छित्ति संचारित हुई है, वह उक्त कथन की संपोषिका है। प्रबंध-वक्रता एक प्रकार की रचनागत सौन्दर्य-प्रक्रिया है जो एक ही कथा-स्रोत से उद्भूत काव्य-कृतियों की पद-रचना, वाक्य-संघटना और प्रकरण-पटुता में नवीन शैली का समावेश कर उनमें अपूर्व अभिव्यंजना स्फुरित कर देती है। ऐसा करने के लिए महाकवियों को अपनी प्रतिभा के अनुरूप कहीं तो विस्तीर्ण कथावस्तु को संक्षिप्त और कहीं संक्षिप्त कथावस्तु को विस्तीर्ण करना पड़ता है। इस प्रकार का संक्षिप्तीकरण अथवा संवर्द्धन काव्य के शब्द और अर्थगत प्रयोगों में आलंकारिक छटा का संयोग कर काव्य-बंध में विलक्षण कमनीयता ला देता है जो कुंतक के मतानुसार प्रबंधवक्रता का ही एक विशेष

१. वक्रोक्तिजीवितम्, ४।२४।

प्रकार है। संस्कृत वाङ्मय में 'रामाभ्युदय,' उदात्तराघव, वीरचरित, बालरामायण, माया पुष्पक, कृत्यारावण, प्रसन्नराघव और अनर्घराघव आदि अनेकानेक काव्यबंधों का मूल स्रोत 'रामायण-कथा' होने पर भी वे अपने उक्ति-वैचित्र्य और बंध-योजना में विशिष्ट पद-रचना से व्याप्त हैं जिसके कारण उनकी रमणीयता का वैशिष्ट्य कम नहीं हुआ है। हिन्दी में राम-काव्य की परम्परा में गोस्वामी जी के पूर्ववर्ती और परवर्ती युगों ने जिन कृतियों को जन्म दिया है उनमें भी देशकाल की मर्यादा और मान्यता के अनुरूप जो परिवर्तन अद्यावधि हुए हैं और हो रहे हैं वे अन्यान्य तत्त्वों के साथ-साथ वक्रता-वैचित्र्य से भी अनुप्राणित हैं। यही कारण है कि कुंतक के मतानुसार एक ही कथा के आधार पर बंधे हुए महाकवियों द्वारा निर्मित काव्य-नाटकादि एक-दूसरे से विलक्षण होने से किसी अपूर्व वक्रता को पुष्ट करते हैं।[1] कथोन्मेष की मूलभूत एकता और उसके प्रसार की रचनागत विशिष्टता को इस प्रकार स्पष्ट किया जा सकता है कि जैसे शरीर के अवयवों में मौलिक साम्य होते हुए भी उनमें गुण-प्रक्रिया आदि दृष्टियों से अंतर होता है, उसी प्रकार काव्य रचनाओं का मूल-स्रोत एक होने पर भी उनमें कलागत शिल्प-विधान का वैचित्र्य सहज सम्भव है जो महाकवियों की प्रतिभा का ही परिणाम कहा जा सकता है। यदि ऐसा न होता तो 'रामचरितमानस' और 'साकेत' का कथानुबंध एक ही स्रोत से अनुप्रेरित होने पर भी अपना पृथक्-पृथक् वैलक्षण्य नहीं रखता। इस विषय में आचार्य कुंतक ने उचित लिखा है—

ते हि प्रबंधप्रवरास्तेनैवं कथामार्गेण निरर्गलरसासारगर्भसम्पदा प्रतिपदं प्रतिवाक्यं प्रतिप्रकरणं च प्रकाशमानाभिनवभंगीप्राप्त रमणीयताभ्राजिष्णवोः नवनवोन्मीलितानायकगुणोत्कर्षास्तेषां हर्षातिरेकमनेकशो प्यास्वाद्यमानाः समुत्पादयंति सहृदयानाम्।'

अर्थात् वे श्रेष्ठ ग्रन्थ उस एक ही अनन्त रसवृष्टि के सामर्थ्य से युक्त कथा मार्ग से (अर्थात् एक ही रामायण आदि की कथा के आधार पर निर्मित होने पर भी प्रत्येक पद, प्रत्येक वाक्य और प्रत्येक प्रकरण में प्रायः (अपनी अपनी) नवीन शैली का परिचय देते हुए रमणीयता से मनोहर, नायक के नवीन-नवीन गुणोत्कर्ष को उन्मीलित करते हुए अनेक बार, बार-बार (बढ़ने और देखने या सुनने रूप से) आस्वाद्यमान होने पर भी उन (काव्य के पारखी) सहृदयों के आनंदातिशय को उत्पन्न करते हैं।[2]

वक्रोक्ति का वैशद्यपूर्ण वैशिष्ट्यः

काव्य के स्वरूप-विधायक सिद्धांत के रूप में वक्रोक्ति तत्त्व की विशद विवेचना के अन्त में निष्कर्ष रूप में यह कहा जा सकता है कि आचार्य कुंतक के पूर्व रस, अलंकार रीति और ध्वनि-सिद्धांतों की काव्यशास्त्रीय प्रतिष्ठा हो चुकी थी जिनके समर्थक आचार्यों ने अपनी-अपनी मान्यताओं को प्रामुख्य प्रदान कर इतर काव्य-सिद्धांतों की अंगरूपता सिद्ध की थी। कुंतक ने उन समस्त मत-मतांतरों का सम्यक् आकलन करने के

१. हिन्दी वक्रोक्तिजीवितम् : व्याख्याकार आचार्य विश्वेश्वर, प्र० संस्करण, पृ० ५२६।
२. कुंतक : वक्रोक्तिजीवितम्, चतुर्थोन्मेष, कारिका संख्या २५।

पश्चात् वक्रोक्ति-सिद्धांत को 'काव्यजीवित' के रूप में सम्मानित किया और ध्वनि तथा अलंकार आदि सिद्धांतों को उसकी तुलना में गौणता प्रदान की। 'सालंकारस्य काव्यता' द्वारा उन्होंने अलंकार्य और अलंकार की एकता सिद्ध करते हुए बतलाया कि अलंकारयुक्त शब्द और अर्थ ही काव्य होते हैं, न कि शब्द और अर्थ में अलंकारों की विवेचना करना तत्त्वसंगत है। 'रसवत्' अलंकार को अलंकार्य-कोटि में स्थापित करते हुए उन्होंने उस अलंकार-सिद्धांत का विरोध किया है जो काव्य में अलंकारों की स्थिति बाह्य शोभाकारक धर्म के रूप में निरूपित करता है। उन्हें काव्य में ध्वनि-तत्त्व का भी महत्त्व स्वीकार नहीं है जो आनंदवर्धन द्वारा प्रतिष्ठित किया गया था। ध्वनि-तत्त्व की भाँति वक्रोक्ति-वैदग्ध्य को भी वर्ण-वक्रता से लेकर प्रबंध-वक्रता की विभिन्न सरणियों में अंतर्व्याप्ति सिद्ध करते हुए उन्होंने उसमें अलंकारों, रीतियों तथा अन्यान्य काव्य-सिद्धांतों का भी समाहार करने की चेष्टा की है। उनके द्वारा प्रतिपादित वर्णवक्रता में शब्दालंकारों का सौष्ठव समाहित है तो वाक्य-वक्रता में अर्थालंकारों का औदात्य आख्यात हुआ है। उक्त दोनों प्रकार की वक्रताओं के साथ-साथ पद पूर्वार्द्धवक्रता तथा पदपरार्द्ध-वक्रता में उन्होंने विशिष्ट पद-रचना-रूप रीति-तत्त्व का अन्तर्भाव करने का भी प्रयास किया है। वक्रता की शोभातिशयता और आह्लादकारिता का गुणसंस्तव करते हुए उन्होंने उसमें रस और औचित्य आदि तत्त्वों की महत्ता भी प्रतिपादित की है जिससे प्रकट होता है कि वे 'वक्रोक्ति काव्यजीवितम्' में ही रसादि काव्योपकरणों की अंगता स्वीकार करने के पक्ष में थे। अभिप्राय यह है कि कुंतक का वक्रोक्ति-सिद्धांत उनकी आत्यंतिक दृष्टि का प्रत्यक्ष निदर्शन है जिसमें उन्होंने वक्रोक्ति को विचित्र अभिधारूपिणी कहकर लक्षणा और व्यंजना की सत्ता को भी उसके सम्मुख निरस्त कर दिया है। वक्रता-विहीन काव्य नीरस-वस्तुकथन-मात्र होता है, अतः कुंतक के अनुसार वक्रोक्ति में ही काव्य-सौन्दर्य का मूल अधिवास स्वीकार करना ही युक्तिसंगत है। यहाँ यह बात भी उल्लेखनीय है कि आचार्य कुंतक द्वारा जिस वक्रोक्ति-सिद्धांत का सांगोपांग विवेचन किया गया, वह कालांतर में हतप्रभ-सा होकर केवल शब्दालंकार-विशेष रह गया। कुंतक के परवर्ती आचार्य मम्मट ने वक्रोक्ति को काव्य का शरीरस्थानीय अलंकारमात्र कहकर ध्वनि-सिद्धांत का पुनर्संस्थापन किया जिसका विरोध करने का साहस कोई भी परवर्ती आचार्य नहीं कर सका। इस प्रकार वक्रोक्ति-सिद्धांत काव्य के स्वरूप-विधान का एक उक्तिवैचित्र्यपूर्ण चमत्कार मात्र बनकर ही रह गया जिसकी चरम परिणति आचार्य कुंतक के युगपर्यन्त ही अपनी कांतिमयता आलोकित कर समाप्तप्राय हो गई।

१०

ध्वनि सिद्धांत और अनुमान-तत्त्व

काव्य के स्वरूप-विधायक तत्त्वों में ध्वनि-सिद्धांत और अनुमान तत्त्व का विवेचन करना परम आवश्यक है। इन सिद्धांतों की अवतारणा रस, रीति और अलंकार सिद्धान्तों से परवर्ती काल में हुई है। ध्वनि-तत्त्व की मूल प्रेरणा व्याकरण-सूत्रों में वर्णित स्फोटवाद एवं भारतीय दर्शन की व्यंजना एवं अभिव्यक्ति की चर्चा कही जा सकती है। विद्वानों ने वामन के वक्रोक्ति-विवेचन में भी ध्वनि-संकेत अन्वेषित कर लिये हैं। ध्वनिकार ने अपने पूर्ववर्ती आचार्यों की न्यूनताओं को समझकर व्यंजनाशक्ति पर आधारित ध्वनि को काव्यात्मा के रूप में घोषित किया है। उसका स्पष्ट मंतव्य यह है कि ध्वनि-सिद्धांत की सर्वथा स्वतंत्र एवं सर्वोपरि सत्ता है और उसमें काव्य का सर्वांगीर्ण सौष्ठव प्रतिफलित होता है। विशेष बात यह है कि ध्वनिकार ने जिस भूमिका पर ध्वनि-सिद्धांत को अधिष्ठित किया है, लोचनकार अभिनवगुप्त ने मानो उसका महाभाष्य करते हुए उसे और अधिक निखार दिया है। रसध्वनि का वास्तविक अर्थों में तात्त्विक समर्थन उन्हीं के द्वारा हुआ है।

यह कहना तो कठिन है कि ध्वनि-सिद्धांत की मूल प्रतिष्ठा किस आचार्य ने की, किंतु प्राप्त सामग्री के आधार पर ध्वन्यालोककार आनंदवर्धनाचार्य ही इसके प्रवर्तक अथवा उन्नायक हैं। विद्वानों में आज भी यह विषय विवादास्पद है कि ध्वन्यालोक नामक ग्रंथ के कारिकाकार और वृत्तिकार दो पृथक्-पृथक् आचार्य हैं या एक ही व्यक्ति द्वारा दोनों कार्य सम्पादित किये गये हैं। नवीनतम शोधों के फलस्वरूप दोनों की रचना का श्रेय आचार्य आनंदवर्धन को ही प्राप्त है। इस सिद्धांत की सर्वाधिक प्रधान विशेषता यह है कि इसके द्वारा विभिन्न काव्यसिद्धांतों में अपूर्व प्रविधि से सामंजस्य स्थापित करने का सद्प्रयत्न किया गया है। आचार्य आनंदवर्धन से लेकर आचार्य मम्मट तक इस सिद्धांत की क्रमिक उन्नति हुई है जिसका चरम विकास हमें पंडितराज जगन्नाथ की कृतियों में उपलब्ध होता है। इस कार्य-काल के अंतराल में ध्वनि-विषयक मत-मतांतरों में भी यथेष्ट परिवर्तन और संवर्धन भी होते चले हैं जिनका एक प्रमाण-परिपुष्ट इतिहास है।

'ध्वनि' काव्य का आत्मतत्त्व है

आचार्य आनंदवर्धन ने सहृदयजनों की मनस्तुष्टि के लिए काव्य के आत्मतत्त्व 'ध्वनि' का स्वरूप निरूपित करने के प्रसंग में इस तथ्य की ओर संकेत किया है कि यह सिद्धांत उनके पूर्ववर्ती काव्यतत्त्व-वेत्ताओं द्वारा सम्यक् रीत्या व्याख्यात रहा है। ऐसा

प्रतीत होता है कि उनके समय पर्यन्त काव्यात्मतत्त्व के रूप में ध्वनि को प्रतिष्ठित करने के प्रयत्न अवश्य किये गये थे, किंतु विरोधी मत-मतांतरों का भी अभाव न था। कुछ विद्वान् ध्वनि का सर्वथा निषेध करते थे तो कुछ उसे लक्षणागम्य समझते थे। तीसरा मत उन आचार्यों का था जिन्होंने ध्वनि का अस्तित्व तो अवश्य स्वीकार किया था, किंतु उसे उन्होंने वाणी का अगोचर विषय बतलाया। आनंदवर्धन ने शास्त्र-ग्रंथों के लिए वांछनीय अनुबंध चतुष्ट्य का उल्लेख करते हुए अपनी प्रस्तावना इस प्रकार निरूपित की है—

काव्यस्यात्मा ध्वनिरिति बुधैर्यः समाम्नातपूर्व—
तस्याभाव जगदुरपरे भाक्तमाहुस्तमन्ये।
केचिद्वाचां स्थितमविषये तत्वमूचुस्तदी,
तेन, ब्रूमः सहृदयमनः प्रीतये तत्स्वरूपम्।[1]

आनंदवर्धन की उक्त कारिका से प्रकट है कि उनके कार्यकाल में ध्वनि-सिद्धांत विद्वज्जनों की चर्चा अत्यन्त रोचक विषय था और वे भिन्न-भिन्न दृष्टियों से उसकी विवेचना करते थे। उन्होंने ध्वनि-विरोधी आचार्यों को अभाववादी, लक्षणावादी तथा अशक्यवक्तव्यवादी संज्ञक तीन श्रेणियों में विभक्त कर उनकी मान्यताओं का समुचित विमर्श किया और ध्वनि को काव्य का आत्मतत्त्व बतलाया। उनके कथन का मूल मन्तव्य यह है कि ध्वनि और आत्मा में साधर्म्य है और दोनों के स्वरूप में किसी भी प्रकार का बाध होना सम्भव नहीं है। वे यह मानकर चले हैं कि जिस प्रकार प्राणिजगत् में आत्मा सारभूत तत्त्व है और उसकी विशेषता अवाङ्मनसगोचर है उसी प्रकार काव्य का सत्व ध्वनि-सिद्धांत में अंतर्निहित है और उसका विवेचन करना सरल कार्य नहीं है।

ध्वनि-सिद्धांत का उत्स

आनंदवर्धन ने 'ध्वनि-सिद्धांत' को 'सूरिभिः कथितः' माना है जिसका आशय यह है कि सिद्धांत प्रथमतः विद्वानों से उपक्रमित हुआ था। उनके अनुसार व्याकरण ही प्रथम कोटि के विद्वान् हैं क्योंकि-समस्त विधाओं का मूल-स्रोत व्याकरणशास्त्र है। वैयाकरणों ने श्रूयमाण वर्णों में ध्वनि-पद का व्यवहार किया है जिनके मतानुयायी विद्वानों ने ध्वनि शब्द का प्रयोग वाच्यार्थ, वाचक शब्द, सम्मिश्र (विभावानुभाव इत्यादि के सम्मिश्रण से उद्भूत व्यंग्यार्थ) और आतमरूप में स्थित शब्द के व्यंजना व्यापार नामक चार प्रकारों के लिए करते हुए 'काव्य' नामक रचना को भी ध्वनि ही माना है क्योंकि उसमें पूर्वोक्त चारों प्रकारों का समन्वित रूप विद्यमान रहता है। वस्तुतः श्रोतशष्कुली में परम्पराप्रवाह से आये हुए शब्दों की ध्वनन-प्रक्रिया घण्टानुरणनरूपा होती है जिसमें एक विशेषक्रम से अंतिम शब्द ही श्रुतिगोचर होते हैं और वे ही ध्वनि-संज्ञा से अभिहित किये जाते हैं। भर्तृहरि ने इसी बात को ध्यान में रखकर स्फोट को संयोग-वियोग इत्यादि करणों से उपजनित और ध्वनि को 'शब्दज शब्द' कहा है। अभिनवगुप्त ने भर्तृहरि के अभिमत का संस्तव करते हुए लिखा है कि घंटानिनाद के समान अनुरणन आत्मा से

---
१. आनंदवर्धन, ध्वन्यालोक, १।१।

उपलक्षित व्यंग्य अर्थ भी ध्वनि के रूप में व्यवहृत किया जाता है। उनके कथन का एक मंतव्य यह भी है कि नादशब्दवाच्य जो श्रूयमाण वर्ण अन्त्य बुद्धि के द्वारा किये जाने वाले स्फोट के अभिव्यंजक होते हैं, ध्वनि पद से अभिधेय हैं। इस विषय में वाक्यपदीय के निम्नलिखित श्लोक उद्धृत करने योग्य हैं जिनसे ध्वनि का स्वरूप-ज्ञान करने में सहायता मिलती है—

प्रत्ययैरनुपाख्यायैर्ग्रहणानुगुणैस्तथा ।
ध्वनि प्रकाशिते शब्दे स्वरूपमवधार्यते ।।
अल्पीयसापि यत्नेन शब्दमुच्चारितं मतिः ।
यदि वा नैव गृह्णाति वर्णं वा सकलं स्फुटम् ।।
शब्दस्योर्ध्वमभिव्यक्ते वृत्तिभेदे तु वैकृताः ।
ध्वनयः समुपोद्यन्ते, स्फोटात्मा तैर्न भिद्यते ।।

कहने का अभिप्राय यह है नित्य और अखंड स्फोट की वर्णों के रूप में व्यंजना ध्वनि द्वारा ही होती है और वर्ण एक निश्चित परिमाण में ही ध्वनि के द्वारा श्रुतिगोचर होते हैं। आचार्य ने प्राकृत और वैकृत संज्ञक ध्वनियों के माध्यम से इस विषय का अत्यन्त गम्भीर और विचारणीय विवेचन किया है।

आनंदवर्धन कृत ध्वनि-तत्त्व की अभ्यर्थना

आनंदवर्धन के शब्दों में ध्वनि का स्वरूप समस्त सत्कवियों के काव्य में उपनिषद्-भूत प्रधान तत्त्व है जो अपनी रमणीयता के कारण सहृदयजनों के चित्त का प्रसादन करता चला आ रहा है। यद्यपि उनके पूर्ववर्ती आचार्यों ने ध्वनि-सिद्धान्त का संस्तव उस रूप में नहीं किया था जिस रूप में वे उसकी सुव्यवस्थित प्रतिष्ठा करते हुए कर सके तथापि पूर्ववर्ती आचार्य उसकी गरिमा से परिचित अवश्य थे। उन्होंने अमुख्य वृत्ति से काव्य में व्यवहार दिखलाते हुए ध्वनिमार्ग का संस्पर्श अवश्य किया था जिससे ध्वनि की गुरुता का आभास मिलता है। ध्वनिकार ने उन सबका आधार लेकर अपनी व्युत्पन्न-प्रतिभा द्वारा यह बात सिद्ध करने की चेष्टा की कि ध्वनि की सत्ता असंदिग्ध है और वह रूपभेद होने के कारण न तो भक्ति (लक्षणा) से एकरूपता धारण कर सकती है और न अति-व्याप्ति तथा अव्याप्ति के कारण उसके द्वारा लक्षित ही की जा सकती है। आनंदवर्धन ने ध्वनि-सिद्धांत की अभ्यर्थना के लिए परम्परागत प्रतिष्ठा से रामायण और महाभारत प्रभृति लक्ष्यग्रंथों का उल्लेख करते हुए उनकी रचना में ध्वनि-काव्य का स्वरूप संकेतित किया है। अभिनवगुप्त ने सहृदयजनों को काव्यानुशीलन के अभ्यासवश विशदीभूत मनोमुकुर में वर्ण्य विषय में तन्मय होने की योग्यता से सम्पन्न 'स्वहृदयभाक्' कहकर उन्हें ध्वनि-काव्य के सुयोग्य आस्वादयिता निरूपित किया और बतलाया कि ध्वनि-काव्य का व्यंग्यार्थ हृदयसंवादी होने के कारण रसोद्भव या रस-चर्वणा में हेतु होता है और उससे काव्य का शरीर उसी प्रकार व्याप्त कर लिया जाता है जिस प्रकार अग्नि के द्वारा शुष्क काष्ठ। उन्होंने रस-चर्वणा को आनंद का आत्मस्वरूप कहकर रसध्वनि की सर्वोपरि महत्ता स्थापित की और आचार्य भट्टनायक के इस अभिमत का खंडन किया कि 'ध्वनि

नाम का जो दूसरा व्यंजनाश्रित व्यापार है वह यदि अभिधा और व्यंजना से भिन्न एक नया प्रकार भी मान लिया जाय तो भी वह काव्य का स्वरूप न होकर उसका अंशमात्र ही होगा।' भट्टनायक ने भी अभिधा, भावना और रस-चर्वणा नामक तीन अंशों में रस-चर्वणा को काव्य का जीवितभूत कहकर काव्य में न तो ज्ञान की प्रधानता ही मानी है और न उपदेश की प्रमुखता ही। उनके अनुसार रस ही काव्य का प्रधानभूत है जिसका अभिप्राय यह है कि रसध्वनि ही सत्ता सर्वोपरि है और वह काव्य की अंशमात्र ही न होकर अंशीभाव की निर्देशिका है।

ध्वनि-काव्य समस्त अर्थ-व्यापारों का विचित्र संयोग है

अभिनवगुप्त ने अभिधा, तात्पर्य और लक्षणारूप प्रसिद्ध शब्द-व्यापारों से अतिरिक्त व्यापार को 'ध्वनि' कहा है और यह भी बतलाया है कि इन चारों के योग से समस्त काव्य 'ध्वनि' कहा जा सकता है। उसमें न केवल वाच्य, वाचक और उन दोनों का सम्मिश्रण ही सम्मिलत है अपितु विभावानुभाव-संवलित व्यंग्य भी सन्निहित है। वस्तुतः ध्वनि का विषय इतना अधिक व्यापक और महान् है कि उसका प्रकाशन विशेष प्रकार के अप्रसिद्ध अलंकारों के समान नहीं हो सकता। ध्वनि-विरोधी अभाववादियों ने अनंत वाग्विकल्पों में ध्वनि को एक साधारण अलंकार मानकर उसके प्रति अन्याय किया है क्योंकि उसके भेदोपभेदों के अनंत विस्तार के सम्मुख अलंकारों की सत्ता सीमित और गौण है। सच तो यह है कि काव्य-पद से अभिहित वस्तुमात्र में ध्वनि की सत्ता विद्यमान है और उसके अंगी रूप के सम्मुख अलंकार हारादिवत् ही हैं। यों तो आचार्यों ने वस्तु, अलंकार और रस की दृष्टि से ध्वनि के तीन भेद—वस्तुध्वनि, अलंकार-ध्वनि और रसध्वनि—माने हैं किंतु शब्द और अर्थ के कारण से उद्भूत ध्वनि का एक ऐसा अर्थ-व्यापार भी होता है जिसमें अभिधा, तात्पर्य और लक्षणा से ही काम नहीं चलता प्रत्युत वक्ता की विवक्षा और श्रोता की प्रतिपत्ति भी वांछनीय होती है जिनके अनुसार अविवक्षितवाच्य और विवक्षितान्यपरवाच्य नामक ध्वनि के दो सामान्य भेद किये जा सकते हैं। काव्यास्वादन की प्रक्रिया में इस विषय का विवेचन भी आवश्यक होता है कि ध्वनन व्यापार में तथाकथित अभिधा, तात्पर्य और लक्षणात्मक व्यापारों से अवगत होने वाले अर्थ की प्रतीति से प्रतिपत्ता (श्रोता) के अंतःकरण में विद्यमान और प्रयोक्ता (वक्ता) की अभिप्रायरूपिणी विवक्षा का सहकार अभिव्यंजित कर दिया जाय। काव्य-समीक्षा के क्षेत्र में चाहे किसी भी दृष्टि से हम विचार करें—ध्वनि की सत्ता का अपलाप तो किया ही नहीं जा सकता। अभाववादी ध्वनिविरोधी तो ध्वनि के अस्तित्व में ही विश्वास नहीं करते किंतु लक्षणावादी विचारक लक्षणा में उसका अंतर्भाव करते हुए तथा अशक्यवक्तव्यवादी उसका लक्षण निर्धारित करने में जो एक प्रकार की विवशता का अनुभव करते हैं वह भी समुचित नहीं है क्योंकि ध्वनि का आधार लिये बिना काव्य के सर्जन तथा आस्वादन पक्ष की सम्यक् व्याख्या की ही नहीं जा सकती।

ध्वनि के भेद : (१) वस्तुध्वनि

वस्तुध्वनि में प्रतीयमान अर्थ या व्यंग्यार्थ वाच्य से बहुत ही भिन्न होता है। यदि वाच्यवस्तु विधिपरक हो तो व्यंग्यवस्तु निषेधपरक हो सकती है।[1] कहीं-कहीं वाच्यार्थ प्रतिषेधरूप होता है तो व्यंग्यार्थ विधिरूप।[2] कहीं वाच्य विधि रूप होता है तो व्यंग्य विधि तथा निषेध नामक दोनों रूपों से भिन्न।[3] कहीं वाच्य निषेधपरक होता है तो व्यंग्य विधि-निषेध दोनों से भिन्न।[4] कहीं विषयभेद से भी वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ के भेद की व्यवस्था की जा सकती है।[5] इसी प्रकार वस्तुध्वनि में प्रतीयमान अर्थ के और भी अनेक प्रकार हो सकते हैं जो वाच्यार्थ से व्यंग्यार्थ का भेद निर्दिष्ट करने वाले हों। आचार्यों ने विविध उदाहरणों द्वारा वस्तुध्वनि की वाच्यता और व्यंग्यता का विश्लेषण विभिन्न दृष्टियों से किया है जिनका सामान्य संकेत यथास्थान निम्नोक्त पाद-टिप्पणियों में दिया गया है। वस्तुतः यह विषय अत्यन्त गूढ़ और जटिल है जिसकी वाच्यता और व्यंग्यता का निर्णय सहज रीत्या नहीं किया जा सकता। हमें तो वस्तुध्वनि के प्रसंग में प्रतीयमान अर्थ की विभिन्न प्रक्रियाओं का संकेत मात्र देना अभीष्ट है अतः उनका उल्लेख उन प्रसिद्ध काव्यांशों द्वारा किया है जो काव्यशास्त्र में अत्यन्त प्रचलित और विख्यात है। इन छंदों को हमने संस्कृत छाया में प्रस्तुत किया है जिससे वे प्राकृत की अपेक्षा अधिक बोधगम्य बन सकें। यद्यपि विद्वानों ने उनकी विवेचना में तात्पर्य वृत्ति और लक्षणा आदि शब्द शक्तियों की निस्संकोच सिद्धि करने की चेष्टा की है किंतु उनकी प्रतीयमान अर्थता किसी भी रूप में खंडित नहीं की जा सकती। आचार्यों द्वारा व्याख्यात भागों की वास्तविकता का विमर्श करना हमारा प्रतिपाद्य नहीं है अतः हम तो यहां केवल इतना निवेदन करना ही पर्याप्त समझते हैं कि काव्य के आत्मतत्त्व का उद्घाटन करने एवं ध्वनि के स्वरूपों का आभास देने में वस्तुध्वनि के ये प्रकार भी अपने रूप में किसी से भी हीनतर नहीं हैं।

(२) अलंकार-ध्वनि की परिसीमा

ध्वनिकार ने भिन्न-भिन्न प्रकार के अलंकारों के उदाहरण प्रस्तुत कर उनसे सम्बद्ध अनेकानेक ध्वनियों का विवेचत किया है और यह भी बतलाया है कि अवसर

---

१. भ्रम धार्मिक विश्रब्धः स शुनकोऽद्य मारितस्तेन।
गोदावरी नदीकूललतागहनवासिना दृप्तसिंहेन।।

२. श्वश्रूरत्र निमज्जति अत्राहं दिवसकं प्रलोकय।
मा पथिक रात्र्यन्ध शय्यायामावयोः शयिष्ठाः।।

३. व्रज ममैवैकस्या भवन्तु निः श्वासरोदितव्यानि।
मा तवापि तया बिना दाक्षिण्य हतस्य जनिषत।।

४. प्रार्थये तावत्प्रसीद निवर्तस्व मुखशशि ज्योत्स्ना विलुप्ततमोनिवहे
अभिसारिकाणां विघ्नं करोष्यन्यासामथि दृताशे।।

५. कस्य वा न भवति रोषो दृष्ट्वा प्रियायाः सव्रणमधरम्।
सभ्रमरपद्माघ्राण शीले वारित वामे सहस्वेदानीम्।।

और औचित्य के अनुसार उनके अतिरिक्त अलंकारों की भी ध्वनि हो सकती है। अवसर और औचित्य का स्पष्टीकरण करते हुए उन्होंने लिखा है कि कहीं तो एक अलंकार में दूसरा अलंकार व्यंजक होता है और कहीं केवल वस्तु ही व्यंजक होती है। वस्तुतः जहां जैसा अवसर हो वहां वैसी ही व्यंजना समझ लेनी चाहिए। उनके मतानुसार वाच्यत्व की दशा में जिन अलंकारों का शरीरीकरण व्यवस्थित नहीं है, वे अलंकार, ध्वनि के अंग बनकर बहुत बड़ी छाया को प्राप्त करते हैं।[1] आचार्य की यह मान्यता विचारणीय है और उसकी व्याख्या करना वांछनीय है। उनके कथन का एक अभिप्राय तो यह हो सकता है कि प्रस्तुत अर्थ, काव्य का शरीर—स्थानीय होता है तो अलंकार उससे भिन्न दूसरा अर्थ व्यक्त करते हैं। जिस प्रकार शरीर से पृथक् भूत कटक-कुंडल इत्यादि शरीर की संज्ञा प्राप्त नहीं करते उसी प्रकार वे अर्थ, वाच्य होते हुए भी काव्य के शरीर नहीं होते। उन अलंकारों को शरीर बना देना व्यवस्थित है क्योंकि सुकवियों के लिए यह बात अनायास ही सम्भव हो जाती है। उक्त कारिका का दूसरा आशय यह लिया जा सकता है कि वाच्य होने पर जिनके अंदर शरीरत्व धर्म का सम्पादन करना भी व्यवस्थित नहीं होता, वे अलंकार ध्वनि के अंग बनकर बहुत बड़ी दुर्लभ छाया या कांति को प्राप्त कर लेते हैं। आचार्य के शब्दों में 'यद्यपि सुकवि किसी विदग्ध तथा परिवार-सम्पन्न रमणी के समान, अलंकारों को अत्यन्त श्लिष्टता के साथ संयोजित करता है तथापि उनकी स्थिति कुंकुम की पीतिमा के समान ही होती है जिसे अनेक प्रयत्न करने पर भी शरीरत्व की सुषमा प्रदान करना अत्यन्त कष्टसाध्य है। जब अलंकार काव्य के शरीर-स्थानीय भी नहीं बन सकते तो भला उन्हें आत्मरूपता कैसे प्रदान की जा सकती है? काव्य में व्यंग्यता एक ऐसी विशेषता है जो अप्रधान होते हुए भी वाच्य मात्र अलंकारों को उत्कर्ष प्रदान करती है। आचार्य ने इस विषय को 'बालक्रीडा में भी राजत्व की उपलब्धि' का उदाहरण देते हुए स्पष्ट किया है और लिखा है कि जिस प्रकार बालक अपने क्रीड़ा-कौतुक में अपने एक साथी को राजा बनाकर उसे समुचित गौरव प्रदान करते हैं उसी प्रकार जब अलंकार व्यंग्य होते हैं तो यद्यपि वे रसध्वनि की भांति काव्य का प्रधानीभूत आत्म-तत्त्व तो नहीं बन जाते तथापि उन्हें वाच्यालंकारों की अपेक्षा अधिक महत्त्व मिल जाता है। अलंकारध्वनि का अर्थ व्यंग्य अलंकार ही है जिसमें व्यंग्य की प्रधानता होने पर वह ध्वनि कही जाती है अन्यथा उसका रूप गुणीभूत व्यंग्य का बन जाता है।

(३) रसध्वनि

ध्वनि का तीसरा भेद रसध्वनि है जो वाच्यसामर्थ्य से आक्षिप्त होकर प्रकाशित होता है। वह साक्षात् शब्दव्यापार का विषय नहीं होता अतः उसे भी अन्य ध्वनियों की भांति वाच्य से भिन्न ही माना जाता है। वस्तुध्वनि और अलंकारध्वनि में तो कभी-कभी अभिधेयता भी रह सकती है किंतु रसध्वनि तो सदैव व्यंग्यार्थ का ही द्योतन करती है। वस्तुतः आस्वाद्यता का ही दूसरा नाम रस है और वह रस सदैव व्यंग्य रहता है अतः

---

१. ध्वन्यालोक, २।२८।

रसध्वनि में अभिधा या वाच्यता का कोई प्रश्न ही नहीं उत्पन्न होता। ध्वनि के इस दृष्टिकोण को ध्यान में रखते हुए आचार्यों ने काव्य के आस्वाद को व्यंग्य माना है। उसकी व्यंग्यता इस बात से भी सिद्ध की जा सकती है कि काव्य में केवल 'आनंद आ रहा है, रस प्राप्त हो रहा है' जैसे अर्थबोधक वाक्यों से ही काम नहीं चलता अपितु उसके द्वारा आनंदोपलब्धि कराने के लिए विभिन्न विधियों से विभावानुभावादि की योजना करनी पड़ती है तथा उसके वर्णनों और अभिनयों को ऐसा बनाना पड़ता है जिससे काव्य का आस्वाद आनंदजनक बन सके। कहने की आवश्यकता नहीं कि यह कार्य केवल व्यंजना अथवा ध्वनि से ही सम्भव है अतः काव्य के आनंद को व्यंग्य मानना ही समीचीन है। उस आनंद को लक्षणागत भी नहीं माना जा सकता क्योंकि उसकी प्रतीति के लिए यह आवश्यक नहीं है कि मुख्यार्थ में बाध हो एवं रूढ़ि अथवा प्रयोजन के अनुसार ही उसका अर्थ लक्षित किया जाय।

रसध्वनि का क्षेत्र अत्यंत विस्तृत और रहस्यमय है। उसके अंतर्गत भावध्वनि रसाभासध्वनि, भावाभासध्वनि, भावोदय, भावसंधि और भावशबलता आदि अनेक भेद समाविष्ट किये जा सकते हैं। उसे रसध्वनि कहने का मुख्य आशय केवल इतना ही है कि उसमें हमारी स्थायी चित्तवृत्ति निर्विघ्न औचित्यप्रवृत्ति के कारण आनंद अथवा आस्वाद्यता का रूप धारण कर लेती है। रसध्वनि के क्षेत्र में व्याख्यात इतर ध्वनियों का महत्त्व एवं कार्य निस्संदेह गौण है। उदाहरणार्थ व्यभिचारी चित्तवृत्ति का आस्वाद्यरूप भावध्वनि कहा जाता है तो भावों की अनौचित्य वृत्ति को भावाभास तथा रसाभास ध्वनि की संज्ञा से अभिहित किया जाता है। यदि किसी काव्य में सीता के प्रति राम का रतिभाव वर्णित हो तो वह शृंगाररस-ध्वनि का व्यंजक होता है किंतु उसके प्रति रावण का प्रेम-प्रदर्शन अपनी आस्वाद्यता में रसाभास का ही उद्बोधक होगा। वस्तुतः रसध्वनि के लिए आस्वादयिता की तन्मयता आवश्यक है और वह तन्मयता तभी हो सकती है जबकि आस्वाद्यमान काव्यकृति में किसी भी प्रकार का अनौचित्य एवं अंतराय उपस्थित न हो।

रसध्वनि ही काव्य की आत्मा है

वस्तुतः रसध्वनि ही काव्य की आत्मा है। यों तो वस्तुध्वनि और अलंकारध्वनि भी रसपर्यवसित होने के कारण वाच्यार्थ की अपेक्षा उत्कृष्ट ही होती है किन्तु उन सबका समाहार रसध्वनि के अंतर्गत किया जा सकता है। ध्वनिकार ने प्रतीयमान अर्थ को जिस रूप में काव्य की आत्मा स्वीकार किया है वह रसादिध्वनि का उपलक्षण मात्र है। उन्होंने प्रतीयमान अर्थ या ध्वनि को विविध वाच्यवाचक रचनाप्रपंच द्वारा चारुता को प्राप्त काव्य का सारभूत तत्त्व निरूपित करते हुए अपने कथन की संपुष्टि के लिए आदि कवि वाल्मीकि का उदाहरण प्रस्तुत किया है जिनका क्रौंच-द्वन्द्व वियोगोत्थ शोक ही श्लोकत्व को प्राप्त हो गया था। ध्वनिकार के उक्त कथन की व्याख्या करते हुए अभिनवगुप्त ने लिखा है कि क्रौंच के द्वन्द्व वियोग से उद्भूत शोक स्थायी भाव अपनी निरपेक्ष स्थिति के कारण विप्रलम्भ शृंगारोचित रति नामक स्थायी भाव से निश्चय ही भिन्न है और वह लौकिक

शोक से भिन्न करुण रस रूप को प्राप्त होकर रसपरिपूर्ण कुम्भोच्चलन के समान चित्त-वृत्ति का निष्पंदन करता हुआ समुचित शब्द, छन्द और वृत्त इत्यादि से नियमित बनकर श्लोकरूपता को प्राप्त हुआ है। अभिनवगुप्त के कथन का आशय यह है कि महर्षि वाल्मीकि के हृदय में वासना रूप में जो शोक विद्यमान था उसे क्रौंच-मिथुन की विपन्नता के रूप में रस की उपयुक्त सामग्री उपलब्ध हो गई जिसके साथ तादात्म्य करता हुआ द्रवणशील हृदय भावविभोर-सा होकर अपनी उच्छलित आत्माभिव्यक्ति कर बैठा। वस्तुतः वह अभिव्यक्ति महर्षि की मौलिक चित्तवृत्ति का ही श्लोक के रूप में प्रकाशन था जिसे मुनि का लौकिक दुःखजन्य शोक कदापि नहीं कहा जा सकता क्योंकि न तो रस के आत्मत्व के लिए ही अवकाश का अवसर रहता है और न ऐसी भावचर्वणा ही बन सकती है जो काव्यानंद की जन्मदात्री एवं करुणरस की निष्पंदिनी कही जा सके।

ध्वनि-तत्त्व का विस्तार

आनंदवर्धन ने रस, भाव, रसाभास, भावाभास और भावशांति इत्यादि को उस स्थिति में ध्वनि की आत्मा माना है जब वे अक्रम रूप में व्यक्त हो रहे हों तथा प्रसाधन रूप में भी स्थित हों।[1] इसका यह अर्थ नहीं कि रस इत्यादि व्यंग्यार्थों में क्रम होता ही नहीं है। वस्तुतः रस इत्यादि में भी यदा-कदा क्रम का आभास मिल जाता है किंतु उस स्थिति में उनका अंतर्भाव अर्थशक्त्युद्भव संलक्ष्य-क्रमव्यंग्य ध्वनि के अंतर्गत कर लिया जाता है। अक्रम अथवा असंलक्ष्यक्रम ध्वनि साधारणतया रस-ध्वनि का ही पर्याय है पर यह कोई आवश्यक नहीं है कि जहाँ रस अंगी होता है वहीं वह ध्वनि शब्द से अभिहित किया जाता है। आचार्य के कथन का संकेत इस ओर भी है कि अनेक स्थलों पर रस अंगी न होकर गौण होता है जो ध्वनि का क्षेत्र न होकर रसवत् अलंकार का क्षेत्र है। अपने व्यवस्थित रूप में ही रसादि ध्वनि काव्य का जीवित है। उसमें जब एक घन चमत्कार रूप आस्वादन का अंश प्रधान हो जाता है तो वह रसध्वनि कहलाती है अन्यथा वह व्यभिचारी भाव के चमत्कार से उत्पन्न आस्वाद के आधिक्यवश भावध्वनि का रूप धारण कर लेती है। इस विषय में लोचनकार अभिनवगुप्त का कथन उद्धृत करना अनुचित न होगा—

'स च रसादिर्ध्वनि र्व्यवस्थित एव, न हि तच्छून्यं काव्यं किंचिदस्ति। यद्यपि च रसेनैव सर्वम् जीवति काव्यम् तथापि तस्य रसस्यैकघन-चमत्कारात्मनोऽपि कुतश्चिंद शात्प्रयोजकीभूतादधिकोऽसौ चमत्कारो भवति। तत्र यदा कश्चिदुद्रिक्तावस्थां प्रतिपन्नो व्यभिचारी चमत्कारातिशय प्रयोजको भवति तदा भावध्वनिः।

भावध्वनि की विवेचना के संदर्भ में अभिनवगुप्त ने यह भी बतलाया है कि व्यभिचारी भाव उदय, स्थिति और अपाय नामक तीन धर्मों वाले होते हैं और तीनों ही स्थितियों में व्यभिचारित होकर काव्यास्वाद या चमत्कार के प्रयोजक बनते हैं। उन्होंने उदाहरणपुरस्सर अपने मत की संपुष्टि की है और इन बातों का भी उल्लेख किया है कि

१. आनंदवर्धन : ध्वन्यालोक, द्वितीय उद्योत, कारिका सं० ३।

कहीं-कहीं व्यभिचारी भावों की अभिसंधि भी रसचर्वणा में कारण होती है तो कहीं-कहीं व्यभिचारी भावों की शवलता हमारे आस्वाद का विषय बन जाती है। यों तो कुछ आचार्यों ने विभाव-ध्वनि तथा अनुभावध्वनि का भी निरूपण किया है किंतु वह सुग्राह्य नहीं है क्योंकि विभाव और अनुभाव सर्वदा शब्दवाच्य होते हैं जबकि ध्वनि का मुख्य कार्य व्यंग्यार्थबोध ही है।

ध्वनिकार ने उन आलंकारिकों का भी खंडन किया है जो समासोक्ति, आक्षेप, अनुक्तनिमित्ता विशेषोक्ति, पर्यायोक्त, अपह्नुति दीपक और संकर इत्यादि अलंकारों में ध्वनि का अंतर्भाव मानते हैं। उन्होंने विवेचनपुरस्सर इस विषय का स्पष्टीकरण करने की चेष्टा कही है कि उक्त अलंकारों में प्रतीयमान अर्थ की वैशद्यपूर्ण प्रतीति नहीं होती अतः उनमें ध्वनि का अंतर्भाव नहीं माना जा सकता। ध्वनिकार ने 'उपसर्जनीकृतस्वार्थौ' पद का प्रयोग करते हुए इस तथ्य का प्रतिपादन किया है कि जहाँ अर्थ अपने स्वरूप को और शब्द अपने वाच्यार्थ को गौण बनाकर दूसरे अर्थ को अभिव्यक्त करता है वहाँ ध्वनि होती है। उस ध्वनि में व्यंग्यार्थ का ही प्राधान्य होता है अतः समासोक्ति आदि अलंकारों में उसका समाहार नहीं किया जा सकता। अपनी मान्यता की पुष्टि के लिए उन्होंने भिन्न-भिन्न अलंकारों के लक्षण और उदाहरण देते हुए उक्त अलंकारों की सीमा निर्धारित की है और बतलाया है कि वे अलंकार ध्वनि की समता में निश्चय ही गौण महत्त्व रखते हैं क्योंकि उनमें व्यंग्यार्थ का वह उदात्त स्वरूप नहीं निष्पन्न हो पाता जो ध्वनि-काव्य में सहज सम्भव है। निस्संदेह आनंदवर्धन कृत अलंकारों का यह विवेचन अत्यंत गम्भीर और पठनीय है। उन्होंने अपने ध्वनि-सिद्धांत की अभ्यर्थना के संदर्भ में उक्त अलंकारों का वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ तथा उनका सीमाक्षेत्र निर्धारित करते हुए ध्वनि-सिद्धांत का अंगीरूप सिद्ध किया है। अपने विवेचन का निष्कर्ष उन्होंने निम्नलिखित श्लोकों में व्यक्त किया है—

व्यंग्यस्य यत्राप्राधान्यं वाच्यमात्रानुयायिनः।
समासोक्त्यादयस्तत्र वाच्यालंकृतयः स्फुटाः।।
व्यंग्यस्य प्रतिभामात्रे वाच्यार्थानुगमेऽपि वा।
न ध्वनि र्यत्र वा तस्य प्राधान्यं न प्रतीयते।।
तत्परावेव शब्दार्थौ यत्र व्यंग्यं प्रति स्थितौ।
ध्वनेः स एव विषयो मन्तव्यः संकरोज्झितः।।

—अर्थात् जहाँ पर वाच्य मात्र का अनुयायी होने के कारण व्यंग्यार्थ अप्रधान हो गया हो वहाँ पर स्पष्ट रूप से समासोक्ति इत्यादि वाच्यालंकार होते हैं। जहाँ पर व्यंग्य का स्पष्ट रूप से आभास मिल रहा हो अथवा व्यंग्यार्थ वाच्यार्थ का अनुगमन कर रहा हो अथवा उसकी प्रधानता प्रतीत न हो, वहाँ पर ध्वनि नहीं होती। जहाँ पर शब्द और अर्थ व्यंग्यपरक हों तथा संकर अलंकार होने का अवसर न हो, वह ध्वनि का विषय होता है।

ध्वनि तत्त्व द्वारा काव्य की अलौकिकता का प्रतिपादन

ध्वनिवादी आचार्यों की एक विशेषता यह भी है कि उन्होंने व्यंजनावृत्ति को मान्यता प्रदान करते हुए काव्य की अलौकिकता का प्रतिपादन किया। उनका कथन था कि जिस प्रकार काव्य के अर्थ अलौकिक होते हैं उसी प्रकार व्यंजना-व्यापार भी अलौकिक है क्योंकि काव्येतर क्षेत्रों में व्यंजना-व्यापार का कोई स्थान नहीं है। उन्होंने व्यंजना-व्यापार और काव्यार्थ की अलौकिकता का एकमात्र कारण प्रतिभा को निरूपित किया है क्योंकि प्रतिभा ही ध्वनन अथवा व्यंजना व्यापार का भी प्राण है। अभिनवगुप्त ने 'प्रतिपतृप्रतिभा सहकारित्वं हि अस्यामिः ध्वननस्य प्राणत्वेन उक्तं' द्वारा यही बात कही है। प्रतिभा का क्षेत्र कवि और भावक पर्यन्त व्याप्त है। कारयित्री प्रतिभा के कारण काव्यकार लौकिक पदार्थों को परम उज्ज्वल बनाकर काव्यरसिकों के सम्मुख प्रस्तुत करते हैं और काव्य-रसिक अपनी भावयित्री प्रतिभा द्वारा उनका उद्‌भावन करते हैं जिससे रसास्वाद की क्रिया सम्पन्न होती है। दोनों प्रकार की प्रतिभाओं में नवनवोन्मेषशालिनी प्रज्ञा के तत्त्वकण सन्निहित रहते हैं। ध्वनिवादियों को प्रतिभा की शक्ति पर इतना अधिक विश्वास है कि वे 'कवित्व बीजम् प्रतिभानम्' सिद्धांत द्वारा प्रतिभा के अभाव में श्रेष्ठ काव्य की रचना की कल्पना भी नहीं कर पाते। उनके शब्दों में प्रतिभा के बिना न तो लौकिक अर्थ में काव्यार्थत्व आ सकता है और न लोकजनश्लाघ्य सफलता ही मिल पाती है। इसी बात को ध्यान में रखते हुए आचार्यों ने स्पष्ट लिखा है—'यां बिना काव्यं प्रसरेत्, प्रसृतं वा उपहसनीयं स्यात् इति।' प्रतिभा की दीप्ति ही प्रत्येक लौकिक वस्तु को आस्वाद्य बना सकती है। उसी के स्पर्श से शोक जैसे उद्वेगकर भाव भी रति के समान आस्वाद्य और आनंदमय बन जाते हैं और बीभत्स जैसे रस भी आस्वाद्य बनकर रसपदवी को प्राप्त करते हैं। आचार्यों ने कवि-सृष्टि का जो अलौकिकत्व व्यक्त किया है वह यथेष्ट मात्रा में कवित्वबीज प्रतिभा का ही परिणाम है क्योंकि उसी के कारण वह नियतिकृत नियमों से रहित, अनन्य परतंत्र तथा ह्लादकैमयी बनती है।

ध्वनि-मार्ग का रहस्य

ध्वनि मार्ग अत्यंत रहस्यपूर्ण और आह्लादजनक है। उसका अनुगमन करने से कवियों की प्रतिभाशक्ति आनन्त्य को प्राप्त करती है।[1] उसका फल कवि की प्रतिभा को नवत्व प्रदान करना है।[2] ज्ञान और प्रतिभा दोनों कविनिष्ठ धर्म हैं। उन्हीं का आश्रय लेकर उच्चतम कलाकार प्राचीन विषयों और अभिव्यंजन-शैलियों में नव्य चमत्कार उत्पन्न करने में सफल होते हैं। ध्वनि का ही मुख्यतम और प्रधान भेद रसध्वनि है जिसका विवेचन यथास्थान कर दिया गया है। उसका क्षेत्र अनंत है और उसमें रस के अतिरिक्त रसाभास, भाव, भावाभास, भावोदय, भावशांति और भावशबलता आदि

---

१. ध्वन्यालोक, भाष्यकार आचार्य विश्वेश्वर, चतुर्थ उद्योत, प्रथम कारिका, पृ० ३३६।

२. वही, पृ० ३३६।

अनेकानेक विषय आते हैं जिनका विश्लेषण विभावानुभावों की दृष्टि से करने पर उसके अनंत रूप हो जाते हैं। रसादि का आश्रय लेकर प्राचीन और नवीन कवियों ने जो वाग्विस्तार किया है उसमें जगत् और जीवन की असंख्य चित्र-छवियां अंकित हैं जिनकी ध्वन्यात्मकता अपूर्व और अलौकिक है। महाकवि शालिवाहन ने एक गाथा द्वारा यह तथ्य निरूपित किया है कि 'कवियों की वाणी अपनी विकट गोचरता और उत्कृष्ट भंगिमा द्वारा अव्यवस्थित भावों को भी सुव्यवस्थित रूप में स्थित कर ऐसे अर्थ विशेषों को प्रकट करती है जो लोकोत्तर आनंद से अनुप्राणित कहे जा सकते हैं।'[1] उन्होंने बतलाया है कि रस और भावादि के आश्रय से काव्य के अर्थों को अनंत रूप प्राप्त होते हैं। इस विषय में ध्वनिकार ने उचित ही कहा है कि काव्य में रस का परिग्रहण कर पूर्वदृष्ट अर्थ भी उसी प्रकार नवीनता धारण कर लेते हैं जिस प्रकार वसंत ऋतु के आगमन पर वृक्षसमूह नवीन रूप में पल्लवित और पुष्पित होकर अपूर्व शोभा प्राप्त करते हैं।[2] इस बात को स्पष्ट करने के लिए ध्वनिकार ने ऐसे अनेक उदाहरण दिये हैं जिनसे इस बात का बोध हो जाता है कि किसी भी काव्य में विवक्षितान्यपरवाच्य ध्वनि के शब्द शम्त्युद्भव रूप संलक्ष्य क्रम व्यंग्यभेद के आश्रय से किस प्रकार नवीनता की प्रतीति होती है। यह नवीनता शब्द शम्त्युद्भव अलंकार ध्वनि, अर्थशम्त्युद्भव संलक्ष्यक्रमव्यंग्य तथा कवि प्रौढोक्ति सिद्ध रूप से भी आती है। ध्वनिकार का मत है कि जैसे ध्वनि के व्यंग्यभेद के आश्रय से काव्यार्थों में अभिनय चारुता का उन्मेष होता है उसी प्रकार व्यंजकभेद के आश्रय से भी उसकी प्रतीति में रमणीयता का संचार हो सकता है। उन्होंने सत्कवियों को इस बात का परामर्श दिया है कि वे व्यंग्यव्यंजकभाव के अनेक प्रकारों की संभावना से परिचित होते हुए भी केवल रसादिमय भेद की ही ओर विशेष ध्यान दें।[3]

'ध्वनि' तत्त्व का महत्त्व सर्वोपरि है

ध्वनिकार ने ध्वनि के भेदापभेदों का विस्तृत विवेचन करने के पश्चात् अंत में यह निर्णय किया है कि उनके अवांतर प्रकारों की गणना की ही नहीं जा सकती। ध्वनि के विभिन्न रूपों का अवबोध न केवल काव्यमीमांसकों के लिए ही वांछनीय है अपितु काव्य-निर्माताओं के लिए भी उनकी उपयोगिता कम नहीं है। ध्वनि-निरूपण में निपुण सत्कवि तथा सहृदय ही निश्चय ही काव्य के विषय में प्रकर्षपदवी प्राप्त कर सकते हैं। ध्वनितत्त्व के अनुशीलन के पश्चात् रीतियों और वृत्तियों का महत्त्व हीनतर हो जाता है। ध्वनिकार का मत है कि वामन आदि आचार्यों ने ध्वनि-रहस्य को न समझ पाने के कारण ही रीति

---

१. उस गाथा की संस्कृत-छाया इस प्रकार है—
अतथास्थितानपि तथासंस्थितानिव हृदये या निवेशयति।
अर्थविशेषान् सा जयति विकटकविगोचरा वाणी॥

२. दृष्टपूर्वा अपि ह्यर्थाः काव्ये रसपरिग्रहात्।
सर्वे नवा इवाभांति मधुमास इव द्रुमाः।—ध्वन्यालोक ३।४।

३. व्यंग्य व्यंजक भावेऽस्मिन् विविधे संभव त्यणि।
रसादिमय एकस्मिन्कविः स्यादवधानवाम्॥—वही, ३।५।

तत्त्व का संस्थापन किया था। वस्तुतः ध्वनि-तत्त्व इतना अधिक व्यापक है कि उसके संघटना-विधान में वैदर्भी, गौड़ी और पांचाली आदि रीतियों का सहज ही अंतर्भाव किया जा सकता है। इस तत्त्व की प्रतीति के पश्चात् वृत्तियों की अनुपयोगिता भी स्पष्ट हो जाती है। भरतमुनि तथा उनके अनुवर्ती आचार्यों ने अर्थतत्त्व पर आश्रित कैशिकी आदि वृत्तियों का तथा भट्टोद्भट आदि विद्वानों ने शब्दतत्त्वाश्रित उपनागरिका आदि वृत्तियों का जो विवेचन किया है वे भी ध्वनि तत्त्व में अंतर्भूत हो सकती हैं। जो विद्वान् ध्वनि को अनाख्येय समझते हैं वे भ्रमग्रस्त हैं क्योंकि रत्न और काव्य दोनों ही विकल्पज्ञान के विषय हैं। यदि रत्नों के परीक्षक वैकटिक (जौहरी) होते हैं तो काव्य के रसज्ञ सहृदय। बौद्ध दर्शन के अनुसार भले ही समस्त पदार्थों का अलक्षणीयत्व मान लिया जाय किंतु जिस क्षणभंगवाद पर वह सिद्धांत प्रतिष्ठित है वह स्वतः ही दोषपूर्ण है। यह एक विचित्र बात है कि बौद्ध विद्वान् समस्त पदार्थों को क्षणिक और अलक्षणीय मानते हुए भी प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों के लक्षण निर्धारित करते हैं तो फिर ध्वनि-तत्त्व में आस्था रखने वाले विद्वान् उसका लक्षण निर्धारण क्यों नहीं कर सकते ? ध्वनि-समर्थक विद्वानों का मत है कि रससिद्ध अथवा परिपक्व कवियों के लिए तो ध्वनि ही एकमात्र काव्य है। ध्वनि-काव्य की श्रेष्ठता का एक कारण यह भी है कि 'उसमें यदि रस अथवा भाव तात्पर्य (प्रधान) रूप से प्रकाशित होते हैं तो वस्तु या अलंकार स कामिनीकुचकलशवत् गोप्यमान (संवृत्त) रूप से। उन सब रूपों में व्यंग्य का प्राधान्य होने के कारण ही सौन्दर्यातिशय्य होता है अतः सहृदयजन विषयिभूत तीनों प्रकार की ध्वनि (वस्तु, अलंकार तथा रस) को ही काव्यात्मतत्त्व मानते हैं। आनंदवर्धन ने ध्वनितत्त्व को कल्पतरु रूप माना है जो अक्लिष्ट (प्रसादपूर्ण) रस के आश्रय से समुचित गुणों और अलंकारों की शोभा से युक्त तथा सहृदयजनों को मनोवांछित प्रदान करने वाला है। उनके विवेचन से यह तथ्य भी ध्वनित होता है कि उत्तम काव्य के तत्त्वरूप ध्वनि-सिद्धांत की भावना परिपक्व बुद्धि वाले सहृदयों के मन में चिरकाल से प्रसुप्तवत् विद्यमान थी जिसका प्रकाशन करने का श्रेय उन्हीं को (आनंदवर्धन को) ही है।[1]

अनुमान-सिद्धान्त

काव्य के स्वरूप-विधायक तत्वों के सन्दर्भ में विवेचित ध्वनि-तत्त्व की निविवृत्ति के संदर्भ में 'अनुमान'-सिद्धांत का विश्लेषण करना विशेष रूप से आवश्यक और महत्त्वपूर्ण है क्योंकि उसके प्रबल पोषक आचार्य राजानक महिमभट्ट (ग्यारहवीं शताब्दी) ने सम्पूर्ण प्रकार की ध्वनियों का अंतर्भाव 'अनुमान' में प्रकाशित करने के प्रयोजन से 'व्यक्तिविवेक नामक ग्रंथ की रचना की है।[2] उनका 'अनुमान' पद अत्यंत व्यापक है क्योंकि उसके अंतर्गत 'प्रतिज्ञा', 'हेतु', 'उदाहरण', 'उपनय' और 'निगमन' नामक पांच अवयवों से युक्त

१. ध्वन्यालोक, भाष्यकार आचार्य विश्वेश्वर' चतुर्थ उद्योत, पृ० ३६४।

२. अनुमानेऽन्तर्भावं सर्वस्यैव ध्वनेः प्रकाशयितुम्।
व्यक्ति विवेकं कुरुते प्रणम्य महिमा परां वाचम।।—व्यक्तिविवेक, १।१।

वाक्य द्वारा होने वाले 'परार्थ' अनुमान के साथ-साथ 'अनुमानहेतु', 'अनुमानव्यापार-रूप परामर्श' 'तथो अनुमितिरूप प्रभा' भी समाविष्ट हो जाते हैं। महिमभट्ट ने उनमें क्रमशः व्यंजक, व्यंजना और व्यंग्य का अंतर्भाव प्रदर्शित कर यह तथ्य निरूपित किया है कि ध्वनि-सिद्धांत के प्रतिष्ठापकों ने ध्वनि-भेदों की गणना करते हुए उनकी कल्पना चौंतीस करोड़, छः लाख, तेईस हज़ार और नौ सौ तक की संख्या से परे जिस परार्ध पर्यन्त की है वह सब 'अनुमान' के अंतर्गत समाहित है। आनंदवर्धन ने ध्वनि-लक्षण के निरूपण के प्रसंग में शब्द, अर्थ, व्यंजना, व्यंग्य और उनसे युक्त काव्य नामक जिन पांच अर्थों में 'ध्वनि' शब्द का उपयोग किया था उन सबका समावेश 'अनुमान' पद में करते हुए महिमभट्ट ने लिखा है कि ध्वनि भी तत्त्वतः अनुमानरूप ही है क्योंकि 'व्यक्ति' अर्थात् व्यंजना के 'विवेक' का मूल प्रयोजन यही है कि वह अपने सजातीय (समान) तत्त्वों से पृथक् नहीं रह सकती अर्थात् अनुमान का व्यंजना से पार्थक्य संभव नहीं है। इसमें कोई संदेह नहीं कि महिमभट्ट के समय में ध्वनि-सम्प्रदाय का विजयघोष सर्वत्र हो चुका था किंतु उन्होंने अपनी स्वतंत्र चेतना से उसे चुनौती देने का साहस अवश्य किया। इस विषय में उनका वह मत उल्लेखनीय है जिसमें उन्होंने बतलाया है कि 'संसार में ऐसी कोई वस्तु नहीं जो सर्वजनग्राह्य और सर्वमनोहर हो।' अपने मत को उदाहृत करते हुए उन्होंने लिखा है कि 'जगत्प्रदीप सूर्य के उदय होने पर सूर्यकांतमणि आदि पदार्थ प्रज्वलित हो जाते हैं, कमल आदि विकसित होते हैं और उलूक तथा कुमुद आदि निमीलित हो जाते हैं उसी प्रकार उनके 'व्यक्तिविवेक' की प्रतिक्रिया भी भिन्न-भिन्न व्यक्तियों में भिन्न-भिन्न रूप में प्रदर्शित हो सकती है।'[1] महिमभट्ट का यह कथन उनकी गर्वोक्ति के रूप में ही ग्रहण किया जा सकता है। इसका यह अभिप्राय नहीं कि उनके मन में ध्वनिकार के प्रति आस्था का नितांत अभाव था। वस्तुतः वे अपने व्यक्तिविवेक का एक प्रयोजन यह भी मानते थे कि उसके द्वारा ध्वनिकार का वचोविवेचन जगत् में सर्वतोभावेन यशस्कर ही होगा क्योंकि महज्जनों का विप्रतिपत्तिमय संस्तव भी उनके गौरव के लिए ही होता है।[2] यों तो व्यक्तिविवेक का मुख्य प्रयोजन ध्वनिकार आनंदवर्धन के अभिमत का ही स्वबुद्ध्या विमर्श करना है किंतु उसके क्षेत्र में अभिनवगुप्त आदि आचार्य भी व्याख्यात और विवेचित हुए हैं। महिमभट्ट के पूर्व आचार्य भट्टनायक ने 'हृदयदर्पण' अथवा 'सहृदयदर्पण' नामक एक ध्वनिविरोधी ग्रंथ लिखा था जिसके आकलन का सौभाग्य महिमभट्ट को नहीं मिला, अन्यथा उनका विवेचन और भी अधिक प्रौढ़ और तुलनात्मक बन सकता था। वस्तुतः ध्वनिपथ की गहनता से महिमभट्ट सुपरिचित थे और वे यह भी जानते थे कि उसमें पद-पद पर वाणी का स्खलन संभव है, किंतु वे तद्विषयक विमर्श की उपयोगिता से भी अपरिचित नहीं थे। उनका तो स्पष्ट कहना था कि जब तक ध्वनि-सिद्धांत का परिपवन वत् (शूर्पवत्) विवेक नहीं किया जाता तब तक उसके गुण-दोषों

---

१. युक्तोऽयमात्मसदृशान् प्रति मे प्रयत्नो नास्त्येक तज्जगति सर्वमनोहरं यत्।
केचिज्ज्वलंति विकसंत्यपरे निमीलन्त्यन्ये यदभ्युदयभाजि जगत्प्रदीपम्॥—व्यक्तिविवेक १।२।

२. व्यक्ति विवेक १।३।

की सम्यक् परीक्षा नहीं हो सकती।[1] महिमभट्ट को अपनी इस प्रतिज्ञा के निर्वाह के लिए दुष्कर प्रयत्न करना पड़ा है जिसका एक कारण यह भी है कि उनके सम्मुख 'ध्वन्यालोक' की कोई प्रामाणिक टीका विद्यमान न थी, यद्यपि विद्वद्वर्ग में यह जनश्रुति परम्परा से अवश्य प्रख्यात थी कि 'ध्वन्यालोक' पर किसी अज्ञातनामा विद्वान् ने 'चन्द्रिका' नामक एक टीका लिखी है जिसका उल्लेख आचार्य अभिनवगुप्त के 'लोचन' में भी अनेक स्थलों पर हुआ है। यदि वह टीका आचार्य महिमभट्ट को उपलब्ध हो जाती तो उनका विवेचन और अधिक प्रमाण-पुष्ट और गुरुगम्भीर हो सकता था। कुछ भी हो, महिमभट्ट का 'व्यक्ति-विवेक' उस युग की काव्यशास्त्रीय परम्परा में एक ऐसा महत्त्वपूर्ण ग्रंथ है जिसका अध्ययन किये बिना ध्वनि-सिद्धांत का परिशीलन करना एकांगी ही कहा जायगा।

'व्यक्तिविवेक' की विवेचन-पद्धति और ध्वनिकारिका का स्पष्टीकरण

आचार्य महिमभट्ट ने अपना 'व्यक्तिविवेक' प्रस्तुत करते समय उस परम्परागत शास्त्र पद्धति का अनुगमन किया है जिसमें प्रथमतः पूर्वपक्ष की मान्यताओं की स्थापना कर तदुपरांत उत्तरपक्ष के रूप में उनका खंडन किया जाता है। ध्वनिकार ने 'ध्वनि' का लक्षण निर्धारित करते हुए लिखा था कि जहाँ अर्थ स्वयम् को तथा शब्द अपने अर्थ को अप्रधान बनाकर उस (प्रतीयमान) अर्थ को (व्यंजना द्वारा) व्यक्त करते हैं वह 'काव्य-विशेष' व्याकरणशास्त्रियों द्वारा समाहत तथा आलंकारिकों द्वारा प्रतिपादित 'ध्वनि' पद से अभिहित किया जाता है।[2] ध्वनिकार का यह लक्षण विविध विद्वानों द्वारा विभिन्न रूपों में विवेचित किया गया गया है। उक्त लक्षण में 'उपसर्जनीकृतस्वार्थौ' पद प्रथमतः विचारणीय है। इस पद में कर्मधारयघटित द्वन्द्व समास है जिसका विग्रह—'स्वं च अर्थश्चेति स्वार्थौ। उपसर्जनीकृतौ च तौ स्वार्थौ उपसर्जनीकृत-स्वार्थौ' किया जा सकता है। सिद्धांत-शिरोमणि आचार्य विश्वेश्वर ने इस पद में बहुव्रीहि समास मानते हुए उसका विग्रह इस प्रकार किया है—'स्वश्च अर्थश्च तौ स्वार्थौ। तौ गुणीकृतौ याभ्यां यथासंख्येन स अर्थो गुणात्मा, शब्दश्च गुणीकृताभिधेयः।' यह विग्रह अधिक ग्राह्य नहीं है क्योंकि उक्त पद में बहुव्रीहि समास मानने पर उसका यह विग्रह अधिक समीचीन प्रतीत होता है—'स्वं च अर्थश्च तौ स्वार्थौ, तो उपसर्जनीकृतो यथासंख्यं यथासंख्येन वा याभ्यां तौ उपसर्जनीकृतस्वार्थौ, तत्र अर्थ उपसर्जनीकृतस्वः, शब्द उपसर्जनीकृतार्थः।' इस विग्रह के अनुसार 'उपसर्जनीकृत-स्वार्थ' पद अर्थ और शब्द दोनों में खण्डशः समन्वित होता है। उसका एक खंड है 'उपसर्जनीकृतस्वः' और दूसरा खंड है 'उपसर्जनीकृतार्थः। पहला खंड 'अर्थ' का विशेषण है और दूसरा खंड 'शब्द' का। अर्थ पक्ष में उसका अभिप्राय है 'जिसने अपने आपको उपसर्जन या अप्रधान बना लिया है' तथा शब्द पक्ष में उसका आशय है जिसने अपने अर्थ को उपसर्जन या अप्रधान बना लिया है।

---

१. व्यक्ति विवेक, १।५-६।

२. यत्रार्थः शब्दो वा तमर्थमुपसर्जनीकृत स्वार्थौ।
व्यंक्तः काव्यविशेषः सध्वनिरिति सूरिभिः कथितः ॥—ध्वन्यालोक

आनंदवर्धन ने ध्वनिकारिका में जिस 'तमर्थं' पद का प्रयोग किया है उसका आशय 'प्रतीयमान' अर्थ से है। इसका एक आधार यह भी है कि उन्होंने एतद्पूर्व वाच्यार्थातिरिक्त प्रतीयमान नामक अर्थ की स्थापना करते हुए जिस प्रतीयमान अर्थ का उल्लेख किया है वही सहृदयश्लाघ्य काव्य का आत्मतत्त्व है।[1] उसी अर्थ को शब्द तथा अर्थ द्वारा व्यक्त करते रहने से महाकवित्व की प्रसूति होती है।[2] वस्तुतः प्रतीयमान अर्थ की व्यंजना ही ध्वनि-काव्य का असाधारण धर्म है और यही ध्वनिकार का प्रतिपाद्य प्रयोजन है।

ध्वनि-लक्षण में प्रयुक्त 'व्यंक्त' शब्द भी अत्यन्त गूढ़ और महत्त्वपूर्ण पद है। काव्यप्रकाशकार मम्मट ने भी रस-निरूपण के प्रसंग में 'व्यक्त' शब्द का प्रयोग कर उसका अभिप्राय स्पष्ट करने का प्रयत्न किया था। व्यंक्त और 'व्यक्त' पदों का मूल अभिप्राय निरूपित करते हुए पंडितराज जगन्नाथ ने 'व्यक्त' का अर्थ 'व्यक्तिविषयीकृत' तथा व्यक्ति का अर्थ 'व्यक्तिश्च भग्नावरणाचित्' किया है। चैतन्यरूप इस व्यक्ति की शक्ति भी व्यक्ति शब्द से अभिहित की जा सकती है। रुय्यक ने व्यक्तिविवेक का अर्थ स्पष्ट करते हुए 'व्यक्ति' को व्यंजना कहा है। यही व्यंजना उस 'व्यक्तिचेतना' या 'आत्मा' की शक्ति है। उच्चस्तर पर यही शक्ति ब्रह्म की माया सांख्य के पुरुष की 'प्रकृति' एवं प्रत्यभिज्ञा-दर्शन के परम शिव की 'प्रतिभा' है। उसे व्याकरणों की 'परावाणी' भी कहा जा सकता है। आनंदवर्धन ने ध्वनि-कारिका में जिस 'व्यंक्त' पद का प्रयोग किया है उसका विधेय 'व्यंजना-वृत्ति' है। यद्यपि आनंदवर्धन ने इस कारिका के पूर्व प्रतीयमान अर्थ की स्थापना अवश्य कर दी थी, किंतु उसके बोधक व्यापार का अभीष्ट स्पष्टीकरण उनके द्वारा नहीं किया गया था। ध्वनि-विरोधियों ने व्यंजनावृत्ति का खंडन करने के लिए उसी को आधार बनाकर अपने तर्क प्रस्तुत किये। इन सबका विवेचन यथा स्थान किया जायगा। यहाँ तो हमारे कथन का प्रमुख प्रयोजन इतना ही है कि 'ध्वनि' शब्द अत्यन्त व्यापक है और उसे व्यंजना के सम्पूर्ण परिवार का समष्टि-वाचक शब्द कहा जा सकता है क्योंकि व्यंजना के ही विभूतिमय रूप का काम ध्वनि है। आचार्य अभिनवगुप्त ने भी ध्वनि-कारिका में प्रयुक्त 'सः' शब्द की व्याख्या करते हुए उसके अंतर्गत व्यंजना के सम्पूर्ण परिवार का स्पष्ट उल्लेख किया है—

'स इतिः अर्थो वा शब्दो वा, व्यापारो वा। अर्थोऽपि वाच्यो वा ध्वनतीति, शब्दोऽप्येवम्। व्यंग्यो वा ध्वन्यत इति व्यापारो वा शब्दार्थयोर्ध्वननम् इति। कारिकया तु प्राधान्येन समुदाय एवं काव्यरूपो मुख्यतया ध्वनिरिति प्रतिपादितम्।'

अभिनवगुप्तकृत उपर्युक्त भाष्य से 'वह ध्वनि है' का सहज ही स्पष्टीकरण हो जाता है। उनका अभिमत है कि वह 'पद', 'अर्थ', 'शब्द' और 'व्यापार' संज्ञाओं का अभिव्यंजक है। 'अर्थ' के दो प्रकार हैं—वाच्य और व्यंग्य। अतः वाच्य और

---

१. योऽर्थः सहृदयश्लाघ्यः काव्यात्मेति व्यवस्थितः।
वाच्यप्रतीयमानाख्यौ तस्य भेद.वुभौ स्मृतौ ॥

२. सोऽर्थः तद्व्यक्तिसामर्थ्य योगी शब्दश्च कश्चन।
यत्नतः प्रत्यभिज्ञेयो तो शब्दार्थौ महाकवेः ॥

व्यंग्य इन दोनों अर्थों में ध्वनि हो सकती है। शब्द और दोनों प्रकार के अर्थ (वाच्य और व्यंग्य) ये तीनों बिना किसी व्यापार के प्रतीयमान अर्थ का बोध नहीं करा सकते अतः 'व्यापार' भी 'ध्वनन' अर्थ में ध्वनि हो सकता है और अंततः जिस काव्य-भूमिका पर इन चारों का समन्वय होता है उसे भी ध्वनि कहा जा सकता है। ध्वनि शब्द के ये सभी अर्थ व्याकरणशास्त्र की व्युत्पत्ति द्वारा भी सिद्ध किये जा सकते हैं। कर्तृ व्युत्पत्ति से 'ध्वनतीति ध्वनिः' द्वारा 'शब्दार्थ और वाच्यार्थ, 'ध्वन्यत इति' इस भावव्युत्पत्ति द्वारा 'व्यंग्यार्थ', 'ध्वन्यतेऽनेन इति' करणव्युत्पत्ति द्वारा 'व्यापार' और 'ध्वन्यतेऽस्मिन् इति' 'व्युत्पत्ति द्वारा 'काव्य', इस प्रकार इन सबमें केवल एक ध्वनिशब्द अन्वर्थसिद्ध होता है। आचार्य महिमभट्ट ने शब्द, अर्थ, व्यापार, व्यंग्य और काव्य के साथ ध्वनि का संयोजन स्वीकार कर उसके सम्पूर्ण प्रकारों का अंतर्भाव 'अनुमान' में सिद्ध करने का प्रयास किया है। उनके दृष्टिकोण का विवेचन करने के पश्चात् ही यह निर्णय किया जा सकता है कि उनकी मान्यता कहाँ तक तर्कसंगत और स्वीकार्य है।

'अनुमान' में ध्वनि के लक्षण का अंतर्भाव

महिमभट्ट का अभिमत है कि ध्वनिकार ने ध्वनि का जो लक्षण निरूपित किया है वह प्रसिद्ध प्रमाणों की दृष्टि से अनुमान में ही अन्वित हो जाता है। वस्तुतः अनुमान के अतिरिक्त किसी अन्य पदार्थ या प्रमाण को आधार मानकर उस लक्षण का अन्वय करने की कोई आवश्यकता नहीं रहती। अपने मत की सिद्धि के लिए आचार्य महिमभट्ट ने ध्वनि लक्षण निर्देशक कारिका के शब्दों में दोष प्रदर्शित कर अपनी मान्यता के अनुरूप पृष्ठभूमि प्रस्तुत की है। उन्होंने अनुमान में ध्वनि का अंतर्भाव सिद्ध करने के लिए अनेक प्रकार के तर्क प्रस्तुत किये हैं। ध्वनिकार ने जिन शब्दों में ध्वनि का लक्षण निर्दिष्ट किया था, उनकी पदावली में दोष दिखलाते हुए महिमभट्ट ने लिखा है कि ध्वनिकार ने अपनी ध्वनिकारिका में अर्थ का 'उपसर्जनीकृतात्मत्व' नामक जो विशेषण दिया है वह सर्वथा अनुपादेय है क्योंकि जो अर्थ दूसरे प्रतीयमान अर्थ की प्रतीति के लिए गृहीत रहता है उसमें दूसरे अर्थ के प्रति उपसर्जनीकृतात्मकता का सद्भाव तो स्वतः ही रहता है अतः उसके लिए उक्त विशेषण का उल्लेख व्यर्थ है। इस कथन का स्पष्टीकरण करते हुए उन्होंने लिखा है कि जिस प्रकार अग्न्यादि की सिद्धि के लिए गृहीत धूम आदि अर्थ अपनी गुणक्यता नहीं छोड़ते अपितु गुणस्वरूपभूता अपनी असाधारण विशेषता प्रकट करते हैं उसी प्रकार वाच्यार्थ में भी अर्थान्तर के द्योतन के प्रति उपसर्जनीकृतात्मता का अभाव अथवा व्यभिचार नहीं रहता। इसको अधिक स्पष्ट करने के लिए यह कहा जा सकता है कि जिस प्रकार अग्नि को उष्ण कहना व्यर्थ है क्योंकि उष्णता उसका असाधारण धर्म है तथा इसी प्रकार उसको शीत कहना भी गुण-विरुद्ध है क्योंकि उसमें शैल्य का अभाव स्वतः रहता है, उसी प्रकार काव्य का वाच्यार्थ जिस प्रतीयमान अर्थ के लिए ग्राह्य समझा जाता है वह प्रतीयमान अर्थ नियमतः प्रधान होता है और वाच्यार्थ नियमतः अप्रधान, अतः उसके लिए अप्रधानवाचक 'उपसर्जन' शब्द के प्रयोग की कोई आवश्यकता नहीं है। इस विषय में उनका आचार्य आनंदवर्धन से स्पष्ट विरोध है, क्योंकि आनदवर्धन ने ध्वनि

के अतिरिक्त गुणीभूतव्यंग्य को भी काव्य का एक भेद माना था जिसमें वाच्यार्थ की अपेक्षा व्यंग्यार्थ गौण रहता है जबकि व्यक्तिविवेककार को काव्य का गुणीभूत व्यंग्य नामक भेद स्वीकार नहीं है जिसे दृष्टिकोण में रखकर वे 'उपसर्जनीकृत' विशेषण की व्यर्थता सिद्ध करते हैं। हमारी समझ में इस विषय में ध्वनिकार का मत अधिक स्पष्ट है, क्योंकि काव्य का एक प्रकार वह भी होता है जिसमें वाच्यार्थ की प्रधानता और व्यंग्यार्थ की गौणता रहती है। चूंकि ध्वनि में वाच्यार्थ की गौणता और व्यंग्यार्थ की प्रधानता होती है, अतः गुणीभूतव्यंग्य की व्यावृत्ति के लिए भी ध्वनिकार ने 'उपसर्जनीकृतात्मत्व' विशेषण अपनाया है। महिमभट्ट गुणीभूतव्यंग्य नामक काव्य की सत्ता ही स्वीकार नहीं करते अतः वे उक्त विशेषण की निरर्थकता सिद्ध करते हैं। तत्त्वदृष्टि से देखा जाय तो इस विषय में ध्वनिकार का मत महिमभट्ट की अपेक्षा अधिक ग्राह्य और व्यावहारिक है।

महिमभट्ट का 'शब्द' के प्रति दृष्टिकोण

महिमभट्ट ने ध्वनि-लक्षण में प्रयुक्त 'शब्द' पद का खण्डन करते हुए लिखा है कि 'शब्द' की सर्वात्मना उपादेय नहीं है क्योंकि उसका अपने अर्थ के अभिधान (अभिधावृत्ति से कथन) के अतिरिक्त अन्य कोई व्यापार नहीं होता।[1] उनके कथन का आशय यह है कि शब्द में लक्षणा और व्यंजना न होकर केवल अभिधा ही होती है जिसके द्वारा शक्यार्थ का बोध होता है। महिमभट्ट का कथन है कि काव्य में प्रतीयमान अर्थ के लिए शब्द की कोई उपयोगिता नहीं होती, अतः ध्वनिलक्षण में उसका उपादान आवश्यक नहीं है। उनका मत है कि शब्द जो उपसर्जनीकृतार्थत्व है वह भी अनुकरण के अतिरिक्त अन्यत्र कहीं पर भी सम्भव नहीं होता। वस्तुतः अर्थ का ज्ञान अनुकार्य शब्द से होता है न कि अनुकरण शब्द से, क्योंकि वह (अनुकरण शब्द) तो 'इति' द्वारा व्यवच्छिन्न होकर केवल अपने स्वरूपमात्र में ही समाप्त हो जाता है। महिमभट्ट ने 'शब्द' स्वरूप की अनुपादेयता निरूपित कर उसके विशेषण की भी अनुपादेयता सिद्ध की है। चूंकि अनुकरण में शब्द की प्रधानता रहती है अतः उपस्थित अर्थ भी अप्रधान ही होता है। अर्थ दो प्रकार का कहा जा सकता है— अनुकार्य शब्द रूप अर्थ तथा उससे प्रतिपादित व्यवहारयोग्य अर्थ। दोनों में प्रथम अनुकरण शब्द का अर्थ होता है। अनुकरण शब्द से व्यवहारयोग्य अर्थ की प्रतीति नहीं होती, तथापि जिस शब्द का अनुकरण किया जाता है वह अनुकार्य शब्द तो उसका ज्ञान करा ही सकता है। इसके अतिरिक्त एक बात यह भी है कि अनुकरण से भिन्न जो अन्य शब्द होता है उसके अर्थ का तो उपसर्जनीभाव का अव्यभिचार ही है, क्योंकि वह उसी अर्थ का ज्ञान कराने के लिए अपनाया जाता है। ऐसी स्थिति में यह कहना उचित नहीं है कि वह शब्द उसी अर्थ को अप्रधान बना देता है। इस कथन का स्पष्टीकरण इस उदाहरण द्वारा किया जा सकता है कि जिस प्रकार साधनभूत घट साध्य-

१. शब्दः पुनरनुपादेय एव। तस्य स्वार्थाभिधानमंतरेण व्यापारान्तरानुपपत्तेरूप-पादयिष्यमाणत्वात्।
—व्यक्तिविवेक, प्रथम विमर्श, चौखम्बा प्रकाशन, पृ० १६।

भूत जल की अपेक्षा प्रधान नहीं कहा जा सकता वैसे ही साधनभूत शब्द साध्यभूत अपने अर्थ की अपेक्षा प्रधान नहीं कहा जा सकता। ऐसा न मानने पर प्रधान-अप्रधान भाव की व्यवस्था ही उच्छिन्न हो सकती है। जब शब्द में अपने अर्थ के प्रति अप्रधानता रहती है तो उसमें उपसर्जनीकृत स्वार्थत्व विशेषण होना सम्भव नहीं है।[1]

अर्थ-निरूपण के प्रकार और उनकी विवेचना

महिमभट्ट ने 'अर्थ' पद का विमर्श करते हुए उसके दो प्रकार माने हैं—वाच्य और अनुमेय। वाच्यार्थ 'शब्द व्यापारविषय' होता है और उसे मुख्यार्थ भी कहा जाता है क्योंकि उसका तात्पर्य श्रुतिमात्र से ही प्रतीत हो जाता है। जिस अर्थ का तात्पर्य यत्नपूर्वक प्रतीत हो उसे अमुख्य अथवा गौण अर्थ कहते हैं।[2] यह गौण अथवा अमुख्य अर्थ ही महिमभट्ट का अनुमेय अर्थ है जिसकी प्रतीति में किसी न किसी प्रकार का हेतु अथवा अनुमिति ज्ञान अवश्य रहता है। अनुमेय अर्थ भी तीन प्रकार का होता है—वस्तुगत, अलंकारगत और रसादिगत। इनमें वस्तु और अलंकारगत अर्थ तो वाच्य भी हो सकते हैं किंतु रसादिगत अर्थ सदैव अनुमेय ही रहते हैं। जो 'अर्थ' पद से प्रतीत होता है वह अनुमेय न होकर वाच्य ही होता है क्योंकि उसमें अपने अवयवराहित्य के कारण साध्य-साधनभाव का अभाव रहता है। महिमभट्ट ने 'शब्द' में अभिधा के अतिरिक्त अन्य शब्द-शक्ति को महत्त्व न देते हुए अर्थ के केवल दो ही प्रकार (वाच्य और अनुमेय) माने हैं। उनके मतामुसार अर्थ का निर्णय या तो वृद्धव्यवहार से होता है या संकेतमात्र से। उनसे निर्णीत अर्थ नियमतः वाच्य होता है किंतु जब अर्थबोध में इनका प्रयोग न होकर अर्थ की शक्ति का प्रयोग किया जाता है तो वह अनुमेय हो जाता है। अनुमान का क्षेत्र अत्यन्त व्यापक है जिसमें लक्षणा का सहज ही अंतर्भाव किया जा सकता है। यों तो बौद्ध दार्शनिकों ने लक्षणा को शब्द का व्यापार न मानकर समुदाय रूप अर्थ का व्यापार माना है किंतु महिमभट्ट ने उसे अनुमानभुक्त मानना ही उचित समझा है क्योंकि अनुमान का क्षेत्र-विस्तार लक्षणा से भी कहीं अधिक है यहाँ तक कि व्यंजना को भी अनुमान रूपा ही कहा जा सकता है। यहां इस बात का उल्लेख करना आवश्यक है कि ध्वनिवादी आचार्यों ने वाच्य, लक्ष्य तथा व्यंग्य नामक तीन अर्थ भेद माने थे किंतु अनुमितिवादियों ने लक्ष्य और व्यंग्य नामक अर्थ भेदों को अनुमेय में अंतर्भुक्त कर केवल दो ही अर्थ (वाच्य और अनुमेय) स्वीकार किये। ध्वनिवादी आचार्य वस्तु अलंकार और रसादि ध्वनि के नाम से व्यंग्यार्थ के तीन भेद मानते हैं जिनका समाहार अनुमितिवादी आचार्य अनुमेयार्थ में ही करना समीचीन समझते हैं। ध्वनिवादियों ने वस्तु तथा अलंकार को वाच्यक्षम भी माना था किंतु रसादि को नित्य व्यंग्य, किंतु अनुमितिवादी उन सबको अनुमेय में ही समाविष्ट कर लेते हैं। अनुमेय अर्थ के लिए जिस साध्यसाधनभाव की

---

१. व्यक्तिविवेक, प्रथम विमर्श, पृ० १८-१९।

२ 'श्रुतिमात्रेण यत्रास्य तादर्थ्यमवसीयते।
तं मुख्यमर्थं मन्यन्ते गौणं यत्नोपपादितम्॥

३. 'लोको वेदस्तथाध्यात्मं प्रमाणं त्रिविधं स्मृतम।'

'अपेक्षा' निरूपित की गई है वह अविनाभावसंबंध के निश्चय से होती है तथा वह निश्चय प्रमाणों पर निर्भर है। प्रमाणों को विविध दृष्टियों से विवेचित किया गया है जिनमें एक पक्ष लोक, वेद तथा अध्यात्म (मानस प्रत्यक्ष) प्रमाणों का भी है। लोक प्रमाण का विषय लोक में प्रसिद्ध रहता है और उसमें कार्यकारणभाव तथा साध्यसाधनभाव की सत्ता अनिवार्यतः होती है। शास्त्रमात्र में प्रसिद्ध अर्थविषय वेद प्रमाण कहलाता है। इस प्रमाण में इतिहास, पुराण और धर्मशास्त्र आदि ग्रंथ भी उपलक्षित हैं क्योंकि वे सब वेदमूलक माने जाते हैं। अध्यात्मप्रमाण का विषय आध्यात्मिक होता है जिसे मानस-चक्षु-ज्ञेय भी कहा जा सकता है। साध्यसाधन भाव भी कई प्रकार का होता है जिनमें शाब्द और आर्थ नामक दो प्रकार मुख्य हैं। साध्यसाधन भाव को 'पदार्थ' तथा 'वाच्यार्थ' के नाम से दो प्रकार का माना गया है। पदार्थ के भी कई प्रकार से भेद किये जाते हैं जैसे—जाति, गुण, क्रिया तथा द्रव्य के विभाजन, धर्म और धर्मी के आधार पर धर्म के सामानाधिकरण्य तथा वैयाधिकरण्य की दृष्टि से विभाजन आदि। वाक्यार्थ का वैचित्र्य भी कई प्रकार का होता है जैसे क्रियाओं तथा कारकों का वैचित्र्य आदि। साध्यसाधनभाव का सम्बन्ध वाच्यार्थविषयक भी होता है तथा अनुमेयार्थविषयक भी। जिस प्रकार वाक्यार्थगत साध्यसाधनभाव में साध्य और साधन के ज्ञान का क्रम सहज रूप से प्रतीत हो जाता है उसी प्रकार वह क्रम वहाँ पर भी लक्षित हो जाता है जहाँ वस्तु-मात्र अथवा अलंकार अनुमेय होते हैं। हां, जहाँ रसाभावादि अनुमेय होते हैं वहाँ उसमें विद्यमान गम्यगमकभाव का क्रम सहसा नहीं प्रतीत होता, अतः दोनों की साथ-साथ प्रतीति होने के भ्रम से ध्वनिवादियों ने उनमें व्यंग्य व्यंजकभाव सम्बन्ध मान लिया है तथा उसी के आधार पर वे 'ध्वनि' व्यवहार करने लगे हैं। महिमभट्ट ऐसे आचार्यों के व्यंग्यव्यंजकभाव से सहमत नहीं हैं। उनका कथन है कि रसप्रतीति में क्रमिकता की जो सिद्धि होती है उसके आधार पर व्यंग्यव्यंजकभाव न मानकर गम्यगमकभाग मानना ही युक्तिसंगत है। उन्होंने रसानुमिति का निरूपण करते हुए इस तथ्य को विशेष रूप से स्पष्ट किया है। उनके द्वारा शब्द और अर्थ का साध्य-साधन भाव तो निरूपित हुआ ही है, साथ ही साथ वाच्यार्थ तथा अनुमेयार्थ विषयक साध्यसाधन भाव की भी सिद्धि की गई है। उन्होंने विभावादि के लक्षण निर्दिष्ट करते हुए कारणादि से उनका जो अंतर व्यक्त किया है, वह पठनीय है। उनकी वह प्रतिस्थापना अत्यन्त मौलिक है जिसमें उन्होंने काव्य की सीमा प्रतीतिमात्र पर्यन्त निर्धारित कर 'मणिप्रदीप प्रभा' के दृष्टांत द्वारा उसकी सिद्धि की है। भारतीय काव्यशास्त्र के क्षेत्र में उनकी यह देन उनकी प्रतिभा का ज्वलंत उदाहरण है।

'अनुमेय' अर्थ की चमत्कारजनकता

महिमभट्ट का मत है कि वाच्य अथवा अभिधेय अर्थ में उतना चमत्कार नहीं होता जितना अनभिधेय अथवा अनुमेय अर्थ में होता है। अनभिधेय अथवा अनुमेय संज्ञक अर्थ विध्यात्मक भी हो सकता है तथा निषेधात्मक भी। इन रूपों में यथाप्रसंग काकु अथवा अनुमान का आधार भी लिया जाता है। यों 'तो अभिधेय' अर्थ में भी विधि तथा

निषेधात्मकता रहती है किंतु जो अर्थगत चमत्कार उसकी अनुमिति द्वारा आता है, वह वाचक शब्द अथवा वाच्य द्वारा नहीं। महिमभट्ट ने अर्थ की अनुमेयता का समर्थन जिस रूप में किया है उसी रूप में ध्वनिकार ने भी अर्थ की व्यंजकता को गरिमा प्रदान की थी। इस विषय में ध्वनिकार का मत है कि 'अभिधा अथवा वाचक शब्द द्वारा जो अर्थ व्यक्त किया जाता है वह अर्थ यदि व्यंजना अथवा व्यंजक शब्दों द्वारा व्यक्त किया जाय तो उसमें असाधारण चमत्कार आ सकता है। महिमभट्ट इस विचार से सहमत नहीं हैं। उनका कहना है कि अनुमेय अर्थ ही रस अथवा चमत्कार का जनक है और वह चमत्कार वैसा ही है जैसे अंधकार में अवस्थित चित्र अथवा लिपि को प्रदीप द्वारा प्रकाशित करने पर उनमें उत्पन्न होता है। उन्होंने अनेक तर्कों के आधार पर अनुमेय अर्थ का मंडन तथा व्यंग्यार्थ का खंडन किया है। उनकी मान्यता के अनुसार 'ध्वनि' नाम से अभिहित तथा श्रूयमाण शब्दों में 'स्फोट' रूप से मान्य अर्थ के साथ व्यंग्यव्यंजकभाव संभव नहीं है, क्योंकि व्यंजकता के साम्य से शब्दार्थरूप काव्य में जो ध्वनि-व्यवहार किया जाता है वह इस दृष्टि से भी अनुपपन्न कहा जा सकता है कि उसमें कार्यकरणमूलक गम्यगमक भाव ही उपगम होता है।[1] अभिप्राय यह है कि महिमभट्ट के शब्दों में 'वाच्य और प्रतीयमान अर्थों की प्रतीति में एक विशेष क्रम रहता है जिनमें गम्यगमकभाव सम्बन्ध को ही स्वीकार करना सर्वथा समीचीन है। उस क्रम विशेष के कारण वाच्य और प्रतीयमान अर्थ का लिंगलिंगी भाव भी सिद्ध होता है अतः सभी प्रकार की ध्वनियों का अंतर्भाव अनुमान में सहजगत्या संभव है। अनुमान के क्षेत्र को ध्वनि की अपेक्षा अधिक व्यापक मानकर ही महिमभट्ट ने उसके अंतर्गत ध्वनिकार द्वारा ध्वनि से भिन्न रूप में प्रतिपादित पर्यायोक्त आदि गुणीभूत व्यंग्यों का समाहार कर दिया है।

अर्थों की व्यंग्यव्यंजकता का खंडन

महिमभट्ट ने ध्वनिवादियों द्वारा प्रतिपादित वाच्य और प्रतीयमान अर्थों के व्यंग्यव्यंजकभाव की तात्त्विकता का खंडन करते हुए लिखा है कि मुख्यवृत्ति से व्यक्ति अथवा व्यंजना का लक्षण ही उपपन्न नहीं होता।[2] उन्होंने साधारणतया अभिव्यक्ति को दो प्रकारों (सद्विषयक और असद्विषयक) में विभक्त कर सद्विषयक अभिव्यक्ति के तीन प्रकार माने हैं—(१) शक्ति रूप से स्थित वस्तु का व्यक्तिभाव जैसे दूध से दध्यादि का, (२) प्रतिबंधक के कारण प्रकाशित न होने वाले किसी आविर्भूत पदार्थ का किसी अप्रधान प्रकाशक द्वारा प्रकाश जैसे प्रदीप आदि द्वारा घट आदि का तथा (३) संस्कार रूप से स्थित किसी पूर्वानुभूत वस्तु का किसी उद्बोधक पदार्थ के कारण उद्बोधन अथवा स्मरण जैसे धूम से अग्नि का तथा आलेख्य (चित्र), पुस्तक (लिपि), प्रतिबिम्ब अनुकरण तथा शब्दादि के द्वारा गौ आदि का ज्ञान। अन्य प्रकारों की सम्भावना न होने के कारण असद्विषयक अभिव्यक्ति केवल एक ही प्रकार की मानी गई है जैसे सूर्य के

१. महिमभट्ट, व्यक्तिविवेक, प्रथमो विमर्श : (चौखम्बा प्रकाशन), पृ० ६१।
२. वही, पृ० ८०।

प्रकाश से इन्द्रधनुष आदि की अभिव्यक्ति। अभिव्यक्ति के इन प्रकारों में घटप्रदीप न्याय से निष्पन्न सद्विषयक अभिव्यक्ति ही ध्वनिकार को मान्य है। अभिव्यक्ति के शेष प्रकारों को उन्होंने कोई विशेष महत्त्व नहीं दिया है। महिमभट्ट को अभिव्यक्ति के इन सभी प्रकारों का सम्यक् ज्ञान था। उन्होंने उन समस्त प्रकारों को विचारपथ में रखते हुए 'व्यक्ति' अथवा व्यंजना का खंडन किया है। उनके मतानुसार व्यक्ति (व्यंजना) का लक्षण वाच्य में घटित नहीं होता, क्योंकि सत् पदार्थ की अभिव्यक्ति के पक्ष में दधि और घट रूप पदार्थों की अभिव्यक्ति के जो लक्षण दिये गये हैं वे प्रतीयमान पदार्थों में से किसी एक का भी स्पर्श नहीं करते। वाच्य से प्रतीयमान अर्थ की प्रतीति को यदि दुग्धादि से दध्यादि की परिणति के समान माना जाय तो उसमें इन्द्रिय-विषयत्व की प्रसक्ति का भय है क्योंकि जैसे दुग्ध से परिणत हुआ दधिक आँखों से देखा जाता है वैसे वाच्य से अभिव्यक्त हुआ प्रतीयमान अर्थ नहीं देखा जाता। यह दीपक से घट की प्रकाशमानता की भाँति अभिव्यक्ति को 'ज्ञप्ति' रूप माना जाय तो भी उचित नहीं है क्योंकि वाच्य और प्रतीयमान की प्रतीति में एक प्रकार का पौर्वापर्यक्रम रहता है जबकि दीपक से घट रूप की 'ज्ञप्ति' में इस प्रकार के क्रम का कोई स्थान ही नहीं है। अभिव्यक्ति का तृतीय लक्षण तो अनुमान में ही संगत हो जाता है 'व्यक्ति' में नहीं क्योंकि ऐसा कहा भी गया है कि त्रिरूप लिंग से अनुमेय विषयक जो ज्ञान है वही अनुमान है। जब एक पदार्थ से दूसरे पदार्थ की प्रतीति अनुमान के अतिरिक्त किसी अन्य तत्त्व से सिद्ध नहीं होती तो उपमान आदि का अन्तर्भाव भी उसी में हो जाता है। इस प्रकार महिमभट्ट के मतानुसार अभिव्यक्ति को कोई स्वतंत्र शक्ति नहीं है क्योंकि उसका अन्तर्भाव अनुमिति में सहज सम्भव है।[1]

महिमभट्ट की मान्यता है कि वाच्यार्थ से जो अर्थान्तर की प्रतीति होती वह अविनाभाव सम्बन्ध के व्याप्तिस्मरण के बिना सम्भव ही नहीं है। उन्होंने वाच्य तथा प्रतीयमान अर्थों की प्रतीति का पूर्वापरभाव निरूपित कर उसे धूम और अग्नि की प्रतीति के समान क्रमभाव में विवेचित किया है जिसका अभिप्राय यह है कि उसमें व्यंजना के लिए अभीष्ट 'सहभाव' की प्रतीति नहीं होती। यदि वाच्य से प्रतीयमान की 'अभिव्यक्ति' मानी जाय तो उसके लक्षण में असम्भव दोष आता है क्योंकि वहाँ किसी भी प्रकार की 'अभिव्यक्ति' का लक्षण घटित नहीं होता। वाच्य और प्रतीयमान की प्रतीति को रसादि की अपेक्षा से 'सहभाव' रूप में प्रकाशित मानने पर वहाँ अव्याप्ति दोष की सम्भावना हो जाती है, क्योंकि उस स्थिति में यह प्रश्न आ जाता है कि वस्तु और अलंकार की अभिव्यक्ति में सहभाव का रूप कहाँ तक सम्भव है? अनुमितिवादियों के अनुसार वाच्य और वाच्येता अर्थ की प्रतीति का स्थल पूर्वापर भाव से सम्बद्ध होने के कारण व्यंजना के लिए उसमें अवकाश नहीं है। इतना ही नहीं, जिस रस-ध्वनि में असंलक्ष्यक्रम व्यंग्य की बात कही जाती है, वह भी अनेक स्थलों पर संलक्षित क्रम से युक्त होती है अतः कार्यकारणभाव की स्थिति के कारण उसमें भी व्यक्ति (व्यंजना) का

1. व्यक्तिविवेक, पृ० ८१।

लक्षण संघटित नहीं होता। यदि कहीं यह लक्षण घटित भी होता है तो भी उसमें घट-प्रदीप जैसी लौकिक स्थिति नहीं रहती। जब काव्य को लौकिक पदार्थ से भिन्न माना जाता तो उक्त स्थिति में भी ध्वनि अथवा व्यंजना की सम्भावना नहीं की जा सकती। सारांश यह है कि अनुमितिवादियों की विचारधारा के अनुसार रस, वस्तु तथा अलंकार नामक तीनों प्रकार की ध्वनियों में 'सहभावेन प्रतीति' का सिद्धान्त घटित न होने के कारण उनका व्यंग्यव्यंजक भाव सिद्ध नहीं किया जा सकता।

प्रकाशक अर्थों के आधार पर 'व्यक्ति' वाद का विवेक

महिमभट्ट ने प्रकाशक अर्थ को द्विविध प्रकार का मानकर उसके आधार पर भी व्यक्ति (व्यंजना) वाद का खंडन किया है। प्रथम प्रकाशक 'उपाधिरूप' होता है जिसका स्पष्टीकरण ज्ञान, शब्द और प्रदीप द्वारा किया जा सकता है। प्रकाशक का द्वितीय प्रकार 'स्वतंत्र रूप' है जिसकी सिद्धि धूमादि के उदाहरणों द्वारा की जाती है। व्यंजनावादी आचार्य उपाधि रूप प्रकाशक को महत्त्व नहीं देते, क्योंकि ऐसा मानने पर काव्य की सीमा प्रत्यक्ष तथा अभिधेय तक ही सीमित हो जाती है। दूसरा प्रकाशक स्वतंत्र रूप है जो लिंग अथवा हेतु ही सिद्ध होता है न कि व्यंजक, अतः अनुमितिवाद के अनुसार उसमें भी 'व्यक्ति' (व्यंजना) का लक्षण घटित नहीं होता। इतना ही नहीं, अनुमितिवादी आचार्य तो ध्वनिवादियों की तर्क-शक्ति के बल पर भी अपना पक्ष-समर्थन करने का उपक्रम करते हैं। उनका कहना है कि व्यंग्यरूप से अभिमत तीनों प्रकार के अर्थ (रस, वस्तु और अलंकार) का प्रकाशक के साथ प्रकाश स्वयं ध्वनिकार को भी मान्य नहीं है, अतः उनके मत में भी रसादि की प्रतीति का एक क्रम होने से उनमें कार्यकारणभाव की शृंखला पायी जाती है जिससे स्पष्ट है कि वह भी मौन रूप से अपनी मान्यता के प्रति सुदृढ़ नहीं है। अनुमितिवादियों की यह प्रतिपत्ति एकांगी तथा अर्द्धसत्ययुक्त है क्योंकि उसमें तत्त्वसिद्धि का उतना प्रयत्न नहीं है जितना वाच्य और प्रतीयमान की प्रतीति को लेकर उनमें पूर्वापर क्रम को सिद्ध करते हुए उसके आधार पर व्यंग्यत्व को खंडित करने का दुराग्रह है। वस्तुतः अनुमितिवादियों का यह तर्क व्यक्तिवादियों की मूल भूमिका को भी स्पर्श नहीं कर पाता। अभिप्राय यह है कि महिमभट्ट आदि अनुमितिवादी आचार्य ध्वनिकार द्वारा ध्वनि-लक्षण में प्रयुक्त 'शब्द' तथा 'अर्थ' के उपसर्जनीकृतात्मत्व विशेषण तथा व्यंग्यपद से प्रतीत व्यंजना का खंडन करने के लिए 'अर्थ' शब्द के प्रयोग से उपस्थित होने वाले दोषों का ही उल्लेख करते चले हैं जो एकांगी-सा है। इस विषय में हमारा मंतव्य यह है कि जहाँ ध्वनिवादी आचार्यों ने अपनी मीमांसा में व्यंग्य, व्यंजक तथा व्यक्त शब्दों का प्रयोग किया है वहाँ अनुमितिवादी आचार्यों द्वारा उनके स्थान पर साध्य, साधक (हेतु) अनुमित शब्दों का प्रयोग किया गया। मूलतः दानों का लक्ष्य एक ही तत्त्व का अन्वेषण है, यद्यपि दोनों की विचार-पद्धति में पर्याप्त अन्तर है।

शब्द प्रयोग और अनुमेयार्थ-सिद्धि के विविध प्रमाण

महिमभट्ट के पास अनुमेय अर्थ की सिद्धि के अपने तर्क हैं। उन्होंने साध्यसाधन-भाव, लोकप्रमाणसिद्धि, अविनाभावसम्बन्ध, अनुमितानुमेय, आरोप्यारोपकभाव, अनुमाप्यानुमापकभाव, सामान्य-विशेष भाव, विशेषसामान्यभाव, कार्यकारणभाव और जन्यजनकभाव आदि हेतुओं का आधार लेकर अंत में यही सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि चाहे किसी भी रूप में अर्थ-प्रतीति विवेचित की जाय, किंतु उसका अंतर्भाव अनुमान में तो स्पष्ट रूप से किया ही जा सकता है। उनका तो स्पष्ट मत है कि जो विद्वान् अर्थप्रतीति में शब्द की अनेकार्थमात्रता को कारण मानते हैं वे भ्रमग्रस्त हैं क्योंकि शब्द की अतिरिक्त शक्ति मानना व्यर्थ है। अभिप्राय यह है कि जब वाच्य से भिन्न अर्थ की प्रतीति ही नहीं है तब अप्रस्तुत अथवा असंबद्ध अर्थ के कथन की कल्पनामात्र से उनके उपमेयोपमान भाव आदि की कल्पना करना निर्मूल है। उनकी तो यहाँ तक मान्यता है कि संस्कृत और अभिधा शक्तिसम्पन्न साधु शब्द तो कारण—विशेषण के होने पर अपने वाचकत्व का अनुमान कराते ही हैं, किंतु असाधु शब्द भी उपयुक्त सामग्री के सद्भाववश वाचकत्व का अनुमान तथा विवक्षित अर्थ का अभिधान करते हैं जिसका अभिप्राय यह है कि दूसरे अर्थ की प्रतीति सामग्री के अन्वय व्यतिरेक की अनुविधायिनी होती है। इस विषय में उनके निम्नलिखित विचार उल्लेखनीय हैं—

(अ) 'तच्च तदावृत्या वास्तु अर्थप्रकरणादिना वा, न तत्रास्माकमभिनिवेशः कश्चित्। केवलमन्यतस्तत्प्रतिभोद्भेदाभ्युपगमेऽनुमानान्तर्भावः स्फुट एव तस्यैव लिंगतापत्तेरिति शब्दस्यानेकार्थतावगममात्रमूलो यमधापि कवीनामर्थान्तरप्रतीतिभ्रम इति व्यर्थः शब्दशक्तिपरिकल्पनप्रयासः[1]।'

(आ) ...आस्तां वाम्यः शब्दो, य साधुत्वेन प्रसिद्ध। असाधुरपि यावत् तद्वशादनुमितवाचकभावऽभिमतमर्थमभिदधात्येवेति सामग्रीसद्भावान्वयव्यतिरेकानुविधायिनीयमर्थान्तरप्रतीतिरित्यवसीयते। यदाहु—

'असाधुरनुमानेन वाचकः कैश्चिदिष्यते।
वाचकत्वाविशेषेऽपि नियमः पुण्यपापयोः॥' इति[2]

'अनुमान-सिद्धांत' की मौलिक उपलब्धि

महिमभट्ट का मत है कि यदि वाच्य अर्थ की व्यंजकता में ध्वनि भी मान ली जाय तो भी उससे अनुमित अर्थ का व्यंजकत्व होने पर भी उसमें ध्वनित्व संभव नहीं है, क्योंकि उसमें वाच्यत्व का अभाव रहता है। उनका तो स्पष्ट कहना है कि जिस अर्थ से अर्थान्तर की प्रतीति होती है वह केवल वाच्य ही हो सकता है न कि व्यंग्य अथवा उभयविध। उन्होंने ध्वनिकार द्वारा ध्वनि-लक्षण में प्रयुक्त 'शब्दार्थौ' पद की विवेचना अपने दृष्टिकोण

---

१. महिमभट्ट : व्यक्तिविवेक, चौखम्भा प्रकाशन, पृ० ४७।
२. महिमभट्ट : व्यक्तिविवेक, चौखम्भा प्रकाशन, पृ० ४८०।

से करते हुए यही सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि ध्वनिकार ने अपने द्वारा प्रयुक्त 'अर्थ' शब्द की व्याख्या 'अर्थो वाच्यविशेषः' के रूप में करते हुए व्यंग्य के स्थान पर 'वाच्यविशेष' को ही महत्त्व दिया है। अपने मत की संपुष्टि के लिए उन्होंने ऐसे अनेक उदाहरण उपस्थित किये हैं जिनकी व्याख्या द्वारा अर्थ की 'व्यक्ति' के स्थान पर उसकी 'अनुमिति' ही सिद्ध होती है। इस विषय से सम्बन्धित ऊहापोह में अधिक न पड़कर हम केवल इतना निवेदन करना ही पर्याप्त समझते हैं कि अनुमितिवादी आचार्यों का ध्वनि-लक्षण से स्पष्ट विरोध है और वे उस लक्षण में प्रयुक्त प्रत्येक शब्द की पृथक्-पृथक् तथा उनकी पारस्परिक विसंगति की दोषमयता सिद्ध करने का उपक्रम करते चले हैं। संक्षेप में कहा जा सकता है कि व्यक्तिविवेककार ने ध्वनिकारिका की शब्दोपादानता तथा अर्थोपादानता का खंडन करते हुए अभिधोपादानता की संभावना निरूपित की है और बतलाया है कि व्यंजना की सिद्धि किसी भी रूप में नहीं की जा सकती। उनकी विवेचना द्वारा 'व्यक्तः' पद की द्विवचना, 'सः काव्यविशेषः' पद की असंगति, 'सूरिभिः कथितः' पद में 'सूरिभिः' शब्द की व्यर्थता का भी खंडन हुआ है। उन्होंने ध्वनि-लक्षण में संभव दस प्रकार के दोषों का कारिका द्वारा संग्रह करते हुए ध्वनिकारिका का शुद्ध रूप भी निरूपित किया है। उनका मत है कि शब्द में अनेक प्रकार की शक्तियों की संभावना नहीं की जा सकती। वे लक्षणा के शब्द शक्तित्व का खंडन करते हुए लक्ष्यार्थ की अनुमेयता की भी सिद्धि करते चले हैं। उनके विवेचन से 'यत्परः शब्दः स शब्दार्थः' के साथ-साथ शब्द के दीर्घ-दीर्घतर व्यापार तथा वक्रोक्ति रूप का भी खंडन हुआ है। उनके मत से शब्दवृत्ति के रूप में व्यंजना भी अभिधारूप ही है। वे निपातोसर्गो का विचार करते हुए गुणीभूत व्यंग्य तथा ध्वनि में भेदाभाव का रूप भी निरूपित करते चले हैं। उनके विमर्श में अविवक्षितवाच्य, विवक्षितान्यपर वाच्य, अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य, अत्यंततिरस्कृतवाच्य तथा शब्दशक्ति-मूलानुरंजन व्यंग्य का भी खंडन हुआ है। अभिप्राय यह है कि व्यक्तिविवेक में विविध दृष्टियों से ध्वनि का अनुमान में अंतर्भाव करने का प्रयत्न किया गया है जो अनेक स्थलों पर पूर्वाग्रहयुक्त होने पर भी विमर्शकर्ता की प्रतिभा और विश्लेषण शक्ति का परिचायक है।

अनुमान-तत्त्व का गौरव और क्षेत्र-विस्तार

महिमभट्ट ने काव्य में जिस अनुमान-तत्त्व की प्रतिष्ठा की है वह तर्कशास्त्र के अनुमान-प्रमाण से भिन्न है। तर्कशास्त्र का अनुमान तो हेतु व्याप्ति आदि से सम्बन्धित कर्कश तर्कसामग्री भी लेकर चल सकता है, किंतु काव्य में जिस अनुमान द्वारा चमत्कारपूर्ण रसोपलब्धि की बात कही जाती है वह सहृदयजनों के मानस की एकमात्र अधिकार-निधि है जिसके लिए यह अपेक्षित नहीं कि उसमें व्याप्त्यादि मुख से ही अनुमान की योजना की जाय। वस्तुतः जब रत्यादि भाव काव्यविषयों में उपात्त होकर आते हैं तो वे अपनी विशिष्ट स्थिति में ही सहृदयजनों को रसास्वादन कराते हैं। उनके आस्वादन में भी एक विशिष्ट प्रकार की अनुमिति ही होती है जो लौकिक अनुमिति से भिन्न है। इसका प्रमाण यह है कि लोक में हेतु द्वारा साध्यभूत जिन शोकादि भावों का अनुमान उसके कर्ता को

होता है, उससे उसे किंचित्-मात्र भी सुख नहीं मिलता किंतु काव्य-वर्णित विभाव आदि उपकरण जब अपने हेतु, काव्य और सहकारी रूप से काव्य में अनुमापक बनकर आते हैं तो वे अपने शोकादि भावों से अनुमित होकर एक ऐसी विशिष्ट स्थिति प्राप्त कर लेते हैं जिसके कारण काव्य से ऐसा रसास्वादन होने लगता है जो लोकसंभव नहीं होता। महिमभट्ट का कहना है कि रत्यादि भावों पर व्यंग्यत्व का उपचार युक्तिसंगत नहीं है क्योंकि उस उपचार का प्रयोजन चमत्कार ही नहीं बनता। यदि रस को इस सादृश्य पर व्यंग्य माना जाय कि जिस प्रकार अंधकार में निक्षिप्त वस्तु आलोक के विकीर्ण होने पर अपने रूप-दर्शन से आनंद प्रदान करती है उसी प्रकार रत्यादि भाव भी विभावादि से स्फुरित होकर रसमय बन जाते हैं तो भी उचित नहीं है क्योंकि महिमभट्ट के मतानुसार जब रति की स्फूर्ति में आनंद ही नहीं माना जाता तो फिर उसमें उपचार या सादृश्य के आधार पर व्यंग्यता का भाव कैसे आ सकता है ? अभिप्राय यह है कि महिमभट्ट सभी दृष्टियों से रसानुभूति के स्थान पर रसानुमिति को ही प्रमाण-सम्मत मानते हैं और ऐसा करते हुए बिम्बप्रतिबिम्बवाद का भी आधार ग्रहण करते हैं। उनका तो यहाँ तक कहना है कि कवि शक्त्यर्पित पदार्थ मी उतना चमत्कारी नहीं होता जितना विभावादि द्वारा अनुमेयता को प्राप्त करने पर वह चमत्कारजनक बनता है। वाच्य की अपेक्षा गम्यरूप प्रतीयमान की यह चारुता निश्चय ही विचित्र है क्योंकि वह लोक में हेत्वादि से अनुमित होकर वैसा उतना रस-सौन्दर्य प्रदान कर ही नहीं सकती जैसा काव्यवर्णित विभावादि से अनुमित किये जाने पर करती है। रस को भले ही कृत्रिम अथवा भ्रांतिरूप कह दिया जाय किंतु उसका आस्वाद तो अकृत्रिम तथा प्रभात्मक ही है क्योंकि वेदांत आदि में भी भ्रांति को भी सम्बन्ध विशेष से प्रभा ही कहा गया है और उसके प्रमाण में मणि तथा प्रदीप का उदाहरण प्रस्तुत करते हुए ऐसा माना गया है कि जिस प्रकार मणि तथा दीपक की प्रभा पर मणि की बुद्धि (नीयत) से अभिधावित होने वाले दो व्यक्तियों के मिथ्याज्ञान में कोई अंतर नहीं होता यद्यपि उनकी अर्थक्रिया अथवा फलप्राप्ति में अंतर होता ही है उसी प्रकार काव्य की वास्तविकता अथवा अवास्तविकता के परीक्षण में भी मणि और दीपक का प्रभाजन्य प्रतिबिम्ब ही निदर्शन के रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है। वस्तुतः काव्य का सार तो रसप्रतीति है अतः उसकी अनुमिति में वास्तविकता और अवास्तविकता का कोई भी प्रयोजन अभिप्रेत नहीं है क्योंकि दोनों ही प्रकार से चमत्कारानुभूति रूप अर्थ-क्रिया अथवा फल की सिद्धि होती है। अनुमानवादियों ने तो यहाँ तक माना है कि जितना चमत्कार अनुमीयता में होता है उतना वास्तविकता में भी नहीं होता। सच तो यह है कि अयथार्थज्ञानजन्य प्रवृत्ति भी उतनी ही अभीष्ट सिद्धि प्रदान कर सकती जितनी यथार्थज्ञानजन्य प्रवृत्ति। काव्यानुभूति के विषय में तो यह सिद्धांत विशेष रूप से सत्य है, क्योंकि उसमें अविद्यमान राम तथा सीता आदि की जो मिथ्याप्रतीति विद्यमान रूप सी (रजतशुक्तिवत्) होती है वह रसानुभूति कराने के साथ-साथ इस विषय का उपदेश भी दे ही देती है कि हमें रामादि के समान आचरण करना चाहिए, रावणादि के समान नहीं। इससे सिद्ध है कि रस भले ही मिथ्या हो किंतु उसका फल तो सत्य ही है अतः वह ग्राह्य है और उसके स्पष्टीकरण के लिए 'मणिप्रदीपप्रभयोः' कारिका सर्वथा युक्तिसंगत सिद्ध

होती है। अनुमानवादी आचार्यों ने उनके उदाहरण देकर यह सिद्धांत प्रतिपादित करने की चेष्टा की है कि यों तो प्रकृत में रस आदि भ्रांतिरूप है किंतु वे अपनी भ्रांतिमयता से भी सहृदयजनों को आनंदानुभूति पर्यन्त पहुंचा देते हैं अतः 'संवादिभ्रम (मणिप्रभा में मणि की भ्रांति) होने से वे मान्य हैं जिनके कारण काव्य में उनकी भ्रमात्मकता भी किसी भी प्रकार से उपेक्षणीय नहीं कही जा सकती।

महिमभट्ट ने अनुमान का क्षेत्र-विस्तार इतना अधिक व्याप्त बना दिया है कि उसके अंतर्गत अर्थबोध और ध्वनि-प्रक्रिया का पूर्ण समाहार हो जाता है। उनका मत है कि जहां एक ही अर्थ को उत्कर्षापकर्ष अथवा ताद्रूप्य के कथन की कामना से भिन्न मानकर विध्यनुवादभाव से एक ही शब्द द्वारा कहना अभीष्ट हो, वहाँ के उत्कर्षापकर्ष अथवा ताद्रूप्य प्रकरण आदि की सहायता से अनुमान द्वारा ही प्रतीत होते हैं न कि उसी शब्द द्वारा। बिना किसी हेतु के शब्द शक्तिमूलक अर्थान्तर की प्रतीति हो ही नहीं सकती, यह बात तो पहले कही जा चुकी है। पद के अवयव को जहाँ गमक माना जाता है वहां भी वस्तुतः विशिष्ट पदार्थ ही गमक होता है न कि एकमात्र शब्दः क्योंकि उसमें दूसरे व्यापार का अभाव सिद्ध ही है। उपचार द्वारा वाक्य की अर्थान्तर के प्रति गमकता के अनेक उदाहरण भी साहित्यग्रंथों में मिलते हैं जिनसे सिद्ध होता है कि ऐसे उदाहरणों के वाक्य अपने अभिधेयार्थ को दूर कर गमक बनते हैं। उदाहरणार्थ गीता का वह श्लोक प्रस्तुत किया जा सकता है जिसमें कहा गया है कि जो सब प्राणियों के लिए रति है उसमें संयमी लोग जागते हैं और जिसमें सब भूत जागते हैं वह उन्मीलित नेत्रों वाले मुनि के लिए रात है। इस वाक्य में न तो कोई निशारूपी पदार्थ विवक्षित है और न जागरणरूपी पदार्थ ही। इसका विवक्षित है मुनि का तत्त्वचिंतन के प्रति एकाग्रचित्त तथा तत्त्व-विरुद्ध पदार्थों के प्रति उसका विपरीत भाव। अतएव यह वाक्य अपने अभिधेयार्थ को हटाकर गमक बना है। वाक्यों की यह गमकता प्रकरण आदि पर निर्भर है जो अर्थान्तर संक्रमित वाच्य द्वारा गमक बनती है। अभिप्राय यह है कि अभिधा के अतिरिक्त शब्द की कोई अन्य शक्ति नहीं होती अतः पद के समान वाक्य की भी तन्मूलक अर्थान्तरता का प्रकाशन केवल उसी शक्ति द्वारा होता है जिसमें गम्य-गमकभाव सम्बन्ध रहता ही है। गम्यगमक-भाव का यह विषय रस-बोध के साथ भी सम्बद्ध है तभी तो महिमभट्ट ध्वनिकार की मान्यता को अपने दृष्टिकोण से निरूपित कर इस सिद्धांत की प्रतिष्ठा करते हैं कि सुबंत और तिङन्त आदि भी यदि अन्वय व्यतिरेक द्वारा किसी विशेष अर्थ का बोध कराते हों तो उन्हें भी गमक ही मानना चाहिए क्योंकि अर्थ तो विभावादि रूप ही होता है और विभावादि तथा रस में कार्यकरण सम्बन्ध रहता है, अतः सुबंत और तिङन्त का लक्ष्यक्रम गम्यगमकभाव में ही है। उन्होंने द्रव्येतर वस्तुओं के वाचक तथा उपाधिरूप में रहने वाले निपात और उपसर्गों की गमकता को भी पद और वाक्य की गमकता से सिद्ध किया है क्योंकि वे उपाधियुक्त अर्थ द्वारा ही दूसरे अर्थ का ज्ञान कराते हैं। सारांश यह है कि महिमभट्ट के मत से अनुमान में ध्वनि का अंतर्भाव मानना ही विवेकसंगत है क्योंकि ध्वनिवादी आचार्य प्रतीयमान अर्थ की अभिव्यक्ति में जिस सामग्री को मान्यता प्रदान करते हैं वह सामग्री उन्हें अपने अनुमित पक्ष में गमक रूप में मान्य है। उनका तो स्पष्ट

मत है कि अन्य से अन्य का ज्ञान एकमात्र अनुमान पर ही आश्रित है और वाच्य तथा वाच्यार्थ की प्रधानता न होने के कारण अभिधा के अतिरिक्त शब्द की अन्य कोई शक्ति ही नहीं होती जिससे 'व्यक्ति' (व्यंजना) की सिद्धि ही नहीं हो पाती। उन्होंने 'व्यक्ति' को ही ध्वनि का प्रमाण कहकर अपने विचार व्यक्त किये हैं और अपने विमर्श को सूपकार की क्रिया से उपमित कर अपना 'व्यक्तिविवेक' लिखा है। अपने ग्रंथ के अंत में उन्होंने इस बात का स्पष्ट उल्लेख किया है कि व्यक्तिविवेक की रचना का प्रमुख प्रयोजन क्षेम, योग और भोजनामक नप्ताओं को काव्य-व्युत्पत्ति प्रदान करना है। इस विषय में उनके निम्नलिखित श्लोक उल्लेखनीय हैं—

तदिदं विस्तरस्यास्य तात्पर्यमवधार्यताम्।
यार्थान्तराभिव्यक्तो वस्सामग्रीष्टा निबंधनम् ॥
सेवानुमितिपक्षे नो गमकत्वेन सम्मता।
अन्यतोऽन्यस्य हि ज्ञानमनुमैकसमाश्रयम् ॥
वाच्यवाचकयोः स्वार्थप्राधान्यप्रतिषेधतः।
ध्वनेः शक्त्यान्तराभावाद् व्यक्तेश्चानुपत्तितः ॥
प्राणभूता ध्वनेर्व्यक्तिरिति सैव विवेचिता।
यत्वन्यत् तत्र विभतिः प्रायोनास्तीत्युपेक्षितम् ॥
प्रायः प्रतीतिवैचित्र्यरसास्वादविदः प्रति।
सूपकार क्रियेयं मे साफल्यमुपयास्यति ॥[1]

वस्त्वलंकार ध्वनि रसध्वनि का पोषक तत्त्व है

व्यक्तिविवेककार ने वस्तुध्वनि और अलंकारध्वनि को रसध्वनि का पोषक तत्त्व मानने के उपरांत इस मत का खंडन किया है कि रसात्मरूप काव्य में वस्तुमात्रादि का सन्निवेश करने से उसमें किसी न किसी प्रकार का वैशिष्ट्य संचरित हो सकता है। उनका मत है कि वस्तु मात्रादि तो अपनी विभावादिगत रूपमयता में रस की अभिव्यक्ति के हेतुमात्र हैं, अतः व्यंजकों के वैचित्र्य से व्यंग्य में वैचित्र्य मानना समुचित नहीं है। उनके मतानुसार वस्तु आदि का अस्तित्व रस से पृथक् नहीं होता क्योंकि वे रस के व्यंजक विभाव आदि के ही अंग हैं। अपने कथन को स्पष्ट करते हुए उन्होंने लिखा है कि जिस प्रकार किसी गाय के श्याम, पीत एवं श्वेत रंग की शबलता से उसके गोत्व में कोई वैशिष्ट्य नहीं होता, उसी प्रकार वस्तु अथवा अलंकार के वैशिष्ट्य से रस में भी किसी भी प्रकार का वैशिष्ट्य नहीं आता। यदि वस्तु आदि व्यंजकों से काव्य में वैशिष्ट्य मान भी लिया जाय तो जहाँ वे दोनों अथवा दोनों में से कोई एक व्यंग्य होगा तो वही उस काव्य में ध्वनि व्यवहार हो जायगा, केवल रसात्मक काव्य में नहीं क्योंकि उसमें वैशिष्ट्य होता ही नहीं है; जबकि ध्वनित्व तो उसमें भी माना जाता है। इस प्रकार की मान्यता से काव्य के लक्षण में अव्याप्ति दोष हो जायगा। अतिव्याप्ति दोष की स्थिति

१. महिमभट्ट, व्यक्तिविवेक, तृतीयो विमर्श ३०-३४ संग्रह श्लोकाः।

उन प्रहेलिका आदि रचनाओं में होगी जिनमें अनेक प्रकार की हेतु-कल्पनाओं के पश्चात् कोई नीरस वस्तु मात्र ही व्यंग्य होती है और तत्त्वतः उनमें किसी भी प्रकार काव्यत्व नहीं होता। इस प्रकार रस के अन्वयव्यतिरेक से जब काव्य का अस्तित्व अथवा अनस्तित्व निर्भर है तो शुद्ध काव्य के लिए ध्वनि का प्रयोग ही उचित है, ऐसा व्यक्तिविवेककार का मत है—

"न च रसात्मनः काव्यस्य वस्तुमात्रादिभिर्विशेषः शक्यं आधातुं, तेषां विभावादि रूपतया रसाभिव्यक्तिहेतुत्वोपगमात् न च व्यंजकानां वैचित्र्ये व्यंग्यस्य विशेषोऽभ्युपगंतु युक्तः शावलेयादीनामिव गोत्वस्य।

ततोऽस्य विशिष्टतोपगमे वा यत्र तयोरुभयोरेवैकस्य वा व्यंग्यता तत्रैव ध्वनि-व्यपदेशः स्यान्न केवल रसात्मनि काव्ये, वैशिष्ट्ययाभावात्। इष्यते चासौ तत्रापि। प्रहेलिकादौ च नीरसै स्यात्। तत्राप्युक्तक्रमेण वस्तुमात्रादेरभिव्यंग्यत्वेनेष्टत्वाद् इत्यन्वयव्यतिरेकाभ्यां काव्यत्व मात्र प्रयुक्तो सावित्यनुमीयते।"[१]

रसादि की प्रतीति अनुमानाश्रित है

आचार्य महिमभट्ट को 'अनुमान' पर इतनी अधिक आस्था है कि उन्होंने विभाव आदि के द्वारा होने वाली रसादि की प्रतीति को भी अनुमान में ही अंतर्भुक्त मान लिया है। उनका मत है कि जिन विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भावों की प्रतीति को रस की प्रतीति का कारण माना जाता है, वे विभाव आदि पदार्थ रति आदि स्थायी भावों के प्रति कारण-कार्य-सहकारी रूप से उपस्थित होते हैं और रत्यादि की अनुमिति कराते हैं जिसके द्वारा रसादि की निष्पत्ति होती है। उनका तो स्पष्ट अभिमत है कि विभावादि का आस्वादन जब अनुमान द्वारा किया जाता है तभी वे 'रस' की अभिधा ग्रहण करते हैं। यों तो उनकी प्रतीति में भी पौर्वापर्य क्रम अवश्य रहता है किंतु वह क्रम इतना अधिक 'आशुभावित' होता है कि उसका बोध नहीं हो पाता। रसादि की प्रतीति में अनुमित उस क्रम का उदाहरण कुमारसंभव का वह प्रसंग है जिसमें वसंतवर्णन के अवसर पर वसंत पुष्पों का श्रृंगार किये पार्वती के आगमन आदि का वर्णन कामदेव के शरसंधान तथा भगवान् शंकर की धैर्यपरिवृत्ति पर्यन्त की चेष्टा विशेषों की क्रमिकता से हुआ है।

"यदि विभावादिभ्यो रसादीनां प्रतीतिः सानुमान एवान्तर्भावमर्हतीति। विभावानुभावव्यभिचारिप्रतीतिर्हि रसादिप्रतीतेः साधनमिष्यते। ते हि रत्यादीनां भावानां कारणकार्यसहकारिभूतास्ता ननुमापयन्त एव रसादीन् निष्पादयंति। त एव हि प्रतीयमाना आस्वादपदवीं गताः सन्तो रसा इत्युच्यन्ते इत्वश्यम्भावी तत्प्रतीतिक्रमः। केवल माशुभावितयासौ न लक्ष्यते यतोऽयमऽव्याप्यभिव्यक्तिक्रम इत्युक्तम्।

अत्रोदाहरणसि यथा कुमारसंभवे मधुप्रसंगे वसंत पुष्पाभरवहन्त्या देव्या आगमनादिवर्णनं मनोभवशरसंधान पर्यन्तं शम्भोः परिवृत्तधैर्यस्य चेष्टाविशेषवर्णना-दीनि।"[२]

१. व्यक्तिविवेक, प्रथम विमर्श, पृ० १०४।

१. व्यक्तिविवेक, तृतीयो विमर्श, चौखम्बा संस्कृत सीरीज, वाराणसी, पृ० १७७।

११

काव्य-सर्जना और औचित्य-विधान

औचित्य तत्व का काव्यगत प्रसार

पूर्वपीठिका

औचित्य-तत्त्व को काव्य-सर्जना के स्वरूप-विधायक सिद्धांत के रूप में प्रतिष्ठित करने का श्रेय आचार्य क्षेमेन्द्र (ग्यारहवीं शताब्दी) को प्रदान किया जाता है। यों तो उनके पूर्व विभिन्न आचार्यों ने अपनी सैद्धांतिक विवेचनाओं के अंतर्गत यथाप्रसंग औचित्य-तत्त्व की चर्चा की थी, किंतु ध्वनिकार आनंदवर्धन द्वारा उसे विशेष प्रश्रय मिला जिसका पल्लवन आचार्य क्षेमेन्द्र ने किया। इस विषय में हमारा सर्वप्रथम ध्यान भरतमुनिकृत नाट्यशास्त्र की ओर जाता है जिन्होंने लोक को ही अभिनय के लिए सर्वप्रमुख प्रमाण घोषित कर इस बात का संकेत किया था कि नाट्य प्रयोग में पात्रों के अनुसार भाषा, वेश और चरित्र का आख्यान किया जाना चाहिए। उन्होंने वय के अनुरूप वेश, वेश के अनुरूप गति-प्रचार, गति-प्रचार के अनुगत पाठ्य और पाठ्य के अनुरूप अभिनय का उल्लेख कर औचित्यतत्त्व का ही महत्त्व निरूपित किया था।[1] उनके मतानुसार अदेशज वेश उसी प्रकार अशोभाजनक है जिस प्रकार उरस्थल पर धारण की हुई मेखला हास्योत्पादन का कारण होती है।[2]

आचार्य दण्डी ने उपमा के दोषों का विवेचन करने के प्रसंग में सहृदयों के जिस उद्वेग की चर्चा की है उसका ध्वनित कारण अनौचित्य ही है। उनका तो स्पष्ट मत है कि यदि बुद्धिमानों को उपमानोपमेय के लिंगों और वचनों की भिन्नता अथवा अधिकता और हीनता से उद्वेग न हो तो वहाँ किसी भी प्रकार का दोष नहीं माना जाना चाहिए। एक अन्य स्थल पर उन्होंने 'अत्रत्यं गुणपदं औचित्यपरम्' द्वारा भी औचित्य-तत्त्व की महत्ता का ही संकेत किया है। आचार्य आनंदवर्धन ने तो व्युत्पत्ति और प्रतिभा के अभाव के कारण समुद्भूत काव्य-दोषों का उल्लेख कर उनका नियामकहेतु वक्ता और बौद्धव्य के औचित्य को ही निरूपित किया है। उनका मत है कि विषय सम्बंधी औचित्य भी शैली का नियंत्रण करता है तथा किसी भी श्रेष्ठ रचना में रसगत औचित्य का तो समाश्रयण

---

१. वयोऽनुरूपः प्रथमस्तु वेषः, वेषानुरूपश्च गतिप्रचारः।
गति प्रचारानुगतश्च पाठ्यम्, पाठ्यानुरूपोऽभिनयश्च कार्यः।।—नाट्यशास्त्र, १४।६८।

२. अदेशजो हि वेषस्तु न शोभा जनयिष्यति।
मेखलोरसि बंधेन हास्यायैवोपजायते।।—नाट्यशास्त्र २३।६८।

तो आवश्यक है ही। अनौचित्य को ही रसभंग का एकमात्र कारण निर्दिष्ट करते हुए उन्होंने औचित्यानुसरण को ही रसयोजना का परम रहस्य निर्दिष्ट किया है। आनंद-वर्धन ने रस, अलंकार, गुण संघटना प्रबंध और रीति संज्ञक छः प्रकार के औचित्यों का उल्लेख कर प्रत्येक का पृथक्-पृथक् विवेचन किया है जिससे प्रकट है कि वे औचित्य-निर्वाह के कितने अधिक पक्षपाती थे।

क्षेमेन्द्र ने काव्य-सर्जना के अंतर्गत औचित्य विचार चर्चा को महती गरिमा प्रदान करने के निमित्त अपने ग्रंथ के मंगलाचरण में भगवान अच्युत (विष्णु) को भी औचित्य-कारी रूप में ही नमस्कार्य माना है। ऐसा प्रतीत होता है कि वे 'कविकर्णिका' नामक रचना में काव्यालंकारों का विवेचन करने के साथ-साथ 'कवि-कलंक' और 'कविविवेक' नामक ग्रंथों में क्रमशः काव्य-दोषों और उसके स्वरूप-लक्षणों का विवेक करने के पश्चात् औचित्य-तत्त्व की विचार-चर्चा के लिए प्रस्तुत हुए थे। काव्यशास्त्र के मंथन और चिंतन के फलस्वरूप उनकी यह मान्यता बन गई थी कि औचित्य ही काव्य की चारू चर्वणा में चमत्कारहेतु तथा रस का जीवितभूत है। उनका मत था कि यदि काव्य-चिंतन में उसके आत्मतत्व औचित्य के दर्शन न हों तो उसके अलंकारों और गुणों की गणना व्यर्थ है। इसमें कोई संदेह नहीं कि उन्हें अलंकारों और गुणों का भी यथोचित महत्त्व मान्य था किंतु रससिद्ध काव्य का स्थायी प्राणतत्त्व तो वे औचित्य को ही मानते थे।[1]

क्षेमेन्द्र ने काव्य को 'परस्परोपकाररुचिशब्दार्थरूप' कहा है जिसका अभिप्राय यह है कि काव्य में एक-दूसरे का उपकार करने से रुचिर बने हुए शब्दों और अर्थों का समुच्चय होता है। उन्होंने उपमा और उत्प्रेक्षा आदि अलंकारों को बाह्य शोभा के हेतु कहकर उनकी स्थिति कटक, कुंडल, केयूर और हारादि के समान मानी है। जिन लक्षणकारों ने काव्यगुणों का व्याख्यान रसप्रसंग में किया है उनसे आचार्य क्षेमेन्द्र सहमत नहीं हैं क्योंकि वे गुणों को मानव-स्वभाव के श्रुत, सत्य और शील आदि गुणों के समान ही अस्थिर मानते हैं। औचित्य को उन्होंने काव्य का स्थिर और अविनश्वर जीवित कहा है क्योंकि उसके बिना गुणों और अलंकारों से युक्त काव्य भी निर्जीव-सा ही है। उनका मत है कि औचित्य शृंगारादि रसों से सिद्ध एवं परिपूर्ण काव्य का जीवन उसी प्रकार है जिस प्रकार धातुवाद अथवा रसायनों से परिपुष्ट रसों का उचित मात्रा में किया गया सेवन किसी व्यक्ति के लिए प्राणप्रद होता है। वस्तुतः उचित स्थान पर विन्यस्त होने पर ही अलंकारों की चमत्कृति है और औचित्य से अच्युत होने के कारण ही गुण सदैव गुण बने रहते हैं। इस विषय में उन्होंने एक प्रसिद्ध श्लोक उद्धृत किया है जिसका तात्पर्य यही है कि औचित्य के बिना न अलंकार शोभा प्रदान करते हैं और न गुण ही रुचि का विस्तार करते हैं। वह छंद निम्नलिखित है—

कण्ठे मेखलया नितम्बफलके तारेण हारेण वा,
पाणौ नूपुरबंधनेन चरणे केयूर पाशेन वा।
शौर्येण प्रणते, रिपो करुणया नायाति के हास्यताम्,
औचित्येन बिना रुचिं प्रतनुते नालंकृतिर्नो गुणाः॥

१. क्षेमेन्द्र : औचित्य विचार चर्चा, १।१-५।

अर्थात् कंठ में मेखला, कटि में चंचल हार, हाथों में नुपुर, चरणों में कैयूर धारण करने से तथा प्रणत पर शौर्य और शत्रु पर करुणा प्रदर्शित करने से कौन व्यक्ति उपहास का पात्र नहीं होता ? वस्तुतः औचित्य के बिना न अलंकार शोभा देते हैं और न गुण।

क्षेमेन्द्र ने काव्य में औचित्य की अनिवार्य महत्ता निरूपित करते हुए उसका जो लक्षण निर्धारित किया है वह अत्यंत सुबोध और सरल है। उन्होंने आचार्यों के मतानुसार 'जो जिसके अनुरूप है, वही उचित है' कहकर उचित के भाव को ही औचित्य माना है।[1] औचित्य को 'सकलकाव्यशरीरजीवितभूत' सिद्ध करने के लिए वे उसकी स्थिति पद, वाक्य, प्रबंधार्थ, गुण, अलंकार, रस, क्रिया, कारक, लिंग, वचन, विशेषण, उपसर्ग, निपात, काल, देश, कुल, व्रत, तत्त्व, सत्व, अभिप्राय, स्वभाव, सारसंग्रह, प्रतिभा, अवस्था विचार, नाम, आशीर्वचन तथा अन्यान्य काव्यांगों में प्रधान रूप से स्वीकार करते हैं।[2]

काव्य रचना के अवयवों में औचित्य का विधान

क्षेमेन्द्र ने पदौचित्य का स्पष्टीकरण करते हुए लिखा है कि काव्य-सूक्ति में किसी एक ही पद का उचित प्रयोग उसी प्रकार शोभाकारक होता है जिस प्रकार किसी चन्द्रानना रमणी के मस्तक पर कस्तूरीकृत तथा श्मामा के मस्तक पर चन्दनकृत तिलक शोभित होते हैं।[3] उदाहरणार्थ 'मुग्धा', 'तन्वी', 'सुन्दरी' और 'कृशांगी' आदि पद सामान्यतः नायिका वाचक हैं किंतु उनका प्रयोग करते समय जो कवि उन पदों के व्यंजनागर्भित औचित्य का ध्यान रखते हैं उनकी कृतियों में वे पद रससिद्ध काव्य के जीवित सिद्ध होते हैं। किसी नवोढा तथा अंकुरित यौवना के लिए 'मुग्धा,' विरहकृश नायिका के लिए 'कृशांगी' और रूप-लावण्यमयी नायिका के लिए 'रमणी' आदि पदों के प्रयोग से काव्य-कृति में एक विशेष प्रकार की 'विच्छित्ति' का संचार होता है जिसके कारण कोई भी काव्यकृति सकल सहृदयजनसंवेद्य और कविकुलप्रशंसित बनती है। पदों का प्रयोग करते समय कविजनों का कर्तव्य है कि वे केवल अनुप्रासादि के लोभ से ही उनका उपयोग न करें अपितु इस बात का भी ध्यान रखें कि उनमें औचित्य संचार करने की क्षमता कहाँ तक है ? श्रीहर्ष ने सागरिका की विरहावस्था को सूचित करने के लिए उसे जिस अर्थ में 'कृशांगी' कहा है वह पदोचित्य के शोभनीय रूप का निर्देशक है।

वाक्यगत औचित्य सदैव सज्जन-सम्मत होता है जिसे क्षेमेन्द्र ने 'त्याग से उदात्तीकृत ऐश्वर्य' और 'शील से उज्ज्वलीकृत शास्त्रज्ञान' से उपमित किया है।[4] इस प्रकार के औचित्य की प्रशंसा काव्यविवेकविचक्षण विद्वानों ने सदैव की है। उदाहरणार्थ रौद्ररसोद्रेक के प्रसंग में कोई कवि भीम के चरित का निरूपण करना चाहे तो उसे अपने वाक्यार्थ को औचित्यपूर्ण बनाने के लिए भीम को 'हिडिम्बादयित' तथा 'कीचककालिककालदण्ड' आदि पदों से सम्बोधित करना चाहिए जैसा कि स्वयं क्षेमेन्द्र ने अपनी

---

१. औचित्य विचार चर्चा, १।११७।

२. क्षेमेन्द्र, औचित्य विचार चर्चा, १।८-१०।

३. वही, १।११।

४. वही, १।१२।

'विनयवल्ली' नामक रचना में किया है। चूंकि वाक्यगत औचित्य की संघटना पद-समूह के औचित्य से ध्वनित वाक्यार्थ द्वारा होती है, अतः काव्य-स्रष्टा को रसानुकूल पद-योजना करते समय इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि उसमें निष्पन्न होने वाले रस के अवयवों का सम्यक् परिवहन करने की क्षमता हो। शृंगार-रस की व्यंजना के लिए श्रुतिपेशल और कोमलकांत पदावली द्वारा जो सुशोभन वाक्यार्थ ध्वनित हो सकता है, वह वीररस की निष्पन्नता के लिए औचित्यपूर्ण नहीं माना जा सकता। यदि कोई कवि किसी दुर्दयनीय वीर के कठोर भुजस्तम्भों के उत्कर्ष का वर्णन करते हुए उसे 'कमलनाल' से उपमित करे तो वहाँ वाक्यगत औचित्य का अभाव ही माना जायगा क्योंकि उनके उपमेयोपमान भाव में सौन्दर्यविधायक तत्त्व का सुन्दर साम्य नहीं है।

प्रबंधार्थ का औचित्य इस बात में है कि उसका प्रयोक्ता कवि अपने प्रबंध में उचित अर्थ का उपनिवेश ऐसी विशिष्ट प्रणाली से करे जिससे काव्य-बंध का प्रकाशन उसी प्रकार सुशोभित हो जाय जिस प्रकार गुणों के प्रभाव से भव्य बने हुए वैभव के द्वारा सत्पुरुष की शोभा होती है।[1] ऐसे औचित्यपूर्ण अर्थ की कल्पना में कवि को अपनी अम्लान प्रतिभा का प्रकर्ष उत्प्रेक्षित करना पड़ता है। वस्तुतः उस प्रकर्ष का ही यह परिणाम होता है कि वह प्रबंधौचित्य समस्त काव्य में परिव्याप्त होकर काव्य को अत्यन्त अभिराम और चमत्कारपूर्ण बना देता है। उसकी स्फुरणा प्रत्येक कवि के लिए स्पृहणीय है। कवि कुलगुरु कालिदास ने 'मेघदूत' में ऐसे अनेक प्रबंधार्थगत औचित्यों का संयोजन किया है जिनसे उसकी रमणीयता में संवृद्धि हुई है। क्षेमेन्द्र ने 'मेघदूत' का एक सुप्रसिद्ध छंद[2] उद्धृत कर उसकी विवेचना करते हुए बतलाया है कि उस छंद में कवि ने अचेतन में चेतनत्व का अध्यारोप कर मेघ को पुष्करों तथा आवर्तकों के प्रसिद्ध वंश में उत्पन्न एवं प्रकृति का पुरुष और इन्द्र का प्रधान सेवक निरूपित किया है जिससे उसके चरित्र में दूतकर्म की योग्यता स्वतः ही स्फुटित हो गई है। उस अध्यारोपण से समस्त प्रबंधार्थ का कल्पित कथानक अत्यन्त सुसंगत और सुरुचिपूर्ण बन गया है। उसके द्वारा समस्त प्रबन्ध के निरतिशय औचित्य का ध्वनन स्वतः हो जाता है। श्रेष्ठ कवियों की रचनाओं में इस प्रकार के प्रबंधार्थगत औचित्य का निर्वाह स्थल-स्थल पर होता है। कवि का काव्यबंध चाहे श्रव्यकाव्य की विधा में सुगठित हो अथवा दृश्यकाव्य के विविध रूपों में विनिर्मित हो, प्रबंधार्थगत औचित्य के प्रदर्शन के अवसर सभी परिस्थितियों में सहज सम्भव हैं। क्षेमेन्द्र ने जहाँ एक ओर 'उत्तररामचरित' नाटक के एक छंद का विवेचन कर उसके रसोचित प्रबंधार्थ का संस्तव किया है, वहाँ दूसरी ओर राजशेखर तथा कालिदास के काव्य ग्रंथों से ऐसे उदाहरण भी प्रस्तुत किये हैं जिनमें प्रबंधार्थगत औचित्य का अभाव है। कहने की आवश्यकता नहीं कि कालिदास ने शिव-पार्वती के संभोग का वर्णन करते हुए

---

१. क्षेमेन्द्र, औचित्य विचार चर्चा, १।३।

२. जाते वंशे भुवनविदिते पुष्करावर्तकानां,
जानामि त्वां प्रकृतिपुरुषं कामरूपं मघोनः।
तेनार्थित्वं त्वयि विधिवशाद् दूरबंधुर्गतोऽहं,
या चा मोघा वरमधिगुणे नाधये लब्ध कामा॥

इस प्रकार के औचित्य का उल्लंघन किया है जिसका परिणाम उन्हें किस रूप में भोगना पड़ा, यह एक सुप्रसिद्ध वार्ता है।

काव्यकृति के जिन अंशों में प्रस्तुत अर्थ के औचित्यानुसार ओज, माधुर्य तथा प्रसाद आदि गुणों का संयोजन ऐसी भव्य और सौभाग्यपूर्ण विधि में हो जिससे सहृदय-जनों के सहृदय में आनंद का संदोह स्पंदित हो जाय, गुणगत औचित्य का लीलाक्षेत्र कहा जा सकता है। क्षेमेन्द्र ने उस आनंद को अमृतवर्षी चन्द्रमा की शांतिदायिनी रश्मियों से प्राप्त होने वाले आनंद से उपमित किया है।[1] रससिद्ध कवियों की रचनाओं में गुणानुरूप शब्दार्थ-योजना से उनका उत्कर्ष संवर्द्धित होता है। किसी ओजस्वी योद्धा के ऊर्जस्वित प्रताप का वर्णन करते समय जो कवि ओजपूर्ण शब्दावली प्रयोग करता है, वह अधिक कुशल और प्रवीण है। यदि किसी कवि को किसी वियोगिनी की विरह-व्यथा का वर्णन करना अभीष्ट है तो वह ऐसी पदावली का प्रयोग करेगा जो माधुर्य एवं सौकुमार्य गुणों की व्यंजक होगी। क्षात्रवृत्ति के ऊर्जस्वित ओज को व्यक्त करने के लिए मधुर शब्दों का प्रयोग भले ही उनका अर्थ-बोध मात्र करा दे किंतु उनमें गुणगत औचित्य का अभाव ही माना जायगा जिसके कारण काव्य-सौन्दर्य में अभीष्ट दीप्ति का संचार नहीं हो सकेगा। क्षेमेन्द्र ने ऐसी रचनाओं को 'दरिद्र-गृह की धूमिल दीपशिखा' से उपमित किया है। वस्तुतः रमणीय रमणियों की उक्तियों में कठोर वर्णों का प्रयोग उसी प्रकार के अनौचित्य का व्यंजक है जिस प्रकार किसी लावण्यमयी ललित ललना के कोमल कण्ठ से परुष वाणी का उच्चारण। जो कुशल कवि रससिद्ध काव्य के गुणार्थगत औचित्य का ध्यान रखकर अपनी काव्यप्रतिभा का प्रकाशन करते हैं उनकी कृतियां निस्संदेह नित्य नूतन और सुषमा संचारिणी होती हैं।

क्षेमेन्द्र ने वर्णनीय अर्थ के अनुरूप अलंकारों के प्रयोग को काव्यगत औचित्य में उसी प्रकार का सौन्दर्यविधायक तत्त्व माना है जिस प्रकार किसी मृगनेत्री कामिनी के पीन-स्तनों पर स्थित हार से उसकी शोभा बढ़ती है।[2] वस्तुतः अप्रस्तुत योजना के रूप में प्रयुक्त होने वाले उपमा, रूपक और उत्प्रेक्षा आदि अलंकार अपनी रसानुरूपता में सदैव वरेण्य होते हैं। यदि कोई कवि वत्सराज आदि धीरललित नायकों की शृंगारिक चेष्टाओं का चित्रण कामदेव की ललित क्रीडाओं के सादृश्य में करे तो वह सर्वथा औचित्यपूर्ण है किंतु जिस रचना में 'सुरतकेलि से क्लान्त रमणी' की उपमा 'पुरुषों के मांस से तृप्त होकर सोयी हुई शृंगाली' से दी जाय तो वह निश्चय ही जुगुप्साजनक और विपरीत ही कही जायगी। ऐसे अलंकारों के प्रयोग काव्य-शोभा में विरति उत्पन्न करने वाले होते हैं, अतः काव्य में अलंकार प्रयोग का समुचित महत्त्व समझकर ही कवि-कल्पना को अपना चमत्कार प्रदर्शित करना चाहिए। किसी कोमल-कामिनी नवोढा के कुपित आनन को प्रज्वलित कृशानु की तेज लपटों से उपमित करना भले ही परिस्थितिविशेष में उचित कहा जा सके, किंतु सामान्य दृष्टि से प्रभावसाम्य की व्यंजना कराने में वह उपमा

---

१. क्षेमेन्द्र, औचित्य विचार विमर्श, १४।

२. वही, १५।

असमर्थ ही मानी जायगी। अभिप्राय यह है कि काव्य-वर्णना में अलंकारों का औचित्य-निर्वाह एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण विषय है अतः सुधा-निष्पंदक चन्द्र मण्डल को 'चिता-चक्र' से उपमित करने तथा कमलिनी-कुल-वल्लभ सूर्य को रक्तमुख वानर के सदृश चित्रित करने के पूर्व कवियों को इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि 'अलंकार' मूलतः सौन्दर्य विधायक तत्त्व हैं और यदि उनमें चारु चमत्कृति को उत्पन्न करने की क्षमता नहीं है तो वे अत्यन्त कर्कश और दृष्टि-नैर्मल्य के विघातक भी बन सकते हैं। वस्तुतः अलंकारों के प्रयोग में रसविरोधी तत्त्व का संचार नहीं होना चाहिए अन्यथा वे कविता-कामिनी के लिए भारस्वरूप ही सिद्ध होंगे। रस, परिस्थिति तथा पात्र की मनोदशा के अनुकूल किया गया अलंकार-प्रयोग ही शोभनीय होता है क्योंकि उसके द्वारा वर्णन-प्रणाली को उत्कृष्टता तथा वर्ण्य विषयों को भव्यता प्राप्त होती है।

क्षेमेन्द्र ने रसगत औचित्य का विवेचन अत्यन्त विस्तारपूर्वक किया है। उनका मत है कि औचित्य से आभासित एवं रुचिर बना हुआ रस सहृदयजनों का हृदयसंवादी बनकर उनके अंतःकरण को उसी प्रकार अंकुरित कर देता है जिस प्रकार मधुमास (वसंत) अशोक-कलिका को।[1] शृंगार रस के औचित्य का स्पष्टीकरण उन्होंने महाकवि श्रीहर्ष और कालिदास की रचनाओं के माध्यम से करते हुए बतलाया है कि उनमें क्रमशः ईर्ष्याविप्रलम्भ रूप शृंगाररस की कल्पना नवमालिकालता को ललितवनिता के तुल्य तथा भगवान शंकर के पार्वती के प्रति 'अभिलाष शृंगार' की रचना वसंत-वर्णन के परिप्रेक्ष्य में निरूपित करते हुए जो रसोचित योजना की गई है वह अत्यन्त रुचिर और चारु चमत्कारमयी है जिसके कारण काव्य का जीवानुभूत तत्त्व औचित्य मूर्तिमान बन गया है। उनका मत है कि कालिदास जैसे रससिद्ध कवि भी कहीं-कहीं रसोचित व्यंजना करने में चूक गये हैं जिसके कारण उनकी काव्य-दीप्ति में धूमिलता का संचार हो गया है। उन्होंने हास्य रस का औचित्य निरूपित करते हुए उदाहरणपूर्वक यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि उसमें गौणरूप से प्रयुक्त शृंगाराभास का स्पर्श उसकी मुख्य रस-योजना को उसी प्रकार चमत्कारपूर्ण बना देता है जिस प्रकार किसी श्रेष्ठ आसव के आम्ररस का सम्मिश्रण और अधिक मादकता प्रदान करता है। हाँ, जहाँ पर हास्यरस की निष्पत्ति में बीभत्स रस का अधिवास हो जाता है तो वह 'लशुनलिप्त कुसुम शेखर' की भाँति जुगुप्सित और अनीप्सित बनकर औचित्य-चर्वणा में बाधा उपस्थित कर देता है। वस्तुतः उनका रसौचित्य विवेचन अत्यन्त हृदयहारी और तत्त्वसंवलित है। उन्होंने सुप्रसिद्ध काव्य-ग्रंथों से विविध उदाहरणों का चयन कर उनका जो रसगत औचित्य एवं अनौचित्य विवेचित किया है, वह पठनीय है। उस विवेचन के आलोक में किसी भी काव्य का रसौचित्य-विमर्श करने की सहज दृष्टि प्राप्त की जा सकती है। वस्तुतः रसौचित्य का समुचित निर्वाह करने के लिए कवि को भावोचित व्यापारों की योजना तथा विभावानुभावों की प्रसंगोचित प्रतिष्ठा करने का भी पूर्ण ध्यान रखना चाहिए जिससे रससिद्धि में बाधा न पड़े और कवि का अभीष्ट प्रयोजन सिद्ध हो जाय। क्षेमेन्द्र

१. क्षेमेन्द्र, औचित्य विचार चर्चा, कारिका १६।

ने रस की संसृष्टि और संकर में भी औचित्य की संघटना निम्नलिखित कारिकाओं में निर्दिष्ट की है—

यथा मधुरतिक्ताद्या रसाः कुशलयोजिताः।
विचित्रास्वादतां यांति श्रृंगाराद्यास्तथा मिथः ।।१७।।
तेषां परस्पराश्लेषात्कुर्यादौचित्यरक्षणम् ।
अनौचित्येन संस्पृष्टः कस्यैष्टो रससंकरः ।।१८।।

अर्थात् मधुर और तिक्त आदि रसों को कुशलतापूर्वक योजित करने पर जैसे एक विचित्र प्रकार का आस्वाद उत्पन्न होता है वैसे ही श्रृंगार आदि रसों के परस्पर मिश्रण से विलक्षण रसानुभूति होने लगती है। कवि का कर्तव्य है कि वह उनके पारस्परिक आश्लेष में औचित्य की सुरक्षा का ध्यान रखे क्योंकि अनौचित्य का संस्पर्श रसों की संसृष्टि तथा संकर में भी अनिष्टकर ही होता है। वस्तुतः रसों की अंगांगिभाव योजना अन्योन्याश्रित होकर अपने औचित्य का रक्षण करती है तथा अनौचित्य की धूलि से स्पृष्ट काव्यरस का आस्वादन किसी भी सहृदय की आत्मतुष्टि के लिए सुग्राह्य नहीं होता।

काव्यग्रन्थों के शास्त्रीय अध्ययन से रस-संसृष्टि और रस-सांकर्य के ऐसे अनेक उदाहरण अन्वेषित किये जा सकते हैं जिनसे पता चलता है कि उनमें औचित्य-सिद्धांत का निर्वाह करने में कवियों को किस कोटि की सफलता मिली है। कवियों ने कहीं शांत और श्रृंगार रस के अंगांगिभाव में रस-सांकर्य का औचित्य अभिव्यक्त किया है तो कहीं वीर और करुण रस के सांकर्य में औचित्य निर्वाह की संसिद्धि की है। भावों के बलाबल के अनुरूप शांत, श्रृंगार, करुण और बीभत्स रसों का संकरौचित्य भी कुशल कवियों की कृतियों में उपलब्ध होता है। वास्तव में किसी अंगीरस के उपकारक बनकर जब अन्य रस उसकी निष्पत्ति में सहायक और अपेक्षित बनकर आते हैं तो उनमें संकरौचित्य के गुण स्वतः संचरित हो जाते हैं। मुख्य रस की अभिव्यक्ति में संलीन रसों की स्थिति मृत्यवत् है जो अपनी स्तिमित वृत्ति में भी अपना औचित्य प्रदर्शित करते ही हैं। वस्तुतः रसों का अविरोधी अंगांगिभाव ही रसगत संकरौचित्य को उत्पन्न कर सकता है, अन्यथा काव्यकृतियों में ऐसे भी अनेक उदाहरण मिल जाते हैं जिनमें संकरौचित्य का भंग विद्यमान है। इस विषय में आचार्य आनंदवर्धन ने उचित ही कहा है कि 'कोई भाव विरोधी हो या अविरोधी, अन्य रस के अंगी होने पर उसकी पुष्टि नहीं करनी चाहिए। इसी से अविरोध बनता है।[1] आचार्य क्षेमेन्द्र का मत है कि विरुद्ध भाव के वर्णन के अनौचित्य से प्रधान भाव की स्थिति उस हाथी के समान हो जाती है जो किसी गर्त में गिरकर पुनरुत्थान का उत्साह खो बैठता है।[2]

क्षेमेन्द्र ने क्रियापद के औचित्य की स्थिति में काव्य की गुणवत्ता, छंदोविचिति और साधुता को सत्पुरुष की भाँति शोभनीय माना है। इसका स्पष्टीकरण इस प्रकार

१. विरोधी वाविरोधी वा रसो ङ्गिनि रसांतरे।
परिपोष न नेतव्यस्तेन स्यादविरोधिता ।।

२. विरुद्ध वर्णनोदितेन ह्यनौचित्येन स्थायीकुंजरः इव श्वभ्रपातितः पुनरुत्थातुं नोत्सहत इत्यलं विस्तरेण।

किया जा सकता है कि जिस प्रकार श्रेष्ठ कर्मों को सम्पादित करने से किसी सत्पुरुष के विनय आदि गुण, व्यवहार तथा उसकी साधुता प्रशंसनीय होते हैं उसी प्रकार क्रियापदों के औचित्यपूर्ण होने से काव्य के माधुर्य आदि गुण, वसंततिलका आदि छंद और उसकी साधुता अच्छी लगती है। औचित्यपूर्ण क्रिया-पदों में काव्य के गुणों और छंदों को निखारने की शक्ति होती है जिसके कारण काव्य की रससिद्धि और उत्कृष्ट व्यंजना में भी चमत्कार उत्पन्न हो जाता है। काव्य-रचना में क्रियापदों की भाँति कारकों का औचित्य भी शोभनीय है। क्षेमेन्द्र के मतानुसार उचित कारकों से समन्वित वाक्य उसी प्रकार की शोभा प्राप्त करता है जिस प्रकार किसी कुल का आभरण और ऐश्वर्य उसके उदार चरितों से शोभायमान होता है। कारकों का औचित्य केवल कर्तागत ही नहीं होता अपितु कर्म, करण, सम्प्रदान, अपादान, सम्बन्ध और अधिकरण आदि कारकों में भी विन्यस्त रहता है। श्रेष्ठ काव्यों के गम्भीर अनुशीलन से कारकगत औचित्य का अनुसंधान करना सुधी समीक्षकों के लिए कठिन कार्य नहीं है।

काव्य में लिंगगत औचित्य का तात्पर्य है प्रसंगोचित लिंगों का प्रयोग। ऐसे प्रयोगों से काव्यशरीर की भव्यता उसी प्रकार बढ़ती है जिस प्रकार साम्राज्यसूचक शुभ लक्षणों से राजोचित शरीर की कांति में चारुता का संचार होता है। लिंगगत औचित्य का उदाहरण 'ललितरत्नमाला' का वह श्लोक[1] कहा जा सकता है जिसमें रत्नावली के विरह में विधुरचेता बने हुए वत्सराज की कामदशा को संसूचित करने के लिए 'निद्रा', 'धृति', 'स्थिति', 'कथा' तथा 'निर्वृति' आदि स्त्रीलिंगवाची पदों का प्रयोग कर उनमें स्त्रीत्व का आरोप करते हुए उनका औचित्य सिद्ध किया गया है। वास्तव में उक्त श्लोक के रूप में कवि ने विदूषक द्वारा वत्सराज की विरतावस्था द्योतित की है जिससे सिद्ध होता है कि वह अपनी प्रेयसी रत्नावली के गुणों का ही निरंतर जपध्यान करता हुआ निःसंग भाव से रहता है और परांगनाओं के नाममात्र को ही सहन नहीं करता। कहने की आवश्यकता नहीं कि यदि कवि पूर्वोक्त 'निद्रा' आदि स्त्री लिंगवाची शब्दों के स्थान पर पुंल्लिग अथवा नपुंसकलिंग शब्दों का प्रयोग करता तो उनमें वह चमत्कार नहीं आ सकता था।

काव्य में वचनगत औचित्य का परिपालन करने से उसकी चारुता का विन्यास उसी प्रकार होता है जिस प्रकार विद्वानों का मुख रुचिर, उचित, अदीन और चारुतापूर्ण वचनों से सुशोभित होता है। वचनगत औचित्य की योजना में कुशल कवि इस बात का ध्यान रखते हैं कि एकवचन, द्विवचन तथा बहुवचन वाची शब्दों के प्रयोग किन-किन स्थलों पर किये जाएं जिनसे काव्यों की चारुता में चमत्कृति आ सके। वचन-प्रयोग करते समय कवि को वर्ण्य विषय के प्रसंगों और पात्रों की परिस्थितियों का ध्यान अवश्यमेव रखना चाहिए। उदाहरणार्थ यदि कोई कवि अपने महाकाव्य के नायक का शौर्य प्रदर्शित

---

१. निद्रां न स्पृशति त्यजत्यपि धृतिं धत्ते स्थितिं न क्वचि,
दीर्घा वेत्ति कथा व्यथां न भजते सर्वात्मना निर्वृतिम्।
तेनाराधयता गुणस्तव जयध्यानेन रत्नावली,
निःसंग न परांगनापरिगतं नामापि नो सह्यते॥

करना चाहे तो उस शौर्य का प्रदर्शन नायक के कार्यों को बहुवचनों में द्योतित करते हुए तथा प्रतिनायक के पराक्रम को केवल एकवचन में ही निर्दिष्ट करते हुए व्यक्त करना चाहिए जिससे नायक का शौर्य-वैलक्षण्य विशिष्ट रूप में परिलक्षित हो सके। संस्कृत काव्यों में सामान्यतः यश-वर्णन के प्रसंग में 'यश' शब्द का प्रयोग बहुवचन में हुआ है जिसका अभिप्राय यह है कि यश का प्रचार अनेकत्र होता है और यदि उसका वर्णन एकवचन में किया जाय तो उसका स्वरूप पिण्डमात्र में सीमित-सा हो जाता है। जिन भाषाओं में द्विवचन के प्रयोग की परम्परा है, वहाँ पर द्विवचन का सुष्ठु प्रयोग करते हुए कवियों ने उनमें वचनगत औचित्य का भी निर्वाह किया है।

काव्य में विशेषणों के समुचित प्रयोग से उसके विशेष्य अर्थों की शोभा उसी प्रकार बढ़ती है जिस प्रकार गुणोदार सत्पुरुष की शोभा गुणशास्त्री मित्रों के संसर्ग से होती है।[1] वस्तुतः विशेषणों के समुचित प्रयोग से विशेष्य पदों के उत्कर्ष का अभिव्यंजन स्वतः ही हो जाता है अतः कवि को चाहिए कि वह अपनी रचना में जिस प्रकार की वस्तु व्यंजना अथवा भावव्यंजना करना चाहे उसे मूर्तिमान और जीवंत बनाने के लिए ऐसे विशेषणों का प्रयोग करे जिनमें बिम्बविधान कराने की क्षमता हो। यदि किसी कवि को अपनी कृति में निर्वेद की व्यंजना करना अभीष्ट है तो उसे तद्व्यंजक विशेषण पदों का प्रयोग करना चाहिए। श्रृंगार रस की व्यंजना के लिए रति-व्यंजक विशेषण जितने अधिक औचित्यपूर्ण सिद्ध होते हैं उतने परुषभाव व्यंजक विशेषण नहीं हो सकते। विशेषणगत औचित्य का सम्यक् निर्वाह करने के लिए आवश्यक है कि कवि विशेषण शब्दों की शक्ति तथा सीमा से सुपरिचित हो। जिस कवि की प्रतिभा में शब्द की अनंत शक्ति का जितना अधिक समाहार होता है, वह उनके विशेषणगत औचित्य के परिपालन में उतनी अधिक सफलता प्राप्त कर सकता है। बाण, सुबंधु तथा दण्डी आदि गद्यकार विशेषण प्रयोगों के नेपुण्य में उतने ही निष्णात थे जितने कालिदास और भारवि आदि पद्य काव्यकार।

क्षेमेन्द्र ने काव्यगत उपसर्गौचित्य का निरूपण करते हुए लिखा है कि योग्य उपसर्ग के संसर्ग से निरर्गल गुणोचित सूक्ति उसी प्रकार शोभाशालिनी बनती है जिस प्रकार सन्मार्ग के समाश्रयण से सम्पत्ति।[2] उदाहरणार्थ किसी वैभवशाली के अभिमान को द्योतित करने के लिए उसे 'तुंग दर्प' वाला कहने के स्थान पर 'उत्तुंग दर्प' वाला कह दिया जाय तो तुंग के पूर्व 'उत्' उपसर्ग का प्रयोग करने से 'तुंग' का स्वाभाविक अर्थ द्विगुणित रूप में उत्पन्न हो जायगा और उससे दुर्मद अभिमान का अर्थ ध्वनित होकर उसके औचित्य को प्रकृष्ट बना देगा। वस्तुतः उपसर्गों में अर्थ-द्योतन की विशेष क्षमता होती है जिनका औचित्यपूर्ण संयोजन काव्य-सम्पत्ति के उत्कर्ष में गुणवृद्धि का कारण बनता है। उपसर्गों की व्यंजना से सुविज्ञ कवि ही उनका प्रयोगगत सौन्दर्य प्रदर्शित करने में समर्थ हो सकते हैं। हाँ, यह बात अवश्य ध्यान देने योग्य है कि कभी-कभी पादपूरण

१. क्षेमेन्द्र, औचित्य विचार चर्चा, २३।
२. वही, २४।

अथवा छन्द-पूर्ति के लिए ही उपसर्गों का संयोजन किया जाता है तो उनमें औचित्य-निर्वाह का वह गुण नहीं आ सकता तो उनकी सहज और सशक्त प्रक्रिया में सम्भव है। कभी-कभी तो अनुचित तथा व्यर्थवत् उपसर्गों का संयोजन काव्य के रसापकर्ष का भी कारण बन जाता है।

निपातौचित्य के सम्बंध में आचार्य क्षेमेन्द्र का कहना कि जिस प्रकार उचित स्थानों पर नियुक्त किये गये सचिवों से राज्य-व्यवस्था में निपुणता आती है उसी प्रकार काव्य कृति में 'च' आदि निपातों का समुचित संयोजन काव्य की अर्थसंगति को शोभनीय बनाता है।[१] सभी भाषाओं के काव्यों में निपात-प्रयोगों की एक परम्परा है जिनका अर्थ-बोध करने पर उनका वैशिष्ट्य समझा जा सकता है। सम्बोधन-काव्यों में 'रे', 'अरे', 'हे' आदि निपातों के यथोचित प्रयोगों से उनकी भाव-व्यंजना का सौन्दर्य तो बढ़ता ही है, साथ ही साथ उनमें प्रभावातिशय्य का भी संचार होता है। कभी-कभी पाद-पूर्ति के लिए निपातों का जो प्रयोग किया जाता है, वह निरर्थक-सा होता है। क्षेमेन्द्र ने एक से अधिक वस्तुओं के संयोग में 'च' और निपात का प्रयोग सार्थक माना है किंतु पूर्वापर पदों की असंबद्धता में उसकी स्थिति वैसी ही मानी है जैसे किसी विवाहोत्सव में अनिमंत्रित और अपरिचित व्यक्ति के प्रकट होने पर उसे लज्जा और खेद का पात्र बनना पड़ता है। निरर्थक निपातों की स्थिति तभी तक गोपनीय है जब तक काव्य-सौन्दर्य का शास्त्रीय विवेचन न किया जाय। उसकी विवेचना के द्वारा उनकी व्यर्थता सिद्ध करना कोई कठिन कार्य नहीं है।

काव्य में कालोचित अर्थ का सन्निवेश उसे उसी प्रकार सुंदर बनाता है जिस प्रकार समयोचित वेशविन्यास की रमणीयता से सत्पुरुषों का शरीर सुशोभित होता है।[२] कालौचित्य के अंतर्गत भूत, भविष्यत् और वर्तमान संज्ञक तीनों कालों की गणना होती है। रसनिष्णात कवियों की वाणी अपने काव्य-विषय के प्रसंगानुरूप कालोचित प्रयोग करते हुए इस बात का अभीष्ट ज्ञान रखती है कि किस काल के वाचक पदों में कालोचित रमणीयता के तत्त्व विद्यमान हैं। कहीं भूतकाल का प्रयोग काव्य-वर्णित आश्चर्य का परिपोषक होता है तो कहीं वर्तमान काल की प्रयोग-विधि में वर्ण्यमान विषय का औचित्य तथा भविष्यत् काल की क्रिया में वर्तिष्यमाण कार्य की प्रकृष्ट विधि संचरित रहती है। एक ही छंद में विभिन्न कालों की क्रियाओं का प्रयोग किन-किन कारणों से औचित्यपूर्ण हो सकता है, इस विषय का सम्यक् परिज्ञान करने के पश्चात् ही कवियों को उनके प्रयोग-कार्य में तत्पर होना चाहिए अन्यथा उनसे काव्य की भूमिका दूषित हो सकती है। औचित्य-चर्चा के सैद्धांतिक विवेचन की मर्यादा में हम इसका सामान्य उल्लेख करना ही पर्याप्त समझते हैं क्योंकि व्यावहारिक समीक्षा के अवसर पर ही इसकी विशद व्याख्या करना अधिक व्यवहार्य है।

क्षेमेन्द्र ने देशौचित्य के द्वारा काव्यार्थ की हृदय-संवेद्यता का निरूपण करते हुए

१. क्षेमेन्द्र, औचित्य विचार चर्चा, २५वीं कारिकावृत्ति।
२. वही, २६वीं कारिकावृत्ति।

लिखा है कि वह परिचयाशंसी सज्जनों के व्यवहार की भाँति ही हृदय-संवादी होता है। उदारहणार्थ महाकवि भवभूति ने 'उत्तररामचरित' नाटक के अंतर्गत शम्बूक-वध के निमित्त दण्डकवन में उपस्थित राम द्वारा वहाँ की पूर्वानुभूत प्रकृति के साथ परिवर्तित प्रकृति का जो साम्य निरूपित कराया है वह अत्यंत हृदयहारी और देशोचित है। उस चित्रण में राम ने अपने वनवास के समय जहाँ नदियों का प्रवाह देखा था वहाँ तट का, तथा जहाँ वृक्षों की सघनता देखी थी वहाँ उनकी विरलता का उल्लेख करते हुए पर्वत-राशि के पूर्ववत् सन्निवेश द्वारा जिस देशस्वभाव का वर्णन किया है वह देशौचित्य का द्योतक है। देशौचित्य के इस निकष पर विविध कवियों की कृतियों की वास्तविकता का परीक्षण सहजरीत्या किया जा सकता है। देश-विशेष की प्रकृति के चित्रण में विविध वस्तुओं का देश-संभव उल्लेख करने से काव्य-योजना में जहाँ चारुतापूर्ण चमत्कार अनुसृष्ट होता है वहाँ यदि कोई कवि किसी देश-विशेष की विशिष्ट वस्तु का वर्णन करने में प्रमाद कर दे तो वहाँ उस औचित्य में अपकर्ष आ जाता है। इसका एक प्रमाण हरिऔध जी के 'प्रियप्रवास' का वह प्रसंग है जहाँ उन्होंने वृन्दाटवी के वर्णन में विविध वृक्षों का चित्रण करते हुए वहाँ के प्रिय वृक्ष करील का नामोल्लेख भी नहीं किया है।

क्षेमेन्द्र ने सहृदयजनों के लिए काव्य के कुलोपचित औचित्य को उसी प्रकार विशेषोत्कर्ष का कारण माना है जिस प्रकार किसी व्यक्ति की वंशपरम्परा का उदात औचित्य सज्जनों को प्रिय लगता है।[1] उदाहरणार्थ कालिदास ने रघुवंश के अंतर्गत जहाँ इक्ष्वाकु वंश के राजाओं के कुलव्रत का जो औचित्य-वर्णन किया है वह उस वंश के भूत, भविष्य और वर्तमान इन तीनों कालों के राजाओं के आचारौचित्य के अनुकूल है। उस औचित्य की गरिमा इस तथ्य में भी है कि ऐसे वर्णनों में यदि इक्ष्वाकुवंश की विशेषताओं का द्योतन करने के लिए समुचित विशेषणों का संयोजन न कर केवल विशेष्य पद का ही प्रयोग किया जाता तो भी उसमें किसी प्रकार का अनौचित्य नहीं आ सकता था, क्योंकि वह वंश अपनी श्रेष्ठता में विश्वविश्रुत है। इसके अतिरिक्त यदि कोई कवि किसी अप्रसिद्ध वंश का वर्णन करते हुए उसके लिए समुचित विशेषणों का प्रयोग न करे तो वहाँ के कुलौचित्य में हीनता आ सकती है क्योंकि काव्यादि कृतियों में उसकी प्रसिद्धि न होने के कारण उसका उत्कर्ष व्यंजित नहीं हो सकता।

सद्वृतों के औचित्य गौरव से भी जो काव्यार्थ साधुवादयोग्य बन जाता है, वह अपनी विच्छित्ति के कारण जनमानस में संतोषजन्य निर्भरता उत्पन्न करता है। उदाहरणार्थ यदि कोई कवि तपोधन महर्षियों के योग्य व्रत की व्यंजना अपनी कृति के माध्यम से करना चाहे तो उसके लिए उचित है कि वह वल्कल, भस्म तथा अक्षमाला आदि महर्ष्युचित वस्तुओं का उल्लेख ऐसी सुष्ठुता से करे जिससे ऐसा प्रतीत होने लगे कि वृक्षादि अचेतन पदार्थों में भी वैराग्योचित निर्मल चित्तवृत्ति का संचार हो गया है। जो कवि वैराग्य के निर्मुक्त रूप का वर्णन की भावना से प्रेरित होकर भी उसका अवदात स्वरूप अंकित नहीं कर पाता, उसकी रचना व्रतौचित्य की दृष्टि से सफल नहीं कही जा सकती।

---

१. क्षेमेन्द्र, औचित्य विचारचर्चा, कारिका २८।

काव्य-कृतियों में तत्त्वौचित्य के समावेश से भी ऐसे हृदयसंवादी सत्यों का समुचित अभिधान हो जाता है जिसके प्रति काव्य-भावकों का प्रत्यय स्थिर और आस्थापूर्ण बन सकता है। इस प्रकार के प्रत्ययों की प्रतिस्थापनाओं में प्राक्तन संस्कार भी उपयोगी सिद्ध होते हैं। तत्त्वौचित्य का पर्याप्त सम्बन्ध हमारी संस्कृतिजन्य मान्यताओं से भी है जिसके कारण काव्यकृतियों में भी भौतिकता और आध्यात्मिकता के तत्त्वों का देशकालानुरूप समावेश होता है। इसी तत्त्वौचित्य से ही सम्बद्ध सत्वौचित्य भी है जिसकी व्याख्या करते हुए क्षेमेन्द्र ने लिखा है कि सत्व अथवा मनोबल से उचित बना हुआ कवि का वचन अपने चमत्कार का अभिव्यंजन उसी प्रकार करता है जिस प्रकार बुद्धिमान व्यक्ति का विचारपरक उदार चरित स्वतः विज्ञप्त हो जाता है। उदाहरणार्थ यदि कोई कवि राम तथा युधिष्ठिर के समान धीरोदात्त नायकों के सत्वोत्कर्ष का वर्णन समुद्र के व्यपदेश से करते हुए यह सिद्ध करना चाहे कि महज्जनों के गुरुगम्भीर चरित्र में क्षुद्रता और विकृति नहीं होती तो निश्चय ही वैसा काव्यार्थ सत्वौचित्य की गरिमा से ही मंडित माना जायगा।

अभिप्रायौचित्य का तात्पर्य केवल इतना ही है कि कवि का वाक्यार्थ बिना किसी क्लेश अथवा क्लिष्टता के अपना अभिप्राय उसी प्रकार समर्पित कर दे जिस प्रकार सज्जनों की निर्दुष्ट ऋजुता सभी व्यक्तियों के चित्त को आवर्जित कर देती है। स्वभावौचित्य को तो क्षेमेन्द्र ने काव्योक्तियों का भूषण कहकर उसे युवतियों के अकृत्रिम एवं असामान्य लावण्य से उपमित किया है। सारसंग्रहौचित्य के सम्बन्ध में उनका कहना है कि सार का संग्रह व्यंजित करने वाले वाक्य से काव्यार्थ का फल उसी प्रकार निश्चित हो जाता है जिस प्रकार शीघ्र समाप्त होने वाले कार्य का फल सर्वजन-प्रिय होता है। प्रतिभागत औचित्य को उन्होंने कलाकृति का आभरण कहा है क्योंकि प्रतिभा का समुचित सम्पुट काव्योक्तियों को उसी प्रकार अलंकृत करता है जिस प्रकार किसी गुणवान व्यक्ति का कुल उसके निर्मल ऐश्वर्य से विभूषित होता है। भट्टतौत ने प्रतिभा को जिस अर्थ में नवनवोन्मेशशालिनी प्रज्ञा कहा है उसका अभिप्राय भी यही है कि प्रतिभौचित्य काव्यार्थ में नित्य नूतन प्रज्ञा का चमत्कार उत्पन्न करने की क्षमता होती है। प्रतिभाशाली कवियों की रचनाओं में एतादृश औचित्य के प्रचुर उदाहरण सहजरीत्या उपलब्ध किये जा सकते हैं।

क्षेमेन्द्र ने अवस्थौचित्य से उपबृंहित काव्य को उसी प्रकार विश्व-वंद्य कहा है जिस प्रकार बुद्धिमान का विवेकसम्मत कार्य सभी व्यक्तियों के लिए आदर्श और अनुकरणीय होता है। उदाहरणार्थ यदि कोई कवि किसी वयः संधि प्राप्त नायिका की अवस्था का चित्रण करते हुए उसकी ऐसी क्रीडाओं का वर्णन करे जिनमें शैशव और यौवनकाल की धूप-छांही अवस्थाजन्य प्रवत्तियों का सम्मिश्रण हो तो वहाँ अवस्थौचित्य काव्यार्थ का अभिचित्रण माना जायगा।

विचारौचित्य के सम्बन्ध में आचार्य क्षेमेन्द्र का कहना है कि जिस प्रकार मनीषियों की विद्या वैध तत्त्व के अवबोध से और अधिक शोभनीय बन जाती है उसी प्रकार काव्योक्तियों में उचित विचार का अभिधान होने से अधिक चारुता आ जाती है।[1]

---

१. क्षेमेन्द्र, औचित्य विचार चर्चा, कारिका ३७।

इस प्रकार के औचित्य में तत्त्व का अवगम प्रकट करते हुए सहृदय संवेद्य-विचारों का अभिव्यंजन किया जाता है। उदाहरणार्थ यदि कोई कवि द्रोणाचार्य के वध-प्रसंग में दृढ़व्रती धर्मराज द्वारा 'अश्वत्थामा मारा गया' कहलाकर धीरे से उससे 'कुंजर' कहलावे और उस पर यह उत्प्रेक्षा करे कि लक्ष्मी के कारण दूषित होकर युधिष्ठिर वैसा कहने के लिए उद्यत हुए तो उसमें विचारगत औचित्य का ही रूप माना जायगा।

अब केवल नामौचित्य, आशीर्वचनौचित्य तथा काव्यांगौचित्य का विमर्श करना अवशिष्ट है। उनके विषय में क्षेमेन्द्र का मत है कि यदि किसी काव्यार्थ में नाम का प्रयोग औचित्यपूर्ण होता है तो पुरुष के समान काव्य के गुण और दोषों की अभिव्यक्ति भी प्रसंगानुकूल हो जाती है। उदाहरणार्थ यदि कोई कवि कामदेव के लिए 'पंचवाण' तथा 'विलासायुध' जैसे नामों का प्रयोग कर उनका कर्मानुरूप चित्रण करे तो उनमें यथा नाम तथा गुण:' का औचित्य आ जायगा। इस नामौचित्य का सम्बन्ध पर्यायवाची शब्दों के प्रयोग से भी है। एक ही भगवान् शंकर के लिए 'रुद्र', 'भव' और 'पिनाकपाणि' आदि विभिन्न पर्यायवाची नाम हैं किंतु उनका प्रयोग करने के पूर्व जो कवि प्रसंगानुरूप नाम का चयन करता है वहीं पर नामौचित्य का सुचारु प्रयोग हो सकता है। इन्द्र के लिए 'वज्री', 'शचीश' और 'सहस्राक्ष' नामों का प्रयोग करने के पूर्व कवियों को नामौचित्य का महत्त्व समझ लेना चाहिए।

आशीर्वचन के औचित्य का यह अभिप्राय है कि मनीषियों को संतोष प्रदान करने वाले तथा पूर्णार्थ के प्रदाता काव्य में उचित आशीर्वचन राजा को दिये गये आशीर्वाद की भाँति अभ्युदयकारी होता है। इस प्रकार के औचित्य का निर्वाह करने वाले कवि मंगलाचरण के रूप में जिस देवता का आह्वान करते हैं उसके गुणों का संस्तव कर अंत में जिस आशीर्वचन का उल्लेख करना चाहते हैं वह उस देवता की प्रसिद्धि के अनुरूप ही होना चाहिए। उदाहरणार्थ कामदेव की स्तुति में 'कामदेव आपकी रक्षा करे' के स्थान पर 'कामदेव आपको प्रीति प्रदान करे' का आशीर्वचन अधिक औचित्यपूर्ण है क्योंकि कामदेव स्वयं प्रीतिरूप है। इन औचित्यों के अतिरिक्त अन्यान्य काव्यांगों का भी औचित्य होता है जिनका निर्देश मात्र करते हुए क्षेमेन्द्र ने लिखा है कि उन काव्यांगों में भी इसी पद्धति से औचित्य का विचार करना समुचित है क्योंकि उनकी संख्या अनंत है।

निष्कर्ष यह है कि काव्य-रचना को सरस और रमणीय बनाने के लिए उसके अवयव भूत रूपों में जिन औचित्य प्रकारों का विवेचन आचार्य क्षेमेन्द्र ने किया है, वह अपनी तात्त्विकता में अत्यंत श्लाघ्य है। यों तो क्षेमेन्द्र के अतिरिक्त अन्य आचार्यों ने भी रस, गुण, अलंकार, रीति, ध्वनि और वक्रोक्ति आदि काव्य-तत्त्वों की विवेचना के प्रसंग में यथामति औचित्य-निर्वाह का विमर्श करते हुए अपनी मान्यताएँ व्यक्त की हैं, किन्तु क्षेमेन्द्र को इस क्षेत्र में सर्वाधिक सम्मान प्राप्त हुआ है। यही कारण है कि हमने उन्हीं को प्रधान उपजीव्य बनाकर काव्यसर्जना के विवेच्य प्रसंग में उनके मत का विशेष ध्यान रखा है। उनके पूर्ववर्ती तथा परवर्ती आचार्यों के एतद्विषयक विवेचन का अभीष्ट अंश उनकी मान्यताओं में स्वत: समाहित हो जाता है। कहने के लिए औचित्य को काव्य-विधान का एक स्वतंत्र सिद्धांत मानने की एक परम्परा-सी बन गई है, किंतु सत्काव्यों की सर्जना

और आस्वाद्यता के लिए यह एक ऐसा सर्वव्याप्त तत्त्व है जिसके अभिनिवेश के द्वारा कवि, कर्म, काव्य-कृति और भावक-कर्तव्य की चरम परिणति सहज सम्भव है। काव्य-जगत् में औचित्य-संचार की शास्त्रीय विवेचना के पश्चात् अब हम प्रबंध-काव्य की रस-व्यंजना के संदर्भ में उसकी विशेष चर्चा करेंगे क्योंकि काव्य का वह अनुबंध तथाकथित इतर काव्य-प्रकारों से इतना अधिक विभुतापूर्ण और व्यापक है कि उसके विशाल साम्राज्य में अन्य काव्यरूपों की सत्ता मांडलिक नरेशों के तुल्य प्रतीत होती है। हमारा यह विवेचन जहाँ एक ओर रसों के अंगांगिभाव का औचित्य निरूपित करता हुआ चलेगा वहाँ दूसरी ओर उन औचित्य हेतुओं का भी स्पष्टीकरण कर सकेगा जो रसाभिव्यंजना में उपयोगी सिद्ध होते हैं। यह विवेचन यों तो काव्य के रसास्वाद के विवेच्य खंड में भी समीकृत किया जा सकता था, किंतु हमने उसे काव्य-सर्जना के अधिकरण में केवल व्यावहारिक सुविधा, की दृष्टि से ही संयोजित किया है। सच तो यह है कि काव्य-सर्जना और काव्यास्वाद तत्त्व-दृष्टि से अभेदमूलक हैं, किन्तु विश्व-प्रपंच की भाँति उनका व्यवहारगत विभेद भी तो स्वीकार करना पड़ता है।

प्रबंध-काव्यों का रसाभिव्यंजक औचित्य

कथानुबंध की दृष्टि से प्रबंध-काव्य काव्यभेदों का प्रथम प्रकार है जिसके विशाल परिवेश में जीवन की अभिव्यक्ति के व्यापक अवसर विद्यमान रहते हैं। उसकी बंधगत सफलता और रसगत सिद्धि का विवेचन भारतीय काव्यशास्त्र का एक प्रमुख विषय रहा है। यों तो भारततर देशों में भी प्रबंध-काव्य की रचना का वैशिष्ट्यपूर्ण विधान विवेचित हुआ है तथा वहाँ के काव्याचार्यों ने भी अपने-अपने सांस्कृतिक और साहित्यिक मानकों के आधार पर युग-जीवन की भूमिका में उसका विवेचन प्रस्तुत किया है, किंतु तत्तद्-विषयक धारणों का विमर्श करना हमारे शोध-प्रबंध की सीमा का मूल प्रतिपाद्य नहीं है। प्रस्तुत प्रसंग में हमें प्रबंध-काव्य की रसाभिव्यंजकता का उतना ही अंश स्पष्ट करना अभीष्ट है जो उसके अंगी रस के रूप से सम्बद्ध है तथा जिसमें काव्य-बंध में रसौचित्य की व्यंजना विविध प्रणालियों में प्रदर्शित होती है। इस विषय में आचार्य आनंदवर्धन के विचार विशेषतः पठनीय हैं जिन्होंने औचित्य को 'रसोपनिषद्' की पृष्ठभूमि में विवेचित करते हुए प्रबंधगत रस के अंगागि रूपों तथा उसके अभिव्यंजक हेतुओं का विश्लेषण अत्यंत सारगर्भित शब्दावली में किया है। वैसे तो उनका विवेचन भारतीय काव्यशास्त्र की मर्यादा के विशेष अनुकूल है, किंतु उसके द्वारा ऐसे अनेक तथ्यों तथा तत्त्वों का भी अन्वेषण किया जाना सहज संभव है जो विशुद्ध साहित्य-समीक्षा की दृष्टि में भारततर काव्य-साहित्यों के विमर्श के भी आधार बनाये जा सकते हैं।

अंगी रस की विवेचना का महत्त्व

प्रबंध-काव्य की विस्तार-सीमा में अंगीरस का विवेचन करना एंकाततः अनिवार्य एवं परम आवश्यक है, क्योंकि उसके बिना इस तथ्य का स्पष्टीकरण नहीं किया जा

सकता कि किसी भी समालोच्य प्रबंध का प्रमुख आस्वाद्य क्या है और उससे हमारी चित्तवृत्ति को तथाकथित 'विस्तार', 'द्रुति' अथवा 'विक्षेप' आदि से सम्बद्ध कौन-सी अवस्था प्राप्त होती है ? आचार्य भरतमुनि ने यद्यपि अंगीरस के विषय को अधिक वैशद्यपूर्वक विवेचित नहीं किया था, तथापि उन्हें स्थायी रस के रूप में उसकी परिकल्पना सुमान्य थी जिसका संकेत उनके इस कथन से मिलता है कि महाकाव्य में वर्णित अनेक रसों में से जो रस बहु अर्थात् अधिक या प्रधान रूप से विद्यमान रहता है, वह उस काव्य का स्थायी (अंगी) रस तथा शेष रस उसके संचारी (अंगभूत) रस होते हैं।[1] आचार्य आनंदवर्धन ने तो प्रबंध-काव्य की सफलता भी इस बात में मानी थी कि उसमें अनेक रसों की निबंधना का अवकाश रहने पर भी इस बात का विचार मुख्य रूप से किया जाना चाहिए कि उसका रचयिता अपने कथाबंध के अनुरूप किसी एक रस को अंगीरस के रूप में निष्पन्न करने में समर्थ हुआ है अथवा नहीं ?

अंगीरस की कल्पना का आधार

प्रबंध-काव्यों के परिवेश में अंगों की रस की परिकल्पना के मूल में अनेक तर्क-संगत आधार विद्यमान हैं। जब प्रबंध-काव्य की व्यापक भावभूमि में बहुविध रसों के संचरण के लिए अवकाश बना रहता है तो यह भी निश्चित है कि उसका कथानक जिस रस की ओर पुनः-पुनः अनुसंधित हो तथा काव्य के कलेवर में जिसकी व्याप्ति अन्य रसों की अपेक्षा कहीं अधिक हो, वही रस तत्संबद्ध प्रबंध-काव्य का अंगी रस होता है। वस्तुतः किसी प्रबंध-काव्य के रस-विधान में अंगीरस की स्थिति वैसी ही है जैसी किसी स्थायिभाव की स्थिति रस-निष्पत्ति के अन्यान्य अवयवों के समक्ष रहती है। जिस प्रकार विभावानुभावों और संचारिभावों के सम्यक् उद्रेक से स्थायिभाव को रस रूप में निष्पन्न होने का संबल प्राप्त होता है, उसी प्रकार किसी प्रबंध-काव्य में व्याप्त विभिन्न अंगभूत-रस उसके अंगी अथवा प्रधान रस को संपोषण प्रदान करते हैं। कहने की आवश्यकता नहीं कि अंगी रस का मूल सम्बन्ध प्रबंध-काव्य के अंगी पात्र से होता है जिसकी मुख्य वृत्ति को काव्य के कथानक में परिबृंहित करना कवि का मूल प्रयोजन होना चाहिए। अंगीरस में प्रबंध-काव्य के नायक की कथा का आनयन तथा उसकी जीवन-साधना का सत्व समाहित होता है, यह एक सुनिश्चित धारणा है।

अंगी रस की नाट्यकाव्यगत उपयोगिता

श्रव्य काव्य के अंतर्गत परिगणित होने वाले प्रबंध-काव्यों की भाँति दृश्यकाव्यों में भी अंगी रस के महत्त्व की ओर आचार्यों का ध्यान सदैव आकृष्ट रहा है। नाट्यदर्पण-कार रामचंद्र-गुणचंद्र का मत है कि नाटक में नायक के औचित्य के अनुसार किसी न किसी प्रकार के एक रस का प्राधान्य अवश्य होना चाहिए जिसे अन्य रसों से यथावसर

---

१. बहूनां समवेतानां रूपं यस्य भवेद् बहु।
स मंतव्यो रसः स्थायी शेषाः संचारिणो मताः।—नाटयशास्त्र, ७।१२०।

संपोषण मिलता रहे तथा जिसमें नायक की चित्तवृत्ति को फलोन्मुख करने की क्षमता विद्यमान हो। नाट्यदर्पण के विवेचन के आधार पर यह निष्कर्ष सहज भाव से निकाला जा सकता है कि अंगी रस का प्रत्यक्ष सम्बन्ध नायक के घटना-व्यापारों अथवा क्रिया-कलापों के साथ है जिसमें रागात्मिका वृत्ति का प्राधान्य होने के कारण शृंगार रस की निष्पन्नता के लिए अधिक अवसर हो सकते हैं। शृंगार के पश्चात् वीर तथा करुण रसों को भी अंगी रस के रूप में नाट्यान्तर्गत निरूपित करने की दिशा में प्रयत्न किये गये हैं। इस विषय में कोई कठोर नियम तो नहीं बनाया जा सकता कि नाट्य काव्यों का प्रधान रस क्या होना चाहिए पर इतना अवश्य कहा जा सकता है कि उसका मुख्य सम्बन्ध नाटक के प्रधान पात्र से होता है, अतः उस पात्र की मुख्य मनोवृत्ति जिस दिशा की ओर विशेष रूप से प्रधावित हो अथवा जिसके जीवनांश के जिस रूप को लेकर नाटक की रचना की गई हो, उसे प्राधान्य प्रदान करते हुए तदनुकूल औचित्य के अनुसार ही उसकी निबंधना की जानी चाहिए। वस्तुतः मुख्य पात्र ही नाटक अथवा प्रबंध-काव्य के फल के भोक्ता होते हैं अतः अंगी रस की परिवहन-शक्ति उन्हें फल-पर्यन्त पहुंचाने तथा उन्हें फलागम का आस्वादन प्रदान कराने तक अवश्य होनी चाहिए।

विभिन्न देशों के आचार्यों ने प्रबंध तथा नाट्य काव्यों का विवेचन करते हुए अंगी रस की उपयोगिता स्वीकार की है। पाश्चात्य समीक्षकों ने यदि अंगी रस के रूप में काव्यास्वाद की अंतिम परिणति को व्याख्यात किया है तो भारतीय आचार्यों ने प्रबंधध्वनि का अंतिम ध्येय उसके मूल रस की निष्पन्नता में माना है। साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ को अंगी रस की गरिमा का सम्यक् ज्ञान था, जिसे लक्षित कर उन्होंने स्पष्ट शब्दों में इस बात का उल्लेख किया है कि महाभारत में शांत, रामायण में करुण और मालतीमाधव तथा रत्नावली में शृंगार रस का उद्रेक अंगी रस के रूप में हुआ है। वस्तुतः अंगी रस की विवेचना के बिना प्रबंध-काव्य के आस्वाद का मुख्य अंग अस्पृष्ट सा रह जाता है अतः उसका अन्वेषण करने की दिशा में प्रयत्न करते हुए उसका प्रकाशन अवश्यमेव किया जाना चाहिए।

रसों के अंगांगिभाव का खण्डन-मण्डन

काव्यास्वाद के विमर्शकों में एक वर्ग उन तत्त्वद्रष्टाओं का भी है जिन्हें रसों का अंगागिभाव स्वीकार नहीं है। उनका कथन है कि जब काव्य-रस का आस्वाद स्वतः सम्पूर्ण और स्वचमत्काररूप है तो उसकी आत्मविश्रांति की अखंड प्रतीति में अंगांगिभाव का सम्बन्ध स्वीकार करना अनेक दृष्टियों से अनुचित है। इन आचार्यों के मत से जब काव्य-रस स्वचमत्कार में ही विश्रांत होता है तो उसके उपकार्य-उपकारक भाव तथा गौणागौणभाव की न तो कोई आवश्यकता ही रहती है और न उपयोगिता ही। इन आचार्यों ने रसों के अंगांगिभाव का खण्डन विरोधी रसों की अंगता को अव्यवहार्य सिद्ध करते हुए भी किया है। उनका मत है कि वीर और शृंगार अथवा शृंगार और हास्य आदि विरोधी रसयुग्मों का उत्कर्ष समान रूप से स्वीकार न करने वाले सहानवस्थान-भावी विरोध में भले ही रसों के अंगांगिभाव के तीव्र खण्डन के तर्क विद्यमान न हों,

किंतु बाध्य-बाधकभाव अथवा बध्यघातक भाव से पाये जाने वाले विरोध में तो रसों के अंगांगिभाव को कोई स्थान प्रदान ही नहीं किया जा सकता। इस मान्यता को अधिक स्पष्ट करने के प्रयोजन से इन आचार्यों ने लिखा है कि तत्त्वदृष्टि से तो रसों के अंगागिभाव की परिकल्पना ही व्यर्थ-सी है, किंतु यदि किसी एकपक्षीय विचारक के मन में उसकी प्रतिष्ठा के प्रति विशेष आग्रह ही हो तो भी बध्यघातक भावविरोधी रसों की योजना में तो उसका अस्तित्व हो ही नहीं सकता। बध्यघातक भाव-विरोधी रसों में 'शृंगार और बीभत्स', 'वीर और भयानक', 'शांत और रौद्र' तथा 'शृंगार और शांत' आदि रस-युग्मों की गणना होती है, जिनके अंगांगिभावों का निरूपण रस-दोषों की श्रेणी में परिगणित किया गया है। भारतीय साहित्य की परम्परागत मान्यताओं ने कुछ विशेष परिस्थितियों को छोड़कर शृंगार और बीभत्स में सदैव विरोध-भाव देखा है जबकि फारसी आदि भारतेतर साहित्यों में वियोग शृंगार के वर्णन के साथ-साथ खून, मवाद आदि के बीभत्समय चित्रण भी हुए हैं। आज की परिवर्तित परिस्थिति में रस-विरोध की इन परम्परागत मान्यताओं के प्रति भले ही किसी के मन में विशेष आस्था न हो, किंतु मनुष्य की मूलमनोवृत्तियों के अंतराल से उनका जो सहज सम्बन्ध है, उसे सर्वथा निस्सार कहकर युग-जीवन के तथाकथित वात्याचक्र में विशृंखलित करने का उपक्रम भी श्लाघ्य नहीं है।

रसों का अंगांगिभाव भामह, दण्डी और रुद्रट आदि प्राचीन आचार्यों को उस रूप में मान्य न था जिस रूप में आचार्य आनंदवर्धन, अभिनवगुप्त और रामचंद्र गुणचंद्र द्वारा उसका संस्तव किया गया था। इसका एक कारण यह भी था कि प्राचीन आचार्यों का रस-विमर्श न तो विशेष गम्भीर और विशद था और न वे अपनी मुख्य मान्यताओं के सम्मुख उसे अधिक विचारणीय ही समझते थे। यों तो भामह, दण्डी और रुद्रट ने क्रमशः 'रसैश्च सकलैः पृथक्', 'रसभाव निरंताम्' और 'सर्वे रसाः क्रियन्ते काव्यस्थानानि सर्वाणि' द्वारा रसों का भी गुणगान किया है, किंतु वह सामान्य उल्लेखमात्र है। वस्तुतः इन आचार्यों की दृष्टि भरतमुनि द्वारा प्रतिपादित स्थायी रस और संचारी रस की विवेचना की ओर नहीं गई थी, अतः वे उनकी महत्ता का निरूपण नहीं कर सके। आचार्य आनंद-वर्धन भरतमुनि के मूलमंतव्य और भामह आदि की सीमाओं से परिचित थे, अतः उन्होंने उनकी शब्दावली को ही परिलक्षित कर अपना दृष्टिकोण प्रतिष्ठित किया। वे इस तथ्य को स्वीकार करते थे कि प्रत्येक रस अपने प्रसंग में ही पूर्ण परिपुष्ट होकर आत्मविश्रांति प्राप्त करता है किंतु इसका यह अभिप्राय नहीं कि उसका अन्य रसों के साथ कोई सम्बन्ध अथवा तारतम्य नहीं होता। वस्तुतः प्रबंध-कल्पना के विशाल आभोग में एक अंगी रस प्रधान होता है और अन्य रस उसके गौण अथवा सहयोगी बनकर आते हैं जिसका कारण घटना-चक्र की विविध परिस्थितियाँ हैं। व्यावहारिक दृष्टि से भी रसों के अंगांगिभाव की सत्ता स्वीकार्य प्रतीत होती है क्योंकि अनेक बार ऐसा देखा जाता है कि रसों के अंगांगिभाव की योजना से उन्हें परस्पर बल प्राप्त होता है और उनके विरोध को लेकर जो बातें कही जाती हैं वे उपशमित होकर उपकार्य उपकारक भाव में ही परिणत हो जाती हैं। आचार्यों ने रस-विरोध को लेकर जो प्रतिपत्तियाँ प्रस्तुत की हैं उनका यह

अभिप्राय नहीं है कि वे रसों के अंगांगिभाव में आस्था नहीं रखते थे। उनका प्रयोजन तो केवल इतना ही है कि अनेक बार रसों के विरोध-प्रदर्शन से जो अनौचित्य अनुसृष्ट हो जाता है, उसके निरोध की दिशा में सजग रहना चाहिए। आनंदवर्धन ने तो रसों के अंगांगिभाव को उपकार्य-उपकारक सम्बन्ध से विवेचित कर उनकी अनिवार्य स्थिति निरूपित की है जिसका समर्थन लोचनकार अभिनवगुप्त ने भागुरिमुनि का उल्लेख करते हुए विशेष रूप से किया है। प्रबंध-काव्यों की प्रतिष्ठा के काल में तो रसों का अंगांगिरूप प्रबल शब्दों में प्रतिपादित हुआ है जिसका कारण यह है कि उसके बिना जीवन के वैशद्य एवं वैविध्य का विस्तार प्रबंध काव्य की विशाल सीमा में अनुरंजित किया ही नहीं जा सकता। परवर्ती आचार्यों ने प्रबंध-काव्य के अंगीरस को जिस रूप में संस्तुत किया था, उसका आभास निम्नलिखित कथनों से मिल सकेगा—

श्रृंगारवीरशांतानामेकोऽङ्गी रस इष्यते ॥[1]
प्रसिद्धेऽपि प्रबंधानां नानारस निबंधने।
एको रसोऽङ्ग कर्तव्य—॥[2]
एकांगिरसमन्यदंगमद्भुतांतं रसोर्मिभिः।
अलंघितमलंकारकथां गैरगलद्रसम् ॥[3]

प्रबंध-काव्य का आस्वाद मूलतः अंगीरस का ही आस्वाद है

प्रबंध-काव्यों की वर्णना और नाट्यकाव्यों की अभिनेयता को दृष्टि में रखते हुए अंगी रस की उपयोगिता का जो विश्लेषण किया गया उससे अनेक प्रकार के विचार-सूत्र उपलब्ध होते हैं। उनका निष्कर्ष यह है कि जब प्रबंध-काव्य का सकलमौलिभूत प्रयोजन 'रसास्वाद' कराना ही है तो वह अपनी अखंड अनिर्वचनीयता में संस्थित होते हुए भी किसी न किसी भाव विशेष की मुख्य निष्पत्ति का प्रयोजक बनकर अवश्यमेव उपस्थित होना चाहिए। आधुनिक मनोविश्लेषण की प्रायोगिक विधियों के आधार पर भी यह सिद्ध किया जा चुका है कि व्यक्ति की चेतना में भावों के परिस्थितिजन्य तारतम्य का क्या महत्व है तथा किसी विशेष प्रकार की मनोदशा के प्रामुख्य में इतर चित्तवृत्तियों का समंजन किस प्रकार होता चलता है। इस विषय की व्यापकता के ऊहापोहों में न उझलकर प्रस्तुत प्रसंग में केवल इतना संकेत करना ही पर्याप्त है कि रसों के अंगांगिभाव का रहस्य उद्घाटित किये बिना किसी भी प्रबंधकाव्य की रसाभिव्यंजकता का अंतर्बोध नहीं किया जा सकता क्योंकि रसों का अंगी रूप किसी भी प्रबंधकाव्य में निष्पन्न भाववृत्ति का प्रमुख आधार अथवा सम्बल बनकर ही अभिव्यक्त होता है।

प्रबंध-काव्यों की रसाभिव्यंजकता के औचित्य हेतु

प्रबंध-काव्यों में वर्णित अंगी रस की विवेचना से सम्बन्धित एक महत्त्वपूर्ण विषय

१. विश्वनाथ, साहित्य दर्पण, ६।३१७।
२. आनंदवर्धन, ध्वन्यालोक, ३।२१।
३. नाट्यदर्पण, १।१२।१५।

उनकी रसाभिव्यंजकता के हेतु तत्त्वों का विश्लेषण है। भारतीय आचार्यों ने रसमुख-दृष्टि से प्रबंधकाव्य को 'अभिधामूला असंलक्ष्यक्रमध्वनि का एक व्यंजक रूप' मानकर उसकी रसाभिव्यंजकता का विमर्श विविध पक्षों के आधार पर किया है। उनके विश्लेषण के मुख्य आधार रामायण और महाभारत आदि काव्यग्रंथ हैं जिन्हें भारतीय चेतना के आलोक-स्तम्भ कहना युक्तिसंगत प्रतीत होता है। आचार्य आनंदवर्धन ने उक्त काव्यबंधों की रस-योजना को ध्यान में रखते हुए जिस रूप में उनकी व्यंजकता निर्दिष्ट की है, उससे ऐसे अनेक ज्ञातव्य विषयों का बोध होता है जो किसी रसपरक काव्य के औचित्य तथा उसकी सिद्धि के लिए अनिवार्य तत्त्व प्रतीत होते हैं। आनंदवर्धन के मतानुसार रसाभिव्यंजकता के औचित्य-हेतुओं का प्रकाशन निम्नलिखित रूपों में संभव है—

१. विभाव, अनुभाव और संचारि भाव के औचित्य की चारुता से ऐतिहासिक अथवा उत्प्रेक्षित (कल्पित) कथा-शरीर का निर्माण।

२. ऐतिहासिक क्रम से प्राप्त होने पर भी रस के प्रतिकूल कथांशों को छोड़कर, बीच में अभीष्ट रस के अनुकूल नवीन कल्पना करते हुए कथा का संस्करण।

३. शुद्ध रसाभिव्यक्ति की दृष्टि से संधि और संध्यंगों का संघटन।

४. प्रसंगानुकूल रसों के उद्दीपन और प्रशमन की योजना तथा विश्रांत होते हुए रस का अनुसंधान।

५. अलंकारों के यथेच्छ प्रयोग की पूर्ण शक्ति होने पर भी रस के अनुरूप ही परिमित मात्रा में अलंकारों की योजना।

विभावादि का औचित्य

उपर्युक्त पाँचों प्रकार प्रबंधगत रस के अभिव्यंजक हेतु हैं। इन हेतुओं के प्रथम रूप में इस बात का विचार किया जाता है कि विभाव, अनुभाव और भाव (स्थायिभाव और संचारिभाव) के औचित्य से प्रबन्धकाव्य के सुन्दर कथा-शरीर का निर्माण हो सका है या नहीं? हमारे व्यावहारिक जीवन के अनुभवों से भी प्रकट है कि जिस काव्य में उपर्युक्त बातों का समुचित संयोजन होता है, वही काव्य रस और भाव की दृष्टि से उत्तम कोटि का बन सकता है। विभाव के औचित्य का विवेचन भरत मुनि से लेकर अद्यावधि अनेक आचार्यों ने किया है। स्थायिभाव का औचित्य प्रकृति के औचित्य से सम्बन्धित है। उसमें इस बात का ध्यान रखा जाता है कि आचार्यों ने उत्तम, मध्यम, अधम तथा दिव्य, अदिव्य और दिव्यादिव्य के भेद से प्रकृति के जो रूप निरूपित किये हैं उनका अभिचित्रण ऐसी विधि से किया जाय जिससे स्थायिभाव का विशुद्ध रीत्या औचित्य-निर्वाह हो सके। काव्यकार पर इस बात का बहुत बड़ा दायित्व है कि वह दिव्य तथा मानवीय प्रकृति के विभिन्न स्तरों से सुपरिचित होकर उन्हें अपनी कथा के अनुरूप व्यंजना प्रदान करे जिससे प्रबन्धगत रस की स्फुरणा में किसी भी प्रकार की अस्वाभाविकता अथवा अनुचित भावना बाधक न बन सके। भारतीय काव्यशास्त्र में नायक-नायिकाओं के जो गुण वर्णित किये गये हैं वे मनोवैज्ञानिक आधारों से संपुष्ट हैं अतः काव्य-वर्णना में उनका परिपालन किया जाना भी अनुचित नहीं कहा जा सकता। हाँ,

इस बात की अवश्यमेव आवश्यकता है कि कभी-कभी कथानायक नरेशों के प्रभावातिशय्य का केवल दिव्य चरित्रों के रूप में जो वर्णन किया जाता है वह मूलतः मानवीय प्रकृति पर ही आधारित होना चाहिए अन्यथा उसकी रसव्यंजकता में एक विशिष्ट प्रकार का अनौचित्य भी आ सकता है।

कथानायकों का संघटनौचित्य

भारतीय परम्परा के प्रबन्ध काव्यों में कथा नायकों का संघटन जिन दिव्यादिव्य रूपों से किया गया है उनका रसानुभूति की दृष्टि से विशेष महत्त्व है। यहाँ की सांस्कृतिक मान्यताएँ मूलतः आध्यात्मिक और आदर्शपरक रही हैं, अतः नायकों के चरित्र में उक्त स्वरूप का संयोजन विशुद्ध मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से भी अग्राह्य नहीं कहा जा सकता। भरतमुनि के नाट्यशास्त्र में तो प्रख्यात वस्तुविषय और प्रख्यात उदात्तनायकत्व को अनिवार्य महत्त्व प्रदान किया गया है। ऐसा करने से नायक के औचित्यानौचित्य के विषय में किसी भी प्रकार का मतिभ्रम नहीं हो सकता। कल्पित कथा के आधार पर नाटक या काव्य आदि का निर्माण करने से अनेक बार नायक के अप्रसिद्ध और अनुचित स्वभावादि के वर्णन से प्रबन्ध-काव्य की रसात्मकता भंग हो जाती है। भारतीय आचार्यों ने नायकोचित मर्यादा की दृष्टि से उनकी रतिव्यंजना के भी रूप और स्तर निरूपित किये हैं। उन्होंने इस बात का निषेध तो नहीं किया है कि दिव्य चरित्र-नायकों की रत्यादि का वर्णन ही न किया जाय किन्तु यह मान्यता अवश्य व्यक्त की है कि उनका चित्रण करते हुए उनकी नैसर्गिक शालीनता और प्रकृतिगत दिव्यता का ध्यान अवश्यमेव रखना चाहिए। ऐसा करने से उनके चरित्र में भी निखार आता है तथा सहृदयजनों की रस-चर्वणा में भी बाधा नहीं पहुँचती। चरित्रों की दिव्यादिव्य प्रकृति के अंतः प्रदेश में प्रविष्ट होने की क्षमता न होने के कारण कभी-कभी लब्धप्रतिष्ठ कवियों के रमणीय कथाबंध भी विशृंखलित हो जाते हैं। विद्वानों ने मानवीय स्वभाव के अनुरूप शृंगार-विषयक प्रकृति का जो औचित्य विवेचित किया है उसका परिपालन करना अनिवार्य-सा है क्योंकि उससे भिन्न जो कोई भी अन्य दिव्य औचित्य है, वह रसाभिव्यक्ति में अनुमापक ही हो सकता है और काव्यास्वादयिताओं के मानस में दिव्य रति आदि विषयक संस्कार न होने से उन्हें रसानुभूति नहीं हो सकती। अपने कथन को व्यावहारिक बनाने की दृष्टि से हम कह सकते हैं कि जिस प्रकार राजा आदि उत्तम नायकों में शृंगार का उपनिबन्ध ग्राम्य शृंगार से विहीन होकर ही सुशोभित होता है, उसी प्रकार देवचरित्रों के अभिचित्रण में भी उनके प्रतिकूल आभासित होने वाली प्रकृति का यथासम्भव निषेध करना ही वांछनीय है। कहने के लिए हम कवियों की निरंकुशता का चाहे कितना ही समर्थन करें किंतु रत्यादि भावनाओं की प्रसंगानुकूल अभिव्यक्ति करना अत्यन्त प्रतिभासाध्य कार्य है। शृंगार के संभोगपक्ष का चित्रण करते समय तो कवि की मनःस्थिति पर सामाजिक मर्यादाओं का एक ऐसा हल्का चीनांशुक रहना परम वांछनीय है जो रसोद्रेक कराने में भी अवगुंठन न बन जाय तथा जिसके द्वारा सुरतादि का व्यंजन भी प्रकृत्योचित विधि में सम्पन्न हो सके। ऐसे स्थलों पर ही काव्यकार के भाव-संतुलन

की परीक्षा होती है अन्यथा अश्लीलत्व और ग्राम्यत्व दोषों का संस्पर्श उसकी काव्य-कृति में यत्किंचित् कलंक-कालिमा लगा ही सकता है, भले ही हम किसी महाकवि के प्रति श्रद्धाभिभूत बनकर उसका दोषान्वेषण न करें।

अनुभावादि का औचित्यबंध

यों तो भरतमुनि आदि आचार्यों ने अनुभावों के औचित्यविषयक ऐसे अनेक संकेत किये हैं जिनसे प्रबंधगत रसाभिव्यंजकता को बल मिलता है किंतु उनके अतिरिक्त भी ऐसी अनेक विधियां हैं जिनका परिपालन करने से कथाबंध में चमत्कार आता है। कलानिपुण कवियों के मानस में इस विषय की स्वतः स्फुरणा होती है कि वे अपनी कृति को सर्वांगीण साफल्य प्रदान कर सकें और अपनी प्रतिभा के अतिरिक्त अभ्यास, व्युत्पत्ति तथा साधुकाव्य निषेवण द्वारा अपनी रचना को अधिकाधिक औचित्यपूर्ण बनाने में समर्थ हों। अनुभावों के औचित्य-पालन से कथावस्तु का परिष्करण होता है। यदि किसी कवि ने ऐतिहासिक अथवा पौराणिक घटना को अपने प्रबंध-काव्य का आधार बनाया है तो उसे इस बात का भी ध्यान रखना चाहिए कि वह इतिहास-प्रसिद्ध कथाओं में से केवल उन्हीं अंशों को ग्रहण करे जिनमें विभावादि का औचित्य हो तथा जो अभिजात अभिरुचि का आह्लादन करने में समर्थ हो सकें। केवल घटना-वर्णन अथवा साधारण रुचि का अनुरंजन ही कथा-चयन का सुग्राह्य आधार नहीं कहा जा सकता। कल्पित कथावस्तु को रसाभिव्यंजकता प्रदान करने के लिए तो कवि को और भी अधिक सावधान रहने की आवश्यकता है अन्यथा उससे उसका अव्युत्पत्ति-प्रदर्शन ही होता है। इस विषय में निम्नलिखित श्लोक उद्धृत करने योग्य हैं जिनमें कवियों को इस बात का परामर्श दिया गया है कि वे कल्पित कथावस्तु का निर्माण ऐसी कुशलता से करें जिससे विभावादि का औचित्य और रस-प्रतीति का वातावरण बन सके। वस्तुतः कवियों की स्वेछाचारिता की भी एक रमणीय और प्रसादपूर्ण मर्यादा होनी चाहिए, जिनका आभास इन श्लोकों से मिल सकेगा—

कथाशरीरमुत्पाद्य वस्तु कार्यं तथा तथा
यथा रसमयं सर्वमेव तत्प्रतिभासते।
सन्ति सिद्धरसप्रख्या ये च रामायणादयः।
कथाऽश्रया न तैर्योज्या स्वेच्छा रस विरोधिनी॥

अर्थात् कल्पित कथावस्तु का निर्माण इस विधि से करना चाहिए कि वह सम्पूर्णतया रसमय ही प्रतीत हो। प्रसिद्ध रसों के समान (सद्यः आस्वादमात्र योग्य न कि भावनीय या परिकल्पनीय) कथाओं के आश्रय जो रामायण आदि इतिहास हैं, उनके साथ रस-विरोधिनी स्वेच्छा का प्रयोग नहीं करना चाहिए)।

प्रबंध कथा का रसानुकूल संस्करण और औचित्य-निर्वाह

प्रबंध-काव्य की रसव्यंजकता के लिए कथा का रसानुकूल संस्करण भी अभिवांछनीय है। प्रायः देखा जाता है कि प्रबंध की कथावस्तु ऐतिहासिक परम्परा से

अनुबिद्ध होने पर भी अनेक स्थलों पर ऐसी भी हो सकती है जिसमें रस-विरोधी तत्त्व समाविष्ट हो जाएं। ऐसी परिस्थिति में रससिद्ध कवियों को इस बात का अधिकार होता है कि वे रस-विरोधक कथांशों का परित्याग कर ऐसी कथा का निर्माण करें जो अभीष्ट रस की संसिद्धि में सहायक हो। संसार के समस्त महाकवियों ने इस प्रकार की अभीष्ट योजना करते हुए अपनी कृतियों को अमरत्व प्रदान किया है। वस्तुतः निपुण कवि जितना अधिक रस-परतंत्र होता है, उतना वस्तु-परतंत्र नहीं। रस की संसिद्धि ही उसका चरम लक्ष्य है अतः वह ऐतिहासिक घटनाओं में किसी भी प्रकार की रसविरोधिनी संभावना देखकर उन्हें प्रयोजनीय स्वतंत्र रूप-विधान प्रदान कर सकता है। इसी बात को ध्यान में रखकर आचार्यों ने कहा है कि इतिवृत्तमात्र का निर्वाह ही कवि का प्रयोजन नहीं होता क्योंकि उसकी सिद्धि के लिए तो इतिहास ग्रंथ ही पर्याप्त हैं। (नहिं कवेरितिवृत्तमात्र निर्वहणेन किंचित् प्रयोजनं, इतिहासादेव तत्सिद्धेः)। कथाओं के रसानुकूल परिवर्तन के अनेक उदाहरण विविध काव्यों की कथावस्तु का विश्लेषण करते हुए प्रस्तुत किये जा सकते हैं। महाकवि कालिदास ने रघुवंश में अजादि राजाओं का विवाह वर्णन तथा अभिज्ञान शाकुंतल में शकुंतला के प्रत्याख्यान की कथा योजना में यही बात अपने ध्यान में रखी है। वस्तुतः कालिदास को भ्रमरवृत्ति दुष्यंत को उदात्त नायक बनाना अभीष्ट था जिसकी प्रयोजन-सिद्धि के लिए उन्होंने अपने नाटक में दुर्वासा के शाप तथा अंगूठी के खो जाने से शापप्रसूतविस्मृति की योजना की है। महाकवि भवभूति के उत्तररामचरित नाटक के तृतीय अंक में 'छायासीता' की कल्पना का हेतु ऐसे करुण रस की सृष्टि करना है जिससे 'अपि ग्रावा रोदित्यपि दलति वज्रस्य हृदयं' की उक्ति सार्थक बन सके। अभिप्राय यह है कि प्रबंध-काव्य में रस-व्यंजना की निष्पत्ति के लिए रसानुरूप वस्तु-परिवर्तन का अधिकार कवि के लिए नितांत प्रयोजनीय है।

विवेचन के इसी प्रसंग में इस बात का उल्लेख करना भी आवश्यक है कि काव्य-रचना करते समय कवि का काव्य शास्त्रोक्त सिद्धांतों को अपना आदर्श बनाकर अपनी रचना-क्रिया में प्रस्तुत नहीं होता, अपितु वह तो अपने सत्वोद्रेक के कारण अपनी संवेदनाओं को ही शब्दरूपता प्रदान करता है। काव्य-कृति का निर्माण होने के पश्चात् उसकी कृति का शास्त्रीय विवेचन भले ही किया जाय किंतु रचनाकाल में तो कवि का अंतःकरण उनको प्राथमिकता देकर प्रस्रावित (रसविगलित) नहीं होता। इसका एक प्रमाण यह है कि जिन शास्त्र कवियों ने शास्त्रोक्त विधि से काव्योचित संधियों और संध्यंगों को प्राधान्य देकर अपनी रचनाएँ की हैं, वे नामपरिगणन के रूप में भले ही सफल कही जा सकें, किंतु उनसे रसव्यंजना का प्रयोजन तो सिद्ध नहीं होता। बात यह है कि जिस प्रकार अवयवों का संकलित संस्थान ही हमें तब तक व्यक्तित्व की सजीवता नहीं प्रदान कर सकता जब तक कि उसमें आत्म चेतना का प्रस्फुरण न हो। उसी प्रकार किसी भी काव्य-कृति का निर्माण केवल शास्त्र-मर्यादा का पालन करने की इच्छा से किया जाता है तो उसमें रसाभिव्यंजन की क्षमता उद्भूत नहीं हो सकती। हमें तो कवि का कर्म इतना अधिक गुरुतम प्रतीत होता है कि उसकी चरम सिद्धि विरल कवियों में ही दृष्टि-गोचर होती है। प्रबंध-काव्य में तो उनकी सर्जन-शक्ति और भी अधिक असाधारण और

लोकोत्तर होनी चाहिए क्योंकि उसके द्वारा जिस अंगीरस की निष्पत्ति की जाती है उसकी सफलता के लिए आवश्यक है कि कवि उसमें रसांतर का उद्दीपन देखकर उसे पुनः प्रतिष्ठित करने की चेष्टा करे जिससे प्रधान रस विच्छिन्न होते-होते बच जाय। सफल कवि अपनी प्रबंध-चारुता में इस बात का भी ध्यान रखते हैं कि वे अलंकार-प्रयोग की पूर्ण शक्ति रखते हुए भी अपनी रचना में केवल उन्हीं अलंकारों की योजना करे जो रसाभिव्यंजन के अनुरूप हो। जो कवि अलंकार-निबंधन में ही मग्न होकर अपना रचना-कौशल प्रदर्शित करना चाहते हैं, उनकी कृति आलंकारिक छटा के उत्कर्ष और कला-वैदग्ध्य के प्रकर्ष से भले ही अभिनंदनीय स्वीकार कर ली जाय किंतु रसाभिव्यंजन की दृष्टि से तो वह गरिमामय नहीं समझी जायगी। वस्तुतः काव्य में प्रबंधव्यंजकता का सफल निर्वाह करना उत्कृष्ट कवियों की क्षमता का ही कार्य है और इसीलिए इस विषय में सभी आचार्य सहमत हैं कि उसमें रसबंध के औचित्य का परिपालन तो होना ही चाहिए। उसकी सफलता का श्रेय कथा-शरीर और अलंकार-संयोजन को उतना नहीं है जितना रस-चमत्कार और व्यंग्य-विभुता को। कहने की आवश्यता नहीं कि इस तत्त्व का निष्पंद केवल औचित्य-योजना से ही संभव है, तभी तो आचार्यों ने बार-बार औचित्य-निर्वाह में काव्य की सरस सफलता और अनौचित्य में रसभंग हेतु निरूपित किया है।

आचार्य आनंदवर्धन का तो स्पष्ट अभिमत है—

अनौचित्यादृते नान्यद् रसमंगस्य कारणम्।
प्रसिद्धौचित्यबंधस्तु रसस्योपनिषत् परा॥

तृतीय खण्ड

१२

रसास्वाद की आधारभित्ति और उसका प्रसार

(१) भाव और रस का अंतर्सम्बन्ध

काव्य के रसास्वादन का मूल आधार हमारा भावजगत् है। उसके वैचित्र्य-विधान और अनंत प्रसार का प्रबोध किये बिना रसास्वाद की भूमिका ही प्रस्तुत नहीं की जा सकती। विश्व के विभिन्न विचारकों ने विविध दृष्टियों से भावों का स्वरूप-विश्लेषण किया है जिससे अनेक प्रकार की रहस्यमयी उपलब्धियाँ की जा सकती हैं। भारतीय काव्यशास्त्र की सुदीर्घ परम्परा में उसकी प्रचुर ज्ञानराशि का अक्षय कोष विद्यमान है जिसके तत्त्वचिंतन द्वारा भारतीय आचार्यों की तर्क-शक्ति और विवेक-प्रज्ञा का अनुमान लगाया जा सकता है। वस्तुतः भावबोध के अभाव में रसप्रतीति का अंतर्दर्शन करना असम्भव है। यही कारण है कि हम काव्यास्वाद की विवेचना के प्रारंभ में भावों का स्वरूप-लक्षण तथा उनके प्रकार, भावों का स्थायित्व और व्यभिचारित्व, भावों की व्यंजना और उसके विभिन्न सोपान, भावों का रस में विनियोग एवं उन दोनों का अंतर्सम्बन्ध आदि विषयों का स्पष्टीकरण करेंगे जिसकी सहायता से रसास्वाद के विभिन्न पक्षों और रहस्यों का अन्तर्बोध करने में सुविधा रहे। अपने शोध-प्रबंध की सीमा के कारण यह सम्पूर्ण विवेचन मुख्यतः भारतीय काव्य-दृष्टि के आलोक में ही निरूपित किया गया है जिसके पश्चात् ही रसास्वाद के शास्त्रीय विमर्श का उपक्रम करना हमें समुचित प्रतीत होता है।

भाव का सामान्य निरूपण

भावशब्द चित्तवृत्ति का निरूपक है। उसमें रसव्यंजक स्थायी तथा व्यभिचारी वृत्तियों की गणना की जाती है। स्थायी भाव एक ऐसी स्थिर मनःस्थिति है जो वासना-रूप से प्रमाता के चित्त में विद्यमान रहती है। स्थायी भावों का जीवन की मूल मनोवृत्तियों से घनिष्ठ सम्बन्ध है जिसके कारण वे पुरुषार्थ-चतुष्टय से सहज ही सम्पृक्त हो जाते हैं। काव्यास्वाद के समय वासना-रूप से विद्यमान स्थायी भावों का जब साधारणीकरण हो जाता है तो वे रस-दशा को प्राप्त होते हैं। मनोवैज्ञानिकों ने भाव के विविध प्रकारों का विश्लेषण विविध दृष्टियों से किया है। कुछ भाव विशुद्ध मौलिक होते हैं तथा कुछ सम्मिश्रित और व्युत्पन्न। भावों की विवेचना उनकी तीव्रता, मंदता,

सीमितता और व्यापकता के आधार पर भी की जाती है। आचार्यों ने विशुद्ध मनोवैज्ञानिक और सौन्दर्यशास्त्रीय दृष्टिकोण के अतिरिक्त नैतिक दृष्टि से भी भाव-विमर्श किया है। प्राचीन काव्यशास्त्र और आधुनिक मनोविज्ञान की शब्दावली में भावों का जो वर्गीकरण किया गया है उसमें अनेक बातों को लेकर साम्य और वैषम्य है। विचारकों का एक अभिमत यह है कि अस्मिता या अहंकार आत्मा की मूल अभिव्यक्ति है जिसका अनुभव सुख-दुःख अथवा राग-द्वेष नामक दो वृत्तियों के विविध रूपों के आधार पर किया जा सकता है सुख से राग और दुःख से द्वेष की उत्पत्ति होती है। आधुनिक मनोविश्लेषणशास्त्र में प्रयुक्त 'इरोस' तथा 'थैनेटोस' पद राग और द्वेष पद के यथेष्ट निकट हैं। 'अस्मित' को अहं (इगो) तथा राग-द्वेष को फ्रायड द्वारा प्रतिपादित 'काम' तथा एडलर द्वारा निरूपित 'हीन-भावना' या क्षतिपूर्ति के सिद्धान्त द्वारा समझा जा सकता है।

आधुनिक मनोविज्ञान में भाव की विवेचना अनेक रूपों, प्रयोगों और प्रकारों में की गई है। यद्यपि एम० एफ० मेयर जैसे अमरीकी विद्वान् 'इच्छा-शक्ति' की भाँति भाव को भी अनावश्यक निर्दिष्ट कर वैज्ञानिक मनःशास्त्र से उसका निष्कासन करना चाहते हैं, किंतु उनका यह निर्णय अतिरेक्यपूर्ण है। सच तो यह है कि हमारे जीवन में भाव का प्रसार वहाँ तक है जहाँ तक हमारी चेतना की गति है। उसे चाहे 'अनुभव की विधि' या 'वेग' या 'ऊर्जा' का रूप माना जाय अथवा 'संवेदनाओं की संहति या विसंहति' का, सभी स्थितियों में उनकी जीवनगत सत्ता का निषेध नहीं किया जा सकता। वस्तुतः 'भाव' हमारी चेतना की व्यवहारगत क्रियाएँ हैं जिनमें कर्तृत्वशक्ति की क्षमता और लक्ष्य-प्राप्ति की संवेदनाएं समन्वित रहती हैं। उनकी संख्या अपरिमित है और वे तत्त्व तथा व्यवहार रूप में स्वायत्त एवं स्वतः स्फूर्त रहते हुए भी धर्म-रूप में अन्योन्याश्रित होते हैं। प्रत्येक भाव का एक विशिष्ट गुणात्मक आधार होता है जो अन्य भावों से भिन्न किंतु अपने रूप में अखंड है। ड्रेवर ने 'ए डिक्शनरी ऑफ साइकोलॉजी' में भाव की विवेचना करते हुए लिखा है कि भाव जैविक विधान की एक ऐसी संश्लिष्ट अवस्था है जिससे शरीर में अनेक प्रकार के विकार उत्पन्न हो जाते हैं। उनके कारण श्वास-क्रिया, नाड़ी और ग्रंथियों की रसन-क्रिया में भी अन्तर आता है। मानसिक दृष्टि से उन्हें उत्तेजना या उद्वेग का रूप कहा जा सकता है जिनमें अनुभूति की प्रबलता के साथ-साथ सामान्यतः एक निश्चित व्यवहार के प्रति प्रवृत्ति होती है। उनकी तीव्रता से बौद्धिक प्रक्रिया में व्यतिक्रम आ जाता है। डा० मैक्डूगल ने भाव का विश्लेषण करते हुए बतलाया है कि भाव में हमारे शारीरिक और मानसिक रूपों का सम्मिश्रण होता है जो हमारी किसी स्वाभाविक वृत्ति के जागृत होते ही उसके अनुकूल स्नायुओं और पेशियों में ओज का संचार कर देता है तथा जिसकी उत्तेजना में ऐसी विशिष्टता विद्यमान रहती है जिसके कारण भाव के विविध रूप—भय, क्रोध, उत्साह, घृणा आदि—समुद्भूत हो जाते हैं। उनकी सत्ता में विषय की सत्ता का अस्तित्व अनिवार्य है क्योंकि भाव वस्तुतः व्यक्ति की वस्तु अथवा विषय के प्रति मानसिक प्रतिक्रिया का ही परिणाम है जिसमें सुखात्मक अथवा दुःखात्मक अनुभूति के अतिरिक्त प्रयत्न-पक्ष का

भी संभार रहता है। उनकी अभिव्यक्ति में शारीरिक और मानसिक क्रिया-प्रतिक्रियाओं का तत्त्व तो विद्यमान रहता ही है, किंतु उनके पूर्वापरक्रम का निर्धारण करना, अत्यंत विवादग्रस्त एवं जटिल कार्य है।

भाव के लक्षण-निर्धारण की जटिलता

भारतीय काव्यशास्त्र में विवेचित रसास्वाद की भूमिका में भाव का लक्षण निर्धारण करना कठिन है। यदि यह कहा जाय कि विभावों और अनुभावों के अतिरिक्त जो रसों के व्यंजक हों अथवा जिनसे रस व्यक्त हों वे भाव हैं तो भी समुचित नहीं है क्योंकि रसों के प्रतिपादक काव्य की पदावली में इस लक्षण में अतिव्याप्ति दोष आ जाता है। इस पर यह प्रश्न हो सकता है कि रसों के व्यंजक तो अर्थ होते हैं न कि शब्द, फिर शब्द-समूहरूप वाक्य में उक्त लक्षण की अतिव्याप्ति कैसे हो सकती है? इसका उत्तर यह है कि अर्थ भले ही साक्षात् रस-व्यंजक हों किंतु उनके द्वारा शब्द भी रस-व्यंजक माने जाते हैं।[1] ध्वनिकार ने तो शब्दों को भी साक्षात् व्यंजक माना है जिसके अनुसार अर्थ द्वारा वाक्य को व्यंजक मानने की आवश्यकता भी नहीं है। यदि यह कहा जाय कि यों तो शब्द ही रस-व्यंजक होते हैं किंतु उनकी व्यंजना अर्थ-द्वार से होती है तो भी उससे भाव का लक्षण संघटित नहीं हो सकता क्योंकि उसमें असंभव-दोष की गंध आने लगती है। इसका एक कारण यह भी है कि जिनको सामान्यतया 'भाव' कहा जाता है, वे भी भावना अर्थात् पुनः पुनः अनुसंधान के द्वारा ही व्यंजक होते हैं और भावना द्वारा जो रसाभिव्यंजना होती है उसमें किसी को 'द्वार' बनाने की आवश्यकता नहीं होती, अतः शब्द द्वारा होने वाली रस-व्यंजना के लिए भी किसी अर्थ-द्वार की आवश्यकता मानने में भी 'अति-व्याप्ति दोष' हो सकता है। यदि यह कहा जाय कि विभावों और अनुभावों से अतिरिक्त तथा 'शब्द से भिन्न' जो रसों का व्यंजक है, वह भाव है तो भी ठीक नहीं है क्योंकि भावना की 'शब्दभिन्नता' के कारण उसमें अतिव्याप्ति रहेगी ही। इस लक्षण में एक प्रकार की अव्याप्ति भी है, क्योंकि काव्यानुशीलन से सिद्ध है कि उसमें भावध्वनि आदि ऐसे स्थल भी आते हैं जहाँ भाव रसों के व्यंजक न होकर प्रधानतया भावरूप में ही अभिव्यक्त होते हैं, अतः भाव को रस-व्यंजक कहना भी विशुद्ध लक्षण नहीं है। यदि भाव-ध्वनि का प्राधान्य स्वीकार कर अंत में यह कहा जाय कि भाव-ध्वनि की अंतिम परिणति रस-ध्वनि ही है और इस दृष्टि से भावों की रस-व्यंजकता सिद्ध की जा सकती है तो भी यह निर्णय विवादास्पद ही है, क्योंकि रस की प्रधानता तो रस-ध्वनि का ही अस्तित्व निरूपित करती है और उसकी सत्ता के सम्मुख भाव-ध्वनि का रसक्षेत्र से निष्कासन-सा हो जाता है। यदि भावों की रस-व्यंजकता बनाये रखने के लिए यह कहा जाय कि भाव-ध्वनि में भाव की अभिव्यक्ति के पश्चात् जिस रस की अभिव्यक्ति होती

---

१. शब्दबोध्यो व्यनक्त्यर्थः, शब्दोऽप्यर्थान्तराश्रयः।
एकस्य व्यंजकत्वे तदन्यस्य सहकारिता॥

है उसमें उतना चमत्कार नहीं होता जितना भाव-ध्वनि में होता है तो भी यह मान्यता रस-सिद्धांत के विरुद्ध है क्योंकि चमत्कारविहीन रसाभिव्यक्ति होने का कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं है। सच तो यह है कि जिस सहृदयानुभव-रूप प्रमाण से रस की सिद्धि होती है उसमें चमत्कार अथवा आनंद का अंश तो अविनाभाव से रहता है। जब रस ही चमत्कारस्वरूप है तब चमत्कारहीन रस की सत्ता तो स्वीकार ही नहीं की जा सकती। यदि भाव-ध्वनि में रस की स्थिति 'विवाहप्रवृत्तभृत्यानुगतराजवत्' मान ली जाय तो भी भाव का युक्तिसंगत लक्षण संघटित नहीं हो सकता, क्योंकि देश, काल, वय और अवस्था आदि अनेक पदार्थों से संघटित काव्यांशों में अतिव्याप्ति हो जायगी जिसका एक कारण यह भी होगा कि भावों को विभावों तथा अनुभावों से अतिरिक्त तथा रस का व्यंजक भी मानना पड़ेगा। यदि यह कहा जाय कि 'भाव' उस चित्तवृत्ति का नाम है जो रसाभिव्यंजक-चर्वणा या आस्वाद का विषय है तो भी उसमें अतिव्याप्ति-दोष आये बिना नहीं रहेगा क्योंकि भाव-चर्वणा एक साथ रस को अभिव्यक्त करने वाली तथा चित्तवृत्तिरूपा कैसे हो सकती है? यदि इन समस्त ऊहापोहों से परे होकर यह कह दिया जाय कि भाव एक अखंड उपाधि है जिसके लक्षण-निर्धारण की कोई आवश्यकता नहीं है तो भी यह कथन युक्तिसंगत नहीं है क्योंकि भावत्व को अखंड उपाधि मानने में अनुगत प्रतीति आदि ज्ञापक प्रमाण नहीं हो सकते तथा उसे अखंड उपाधि माने बिना भी काम चल सकता है। इन समस्त तर्क-वितर्कों का विमर्श कर पंडितराज ने भाव को 'विभावादिव्यज्यमान-हर्षाद्यन्यतमत्वं तत्त्वं' माना है जिसका अभिप्राय यह है कि विभाव आदि से ध्वनित किये जाने वाले हर्ष आदि में से एक-एक तत्त्व का नाम 'भाव' है।[1]

'भाव' के विषय में भरतमुनि के विचार

भरतमुनि ने 'भाव' नाम की विवेचना करते हुए लिखा है कि वाणी, अंग और सत्व से मिले हुए काव्य के अर्थों को भावित करने के 'कारण' ही भाव कहलाते हैं। भाव कारण के साधन हैं क्योंकि भावित, वासित और कृत ये सभी पर्यायवाची शब्द हैं। लोक में भी सिद्ध है कि अन्योन्य गंध अथवा रस से सब भावित हो गया। उन्होंने 'भाव' के लक्षण को अधिक स्पष्ट करने के लिए कुछ श्लोक उद्धृत किये हैं जिनका तात्पर्य यह है कि विभाव से लाया हुआ जो अर्थ अनुभाव से तथा वाणी, अंग और सात्विक भावों के अभिनय से प्रतीत होता है, उसी का नाम 'भाव' है। भावों को इस हेतुवश भी 'भाव' कहा जाता है कि उनके द्वारा वाणी, अंग और मुख के राग से तथा सत्त्व और अभिनय से कवि के आन्तरिक भावों का प्रकाशन हो जाता है। ये भाव अनेक प्रकार के अभिनयों से सम्बन्ध रखने वाले रसों को भावित करते हैं अतः नाटक के प्रयोक्ताओं को उनके नाम की सार्थकता को भली-भाँति हृदयंगम करना चाहिए।[2]

---

१. रसगंगाधर : प्रथमानवम् (चौखम्बा प्रकाशन), पृ० २६६।
२. भरतमुनि, नाट्यशास्त्र, ७।१-३।

चित्त की स्थायी और अस्थायी वृत्तियों का नाम भाव है

संसार में जितने प्रकार के प्राणी अधिवास करते हैं उन सबकी चित्तवृत्तियों में स्थायिभावात्मक संस्कार विद्यमान रहते हैं। उनकी चित्तवृत्तियों में केवल इतना ही अंतर होता है कि किसी प्राणी की कोई चित्तवृत्ति अधिक होती है तथा किसी की कोई न्यून। किसी की चित्तवृत्ति उचित विषय में नियंत्रित होती है तो किसी की चित्तवृत्ति अनुचित विषय में अनियंत्रित। चित्तवृत्तियों की इस भिन्नता के कारण ही काव्य-वर्णित विभावों की प्रकृति में अन्तर पाया जाता है। स्थायिभावात्मक चित्त-वृत्तियों के अतिरिक्त ग्लानि और शंका आदि विशेष प्रकार की व्यभिचारिभावात्मक या अस्थायी चित्तवृत्तियाँ भी होती हैं जो अपने अनुकूल विभाव आदि के अभाव में सदा विद्यमान नहीं रहतीं। उत्साह आदि स्थायिभाव तो कर्तव्यसम्पादन के पश्चात् प्रलीनकल्प होकर भी संस्कार-रूप में विद्यमान रह सकते हैं किंतु व्यभिचारिभावों के साथ यह नियम घटित नहीं होता। उनका जन्म विभाव आदि कारणों से होता है तथा उन कारणों के दूर होते ही वे नष्ट हो जाते हैं। आचार्य अभिनवगुप्त ने ग्लानि आदि व्यभिचारिभावों की स्थिति स्थायिभाव-रूप चित्तवृत्ति के सूत्र में बंधे हुए स्फटिक, मरकत, अभ्रक और महानील आदि मणियों के गोलक के समान निर्दिष्ट की है। उनका कहना है कि जिस प्रकार किसी माला के एक सूत्र में पिरोये गये रंग-बिरंगे दानों द्वारा माला को गुंफित रखने वाले सूत्र के स्वरूप में कोई उल्लेखनीय अन्तर नहीं आता, उसी प्रकार रसानुभूति के प्रसंग में भी अनेक प्रकार के व्यभिचारिभाव एक स्थायिभाव रूपी सूत्र के स्वरूप में कोई अन्तर नहीं ला पाते। यह बात अवश्य है कि जिस प्रकार माला के गोलक (दाने) अपने चित्र-वैचित्र्य के कारण सूत्र के रूप में भी वैचित्र्य की-सी प्रतीति उत्पन्न कर देते हैं उसी प्रकार विविध प्रकार के व्यभिचारिभाव भी स्थायिभाव में एक प्रकार की विचित्रता-सी ला देते हैं। उस विचित्रता की भी यह विशेषता होती है कि जिस प्रकार माला के गोलकों के मध्य में उसका शुद्ध सूत्र प्रदर्शित होता रहता है, उसी प्रकार व्यभिचारिभावों के मध्य में भी शुद्ध स्थायिभाव की अनुभूति होती रहती है।

सात्विक और व्यभिचारी भाव

सात्विक भावों की विवेचना के पूर्व एक प्रश्न स्वभावतः उत्पन्न होता है कि क्या दूसरे भाव सत्व से भिन्न होते हैं जो स्वेदादि की श्रेणी के केवल आठ भावों को ही सात्विक भाव कहा जाता है ? इसका उत्तर देते हुए भरतमुनि ने लिखा है कि सत्व 'मनः-प्रभव' है जिसका अभिप्राय यह है कि मन की एकाग्रता से ही सत्व की सृष्टि होती है। उसके रोमांच, अश्रु और वैवर्ण्य आदि से युक्त स्वभाव का अनुकरण अन्यमनस्क भाव से नहीं हो सकता। अतः लोक-स्वभाव का अनुकरण करने के लिए नाटक में सत्व की अपेक्षा होती है। नाट्य-धर्म में प्रवृत्त सुख और दुःख के भावों का उपस्थापन जब उनके अनुकूल सात्विक भावों द्वारा किया जाता है तभी उनसे उनकी यथार्थ प्रतीति होती है। उदाहरणार्थ दुःख रोदनात्मक भाव है जिसको अभिनीत करने के लिए अदुःखी

प्रयोक्ता में सत्व का उद्रेक आवश्यक है, क्योंकि सत्व अथवा मन की एकाग्रता के कारण ही वह अपने अभिनय को सफल बना सकता है। सात्विक भावों का 'सत्व' इसी बात में है कि उसके द्वारा अभिनेता हर्ष और रोमांच आदि को ऐसे रूपों में प्रदर्शित करें जिनसे भावों का उपस्थापन सुचारु भाव में हो जाय। भरतमुनि ने स्तम्भ, स्वेद, रोमांच, स्वरभंग, वैपथु, वैवर्ण्य, अश्रु और प्रलय संज्ञक आठ सात्विक भाव माने हैं और उनके लक्षण निर्धारित करने के साथ-साथ उनके अभिनय के लिए आवश्यक दिशा-निर्देश भी किये हैं।[1]

व्यभिचारी भाव का सामान्य लक्षण यह है कि जिस प्रकार समुद्र में तरंगें उठती हैं और उसी में विलीन होती रहती हैं, उसी प्रकार जो भाव इत्यादि स्थायी भावों में उत्पन्न और विनष्ट होते रहते हैं उन्हें व्यभिचारी भाव कहते हैं।[2] इन भावों का व्यभिचारित्व इस हेतु से विवक्षित है कि वे वाणी, अंग और सत्व से उपेत पदार्थों को विविध प्रकार से रसों की निष्पत्ति की ओर ले जाते हैं। वस्तुतः 'व्यभिचारी' शब्द के मूल में 'वि' और 'अभि' नामक दो उपसर्ग हैं तथा 'चर्' नामक धातु है जिनके योग से इस शब्द की निष्पत्ति हुई है। 'चर्' धातु गत्यर्थवाचक है और व्यभिचारी भावों में रसाभिमुख संचारण की शक्ति मानी गई है, अतः उनकी संज्ञा सार्थक है। भरत मुनि ने व्यभिचारी भावों की रसाभिमुखता को स्पष्ट करते हुए लिखा है कि जिस प्रकार सूर्य इस नक्षत्र अथवा उस दिन को ले जाता है किन्तु वह उन्हें अपने स्कंध अथवा बाहुओं पर नहीं ले जाता तथापि 'लेजाना' क्रिया की लोकप्रसिद्धि उसी प्रकार की बनी हुई है, उसी प्रकार व्यभिचारी भावों के सम्बन्ध में भी यही बात समझनी चाहिए। इन व्यभिचारी भावों की संख्या ३३ मानी गई है जिनके नाम भरतमुनि ने इस प्रकार गिनाये हैं— निर्वेद, ग्लानि, शंका, असूया, मद, श्रम, आलस्य, दैन्य, चिन्ता, मोह, स्मृति, धृति, व्रीडा, चपलता, हर्ष, आवेग, जड़ता, गर्व, विषाद, औत्सुक्य, निद्रा, अपस्मार, सुप्त, प्रबोध, अमर्ष, अवहित्थ, उग्रता, मति, व्याधि, उन्माद, मरण, त्रास और वितर्क।[3]

स्थायि भाव और व्यभिचारि भाव का अंतर

यों तो रत्यादि भाव भी चित्तवृत्ति रूप होने के कारण क्षणभंगुर तथा अस्थिर होते हैं जिनका स्थायित्व शंकनीय है, किन्तु प्रबंध-काव्यों में उनका अस्तित्व सम्पूर्ण कथा-बंध में अभिव्याप्त रहता है अतः उन्हें स्थायिभाव कहा जाता है। ये भाव कूटस्थ नित्य न होते हुए भी व्यभिचारिभावों की भाँति क्षण-क्षण में परिवर्तित और व्यभिचारित नहीं होते, अतः इन्हें स्थायिभाव की संज्ञा प्राप्त है। व्यभिचारिभाव भी वासना अथवा संस्कार रूप से हमारे अन्तःकरण में सदैव विद्यमान रहते हैं किन्तु काव्य-विषयों में उनकी अभिव्यक्ति विद्युत्तुल्य क्षणभंगुर होती है और वे सम्पूर्ण काव्य में

१. नाट्यशास्त्र, ७।९४-१०५।

२. विशेषादाभिमुख्येन चरंतो व्यभिचारिणः।
स्थायिन्युन्मग्ननिर्मग्नाः कल्लोला इव वारिधौ ॥—दशरूपक, ४।७।

३. नाट्यशास्त्र, ६।१८-२१।

नैरंतर्यक्रम से स्थिर नहीं रहते, अतः उन्हें व्यभिचारिभाव कहा जाता है। दशरूपकार धनंजय ने उन भावों को स्थायिभाव माना है जो विरोधी अथवा अविरोधी भावों से विच्छिन्न नहीं होते अपितु विरोधी भावों को भी शीघ्रमेव अपने रूप में परिणत कर लेते हैं।[1] उनकी स्थिति लवणाकर अर्थात् क्षारसमुद्र के समान है जिसका अभिप्राय यह है कि जैसे क्षार समुद्र स्वादिष्ट अथवा अस्वादिष्ट नद्यादि के जल से सम्पूरित होकर भी अपना क्षारत्व नहीं छोड़ता अपितु उन जलों को अपने स्वभाव में परिणत कर क्षार बना लेता है, उसी प्रकार स्थायिभाव भी प्रतिकूल अथवा अनुकूल भावों (व्यभिचारी) से मिलकर भी अपने स्वभाव को नहीं छोड़ते और उन्हें अपने रूप में समाविष्ट कर लेते हैं। स्थायिभावों का एक लक्षण यह भी है कि वे चिरकाल पर्यन्त हमारे चित्त में वासना रूप से अधिष्ठित रहते हैं, विभावादि से सम्बद्ध होते हैं तथा अंततोगत्वा रस-रूप में परिवर्तित हो जाते हैं। उन भावों का स्वरूप सजातीय अथवा विजातीय आदि किसी भी भाव से तिरस्कृत अथवा परिवर्तित नहीं होता और वे तब तक बने रहते हैं जब तक रस का आस्वादन न हो जाय। कुछ विद्वानों ने रत्यादि नौ भावों में से अन्यतम (कोई एक) होना ही स्थायिभाव का लक्षण माना है किन्तु वह असंगत है क्योंकि रत्यादि भाव तत्तन्नामधारी होने पर भी जहाँ अप्ररूढ़ रहते हैं, वहाँ उन्हीं रत्यादि भावों में से जो भाव प्ररूढ अथवा समृद्ध रहता है उसके व्यभिचारी भाव कहलाते है। इत्यादि की अभिधामात्र से उन्हें स्थायी नहीं कहा जा सकता क्योंकि अनेक स्थलों पर वे अपनी अप्ररूढतावश व्यभिचारी रूप में ही रहते हैं। प्ररूढ पद का अर्थ बहुविभावजन्यत्व है तथा अप्ररूढ का अर्थ अल्पविभावजन्यत्व जिनका स्पष्टीकरण करते हुए कहा जा सकता है कि प्रभूत विभावादि से उत्पन्न हुए रत्यादि भाव स्थायिभाव कहलाते हैं और वे ही जब अल्प विभावादि से उत्पन्न होते हैं तो व्यभिचारिभाव की कोटि में आ जाते हैं।

आचार्य अभिनवगुप्त ने स्थायिभाव और व्यभिचारिभाव का अंतर अत्यंत विद्वता-पूर्ण विधि से निरूपित किया है। उनका कथन है कि व्यभिचारिभावों का रूप विद्युत् के उन्मेष तथा निमेष के समान है जो अपने आविर्भाव और तिरोभाव की क्रिया में स्थायिभाव के सौन्दर्याधायक होते हैं। उनके मतानुसार यद्यपि स्थायिभाव की स्थिति भी स्थिर रूप में नहीं होती तथापि वे अपने संस्कार और धारावाही सजातीय प्रवाह रूप से स्थिर ही होते हैं। व्यभिचारिभावों की स्थिति उनसे भिन्न है। वे क्षण भर भी स्थिर नहीं रहते और अपने संस्कार को भी स्थायिभाव के संस्कार में ही विलीन कर उसी को (स्थायिभाव को) पुष्ट करते हैं।[2] साहित्यशास्त्रियों ने इस विषय का भी गंभीर विवेचन किया है कि किस रस का कौन सा स्थायिभाव किस रस में व्यभिचारित्व को प्राप्त हो जाता है। उदाहरणार्थ वीररस के प्रधान होने पर क्रोध, रौद्र रस के प्रधान होने पर उत्साह और श्रृंगार रस के प्रधान होने पर हास व्यभिचारिभाव हो जाते हैं और उनका व्यभिचारित्व रस-निष्पत्ति की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण भी है, क्योंकि क्रोध के बिना वीर, उत्साह के बिना रौद्र तथा हास के बिना श्रृंगार रस का पोषण हो ही नहीं सकता। यहाँ

१ दशरूपक, ४।३४।

२. अभिनवभारती, पृ० ५५७।

पर यह बात उल्लेखनीय है कि जब प्रधान रस को पुष्ट करने के लिए उसके अंगभूत क्रोध आदि को भी बहुविभावजन्य बना देते हैं तो वे (क्रोधादि) व्यभिचारिभाव न कहलाकर 'रसवत् अलंकार' कहलाने लगते हैं। रसवत् अलंकार का व्यापक विवेचन यथास्थान किया गया है। उस विषय में आचार्य भामह से लेकर पंडितराज जगन्नाथ पर्यन्त अनेक विद्वानों के विचार पठनीय हैं।

भाव-व्यंजना की प्रक्रिया

भाव किस प्रकार व्यंजित अथवा ध्वनित होते हैं? यह एक ऐसा प्रश्न है जिसका उत्तर विद्वानों ने विभिन्न दृष्टियों से दिया है। एक विद्वद्वर्ग का मत है कि सामाजिकों के हृदय में वासना-रूप से स्थित और काव्य अथवा नाट्य से उपस्थापित अनुकूल तथा प्रतिकूल सभी प्रकार के भावों से अभिभूत न होने वाले स्थायिभावों की अभिव्यक्ति अपनी अभिव्यक्ति-सामग्री द्वारा जिस प्रकार स्थिर रूप में होती है, उसी प्रकार प्रधान बने हुए हर्ष आदि भावों की भी स्थिर अभिव्यक्ति होती है। विद्वानों का दूसरा मत यह हैं कि भावों की अभिव्यक्ति रसों की भाँति (रसन्यायेन) होती है। इसका अभिप्राय यह है कि जैसे सामाजिकों में स्वभावतः रहने वाला आत्मानंद अविद्या से पिहित रहता है, किन्तु काव्यगत अलौकिक व्यापार से उस अविद्यात्मक आवरण की निवृत्ति हो जाने पर वह आत्मानंद प्रकाशित हो जाता है और उस आवरणमुक्त स्थायिभाव से उपहित चिदानंद को रस कहा जाता है उसी प्रकार आवरणमुक्त चिद्विशिष्ट हर्ष आदि भाव भी सामाजिकों के हृदय में अभिव्यक्त होते हैं। इस विषय में तीसरा मत यह है कि जिस प्रकार काव्य तथा नाटक के शब्दों से वाच्यार्थों की उपस्थिति हो जाने के पश्चात् वक्ता एवं बोद्धव्य आदि के ज्ञान द्वारा वस्तु-अलंकार-रूप संलक्ष्यक्रमव्यंग्य अर्थ सहृदयों के हृदय में अभिव्यक्त होते हैं, उसी प्रकार हर्ष आदि भाव भी संलक्ष्यक्रमव्यंग्य के रूप में ही अभिव्यक्त होते हैं। उपर्युक्त तीनों मत अपने-अपने तर्कों से सम्पुष्ट हैं जिनका विवेचन रस-प्रक्रिया के प्रकरण में विशेष रूप से किया गया है। यहाँ तो हम केवल इतना ही संकेत करना चाहते हैं कि भावों की भी व्यंजना होती है और उसके व्यंजक बनते हैं विभाव और अनुभाव। व्यभिचारिभावों को उस रूप में भाव (स्थायी) का व्यंजक नहीं माना जा सकता जिस प्रकार विभावों और अनुभावों को माना जाता है। व्यभिचारिभावों की व्यंजकता में एक उल्लेखनीय बात यह है कि यदि एक व्यभिचारिभाव को ध्वनित करने में दूसरे व्यभिचारिभाव को व्यंजक मानना आवश्यक समझा जाता है तो वही व्यंजक व्यभिचारिभाव ही प्रधान हो जाता है। भावों की व्यंजकता के लिए जिस विभावपद का प्रयोग किया गया है उससे यहाँ व्यभिचारिभाव के साधारण निमित्त कारण का ग्रहण समझना चाहिए, न कि रस की भाँति उसका सर्वथा आलम्बन और उद्दीपन होना अपेक्षित है।

भावशांति, भावोदय, भावसंधि और भावशबलता

भावशांति में विभाव और अनुभावों से व्यज्यमान हर्ष आदि भावों में से किसी

भाव का नाश होता है। यह भाव-नाश उत्पन्न होते ही अविच्छिन्न हो जाना चाहिए, अन्यथा उसमें सहृदयजनों के लिए चमत्कृति अथवा आह्लादमयता नहीं रहती। उदाहरणार्थ यदि कोई कवि किसी मानिनी के अमर्ष का वर्णन करते समय मेघ-ध्वनि के साथ-ही-साथ उसके नयनकोणगत रक्त-छवि के नाश का उल्लेख करे तो उसके अमर्ष भाव का नाश उसकी प्रसन्नता का अभिव्यंजक बन जायगा जिसके कारण वहां 'भाव-शांति' होगी। ऐसे प्रसंग के उत्पत्तिकाल में अविच्छिन्न रोष का नाश व्यंग्य माना जायगा क्योंकि उसी के कारण वहाँ 'भाव-शांति' नामक ध्वनि का प्रादुर्भाव हो सकेगा। 'भावोदय' में हर्ष आदि भावों में से किसी भी भाव की उत्पत्ति निर्दिष्ट की जाती है। उदाहरणार्थ यदि कोई भामिनी प्रेमाविष्ट होकर अपने प्रियतम के साथ गाढालिंगन में तत्पर हो किंतु उसे उसी क्षण अपने प्रियतम के वक्ष:स्थल पर किसी अन्य नायिका का हार-लक्ष्म दृष्टिगोचर हो जाय तो उसके मन में सद्यमेव अमर्षभाव का संचार होने के कारण वह अपनी बाहुवल्लरी को आलिंगन-पाश से हटा लेगी। इस प्रकार का अभिचित्रण कवि-वाणी द्वारा व्यंजित होकर 'भावोदय' का उदाहरण बन जाएगा क्योंकि उपनायिका के हार का चिह्न विभाव और भुजलता का हटाना अनुभाव बनकर रोषभाव का उदय व्यंजित करेगा। भावशांति और भावोदय के इसी प्रसंग में इस बात का ध्यान रखना आवश्यक है कि जहाँ किसी भाव की शांति (नाश) होती है वहाँ किसी अन्य भाव का उदय होना भी निश्चित है। इसी प्रकार जहाँ किसी भाव का उदय होता है वहाँ किसी अन्य भाव की शान्ति अवश्य हुई रहती है। इससे यही सिद्ध होता है कि भाव-शांति और भावोदय के एक-दूसरे से अमिश्रित लक्ष्यों का मिलना असम्भव है तथापि यह नहीं कहा जा सकता कि इन दोनों के पृथक्-पृथक् व्यवहार करने योग्य लक्ष्य नहीं होते। वस्तुत: दोनों का एक ही स्थल पर चमत्कारी होना संभव नहीं है, अत: व्यवहार को चमत्कार के अधीन मान-कर यही कहना समुचित है कि भावशांति और भावोदय में जहाँ जिसका चमत्कार होता है वहाँ उसी का व्यवहार किया जाना चाहिए क्योंकि दोनों के व्यवहार पृथक्-पृथक् हो सकते हैं।

भावसंधि में ऐसे दो भावों का समानाधिकरण होता है जो एक-दूसरे से अभिभूत तो नहीं होते किंतु जिनमें एक-दूसरे का अभिभव करने की योग्यता अवश्य रहती है। ऐसे दो भावों में कोई एक भाव दूसरे भाव की प्रतीति और चमत्कार को बाधित करने की क्षमता रखता है किंतु उसे बाधित नहीं करता जिसके कारण अविरुद्ध और तुल्यबल जैसे दो भावों की सहस्थिति सम्भव है। भावसंधि का स्पष्टीकरण इस उदाहरण द्वारा किया जा सकता है कि यदि कोई कवि वय:संधि प्राप्त अनूठा सीता का भगवान् श्रीराम में प्रथम दृक्पात का वर्णन करते हुए यह लिखे कि भगवान् राम के यौवनोद्गम से नितांत शंकित तथा उनके शील, शौर्य, बल और कांति से लुब्ध सीता के नयन-कमलों की कांति भगवान् राम में संकुचित भी हो रही है और विकसित भी, तो यह चित्रण भावसंधि का उदाहरण होगा। ऐसे उदाहरण में राम का दर्शन विभाव तथा नेत्रों का संकोच और विकास अनुभाव होंगे जिनसे क्रमश: लज्जा और औत्सुक्य नामक दो भावों की संधि समान रूप से व्यंजित होती है और इन दोनों भावों में एक-दूसरे को अभिभूत

करने की योग्यता होने पर भी वे परस्पर अभिभूत नहीं होते।

भाव-शबलता में ऐसे अनेक भावों का मिश्रण होता है जो परस्पर विरोधी होने के कारण एक-दूसरे के बाधक हों अथवा जो उदासीन हों अर्थात् न तो परस्पर बाधक हों और न परस्पर सहायक। भावों के 'मिश्रण' अथवा उनकी शबलता से यह तात्पर्य है कि यद्यपि भिन्न-भिन्न वाक्यों से भिन्न-भिन्न भाव अभिव्यक्त होते हैं, तथापि उन सब वाक्यों को मिलाकर जो एक सम्पूर्ण महावाक्य बनता है उसके द्वारा व्यंजनावृत्ति के आश्रय से जो एक चमत्कारी ज्ञान होता है, उसमें उन समस्त भावों का आभास हो जाता है। भावशबलता का उदाहरण रामायण का वह प्रसंग हो सकता है जिसमें भगवान् श्रीराम सीता का निर्वासन कर अनेक प्रकार के भावों का चिंतन एक साथ करते हैं।[1] उस चिंतन में मति, असूया, विषाद, स्मृति, वितर्क, व्रीडा, शंका और निर्वेद आदि भावों की शबलता विद्यमान है। सीता का निष्कासन करने के पश्चात् भगवान् राम अपने उस कर्म को 'पाप' कहकर 'मति', अपने को दुर्बुद्धि कहकर स्वविषयक 'असूया', 'सीता को भी' द्वारा 'विषाद', 'इन्द्रमुखी' द्वारा 'स्मृति', 'मेरे बिना जी सकती है' द्वारा 'वितर्क', 'भले आदमियों का मुख कैसे देखूँगा' द्वारा 'व्रीडा', 'वे मुझे क्या कहेंगे' द्वारा शंका और 'भले ही यह राज्य रसातल में चला जाय, मैं जीना नहीं चाहता' द्वारा 'निर्वेद' भाव की व्यंजना करते हैं, अतः इन समस्त भावों का आभास समग्र श्लोकजन्य-बोध में होने के कारण यहाँ 'भावशबलता-ध्वनि' है। 'काव्य-प्रकाश' के एक टीकाकार ने भावशबलता को 'उत्तरोत्तर भाव से पूर्व पूर्वभावों का उपमर्दन' कहा है जिससे पंडितराज जगन्नाथ सहमत नहीं है।[2] उनका कथन है कि ऐसा करते हुए टीकाकार ने मम्मट के मूल अभिप्राय को विकृत रूप में प्रस्तुत कर दिया है। वास्तव में भावशबलता एक विचित्र प्रकार का भाव-संयोग है जिसके मिश्रण को नारियल के जल, दुग्ध, शर्करा और केले के मिश्रण से उत्पन्न विलक्षण आस्वाद से उपमित किया जा सकता है।[3] इसका अभिप्राय यह है कि जिस प्रकार नारिकेल-जल, दुग्ध, सिता और कदली का मिश्रण एक-दूसरे का स्वाद नष्ट नहीं करता अपितु सब मिलकर अपना-अपना स्वाद रखते हुए भी एक नया स्वाद उत्पन्न कर देते हैं उसी प्रकार भाव-शबलता में प्रयुक्त भाव भी अपना-अपना आस्वादन कराते हुए एक नया आस्वादन-सा उत्पन्न कर देते हैं।

भाव-ध्वनि में भावोदय आदि का सहज समाहार हो जाता है

पंडितराज जगन्नाथ का मत है कि भावशांति, भावोदय और भाव-संधि आदि

१. पापं हतं मया दृतेन विहितं, सीताऽपि यद्यापिता,
सा भामिन्दुमुखी विना मम वने किं जीवितं धास्यति ?
आलोकेय कथं मुखानि कृतिनां, किं ते वदिष्यंति मां,
राज्यं यातु रसातलं पुनरिदं, न प्राणितुं कामये ॥

२. रसगंगाधर, प्रथमानवम्, चौखम्बा प्रकाशन, पृ० ३५१-५२।

३. नारिकेल जल-क्षीर-सिता-कदलिमिश्रणे।
विलक्षणो यथाऽस्वादो भावानं संहतौ तथा ॥

जितनी भी ध्वनियाँ हैं उन सबका समाहार 'भाव-ध्वनि' में किया जा सकता है। इसका कारण यह है कि उन समस्त ध्वनियों में भिन्न-भिन्न अवस्थाओं की विद्यमानता रहते हुए भी हम भावों का ही आस्वादन करते हैं। उन भावध्वनियों में विनाश, उत्पत्ति, संधि और शबलता आदि अवस्थाओं के होने पर भी भावों का ही प्राधान्य रहता है क्योंकि चमत्कार का विश्राम भाव की चर्वणा (आस्वाद) में ही जाकर होता है, न कि भावों की अवस्थाओं में। यदि कहीं भावों और उनकी अवस्थाओं का आस्वादन समान रूप में हो अर्थात् वे समान रूप से चर्वणा के विषय बनें तो उनकी प्रधानता और अप्रधानता का निर्णय करना सहज कार्य नहीं है। ऐसी स्थिति में यही उचित है कि उन भावों का प्राधान्य शांति-विशिष्ट, उत्पत्ति-विशिष्ट, संधि-विशिष्ट और शबलता-विशिष्ट रूप से स्वीकार कर लिया जाय। यों तो भावों की अवस्थाओं को प्राधान्य प्रदान करने के लिए अनेक तर्क प्रस्तुत किये जा सकते हैं, किंतु यह एक अनुभवसिद्ध बात है कि भाव-शांति आदि की ध्वनियों में भावों की प्रधानता ही मुख्य रूप से रहती है, क्योंकि वे ही चमत्कारप्राण हैं तथा उनमें शांति आदि भावावस्थाओं का उपसर्जन होता है। भाव-ध्वनियों और भावावस्थाओं का अंतर एक लौकिक उदाहरण द्वारा स्पष्ट किया जा सकता है। उसके स्पष्टीकरण के लिए हम कह सकते हैं कि जिस प्रकार कच्चे आम और पके आम में वस्तु के एक होने पर भी आस्वादजन्य आनंद में अंतर होता है, उसी प्रकार शुद्ध भावास्वादजन्य आनंद और शान्त्याद्यवस्थायुक्त भावास्वादजन्य चमत्कार में भी अन्तर होता है। पंडितराज ने इस विषय का विवेचन अत्यंत विद्वत्तापूर्ण विधि से करते हुए अन्त में भावध्वनियों का ही प्राधान्य प्रमाणसम्मत माना है। उन्होंने इस विषय का भी विवेचन किया है कि जिस प्रकार भावध्वनियों में भावों की अवस्थाओं का समाहार हो जाता है, उसी प्रकार रसध्वनियों में भी रसों की शांत्युदयादि अवस्थाओं का विलीनीकरण रहता है। वस्तुतः रसों की उदयादि अवस्थाएँ हो ही नहीं सकतीं क्योंकि ऐसा मानने पर तो स्थायिभावों का 'स्रक्-सूत्र-न्याय' से बना हुआ अविरत स्थायित्व ही नष्ट हो जायगा और उनमें तथा साधारण-भावों में कोई अन्तर ही नहीं रहेगा। यदि यह कहा जाय कि स्थायिभावों की स्थिरता होने पर भी उसकी अभिव्यक्ति से उत्पत्ति और विनाश आदि रूप हो सकते हैं जिन्हें स्थायिभावों में आरोपित कर शान्त्यादि अवस्थाओं से उपवेष्टित गौण रस का व्यवहार किया जा सकता है तो भी उचित नहीं है, क्योंकि 'आरोप' कभी भी चमत्कारजन्य नहीं होता और उसके अचमत्कारी होने के कारण रसशांति आदि ध्वनियाँ भी नहीं मानी जा सकतीं।

भावों का रस में विनियोग

भरतमुनि ने स्थायी, व्यभिचारी और सात्विक भावों के संदर्भ में उनचास प्रकार के भावों की यथावत् व्याख्या करते हुए उनका रसगत विनियोग भी निरूपित किया है।[1] उनका परामर्श है कि ग्लानि, शंका, असूया, श्रम, चपलता, सुप्त, निद्रा, अवहित्थ,

---

१. नाट्यशास्त्र, ७।१०६-११६।

और वेपथु नामक भाव 'शृंगार' रस में; ग्लानि, शंका, असूया, श्रम, चपलता, सुप्त, निद्रा तथा अवहित्थ 'हास्य' रस में; निर्वेद, चिंता, दीनता, ग्लानि, आँसू, जड़ता, मरण और व्याधि 'करुण' रस में; असम्मोह, उत्साह आवेग, हर्ष, मति, उग्रता, उन्माद, रोमांच, प्रतिबोध, क्रोध, असूया, धृति, अभिमान और वितर्क 'वीर' रस में; गर्व, असूया, उत्साह, आवेग, मद, क्रोध, चपलता, हर्ष और उग्रता 'रौद्र' रस में; स्वेद, वेपथु, रोमांच, गद्गद्, त्रास, मरण और वैवर्ण्य 'भयानक' रस में; अपस्मार, उन्माद, विषाद, मद, मृत्यु, व्याधि और भय 'बीभत्स' रस में तथा स्तम्भ, स्वेद, मोह, रोमांच, विस्मय, आवेग, जड़ता, हर्ष और मूर्च्छा 'अद्भुत' रस में विनियुक्त किये जाने चाहिए। इन रसों में शृंगार रस का क्षेत्र सबसे अधिक व्यापक हैं और आलस्य, उग्रता तथा घृणा को छोड़कर शेष सभी भाव अपने नाम से शृंगार को उद्भावित कर सकते हैं।

भरतमुनि का अभिमत है कि नाट्य-वियोग के समय विविध अभिनयों में आश्रित रहने वाले सात्विक भावों का प्रयोग उनके प्रयोक्ताओं द्वारा समस्त रसों में किया जाना चाहिए। कोई भी काव्य अपने भाव, रस, प्रवृत्ति और वृत्ति में एक रस वाला नहीं हो सकता। वस्तुत: काव्य-प्रयुक्त रसों में जिस रस का रूप प्रबल हो, वह उस काव्य का स्थायी रस तथा शेष रस उसके व्यभिचारी रस कहलाते हैं। काव्य का स्थायी रस विभावानुभावों से युक्त मुख्य कथावस्तु का आधार और संचारियों से संयुक्त होता है। नाट्य-प्रयोक्ताओं को चाहिए कि वे स्थायी को सत्वातिरेक से प्रयुक्त करें तथा संचारियों को आकृतिमात्र से प्रदर्शित करना ही पर्याप्त समझें। आश्रय तथा अनेक अर्थों द्वारा सम्पाद्य नाटक में रस के स्थायी, सात्विक और व्यभिचारी भावों का विनियोग पुरुष पात्रों में करना समुचित है। ऐसा करने से भी नाटक में रस और भाव व्यवस्थित होते हैं। अभिप्राय यह है कि भरतमुनि ने नाट्य-प्रयोग के समय अभिनय द्वारा भावों के विनियोग का जो रसानुकूल निरूपण किया है वह अत्यंत गम्भीर और विचारणीय है। उसका सम्यक् परिपालन करने से रस-सिद्धि में सफलता प्राप्त होती है। भावों का इस प्रकार का विवेचन श्रव्य काव्य की वर्णना में भी उपादेय है क्योंकि श्रव्य काव्य भी तो एक प्रकार से सहृदय के मानस-मंच पर किया जाने वाला कलापूर्ण अभिनय ही है और उसमें भी रस-निष्पत्ति कराने की उतनी ही क्षमता है जितनी दृश्य काव्य के अभिनय में होती है।

'आठ' अथवा 'नौ' स्थायिभाव ही क्यों ?

प्रश्न यह है कि जब अन्योन्यार्थ से आश्रित और विभावानुभावों से व्यंजित उनचास प्रकार के भावों के सामान्यगुण-योग द्वारा रसों की निष्पत्ति होती है तो फिर ऐसा क्यों कहा जाता है कि आठ (अथवा नौ ?) प्रकार के स्थायी भाव ही रसत्व को प्राप्त करते हैं ? भरतमुनि ने उपर्युक्त प्रश्न उपस्थित कर उसका समुचित उत्तर देने का भी प्रयत्न किया है। उनका कहना है कि जिस प्रकार समान लक्षण वाले तथा हाथ, पैर, उदर एवं समान प्रत्यय वाले पुरुष भी अपने कुल, शील, विद्या, कर्म और शिल्प की विचक्षणता से युक्त होकर राजत्व को प्राप्त करते हैं तथा उन्हीं में से कुछ पुरुष अपनी

अल्पबुद्धि के कारण उनके अनुचर बनते हैं, उसी प्रकार विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भाव भी स्थायी भावों के उपसृत होकर अपनी गौणता रखते हैं। वस्तुतः आश्रय होने के कारण स्थायी भाव राजा-रूप है तथा व्यभिचारी भाव अनुचर-रूप। इसको इस प्रकार भी कहा जा सकता है कि स्थायी भाव-रूप शरीर में अन्य भाव गौण रूप में रहते हैं और व्यभिचारी भाव गुणवत्ता के कारण उनकी सेवा करते हैं। भरतमुनि ने इस मान्यता को स्पष्ट करने के लिए एक दृष्टांत प्रस्तुत किया है और वह यह है कि जैसे बहुत परिवार वाला होता हुआ भी उनका राजा ही राजा नाम को प्राप्त करता है और अन्य महापुरुष उस नाम को प्राप्त नहीं करता तथा अपने बहुत से परिजनों के साथ जाने वाले राजा को देखकर यदि कोई यह पूछे कि वे कौन जा रहे हैं तो उसका उत्तर देने वाला केवल 'राजा' शब्द के प्रयोग द्वारा ही उसकी शंका का समाधान कर देता है क्योंकि उस शब्द के प्रयोग में अन्य परिजनों का समाहार स्वतः हो जाता है, उसी प्रकार स्थायी भाव भी विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भावों से युक्त होने पर भी राजा ही की भाँति रस नाम को प्राप्त करता है। इस विषय में निम्नलिखित श्लोक उल्लेखनीय है—

यथा नराणां नृपतिः शिष्यानां च यथा गुरुः।
एवं हि सर्वभावानां भावः स्थायी महानिह ।।[1]

अर्थात् जैसे पुरुषों का राजा और शिष्यों का गुरु होता है उसी प्रकार सब भावों में स्थायी भाव इस काव्य-जगत् में महान् होता है।

रस और स्थायिभाव का विभेद

काव्यास्वाद की विवेचना में रस और स्थायिभावों का विभेद भी विचारणीय है। भट्टनायक और अभिनवगुप्त आदि आचार्यों ने रस और स्थायिभावों का अन्तर घट तथा उसमें अन्तर्व्याप्त आकाश के उदाहरण द्वारा निरूपित किया है। उनका मत है कि जिस प्रकार व्यापक आकाश घटरूप उपाधि से अवच्छिन्न होकर सीमित हो जाता है उसी प्रकार व्यापक चैतन्य भी रत्यादि स्थायिभाव-रूप उपादि से ग्रस्त होकर केन्द्रित-सा हो जाता है। नव्य मत के अनुसार रस और स्थायिभाव में वही भेद है जो वास्तविक रजत और काल्पनिक रजत में है। कुछ विद्वान् रत्यादि विषयक ज्ञान का रसत्व अंगीकार करने के कारण रस और स्थायिभावों में विषयविषयिभावरूप भेद मानते हैं। आचार्यों ने रस और स्थायिभावों का अभेद भी निरूपित किया है। उनका कथन है कि विलक्षणतामूलक रस की निष्पत्ति में रत्यादि स्थायिभावों का महत्त्व किसी भी रूप में कम नहीं किया जा सकता। स्थायिभाव और रस में यह अन्तर है कि स्थायिभाव सदा व्यक्त या अव्यक्त रूप में विद्यमान रहता है, परन्तु रस की स्थिति केवल उतने समय पर्यन्त रहती है जब तक कि उसकी प्रतीति होती है। उसकी सत्ता न तो रस की प्रतीति के पूर्व रहती है और न रसानुभूति के समाप्त होने के पश्चात्। इसे ही स्थायिभाव की

१. नाट्यशास्त्र ७।८।

अपेक्षा रस की विलक्षणता कहा जाता है। अभिप्राय यह है कि रस और स्थायिभाव का स्वरूप-बोध किये बिना काव्यास्वाद का एक मौलिक प्रश्न अस्पृष्ट रह जाता है।

स्थायिभावों के नाम और उनसे निष्पन्न होने वाले रस

साधारणतया स्त्री-पुरुष की अन्योन्य आलम्बन रूप प्रेमाख्य नामक चित्तवृत्ति-विशेष का नाम रति है जो शृंगाररस का स्थायिभाव है। वही रति जब गुरु, देवता और पुत्र आदि को आलम्बन बनाकर प्रयुक्त हो तो व्यभिचारिभाव हो जाती है। काव्य-प्रकाशकार ने 'रति र्देवादिविषया व्यभिचारी तथांजितः। भावः प्रोक्तः' द्वारा इसी मत का समर्थन किया है। प्रदीपकार का भी ऐसा ही मत है।[1] कुछ विद्वानों ने रति का क्षेत्र व्यापक करते हुए उसे नायकमिथुनान्योन्यविषयक, देवादिपूज्यविषयक और पुत्राद्यनुकम्पनीय विषयक संज्ञक तीन प्रकारों में विभक्त कर उसके द्वारा क्रमशः शृंगार, भक्ति और वात्सल्य नामक रसों का स्थायिभाव प्रतिपादित किया है। पुत्र आदि इष्ट जनों के वियोग अथवा मरण से उत्पन्न होने वाली वैकल्याख्य चित्तवृत्ति का नाम 'शोक' है जो करुण रस का स्थायिभाव है। प्राचीन आचार्यों ने 'इष्टनाशादनिष्टाप्तेः करुणाख्यो रसो भवेत्' अर्थात् इष्ट का नाश और अनिष्ट की प्राप्ति में करुण रस माना है। इष्ट और अनिष्ट पदार्थों का क्षेत्र चेतन और अचेतन वर्ग में आने वाले समस्त विषयों पर्यन्त व्याप्त है। यों तो प्रणयीजनों के वियोग से उत्पन्न व्याकुलता भी शोक ही है किन्तु वह करुण रस का स्थायिभाव तभी हो सकता है जब वह प्रेमपात्र के मरण-ज्ञान के साथ हो। प्रेमपात्र की जीवितावस्था में जो वियोगजन्य शोक होता है वह रति नामक स्थायिभाव को परिपुष्ट करने वाला व्यभिचारिभाव मात्र होता है जिसका सम्बन्ध विप्रलम्भ शृंगार से है। विश्वनाथ आदि आचार्यों ने 'विप्रलम्भ-करुण' नामक एक रसान्तर का भी निरूपण किया है जिसमें किसी का मृतक प्रेम-पात्र किसी देवता आदि के प्रसाद से पुनः जीवित हो जाता है।[2] इसका उदाहरण कादम्बरी का वह प्रसंग है जहाँ महाश्वेता अपने प्रेमी पुंडरीक की मृत्यु की बात जानती हुई भी आकाशवाणी द्वारा उसके पुनः जीवित होने का भी ज्ञान कर लेती है। उस स्थल पर करुण और विप्रलम्भ का अद्भुत संयोग होने से 'करुणविप्रलम्भ' नामक रस अभिव्यक्त हुआ है।

'निर्वेद' को शांतरस का स्थायिभाव कहा गया है जिसकी उत्पत्ति नित्यानित्य-वस्तुओं के विवेकजन्य विचारों के कारण होती है। उसके आश्रय की चित्तवृत्ति संसार की अनित्यवस्तुओं के प्रति वैराग्यपरक होती है। यदि गृहकलह आदि कारणों से निर्वेद की उत्पत्ति हो तो वह स्थायिभाव न होकर व्यभिचारिभाव होता है। रौद्र रस का स्थायिभाव क्रोध है जो अपने माता-पिता आदि गुरुजनों तथा प्रिय बंधुओं के वध आदि परम असह्य अपराध से उत्पन्न होने वाली प्रज्वलनाख्या चित्तवृत्ति का ही नाम है।

---

१. रत्यादिश्चेन्निरंगः स्याद् देवादिविषयोऽथवा।
अन्यांगभावभाग् वा स्यान्न तदा स्थायिभावभाक्॥

२. यूनोरेकतरस्मिन गतवति लोकांतरं पुनर्लभ्ये।
विमनायते यदैकस्तदा भवेत् करुणविप्रलम्भाख्यः।—साहित्यदर्पण।

क्रोधाभिभूत व्यक्ति शत्रु अथवा अपराधी का नाश करने के लिए उतावला हो उठता है। यदि किसी के क्षुद्र अपराध से प्रज्वलन-वृत्ति का उदय हो और उससे अभिभूत व्यक्ति अपराधी के प्रति परुषवचनों का प्रयोग करे अथवा उसके साथ संभाषण आदि करना बंद कर दे तो वहाँ क्रोध न होकर 'अमर्ष' नामक व्यभिचारिभाव हो जाता है। 'उत्साह' वीररस का स्थायिभाव है जो शत्रुओं के पराक्रम अथवा दान आदि श्लाघ्य कर्मों की स्मृति से उत्पन्न होकर चित्तवृत्ति में एक प्रकार का 'औन्नत्य' ला देता है। एक आचार्य ने 'कार्यारंभेषु संरम्भः स्थेयानुत्साह उच्यते' द्वारा उस चित्तवृत्ति को उत्साह माना है जो उपस्थित कार्यों में उत्कट आवेश उत्पन्न करती है। 'विस्मय' का लक्षण 'अलौकिक वस्तुओं के दर्शन से उत्पन्न होने वाली चित्तवृत्ति का विकास है जिसमें हम उन वस्तुओं की लोकव्यवहारातिक्रांतता से तो अभिभूत होते ही हैं, साथ ही साथ उनके असंभाव्य हेतुओं का भी अनुसंधान नहीं कर पाते। चित्त का यह विचित्र-विस्फार अद्‌भुत रस का स्थायिभाव बनता है। 'हास' भी एक प्रकार की विकासाख्या चित्तवृत्ति है जो दूसरों के अंग, वेश, वचन और अलंकारों में अन्यथाभाव का दर्शन कर हमारे मन में एक प्रकार का विकास ला देती है। उसे हास्य रस का स्थायिभाव माना गया है। 'भय' उस वैकल्याख्या चित्तवृत्ति का नाम है जो मृत्यु आदि परम अनर्थकारी विषयों के निदर्शन व्याघ्र आदि के दर्शन से उत्पन्न होती है। यदि व्याघ्र आदि के दृष्टिगोचर होने से उत्पन्न विह्वलता से परम अनर्थ अर्थात् मरण की संभावना न हो तो वहाँ भयानक रस का स्थायिभाव 'भय' न होकर उसी रस का व्यभिचारिभाव 'त्रास' हो जायगा। कुछ विद्वानों ने महावात और वज्रनिर्घात प्रभृति उत्पातों से उत्पन्न मनः क्षोभ को 'त्रास' तथा अपने अपराध द्वारा उत्पन्न अपने गुरुतर चित्त-चांचल्य को 'भय' माना है। 'जुगुप्सा' में घृणोत्पादक अथवा कुत्सित वस्तुओं के अवलोकन से चित्त में एक प्रकार की विचिकित्सा अथवा विगर्हणा का संचार होता है जिससे बीभत्स रस की निष्पत्ति होती है। संक्षेप में स्थायिभावों का यही सामान्य परिचय है जिससे रस-निष्पत्ति का सूत्र समझने में सहायता मिलती है।

'विभाव्यंतीति विभावाः' के अनुसार विभावों का कार्य रत्यादि स्थायिभावों को विशेष रूप से आस्वाद्य बनाना है। विभाव के दो प्रकार हैं—आलम्बन और उद्दीपन। यों तो हम संसार में स्थायिभावों के कारण-रूप विभावों का अनुभव नित्यप्रति करते ही रहते हैं, किंतु जब वे काव्य अथवा नाट्य में वर्णित होकर तत्संबद्ध स्थायिभावों के व्यंजक बनते हैं तभी उन्हें शास्त्रीय भाषा में विभाव कहा जाता है। अनुभावों की उत्पत्ति स्थायिभावों के पश्चात् होती है। वे एक प्रकार से स्थायिभावों के कार्य हैं जो विभावों के द्वारा आस्वाद्य बने हुए स्थायिभावों का अनुभव कराते हैं। व्यभिचारिभावों में हर्ष आदि की गणना की जाती है और वे फेनबुद्‌बुद-न्याय से स्थायिभावों के साथ व्यभिचरित अथवा संचरित होते रहते हैं। रस-निष्पत्ति को बोधगम्य करने के लिए भाव, विभाव और अनुभाव आदि का ज्ञान परम अनिवार्य है क्योंकि उन्हीं के आधार पर काव्यास्वाद की प्रक्रिया समझी जाती है।

रसों के विभावादि का संक्षिप्त कथन

शृंगार-रस में नायक-नायिका आलम्बन विभाव, चन्द्र-ज्योत्स्ना, वसंत ऋतु, विविध उपवन और एकांत स्थान आदि उद्दीपन विभाव, प्रेमपात्र का मुखदर्शन, उसके गुणों का श्रवण-कीर्तन तथा स्तम्भ, स्वेद, रोमांच, स्वरभंग, कम्प, वैवर्ण्य, अश्रुपात और प्रलय आदि सात्विक भाव अनुभाव, तथा स्मरण और चिंता आदि व्यभिचारिभाव होते हैं। करुणरस में इष्टजनों का विनाश आलम्बनविभाव, उनसे सम्बद्ध गृह, तुरग, आभरण आदि के दर्शन तथा उनके सम्बन्ध में कही गई बातों का श्रवण उद्दीपन विभाव, गात्रक्षेप और अश्रुपात आदि अनुभाव, तथा ग्लानि, क्षय, मोह, विषाद, चिंता, औत्सुक्य, दैन्य और जाड्य आदि व्यभिचारिभाव होते हैं। शांतरस में अनित्य रूप से ज्ञात संसार आलम्बन विभाव, वेदांतश्रवण, तपोवनसेवन तथा तापस-दर्शन आदि उद्दीपन-विभाव, सांसारिक विषयों से अरुचि, शत्रु और मित्र के विषय में उदासीनता, निश्चेष्टता तथा नासाग्रदृष्टि का उन्मेष आदि अनुभाव, और हर्ष, उन्माद, स्मरण तथा मति आदि व्यभिचारिभाव हैं। रौद्ररस में अपराधी व्यक्ति आलंबन, उसके द्वारा किये गये अपराध उद्दीपन, नेत्रारुण्य, दंतपीडन, परुषभाषण और शस्त्रग्रहण आदि अनुभाव, तथा अमर्ष, वेग, उग्रता और चंचलता आदि व्यभिचारिभाव हैं। वीररस में शत्रु आदि आलम्बन विभाव, उनके पराक्रमों के दर्शन उद्दीपन विभाव, दोनों ओर से होने वाले प्रहार अनुभाव और हर्ष तथा वेग आदि व्यभिचारिभाव हैं। अद्भुत रस में आश्चर्यजनक वस्तु आलम्बन, उसके साक्षात्कार से उद्दीपन, नेत्रविस्फार, स्तम्भ और रोमांच आदि अनुभाव, और वितर्क आदि व्यभिचारिभाव हैं। हास्यरस में विकृत वाणी, अंग और वेश आदि से युक्त व्यक्ति आलम्बन, उसके अंगादि विकार उद्दीपन, रदनप्रकाश आदि अनुभाव, और श्रम तथा उद्वेग आदि व्यभिचारिभाव हैं। भयानक रस में भयावह वस्तु आलम्बन, उसके विकट व्यापार आदि उद्दीपन, मुख-शोष और पलायन आदि अनुभाव, तथा जाड्य और कम्प आदि व्यभिचारिभाव हैं। बीभत्सरस में जुगुप्सित वस्तु आलम्बन, उसके गंधादि उद्दीपन, थूकना आदि अनुभाव तथा ग्लानि आदि व्यभिचारिभाव कहलाते हैं।

भावों और रसों का अंतर्सम्बन्ध

भावों और रसों के स्वरूप-विश्लेषण के पश्चात् अब मुख्य रूप से इस विषय का विवेचन करना आवश्यक है कि क्या रसों से भावों की उत्पत्ति होती है या भावों से रसों की ? इसके उत्तर में कहा जा सकता है कि न तो रसों से भावों की उत्पत्ति होती है और न भावों से रसों की, अपितु उनके पारस्परिक सम्बन्ध से ही एक-दूसरे की उत्पत्ति होती है। इस विषय में आचार्यों ने विविध दृष्टियों से अपना विवेचन प्रस्तुत किया है। एक आचार्य का कथन है कि नर्तकगत करुणादि रसों के अभिनय द्वारा सामाजिक में शोकादि भावों की उत्पत्ति होती है और जब वे शोकादि भाव रामादि विभावों से उपचित हो जाते हैं तो सामाजिक में भी करुणादि रसों की उत्पत्ति या पुष्टि कर देते हैं। इस प्रकार

इस मत के अनुसार नटगत रस के अभिनय से सामाजिकगत शोकादि भावों की तथा सामाजिकगत भाव की पुष्टि से सामाजिकगत रस की उत्पत्ति होती है। इस मान्यता से यह संदेह हो जाता है कि क्या रस से भाव उत्पन्न होता है या भाव से रस ? 'कालभेद से एक से दूसरे का भी परस्परजन्म होता है'—यह तीसरा पक्ष है। आचार्य भट्ट लोल्लट ने रत्यादि की उपचित अवस्था में रस तथा रसादि के अपचय में भाव की सत्ता मानी है जिसका खंडन अभिनवगुप्त ने विस्तारपूर्वक किया है।

आचार्य शंकुक का अभिमत है कि नटगत अभिनय में रसों का आस्वाद करने वाले सामाजिक को नाटक के अनुकार्य (रामादि) में रत्यादि भावों की प्रतीति होती है। वह प्रतीति लोगों में प्रकृत रस उत्पन्न करती है। इसका आशय यह है कि भावों से रस की उत्पत्ति होती है। इसका एक पक्ष यह बनता है कि पहले अनुकार्यगत भाव से नटगत रस की तथा उसके पश्चात् नटगत रस से सामाजिकगत भाव की उत्पत्ति होती है। अभिनवगुप्त ने इस मत का भी खंडन किया है क्योंकि सामाजिक को अनुकार्य तथा अनुकर्त्ता के भेद का ज्ञान नहीं होता।

भावों के साथ विभावानुभावों का संयोग होने से रसनिष्पत्ति होती है

अधिकांश विद्वान् तो इस मत के समर्थक हैं कि विभाव और अनुभाव आदि का भावों के साथ संयोग होने पर रस की निष्पत्ति होती है। इस पर यह शंका की जा सकती है कि काव्य में विभावानुभाव आदि नहीं होते, अतः उनसे रस की निष्पत्ति कैसे मानी जा सकती है ? वास्तव में इस शंका का कोई सम्पुष्ट और प्रौढ़ आधार नहीं है। इस विषय में भरतमुनि का कहना है कि 'न तो रसों और भावों के पारस्परिक संबंध से दोनों की उत्पत्ति मानने वाला सिद्धांत ही उचित है और न रसों से भावों की उत्पत्ति मानने वाला मत ही माननीय है। वस्तुतः रस-सूत्र के अनुसार तो भावों से ही रस-निष्पत्ति मानना युक्तिसंगत है क्योंकि ये विभाव-विषय नाना प्रकार के अभिनयों से सम्बद्ध रसों को भावित करते हैं, इसलिए नाटक का प्रयोग करने वाले व्यक्ति इनको 'भावयंतीति भावा' के अनुसार 'भाव' नाम से पुकारते हैं। आचार्य का कहना है कि 'जिस प्रकार नानाद्रव्यों से बहुविध-व्यंजनों की भावना होती है, उसी प्रकार अभिनयों के साथ मिलकर भाव भी रसों को निष्पन्न करते हैं।'[१] भरत मुनि की मान्यता है कि 'न तो भावों के बिना रस हो सकता है और न रसों के बिना भाव ही रहता है। अभिनय में एक-दूसरे के आश्रय पर इनकी सिद्धि होती है।'[२] उन्होंने लिखा है कि 'जैसे व्यंजन और औषधि का संयोग खाद्य द्रव्य को स्वादिष्ट बना देता है उसी प्रकार भाव और रस भी एक-दूसरे को भावित करते हैं।'[३] वस्तुतः भरतमुनि को 'नहि रसादृते कश्चिद् रसर्थः प्रवर्तते' का सिद्धांत मान्य है अतः उन्होंने रस की सत्ता मूल रूप में स्वीकार करते हुए लिखा है कि 'जैसे बीज से वृक्ष होता है तथा वृक्ष से पुष्प तथा फल, उसी

१. भरतमुनि, नाट्यशास्त्र, षष्ठोऽध्याय के आनुवंश्य श्लोक ४ से ७ पर्यन्त।
२. वही।
३. वही।

प्रकार सारे रस मूल हैं जिनसे सारे भाव व्यवस्थित होते हैं।'[1]

अभिनवगुप्त का मत ही सर्वोपरि और मान्य है

भरतमुनि ने मूलतः रस का माहात्म्य स्वीकार कर व्यवहारतः भावों से रस की निष्पत्ति मानी है जिसे अपने पूर्व पक्ष के रूप में ग्रहण करते हुए अन्य आचार्यों ने अनेक प्रकार के अंतर्विरोध उपस्थित किये हैं। इस विषय में आचार्य अभिनवगुप्त का वह विवेचन अत्यंत महत्त्वपूर्ण है जिसमें उन्होंने इस सिद्धांत की प्रतिष्ठा की है कि 'बीज स्थानीय कविगत रस से वृक्षस्थानीय काव्य उत्पन्न होता है। उसमें पुष्प स्थानीय अभिनयादि रूप नट का व्यापार होता है। उसमें फल स्थानीय सामाजिक का रसास्वाद होता है। इसलिए सामाजिक के लिए सारा काव्य जगत् रसमय ही होता है।'[2] अभिनवगुप्त के कथन का मूल मंतव्य यह है कि 'जिस प्रकार बीज वृक्ष के मूल कारण रूप में स्थित होता है उसी प्रकार कविगत रस काव्य-रूप वृक्ष के मूल में स्थित रहते हैं। इसलिए उसी के द्वारा आनंदास्वाद प्रीतिपूर्वक 'रामादिवत् प्रवर्तितव्यं न रावणादिवत्' इत्यादि रूप उपदेश का ज्ञान होता है।'[3] अभिनवगुप्त के मतानुसार 'कविगत संवित् ही वास्तव में मूलभूत रस है जिसकी प्रतीति सामाजिक करता है।'[4] वस्तुतः कवि की स्थिति भी सामाजिक तुल्य है और कविगत रस ही भावादि का मूल कारण है। इस सिद्धांत को ध्वन्यालोककार आनंदवर्धन ने भी स्वीकार करते हुए लिखा है कि 'यदि कवि शृंगारी है तो सारा जगत् रसमय हो जाता है और यदि वह वीतराग है तो सारा काव्य नीरस हो जाता है।'[5]

आगामी अध्याय से सम्बद्ध-सूत्र का संकेत

भावों और रसों का अंतर्सम्बन्ध जानने के पश्चात् हमारे मन में इस जिज्ञासा का प्रादुर्भाव होना सहज स्वाभाविक है कि जिन भावों को रस-निष्पत्ति का मूलाधार कहा गया है, वे अपने प्रभूत प्रसार में किन-किन विभावादि उपकरणों से संवलित होकर रसपदवी को प्राप्त करते हैं। भारतीय दृष्टि में इस विषय का शास्त्रीय विवेचन इतना अधिक किया गया है कि उसकी अगाधता की थाह लेना अत्यंत कठिन है। ऐसी स्थिति में अपनी शोध-यात्रा के अनुक्रम में हमें यही मार्ग उचित प्रतीत होता है कि हम भाव जगत् और रस-विश्व का अंतर्दर्शन करते हुए उन भावों को विशेष रूप से ध्यान में रखें

---

१. भरतमुनि, नाट्यशास्त्र, षष्ठोऽध्याय के आनुवंश्य श्लोक ४ से ७ पर्यन्त।

२. मूलबीजस्थानीयः कविगतो रसः। ततो वृक्षस्थानीय काव्यम्। तत्र फलस्थानीयः सामाजिकरसास्वादः। तेन रसमयमेव विश्वम्।—अभिनवभारती, पृ० ५१५।

३. बीजं यथा वृक्षमूलत्वेन स्थितं तथा रसाः। तन्मूला हि प्रीतिपूर्विका प्रयोजने नाट्ये काव्ये सामाजिकधियि च व्युत्पत्तिरिति।'—वही, पृ० ५१५।

४. कविगतसाधारणाभूतसंविन्मूलश्च काव्यपुरस्सरो नटव्यापारः। सैव च संवित परमार्थतो रसः। सामाजिकस्य च तत्प्रतीत्या वशीकृतस्य पश्चादपोद्धारबुद्धया विभावादि प्रतीतिरिति।

५. आनंदवर्धन, ध्वन्यालोक, ३।४२।

जिन्हें आधार बनाकर रसों के भेदोपभेदों की सरणियाँ निर्धारित की गई हैं। उन सरणियों के अंतराल में रस-संतान की अभिवृद्धि होते-होते शताधिक संख्या पर्यन्त पहुंच गई है। उन सभी रसों की अवधारणा के मूल में जन-मानस का आधार भी कम नहीं है। रसों की संख्या क्यों और कितनी मानी जाय, यह भी एक महत्त्वपूर्ण मनन का विषय रहा है। अधिकांश आचार्य उन्हें नव संख्या में परिसीमित कर उनके उपभेदों और अंगों का विवेचन करना ही युक्तिसंगत समझते हैं। आचार्यों की उस विचार-दृष्टि में व्यावसायिक बुद्धि का समायोजन विविध रूपों में आलोकित है। रस-संख्या की संवृद्धि के मूल में जहाँ एक ओर भारतीय दृष्टि का ज्ञान-प्रसार पल्लवित हुआ है, वहाँ दूसरी ओर उसकी एक मूलरस की कल्पना में अद्वैतमूला दार्शनिक प्रवृत्ति भी परिलक्षित हो रही है। यदि ऐसा न होता तो हमारे काव्यशास्त्र के निर्माता और अध्येता मनीषी न तो इस प्रपंच का सृष्टि-प्रसार करते और न वे अंततोगत्वा एक ही मूल रस की संसिद्धि के लिए विचार-तत्पर होते। वस्तुतः भावों और रसों के स्वरूप-बोध और उनके अंतर्सम्बन्ध के परिज्ञान के पश्चात् प्रत्येक अनुसंधित्सु का ध्यान उनके भेदोपभेदों की व्यावहारिकता और एकघन अखंडता की तत्त्वमयता की ओर आकृष्ट होना सहज सिद्ध है अतः अपनी शोध-सीमा के संदर्भ में हम विवेच्यमान प्रकरण के कलेवर में रस-संख्या को अपना प्रयोजनीय बनाकर इस विषय का शास्त्रीय विमर्श करेंगे कि भारतीयों की ज्ञान-चेतना ने इस क्षेत्र में भी अपना कर्तृत्व-कौशल किस कोटि पर्यन्त प्रदर्शित किया है। ऐसा करने पर हमारी विवेचना का एक व्यावहारिक पक्ष परिपूर्ण हो जायगा और तदुपरांत हम एक मूल रस की परिकल्पना का विमर्श करते हुए उस विचार-पक्ष के रहस्योद्घाटन की ओर उन्मुख होंगे जो रस-निष्पत्ति अथवा काव्यास्वाद की प्रक्रिया को विकासमान बनाने की दिशा में सतत प्रयत्नशील रहा है।

(२) रस के भेदोपभेदों की सरणियाँ और उनका प्रसार

भारतीय दृष्टि और रस-तत्त्व

भारतीय जीवन-दर्शन की यह भी एक विशेषता रही है कि उसने एक ओर जहाँ किसी भी विषय की व्यापकता में जाकर उसके अनंत विस्तार में अपना बुद्धि-कौशल प्रदर्शित किया है तो दूसरी ओर वह अनेकत्व और एकत्व की ओर अग्रगामी होने में भी ज्ञान-गरिमा की श्रेयोपलब्धि करता रहा है। दार्शनिक पदावली में वह 'एकोऽहं बहु स्याम' का भी उपासक रहा है तथा 'सर्व खल्विदं ब्रह्म' एवं 'एको ब्रह्म द्वितीयो नास्ति' का भी प्रतिष्ठापक 'एक की अनंतता तथा अनेक की एकता उसके विचार-पक्ष की एक मौलिक निबंधना कही जा सकती है। उसकी यह प्रवृत्ति ज्ञान-विज्ञान के विविध क्षेत्रों में परिलक्षित होती है। काव्यास्वाद की विवेचना में भी उसी प्रवृत्ति का अंतर्दर्शन विद्यमान है। आचार्य भरतमुनि से लेकर पंडितराज जगन्नाथ पर्यन्त जिन काव्यशास्त्रियों ने रस-विमर्श किया है, वे एक ओर रसों की संख्या में संवृद्धि करते चले हैं तो दूसरी ओर वे मूलभूत एकरस की विवेचना में भी संलग्न रहे हैं। उनके ये प्रयत्न एकत्व से अनेकत्व

और अनेकत्व से एकत्व की शिक्षा की ओर प्रयाणोन्मुख कहे जा सकते हैं। रसों की संख्या-वृद्धि तथा उनकी अद्वैत स्थिति के प्रतिपादन में भारतीय दर्शन की जीवन-दृष्टि का यही क्रम पर्याप्त मात्रा में प्रदर्शित है।

रसों की संख्या अथवा उनका भेद-विमर्श

ऐतिहासिक विकास-क्रम की दृष्टि से आचार्य भरतमुनि ही प्रथम व्यक्ति हैं जिन्होंने अपने नाट्यशास्त्र में रसों की संख्या का सर्वप्रथम विमर्श किया है। उन्होंने शृंगार, हास्य, करुण, रौद्र, वीर, भयानक, बीभत्स और अद्भुत संज्ञक आठ रस माने हैं और उन्हें नाट्य में स्थान दिया है।[१] रसों की अष्टसंख्यक परम्परा उन्हें द्रुहिण अथवा ब्रह्मा से मिली थी, ऐसा उन्होंने एक स्थल पर उल्लेख भी किया है। यों तो 'अभिनव-भारती' संज्ञक नाट्यवेद-विवृत्ति में शांतवादियों अथवा शांतापलापियों के नाम से नौ रसों का भी कथन हुआ है किंतु भरतमुनि नाट्य में 'अष्टरस' सिद्धांत के ही समर्थक थे, यह एक अधिक प्रमाणपुष्ट बात है। उन्होंने रसों की उत्पत्ति, वर्ण और देवताओं के साथ-साथ भावों की संख्या का विवेचन करते हुए जो मान्यताएँ व्यक्त की हैं, उनसे भी यही प्रतीत होता है कि वे आठ प्रकार के रस मानते थे। शारदातनय का मत है कि रस-संख्या के निर्धारण के विषय में द्रुहिण के अतिरिक्त वासुकि की भी एक परम्परा रही है जिसके अनुसार रसों की संख्या नौ सिद्ध होती है। उन्होंने नाट्यशास्त्र में ऐसे अनेक आनुवंश्य श्लोकों का अनुसंधान किया है जो उन्हें वासुकि की परम्परा के प्रतीत होते हैं तथा जिनसे रसों की नौ संख्या प्रतिपादित की जा सकती है। नाट्शास्त्र में 'एतेह्यष्टौ रसा: प्रोक्ता द्रुहिणेन महात्मना' के साथ साथ 'बीभत्साद्भुतशांताश्च नाट्यरसा: स्मृता:' के जो उद्धरण विद्यमान हैं उनसे रस-संख्या विषयक द्विविध परम्परा की प्रतिष्ठा होती है।

भरतमुनि के पश्चात् काव्यादर्शकार दण्डी ने 'त्वष्टरसायत्ता रसवत्ता स्मृता गिरां' द्वारा रसों की आठ संख्या निर्धारित की है। उनके कथन का अभिप्राय यह है कि 'रसवत् अलंकार में वाणी का आठ रसों से युक्त होना ही उसकी रसवत्ता का संसूचक है।'[२] आचार्य उद्भट ने स्पष्ट शब्दों में नौ प्रकार के रस माने हैं।[३] ऐसा प्रतीत होता है कि उद्भट के समय तक काव्य में नौ रसों की प्रतिष्ठा यथेष्ट रूप में हो चुकी थी और वे भी शांतरस को अभीष्ट गरिमा प्रदान करना सभी दृष्टियों से उचित समझते थे। यह एक उल्लेखनीय बात है कि आचार्य वामन ने न तो रसों के नाम ही गिनाये और न उनकी संख्या ही निर्धारित की। आचार्य रुद्रट ने तथाकथित नौ प्रकार के रसों में 'प्रेयान्' नामक रस को जोड़कर उनकी संख्या में वृद्धि की और 'स्नेह' को उसका 'स्थायी भाव' निर्दिष्ट किया है।[४] उनकी यह नवीन परिकल्पना उनके समसामयिक अन्य

१. नाटयशास्त्र, ६।१६।
२. काव्यादर्श, १।२९२।
३. काव्यालंकार संग्रह, ४।४।
४. रुद्रट, काव्यालंकार, १२।४।

आचार्यों को स्वीकार नहीं हुई जिसका एक प्रमाण यह है कि आचार्य रुद्रभट्ट ने अपने
'शृंगारतिलक' नामक ग्रंथ में केवल नवरसों का ही विमर्श किया। कहने के लिए तो
रुद्रट 'प्रेयान्' रस के उद्भावक थे, किंतु तत्त्वतः वे भी रसों की संख्या-वृद्धि के अधिक
पक्ष में न थे। उन्होंने तो एक प्रकार से लोल्लट आदि आचार्यों के इस विचार का ही
समर्थन किया है कि रसों का आनन्त्य इस दृष्टि से ग्राह्य है कि भरतमुनि आदि आचार्यों
ने जिन स्थायी भावों को रस माना है उनमें भी मधुर और अम्ल आदि रसों की भांति
स्वाद है और चूँकि यह आस्वाद्यता निर्वेद आदि संचारी भावों में भी होती है अतः वे भी
एक विशेष क्रम में निष्पन्न होकर रस-कोटि को पहुँच सकते हैं। इस विषय में उनका
निम्नलिखित श्लोक उल्लेख्य है—

रसनाद्रसत्वमेषां मधुरादीनाभिवोक्तमाचार्यैः।
निर्वेदादिष्वपि तन्निकाममस्तीति तेऽपि रसाः ॥[1]

आचार्य आनंदवर्धन ने रस-संख्या के निर्धारण की ओर उतना ध्यान नहीं दिया
जितना ध्वनि-तत्त्व को काव्यात्मभूत रूप में प्रतिष्ठित करने की ओर अपना लक्ष्य रखा।
उन्होंने रस-ध्वनि को सर्वाधिक महत्त्व प्रदान करते हुए मुख्यतः ध्वनि-भेदों के विस्तार
का ही निरूपण किया। उनका मत नौ रसों में आस्था रखकर विवेचित हुआ है। दश-
रूपककार धनंजय रस-संख्या के सम्बन्ध में इतना कहना ही पर्याप्त समझते हैं कि यों तो
अधिकांशतः आठ रसों की प्रतिष्ठा का मत ही सुमान्य है किंतु 'शम' नामक स्थायी भाव
से निष्पन्न होने वाले शांतरस का अस्तित्व भी सर्वथा उपेक्षणीय नहीं है। 'शममपि
के चित्प्राहुः पुष्टिर्नाट्येषु नैतस्य' द्वारा वे नाटकों में शांतरस की स्थिति स्वीकार करना
अधिक समीचीन नहीं समझते। उन्होंने न तो प्रेयान् तथा भक्ति-रस विषयक मान्यताओं
में ही आस्था रखी है और न वे मृगया तथा अक्ष आदि को ही रस-कोटि प्रदान करते हैं।
उनका तो स्पष्ट कहना है कि 'प्रीति' और 'भक्ति' रस न होकर 'भाव' मात्र हैं तथा मृगया
और अक्ष क्रीडा आदि का समावेश हर्ष तथा उत्साह आदि भावों में ही हो जाता है—

प्रीतिभक्त्यादयो भावा मृगयाक्षादयो रसाः।
हर्षोत्साहादिषु स्पष्टमन्तर्भावान्न कीर्तिताः।[2]

आचार्य अभिनवगुप्त ने नव रसों की अभ्यर्थना अत्यंत दृढ़तापूर्वक की है। वे
शांतरस की प्रतिष्ठा तो अत्यधिक प्रबल शब्दों में करते चले हैं और उसे श्रव्य तथा दृश्य
संज्ञक काव्यों में द्विविध रूप से अनिवार्य मानते हैं। उनके शांत-रस विषयक विचारों
का विवेचन हमने इसी शोध-प्रबंध के अंतर्गत विशिष्ट रस की अभिधा से स्वतंत्र रूप में
किया है। रस-संख्या की व्यर्थवृद्धि के पक्ष में न होने के कारण ही उन्होंने अन्य आचार्यों
द्वारा प्रतिपादित 'स्नेह', 'लौल्य' तथा 'भक्ति' संज्ञक रसों का खंडन किया है। उनका
कथन है कि आर्द्रता रूप स्थायीभाव से निष्पन्न जिस 'स्नेह' रस की प्रतिष्ठा की जाती
है वह एक प्रकार के आकर्षण अथवा रत्यादि भावों का ही प्रभेद है जो बालकों के प्रति

१. रुद्रट, काव्यालंकार, १२।४।
२. दशरूपकम्, ४।८३।

वात्सल्यादि के रूप में प्रकट होता है। उन्होंने 'गर्ध रूप स्थायी भाव से निष्पन्न होने वाले लौल्य रस का खंडन भी इसी पद्धति से किया है और उसका अंतर्भाव रति अथवा हास में करना ही उचित समझा है। वस्तुतः रति-भाव का क्षेत्र उन्होंने इतना अधिक व्यापक रखा है कि उसके अंतर्गत भक्ति-रस का भी संचार हो जाता है। इस प्रकार अभिनवगुप्त 'एवं ते नवैव रसाः' द्वारा यही सिद्ध करना चाहते हैं कि रस केवल नौ ही होते हैं जिन्हें न तो कम किया जा सकता है और न उन्हें अधिकता ही प्रदान की जा सकती है।

'शृंगार-प्रकाश' तथा 'सरस्वतीकण्ठाभरण' में आचार्य भोज ने जो रस-विवेचना की है, उससे प्रकट है कि वे रसों की नवसंख्यामात्र से ही संतुष्ट नहीं थे अपितु अपनी संग्रहशील प्रवृत्ति के कारण उनकी संख्या-वृद्धि करना अधिक युक्तिसंगत समझते थे। उन्होंने परम्परागत आठ रसों के अतिरिक्त 'प्रेयांसः शांतोदात्तोद्धताः रसाः' कारिका द्वारा प्रेयान्, शांत, उदात्त और उद्धत नामक चार अन्य रस माने हैं जिनका सम्बन्ध काव्य-नायकों के साथ जोड़कर यह कहा जा सकता है कि इन अतिरिक्त रसों की उद्भावना क्रमशः धीर ललित, धीरप्रशांत, धीरोदात्त और धीरोद्धत नायकों के स्वभाव-भेदों के आधार पर की गई थी। अपने काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों में भोजदेव ने स्वातंत्र्य, आनंद, प्रशम और पारवश्य के अतिरिक्त साध्वस, विलास, अनुराग और संगम आदि रसों का भी उल्लेख किया है। वस्तुतः उन्हें सभी प्रकार के स्थायी, संचारी और सात्विक भावों का महत्त्व इस दृष्टि से भी स्वीकार था कि वे यथावसर सब के सब रस-कोटि को प्राप्त कर सकते हैं जिसके आधार पर रसों की अनंतता स्वतः सिद्ध हो जाती है। इस विषय का विशेष परिज्ञान डॉ० राघवन की पुस्तक 'द नम्बर अव रसाज्' द्वारा प्राप्त किया जा सकता है।

आचार्य हेमचंद्र का रस-संख्या-विषयक विवेचन अभिनवगुप्त की मान्यताओं के अधिक अनुकूल है। उन्होंने स्वतंत्र रूप से नव रसों की अभ्यर्थना करते हुए स्नेह, लौल्य तथा भक्तिरस का खंडन आचार्य अभिनवगुप्त की परम्परा के अनुरूप किया है। आचार्य रामचंद्र-गुणचंद्र यों तो नवरस-सिद्धांत के समर्थक थे, किंतु दबे शब्दों में 'व्यसन', 'सुख' और दुःख नामक तीन अन्य रसों की कल्पना कर उन्हें क्रमशः तृष्णा, संतोष और अरति नामक स्थायी भावों से निष्पन्न होने वाले मानते थे। रामचंद्र-गुणचंद्र की यह मान्यता किसी पुष्ट तर्क पर अधिष्ठित नहीं है क्योंकि उपर्युक्त स्थायी भावों की स्थापना के मूल में न तो कोई मनोवैज्ञानिक अथवा दार्शनिक आधार है और न इन नवीन रसों की उद्भावना द्वारा रस-विमर्श को कोई नवीन दिशा ही मिलती है। साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ ने प्राचीन आचार्य-पदवी से अनुमोदित नवरसों के विवेचन को ही सुग्राह्य कहा है यद्यपि वे 'स्फुट' 'चमत्कारितया वत्सलं च रसं विदुः' कारिका द्वारा वात्सल्य रस को स्वतंत्र गरिमा प्रदान करने का उपक्रम भी करते चले हैं क्योंकि उसमें चमत्कार की स्फुटता निसर्गतः प्रकट हो जाती है।

रस-संख्या के विषय में रसतरंगिणीकार आचार्य भानुदत्त का दृष्टिकोण सर्वथा नवीन है। उन्होंने प्रथमतः रस को 'लौकिक' और 'अलौकिक' संज्ञक भेदों में विभक्त

कर लौकिक-सन्निकर्षजन्य रसों को लौकिक और अलौकिक सन्निकर्षजन्य रसों को अलौकिक कहा है। लोक में षड्रसों का जो लौकिक आस्वादन किया जाता है उनका माध्यम हमारी इन्द्रियाँ हैं जब कि अलौकिक रस का आस्वादन ज्ञान के तीन रूपों अर्थात् स्वाप्निक, मनोरथिक और औपनायिक के सन्निकर्ष से किया जाता है। स्वप्न में प्राप्त रस स्वाप्निक है तथा मनोरथजन्य रस मनोरथिक। ये दोनों रस सुखदुःखरूपात्मक हैं। औपनायिक रस की सिद्धि काव्य के पद-पदार्थों और नाट्यादि के द्वारा सम्पन्न होती है। इस प्रकार के रसों की परम्परागत संख्या नौ है किंतु भानुदत्त ने वात्सल्य, लौल्य और भक्ति के अतिरिक्त कार्पण्य तथा माया संज्ञक दो अन्य नवीन रसों की उद्भावना की है। इन रसों में 'माया-रस' का विवेचन अधिक महत्त्वपूर्ण और उल्लेखनीय है क्योंकि भानुदत्त ने उसकी प्रतिष्ठा के लिए विभिन्न प्रकार के तर्क प्रस्तुत किये हैं। प्रथमतः उन्होंने हमारी चित्तवृत्ति को प्रवृत्ति तथा निवृत्ति नामक दो प्रकारों में विभक्त कर शांतरस की प्रतीति 'निवृत्ति' में तथा माया-रस की प्रतीति 'प्रवृत्ति' में मानी है। प्रवृत्ति और निवृत्ति पर समान बल देते हुए उन्होंने लिखा है कि यदि निवृत्ति में शांत रस की कल्पना तत्त्वसंगत है तो प्रवृत्ति में माया रस की उद्भावना ही सहजसंभव है। वस्तुतः उन्हें माया-रस की स्वतंत्र स्थिति ही स्वीकार है और वे उसे रति अथवा अनुरक्ति का ही रूप नहीं मानते। उनका तर्क है कि यदि माया-रस को स्वतंत्र स्थायी से निष्पन्न न मानकर केवल व्यभिचारी रूप ही माना जाय तो यह प्रश्न सहजभाव से उपस्थित होगा कि वह किस रस का व्यभिचारी भाव है। वस्तुतः माया की स्थिति तो परस्पर अनुकूल तथा प्रतिकूल सभी रसों में एक-सी है अतः उसका निषेध करने के पूर्व इस बात का विचार करना आवश्यक है कि ऐसा कोई भी व्यभिचारी भाव नहीं हो सकता जो प्रतिकूल रसों में समभाव से संचरण कर सके। यदि यह कहा जाय कि माया रस स्वतंत्र रस न होकर सामान्य रस का ही पर्याय है तथा शांतेतर अन्य सभी रस उसी के विशेष रूप या भेद हैं तो भी उचित नहीं है क्योंकि यदि प्रवृत्तिरूपिणी माया को ही रस का पर्यायवाची शब्द मान लिया जायगा तो उसका विपरीत रूप निवृत्तिमूलक 'शांतरस' रस न रहकर रसाभासमात्र बन जायगा। वस्तुतः 'माया' व्यभिचारी भाव न होकर स्वतंत्र रस है क्योंकि रति, हास और शोक आदि आठों भाव विद्युत् की भाँति उसी में उत्पन्न होकर उसी में विलीन होते हैं अतः उनकी स्थिति व्यभिचारी भावों के ही तुल्य है। भानुदत्त ने इस प्रकार माया-रस की स्वतंत्र प्रतिष्ठा कर उसका लक्षण तथा उसकी निष्पत्ति के अवयवों का वर्णन करते हुए लिखा है कि 'मिथ्याज्ञान की वासना ही प्रबुद्ध और उचित होकर माया-रस का रूप धारण कर लेती है, अतः मिथ्याज्ञान उसका स्थायी भाव, सांसारिक भोगों के उत्पादक धर्मा-धर्म उसके विभाव तथा पुत्र, कलत्र, विजय और साम्राज्य आदि उसके अनुभाव हैं।'[१]

भानुदत्त ने कहने के लिए तो वात्सल्य, लौल्य, भक्ति और कार्पण्य रसों का भी उल्लेख किया है किंतु उनका जितना अधिक ध्यान 'माया-रस की प्रतिष्ठा की ओर रहा

१. भानुदत्त रसतरंगिणी (वेंकटेश्वर प्रेस, १६७१), पृ० १६१।

है, उतना किसी अन्य रस की स्थापना की ओर नहीं। वस्तुतः इन रसों की स्वतंत्र सत्ता निरूपित करने के लिए उनके पास प्रबल तर्कों का अभाव है। यों तो उन्होंने 'ननु वात्सल्यं, लौल्यं, भक्तिः कार्पण्यं वा कथं न रसः? आर्द्रताऽभिलाष श्रद्धा स्पृहाणां स्थायिभावनां सत्वादिति' द्वारा आर्द्रता, अभिलाष, श्रद्धा और स्पृहा को क्रमशः वात्सल्य लौल्य, भक्ति और कार्पण्य रसों के स्थायी भाव माना है, किंतु तत्त्वतः उपर्युक्त भाव स्थायिभाव न होकर व्यभिचारी मात्र हैं। सच तो यह है कि काव्य-शास्त्रियों के एक प्रबल दल के अनुसार जिस प्रकार वात्सल्य और भक्ति नामक भाव क्रमशः करुण और शांत के व्यभिचारी हैं, उसी प्रकार लौल्य और कार्पण्य नामक उभयविध भाव हास्य रस के ही संचारी भाव हैं। अतः इन भावों की स्वतंत्र स्थायी के रूप में सत्ता न होने के कारण इनसे वात्सल्यादि स्वतंत्र रसों की निष्पत्ति नहीं मानी जा सकती।

साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ ने परम्परानुमोदित मान्यताओं के अनुरूप भक्ति को भावमात्र के रूप में व्याख्यात करते हुए उसे रस-कोटि से हीनता प्रदान की थी जो वैष्णव आचार्यों को स्वीकार नहीं हुई। इन आचार्यों में रूप गोस्वामी और मधुसूदन सरस्वती आदि प्रमुख थे जिन्होंने काव्यशास्त्रियों की इस मान्यता का प्रबल शब्दों में खंडन किया कि 'भक्ति' रस न होकर भावमात्र है। इन वैष्णव आचार्यों की भक्ति के प्रति इतनी अधिक आस्था थी कि वे उसे प्रधान रस तथा शास्त्रवर्णित अन्य रसों को गौण रस मानते थे। उन्होंने शांति, प्रीति, सख्य, वात्सल्य और मधुरा रति से निष्पन्न होने वाले भक्ति-रस को क्रमशः शांत, प्रीत, प्रेयान्, वत्सल और मधुर रसों की मुख्य अभिधा प्रदान की तथा हास, विस्मय, उत्साह, शोक, क्रोध, भय और जुगुप्सा नामक स्थायी भावों को क्रमशः हास्य, अद्भुत, वीर, करुण, रौद्र, भयानक और बीभत्स नामक गौण भक्ति-रस प्रतिपादित किये। भक्ति-रस का यह विवेचन काव्यशास्त्रीय विद्वानों की क्रमागत मान्यताओं के प्रति किसी भी चुनौती से कम न था। 'भक्ति-रसतरंगिणी' तथा 'भक्तिरसामृतसिंधु' नामक ग्रंथों में शास्त्रोक्तपद्धति से जो भक्ति-रस का निरूपण हुआ है, वह सभी दृष्टियों से पठनीय है। अपने इसी प्रबंध के एक स्वतंत्र अध्याय के रूप में हमने 'भक्ति-रस' का वैशिष्ट्यपूर्ण विवेचन किया है जिसका प्रयोजन यह है कि 'भक्ति' को भले ही किसी समय भावमात्र मानकर ही विवेच्य विषय समझा गया हो किंतु उसकी स्वतंत्र चेतना की एक परिपुष्ट पृष्ठभूमि भी है जिसका पूर्ण प्रसार भक्त-कवियों की रचनाओं में हुआ है। वस्तुतः नव रसों की प्रतिष्ठा के पश्चात् भक्ति-रस की स्वतंत्र मान्यता का निरूपण अनेक दृष्टियों से अनिवार्य और महत्त्वपूर्ण है। यों तो रति-भाव के व्यापक क्षेत्र में वात्सल्य और भगवद्विषयक रति से वात्सल्य और भक्ति-रस का स्वरूप निष्पन्न माना गया है, किंतु भक्ति-काव्य का प्रचुर रत्नकोष उसकी स्वायत्त सत्ता स्थापित करने में किसी भी उपस्कारक आकार से कम नहीं है। रसों की इन संवर्धित संख्या में जब जैनों के अनुयोगद्वार सूत्र के आधार पर व्रीडा या लज्जा नामक स्थायी भाव से 'व्रीडनक' रस की प्रतिष्ठा की जा सकती है तो भक्ति का विषय तो उससे कहीं अधिक पुष्ट धरातल पर अधिष्ठित है। अभिप्राय यह है कि काव्यास्वाद

की विवेचना के प्रसंग में रसों की संख्या-विषयक धारणाओं का परिज्ञान प्रत्येक काव्य-जिज्ञासु के लिए आवश्यक है क्योंकि उनमें काव्यास्वाद के अधिष्ठान मानव-मन की विविध वृत्तियों के उन्मेषण का सद्प्रयत्न विद्यमान है। यह एक अच्छी बात है कि रस-संख्या की यह वृद्धि एक सीमा तक ही व्याप्त रही और संस्कृत काव्यशास्त्र के अतिम आचार्य पंडितराज जगन्नाथ ने भरतमुनि की परम्परा का पुनः प्रतिष्ठान करते हुए उक्त विस्तार-वृत्ति का अवरोध कर दिया अन्यथा रसों की यह संख्या न जाने कितने रूपों में अपना निरर्थक विस्तार करती।

रस-भेदों का विवेचन सतत विकासमान रहा है

संस्कृत काव्यशास्त्र में रस-संख्या का जिन रूपों में विस्तार और संकोच हुआ उसका सामान्य उल्लेख किया जा चुका है। पंडितराज जगन्नाथ ने यद्यपि भरतमुनि की एतद् विषयक परम्परा की पुनः प्रतिष्ठा कर दी थी किंतु भाषा-कवियों और आचार्यों ने अपनी ओर से कुछ न कुछ विस्तार-संकोच करने में कमी न रखी। प्राकृत और अपभ्रंश के ऐतिहासिक अनुक्रम से जिन भारतीय भाषाओं का विकास हुआ है, उनके वाङ्मय में समय-समय पर किये गये रस-विमर्श के अंतर्गत रस-संख्या का विषय भी व्याख्यात हुआ है। तुलनात्मक दृष्टि के साथ-साथ युग-जीवन के परिवेश और शास्त्र-धारणाओं के सन्निवेश में उस व्याख्यान का यथोचित महत्त्व है क्योंकि उसके द्वारा भारतीय जीवन की विकासशील प्रकृति का अवबोध होने के साथ-साथ इस विषय का भी ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है कि परवर्ती काल में देशी भाषाओं ने (हिंदी, बंगला, मराठी, गुजराती आदि) संस्कृत के रिक्थ से किन-किन रत्नकणों का चयन यथावत् रूप में किया था और किन रूपों और प्रकारों में अपना मौलिक दृष्टिकोण रखा था। इस प्रकार का शोधपरक अध्ययन अनेक दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण बनाया जा सकता है।

कुछ नवीन रसों की कल्पना

यों तो हिंदी के रीतिकालीन आचार्यों ने रसालंकारादि की विवेचना में संस्कृत काव्यशास्त्र की उद्धरणी-सी प्रस्तुत की है किंतु कतिपय स्थलों पर अपनी मौलिकता के भी दावे किये हैं, जो कहीं-कहीं पर तो हिंदी-काव्य परम्परा की प्रकृति के अनुरूप होने से अत्यंत शालीन और भव्य बन गये हैं तथा कहीं-कहीं वे आचार्यत्व का व्यर्थ भार-वहन मात्र कर रहे हैं। आचार्य केशव और देव ने रुद्रट तथा भोज के अनुसार शृंगार रस को 'प्रच्छन्न' तथा 'प्रकाश' संज्ञक भेदों में विभक्त कर विवेचित किया तो महाराज रामसिंह ने अपने 'रस-निवास' नामक लक्षण-ग्रंथ में भानुदत्त की परम्परा के अनुसार रस को लौकिक-अलौकिक तथा स्वनिष्ठ-परनिष्ठ के प्रकारों में निरूपित करना श्रेयस्कर समझा। यों तो देव ने भी भानुदत्त की विचारधारा के अनुसार रसों की लौकिकता और अलौकिकता स्वीकार की है किंतु वे भानुदत्त की भाँति काव्य रसों को अलौकिक रस के तृतीय भेद (औपनायिक) के अंतर्गत विवेचित न कर लौकिक रसों के ही उपभेद मानते हैं। उन्होंने अलौकिक रस के तीनों भेदों (स्वाप्निकः, मानोरथिक और औपनायिक) में

क्रमशः स्वप्न, मनोरथ तथा लीला के माध्यम से हरि-रस की स्थापना की है जो या तो भ्रांतिवश निरूपित है या भक्तिरस को सैद्धांतिक तथा व्यावहारिक प्रतिष्ठा प्रदान करने के प्रयोजन से कल्पित की गई है।

आधुनिक हिंदी साहित्य के जनक भारतेंदु बाबू हरिश्चन्द्र ने अपने 'नाटक' शीर्षक निबंध में प्राचीन परम्परा के प्रति निष्ठा रखते हुए भी नवरसों के अतिरिक्त भक्ति, सख्य, वात्सल्य, आनंद या प्रमोद की प्रतिष्ठा स्वतंत्र रसों के रूप में की थी। उन्हें उक्त प्रतिष्ठा का आधार आचार्य भोजदेव से मिला था। आधुनिक युग-जीवन की नवीन प्रेरणाओं और प्रवृत्तियों ने भी रसों की संख्या-वृद्धि में सहयोग दिया और हिंदी के अतिरिक्त मराठी तथा बंगला आदि प्रांतीय भाषाओं में भी वात्सल्य और भक्ति के साथ-साथ देश प्रेम, क्रांति-रस, उद्वेग-रस-प्रक्षोभ रस और प्रकृति-रस इत्यादि नवीन रस कल्पित हुए। आचार्य पं० रामचंद्र शुक्ल ने अत्यंत प्रबल शब्दों में प्रकृति-रस की स्थापना की है क्योंकि उन्हें प्रकृति के प्रत्यक्ष तथा काव्यनिबद्ध स्वरूप के आस्वाद में रस की सत्ता उपलब्ध हुई है। यों तो प्रकृति को आलम्बन तथा उद्दीपन विभावों के रूप में ग्रहण करने की परम्परा भारतीय तथा पाश्चात्य साहित्य में प्राचीन काल से ही रही है किंतु शुक्ल जी ने उस परम्परा से आगे बढ़कर अपनी अभिरुचि के अनुरूप उसे स्वतंत्र रस के रूप में गौरव प्रदान किया है। उनका मत है कि प्रकृति-रस का स्थायी भाव भी रति ही है जो हमारे स्वभाव के साथ संस्कारजन्य होने के कारण मौलिक वासनागत है। चूँकि काव्यकृत प्रकृति-वर्णन में भी हमारा हृदयसंवाद कराने की सहज क्षमता होती है अतः जो लोग प्रकृति के रूप को केवल उद्दीपन विभाव तक ही सीमित समझते हैं, उन्हें शुक्ल जी ने अनेक स्थलों पर कदर्थित किया है। उनके मतानुसार प्रकृति-वर्णन में रस-निष्पत्ति के लिए अपेक्षणीय समस्त अवयव विद्यमान हैं और यदि कोई उसे आलम्बन रूप तक ही व्याप्त माने तो भी उसमें रस-परिपाक कराने की क्षमता है। मराठी के काव्यशास्त्र में भी प्रकृति-रस की प्रतिष्ठा 'उदात्त रस' के रूप में की गई है। आचार्य विष्णुशास्त्री चिपलूणकर ने उदात्त रस की विवेचना के संदर्भ में कालिदास आदि संस्कृत-कवियों के प्रकृति-काव्य का विश्लेषण करते हुए प्रकृति-रस का स्वतंत्ररीत्या संस्तव किया है। यहाँ एक बात उल्लेखनीय है कि आचार्य शुक्ल ने हिंदी-काव्य की प्रकृति का समीक्षण करते हुए प्रकृति के भव्य तथा भयानक रूप में समभाव से ही रस-योजना स्वीकार की थी जब कि मराठी के विद्याधर वामन भिडे आदि विद्वानों ने उसकी भव्यता की ओर ही अपनी विशेष प्रवृत्ति रखी है और उसे उदात्त रस का ही अंग माना है।

देशभक्ति आज के जीवन का युगधर्म है अतः उसे काव्य-साहित्य के विशाल परिवेश में रस-पदवी पर प्रतिष्ठित करने के प्रयत्न अनेकानेक आधुनिक विद्वानों द्वारा किये गये हैं। मराठी में शिवराम पंत, परांजपे तथा प्रो० जोग ने उसे स्वतंत्र रस के रूप में विवेचित किया है तो हिंदी में डॉ० गुलाबराय ने उसकी काव्यगत गरिमा का उल्लेख करते हुए उसे सहज ही रस-पदवी की प्राप्ति का अधिकार प्रदान किया है। यों तो देश-भक्ति में भी देश-प्रेम अथवा देशाभिमान का भाव स्थायी रति के रूप में ही विद्यमान

रहता है और वह रतिभाव से निष्पन्न होने वाले श्रृंगार रस का ही एक प्रकार सिद्ध होता है किंतु आधुनिक युग-चेतना में देशभक्ति विषयक जो काव्य निर्मित हुआ है उसकी प्रचुरता को परिलक्षित कर विद्वानों के एक विशेष वर्ग ने उसे स्वतंत्र सत्ता प्रदान करना ही न्यायोचित समझा है। रसों की ये नवीन परिकल्पनाएं मराठी के काव्यशास्त्र में विशेष रूप से परिलक्षित होती है। इस विषय में अधिक न कहकर हम इतना निवेदन करना ही पर्याप्त समझते हैं कि क्रांति, उद्वेग और विक्षोभ आदि भावनाओं को विशिष्ट प्रकार के स्थायी भावों से निष्पन्न होने वाले रसों के रूप में निरूपित कराने का प्रयत्न न तो शास्त्रसम्मत ही है और न सुग्राह्य ही कहा जा सकता है क्योंकि केवल युग-परिस्थितियों के प्रभाववश किन्हीं प्राबल्य-प्राप्त रचनाओं का वैशिष्ट्य ही नवीन रस की उद्भावना का तर्कसंगत एवं प्रौढ़ आधार नहीं बन सकता। ऐसा करने पर तो अनेक प्रकार के और भी नवीन रस उभर आयेंगे और रस-विवेचन की विवेकसम्मत और व्यवस्थित पद्धति में अराजकता का-सा वातावरण उपस्थित हो जायगा।

मुख्य रसों के उपभेदों की विवेचना

आचार्य भरतमुनि से लेकर अर्वाचीन आचार्यों पर्यन्त सभी विद्वानों ने मुख्य रसों की अवतारणा करने के साथ-साथ उनके उपभेदों का भी निरूपण किया है। यह निरूपण न केवल श्रृंगाररस के रसराजत्व के सिद्ध्यर्थ ही हुआ है अपितु उसमें अन्य रस भी व्याख्यात हुए हैं। आचार्य भरतमुनि ने प्रथमतः अवस्थाओं के अनुसार श्रृंगार को संयोग और विप्रलम्भ की द्विविध श्रेणियों में अधिष्ठित कर तदुपरांत अभिनय तथा पुरुषार्थों की दृष्टि से भी उनका विभाजन किया है। इस विषय में आचार्य अभिनवगुप्त का मत है कि भरतमुनि ने संभोग और विप्रलम्भ के नाम से जो श्रृंगार के दो रूप माने है वे श्रृंगार के भेद न होकर उसके अधिष्ठान हैं क्योंकि जिस प्रकार शाबलेयत्व और बाहुलेयत्व आदि गोत्व के अधिष्ठान हैं उसी प्रकार संभोग और विप्रलम्भ भी श्रृंगार रस की दो अवस्थाएं हैं जिनमें समान रूप से विद्यमान आस्वादात्मक रति का आस्वाद्यमान स्वरूप ही श्रृंगाररस कहलाता है।[1] भरतमुनि ने अभिनय की दृष्टि से श्रृंगार के जो तीन भेद—वचनात्मक, वेशात्मक और क्रियात्मक माने थे वे कालांतर में लुप्तप्राय हो गये क्योंकि काव्य की मूल चेतना अथवा श्रृंगार की मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया से उनका मौलिक सम्बन्ध न था। उन्होंने पुरुषार्थ की दृष्टि से श्रृंगार को धर्मश्रृंगार, अर्थश्रृंगार और कामश्रृंगार में विभाजित किया किंतु कालांतर में वह 'नाट्यदर्पण' और 'श्रृंगारप्रकाश' जैसे लक्षण-ग्रंथों में नाममात्र का उल्लेख प्राप्त कर अपना स्वतंत्र अस्तित्व खो बैठा।

भरतमुनि के पश्चात् श्रृंगार-रस के भेदोपभेदों का प्रयत्न अनेक परवर्ती आचार्यों द्वारा किया गया। रुद्रट ने संभोग और विप्रलम्भ को यथावत् स्वीकार करते हुए उसे 'प्रच्छन्न' और 'प्रकाश' की श्रेणियों में भी अधिष्ठित किया जिसका अनुगमन भोजदेव ने भी किया। रुद्रट ने कदाचित् सर्वप्रथम आचार्य के रूप में विप्रलम्भ श्रृंगार को

१. हिन्दी अभिनव भारती, पृ० ५४३।

'प्रथमानुराग', 'मान', 'प्रवास' और 'करुण' संज्ञक उपभेदों में विभक्तकर अपनी विवेचना प्रस्तुत की जिसे धनंजय ने 'अयोग', 'विप्रयोग' और 'सम्भोग' के विविध रूपों में ही संकेन्द्रित करना उचित समझा। धनंजय के मतानुसार पूर्वराग अथवा अयोग विप्रलम्भ के उपभेद न होकर शृंगार के स्वतंत्र भेद हैं। उन्होंने विप्रयोग के अन्तर्गत करुण को स्वतंत्र स्थान न देते हुए लिखा है कि जहाँ युगल प्रेमियों में से एक के दिवंगत हो जाने पर दूसरा प्रेमी उसके लिए विलाप करता है वहाँ करुण तथा जहाँ दैवी शक्ति के प्रभाववश मरणोपरांत किसी प्रेमी का आलम्बनभूत प्रिय पुनः जीवित हो उठे वहाँ उसका शापजन्य विप्रयोग वर्णन शृंगार के अन्तर्गत ही समझा जाना चाहिए। करुण और विप्रयोगजन्य शृंगार के उदाहरण क्रमशः 'रघुवंश' में अजविलाप तथा 'कादम्बरी' में महाश्वेता-पुंडरीक के प्रसंग कहे जा सकते हैं। मान संज्ञक विप्रलम्भ शृंगार के भेद ईर्ष्यामान तथा प्रणय-मान हैं तो प्रवासात्मक विप्रलम्भ को कार्यजन्य, सम्भ्रमजन्य और शापजन्य भेदों में विभक्त किया गया है। कार्यजन्य प्रवास का सम्बन्ध भूत, भविष्यत् और वर्तमान कालों से है तो सम्भ्रमजन्य प्रवास किसी दैवी अथवा मानुषी विप्लव के कारण उद्भूत होता है। शापजन्य प्रवास का संकेत महाश्वेता-पुंडरीक के प्रसंग के रूप में उपर्युक्त पंक्तियों में किया ही जा चुका है। आचार्य मम्मट ने विप्रलम्भ शृंगार के भेदों को नवीन व्यवस्था देते हुए उसे पांच प्रकार का माना है जो अभिलाष-निमित्तक पूर्वराग, ईर्ष्या-निमित्तिक मान, प्रवास-निमित्तक, शापनिमित्तक और विरह-निमित्तक होता है। इन भेदों में विरह-निमित्तक भेद मम्मट की अपनी नई कल्पना है। हेमचंद्र ने करुणविप्रलम्भ को शृंगार का भेद न मानकर 'करुण' ही माना है जबकि रामचंद्र-गुणचंद्र ने मम्मट के पांच भेदों को यथावत् स्वीकार कर लिया है। विश्वनाथ ने इन भेदों की स्वीकृति के अतिरिक्त पूर्वराग के तीन अन्य उपविभाग—नील, कुसुम्भ और मंजिष्ठा राग संज्ञक किये हैं और उनमें क्रमशः उक्त रंगों के अनुसार ही गुणों का विधान किया है। उदाहरणार्थ 'नील राग' में बाह्य प्रदर्शन न होकर हृदय की आंतरिक वृत्ति का अनुराग प्रबल होता है जबकि 'कुसुम्भ राग' बाहर से आकर्षक किंतु अन्ततः विनष्टकारी होता है। इन रागों में 'मंजिष्ठा राग' सर्वोपरि है क्योंकि उसमें स्थिरता के साथ-साथ आकर्षण भी विद्यमान है। रसतरंगिणीकार भानुदत्त ने विप्रलम्भ के चार भेद तो मम्मट-सम्मत ही रखे हैं किंतु 'विरहजन्य' विप्रलम्भ के स्थान पर 'गुरु-निदेश' को ग्राह्य समझा है। उन्होंने समय-हेतुक, देव-हेतुक तथा उपद्रवादि-हेतुक संज्ञा से विप्रलम्भ के तीन अन्य भेद भी माने हैं किंतु वह उल्लेख नाम मात्र का है क्योंकि उसके मूल में कोई शास्त्रीय आधार नहीं है। अभिप्राय यह है कि शृंगार रस के भेदोपभेदों के विषय में आचार्यों का दृष्टिकोण प्रारम्भ से ही सजग है और वे एक विशेष प्रकार की मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया में उनका निरूपण करते चले हैं।

भरतमुनि ने आत्मस्थ और परस्थ संज्ञा से हास्य के दो मूल उपभेद मानकर उन्हें क्रमशः विदूषक या पात्रनिष्ठ तथा अन्य पात्रों के हँसाने के लिए प्रयुक्त हास्य कहा है। आचार्य अभिनवगुप्त ने प्रमाता के चित्त में स्वतः उद्भूत हास्य को 'आत्मस्थ' तथा अन्य जनों को हँसते हुए देखकर उत्पन्न होने वाले हास्य को परस्थ अथवा 'अन्यत्रसंक्रांत'

हास्य माना है। आचार्यों ने आश्रय के प्रकृति-भेद से भी हास्य का विभाजन किया है जिसके अनुसार उत्तम प्रकृति वाले आश्रय में स्मित और हसित, मध्यम प्रकृति वाले आश्रय में विहसित और उपहसित तथा अधम प्रकृति वाले व्यक्ति में अपहसित और अतिहसित संज्ञक हास्यों की उत्पत्ति मानी गई है। उपर्युक्त छः प्रकार के हास्य अपनी आत्मस्थ और परस्थ स्थिति के कारण द्वादश प्रकार के हो जाते हैं। अभिनय की दृष्टि से हास्य को भी वचनात्मक, वेशात्मक और क्रियात्मक भागों में विभक्त किया गया है। यहाँ यह बात उल्लेखनीय है कि अधिकांश आचार्यों ने हास्य का विवेचन मुख्यतः उसकी आत्मस्थ और परस्थ प्रकृति के अनुरूप ही किया है और स्मित आदि षट् प्रकार के हास्यों को केवल हसनक्रिया के मात्रा-भेद पर आधारित कहकर उनका भाव अथवा रस के सम्बन्ध-सूत्र संग्रथित करना उचित नहीं समझा है।

भरतमुनि ने धर्मोपघातज, अर्थापचयोद्भव तथा शोककृत की संज्ञाओं से करुण रस को तीन भेदों में विभक्त कर उन्हें क्रमशः धर्महानि, अर्थहानि और स्वजनों के मृत्यु शोक से उत्पन्न रूपों में निर्दिष्ट किया है। अग्निपुराणकार ने उपर्युक्त तीन प्रकारों में 'चित्तग्लानिजन्य' नामक एक अन्य भेद जोड़कर उनकी संख्या चार निर्धारित की है। करुण रस का विभाजन उसकी स्वनिष्ठता और परनिष्ठता की दृष्टि से भी किया गया है। इस विषय में भानुदत्त का अभिमत उल्लेखनीय है जिन्होंने अपने अनिष्ट से उत्पन्न करुण रस को 'स्वनिष्ठ' तथा अन्य जनों के अनिष्ट से उत्पन्न एवं दया और सहानुभूति आदि से प्रेरित करुण को 'परनिष्ठ' कहा है।

भरतमुनि ने दानवीर, धर्मवीर और युद्धवीर की संज्ञाओं से वीर रस को तीन प्रकार का माना है जबकि दशरूपकार ने धर्मवीर के स्थान पर दयावीर का उल्लेख करने के साथ-साथ इस बात का भी संकेत कर दिया है कि उसके प्रतापवीर, गुणवीर तथा आवर्जनवीर आदि अन्य भेद भी हो सकते हैं। विश्वनाथ ने धर्मवीर और दयावीर की पृथक्-पृथक् श्रेणियाँ मानते हुए चार प्रकार के वीर माने हैं जबकि पंडितराज के मतानुसार सत्यवीर और पांडित्य-वीर संज्ञक दो अन्य वीर भी हो सकते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि वीर-रस के जो विभेद किये गये, वे केवल व्यावहारिक दृष्टि से थे। आज-कल तो वाक्शूरों की भी कोई कमी नहीं है अतः किसी आचार्य को यदि नवीन भेद करने का उत्साह हो तो आधुनिक युग-जीवन की दृष्टि से वाक्वीर का स्थान अन्यतम रूप में प्रतिष्ठित किया जा सकता है।

भरतमुनि के अनुसार भयानकरस के तीन भेद हो सकते हैं जिन्हें उन्होंने व्याजजन्य (कृत्रिम), अपराधजन्य और वित्रासितक की संज्ञा दी है। 'व्याजजन्य' अथवा 'कृत्रिम' भय उन उत्तम प्रकृति वाले व्यक्तियों में माना गया है जिसे वे अपने पूज्य जनों के प्रति अपने अपराधों के कारण प्रदर्शित करते हैं। यह भय प्राकृतिक न होकर कृत्रिमवत् होता है अतः उसे 'कृत्रिम भय' की भी अभिधा प्रदान की गई है। अपराधजन्य भय का भाव चोर आदि पात्रों में पाया जाता है जो अपने अपराधों के कारण वास्तविक भय की प्रतीति करते हैं। वित्रासितक भय किसी अनिष्टकारी आशंका से उत्पन्न होता है। इन भयों के अतिरिक्त प्रत्यक्ष रूप से होने वाली भयानुभूति के कारण उत्पन्न होने

वाला भय 'स्वनिष्ठ' तथा अन्य जनों के भय से भय की संक्रामक प्रतीति से उद्भूत होने वाला भय परनिष्ठ कहा जाता है। भयानक रस के विवेचन में भय के इन समस्त रूपों का आख्यान करना आवश्यक समझकर ही हमने इस प्रकार का उल्लेख किया है।

भरतमुनि ने क्षोभण और उद्वेगी के नाम से बीभत्स रस के मूलतः दो भेद माने हैं जो क्रमशः रुधिर आदि से उत्पन्न होने के कारण शुद्ध अथवा क्षोभण तथा विष्ठा एवं कृमि आदि से उत्पन्न होने के कारण अशुद्ध अथवा उद्वेगी कहे गये है। भट्टतौत तथा अभिनवगुप्त के मतानुसार उपर्युक्त दोनों भेद अशुद्ध बीभत्स के हैं क्योंकि शुद्ध बीभत्स रस तो संसार के प्रति जिज्ञासा उत्पन्न कर हमें मोक्षपरायण बनाता है। काव्य-साहित्य में शुद्ध बीभत्स का चित्रण अन्य रसों की तुलना में अत्यल्प मात्रा में हुआ है। धनंजय ने उद्वेगी और क्षोभण के अतिरिक्त बीभत्स का अन्य भेद भी माना है जो वैराग्य के कारण नारी-लावण्य के अंगभूत जघन और स्तन आदि के प्रति घृणाभाववश उत्पन्न होता है। नाट्यदर्पण में यद्यपि बीभत्स के उपभेदों का वर्णन तो नहीं किया गया है किंतु उसके लेखक आचार्य रामचंद्र-गुणचंद्र ने परश्लाघा अथवा शत्रु-प्रशंसा आदि से सम्बद्ध वर्णनों को बीभत्स रस के विभावों के अन्तर्गत विवेचित किया है। उनके कथन का तात्पर्य यह है कि केवल जुगुप्सित पदार्थ ही अपनी दृश्य-मानता में बीभत्स की उत्पत्ति के कारण नहीं होते अपितु घृणित व्यक्ति के मिथ्या गुण-संस्तव भी उद्वेगजनक हो सकते हैं। भानुदत्त ने तो अन्य रसों की भाँति बीभत्स के भेदों का भी वर्णन स्वनिष्ठ और परनिष्ठ प्रवृत्ति के आधार पर किया है।

भरतमुनि के मतानुसार दिव्य तथा आनंदज रूपों में अद्भुत रस दो प्रकार का होता है जिसकी उत्पत्ति क्रमशः दैविक चमत्कार तथा मनोरथ की सिद्धि करने वाली अप्रत्याशित घटनाओं द्वारा होती है। भानुदत्त ने इस रस को भी स्वनिष्ठ और परनिष्ठ की संज्ञाओं में विभक्त किया है। प्रबंधकाव्यों की निर्वहण-संधि में अद्भुत रस की अप्रत्याशित मनोरथ-सिद्धि का प्रायः प्रयोग किया जाता है। इस रस के उपभेदों का वर्णन नगण्यवत् है। अद्भुत रस की भाँति रौद्र रस भी अधिक भेद-विस्तार के रूप में व्याख्यात नहीं हुआ है। शृंगार तथा हास्य रस की भाँति रौद्र को भी आंगिक, वाचिक तथा वेशात्मक रूप में विवेचित कर भरतमुनि ने इसका विस्तार नहीं किया है। अब केवल शांतरस के भेदों के विषय में उल्लेख करना अवशिष्ट रह जाता है। इस निबंध में हमारा इतना ही निवेदन है कि भरतमुनि के समय तक इस रस का स्वतंत्र निरूपण ही नहीं हुआ था अतः उसके भेदोपभेदों का तो प्रश्न ही उत्पन्न नहीं होता। वस्तुतः शांत रस की परिकल्पना संभवतः भरतमुनि के परवर्ती काल की है और जब उसका अस्तित्व ही परवर्ती युग का है तो उसके भेद-विस्तार की आशा करना व्यर्थ है। हाँ, यह बात अवश्य है कि अभिनवगुप्त आदि आचार्यों ने उसकी विवेचना प्रधान अथवा मूल रस के रूप में अवश्य की थी जिसका व्याख्यान यथास्थान किया गया है।

रसों के भेदोपभेदों का रहस्य

रसों के भेदोपभेदों का जो कुछ भी विवेचन किया गया है वह सर्वथा शास्त्रसम्मत

और लोकव्यवहारानुरूप है। उस विवेचन में चित्तवृत्तियों, अवस्थाओं अथवा परिस्थितियों का भी आधार लिया गया है। आचार्यों ने विभावों और अभिनय की दृष्टि से भी रसों का भेद-विस्तार किया है। इस भेद-विवेचन में ऐसे स्थल भी विद्यमान हैं जहाँ एकाधिक आधारों का भी सम्मिश्रण हो गया है। ज्ञान-विज्ञान के अनंत विस्तार के साथ-साथ ज्यों-ज्यों मानवीय संवेदनाओं, अनुभूतियों और कल्पनाओं की भूमिका का उत्तरोत्तर प्रसार होता गया है, त्यों-त्यों काव्य-क्षेत्र की मर्यादा में भी विस्तार हुआ है जिसके कारण भाव-लोक को स्पर्श करती हुई रस-संख्या की सीमा भी व्यापक बनी है। आचार्यों ने जिन नवविध स्थायी भावों को आधार बनाकर रस-निष्पत्ति की विवेचना की है वह विशुद्ध मनोवैज्ञानिक दृष्टि से भी अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। यों तो गोस्वामी तुलसीदासजी ने भी 'भावभेद रसभेद अपारा' द्वारा भावों और रसों की अनंतता सूचित की है किंतु नौ प्रकार के स्थायी भावों और तद्संभूत रसों में उनका समाहार किया जा सकता है। वस्तुतः रसों का अनंत प्रकार आत्मा की अनंतता और असीमता का ही द्योतक है और उन्हें अनंत विस्तार में व्याख्यात करने के उपरांत भी उन्हें जिस रूप में अखंड और एकघन कहा गया है वह इस तथ्य का प्रतीक है कि वह आत्मानंद की भूमिका में सम्पूर्ण और निरपेक्ष आस्वाद का ही निदर्शन है। भरतमुनि के पश्चात् जिन आचार्यों ने रस-संख्या में वृद्धि अथवा संकोच विषयक उपपत्तियाँ प्रतिष्ठित की हैं वे बहुत कुछ अंशों में देश-कालजन्य और व्यक्तिपरक हैं। उनके मूल में उन आचार्यों की स्वतंत्र अभिरुचि और युग की आस्थाओं का भी आधार रहा है। नाट्यरस की विवेचना के प्रसंग में जहाँ शांत रस को सर्वथा सत्ताविहीन करने का प्रयत्न किया गया वहाँ काव्यशास्त्रीय मान्यताओं की विशुद्ध भावभूमि में भक्तिरस को भी केवल भावमात्र मानकर ही छोड़ दिया गया। किंतु ये सब युग-धर्म की आवश्यकताएँ थीं। काव्य-विवेचन के क्षेत्र में एक ऐसा अवसर भी आया जब आचार्य अभिनवगुप्त ने शांतरस की प्रतिष्ठा मूल एवं प्रधान रस के रूप में की तथा वैष्णव आचार्यों ने भक्ति को सर्वोच्च रस-पदवी प्रदान की। वस्तुतः रसों की उद्भावनाओं के मूल में भी किसी न किसी प्रकार की निष्ठा अथवा आवश्यकता का बल अवश्य विद्यमान रहा है। रसों की प्रायः सर्वस्वीकृत नौ संख्या के अतिरिक्त जो अन्य रस उद्भावित हुए हैं उनका भी कोई न कोई आधार अवश्य है। आचार्यों ने उद्धत, उदात्त, अक्ष, मृगया, व्यसन, प्रकृति, देशभक्ति आदि जिन नवीन रसों की अवतारणा की है उनका आधार काव्य के वर्ण्य विषयों की व्यावहारिकता है तो प्रेयान्, वात्सल्य, लौल्प, दुःख, सुख और व्रीडनक आदि रसों का हेतु उनका मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण है। शांत, भक्ति और माया आदि रसों की परिकल्पना आत्मा की प्रवृत्तियों पर आश्रित होने के कारण दार्शनिक आधार-बिन्दुओं से की गई है। पारवश्य, साध्वस और विलास आदि रस तो केवल नाम-मात्र के ही हैं। अभिप्राय यह है कि आचार्यों ने अपनी तर्क-शक्ति और मान्यताओं के अनुरूप रसों की संख्यावृद्धि करते-करते उन्हें आठ से एकादश और एकादश से बत्तीस की संख्या तक पहुँचा दिया है और यदि उनके पूर्ववर्णित उपभेदों का विचार किया जाय तो शृंगार के बावन, हास्य के छत्तीस, करुण के आठ, वीर के नौ, भयानक के छः, बीभत्स के छः,

अद्भुत के दो और रौद्र के तीन—इस प्रकार कुल मिलाकर एक सौ बाईस उपभेद हो जाते हैं। इन भेदों में शांत और प्रेयान् आदि स्वतंत्र रसों की गणना नहीं की गई है।

(३) एक मूल रस की परिकल्पना

भारतीय काव्यशास्त्र में एक मूलरस की कल्पना सर्वथा स्वाभाविक है। यहाँ का दार्शनिक चिंतन तो 'रसो वै सः' द्वारा रस को साक्षात् ब्रह्मस्वरूप मानता है जिसका स्वरूप-लक्षण अखंड और अलौकिक आत्मानंद है। भारतीय आचार्यों ने रस के भेदोपभेदों का व्यापक विस्तार करने के उपरांत उन सबका समाहार एक ही मूल रस में करने का जो उपक्रम किया है, वह अत्यंत गुरु-गम्भीर और तत्त्वपूर्ण है। ऐतिहासिक अनुक्रम से देखा जाय तो एक मूल रस की कल्पना के क्षेत्र में क्रमशः करुण, शांत, श्रृंगार, अद्भुत और भक्ति रस व्याख्यात हुए हैं जिनके उद्भावक भवभूति, अभिनवगुप्त, भोजदेव, नारायण पंडित और वैष्णव आचार्य हैं। इन विवेचकों ने अपने-अपने दृष्टिकोण से जिस रस को एक मूलरस के रूप में कल्पित किया है वह अपने प्रयास में इतना अधिक उदात्त और भव्य है कि अन्य रस उसके अंग अथवा सहायकमात्र प्रतीत होते हैं। हाँ, यह बात अवश्य है कि उनका विवेचन अपने द्वारा प्रतिपादित रस को केवल परम्परावादी और एकांगी दृष्टि से ही निरूपित नहीं करता, अपितु वह उसमें कुछ ऐसा असाधारण वैशिष्ट्य और व्यापक स्वरूप अन्वेषित कर लेता है जिसके कारण उसकी प्रतिष्ठा मूलरस के रूप में सहजभाव से हो जाती है।

करुण रस ही एकमात्र मूल रस है

महाकवि भवभूति ने अपने सुप्रसिद्ध नाटक 'उत्तररामचरित' के तृतीय अंक में एक करुणापूर्ण नाटकीय परिस्थिति के संदर्भ में तमसा नामक विशिष्ट नारीपात्र द्वारा जो काव्यमय उद्गार प्रकट कराया है वह करुण रस को मूलरस के रूप में प्रतिष्ठित करने का सबल प्रमाण कहा जाता है। उस छंद में कवि एक पात्र के माध्यम द्वारा अपने करुणाप्लावित नाटक का निष्पंद करुणामुखी भावना से अभिव्यंजित करता हुआ यह तथ्य निरूपित करना चाहता है कि 'करुण रस ही एकमात्र मूलरस है जो निमित्त भेद से उसी प्रकार विभिन्न रूप धारण करता है जिस प्रकार एक ही जल आवर्त बुद्बुद और तरंग आदि का रूप धारण करने पर भी अंततः जल ही रहता है।'[1] भवभूति का यह अभिमत विभिन्न विचारकों द्वारा विविध रूपों में विवेचित हुआ है। एक विद्वान् ने विशुद्ध एकांगी दृष्टि से करुणा का अभिधेयार्थ ग्रहण कर उससे निष्पन्न होने वाले करुण रस को ही अन्य समस्त रसों का जनक कहा है तो दूसरे विचारक ने इस कथन को शास्त्रीय स्थापना के रूप में स्वीकार कर मूल प्रसंग की ओर कोई ध्यान ही नहीं दिया है।

---

१. एको रसः करुण एव निमित्तभेदाद् भिन्न पृथक् पृथगिवाश्रयते विवर्तान्।
आवर्त्त बुद्वुदतरंगमयान्विकारानंभो यथा सलिलमेवतु तत्समग्रम् ॥—उत्तररामचरित, ३।४७।

करुण रस को मूल एवं प्रधान रस के रूप में प्रतिष्ठित करने के पक्ष में अनेक तर्क उपस्थित किये जा सकते हैं। यों तो जीवन में राग और विराग से सम्बद्ध अनेक प्रकार के भावों का सदसद्रूप संभव है किन्तु करुणा की स्थिति उन सब से भिन्न और असाधारण है क्योंकि जीवन का जो औदात्य और सौहार्द करुणा में संचित रहता है वह अन्यत्र दुर्लभ है। वस्तुतः करुणा में शोक की अपेक्षा सदय-हृदयता की वृत्ति का आधिक्य है जिससे हृदय की द्रुति का द्योतन होता है। आत्म-प्रसार के जितने अधिक अवसर करुणा में विद्यमान रहते हैं उतने अन्य किसी भी भाव में उपलब्ध नहीं हैं। करुणा को जीवन की मूल वृत्ति सिद्ध करने के अनेक प्रयत्न विचारकों ने किये हैं। करुण-काव्य का प्राधान्य सभी देशों के साहित्य में स्वीकार किया गया है। आदि काव्य की सर्जना के मूल में भी करुण भावना का ही उद्रेक था, यह एक प्रमाणपुष्ट तथ्य है। करुणा जीवन की मूल संवेदना है जिसके विभिन्न स्वरूप अन्यान्य वृत्तियों में परिलक्षित होते हैं। भवभूति ने 'एको रसः करुण एव' का निरूपण करते समय 'करुणा' को उपर्युक्त व्यापक अर्थ में दृष्टिगत रखा था अतः उनकी प्रतिस्थापना का विवेक करते समय इस बात का अवश्यमेव ध्यान रखना चाहिए कि वे उत्तररामचरित का मूल प्रतिपाद्य 'पुटपाकप्रतीकाशो रामस्य करुणो रसः' मानते थे जिसके कारण उन्होंने करुण रस को मूल रस के रूप में प्रतिष्ठित किया था।

शांत रस अपनी 'शमता' की मूल प्रकृति के कारण मूलरस है

यों तो आचार्य अभिनवगुप्त ने शांतरस की प्रतिष्ठा एक मूलरस के रूप में की थी किंतु उन्हें अपनी मान्यताओं का परिपुष्ट आधार भरतमुनि कृत नाट्यशास्त्र की प्राचीन प्रतियों में उपलब्ध हो गया था। इस विषय में उन्होंने कतिपय आनुवंश्य श्लोक उद्धृत किये हैं जिनसे पता चलता है कि "रत्यादि भाव तो विकारमात्र है जबकि 'शांत' अथवा 'शम' मूल प्रकृति रूप है जिससे रत्यादि भावों की उत्पत्ति तथा उसी में उनका विलीनकरण होता है।"[1] उन्होंने उस आत्मज्ञान को शांत रस का स्थायी भाव माना है जो परिकल्पित विषयभोग आदि की वासना से मुक्त शुद्ध आनंद रूप है। वस्तुतः रस का स्वरूप भी वही है क्योंकि रत्यादि स्थायी भाव उसी आत्म-चैतन्य की स्थिति में ही शृंगारादि रसों में परिणति प्राप्त करते हैं। अभिनवगुप्त ने आत्मज्ञान किंवा आत्मास्वाद को अन्य रसों के रसत्व का मूल आधार कहकर उसे जिस रूप में शांतरस का स्थायी भाव सिद्ध किया है, वह शांतरस को मूलरस के रूप में प्रतिष्ठित करने वाला है। इस विषय का विस्तृत विवेचन हमने अन्यत्र किया है, अतः यहाँ पर हम एतद्विषयक प्रसंगगत संकेत करना ही पर्याप्त समझते हैं।

---

१. भावा विकारा रत्याद्याः शांतस्तु प्रकृतिर्मतः।
विकारः प्रकृतेर्जातः पुनस्तत्रैव लीयते॥
स्वं स्वं निमित्तमासाद्य शांताद् भावः प्रवर्तते।
पुनर्निमित्तापाये च शांत एवोपलीयते॥—नाट्यशास्त्र, ६।८४-८५।

शृंगार का रसराजत्व तथा उसकी मूल प्रवृत्ति

शृंगार के रसराजत्व अथवा एकाधिपत्य का संकेत समय-समय पर विभिन्न विद्वानों द्वारा किया गया है किंतु हम उन सबका विस्तृत विवेचन करना उचित नहीं समझते क्योंकि वह एक प्रासंगिक विषय है जिसको व्यर्थ विस्तार प्रदान करने की कोई आवश्यकता अथवा उपयोगिता नहीं है। इस विषय में हम शृंगारप्रकाश के लेखक आचार्य भोजदेव का उल्लेख करना ही पर्याप्त समझते हैं जिन्होंने स्पष्ट शब्दों में इस बात की घोषणा की कि 'प्राचीन आचार्य भले ही दस रसों की परिकल्पना करते आये हों किंतु रस की आस्वाद्यता तो केवल शृंगार रस में ही है अतः हम उसी को मूल रस मानते हैं।'[1] डा० शंकरन् ने शृंगारप्रकाश की पाण्डुलिपि के आधार पर आचार्य भोजदेव का मतोद्धरण करते हुए लिखा है कि आचार्य भोज ने अहंकार को आत्मा का विशिष्ट गुण एवं अभिमान कहा है जो अपनी प्रतिमूल परिस्थितियों के अभाव में विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भावों के द्वारा आनंद रूप में संवेद्य होकर रसत्व को प्राप्त हो जाता है। आत्मा का यही अभिमान शृंगार अथवा रस है जिससे रति और हास आदि भावों की उत्पत्ति होती है। उन्होंने रत्यादि को भाव मात्र कहकर यह तथ्य भी स्वीकार किया है कि वे स्वयं रसत्व को प्राप्त नहीं होते अपितु शृंगार रस की शोभामात्र बढ़ाते हैं। वह शोभा उसी प्रकार बढ़ती है जिस प्रकार प्रकाश की किरणों से अग्नि की शाभा संवर्धित होती है। उन्होंने शृंगार को चतुर्वर्ग का कारण एवं एकमात्र रस कहकर स्थायी और संचारी भावों के प्रवाद को मिथ्या माना है। इस विषय में उनका अभिमत उल्लेखनीय है—

अप्रातिकूलिकतया मनसोभुदादे—
यः संविदोऽनुभव हेतुरिहाभिमानः।
ज्ञेयो रसः स रसनीयतयात्मशक्ते,
रत्यादिभूमनिपुनर्वितथारसोक्तिः॥
रत्यादयोऽर्ध शतमेकविवर्जितानि,
भावाः पृथग्विधविभावभुवो भवंति।
शृंगारतत्वमभितः परिवारयन्तः
सप्तार्चिषं द्युतिचया इव वर्धयंति॥

अग्निपुराणकार ने शृंगार रस की अभ्यर्थना में जो कुछ विमर्श किया है, वह 'शृंगार-प्रकाश' की मान्यताओं के साथ पर्याप्त साम्य रखता है। यों तो दोनों ने अहंकार को आत्मा का मूल धर्म या विशिष्ट गुण माना है किंतु भोजदेव के मत से जहाँ अहंकार ही अभिमान है और अभिमान ही शृंगार या रस है, वहाँ अग्निपुराणकार के अनुसार अहंकार और अभिमान में तथा अभिमान और रति में पर्याय-सम्बन्ध न होकर

---

१. शृंगारवीरकरुणाद्भुत रौद्रहास्य बीभत्सवत्सलभयानकशांतनाम्नः।
आम्नासिषुर्दशरसान्सुधियो वयंतु शृंगारमेव रसनाद्रसमामनामः॥

जनक-जन्य-सम्बन्ध है। भोज का मत है कि रतिभाव शृंगार रस की परिणति करने में समर्थ नहीं है जबकि अग्निपुराण के मत से व्यभिचारी आदि भावों से पुष्ट रति ही शृंगार रस का रूप धारण कर लेती है। अग्निपुराण में अन्य रसों को शृंगार के ही प्रभेद कहकर उनके पृथक्-पृथक् लक्षण और स्थायी भाव गिनाये गये हैं। तत्त्वदृष्टि से देखा जाय तो अग्निपुराण और 'शृंगारप्रकाश' की मान्यताओं में मौलिक विभेद न होकर कथनमात्र का अन्तर है।

भोजदेव ने अपने 'शृंगारप्रकाश' में रत्यादि भावों को रस न मानकर शृंगार को ही एकमात्र रस माना है। वस्तुतः शृंगार की विद्यमानता में ही व्यक्ति में रसिक का और उसके अभाव में नीरस का व्यवहार होता है। उन्होंने लिखा है कि काव्य में शृंगार, वीर, करुण, अद्भुत, रौद्र, हास्य, वीभत्स, वात्सल्य, भयानक और शांत आदि नामों से जो रसों की प्रसिद्धि है, वह तात्त्विक न होकर केवल वटवृक्ष की भाँति ही है क्योंकि रसत्व की मूलसिद्धि तो केवल शृंगार में ही होती है। उन्होंने रत्यादि भावों में रसोक्ति के कथन को मिथ्याप्रवाह के रूप में सिद्ध करने के लिए इस बात का अनेक बार उल्लेख किया है कि चित्त के अनुकूल वेदनीय सुख आदि के अनुभव में अभिमान ही एकमात्र हेतु है जो अपनी रस्यमानता के कारण रस कहलाता है। उन्होंने रत्यादि उनचास भावों को अभिमान-शृंगार से उत्पन्न मानकर शृंगार को चतुर्वर्ग का कारण निर्दिष्ट किया है और लिखा है कि जिस प्रकार नीतिवर्ग से सेवित नृपति प्रजाजन में प्रधान होता है उसी प्रकार विभावादि से उचित अवसर पर उत्कर्ष को प्राप्त कर अहंकार-शृंगार भी अपना प्रामुख्य रखता है। वस्तुतः उन्हें न तो भरतमुनि द्वारा व्याख्यात क्रम में रस-निष्पत्ति का सिद्धांत स्वीकार है और न वे उनके द्वारा निर्दिष्ट स्थायी भावों की नियत संख्या में ही आस्था रखते हैं। उन्हें तो 'रति-भाव' ही समस्त भावों का मूर्धन्य भाव प्रतीत होता है जो आनंद-रूप में परिणत होकर रस कहलाता है। यहाँ यह बात भी उल्लेखनीय है कि भोजदेव ने आचार्य दण्डी द्वारा उल्लिखित कथन[1] को ध्यान में रखते हुए रसों की तीन कोटियाँ—पराकोटि, मध्यमाकोटि और उत्तराकोटि—मानी हैं और अहंकार-शृंगार-रस के अभिभावात्मक विकार से उत्पन्न रत्यादि भाव को ही 'पराकोटि' में रखा है।[2] उनका मत है कि विभाव और अनुभाव आदि के संयोग से रत्यादि भावों की विभिन्न रसरूपों में जो निष्पत्ति होती है वह रस की 'मध्यमावस्था है जिसमें परिगणित होने वाले उनचास भावों से उनचास प्रकार के रस निष्पन्न माने जा सकते हैं। वस्तुतः पारमार्थिक दृष्टि से तो रस केवल एक ही है जो प्रेम अथवा आनंद रूप है।

हिन्दी के रीतिकालीन आचार्यों ने भी शृंगार का रसराजत्व स्वीकार कर उसे एकमात्र प्रधान अथवा मूल रस माना है। आचार्य कवि केशव ने 'सबको केशवदास हरि

---

१. प्रेयः प्रियतराख्यानं रसवद्रसपेशलम्।
ऊर्जस्विरूढाहंकारं युक्तोत्कर्ष च तत् त्रयम्॥—काव्यादर्श, २।२७५।

२. सरस्वतीकंठाभरण, ५।६४८।

नायक है शृंगार'[1] कहकर शृंगार की अभ्यर्थना की है तो महाकवि देव ने 'भावसहित सिंगार में नवरस झलक अजल' द्वारा शृंगार में नवरसों की झलक उसी प्रकार मानी है जिस प्रकार 'कंकणमणिकनक' में जटित नवरत्नों की शोभा होती है। उन्होंने शृंगार में सम्पूर्ण रसों का समावेश करते समय रसों के मित्रामित्र-भाव का भी ध्यान नहीं रखा है। केशव की 'रसिकप्रिया' में एक ऐसा स्तुति-छंद उद्धृत हुआ है जिसमें कवि ने कृष्ण के व्यक्तित्व में नौ रसों का समावेश कर यह तथ्य निरूपित किया है कि जिस प्रकार कृष्ण शृंगारमय होते हुए भी नवरसरूप शरीर धारण करते हैं, उसी प्रकार शृंगार भी नवरस में परिणत होकर उनके साथ तादात्म्यरूप स्थापित कर लेता है।

'अद्भुत' रस का चारुचमत्कार ही मूल रस का प्रतीतिकर तत्त्व है

साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ ने अपने पूर्ववर्ती विद्वान् धर्मदत्त के आधार पर इस बात का उल्लेख किया है कि उनके वृद्ध प्रपितामह नारायण पंडित के अनुसार अद्भुत ही मूल और एकमात्र रस है। अद्भुत का सर्वोपरि महत्त्व इस दृष्टि से प्रतिष्ठित किया गया है कि सब रसों में चमत्कार ही सारतत्त्व है और वह चमत्कार 'विस्मय' रूप स्थायीभाव होने के कारण अद्भुत रस की प्रतीति सर्वत्र करा देता है। वस्तुतः अद्भुत रस की व्याख्या में 'प्रयुक्त' चमत्कार शब्द अत्यंत मौलिक और वैशिष्ट्यपूर्ण है। प्रत्यभिज्ञा-दर्शन के सुप्रसिद्ध व्याख्याकार आचार्य अभिनवगुप्त ने 'चमत्कार' की विवेचना 'सा चाविघ्ना संवित् चमत्कारः स चातृप्तिव्यतिरेकेणऽवच्छिन्नो भोगावेश इत्युच्यते' की शब्दावली में की है जिसका अभिप्राय यह है कि विघ्नों से सर्वथा रहित प्रतीति का नाम 'चमत्कार' है जो अपने अविघ्न संवित् रूप में अतृप्ति से भिन्न 'भोगावेश' रूप कहलाता है। अभिनवगुप्त ने 'चमत्कार' पद की जो व्याख्या की है उसका अर्थ निर्विघ्न आत्मप्रतीति होने के कारण वह आत्मानंद या आत्मास्वाद का पर्याय सिद्ध होता है; अतः नारायण पंडित ने अद्भुत रस को जिस रूप में मूलरस माना है उसकी संगति अभिनवगुप्त-कृत व्याख्या से साभिप्राय सिद्ध की जा सकती है। निश्चय ही काव्यास्वाद का आनंद आत्मानंद अथवा 'लोकोत्तर-सुख' का ही पर्याय है अतः उसके साथ चमत्कार-जनक विस्मय-भावना की स्थिति की संघटना युक्तियुक्त है।

मूल रस के रूप में भक्ति रस की महत्ता सर्वोपरि है

रूपगोस्वामी और मधुसूदन सरस्वती आदि वैष्णव आचार्यों ने काव्यशास्त्रियों से सर्वथा भिन्न दृष्टिकोण रखते हुए भक्ति को न केवल 'भाव' क्षेत्र से ही उच्च महत्त्व

---

१. श्री वृषभानुकुमारि हेतु 'शृंगार' रूप भय।
बास 'हास' रस हर, मात बंधन, 'करुणामय'।
केशी प्रति अति 'रौद्र', 'वीर' मारो वत्सासुर।
'भय' दावानल पान, पियो 'बीभत्स' बकी उर।
अति 'अद्भुत' वचं विरंचि मति, 'शांत' संतते शौच चित।
कहि केशव सेवहु रसिक जन, नवरस में ब्रजराज नित॥—रसिकप्रिया, १।२।

प्रदान किया अपितु उसे मूल रस के रूप में प्रतिष्ठित कर सर्वोपरि रस सिद्ध किया। उन आचार्यों के मत से वास्तविक रस तो भक्तिरस ही है क्योंकि वही रस पूर्ण आनंद-मय है तथा शृंगारादि काव्यरसों की महत्ता उसके सम्मुख सर्वथा क्षुद्र है। इन आचार्यों ने भक्तिरस के परिवेश में विभिन्न काव्यरसों की स्थिति संचारी भावों के समान मानी है क्योंकि उन सब का पर्यवसान भक्तिरस में ही होता है। आचार्य मधुसूदन सरस्वती का मत है कि 'परिपूर्णरसा भगवद्रति और शृंगारादि क्षुद्र रसों में वही अंतर है जो सूर्य और खद्योतों में होता है।'[1] इस विषय का गम्भीर और विशद विवेचन 'भगवद्भक्ति-रसायन', उज्ज्वलनीलमणि' तथा 'भक्तिरसामृत सिंधु' जैसे ग्रंथों में किया गया है जिनका सम्यक् आकलन करने से भक्तिरस का अलौकिकत्व और मूर्धन्य माहात्म्य समझा जा सकता है। हमने इस विषय की महत्ता का अनुभव करके ही भक्तिरस की विवेचना स्वतंत्र रस के रूप में यथास्थान इसी शोध-प्रबंध में की है।

निर्णयात्मक निष्कर्ष

अभी तक मूल रस के रूप में करुण, शांत, शृंगार, अद्भुत और भक्ति संज्ञक रस-पंचक की जिस रूप में विवेचना की गई है उसे यदि एकांगी अतिरेकता से ग्रहण नहीं किया जाय तो सबकी मान्यताओं के मूल में सबल एवं विचारणीय तर्कसंगति मिल सकती है। भवभूति द्वारा निरूपित करुण-भावना को हृदय-द्रुति अथवा मानव-सुलभ सहृदय संवेदना के रूप में ग्रहण करने पर करुणा से बढ़कर काव्यसर्जना एवं काव्या-स्वाद की अन्य आधारभूमि हो ही नहीं सकती। अभिनवगुप्त ने जिस तर्क-शक्ति के बल पर शांत को मूल रस माना है वह भी अपने में यथेष्ट संपुष्ट है क्योंकि रस का पर्यवसान शम-प्रधान निर्विघ्नआत्मप्रतीति के रूप में ही होता है। महाराज भोज ने अहंकार को आत्म की प्रथम प्रतीति मानकर शृंगर रस का जो उद्घोष किया है वह समस्त रसों का मूल स्रोत है क्योंकि रसानुभूति में तत्त्वतः आत्म-प्रतीति अथवा आत्म-साक्षात्कार की संवेदना ही तो रहती है। 'चमत्कार' पद की निर्विघ्न संवित् अथवा आनंद के रूप में की गई व्याख्या अद्भुत को 'रस का सार' सिद्ध करने में सहज समर्थ है। भक्तिरस की रसमूलकता उसकी मधुरोपासना की तादात्म्य-भावना से स्वतः स्पष्ट हो जाती है क्योंकि भक्ति से बढ़कर 'परानुरक्तिरीश्वरे' और क्या हो सकती है! अभिप्राय यह है कि अपनी-अपनी जीवन-दृष्टि के अनुरूप भिन्न-भिन्न आचार्यों ने भिन्न-भिन्न रसों को मूलरस मानते हुए भी इस तथ्य का विस्मरण नहीं किया है कि काव्यास्वाद मूलतः आनंदमय है और रस से व्यतिरिक्त काव्यार्थ का अन्य मौलिक प्रयोजन सिद्ध हो ही नहीं सकता। ऐसी स्थिति में भारतीय दर्शन की समन्वयवादिता के आधार पर यही कहना समीचीन है कि उपर्युक्त समस्त विचारणाओं में दृष्टिभेद अवश्य है, पर तत्त्वभेद नहीं है। काव्यास्वाद के समय हमारे मानस में चित्त की द्रुति, शम की प्रधानता, अहंकार की

---

१. परिपूर्णरसा क्षुद्ररसेभ्यो भगवद्रतिः।
खद्योतेभ्य इवादित्यप्रभेव बलवत्तरा।—भगवद्भक्तिरसायन, २.७८।

प्रतीति, विस्मय की चमत्कृति और भक्ति की तदात्मता का एक ऐसा अद्भुत समन्वय हो जाता है जिसे केवल अलौकिक अथवा लोकोत्तर आनंद के पद से ही अभिहित किया जा सकता है। अतः मूल रस क्या है, इसके विवादग्रस्त प्रपंच में न पड़ते हुए हमारे लिए यही समुचित है कि हम भारतीय दर्शन की अभेदवादी दृष्टि से काम लें और रस की सत्ता को सर्वथा पूर्ण एवं निरपेक्ष भाव में ग्रहण करते हुए स्थायी भावों के आधार पर उपाख्यात रसों को उनकी व्यावहारिक उपाधि मात्र मानकर चलें। इस प्रकार की विचारधारा से एतद्विषयक विवादैषणा के लिए किंचिन्मात्र भी अवकाश न रहेगा।

१३

रस-निष्पत्ति का तत्त्व-दर्शन

भरतमुनि का रस-निष्पत्ति-सूत्र

रस-निष्पत्ति का विवेचन एक प्रकार से काव्यास्वाद की प्रक्रिया का ही विवेचन है। उस विवेचन के मूल उद्‌भावक आचार्य भरतमुनि माने जाते हैं जिन्होंने 'नाट्यशास्त्र' नामक ग्रन्थ में 'विभावानुभावव्यभिचारीसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः' सूत्र द्वारा रस-निष्पत्ति का रहस्य निरूपित करने की चेष्टा की है। उक्त सूत्र में प्रयुक्त 'संयोग' और 'निष्पत्ति' शब्दों को लेकर परवर्ती आचार्यों ने विभिन्न दृष्टिकोणों और दार्शनिक प्रतिपत्तियों के आधार पर अपने मत-मतांतर प्रतिष्ठित किये हैं। भरतमुनि ने 'निष्पत्ति' की जो व्याख्या की है उसका अभिप्राय केवल इतना ही है कि 'जिस प्रकार नाना प्रकार के व्यंजनों, औषधियों और द्रव्यों के संयोग से 'भोज्य' रस की निष्पत्ति होती है तथा जिस प्रकार गुडादि द्रव्यों, व्यंजनों और औषधियों से 'षाडवादि' रस निर्वर्तित होते (बनते) हैं, उसी प्रकार विविध भावों से उपगत होकर स्थायी भाव भी नाट्यरस को प्राप्त होते हैं। उपर्युक्त व्याख्या में 'निष्पत्ति के लिए जो शब्दावली प्रयुक्त हुई है उससे उसका अभिप्राय 'होना', 'बनना' तथा 'स्वरूप' को प्राप्त करना' सिद्ध होता है। वस्तुतः 'निष्पत्ति' शब्द की व्युत्पत्ति 'निस् + पद (गतौ) + क्तिन्' से भी 'निश्शेष रूप से स्थिति प्राप्त करने' का ही भाव द्योतित होता है। कोशकारों ने भी उसका स्पष्टीकरण इसी रूप में किया है।

भरतमुनि की विवेचना द्वारा 'संयोग' शब्द का अभिप्राय भी स्पष्ट हो जाता है। उन्होंने लिखा है कि 'जिस प्रकार नानाविध व्यंजनों से संस्कृत अन्न का उपभोग करते हुए सुमनस पुरुष रसों का आस्वादन करते हैं तथा हर्षादि को प्राप्त होते हैं उसी प्रकार सुमनस (प्रसन्नचित्त) प्रेक्षक विविध भावों एवं अभिनयों द्वारा व्यंजित वाचिक, आंगिक तथा सात्विक अभिनयों से संयुक्त स्थायी भावों का आस्वादन करते हैं और हर्षादि को प्राप्त होते हैं।' उक्त विवेचन से 'संयोग' पद का अर्थ 'स्थायीभावों के साथ सम्यक् योग' सिद्ध होता है। रस-निष्पत्ति के उपर्युक्त दृष्टांत में नाट्य रस को षाडवादि भोज्यरस स्थायीभाव को अन्न तथा विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भावों को द्रव्य, व्यंजन और औषधि रूप में उपमित किया गया है। भरतमुनि ने 'निष्पत्ति' के लिए 'उत्पत्ति' शब्द का जो प्रयोग किया है वह केवल औपचारिक है, क्योंकि उससे 'अभाव में भाव की कल्पना' का बोध न होकर 'विद्यमान उपकरणों के संयोग से नवनिर्मिति' का

आभास मिलता है। वस्तुतः नाना भावोपगता अपि स्थायिनो भावा रसत्वमाप्नुवंति का अभिप्राय इतना ही है कि रस कोई ऐसा नवीन उद्भूत पदार्थ नहीं है जिसका पहले सर्वथा अभाव रहा हो अपितु वह तो विद्यमान स्थायीभाव का ही नवीन रूप है जो नाना प्रकार के उपकरणों से संयुक्त होकर 'नवनिर्मिति' प्राप्त करता है।

भामह, दण्डी और उद्भट के विचार

भरतमुनि के पश्चात् आचार्य भामह और दण्डी ने काव्य-विवेचना के प्रसंग में काव्य को 'रसवत्', 'प्रेयस्वत्' तथा 'ऊर्जस्वित्' संज्ञक त्रिविध प्रकारों में व्याख्यात कर 'रसवत्' काव्य और रस के सम्वन्ध में यद्यपि सामान्य संकेत अवश्य किये हैं, किंतु उनसे रस-निष्पत्ति की प्रक्रिया का सम्यक् बोध नहीं होता। वस्तुतः उनके विवेचन में रस-प्रक्रिया का पूर्वभाव ही गृहीत है जिससे अनुमान होता है कि वे काव्यगत पात्रों में रस की सत्ता मानते थे। भामह और दण्डी ने विदुर के भाषण को 'प्रेयस्वत्' तथा 'छद्म-वटुवेश के त्यागने पर शिवजी से पार्वती के मिलन के प्रसंग को 'रसवत्' कहकर उसमें 'स्पष्ट श्रृंगार' माना है। उनके मतानुसार कर्ण के भाषण में 'द्विःसंदधाति किं कर्णः' में ऊर्जस्वित् काव्य का भाव अंतर्निहित है। भामह-कृत रस-विवेचना में तो रसों के पृथक्-पृथक् विश्लेषण तथा उदाहरण भी नहीं मिलते, जबकि दण्डी ने भामह के साथ अपनी सहमति व्यक्त करने के साथ-साथ शांत के अतिरिक्त अन्य सभी रसों के उदाहरण भी दिये हैं। दण्डी के मत से रूपबाहुल्य के योग अथवा विभावादि की प्रचुरता से जिस वचन में प्रयुक्त 'रति' श्रृंगार-दशा तक पहुंचती है वह वचन 'रसवत्' है तथा शत्रु-दर्शन पर पराकोटि पर पहुँचे हुए भीम के क्रोध की रौद्रावस्था का वचन भी 'रसवत्' ही कहा जाता है। उन्होंने उस उत्साहपूर्ण वचन की रसवत्ता का भी समर्थन किया है जो वीर-रस के रूप में प्रकृष्टता को प्राप्त होती है। दण्डी के इस विवेचन का साम्य भामह द्वारा उल्लिखित 'दर्शितस्पष्टरसत्व' की उक्ति से किया जा सकता है। उनकी मान्यता का निष्कर्ष यह है कि जब रत्यादि भाव विभावादि के रूप-बाहुल्य के कारण पराकोटि को पहुंच जाते हैं तो रस का प्रादुर्भाव होता है। वे भावों की उपचयावस्था को ही 'रस' नाम से अभिहित कर इस सिद्धांत की प्रतिष्ठा करते हैं कि मूलतः भाव तथा रस के स्थान काव्यगत व्तक्तियों के हृदय ही होते हैं जिनमें उनकी व्यक्तिगत भावनाओं का उपचय होने से रस की सत्ता काव्यगत पात्रों में सिद्ध होती है और जिसके कारण काव्य को 'रसवत्' अथवा रसयुक्त कहा जाता है; जैसे भीम के क्रोध के पराकोटि पर पहुँचने पर उसका रौद्र रूप में उपचित होना इत्यादि। दण्डी ने 'इह त्वष्टरसायत्ता रसवत्ता स्मृता गिराम्' द्वारा काव्य की रसवत्ता को काव्यगत आठ रसों पर अवलम्बित रहने वाली कहा है। उन्होंने भावों के सम्बन्ध में अधिक न कहकर केवल इतना ही लिखा है कि जिस वचन में प्रीति प्रदर्शित हो वह 'प्रेयोयुक्त वचन' तथा जिसमें पात्रों का अहंकार निर्दशित हो वह 'ऊर्जस्वित् वचन' है। उनके विवेचन से प्रकट है कि वे व्यक्तिगत स्थायी की परिपुष्टि पर ही अपनी रस-यिषयक धारणा को आधारित मानते थे जिसका पल्लवन आचार्य लोल्लट के विवेचन में किया गया।

उद्भट द्वारा विवेचित रसों और भावों की अवगति के प्रकार तथा उनकी नाट्यगत स्थिति को रस-निष्पत्ति की पूर्वपीठिका के रूप में उपस्थित किया जा सकता है। उन्होंने रस और भाव का अन्तर स्पष्ट करते हुए विभावादि के साथ उनका जो संबंध निरूपित किया है वह रस-निष्पत्ति की प्रक्रिया का एक धूमिल प्रयत्न है। अनुभाव मात्र के रत्यादि के संसूचन को 'भाव' तथा विभावादि के आश्रय से शृंगार आदि के स्पष्ट उदय को 'रस' कहकर वे संभवतः रस और भावों की स्थिति काव्यगत व्यक्ति में ही मानते थे तभी तो उन्होंने ऊर्जस्वित् की विवेचना करते समय काव्यगत व्यक्ति में रस और भाव आदि के अनुचित उदय का उल्लेख किया था। उन्होंने 'रसवत्' तथा 'ऊर्जस्वित्' का अंतर काव्यगत व्यक्ति की मनोदशा से सम्बद्ध रूप में व्यक्त किया है जिससे स्पष्ट होता है कि वे परिपोषवादी आचार्य थे। उन्होंने भावों की अवगति चार प्रकारों में तथा रस की अवगति पाँच प्रकारों में निरूपित की है जिसका उल्लेख प्रतीहारेन्दुराज ने उद्भट के शब्दों में 'चतूरूपा भावाः' तथा 'पंचरूपा रसाः' की पदावली में किया है। भावों की अवगति के चार रूप—स्वशब्द, विभाव, अनुभाव तथा संचारी भाव हैं जब कि रस की अवगति में उक्त चारों प्रकारों में स्थायी भाव को जोड़कर उनकी संख्या पाँच मानी गई है। 'ध्वन्यालोक' में रस और भाव की स्वशब्दवाच्यता का जिस रूप में खंडन किया गया है वह निश्चय ही उद्भट के विचारों की ही आलोचना है, यद्यपि ध्वनिकार ने स्पष्ट शब्दों में उद्भट का उल्लेख नहीं किया है। रसों की स्वशब्दवाच्यता का सिद्धांत आचार्य शंकुक को भी स्वीकार नहीं था जिसका प्रमाण यह है कि उन्होंने स्वशब्द से स्थायी के अभिधानमात्र का उल्लेख कर इस सिद्धांत की प्रतिष्ठा की है कि स्वशब्द से स्थायी का अभिनय संभव न होने के कारण उससे रसप्रतीति नहीं मानी जा सकती। उद्भट ने न केवल रसों का स्वरूप ही निर्धारित किया है अपितु आस्वाद्यत्व तथा पुमर्थत्व (पुरुषार्थत्व) के निकषद्वय पर दशरूप में रसों का प्राधान्य भी निरूपित किया है। उन्होंने पुमर्थत्व की कसौटी पर नाट्यगत रसों का विभाजन करते हुए लिखा है कि धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष संज्ञक पुरुषार्थों के अनुसार नाट्य में क्रम से वीर, रौद्र, शृंगार तथा शांत-बीभत्स रसों की स्थिति होती है। रूपक के दस भेदों से भाण, प्रहसन तथा उत्सृष्टिकांक को उन्होंने केवल मनोरंजन-अर्थ माना है तथा नाटक और प्रकरण को पुरुषार्थप्रधान कहकर उनमें धर्मार्थादि-प्रधान वीररस स्वीकार किया है। उनके मत से समवकार, डिम तथा व्यायोग में वीर अथवा रौद्र रस प्रधान होता है जब कि ईहामृग में केवल रौद्र। नाटिका को उन्होंने शृंगाररस प्रधान कहा है। शांत तथा निर्वेदजनक बीभत्स को मोक्ष से सम्बद्ध कहकर उन्होंने उनकी स्थिति अन्यतर रूपक भेदों में स्वीकार की है।

आचार्य भट्ट लोल्लट

आचार्य भट्ट लोल्लट ही भरतमुनि कृत रस-निष्पत्ति-सूत्र के सम्भवतः प्रथम व्याख्याता हैं। यद्यपि उनका कोई स्वतन्त्र ग्रंथ उपलब्ध नहीं है तथापि आचार्य अभिनवगुप्त ने 'अभिनवभारती' और 'ध्वन्यालोकलोचन' तथा आचार्य मम्मट ने 'काव्य-प्रकाश' में उनके जो उद्धरण प्रस्तुत किये हैं वे उनकी रस-निष्पत्ति-विषयक मान्यताओं के अभि-

सूचक हैं। 'अभिनवभारती' के अनुसार भट्ट लोल्लट का मत इस प्रकार है—

अत्र भट्टलोल्लटप्रभृतयस्तावदेव व्याचख्यु:[1]

विभावादिभिः संयोगोऽर्थात् स्थायिनस्ततो रसनिष्पत्तिः। तत्र विभावश्चित्तवृत्तेः स्थाय्यात्मिकाया उत्पत्तौ कारणम्। अनुभावाश्च न रसजन्या अत्र विवक्षिताः, तेषां रसकारणत्वेन गणनानर्हत्वात्। अपि तु भावानामेव येऽनुभावाः। व्यभिचारिणश्च चित्तवृत्यात्मकत्वात् यद्यपि न सहभाविनः स्थायिना, तथापि वासनात्मेनेहतस्य विवक्षिताः। दृष्टान्तेऽपि व्यंजनादिमध्ये कस्यचिद्वासनात्मकता स्थायिवत् अन्यस्योद्भूतता व्यभिचारिवत्। तेन स्थाय्येव विभावानुभावादिभिरूपचितो रसः। स्थायी त्वनुपचितः। स चोभयोरपि। मुख्यया वृत्या रामादावनुकार्ये, अनुकर्तरि च नटे रामादि रूपतानुसंधानबलादिति।

—अर्थात् भट्ट लोल्लट आदि ने इस सूत्र की व्याख्या इस प्रकार की है—स्थायीभाव के साथ विभावादि का संयोग होने से रस-निष्पत्ति होती है। उनमें से विभाव स्थायीभावात्मक चित्तवृत्ति की उत्पत्ति के कारण होते हैं। अनुभावों से यहाँ रसजन्य कटाक्षादि-रूप-अनुभाव-विवक्षित नहीं है क्योंकि उनकी गणना रस के कारणों में नहीं की जा सकती अपितु रत्यादि स्थायी भावों के ही पीछे उत्पन्न होने के कारण वे अनुभाव हैं। व्यभिचारी भाव चित्तवृत्ति-स्वरूप होने से यद्यपि स्थायीभाव के साथ नहीं रह सकते हैं, किन्तु यहाँ उस स्थायीभाव के संस्कार रूप से विवक्षित हैं। दृष्टांत में भी व्यंजनादि के मध्य किसी रस की स्थायी भाव के समान अनुद्भूत वासनात्मक रूप में स्थिति होती है और दूसरे की व्यभिचारी भाव के समान उद्भूत रूप में। इसलिए विभाव, अनुभाव आदि से परिपुष्ट किया हुआ स्थायी भाव ही 'रस' है और अपरिपुष्ट स्थायी 'भाव' कहलाता है। वह रस अनुकार्य तथा अनुकर्ता दोनों में रहता है। मुख्य रूप से अनुकार्य रामादि में रहता है तथा रामादिरूपता की प्रतीति होने के कारण गौण रूप से नट-रूप में भी रस की प्रतीति होती है।

अभिनवगुप्त ने 'ध्वन्यालोकलोचन' में रस-विवेचन के एक स्थल पर बिना किसी आचार्य का नामोल्लेख किये रसनिष्पत्ति-विषयक एक मत उद्धृत किया है जो निश्चय ही भट्ट लोल्लट की विचारधारा का निर्देशक है। उसमें स्पष्टतः कहा गया है कि पूर्वावस्था में जो स्थायी है वही व्यभिचारी के सम्पात आदि से परिपुष्ट होकर अनुकार्य में ही रस हो जाता है। चूँकि नाट्य में उसका प्रयोग होता है, अतः कुछ लोग उसे नाट्य रस कहते हैं—

तथाहि पूर्वावस्थायां य स्थायी स एव व्यभिचारिसम्पातादिना प्राप्त परिपोषोऽनुकार्यगत एव रसः। नाट्ये तु प्रयुज्यमानत्वान्नाट्यरस इति केचित्।[2]

आचार्य मम्मट ने काव्यप्रकाश के चतुर्थ उल्लास में भट्ट लोल्लट के मत को निम्नलिखित रूप में उद्धृत किया है—

१. हिन्दी अभिनवभारती (आचार्य विश्वेश्वर), पृ० ४४२-४३।
२. ध्वन्यालोकलोचनः, चौखम्बा प्रकाशन, सन् १९४०, पृ० १८४।

विभावैर्ललनोद्यानादिभिरालम्बनोद्दीपनकारणैः रत्यादिको भावो जनितः, अनुभावैः कटाक्षभुजाक्षेपप्रभृतिभिः कार्यैः प्रतीतियोग्यः कृतः; व्यभिचारिभिनिर्वेदादिभः, सहकारिभिरूपचितो, मुख्यया वृत्या रामादावनुकार्ये, तद्रूपतानुसंधानान्नर्त्तकेऽपि प्रतीयमानो रस इति भट्टलोल्लट प्रभृतयः।

—अर्थात् विभावों—ललना आदि आलम्बन और उद्यान आदि उद्दीपन कारणों—से रति आदि स्थायी भाव उत्पन्न हुआ, रति आदि की उत्पत्ति के कार्यभूत कटाक्ष, भुजाक्षेप आदि अनुभावों से प्रतीति के योग्य किया गया, और सहकारी रूप निर्वेद आदि व्यभिचारी भावों से पुष्ट किया गया, मुख्य रूप से अनुकार्य रूप राम आदि में और उनके स्वरूप के अनुसंधान से नट में प्रतीयमान रत्यादि स्थायीभाव ही रस हो जाता है, यह भट्ट लोल्लट आदि का मत है।

भट्ट लोल्लट का रस-निष्पत्ति-विषयक मंतव्य

अभिनवगुप्त और मम्मट ने भट्ट लोल्लट के रसनिष्पत्ति विषयक जो मंतव्य व्यक्त किये हैं, उनसे प्रकट है कि भट्ट लोल्लट रामादि अनुकार्यों को स्थायी भाव का आश्रय और सीतादि को उसका आलम्बन मानते थे जिनके कारण मूलतः अनुकार्यों के हृदय में ही रस की निष्पत्ति होती है। उन्होंने रस को अनुसंधान के बल पर गौण रूप में नटगत भी माना है जिसका अभिप्राय यह है कि नट में रामत्व आदि का आरोप किया जाता है। वस्तुतः 'अनुसंधान' शब्द अत्यंत व्यापक है जिसके 'आरोप', 'अभिमान' और 'योजन' आदि अर्थ किये गये हैं। 'आरोप' के रूप में अनुसंधान का अर्थ है 'नट का अपने में रामत्वादि का आरोप' तथा 'अभिमान' के रूप में उसका अर्थ होगा 'नट की नाट्य-वेला में उसे अपने में रामत्वादि की प्रतीति'। 'योजन' का अशुद्धानुसंधान की दृष्टि से अर्थ होगा 'पहले जो मैं नट था, वही अब मैं राम हूं' तथा शुद्धानुसंधान की दृष्टि से उसका अर्थ होगा 'मैं राम हूं' आदि। 'आरोप' में तादात्म्य बहुत कुछ बाह्य रहता है, 'अभिमान' में आंतरिक हो जाता है तथा 'योजन' में पूर्णता को प्राप्त कर लेता है। स्थूल दृष्टि से 'अनुसंधान' के उपर्युक्त अर्थों में उल्लेखनीय अंतर नहीं प्रतीत होता, किन्तु दार्शनिक प्रतिपत्ति की दृष्टि से उनके अर्थबोध और विचार-प्रयोग में अनेक प्रकार की विसंगतियां विद्यमान हैं। भट्ट लोल्लट के परवर्ती प्राचीन आचार्यों और आधुनिक विद्वानों ने उनकी शब्दावली का आधार लेकर अनेक प्रकार के निर्णय किये हैं किंतु जब तक लोल्लट की मल विवेचना उपलब्ध नहीं होती तब तक उनकी प्रामाणिकता निर्भ्रान्त रूप से स्वीकार नहीं की जा सकती। इस विषय में अधिक से अधिक इतना ही कहा जा सकता है कि अभिनवगुप्त ने लोल्लट की व्याख्या शैव दर्शन के आधार पर की है तो मम्मट ने उसे एक विशेष क्रम में 'तद्रूपतानुसंधानान्नार्त्तकेऽपि प्रतीयमानो रस इति' द्वारा व्याख्यात कर यह तथ्य स्वीकार किया है कि रामादि अनुकार्यों के स्वरूप के अनुसंधान से नट में प्रतीयमान स्थायीभाव ही रस हो जाता है। इस उद्धरण से इस प्रकार की तत्त्वोपलब्धि के अवसर भी विद्यमान हैं कि कदाचित् सामाजिक ही अनुसंधान का कर्ता है और उसे ही नट में रस की प्रतीति होती है। नट पर राम का

आरोप अथवा उसमें राम का अभिमान कर सामाजिक जिस प्रकार के रामगत रस की प्रतीति करता है उसमें आरोप के कारण यदि यह चेतना बनी रहती है कि नट ही राम के रूप में व्यवहार कर रहा है तो 'अभिमान' के कारण सामाजिक के मन में उस समय नट के प्रति राम-भावना उत्पन्न हो जाती है। कहने की आवश्यकता नहीं कि यह अभिमान-जन्य भावना एक प्रकार की भ्रांति अथवा मिथ्या-प्रतीति ही है किंतु उसके बिना सामाजिक को नट में नायकगत रस की प्रतीति नहीं हो सकती तथा न नाट्य रस के साथ उसका किसी प्रकार का सम्बन्ध ही स्थापित किया जा सकता है। ऐसा प्रतीत होता है कि भट्ट लोल्लट का दृष्टिकोण आत्मवादी एवं व्यक्तिपरक न होकर यथार्थ-वादी और वस्तुपरक था और वे 'लोकवृत्तानुकृतिनाट्यम्' के अनुसार रस निष्पत्ति के विषय में यह धारणा रखते थे कि लोक-जीवन में अनुकार्यादि के जो वृत्त वास्तविक हैं, वे ही नाट्यादि में कलात्मक अनुकरण को प्राप्त कर गौण बन जाते हैं जिसका अभिप्राय यह है कि मूल रूप में शकुन्तलादि में विभावादि का संयोग होने पर दुष्यंतादि के चित्त में जिस रस की निष्पत्ति हुई थी, वे ही मुख्य थे और नाट्य-प्रसंग में नट के चित्त में जिस रस की निष्पत्ति होती है, वह गौण है। प्राप्त-सामग्री के आधार पर भट्ट लोल्लट की रस-निष्पत्ति विषयक मान्यता का यही निष्कर्ष निकाला जा सकता है।

भट्ट लोल्लट के दृष्टिकोण की विसंगतियाँ

लोल्लट ने रस-निष्पत्ति-विषयक जो विमर्श विवेचित किया है वह अनेक दृष्टियों से विसंगत है। उसमें ऐसे अनेक प्रश्न अव्याख्यात रह गये हैं जिनके कारण उनकी मान्यताएँ सर्वग्राह्य नहीं कही जा सकतीं। लोल्लट ने अपनी विवेचना में इस विषय का गम्भीर विवेचन नहीं किया कि सामाजिक से रस-निष्पत्ति का क्या सम्बन्ध है और वह ऐसी कौन-सी प्रक्रिया है जिससे सामाजिक नटगत अथवा नाट्यगत रस का साक्षात्कार कर चमत्कृत होता है? यों तो विद्वानों ने लोल्लट के मत को भरत-सम्मत कहकर उससे यह अर्थ-व्यंजना ध्वनित कर ली है कि नाट्य-प्रयोग में प्रदर्शित वातावरण, वेशभूषा और अभिनय के कौशल द्वारा जिस चमत्कार का साक्षात्कार किया जाता है उसका मूल आधार स्थायी भाव ही है जो अपनी उपचित अवस्था में रसत्व को प्राप्त होता है, किंतु उससे नाट्य-प्रयोग के प्रयोजनभूत रस की सामाजिकगत सार्थकता स्पष्ट नहीं होती। लोल्लट के विवेचन से प्रकट है कि वे राम और दुष्यन्त आदि मूल ऐतिहासिक अनुकार्यों में ही रस की मुख्य सत्ता मानते थे किंतु उनका यह दृष्टिकोण भी वस्तुपरक है, क्योंकि नाट्य-प्रयुक्त अथवा कविवर्णित अनुकार्यों की जब मूल सत्ता ही विद्यमान नहीं है तो उनके अनुकरण तथा वर्णन का प्रश्न कैसे उपस्थित हो सकता है?

लोल्लट ने इस विषय का भी स्पष्टीकरण नहीं किया कि नट जिस कविनिबद्ध पात्र का अनुकरण अपने लोकज्ञान और व्यक्तिगत अनुभव के बल पर करता है, वह मूल पात्र से किस प्रकार भिन्न है तथा मूल रस का आस्वाद करने वाले रामादि ऐतिहासिक पात्रों के लौकिक एवं ऐन्द्रिय तथा नटादि के कल्पनात्मक और समानुभूति-परक अनुभवों में क्या अन्तर है? उन्होंने भरतमुनि की भाँति रस को आस्वाद न मानकर

आस्वाद्य माना है और वे उसकी स्थिति मुख्यतः नाटक के मूल पात्र में तथा गौणतः नट में मानते हैं जिसका भोग सहृदयजन भी किया करते हैं। भरतमुनि और लोल्लट की मान्यताओं में सूक्ष्म अन्तर यह है कि भरतमुनि विभावादि की सत्ता वस्तुगत मानकर यह धारणा रखते थे कि सभी भाव किसी मूल पात्र नट अथवा सामाजिक के प्रत्यक्ष अनुभव न होकर सामान्य अथवा निर्वैयक्तिक भाव हैं जिनका प्रस्तुतीकरण कवि अथवा नट अपने-अपने उपकरणों के माध्यम से शिक्षा, प्रतिभा, अभ्यास और लोकज्ञान के बल पर करते हुए काव्य अथवा नाट्यरस की सृष्टि करते हैं, जबकि लोल्लट को भावों की निर्वैयक्तिक स्थिति ग्राह्य नहीं है। उन्होंने स्थायी भाव का प्रत्यक्ष सम्बन्ध मूल पात्र के साथ और परोक्ष सम्बन्ध नट के साथ स्थापित कर उनसे आगे बढ़ने की ओर से रस-निष्पत्ति की विवेचना की गुंजाइश रखी थी। कहा जा सकता है कि लोल्लट के मतानुसार सहृदय का आस्वाद रस न होकर रस का परिणाम है।

भट्ट लोल्लट के अभिमत का दार्शनिक आधार

लोल्लट की मान्यताओं को दार्शनिक दृष्टि से विवेचित करते हुए आचार्यों ने उन्हें मीमांसावादी आचार्य माना है जिसका सर्वप्रथम संकेत हमें 'काव्यप्रकाश' की बाल-बोधिनी टीका के लेखक वामन झलकीकर के कथन में मिलता है। झलकीकर महोदय ने लोल्लट को 'भट्टमतोपजीवी मीमांसक' माना था जिसके आधार पर डा० पी० वी० काणे ने उनकी मान्यताओं को पूर्वमीमांसा से प्रभावित सिद्ध किया। काव्यशास्त्रीय ग्रंथों के सुप्रसिद्ध हिन्दी भाष्यकार आचार्य विश्वेश्वर ने उन्हें उत्तरमीमांसा अर्थात् वेदांत का समर्थक माना है क्योंकि जिस प्रकार वेदान्त में रज्जु में जगत् की सर्प की भाँति आध्यात्मिक या आरोपित प्रतीति मानी गई है, उसी प्रकार अभिनयादि के समय रामादिगत सीताविषयक रति के विद्यमान न होने पर भी नट में भी वैसी आरोपित प्रतीति होती है जिसके कारण सहृदयजनों का चित्त चमत्कृत होता है। डा० कांतिचन्द्र पांडेय ने वसुगुप्त की स्पंदकारिका पर किन्हीं लोल्लट की 'वृत्ति' का उल्लेख कर तथा 'अनुसंधान' शब्द का 'योजन' अर्थ में प्रयोग देखकर उन्हें शैव दार्शनिक माना है जबकि उस मान्यता की स्वीकृति के मार्ग में अनेक व्यवधान विद्यमान हैं। कुछ विद्वान् लोल्लट की रस-विवेचना का संबंध 'असत्कार्यवाद' के साथ जोड़ते है किंतु व्यावहारिक दृष्टि से वह भी उचित नहीं है। हमारी समझ में जब तक लोल्लट की रसविवेचना का मूल विवरण उपलब्ध नहीं हो जाता, तब तक केवल उपलब्ध उद्धरणों के आधार पर उनकी दार्शनिक पृष्ठभूमि का पूर्ण निर्णय करना कठिन है।

निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि लोल्लट ने रस-निष्पत्ति-विषयक अपने जो निर्णय प्रस्तुत किये हैं, उनकी अपनी सुनिश्चित सीमाएं हैं। वस्तुतः उन्हें भरतमुनि के रस-सूत्र के व्याख्याताओं में प्रथम स्थान प्राप्त है और उन्होंने जिस रूप में रस को अनुकार्यगत माना है उससे यह तथ्य ध्वनित होता है कि काव्य अथवा नाट्य का मूल सौन्दर्य उसकी मूल चेतना अथवा विषयवस्तु में सन्निहित रहता है। एक प्रकार से उन्होंने काव्य-कला के कलेवर में वस्तु के महत्त्व की स्थापना की है जो अपने आप में

एक बहुत बड़ी उपलब्धि है। अभी तक लोल्लट की मान्यताओं को उनकी अपूर्णता के परिप्रेक्ष्य में ही व्याख्यात करने का विशेष प्रयत्न हुआ है किन्तु आवश्यकता इस बात की है कि उनकी मूल प्रतिपत्ति को बोधगम्य कर उनकी प्रकृत विवेचना की जाय।

लोल्लट का मूल मंतव्य : उपचित स्थायी भाव ही रस है

आचार्य अभिनवगुप्त तथा मम्मट ने भट्ट लोल्लट के रसविषयक जिन अभिमतों का उल्लेख अपने ग्रंथों में किया है उनके निष्कर्ष रूप में यह कहा जा सकता है कि भट्ट लोल्लट ने भरतमुनि के रसविषयक लक्षण-सूत्र की व्याख्या अपने ढंग से की है। उनका निर्णय है कि स्थायिभाव के साथ विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारिभावों का संयोग होने से रस की निष्पत्ति अर्थात् उत्पत्ति होती है। उन्होंने विभाव को स्थायिभाव रूप चित्तवृत्ति की उत्पत्ति में कारण माना है और बतलाया है कि अनुभाव शब्द से यहाँ 'रसजन्य कटाक्षादि रूप अनुभाव' विवक्षित नहीं है क्योंकि उन रसजन्य अनुभावों की गणना रस के कारणों में नहीं की जा सकती। वस्तुत: भावों के ही पश्चात् उत्पन्न होने के कारण उन्हें अनुभाव कहा जाता है। व्यभिचारिभावों के सम्बन्ध में आचार्य लोल्लट की मान्यता है कि निर्वेद आदि व्यभिचारिभाव चित्तवृत्तिस्वरूप होने से यद्यपि स्थायिभावों के साथ नहीं रह सकते तथापि वे स्थायिभाव के साथ संस्कार-रूप में विवक्षित किये जा सकते हैं।[1] उनके कथन का मुख्य आशय यह है कि विभाव, और अनुभाव आदि से उपच्चित अथवा परिपुष्ट किया हुआ स्थायिभाव ही रस है जो अपनी अनुपचित अवस्था में स्थायिभाव कहलाता है। वह रस रामादि अनुकार्यों तथा नटादि अनुकर्ताओं में रहता है, किंतु उसकी मुख्य स्थिति अनुकार्यों में ही होती है। नटादि अनुकर्ताओं में वह गौण रूप से प्रतीत होता है जिसका कारण यह है कि उनमें रामादि रूपता की प्रतीति अनुसंधानबल से होती है।[2]

भट्ट लोल्लट के अभिमत पर अष्टहेतुक आक्षेप

आचार्य शंकुक ने भट्ट लोल्लट तथा दण्डी आदि उपचयवादी आचार्यों के रस-निष्पत्ति-विषयक मतों का विरोध किया है। उनका कथन है कि रत्यादि स्थायिभाव की उपचितावस्था को ही रस मानने का सिद्धान्त उचित नहीं है, क्योंकि उसके विपक्ष में आठ हेतु प्रस्तुत किये जा सकते हैं। शंकुक के अनुसार उन आठ हेतुओं का विवरण निम्नलिखित है—

(१) विभाव आदि के योग के बिना अथवा अभाव में स्थायिभाव के अनुमापक हेतु के न होने से स्थायिभाव की प्रतीति नहीं हो सकती अतः स्थायिभाव को रस नहीं कहा जा सकता। इसका अभिप्राय यह है कि रत्यादि स्थायिभावों का जो साक्षात्कारात्मक ज्ञान विभावादि का संयोग होने पर ही होता है, वही रस है, अतः रस तथा स्थायिभाव सर्वथा भिन्न हैं।

---

१. अभिनवभारती, पृ० ४४२।
२. वही, पृ० ४४३।

(२) विभाव आदि के योग के पूर्व रत्यादि का जो ज्ञान होता है, वह केवल शब्द द्वारा परोक्षात्मक ज्ञान होता है अतः उसे रस नहीं कहा जा सकता। विभाव आदि के योग के पश्चात् जो रत्यादि की साक्षात्कारात्मक अनुभूति होती है उसे स्थायिभाव नहीं कहा जा सकता। ऐसी स्थिति में 'स्थायिभाव ही रस है' यह कहना उचित नहीं है।

(३) विभाव आदि के प्रयोग के पहले ही रस की स्थिति मानने पर रस-निष्पत्ति की प्रक्रिया का निर्देशक भरतमुनि का वह सूत्र अनावश्यक सिद्ध हो जायगा जिसमें 'विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पतिः' मानी गई है।

(४) यदि रत्यादि स्थायिभावों को ही रस माना जाय तो रत्यादि की मात्रा में न्यूनाधिक्य अथवा तारतम्य की संभावना होने से रस में भी मंद, तर-तम-मध्यम आदि अनंत भेद मानने पड़ेंगे जो उचित नहीं है क्योंकि स्थायिभावों में तो तर-तम आदि का मात्राकृत भेद हो सकता है किंतु रस में न्यूनाधिक्य या तारतम्य का भेद नहीं होता। अतः स्थायिभाव को ही रस नहीं कहा जा सकता।

(५) भरतमुनि ने हास्य के स्मित, हसित, विहसित, उपहसित और अपहसित नामक जो छः भेद किये हैं वे अपनी तरतमता में स्थायिभाव के तो विभेद हो सकते हैं किंतु हास्यरस के नहीं हो सकते क्योंकि हास्य रस में तारतम्य की संभावना नहीं हो सकती।

(६) यदि मात्रा-भेद से रस से भेद माने जाएँ तो काम की दस अवस्थाओं में असंख्य रस-भाव मानने होंगे जिससे श्रृंगार-रस के असंख्य भेद हो जायेंगे। शंकुक का अभिमत है कि ऐसा मानना युक्तिसंगत नहीं है अतः स्थायिभाव को रस नहीं माना जा सकता।

(७) स्थायिभावों के उपचय को रस कहना इस दृष्टि से भी उचित नहीं है कि शोक आदि स्थायिभावों का उपचय न होकर कालक्रम से अपचय या ह्रास होता है अतः उनका उपचय संभव नहीं होने से करुणरस की उत्पत्ति नहीं हो सकती।

(८) क्रोध, उत्साह तथा रति आदि स्थायिभावों में अमर्ष, स्थैर्य और सेवा आदि परिपोषक सामग्री के अभाव में ह्रास दिखलाई देता है जिसका अभिप्राय यह है कि उपचय के स्थान पर उनका अपचय रूप ही पाया जाता है। ऐसी स्थिति में यह कहना उचित नहीं है कि उपचित स्थायिभाव ही रस होता है।

शंकुक ने जिन आठ युक्तियों पर भट्ट लोल्लट और दण्डी के इस मत का खंडन किया है कि 'उपचित स्थायिभाव ही रस है,' वे अभिनवभारती में इस प्रकार विवेचित की गई हैं—

'विभावाद्ययोगे स्थायिनो लिंगाभावेनावगत्यनुपपत्ते, भावानां पूर्वमभिधेयता प्रसंगात्, स्थिति दशा यां लक्षणान्तरवैयर्थ्यात्, मन्दतरतममाध्यस्थ्याद्यानन्त्यापत्तेः, हास्यरसे षोढात्वाभाव प्राप्तेः, कामावस्थासु दशस्वसंख्य रसभावादिप्रसंगात्, शोकस्य

प्रथमं तीव्रत्वं कालात् तनु मान्धदर्शनं, क्रोधोत्साहरतीनां अमर्षस्थैर्य सेवा विपर्यये ह्लासदर्शनमिति विपर्ययस्य दृश्यमानत्वाच्च ।'[1]

आचार्य शंकुक

अनुक्रियमाण स्थायी भाव का नाम 'रस' है

शंकुक का मत है कि उपचित रत्यादि के स्थान पर अनुक्रियमाण रत्यादि को रस के कारण-रूप विभावों, उसके कार्य-रूप अनुभावों तथा सहचारी-रूप व्याभिचारि-भावों से नट के द्वारा अपने शिक्षाभ्यास आदि रूप प्रयत्न से जन्य होने के कारण कृत्रिम होने पर भी उस प्रकार के कृत्रिम रूप में न प्रतीत होने वाला तथा लिंगबल से अनुकर्ता में अनुमान द्वारा प्रतीत होने वाला एवं अनुकार्य में रहने वाला रत्यादि स्थायिभाव का अनुकरण-रूप नटगत स्थायिभाव ही रस होता है। अनुकरण-रूप होने के कारण ही वह स्थायिभाव के नाम से न पुकारा जाकर उससे भिन्न 'रस' नाम से अभिहित किया जाता है।[2] शंकुक के कथन का अभिप्राय यह है कि रस की अनुभूति में कारण-रूप विभाव काव्य के द्वारा उपस्थित होते हैं तो कटाक्ष और भुजाक्षेप आदि अनुभाव नट की शिक्षा तथा उसके अभ्यास द्वारा। व्यभिचारिभावों को उनके कृत्रिम अनुभावों के अर्जन द्वारा उपस्थित माना जा सकता है। वस्तुतः स्थायिभाव इनमें से किसी भी साधन से उपस्थित नहीं होता और न काव्यबल से ही प्रतीत होता है। वह तो पूर्वतः स्थित रहता है जिसका अनुमान विभाव, अनुभाव और व्यभिचारिभाव रूप लिंगों से नटगत रूप में किया जाता है। चूंकि वह रामादिगत रत्यादि के अनुकरणात्मक रूप में अनुमित होता है अतः उसे स्थायिभाव न कहकर 'रस' नाम से व्यवहृत किया जाता है। शंकुक के कथन का मूल मंतव्य यह है कि अभिनय चाहे वाचिक हो अथवा शारीरिक, उसका मुख्य प्रयोजन अर्थ को साक्षात्कारात्मक रूप में उपस्थित करना होता है जिससे रसास्वाद की प्राप्ति होती है।[3] उन्होंने रसादि की स्वशब्दवाच्यता को दोष माना है और बतलाया है कि केवल शब्द की अभिधा-शक्ति से ही अर्थ का बोध नहीं होता अपितु अभिनय-कला भी शब्द की वाचक-शक्ति से भिन्न बोध कराने वाली एक ऐसी शक्ति है जिससे प्रत्यक्ष प्रमाण के समान साक्षात्कारात्मक रूप से अर्थ का बोध होता है। शंकुक का कहना है कि नाटक में स्थायिभाव की उपस्थिति अभिनय के द्वारा होती है और अभिनय अनुकरणात्मक होता है, अतः उपचित स्थायिभाव का नाम रस न होकर अनुक्रियमाण स्थायिभाव का नाम रस है। उसके शब्दों में अनुक्रियमाण रति का नाम ही शृंगाररस है और भट्ट लोल्लट ने रस को जिस रूप में तदात्मक अर्थात् स्थायिभाव-रूप अथवा उत्पत्तिवाद द्वारा जिस

१. अभिनवगुप्त : नाट्यशास्त्र-विवृति, भाष्यकार: आचार्य विश्वेश्वर, हिन्दी अभिनवभारती, पृ० ४४५।
२. हिन्दी अभिनवभारती, पृ० ४४६।
३. वही, पृ० ४४६।

रूप में स्थायिभाव-जन्य माना है, वह तत्त्वदृष्टि से युक्तिसंगत नहीं है।[1]

शंकुक के अभिमत का तत्त्व-विमर्श

शंकुक ने उपचित रत्यादि के स्थान पर अनुक्रियमाण रत्यादि को रस माना है जिस पर यह शंका हो सकती है कि अनुक्रियमाण रति भी वास्तविक रति न होकर रत्यादि विषयक मिथ्याज्ञानरूप है अतः इस भ्रांत प्रतीति से आनंदरूप वास्तविक रति के कार्य की अनुभूति कैसे हो सकती है? शंकुक ने इस शंका का समाधान करते हुए लिखा है कि मिथ्याज्ञान से भी रसास्वादादि-रूप-अर्थक्रिया अथवा फलप्राप्ति देखी जाती है। इस विषय में उन्होंने एक कारिका[2] उद्धृत की है जिसका अर्थ यह है कि मणि की प्रभा तथा दीपक की प्रभा को देखकर तथा उनको मणि समझकर उनको उठाने के लिए भागने वाले दो व्यक्तियों में समान मिथ्याज्ञान होने पर भी अर्थक्रिया या फलप्राप्ति में भेद पाया जाता है। शंकुक के कथन का आशय यह है कि जिस प्रकार अंधकार के कारण रज्जु में सर्प की भ्रांति हो जाने पर उससे भय आदि की उत्पत्ति होती है उसी प्रकार अनुकरणात्मक रत्यादि की प्रतीति से भी वास्तविक रत्यादि के समान ही रसास्वाद होता है। कहने के लिए तो शंकुक ने मिथ्याज्ञान या भ्रांति से भी यथार्थ वस्तु के समान फल-प्राप्ति की संभावना निरूपित की है, किन्तु उनकी यह मान्यता इस बात पर क्रियान्वित नहीं होती कि अनुक्रियमाण रतिरूप रस में भी भ्रांति या मिथ्याज्ञान ही होता है। नाटक देखते समय नटादि में जो रामादि की प्रतीति होती है उसे न तो मिथ्या-प्रतीति ही कहा जा सकता है और न सम्यक्-प्रतीति ही। वस्तुतः वह प्रतीति सादृश्य तथा संशयात्मक प्रतीति से भी भिन्न है। उस प्रतीति को चित्रतुरगादि-न्याय से समझा जा सकता है जिसका अभिप्राय यह है कि वह किसी भी रूप से भ्रांतिमात्र नहीं कही जा सकती। ऐसी स्थिति में अनुक्रियमाण रति को किस रूप में रस माना जाय, यह एक विचारणीय प्रश्न है। इस प्रसंग में हम निम्नलिखित कारिकाओं को उद्धृत करना आवश्यक समझते हैं जिनसे स्पष्ट होता है कि रस-प्रतीति का स्वरूप वस्तुतः विचित्र प्रकार का है—

प्रतिभाति न संदेहो, न तत्त्वं, न विपर्ययः।
धीरसावयमित्यस्ति, नासावेवायमित्यपि ॥१॥
विरुद्धबुद्धिसंभेदादविवेचितसम्प्लवः।
युक्त्या पर्यनुयुज्येत स्फुरन्ननुभवः कया ॥२॥[3]

अर्थात् नाटक में नट को रामादि के रूप में देखते समय न संदेह की प्रतीति होती है, न यथार्थता की और न भ्रांति की प्रतीति होती है। यह (नट) वह (राम रूप) है, इस प्रकार की बुद्धि होती है और यह (नट) वास्तव में वह (रामादि रूप) नहीं है, इस

---

१. हिन्दी अभिनवभारती, पृ० ४४८।

२. मणिप्रदीपप्रभयोर्मणि बुद्ध्याभिधावतोः
मिथ्याज्ञानविशेषोऽपि विशेषोऽर्थक्रियां प्रति ॥

३. अभिनवगुप्त, नाट्यशास्त्र विवृत्ति का संजीवनभाष्य, हिन्दी अभिनवभारती (आचार्य विश्वेश्वर), पृ० ४५०।

प्रकार की भी बुद्धि होती है।

इसलिए विरुद्ध प्रकार की बुद्धियों के सम्मिश्रण के कारण पृथक् रूप से भ्रम आदि का निश्चय न हो सकने के कारण उस प्रत्यक्षात्मक अनुभव को किस प्रकार से भ्रम आदि रूप से कहा जाय, यह निश्चय नहीं किया जा सकता।

शंकुक के अभिमत की मुख्य विचारणाएँ निम्नलिखित हैं—

(१) 'तस्माद्धेतुभिर्विभावाख्यः कार्यैश्चानुभावात्मभिः सहचारिरूपैश्च व्यभिचारिभिः प्रयत्नार्जिततया कृत्रिमैरपि तथानभिमन्यमानैरनुकर्तृस्थत्वेन लिंगबलतः प्रतीयमानः स्थायी भावो मुख्यरामादिगतस्थाय्यनुकरण रूपः। अनुकरणरूपत्वादेव च नामान्तरेण व्यपदिष्टो रसः।'

शंकुक का कथन है—इसलिए विभाव रूप कारण, अनुभाव रूप कार्य तथा व्यभिचारी भाव-रूप सहचारियों के द्वारा प्रयत्नपूर्वक अर्जित होने के कारण कृत्रिम होने पर भी, विभाव, अनुभाव तथा संचारी भावों के द्वारा अनुकर्ता में स्थित होने के कारण अनुमान के बल से प्रतीयमान, मुख्य रूप से रामादिगत स्थायीभाव का यह अनुकरण रूप है। अनुकरण रूप होने के कारण यह (स्थायी भाव) भिन्न 'रस' नाम से बोधित होता है।[1]

(२) 'विभावा हि काव्यबलानुसंधेयाः। अनुभावाः शिक्षातः। व्यभिचारिणः कृत्रिमनिजानुभावार्जनबलात्। स्थायी तु काव्यबलादपि नानुसंधेयः। 'रतिः शोक' इत्यादयो हि शब्दा रत्यादिकमभिधेयीकुर्वन्त्यभिधानत्वेन। न तु वाचिकाभिनयरूपतया वागमयंति न हि वागैव वाचिकम्। अपि तु तया निर्वृत्तम। अंगैरिवांगिकम्।'[2]

विभावों का काव्य के द्वारा, अनुभावों का शिक्षा के द्वारा तथा व्यभिचारी भावों का अपने कृत्रिम अनुभावों के अर्जन द्वारा अनुसंधान (प्रतीति) होता है। स्थायीभाव की तो काव्य द्वारा प्रतीति नहीं की जा सकती। रति तथा शोक आदि शब्द रति तथा शोक आदि विषयों का अभिधा के द्वारा अभिधान (कथन) करते हैं, वाचिक अभिनय के रूप में उनका बोध नहीं कराते। जिस प्रकार अंगों द्वारा किया गया अभिनय आंगिक कहलाता है न कि अंग, उसी प्रकार वाणी नहीं अपितु वाणी के द्वारा किया जाने वाला अभिनय वाचिक कहलाता है।

(३) 'अवगमनशक्तिर्ह्यभिनयनं वाचकत्वादन्या। अतएव स्थायिपदं सूत्रे भिन्नविभक्तिकमपि नोक्तम्। तेन रतिरनुक्रियमाणा शृंगार इति तदात्मकत्वं तत्प्रभवत्वं च युक्तम्। अर्थक्रियापि मिथ्याज्ञानदृष्टा।'[3]

शब्द की वाचकत्वरूपी अर्थशक्ति से भिन्न दूसरी बोध कराने वाली शक्ति अभिनयन (अभिनय) है। इसलिए भरत ने सूत्र-वाक्य में स्थायीपद का भिन्न विभक्ति

१. हिन्दी अभिनवभारती (व्याख्याकार—आचार्य विश्वेश्वर), पृ० २७६।
२. वही, पृ० २७७।
३. वही, पृ० २७८।

में भी प्रयोग नहीं किया है। इसलिए अनुक्रियमाण रति ही श्रृंगार रस होती है। अतः उसका तदात्मकत्व (स्थायीभावरूप) तथा तत्प्रभवत्व (स्थायी भावमूलक होना) युक्त है। मिथ्या-ज्ञान में अर्थक्रिया (अर्थ को व्यक्त करने वाली क्रिया) देखी जाती है।

(४) 'न चात्र नर्तक सुखीति प्रतिपत्तिः। नाप्ययमेव राम इति एव। न चाप्ययं न सुखीति। नापि रामः स्याद्वा न वायमिति। न चापि तत्सदृश इति। किंतु (सम्यङ्-मिथ्यासंशयसादृश्यप्रतीतिभ्यो विलक्षणा चित्रतुरगादि न्यायेन) यः सुखी रामः असावयमिति प्रतीतिरस्तीति।'[1]

यहाँ नर्तक ही सुखी है यह प्रतीति नहीं होती, और यह राम है, इस प्रकार की प्रतीति भी नहीं होती, न यह सुखी नहीं है, यह प्रतीति होती है और न ही यह राम है या नहीं, इस प्रकार की प्रतीति होती है। किन्तु सम्यक्, मिथ्या, संशय और सादृश्य रूप समस्त प्रतिपत्तियों (प्रतीतियों) से विलक्षण चित्रतुरग (आलिखित अश्व) न्याय से 'जो सुखी राम है, वह यह है' इस प्रकार की प्रतीति होती है।

'रसानुकरणवाद' के खंडन के चार विकल्प और उनकी समीक्षा

शंकुक ने रस की अनुकरणात्मकता को जिस रूप में प्रतिष्ठित करने का प्रयत्न किया है वह उनके परवर्ती आचार्यों को मान्य नहीं प्रतीत हुआ है। आचार्य भट्टतौत की व्याख्यापद्धति के आधार पर आचार्य अभिनवगुप्त ने शंकुक के रसानुकरणवाद का खंडन करते हुए उसे सर्वथा ऐसा सारहीन सिद्धांत बतलाया है जिसका किंचिन्मात्र भी सुदृढ़ आधार नहीं है। अभिनवगुप्त ने शंकुक द्वारा प्रतिपादित रत्यादि स्थायिभाव के अनुकरण रूप रस विषयक सिद्धांत के खंडन में चार प्रकार के विकल्प[2] अथवा प्रश्न उठाये हैं और उनका युक्तिसंगत खंडन किया है। वे विकल्प सामाजिक, नट, वस्तुस्थिति के विवेचक व्याख्याता तथा भरतमुनि के अभिप्राय के अनुसार समझे जा सकते हैं।

(अ) सामाजिक की दृष्टि से रसानुकरणवाद का खंडन

सामाजिक की दृष्टि से स्थायिभाव के अनुकरण को रस कहे जाने वाले विकल्प का खंडन करते हुए आचार्य अभिनवगुप्त ने अनेक प्रकार की युक्तियाँ प्रस्तुत की हैं। उनका कहना है कि किसी वस्तु को प्रमाण से ग्रहण करने पर ही यह कहा जा सकता है कि वह किसी अन्य का अथवा उसका कोई अन्य अनुकरण है। रस के प्रसंग में यह बात विचारणीय है कि नट में ऐसी क्या बात देखी जाती है जो अनुकरण रूप से प्रतीत होती है। यदि गम्भीरतापूर्वक विचार किया जाय तो नट में ऐसी कोई भी बात नहीं मिलती। प्रश्न होता है कि क्या नट का शरीर अनुकरण रूप है अथवा नट के शरीर पर स्थित

१, हिन्दी अभिनवभारती (व्याख्याकार आचार्य विश्वेश्वर), पृ० २७६।

२. 'अनुकरणरूपो रसः' इति यदुच्यते तत्किं सामाजिक प्रतीत्यभिप्रायेण, उत नटाभिप्रायेण, किंवा वस्तुवृत्तविवेचकव्याख्यातृबुद्धिसमवलम्बेन, यथाहुर्व्याख्यातारः खल्वेवं विवेचयंति 'इति अथवा भरतमुनिपक्षानुसारेण।'—अभिनवगुप्तः नाट्य-शास्त्र विवृतिः हिन्दी अभिनवभारती, पृ० ४५१।

मुकुट आदि अनुकरण रूप हैं या रोमांच गद्गद्, भुजाक्षेप और भ्रू कटाक्ष आदि अनुभावों को अनुकरण रूप में कहा जा सकता है ? वस्तुतः इनमें से कोई भी वस्तु चित्तवृत्ति रूप रत्यादि स्थायिभावों के अनुकरण रूप में किसी को प्रतीत नहीं होती। बात यह है कि प्रतिशीर्षक से लेकर कटाक्षादि पर्यन्त सम्पूर्ण शारीरिक चेष्टाओं का अधिकरण तो शरीर है तथा रत्यादि का अधिकरण आत्मा, अतः भिन्न-भिन्न इन्द्रियों द्वारा ग्राह्य होने से वे एक नहीं हो सकते। भिन्न आश्रय होने के कारण जड़स्वरूप शारीरिक चेष्टाएँ तथा चेतनस्वरूप रत्यादि स्थायिभाव एक-दूसरे से पृथक्-पृथक् होते हैं। इसलिए नट में पायी जाने वाली जिन बातों का अनुकरण रूप मानकर उन्हें रस कहा जाता है उनमें से कोई भी बात रस कहलाने के योग्य नहीं होती। दूसरी बात यह है कि मुख्य अनुकार्य तथा अमुख्य अनुकरण को देखकर ही यह कहा जा सकता है कि कौन किस का अनुकरण है, किन्तु जब सामाजिकों ने रति-रूप मुख्य अनुकार्य को देखा ही नहीं है तो फिर यह कैसे कहा जा सकता है कि नट राम का अनुकरण करता है ? यदि यह कहा जाय कि नटगत रत्यादि-रूप चित्तवृत्ति का ग्रहण होने पर रति का अनुकरण-रूप शृंगार-रस होता है तो भी यह प्रश्न विवादास्पद ही रहेगा कि उसकी प्रतीति किस रूप में होती है ?

अभिनवगुप्त ने पूर्वपक्ष के रूप में शंकुक की धारणाओं का अनेक प्रकार से उल्लेख कर इस सिद्धांत का प्रतिपादन किया है कि रत्यादि भावनाओं का अनुकरण किया ही नहीं जा सकता। उनका मत है कि जिन तर्कों के आधार पर रति आदि भावनाओं के अनुकरण की बात कही जाती है वे अनुकरण न होकर साक्षात् रति-रूप ही हैं। नटगत रत्यादि की प्रतीति को रति न कहकर रति का अनुकरण अथवा अनुकरणात्मक रति कहने में क्या आपत्ति हो सकती है। इसका उत्तर उपाध्याय भट्टतौत के पक्ष की ओर से देते हुए अभिनवगुप्त लिखते हैं कि यह कथन किसी भी रूप में उचित नहीं माना जा सकता। काव्य तथा शिक्षाभ्यास द्वारा विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारिभाव नटगत रति के रूप में प्रतीतिगोचर बनाये जाने पर भी अपनी कल्पित स्थिति में कृत्रिम ही होते हैं और सामाजिकों द्वारा कृत्रिम रूप में ही ग्रहण किये जाते हैं, अतः उनसे वास्तविक रति की प्रतीति कैसे हो सकती है ? यदि यह कहा जाय कि कृत्रिम साधनों से प्रतीयमान रति वास्तविक रति न होने पर भी अनुकरण-बुद्धि का कारण होती है और उसी अनुक्रियमाण रत्यादि को ही रस कहा जाता है तो भी उचित नहीं है, क्योंकि दूसरे कारणों से उत्पन्न कार्यों में उनका ज्ञान होने पर सुशिक्षित अथवा विशेषज्ञ ही दूसरी वस्तु का ठीक अनुमान लगा सकते हैं। साधारण व्यक्ति के द्वारा तो केवल प्रसिद्ध कारण का ही अनुमान किया जा सकता है। अपने कथन को उदाहृत करते हुए आचार्य अभिनवगुप्त ने लिखा है कि किसी विशेष वृश्चिक को देखकर उसके कारण रूप में वृश्चिक (बिच्छू) के समान गोबर का अनुमान कोई विशिष्ट अथवा विशेषज्ञ व्यक्ति करे तो फिर भी उचित है किन्तु सामान्य पुरुष का ऐसा अनुमान तो केवल मिथ्याज्ञान

ही होगा।[1] उनका कथन है कि सामाजिक पुरुष नटगत रत्यादि के कारण-रूप में प्रसिद्ध कारणों का ही अनुमान कर सकता है, अतः सामाजिक की रत्यादि विषयक प्रतीति को अनुकरणात्मक प्रतीति नहीं कहा जा सकता। अभिप्राय यह है कि सामाजिक की दृष्टि से नटगत रत्यादि अपने प्रसिद्ध कारण अर्थात् वास्तविक विभावादि से उत्पन्न होने के कारण वास्तविक रत्यादि रूप ही है, अतः रत्यादि स्थायिभावों के अनुकरण को रस मानने का सिद्धांत किसी भी रूप में समुचित नहीं है।

अभिनवगुप्त ने धूलिपटल आदि में धूमादि-लिंग के मिथ्याज्ञान का उल्लेख करते हुए लिखा है कि जिस प्रकार उस स्थल पर कृत्रिम वह्नि या वह्न्याभास का अनुमान लगाना युक्तिसंगत नहीं है अथवा धूमाकार से प्रतीत होने वाले नीहारकणों से अग्निवत् प्रतीत होने वाले जवापुष्प की प्रतीति समुचित नहीं है, उसी प्रकार कृत्रिम विभावादि से कृत्रिम रत्यादि अथवा अनुक्रियमाण रत्यादि से वास्तविक रसादि की प्रतीति मानना किसी भी रूप में तर्कसंगत नहीं है। उन्होंने बतलाया है कि शंकुक आदि विद्वानों की यह धारणा समीचीन नहीं कही जा सकती कि क्रुद्ध न होने पर भी अभिनय करते समय नट क्रुद्ध-सा प्रतीत होता है जिसे क्रोध का अनुकरण कहा जा सकता है और जिसके कारण रत्यादि के अनुकरण या अनुक्रियमाण रत्यादि को रस मानने में कोई दोष नहीं है। अभिनवगुप्त का कहना है कि वहाँ क्रुद्ध का अनुकरण न होकर भ्रुकुट्यादि द्वारा क्रुद्ध का सादृश्य है और वह सादृश्य उसी प्रकार का है जिस प्रकार मुखादि के द्वारा गौ का गवय (नील गाय) के साथ सादृश्य होता है। उस सादृश्य से किसी भी प्रकार की अनुकरणात्मकता सिद्ध नहीं होती। उनका तो यहाँ तक कहना है कि वस्तुतः सामाजिक को राम के सादृश्य की प्रतीति ही नहीं होती, क्योंकि वैसी प्रतीति होने पर सामाजिक का भावावेश ही समाप्त हो सकता है। रत्यादि के अनुकरण का सिद्धांत तो उन्हें सर्वथैव सारहीन प्रतीत होता है। उन्होंने इस मान्यता का खंडन भी किया है कि काव्य के द्वारा विभाव अनुसंधित होते हैं, क्योंकि यदि ऐसा होता तो नट को इस प्रकार की प्रतिपत्ति होने लगती कि 'यह मेरी सीता है' इत्यादि। यदि यह कहा जाय कि काव्य के द्वारा विभावादि को सामाजिक के लिए उस प्रकार की प्रतीति के योग्य बनाया जाता है तो फिर विभाव आदि की अपेक्षा रत्यादि स्थायिभावों के सम्बन्ध में यह अनुसंधान और अधिक अच्छा होगा। वस्तुतः उसी रत्यादि स्थायिभाव के मुख्य होने से इस राम आदि में भी यह रत्यादि स्थायिभाव है, इस प्रकार की प्रतीति सामाजिक को होती है अतः रत्यादि को ही रस कहना उचित है न कि रत्यादि के अनुकरण को। सारांश यह है कि भट्टतौत तथा अभिनवगुप्त के मत से 'सामाजिक की प्रतीति के अनुसार स्थायिभाव का अनुकरण रस है' समुचित नहीं है।

---

१. कारणान्तर प्रभवेषु हि कार्येषु सुशिक्षितेन तथा ज्ञाने वस्त्वन्तरस्यानुमानं तावदुक्तम्। असुशिक्षितेन तु तस्यैव प्रसिद्धस्य कारणस्य। यथा वृश्चिककविशेषाद् वृश्चिकस्येव गोमयस्यानुमानं। तत्परं मिथ्या ज्ञानं।—अभिनवभारती, पृ० ४५४

(आ) नट के अभिप्राय से भी रसानुकरणवाद स्वीकार्य नहीं है

आचार्य शंकुक ने नट के अभिप्राय से भी स्थायिभाव के अनुकरण को रस माना था जिसका खंडन भट्टतौत तथा अभिनवगुप्त आदि आचार्यों ने किया है। उनका कहना है कि न तो नट रामादि का अनुकरण कर ही सकता है और न उसे इस प्रकार की प्रतीति ही हो सकती है कि 'मैं राम अथवा उनकी चित्तवृत्ति का अनुकरण कर रहा हूँ।' 'वस्तुतः अनुकार्य की प्रकृति को जाने बिना उसका अनुकरण किया ही नहीं जा सकता और जब प्रकृतिभूत अनुकार्य को नट ने देखा ही नहीं है तो फिर वह उसके सदृश अनुकरण कैसे कर सकता है? यदि पश्चात्करण अनुकरण का सिद्धांत माना जाय तो उसमें अनुकरणात्मकता की अतिव्याप्ति हो जायगी, क्योंकि उस स्थिति में नट ही नहीं अपितु सारा संसार ही रामादि के पश्चात् रत्यादि का अनुभव करता हुआ प्रतीत होगा और नाट्य-दर्शन से व्यतिरिक्त समय में भी अनुकरणात्मकता माननी पड़ेगी। वैसी स्थिति में तो लौकिक रत्यादि को देखकर भी रस की अनुभूति होने लगेगी। यदि यह माना जाय कि नटादि द्वारा रामादि संज्ञक किसी विशिष्ट व्यक्ति का अनुकरण नहीं होता अपितु सामान्य रूप से नट उत्तम प्रकृति के अपने शोक का ही अनुकरण करता है तो फिर यह प्रश्न उपस्थित होगा कि वह अनुकरण नट द्वारा किस साधन से किया जाता है? सच तो यह है कि नटादि को किसी भी प्रकार का शोकादि भी नहीं होता जिसके कारण यह कहा जाय कि नट किसी उत्तम प्रकृति के शोक का अनुकरण करता है। वस्तुतः शोक तो मानस चित्तवृत्यात्मक होता है और अश्रुपातादि दैहिक व्यापार स्वरूप, अतः अश्रुपात आदि से शोक का अनुकरण किया जाता है, यह कथन भी सर्वथा असंगतिपूर्ण है।

अभिनवगुप्त के मतानुसार इतना तो कहा ही जा सकता है कि नट के द्वारा उत्तम प्रकृति के शोकानुभावों का अनुकरण किया जाता है, किंतु उस विषय में भी यह प्रश्न उपस्थित हो जाता है कि नट किस प्रकार की उत्तम प्रकृति के शोकानुभावों का अनुकरण करता है। यदि यह कहा जाय कि वह 'जिस किसी की' प्रकृति का अनुकरण करता है तो 'निर्विशेषं न सामान्यं' इस नियम के अनुसार वह अनुकरण भी विशेष के बिना कैसे बुद्धिगम्य हो सकता है? यदि यह कहा जाय कि जो इस प्रकार अर्थात् मुझ नट की तरह होता है, मैं उसका अनुकरण करता हूँ तो उस प्रतीति के मध्य में नट का स्वरूप भी अनुप्रविष्ट हो जाता है जिससे अनुकार्य और अनुकर्ता का भाव ही समाप्त हो जाता है। यदि यह माना जाय कि नट अपनी शिक्षा के कारण अपने विभावों के स्मरण द्वारा चित्तवृत्ति के साधारणीभाव को कारण हृदय की एकरूपता से केवल तदुचित अनुभावों को प्रकाशित करता हुआ तथा काव्य को उचित कण्ठध्वनि से उच्चरित करता हुआ तदनुरूप चेष्टा करता है तो केवल इतने अंश में होने वाली उसकी प्रतीति अनुकरण का बोध नहीं करा सकती। बात यह है कि जैसे कांता के वेश का अनुकरण होता है, वैसे राम की चेष्टाओं का अनुकरण नहीं हो सकता, अतः नट के अभिप्राय से स्थायिभाव के अनुकरण को रस मानना समुचित नहीं है।

(इ) वस्तु-विवेचकों तथा भरतमुनि ने भी स्थायिभावों की अनुकरणात्मकता खंडित की है

अभिनवगुप्त ने व्याख्याकार के अभिप्राय से भी शंकुक के रसानुकरणवाद का खंडन किया है और बतलाया है कि वस्तुस्थिति के विवेचक व्याख्याताओं के अनुसार स्थायिभावों का अनुकरण नहीं हो सकता। उन्होंने बतलाया है कि भरतमुनि का ऐसा कोई वचन नहीं मिलता जिससे यह सिद्ध हो कि 'स्थायिभाव का अनुकरण ही रस होता है।' वस्तुतः भरतमुनि द्वारा प्रतिपादित ऐसा कोई 'अनुमापक-लिंग' भी नहीं है जिससे यह अनुमान किया जा सके कि वे स्थायिभाव के अनुकरण को ही रस मानते थे। अभिनवगुप्त की तो यहाँ तक मान्यता है कि स्थायिभाव का अनुकरण मानने पर भी उसके लिए रस-संज्ञक द्वितीय नाम का प्रयोग उचित नहीं है, क्योंकि जिस प्रकार कांता के वेश और गति आदि के अनुकरण में नामांतर का प्रयोग नहीं होता उसी प्रकार स्थायिभाव के लिए भी रससंज्ञक अभिधा का कोई अवसर नहीं है। यदि यह कहा जाय कि जिस प्रकार किसी चित्र में हरिताल आदि रंगों के संयोजन से गौ इत्यादि की अभिव्यक्ति होती है, उसी प्रकार विभावादि के संयोग से रस की उत्पत्ति होती है तो भी यह उचित नहीं है क्योंकि सिन्दूर आदि रंगों से वास्तविक गाय की अभिव्यक्ति नहीं होती, अपितु गाय के अवयवों के सन्निवेश के सदृश सन्निवेश-विशेष में स्थित होकर यह आकृति 'गाय के सदृश है' इस प्रकार की विषय-प्रतीति होती है। विभावादि समूह 'रति के सदृश हैं' इस ज्ञान से गृहीत नहीं होते, अतः यह कहना असंगत है कि रत्यादि स्थायिभावों का अनुकरण रस है।

शंकुकेतर अन्य मत भी अपूर्ण और विसंगत है

आचार्य अभिनवगुप्त ने लोल्लट और शंकुक की रस-विषयक प्रतिपत्तियों के अतिरिक्त रस के स्वरूप से सम्बन्धित अन्य मतों का भी उल्लेख किया है। उन मतों में आचार्य शंकुक की विचारधारा से साम्य रखने वाला एक मत यह है कि जिस प्रकार भित्ति पर हरताल इत्यादि से निर्मित चित्र अश्वादि का अवभास कराता है, उसी प्रकार अभिनय इत्यादि उपकरणों के संयोग से उत्पन्न हुआ स्थायी भाव अनुकर्ता में भी अवभासित होता है। इस प्रकार के अवभास की प्रतीति लोकातीतस्वादपरक होती है जिसे रस कहते हैं। चूंकि यह आस्वादन मुख्यतः नाट्य द्वारा होता है अतः उसे नाट्यरस कहा जाता है। रस-विषयक एक अन्य मत यह है कि जब सामाजिकों के प्रति विभाव और अनुभाव नाट्य की विशिष्ट सामग्री के द्वारा समर्पित किये जाते हैं तो वे विभाव आदि स्थायी चित्तवृत्ति का विभावन और अनुभावन करते हैं तथा उस चित्तवृत्ति की उपयुक्त वासना से अनुषक्त होकर सहृदय के मन में अपनी निर्वृति-स्वरूप विशिष्ट प्रकार की एक ऐसी चर्वणा निष्पन्न कर देते हैं जिसे रस कहा जाता है। वस्तुतः इस मत के अनुसार नाट्य अथवा अभिनय ही रस हैं। रस के स्वरूप के विषय में और भी अनेक मत हैं जिनमें शुद्ध विभाव, शुद्ध अनुभाव, स्थायी भाव मात्र, व्यभिचारी भाव तथा इनके संयोग को पृथक्-पृथक् रूप से 'रस' की अभिधा प्रदान की गई है। कुछ विद्वान् अनुकार्य

को ही रस कहते हैं तो कुछ लोग समस्त समुदाय को रस मानते हैं। इस प्रकार रस तथा उसकी निष्पत्ति के विषय में अनेकानेक मत-मतांतर हैं जिनका सम्यक् बोध करने के उपरांत ही आचार्य अभिनवगुप्त ने अपना मंतव्य निरूपित किया है।

भट्ट नायक

सहृदय सामाजिक की चित्तवृत्ति ही रस-निष्पत्ति का प्रधान स्थल है

भट्टनायक ने काव्यास्वाद के आनन्द या रस की स्थिति का विवेचन अपने पूर्ववर्ती आचार्यों से भिन्न दृष्टिकोण रखते हुए किया है। उनका कथन है कि काव्य-रस का आश्रय न तो अनुकार्य ही माना जा सकता है और न सामाजिक की एकमात्र व्यष्टि-परक चेतना ही। हम अपने नित्य-प्रति के जीवन में इस बात का अनुभव करते हैं कि काव्यास्वादन के द्वारा सहृदय जनों का मन जितना अधिक रस-विगलित होता है उतना संभवतः किसी अन्य का नहीं। रस-दशा की सहजानुभूति में हमारा संबंध अनुकार्यों अथवा काव्य-वर्णित मूल पात्रों से रहता अवश्य है, किंतु उन्हें केवल साधन या माध्यम के रूप में ही स्वीकार किया जा सकता है। यदि काव्य-रस की प्रतीति परगत या अनुकार्य में मानी जाय तो उसमें ताटस्थ्य दोष आ जायगा, क्योंकि यह एक बड़ी असंगत बात होगी कि काव्यानंद का अधिष्ठान तो होता है अनुकार्य का हृदय और रस प्राप्त होता है सामाजिक को। जिस विषय का हमारे अतःकरण की वृत्तियों से कोई संबंध नहीं होता, वह हमें किसी भी प्रकार से सुख नहीं पहुँचा सकता। वस्तुतः रस-निष्पति के लिए सामाजिक या भावक की चित्तवृत्ति का ही प्राधान्य स्वीकार्य है, क्योंकि क्रियात्मक रूप से वही रसानुभव करता है।

रस का ऐकांतिक स्वगत-रूप भी पूर्ण ग्राह्य नहीं है

भट्ट नायक ने रस के परगत रूप में ताटस्थ्य दोष का निरूपण करने के साथ-साथ उसके स्वगत रूप का भी ऐकांतिक समर्थन नहीं किया है। उनके मतानुसार यह भी नहीं कहा जा सकता कि राम इत्यादि के चरितमय काव्य से रस स्वगत के रूप में प्रतीत होता है। स्वगत-रूप में रस की प्रतीति मानने पर यह स्वीकार करना पड़ेगा कि सामाजिक का अन्तःकरण ही रस का अधिष्ठान है और उसी में रस की उत्पत्ति होती है। यह मान्यता सामाजिक को आश्रय मानने पर ही प्रतिफलित हो सकती है, किंतु इसकी नैतिकता के मार्ग में अनेक प्रकार के व्यवधान भी हैं। सीता जैसी पूजनीया नारी के प्रति सामाजिकों के मन में रति की उत्पत्ति मानना सर्वथा अनुचित है, क्योंकि वह सामाजिकों के प्रति कदापि विभाव नहीं हो सकती। यदि यह कहा जाय कि रस की स्वगत-प्रतीति मानने की प्रक्रिया में सीता के व्यक्तित्व का विशिष्ट अंश तिरोहित हो जाता है और उसके स्थान पर उसमें सामान्य कांतारूप रह जाता है जो सामाजिकों की वासना के विकास में हेतु—अर्थात् विभावरूपता का प्रयोजक होता है तो भी यह धारणा समुचित नहीं है। इसका कारण यह है कि साधारण श्रेणी की नारियों में भले ही

कांतात्व का सामान्य रूप स्वीकार कर लिया जाय, किंतु देवता तथा आराध्य जनों के वर्णन में यह संभव नहीं हो सकता। यह भी नहीं कहा जा सकता कि काव्यास्वादन की प्रक्रिया में सामाजिक की चित्तवृत्ति अपनी कांता का स्मरण कर सामान्य संवेदना की अनुभूति करने लगती है। थोड़ी देर के लिए यह मान भी लिया जाय कि अपनी कांता का स्मरण आस्वादयिता की मनःस्थिति को रसानुभूति के अनुकूल बना देता है, किंतु यह एक सर्वमान्य सत्य नहीं कहा जा सकता। इसका कारण यह है कि काव्य-वर्णित राम आदि के समुद्रसेतुबंध आदि जो अलोकसामान्य आचरण हैं वे अपनी विभावमयता में किस प्रकार साधारणता को प्राप्त हो सकते हैं? यदि यह कहा जाय कि रसास्वादन की वेला में सामाजिक या पाठक उन असाधारण कार्यों का स्मरण करते हुए उसी प्रकार आनंदाभिभूत हो जाते हैं जिस प्रकार अपनी कांता का स्मरण काव्य-रसिकों की चित्तवृत्ति में रसोद्बोध कराने का कारण हो जाता है तो भी यह निर्णय असंगत है क्योंकि कांता का प्राप्त साहचर्य तो उसके स्मरण की अनुभूति करा भी सकता है, किंतु रामादि के जिन असाधारण चरितों का हमें पहले कभी अनुभव ही नहीं हुआ है वे भला हमारी स्मृति के विषय किस प्रकार बन सकते हैं? यदि यह माना जाय कि शब्दादि के द्वारा रामादि के उत्साहजनक कार्यों की प्रतिपत्ति हो जाती है तो भी यह कथन समुचित नहीं है, क्योंकि प्रत्यक्ष रूप में नायक-मिथुन की प्रतिपत्ति में रसोपजनन नहीं हो सकता। सामाजिक के अन्तःकरण में स्वगत-रूप में रस की उत्पत्ति मानने का एक परिणाम यह होगा कि करुणादि भाव हमारे सांसारिक दुःखों के आधार बन जायेंगे जिससे हमारे मानस में करुण-काव्यों के प्रति किसी भी प्रकार की कोई कामना या निष्ठा नहीं रहेगी। भला ऐसा कौन व्यक्ति होगा जो काव्यास्वादन द्वारा लौकिक अभावों और वेदनाओं की उपलब्धि करने के लिए लालायित होगा? ऐसी स्थिति में रस का ऐकांतिक स्वगत-रूप और उत्पत्ति-विषयक दृष्टिकोण भ्रांत सिद्ध होता है।

रस की न तो प्रतीति होती है और न उत्पत्ति तथा अभिव्यक्ति ही

भट्टनायक ने जिस प्रकार स्वगत-रूप के माध्यम से रस के उत्पत्ति-विषयक सिद्धांत का खण्डन किया है उसी प्रकार रस के अभिव्यक्ति-विषयक दृष्टिकोण को भी दोषपूर्ण बतलाया है। उनका कथन है कि अभिव्यक्ति तो केवल उसी विषयवस्तु की हो सकती है जो पहले से ही विद्यमान हो तथा प्रकाश आदि के द्वारा उसी प्रकार प्रकट कर दी जाय जिस प्रकार अंधकार में निक्षिप्त घटादि को दीपक का आलोक प्रकाशित कर देता है। रस की अभिव्यक्ति मानने का सामान्य आशय तो यही लिया जा सकता है कि सामाजिक के चित्त में रस का अस्तित्व पूर्व रूप में ही विद्यमान रहता है जो काव्यादि के अनुशीलन से अभिव्यक्त कर दिया जाता है। भट्टनायक के मत से यह धारणा दोषग्रस्त है, क्योंकि शक्तिरूप (सूक्ष्म वासना-रूप) शृंगार की अभिव्यक्ति में विषयार्जन के तारतम्य की प्रतीति अथवा प्रवृत्ति माननी पड़ेगी जिसका अभिप्राय यह होगा कि जिस प्रकार घट-दर्शन में दीपालोक की मंदता या तीव्रता उसकी अभिव्यक्ति की मंदता और तीव्रता का कारण बनती है उसी प्रकार सामाजिकों की वासना की न्यूनाधिकता में ही

रसाभिव्यक्ति का स्वरूप सन्निहित रहता है। इसका अभिप्राय यह भी है कि जिस प्रकार घट के अधिकाधिक प्रकाशनार्थ आलोक की मात्रा का अधिकाधिक प्रसार वांछनीय है, उसी प्रकार काव्यरसास्वादन की मात्रा को संवर्धित करने के लिए सामाजिकों की विषय-सेवना भी अधिकाधिक प्रयोजनीय है। ऐसा मानने पर काव्य के आदर्श-पथ में अनेक प्रकार की पंकिल प्रवृत्तियों के व्यवधान उपस्थित हो सकते हैं जिनसे उसके पुनीत प्रयोजन की सिद्धि सम्भव नहीं है। इस प्रकार की धारणा से हमारी उस शंका का भी समाधान नहीं हो सकता जो रस की परगत और स्वगतरूपता के निर्णय से सम्बद्ध है तथा जिसको दृष्टिपथ में रखकर आचार्यों ने तर्कपूर्ण वाग्विस्तार किया है। भट्टनायक के अभिमत का मूल मंतव्य यह है कि काव्य से न तो रस प्रतीत होता है, न उत्पन्न होता है और न अभिव्यक्त ही होता है। उनकी मान्यताओं का निष्कर्ष निम्नलिखित है—

(१) 'भट्टनायकस्त्वाह-रसो न प्रतीयते। नोत्पद्यते। नाभिव्यज्यते। स्वगतत्वेन हि प्रतीतो करुणे दुःखित्वं स्यात्। न च सा प्रतीतिर्युक्ता। सीतादेरविभावत्वात् स्वकांता-स्मृत्यसंवेदनात्। देवतादौ साधारणीकरणयोग्यत्वात्। समुद्रलंघनादेरसाधारण्यात्। न च तद्वतो रामस्य स्मृति अनुपलब्धत्वात्। न च शब्दानुमानादिभ्यः तत्प्रतीतौ लोकस्य सरसता प्रयुक्ता (सताऽपि युक्ता) प्रत्यक्षादिव। नायकयुगलकावभासे हि प्रत्युत लज्जाजुगुप्सास्पृहादिस्वोचितचित्तवृत्यन्तरोदय व्यग्रतयाकाश (यानेक) रसत्वमथापि स्यात्। तन्न प्रतीतिरनुभवस्मृत्यादि रूपा रसस्ययुक्ता।'[1]

भट्टनायक ने तो यह कहा है—रस न तो प्रतीत होता है, न उत्पन्न होता है, न उसकी व्यंजना ही होती है। 'स्वगत रूप से प्रतीति होती है,' ऐसा मान लेने पर करुण रस में (सामाजिक को) दुःख की प्रतीति होनी चाहिए। यह प्रतीति संगत नहीं है। सीता आदि के विभाव रूप में प्रतीति न हो सकने से, अपनी पत्नी आदि की नाट्य प्रसंग में स्मृति न रहने से, देवता आदि के साधारणीकरण के अयोग्य होने से और समुद्र-लंघन आदि कार्यों के असाधारण होने से प्रेक्षक के लिए स्वगत-रूप में रस की प्रतीति करना संभव नहीं है और न उससे (विभाव आदि से) युक्त राम की स्मृति होती है, क्योंकि पहले वे उपलब्ध नहीं हैं। शब्द और अनुमान प्रमाणों से उस (राम) की प्रतीति मानने पर प्रत्यक्ष ज्ञान के समान सरसता नहीं हो सकती। (प्रत्यक्ष) नायक-नायिकाओं के अनुभव से रस भी लज्जा, जुगुप्सा तथा स्पृहा आदि दूसरे प्रकार की चित्तवृत्तियों का रूप होगा। एकाग्रता के अभाव में आकाश-रस (आकाशपुष्प के समान) रूपी रस-प्रतीति का अभाव होगा। अतः अनुभव, स्मृति (प्रत्यक्ष तथा परोक्ष) आदि रूपों में रस की प्रतीति मानना उचित नहीं है।

(२) 'उत्पत्तावपि तुल्यमेतद्दूषणम्। शक्तिरूपत्वेन पूर्व स्थितस्य पश्चाद-भिव्यक्तौ विषयार्जन तारतम्यापत्तिः। स्वगतत्वपरगतत्वादि च पूर्ववत् विकल्प्यम्।'[2]

रस की उत्पत्ति मानने में ये समस्त दोष समान हैं। शक्ति रूप में पूर्वस्थित रस

---

१. अभिनवभारती, पृ० २८९।

२. वही, पृ० २९०।

की अभिव्यक्ति मानने पर विषयों की प्राप्ति के साथ तारतम्य (न्यूनाधिक्य) सम्बन्धी आपत्ति होगी। फिर पहले के समान विचारणीय प्रश्न है कि यह अभिव्यक्ति स्वगत है अथवा परगत।

(३) 'तस्मात्काव्ये दोषाभावगुणालंकारमयत्वलक्षणेन नाट्ये चतुर्विधाभिनयरूपेण निबिडनिजमोहसंकटकारिणा विभावादिसाधारणीकरणात्मनाऽभिधातो द्वितीयेनांशेने भावकत्व व्यापारेण भाव्यमानो रसोऽनुभवस्मृत्यादि विलक्षणेन रजस्तमोऽनुवेधवैचित्र्य बलाद्द्रुतिविस्तारविकास लक्षणेन परब्रह्मास्वादसविधेन भोगेन परं भुज्यत इति।'[1]

अतः काव्य के दोषाभाव, गुण तथा अलंकार रूप और नाटक में चार प्रकार के अभिनय रूप अपने निबिड़ निजत्व मोह तथा संकट का निवारण करने वाले एवं विभावादि के साधारणीकरण रूप अभिधा शक्ति से तथा पुनः (दूसरे अंश पर) भावकत्व के द्वारा भाव मान 'रस', अनुभव तथा स्मृति आदि से भिन्न विलक्षण रजोगुण तथा तमोगुण के अनुवेध (मिश्रण) के वैचित्र्य बल से वृद्धि, विकास तथा विस्तार स्वरूप सत्व गुण के प्राधान्य से प्रकाशमान आनंदमय साक्षात्कार में संकल्प-विकल्प से भिन्न (विलक्षण) परब्रह्म के आस्वाद के सदृश भोजकत्व व्यापार के द्वारा अनुभव किया जाता है।

वस्तुतः भट्टनायक ध्वनि-सिद्धांत के विरोधी आचार्य हैं। कहते हैं कि उन्होंने ध्वनि-सिद्धांत का खंडन करने के प्रयोजन से 'हृदय-दर्पण' नामक ग्रंथ लिखा था जिसे 'ध्वनि-ध्वंस' के नाम से भी अभिहित किया जाता है। वह ग्रंथ अभी तक उपलब्ध नहीं हुआ है, अन्यथा उसके द्वारा भट्टनायक की मान्यताओं का उद्घाटन अधिक व्यापक रूप से हो सकता था। अभिनवगुप्त ने उक्त ग्रंथ से जो कारिकाएँ उद्धृत की हैं उनसे अनुमान होता है कि उन्हें उस ग्रंथ का पता था। उन कारिकाओं[2] में बतलाया गया है कि अभिधा, भावना तथा उसका भोगीकरण अर्थात् भोजकत्व नामक तीन शब्द-व्यापार हैं जिनमें से अभिधा-व्यापार द्वारा वाच्यार्थ की उपलब्धि होती है तथा भावना-व्यापार द्वारा साधारणीकरण की। तीसरा व्यापार भोगीकरण या भोजकत्व है जिसका अनुभव सिद्धियुक्त सहृदय व्यक्ति ही विशेष रूप से कर पाते हैं। अभिनवगुप्त ने अभिधा-व्यतिरिक्त दोनों शब्द-व्यापारों की सत्ता में संदेह किया है। उन्होंने लिखा है कि 'काव्येद भावयंते रसाः' का अर्थ यदि यह है कि काव्य से रसों की भावना की जाती है और भावना शब्द का अर्थ है 'विभावादि से उत्पन्न चर्वणात्मक आस्वाद-रूप ज्ञान को विषय बनाना' तो हमें उस कथन से कोई आपत्ति नहीं, किंतु उससे भट्टनायक के भावकत्व-व्यापार की तो सिद्धि नहीं हो पाती। उन्होंने बतलाया है कि काव्य के प्रयोजन में जिस 'संवेदन' पद का प्रयोग किया जाता है वह भावकत्व तथा भोजकत्व व्यापारों द्वारा अर्थ की अभिव्यक्ति का बोधक नहीं, अपितु व्यज्यमान रूप से व्यंग्य अर्थात् अनुभवकाल में

---

१. अभिनवभारती, पृ० २९१।

२. अभिधाभावनाचान्या तद्भोगीकरणमेव च।
अभिधाधामतां याते शब्दार्थालंकृती ततः॥
भावनाभाव्य एषोऽपि श्रृंगारादिगणो हि यत्।
तद्भोगीकृतरूपेण व्याप्यते सिद्धिमन्नरैः॥

प्रतीत होने वाले रस का बोधक है।[1] इस प्रकार अभिनवगुप्त ने भट्टनायक के सिद्धांत के मूलभूत अंश की यथार्थता पर प्रश्नवाचक चिह्न लगा है।

काव्यात्मभूत शब्दों का व्यापारत्रय रसनिष्पत्ति का क्रमिक हेतु है

भट्टनायक ने काव्य-रस के आस्वादन की प्रक्रिया का आधार तत्त्व काव्यात्मक शब्दों को माना है जिनकी व्यंजकता की कृपा से उनमें वैलक्षण्य आता है। काव्य की रस-चर्वणा में शब्दों के वे तीन अंशभूत व्यापार—अभिधायकत्व, भावकत्व और भोजकत्व—एक ऐसा वैलक्षण्य ला देते हैं जो काव्यातिरिक्त शब्दों में नहीं होता तथा जिनके बिना रस-निष्पत्ति की प्रक्रिया पूर्णता को प्राप्त नहीं हो सकती। भट्टनायक के अनुसार शब्दों का अभिधायक-व्यापार वाच्य-विषयक होता है तो भावकत्व-व्यापार रस-विषयक। उन्होंने भोजकत्व व्यापार को सहृदय-विषयक माना है। व्यावहारिक सुविधा की दृष्टि से इन शब्द-व्यापारों को अलग-अलग माना गया है, किंतु इनके मूल में एक ऐसा तात्त्विक सूत्र अनुस्यूत है कि वे एक-दूसरे से पृथक् नहीं किये जा सकते। काव्य-रस की चरम परिणति इनके सम्यक् संयोजन में ही होती है। यदि शुद्ध रूप में अभिधा-व्यापार को ही काव्य का प्रयोजनीय स्वीकार करते हुए उसे इतर व्यापारानालिंगी समझा जाय तो भावकत्व और भोजकत्व नामक वृत्तियों के अभाववश तंत्रादि शास्त्र-न्यायों से श्लेषादि काव्यालंकारों का कोई विभेद न रहेगा और अन्य शास्त्रों की अपेक्षा काव्य के शब्दों में किसी भी प्रकार की विलक्षणता नहीं मानी जा सकेगी। इसका एक परिणाम यह भी होगा कि केवल अभिधावृत्ति की स्वीकृति से शब्द का वाच्यार्थ मात्र ग्रहण किया जायगा और स्वसामर्थ्य से रसास्वादन में कारणभूत उपनागरिका आदि वृत्तियों की कोई उपयोगिता न रहने के कारण उनकी कल्पना भी व्यर्थ हो जायगी। साथ ही साथ श्रुतिदुष्ट आदि काव्य-दोषों के वर्जन की भी कोई आवश्यकता नहीं रहेगी, क्योंकि अभिधा-वृत्ति का कार्य तो केवल वाच्यार्थ-बोध मात्र होगा। भट्टनायक ने इस प्रकार अभिधा-व्यापार की सीमा और शक्ति का निर्धारण कर काव्य-शब्दों की विलक्षणता के प्रतिपादन-हेतु रसभावना संज्ञक दूसरा शब्द-व्यापार प्रतिष्ठित किया है जिसके कारण काव्यगत अभिधेयार्थ में लोकोत्तर वैचक्षण्य आ जाता है। भावकत्व-व्यापार का ही यह प्रभाव है कि काव्य-वर्णित विभावादि का साधारणीकरण कर दिया जाता है जिसके फलस्वरूप उनमें इस विषय की क्षमता आ जाती है कि वे सामाजिकों के रसास्वादन के प्रयोजक बन सकें। रस के इस प्रकार भावित हो जाने पर उसका भोग या आस्वादन किया जाता है जो स्मरण और अनुभव नामक लौकिक प्रतिपत्तियों से विलक्षण और विचित्र प्रकार का होता है। काव्यास्वाद की उस

---

१. संवेदनाख्यया व्यंग्यस्परसंवित्तिगोचरः।
आस्वादनात्मानुभवो रसः काव्यार्थ उच्यते॥
(उपर्युक्त तीनों कारिकाएँ अभिनवगुप्त द्वारा अभिनवभारती (षष्ठोऽध्याय) की कारिका संख्या ३१ की विवेचना के संदर्भ में उद्धृत की गई हैं जिसका विषय रसनिष्पत्ति की प्रक्रिया का विश्लेषण है।)

वेला में सामाजिक की चित्तवृत्तियाँ कभी द्रवित और विस्तृत हो जाती हैं तो कभी उनका विकास होता है। उस आनंद को ब्रह्मानंदसविध अथवा मधुमती भूमिका में प्राप्त योगानंद से उपमित किया जा सकता है। चित्त की भोजकत्व वृत्ति के प्रभाववश काव्य-रसिक सहृदय एक प्रकार की आत्म-व्यापकता का अनुभव करने लगते हैं जिसमें 'अयं निजः परो वैति' जैसी संकुचित वृत्तियों के लिए कोई अवकाश नहीं होता तथा सामाजिकों का चित्त रजस् और तमस् के वैचित्र्य से अनुबिद्ध सत्व की अनुभूति करने में समर्थ हो जाता है। वह अनुभूति चित्स्वभावरूप, लोकोत्तर आनंदमय और विश्रांति-लक्षण-रूप होती है जिसमें संसार के अन्य समस्त संवेदनीय पदार्थ तिरोहित हो जाते हैं और हमारा चित्त विशुद्ध रस-चैतन्य से परिव्याप्त हो जाता है। भट्टनायक के शब्दों में हमारी चित्तवृत्तियाँ सिद्ध होती हैं अतः रस भी सिद्ध ही कहा जाता है। वस्तुतः रस का सिद्ध स्वरूप ही प्रधान है और रसास्वादन के लिए सामाजिक जिस प्रक्रिया का आधार लेते हैं उसकी सत्ता अप्रधान अथवा गौण ही समझी जानी चाहिए।

भट्टनायक की उपपत्ति का विसंगत दृष्टिकोण

भट्टनायक ने जिस दृष्टिकोण से रस-निष्पत्ति की विवेचना की है वह अनेक स्थलों पर भ्रांतिग्रस्त और दोषपूर्ण है। उनकी मान्यता का सर्वप्रथम दोष तो यह है कि उन्होंने अभिधा के अतिरिक्त भावकत्व तथा भोजकत्व नामक दो व्यापार माने हैं जो न तो किसी आचार्य द्वारा प्रतिपादित हैं और न किसी संपुष्ट प्रमाण से ही समर्थित हैं। उनका यह कथन भी बड़ा विचित्र है कि रस की न तो प्रतीति होती है, न उत्पत्ति तथा न अभिव्यक्ति ही। संसार में कदाचित् ही कोई ऐसा पदार्थ हो जिसमें उत्पत्ति, प्रतीति या अभिव्यक्ति का सिद्धांत घटित नहीं होता हो। सच तो यह है कि इनके अभाव में किसी भी वस्तु की सत्ता में विश्वास ही नहीं किया जा सकता। अभिनवगुप्त ने भट्टनायक की उक्त मान्यताओं का खंडन अनेक युक्तियों के आधार पर किया है। उनका सर्वप्रथम तर्क तो यह है कि इस संसार में विषय की प्रतीति से भिन्न भोग का कोई विषय ही नहीं हो सकता। भट्टनायक के अनुसार जब रस की प्रतीति ही नहीं होती तो फिर उसका भोग कैसे किया जा सकता है? वस्तुतः 'रसना' अथवा 'आस्वादन' ही 'भोग' पद का अभिप्रेत है जिसका आशय यह है कि वह एक प्रकार से प्रतीति-रूप ही होता है। जिस प्रकार भिन्न-भिन्न साधनों या प्रमाणों द्वारा उत्पन्न होने के कारण एक ही ज्ञान को प्रत्यक्ष, अनुमित, शाब्दबोध तथा उपमित आदि नामों से अभिहित किया जाता है उसी प्रकार 'आस्वादन', 'भोग', 'रसना' और 'प्रतीति' आदि शब्द उपाय-वैलक्षण्य के कारण नामांतर को प्राप्त होते हैं। रस की उत्पत्ति तथा अभिव्यक्ति न मानने पर हमें विवशतापूर्वक या तो उसे नित्यरूप स्वीकार करना पड़ेगा या उसे असत् रूप कहना होगा। प्रतीति के अभाव में तो कोई भी वस्तु व्यवहार के योग्य मानी ही नहीं जा सकती। यदि भट्टनायक की ओर से यह कहा जाय कि इसकी प्रतीति उसका भोगीकरण ही है और वह भोगीकरण रत्यादि स्वरूप है तो भी ठीक नहीं है, क्योंकि ऐसा मानने पर यह भी स्वीकार करना पड़ेगा कि श्रृंगार, करुण और वीर आदि जितने भी रस हैं

उतने ही प्रकार की भोगीकरण-रूप आस्वादन-प्रतीतियाँ भी हैं। यदि उन प्रतीतियों के सत्वादि गुणों के अंगांगिभाव से भेदोपभेद किये जायँ तो उनके कार्य-व्यापारों की संख्या अनंत हो सकती है। उस स्थिति में यह प्रश्न सहज रूप से समुपस्थित हो जायगा कि भट्टनायक ने अभिधा, भावकत्व तथा भोजकत्व नामक जो तीन व्यापार अथवा अर्थ-प्रतीतियाँ मानी हैं वे किस सीमा में ग्राह्य की जा सकेंगी? अभिप्राय यह है कि काव्यास्वादन की रस-प्रक्रिया में निरूपित शब्द के व्यापारत्रय का शास्त्रसम्मत खंडन करते हुए अभिनवगुप्त ने भट्टनायक की उपपत्ति को विसंगत और दोषपूर्ण सिद्ध किया है जो रस-निष्पत्ति की प्रक्रिया के विकासक्रम को स्पष्ट करने में मुख्य आधार-बिंदु है।

रस-प्रतीति का आधार हमारी मौलिक और जन्म-जन्मांतर के संस्कारों से संवलित वासनाएं हैं

अभिनवगुप्त ने रस और प्रतीति में तादात्म्य-संबंध स्थापित करते हुए भट्ट नायक की रस-प्रतीति विषय मान्यता का खंडन अतिरिक्त तर्कों के बल पर भी किया है। भट्ट नायक का यह कथन कि 'राम इत्यादि का चरित्र सबका हृदय-संवादी नहीं हो सकता' उनकी दृष्टि में युक्तिसंगत नहीं है। उन्होंने हमारे चित्त को 'विचित्र वासनाओं से 'विशिष्ट' कहकर योग-दर्शन के दो सूत्रों[1] के आधार पर यह सिद्ध करना चाहा है कि 'हमारी वासनाओं का अनादित्व होता है क्योंकि आकांक्षाएँ नित्य होती हैं।' उन्होंने बतलाया है कि 'जाति, देश और काल के व्यवहितों का भी आनन्तर्य होता है, क्योंकि स्मृति और संस्कार एक रूप होते हैं।' उनके कथन का आशय यह है कि जन्म-मरण के प्रवाह में पड़कर जीव अनेक प्रकार की योनियों में भटकते रहते हैं जिनमें योनि-विशेष की प्रवृत्तियों के अतिरिक्त पूर्वजन्म के संस्कार बने रहते हैं। यद्यपि योनियों के व्यवधान के कारण पूर्वजन्म की स्मृतियाँ तो नष्ट-सी हो जाती हैं किंतु संस्कार का नाश नहीं होता। संभव है, किसी जीवन ने किसी योनि-विशेष में विशिष्ट प्रकार के अनुभव प्राप्त किये हों और कर्मगति से उसे पुन: वही पूर्ववर्ती योनि मिल जाय तो वे पूर्वभुक्त वासनाएँ पुनः प्रादुर्भूत हो सकती हैं। यद्यपि दोनों शरीरों में देश, जाति और काल का व्यवधान रहता है तथापि स्मृति और संस्कारों की एकरूपता के कारण उनका नैरंतर्य बना रहता है। स्मृति और संस्कारों में एक प्रकार का क्रमागत परम्परासम्बन्ध होता है और सभी प्राणियों की यही कामना रहती है कि उन्हें सुख-साधनों की अधिकाधिक प्राप्ति हो। जिस प्रकार हमारे संकल्प शाश्वत होते हैं, उसी प्रकार उनकी परिणामस्वरूप-वासनाएँ भी नित्य और अनादि होती हैं। इससे स्पष्ट है कि हम चाहे काव्य का पठन-पाठन करें या उसका अभिनय देखें, अपनी सहज संवेद्य वासनाओं के कारण हमें उनमें रस की प्रतीति ही होती है। इस प्रतीति को आनन्दमूलक आस्वादन कहा जा सकता है जिसके लिए केवल अभिधाव्यापार से काम नहीं चलता। अभिनवगुप्त ने बतलाया है कि

---

१. तासामनादित्वं आशिषो नित्यत्वात्।
जातिकाल व्यवहितानामप्यानन्तर्यम् स्मृतिसंस्कारयोरेक रूपत्वात्।

भट्टनायक ने रामादि के चरित्र में सर्वजन-सुलभ हृदयसंवादिता का जो निषेध किया है वह केवल इसलिए कि उन्हें जीवात्मा की आनंदमूलक मौलिक प्रवृत्ति या संस्कारों का ध्यान न था। कहने के लिए यह भले ही मान लिया जाय कि समुद्रलंघन आदि लोकोत्तर चरित्रों से हमारा हृदयसंवाद नहीं होता, किंतु क्या हमारे अंतःकरण में इस प्रकार के कार्य सम्पादित करने के संस्कार भी जाग्रत नहीं होते ? सच तो यह है कि जिन कार्यों को महान् और असम्भव समझकर हम उन्हें नहीं कर पाते उनके स्वप्न तो देखा ही करते हैं। ऐसी स्थिति में लोकोत्तर कार्यों द्वारा रस-प्रतीति मानने में हमें किसी प्रकार की शंका नहीं होनी चाहिए, क्योंकि चित्त की विचित्र प्रकार की वासनाओं का विश्लेषण करना अत्यंत रहस्यपूर्ण है। अभिप्राय यह है कि अभिनवगुप्त के अनुसार आचार्य भट्ट-नायक का दृष्टिकोण एकांगी तथा सीमित है।

अभिनवगुप्त ने रस-प्रतीति का आधार हमारी मौलिक और जन्म-जमांतर के संस्कारों से संवलित वासनाओं को माना है। उनका सुदृढ़ विश्वास है कि रसास्वादन-प्रतीति का एकमात्र आधार व्यंजना-रूप ध्वनन-व्यापार है। वे भट्टनायक की भाँति भावकत्व और भोजकत्व वृत्तियों की कोई आवश्यकता नहीं समझते। उनके अनुसार काव्य का भोगीकरण-व्यापार काव्य की रसविषयक ध्वन्यात्मकता ही है। उन्होंने भावकत्व-वृत्ति का परिग्रहण विभिन्न रसों के लिए उपयुक्त गुणों और अलंकारों में कर लिया है। इस प्रकार वे रस-प्रतीति के लिए अभिधा-व्यतिरिक्त व्यंजना-व्यापार से ही काम चला लेते हैं। जो लोग यह मानते हैं कि 'काव्य रस के प्रति भावक होता है' उसका अर्थ उन्होंने यह बतलाया है कि काव्य रस को उत्पन्न करता है। उनका तो स्पष्ट अभिमत है कि काव्य न तो केवल शब्दों का ही भावकत्व होता है और न केवल अर्थों का ही, अपितु वह दोनों का ही भावकत्व होता है। वस्तुतः व्यंजना-व्यापार और गुणालंकार औचित्य के द्वारा काव्य-भावकत्व की उपलब्धि कर रसों को भावित करते हैं। अभिनवगुप्त के अनुसार काव्य-शब्द से भोग भी नहीं किया जाता प्रत्युत ध्वनन-व्यापार के अनंत क्षेत्र में उसका स्वभावतः अन्तर्भाव किया जा सकता है। उन्हें ध्वनन-व्यापार पर तो इतनी अधिक आस्था है कि वे उसे सभी दृष्टियों से 'मूर्धाभिषिक्त' मानते हैं। अपनी दार्शनिक प्रतिपत्तियों के द्वारा उन्होंने आत्मा में शाश्वत आनंद का तत्त्व माना है जो मायावेष्टित जीव की भाँति अज्ञानांधकार से आवृत होता है। माया का आवरण ही जीव में द्वैत-भावना या भेदबुद्धि उत्पन्न करता है जिसके कारण उसे अनेक प्रकार के दुःख सहन करने पड़ते हैं। अभिनवगुप्त ने बतलाया है कि ब्रह्मज्ञान द्वारा माया का आवरण विनष्ट हो जाने पर जिस प्रकार ज्ञानी जन 'अहं ब्रह्मास्मि' एवं 'सर्वम् खल्विदं ब्रह्म' की अनुभूति करता हुआ सब प्रकार की आधि-व्याधियों से विमुक्त होकर परमानंद का आस्वादन करता है, उसी प्रकार काव्यानुशीलन द्वारा भी सहृदय सामाजिक ब्रह्मानन्द-सहोदर सुखत्व की प्राप्ति करता है। अभिनवगुप्त ने सत्वोद्रेक के समय चित्त की द्रवणशीलता, विस्फारणवृत्ति और विकासावस्था को ध्यान में रखते हुए चित्तवृत्ति की तीन अवस्थाएँ (द्रुति, विस्तार तथा विकास) मानी हैं और उनका सम्बन्ध गुणों और रसों से जोड़ा है। चित्तद्रुति माधुर्य गुण की परिचायिका है और वह शृंगार, करुण तथा शांत रसों

के आस्वादन-काल में उत्पन्न होती है। चित्तवृत्ति का 'विस्तार' वीर, बीभत्स और रौद्र रसों का परिणाम है और वह ओज गुण का उत्पादक है। चित्तवृत्ति का 'विकास' उसकी प्रसन्नता का प्रतीक है और उसका क्षेत्र श्रृंगार तथा हास्य रस है। इन चित्तवृत्तियों के अतिरिक्त 'विक्षोभ' तथा 'विक्षेप' नामक दो अन्य चित्तवृत्तियाँ भी होती हैं जो क्रमशः क्रोध तथा शोक एवं घृणा तथा भय नामक मनोविकारों को जन्म देती हैं जिनसे क्रमशः रौद्र, करुण, बीभत्स और भयानक नामक रस निष्पन्न होते हैं। उनका तो यहाँ तक कहना है कि काव्यानुशीलन के समय ये चित्तवृत्तियाँ ही अलौकिक आस्वादन का ही स्वरूप बन जाती हैं जिसके लोकोत्तर भोगीकरण में ध्वनन-व्यापार का ही बल रहता है। वस्तुतः रस को ध्वनिवृत्तिगम्य मानने से उसका भोगकत्व स्वभावतः सिद्ध हो जाता है, क्योंकि काव्य के आस्वादन अथवा रसन से उत्पन्न होने वाले चमत्कार से भिन्न भोग का कुछ भी अस्तित्व नहीं है। उस आस्वाद के भेदोपभेदों की गणना भले ही द्रुति, विस्तार और विकास आदि चित्तवृत्तियों के रूप में कर ली जाय किंतु उनको परिसीमित करना सम्भव नहीं है, क्योंकि सत्वादि गुणों के अंगांगिभाव की विलक्षणता अनंत प्रकार की होती है।

भट्टनायक की भाँति अभिनवगुप्त रस की ब्रह्मानन्दसहोदरता तो स्वीकार करते हैं किंतु यह बात नहीं मानते कि रसास्वादन की प्रक्रिया सर्वथा अप्रधान होती है। उनका कहना है कि शास्त्र द्वारा शासन तथा इतिहास द्वारा प्रतिपादन करने में जिस प्रक्रिया का आश्रय लिया जाता है उससे रस-प्रक्रिया सर्वथा विलक्षण होती है। यों तो शास्त्र, इतिहास और काव्य इन तीनों ही से इस उपमान की प्रतीति होती है 'कि हमें राम आदि के समान आचरण करना चाहिए, रावण आदि के समान नहीं' तथापि काव्य में एक विचित्र प्रकार का वैशिष्ट्य होता है और वह यह कि उसके द्वारा सामाजिक की चेतना में रसास्वादन के संचार के साथ-साथ व्युत्पत्ति के रूप में उसकी प्रतिभा का भी प्रसार होता है। अतः यह स्पष्ट है कि वासनाओं का प्रतीतिगोचर होना ही रस का आस्वादन है अर्थात् रस की जो अभिव्यक्ति होती है उसका आस्वादन प्रतीति के रूप में ही किया जाता है।

अभिनवगुप्त

अभिनवगुप्त का रस-विमर्श काव्यास्वाद के विवेचन की चरम परिणति है

रस-निष्पत्ति अथवा काव्यास्वाद की प्रक्रिया का विवेचन करने वाले विद्वानों में आचार्य अभिनवगुप्त का स्थान मूर्धन्य कोटि का है। उन्होंने अपने पूर्ववर्ती आचार्य भट्ट लोल्लट, शंकुक, भट्टनायक तथा सांख्यानुयायी विचारकों की धारणाओं को अपूर्ण तथा असंगत सिद्ध करते हुए अपनी विवेचना की पृष्ठभूमि-सी प्रस्तुत कर ली है। उनकी समीक्षा का प्रयोजन रसत्व के यथार्थ स्वरूप का अनुसंधान करना है, अतः उन्हें अपने कार्यसम्पादन के मार्ग में जहाँ कहीं पर भी व्यवधान अथवा विसंगतियाँ प्रतीत हुई हैं उनका उन्होंने सतर्क खण्डन किया है। एक प्रकार से उनका विश्लेषण शोधन-प्रक्रिया

का प्रतीक है क्योंकि उसमें रस-तत्त्व की आम्नाय सिद्धि मानकर केवल उन्हीं शंकाओं का समाधान किया गया है जो रस-निष्पत्ति के मार्ग में सजग प्रश्न बनकर उपस्थित होती हैं। अभिनवगुप्त का कहना है कि वेद-प्रतिपादित रस-तत्त्व के विषय में किया गया विमर्श उसका अवरोधक नहीं अपितु हमारी बुद्धि के विकास का ही निदेशक है, क्योंकि उसके द्वारा हमें उसके प्रामाणिक वस्तु-स्वरूप का बोध होता है। वस्तुतः आचार्य अभिनवगुप्त विवेकसोपान की परम्परा से आरोहण करते हुए रस के साधक सिद्धान्तों का पर्यवेक्षण करते चले हैं जिनसे पता चलता है कि वे प्राचीन सिद्धान्तों के खण्डनकर्त्ता न होकर उनके संशोधनकर्त्ता थे। उनके विवेचन का मंतव्य निम्नलिखित छन्द में व्यक्त है—

तस्मात् सतामत्र न दूषितानि मतानि तान्येव तु शोधितानि।
पूर्वप्रतिष्ठापितयोजनासु मूल प्रतिष्ठाफलमामनन्ति॥

अर्थात् हमने प्राचीन सज्जन आचार्यों के मतों का पूर्व-आलोचना में दूषण अथवा खंडन नहीं किया है अपितु विशेष परीक्षा द्वारा उन्हीं मतों का संशोधन किया है। ऐसा करने का कारण यह है कि पूर्ववर्ती आचार्यों द्वारा स्थापित सिद्धांतों की सम्यक् रीति से संगति लगा देने में मौलिक सिद्धांतों की स्थापना के समान ही फल मिलता है।

रस-निष्पत्ति की दार्शनिक प्रपत्ति तथा साधारणीकरण की प्रक्रिया

अभिनवगुप्त ने काव्यास्वाद अथवा रस-चर्वणा के विषय को अपनी दार्शनिक प्रपत्ति से अनेक स्थलों पर स्पष्ट करने का प्रयास किया है जिससे प्रकट होता है कि वे उसे पराकोटि पर्यन्त अधिष्ठित कर विवेचित करना चाहते थे। उनके मतानुसार काव्य का आस्वाद साधारणीकरण की प्रक्रिया से निरूपित किया जाना चाहिए। काव्य के रसास्वादन की अपनी विलक्षण विशेषताएँ होती हैं। उसमें परम योगी के ज्ञान के समान केवल एक अपने में अर्थात् केवल किसी एक सामाजिक में रहने का नियम संभव न होने से विषयावेश की विवशता नहीं होती है। उसकी अनुभूति में तटस्थता और अस्पष्टता का भाव नहीं होता क्योंकि सामाजिक अथवा काव्यभावक 'स्वात्मानुप्रवेश' तथा 'परगतत्त्व-नियमाभाव' की प्रतिपत्ति करता है। रसनिष्पत्ति के विभाव आदि के साधारणीकरण के कारण सामाजिक की अपनी रत्यादि वासना के साधारणीकृत रूप में उद्‌बुद्ध हो जाने से परोक्षत्व आदि अन्य विघ्नों की सम्भावना नहीं रहती। यही कारण है कि विभाव आदि को रस की उत्पत्ति के कारण अथवा कारक-हेतु नहीं कहा जा सकता क्योंकि वैसा मानने पर उसके ज्ञान के समाप्त हो जाने पर भी रस की उत्पत्ति सम्भव हो सकती है। यदि विभाव आदि रस के कारक-हेतु होते तो उनके ज्ञान के बिना भी रस की उत्पत्ति उसी प्रकार होनी चाहिए जिस प्रकार बीज से अंकुर की उत्पत्ति होती है।

अभिनवगुप्त के अनुसार ललना आदि विभावों को रस के ज्ञापक-हेतु भी नहीं कहा जा सकता क्योंकि रस तो एक प्रकार की चर्वणा का नाम है जिसकी सत्ता न तो आस्वादन के पूर्वकाल में रहती है और न उसके उत्तरकाल में ही। यदि विभाव आदि रस के ज्ञापक-हेतु होते तो उनसे रस की प्रतीति उसी प्रकार होती जिस प्रकार अंधकार

में निक्षिप्त घट की अभिव्यक्ति दीपक के आलोक से होती है। काव्य-रस को 'कार्य' अथवा 'ज्ञाप्य' पदार्थों की श्रेणी में भी नहीं रखा जा सकता, क्योंकि कारक-हेतुओं से उत्पन्न पदार्थ 'कार्य' और प्रदीप आदि कारणों से अभिव्यक्त पदार्थ 'ज्ञाप्य' कहलाते हैं, जबकि काव्य-रस के विषय में इस प्रकार की पदार्थ-योजना चरितार्थ नहीं होती। ऐसी स्थिति में यही कहना उचित प्रतीत होता है कि किसी पूर्वसिद्ध घटादि के समान प्रमेय-भूत रूप में रस की कोई सत्ता नहीं है तथा उसकी चर्वणा में उपयोगी सिद्ध होने वाले विभाव आदि का व्यवहार भी अलौकिकवत् है जिसकी वास्तविक स्थिति का निर्देश लोक-भाषा में नहीं किया जा सकता।

अभिनवगुप्त ने रस को कार्य और ज्ञाप्य पदार्थों से भिन्न तथा कारक और ज्ञापक हेतुओं से परे निर्दिष्ट कर अपनी मान्यता की सिद्धि के अनुकूल पृष्ठभूमि प्रस्तुत कर ली है। उनके विरोधी विचारक चाहे उनकी धारणा को इस आधार पर असंगत और अनर्गल मानते रहें कि संसार में ज्ञाप्य और कार्य पदार्थों के अतिरिक्त अन्य कोई पदार्थ उपलब्ध नहीं होता, किंतु अभिनवगुप्त उनकी धारणा को अपना समर्थन-पक्ष बनाकर रस की अलौकिकता सिद्ध करते हैं। उनका कथन है कि जिस प्रकार 'गुडमरिचादि' के अवयवों में पानकरस का स्वाद नहीं देखा जाता उसी प्रकार विभाव आदि की योजना में भी रस का रूप प्रदर्शित नहीं होता। इसका यह अभिप्राय नहीं कि रस की सत्ता होती ही नहीं है। बात यह है कि जिस प्रकार पानकरस का आस्वाद उसके अवयवभूत गुड़ और काली मिर्च आदि में कहीं अन्यत्र दिखलाई नहीं पड़ता फिर भी वह अपनी असाधारण स्थिति रखता ही है, उसी प्रकार संसार में कार्य और ज्ञाप्य से भिन्न कोई पदार्थ अन्यत्र नहीं देखा जाता, फिर भी 'रस' उन दोनों से भिन्न प्रकार का होता ही है। कहने का अभिप्राय यह है कि जिस रूप में घट और पट आदि पदार्थों को प्रमेय माना जाता है उस रूप में रस प्रमेय नहीं है और यदि वह प्रमेय कोटि में परिगणित नहीं किया जा सकता तो इससे किसी भी प्रकार की दोषोद्भावना नहीं हो सकती, क्योंकि तत्त्वतः उसका प्राण तो केवल उसकी रस्यमानता ही है।

अभिनवगुप्त कृत रस-निष्पत्ति सूत्र का नवीन आख्यान

अभिनवगुप्त ने भरतमुनि कृत रस-निष्पत्ति के सूत्र के विषय में एक अत्यंत महत्त्वपूर्ण और उल्लेखनीय बात कही है। वह यह है कि उस सूत्र में रस की निष्पत्ति नहीं कही गई है अपितु उसके विषयभूत आस्वादन अथवा रसना की निष्पत्ति कही गई है। उनका कथन है कि उस रसना की निष्पत्ति से यदि केवल उपचारवश उस रसना के आश्रित रहने वाले रस की निष्पत्ति कही जाती है तो उसमें कोई दोष नहीं है। वस्तुतः वह रसना अथवा आस्वादन न तो ज्ञापक-हेतु-रूप प्रमाणों का व्यापार है और न कारक हेतुओं का ही। स्वयं संवेदन-सिद्ध होने के कारण वह अप्रामाणिकी अर्थात् असत्य भी नहीं है। रसना तो वस्तुतः बोधरूपा ही है, किंतु लौकिक बोधों से भिन्न होने के कारण उसे विलक्षण कहा जाता है। चूँकि विभाव आदि के संयोग से रसना (आस्वादन) की निष्पत्ति होती है, अतः उस प्रकार की प्रतीति का विषयभूत लोकोत्तर अर्थ अपनी रस्य-

मानता के कारण 'रस' कहलाता है।[1]

आचार्य अभिनवगुप्त ने रस-सूत्र की विस्तृत विवेचना का सारांश निम्नलिखित रूप में प्रस्तुत किया है—

'अयमत्र संक्षेपः। मुकुटप्रतिशीर्षकादिना तावन्नटबुद्धिराच्छाद्यते। गाढप्राक्तन-संवित्संस्काराच्च काव्यबलानीयमानापि न तत्र रामधीर्विश्राम्यति। अत एवोभयदेश-कालत्यागः। रोमांचाद्यश्च भूयसा रतिप्रतीतिकारितया दृष्टास्तथापि लौकिकदेश-कालानियमेन तत्र रतिं गमयंति। यस्यां स्वात्मापि तद्वासनावत्वादनुप्रविष्टः। अतएव न तटस्थत या रत्यवगमः न च नियतकारणतया येनार्जनाभिषंगादिसंभावना। न च नियतपरात्मैक गततया येन दुःखद्वेषाद्युदयः। तेन साधारणीभूता संतानवृत्तेरेकस्या एव वा संविदीगोचरभूता रतिः श्रृंगारः। साधारणीभावना च विभावादिभिरिति।'[2]

संक्षेप यह है कि नाटक में अनुकार्य की वेशभूषा के अनुरूप नट द्वारा धारण किये गये मुकुट और पगड़ी आदि के द्वारा सर्वप्रथम नट की बुद्धि आच्छादित हो जाती है। पूर्वकाल के प्रगाढ़ ज्ञान-संस्कारों के कारण—काव्य के द्वारा बलपूर्वक खींचकर लायी गई होने पर भी 'राम-बुद्धि' उस नट में स्थिर नहीं होती है जिसके कारण नट तथा रामादि से सम्बद्ध देश और काल आदि का परित्याग हो जाता है। लोक में जो रोमांच आदि अनुभाव बहुधा रति की प्रतीति कराने वाले रूप में देखे गये हैं, वे नट में देश-कालादि के नियमों के बिना ही रति का बोध कराते हैं। उस प्रतीति में सामाजिक की आत्मा भी अपनी सौहार्दपूर्ण वासनाओं के कारण अनुप्रविष्ट-सी हो जाती है। वैसी स्थिति में रत्यादि का अवगम (ज्ञान) तटस्थ रूप से नहीं होता और न राम, सीता आदि रूप निश्चित कारणों से ही होता है जिससे उसमें अर्जनविषयावेश अथवा अभिषंग आदि विघ्नों की सम्भावना हो। उसकी प्रतीति निश्चय ही परगत (नटगत) रूप से भी नहीं होती जिससे परगत रत्यादि को देखकर दुःख और द्वेष आदि भावनाओं की उत्पत्ति हो। इसलिए क्षणिकतावादी जो बौद्ध 'चित्त-संतान' या चिन्ताधारा मानते हैं उनके मत से साधारणीभूत चित्तवृत्ति प्रवाह की, अथवा स्थिरतावादी न्यायादि के मत में एक ही ज्ञान की विषयभूत-रति श्रृंगार-रस कहलाती है। साधारणीकरण तो विभावादि के द्वारा होता ही है।

रसोपकरणों के साधारणीकृत रूप ही आस्वादमयी मानस-प्रतीति कराते हैं

अभिनवगुप्त ने विभाव, अनुभाव और व्यभिचारिभावों की प्रधानता के कारण होने वाले साधारणीभाव के उदाहरण देकर इस विषय का विवेचन किया है कि वे

१. 'नेयं रसस्यापितु तद्विषयरसनायाः। तन्निष्पत्या तु यदि तदेकायत्तजीवितस्य रसस्य निष्पत्तिरुच्यते न कश्चिदत्र दोषः। स्त च रसना न प्रमाण व्यापारो न कारक व्यापारः। स्वयं तु ना प्रमाणिकी स्वयं संवेदनसिद्धत्वात्। रसना च बोधरूपैव, किन्तु बोधान्तरेभ्यो लौकिकेभ्यो विलक्षणैव। उपायानां विभावादीना लौकिकवैलक्षण्यात्। तेन विभावादिसंयोगाद्रसना यतो निष्पद्यते तस्तथाविधरसना-गोचरो लोकोत्तरोऽर्थो रस इति तात्पर्यं सूत्रस्य। (पृ० ४८८-९)।

२. हिन्दी अभिनवभारती, (व्या० आचार्य विश्वेश्वर), पृ० ४८९।

उपकरण किस प्रकार हमारे मानस में आस्वादमय रत्यादि की प्रतीति कराते हैं। उनका कथन है कि कहीं नायिका-रूप विभाव की प्रधानता के कारण उसका सौन्दर्य शृंगार-रूप में प्रस्फुटित होता है और कहीं अनुभाव की प्रधानता से उसकी प्रतीति होती है। ऐसा भी देखा जाता है कि विभावों और अनुभावों के प्राधान्य से भी व्यभिचारिभावों का प्राधान्य अभिव्यक्त होता है। इन सब प्रकार की प्राधान्य-प्रक्रियाओं का उद्देश्य काव्यास्वाद को उत्कर्ष प्रदान करना है। यों तो आचार्य वामन ने अपने 'काव्यालंकारसूत्र' में 'संदर्भेषु दशरूपकं श्रेयः' (१-३-३०) तथा 'तद्विचित्रं चित्रपटवद्विशेषसाकल्यात्' (१-३-३३) कहकर चित्रपट के समान समस्त विशेषताओं से युक्त नाटक आदि दशरूपकों में प्रबंध-काव्य की अपेक्षा श्रेष्ठत्व माना है, किंतु शब्दात्मरूप प्रबंध-काव्यों तथा मुक्तक-काव्यों से भी रसानुभूति होती है। उस रसानुभूति का कारण यह है कि रसास्वादयिता सहृदय व्यक्ति पूर्वापर प्रसंग की उचित कल्पना करके भाषा, वेश और औचित्य की ऐसी मानसी सृष्टि कर लेते हैं जिससे प्रबंध-काव्य तथा उसके आश्रित मुक्तक-काव्य भी रसानुभूति का पीठबंध (भूमिका) प्रस्तुत कर देते हैं। अभिनवगुप्त के कथन का आशय यह है कि रसानुभूति के सर्वोत्कृष्ट साधन के रूप में नाट्य-काव्य की स्थिति मूर्धन्य है, किंतु श्रव्य-काव्य भी अपने क्षेत्र में रस-चर्वणा कराने में यथेष्ट समर्थ है। अपने विचारों की पुष्टि करने के लिए उन्होंने दर्पण आदि पदार्थों पर प्रतिबिम्बित चन्द्रकिरणों का उदाहरण देते हुए लिखा है—

'तेन ये काव्याभ्यास—प्राक्तनपुण्यादिहेतुबलादिभिः सहृदयास्तेषा परिमित-विभावाद्युन्मीलनेऽपि परिस्फुट एव साक्षात्कारकल्पः काव्यार्थः स्फुरति। अतएव तेषां काव्यमेव प्रीतिव्युत्पत्तिकृत, अनपेक्षितनाट्यानामपि। तेषामपि तु नाट्ये 'निपतिताः स्फुरिताः शशिरश्मयः' इति न्यायेन सुतरां निर्मलीकरणं। अहृदयानां च तदैव नैर्मल्याधायि। यत्र पतिता गीत-वाद्य-गणिकादयो न व्यसनितायै पर्यवस्यंति नित्योपकरणात्।'[१]

अर्थात् काव्य का अभ्यास करने और पूर्वजन्म के पुण्यों के प्रभाव से सहृदयजन परिमित विभाव आदि के प्रकाशन से भी स्पष्ट एवं साक्षात्कारकल्प काव्यार्थ अर्थात् रस की स्फुरणा प्राप्त करते हैं। अतएव नाट्य की अपेक्षा न रखने वाले सहृदयजनों के लिए नाटक के स्थान पर काव्य ही रस की प्रतीति तथा व्युत्पत्ति का कारण होता है। जिस प्रकार दर्पण आदि पर पड़ी हुई एवं प्रक्षिप्त होकर चमकती हुई शशि-रश्मियाँ दर्पण आदि को और अधिक समुज्ज्वल कर देती हैं, उसी प्रकार प्रबंध तथा मुक्तक काव्यों से रसानुभूति करने वाले सहृदय जनों के मानस को नाट्य-काव्य और अधिक निर्मलता प्रदान कर देता है। जिन असहृदय जनों को नित्य प्रयोग के कारण गीत, वाद्य और गणिका आदि की प्रतीति व्यसन रूप नहीं होती, उनके लिए वही नाट्य अन्तःकरण के नैर्मल्य का आधायक बन जाता है।'

रस-चर्वणा का वैलक्षण्य

आचार्य अभिनवगुप्त ने रसास्वाद के प्रश्न को अनेक विधियों से सुलझाने का

१. अभिनवभारती, पृ० ४६२-६३।

प्रयास किया है। उनका कथन है कि संस्कृत अथवा सहृदय सामाजिक प्रमदा आदि विभावों को लौकिक परगत रत्यादि के समान तटस्थ रूप से ग्रहण नहीं करता अपितु हृदयसंवादात्मक सहृदयत्व के बल से अखण्ड रसास्वाद के अंकुरण रूप में ग्रहण करता है। ऐसे काव्य-भावक को प्रमदा आदि विभावों की अनुभूति का बोध अनुमान, स्मृति आदि की प्रक्रिया में आये बिना ही तन्मयीभाव से प्राप्त चर्वणा के उत्पादक रूप से होता है। वह चर्वणा रसास्वाद के पूर्व किसी अन्य प्रमाण से नहीं होती जिसे स्मृति कहा जा सके। उसमें लौकिक प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों का भी व्यापार नहीं होता। वह तो केवल अलौकिक विभाव आदि के संयोग के बल से ही प्राप्त होती है। आचार्य अभिनवगुप्त ने उस चर्वणा को प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम, उपमान आदि लौकिक प्रमाण-जनित रत्यादि के अवबोध से भिन्न कहा है। उनका कहना है कि उस चर्वणा को 'योगिप्रत्यक्षजनित-तटस्थपरसंवित् ज्ञान' तथा 'समस्त विषयों के प्रति वैराग्ययुक्त एवं असम्प्रज्ञात समाधि में स्थित परम योगी में रहने वाले बोध' से भिन्न समझना चाहिए। वह चर्वणा केवल स्वात्मानंद के अनुरूप रूपसाक्षात्कारात्मक ज्ञान से भी पृथक् कोटि की होती है। अभिनवगुप्त का कहना है कि उस चर्वणा में न तो लौकिक प्रमाणजन्य अर्जनादि रूप विघ्न ही आ सकते हैं और न उसमें ताटस्थ्य, अस्फुटत्व और विषयावेश की विवशता के कारण सौन्दर्य अथवा आह्लाद तत्त्व का अभाव ही होता है। वस्तुतः रस-चर्वणा सबसे भिन्न और विलक्षण कोटि की है।

अभिनवगुप्त ने रस को 'स्थायिविलक्षण' कहकर उन आचार्यों की मान्यता का खंडन किया है जो रसीभूत होने वाले स्थायी को व्यक्तिसंबद्ध कहकर उसकी उपचित अवस्था में रस-निष्पत्ति मानते हैं। लोल्लट ने उपचित होने वाले स्थायी को मुख्यवृत्ति से अनुकार्यगत तथा गौण वृत्ति से अनुकर्तागत कहकर रस-रूप में व्याख्यात किया था, उसका अभिनवगुप्त ने खंडन किया है। उन्हें अनुकरणवादियों का यह मत भी स्वीकार नहीं है कि अनुकर्ता नट रामादि अनुकार्यों के स्थायी का अनुकरण करता है। वस्तुतः आचार्य अभिनवगुप्त को रस की स्वसंवेद्यता और अलौकिकता स्वीकार है जिसकी सिद्धि के लिए उन्होंने 'स्थायिविलक्षणो रसः' की सिद्धांत प्रतिष्ठा की है। उन्होंने 'लोकापेक्षया ये स्थायिनो भावाः' द्वारा बतलाया है कि लोक की अपेक्षा से उपचित होने वाला 'स्थायी' रस नहीं है तथा 'स्थायी रसोभवति' जैसा प्रयोग वस्तुतः उपचार-मात्र है। रस-विवेचना में काव्यानुशीलक की अनुभूति का स्वरूप तथा उसकी प्रक्रिया का जो निरूपण किया जाता है वह लौकिक रत्यादि चित्तवृत्तियों के ज्ञान के सादृश्य से जिस रूप में प्रकाशित किया जाता है वह केवल व्यावहारिक सुविधा के लिए ही है। वस्तुतः रस-विवेचना का विषय लौकिक मनोविकार का विषय न होकर काव्य-रसिक के आस्वाद का विषय है जो रसिक के चित्त में उद्बुद्ध होकर उसे अलौकिक चर्वणा का आनंद देता है। हाँ, यह बात अवश्य है कि व्यक्तिगत मनोविकारों का ज्ञान कवि के लिए काव्यरचना में, नट के लिए अभिनय में और रसिक के लिए अनुमानपटुता प्राप्त करने में उपयोगी सिद्ध होता है। भरतमुनि ने भी स्थायी का विवेचन इसी प्रयोजन से किया है जिसका स्पष्टीकरण करते हुए अभिनवगुप्त ने लिखा है—

'न अज्ञातलौकिक रत्यादिचित्तवृत्तेः कवेः नटस्य वा तद्विषयविशिष्टविभावाद्याहरणं शक्यम् इति स्थायिनः उद्दिष्टा।' अर्थात् यदि लौकिक रत्यादि चित्तवृत्तियों का ज्ञान न हो तो कवि अथवा नट के लिए तदुचित विशिष्ट विभावादि का प्रकाशन असम्भव हो जायगा अतः भरतमुनि ने स्थायी भावों का परिगणन किया है। आचार्य मधुसूदन सरस्वती ने लौकिक स्थायी और अलौकिक वासनासंस्कार का अन्तर स्पष्ट करते हुए लिखा है—

काव्यार्थनिष्ठा रत्याद्याः स्थायिनः संतिलौकिकः।
तद्बोद्धनिष्ठास्त्वपरे तत्समाऽप्य लौकिकाः॥[1]

अर्थात् काव्यार्थ में परिनिष्ठित रत्यादि स्थायी शुद्ध लौकिक होते हैं किंतु काव्यार्थ के आस्वाद के समय प्रमाता में उद्‌बुद्ध होने वाले अन्य स्थायी यद्यपि पात्रगत स्थायी के समान प्रदर्शित होते हैं तथापि वे अलौकिक रहते हैं।

रस-प्रक्रिया की व्यावहारिकता

आचार्य अभिनवगुप्त ने कृष्ण आदि आराध्य देवों की मूर्ति के ध्यान को उदाहरण रूप में प्रस्तुत करते हुए काव्यास्वादन के आनंद की प्रक्रिया को अधिक व्यावहारिक बनाने की चेष्टा की है। उन्होंने कहा है कि जिस प्रकार सामान्यजन मूर्ति को साधन बनाकर उसके माध्यम से कृष्णादि देवों का ध्यान करते हैं उसी प्रकार नाट्य में भी नट आदि पात्रों को देखकर रामादि का ज्ञान हो सकता है। जिस प्रकार मूर्ति में वास्तविक कृष्ण की प्रतीति नहीं होती, फिर भी उसके द्वारा देवता-विशेष का ध्यान करने से उसके फल की प्राप्ति होती है, उसी प्रकार नट में वास्तविक रामादि की प्रतीति न होने पर भी उसके द्वारा नाट्य के रसास्वाद तथा उससे प्राप्त होने वाली शिक्षा आदि रूप फलों की प्राप्ति होती है। अभिप्राय यह है कि नाट्य-प्रक्रिया द्वारा उत्पन्न अत्यन्त स्पष्ट निश्चयात्मक ज्ञान का विषय नियतदेशकाल आदि का स्पर्श न करने वाला और विधि-स्थानीय अर्थ का ज्ञापक होता है जिसमें दृश्यमान अभिनय आदि अथवा उससे उत्पन्न व्युत्पत्तिरूप चित्तवृत्ति आदि में कोई बाधा नहीं आती अतः उसे पूर्णतया सम्यक् ज्ञान रूप ही कहा जा सकता है। यही कारण है कि 'उसमें (नट में) राम है' केवल इस प्रकार की ही प्रतीति होती है, 'यह राम नहीं है अथवा राम से भिन्न अन्य है,' इस प्रकार की प्रतीति नहीं होती।

रस की अभिव्यक्ति तथा प्रतीति द्वारा उसकी आस्वाद्यमानता का स्पष्टीकरण

अभिनवगुप्त ने काव्य-रस के आस्वादन की विवेचना करते हुए पूर्वपक्ष के रूप में इतर आचार्यों के अभिमतों का उल्लेख करने के पश्चात् अंततोगत्वा इस सिद्धांत की प्रतिष्ठा की है कि रस अभिव्यक्त ही होते हैं और प्रतीति के द्वारा आस्वादगोचर किये जाते हैं—'अभिव्यज्यन्ते रसाः प्रतीत्यैव च रस्यन्त इति'। उन्होंने अभिव्यक्ति को प्रधानता

१. मधुसूदन सरस्वतः, भक्तिरसायन, ३।४।

देते हुए बतलाया है कि वह अपनी प्रधानता में ध्वनि और अन्यथाभाव में रसाद्यलंकार कही जाती है। अपनी मान्यताओं के विरुद्ध प्रतीत होने वाली प्रतिपत्तियों का खण्डन करने के पश्चात् उन्होंने जो निष्कर्ष निकाले हैं, वे अत्यंत विचारपूर्ण और तर्कसंगत हैं। सर्वप्रथम उन्होंने आचार्य भट्ट लोल्लट के सिद्धांत का उल्लेख किया है जिसके अनुसार रामादि अनुकार्यों में ही रस की उत्पत्ति होती है जिसे नाट्य में प्रयुज्यमान देखकर कुछ विद्वान् उसे 'नाट्यरस' कहते हैं। लोल्लट के सिद्धांत में इस बात पर बल दिया गया है कि पूर्वावस्था में जो स्थायी भाव होता है वही व्यभिचारी के सम्पात इत्यादि से परिपुष्ट होकर अनुकार्यगत रस की अभिधा प्राप्त करता है। लोल्लट की इस मान्यता से आचार्य अभिनवगुप्त असहमत हैं। उनका कथन है कि प्रवाहधर्मिणी चितवृत्तियों में एक चित्तवृत्ति का अन्य चित्तवृत्ति से परिपोष हो ही नहीं सकता क्योंकि व्यावहारिक जीवन से भी प्रकट है कि विस्मय, शोक और क्रोध इत्यादि मनोभाव जितनी तीव्रता से हमारे अन्तःकरण में उद्भूत होते हैं उतनी तीव्रता उनमें निरंतर नहीं बनी रहती और शनैः शनैः वे शांत हो जाते हैं जिसका आशय यह है कि उनका क्रमशः परिपोष नहीं होता जिसके कारण रस को अनुकार्यगत नहीं माना जा सकता। अभिनवगुप्त के मतानुसार रस को नट अथवा अनुकर्तागत मानना भी युक्तिसंगत नहीं है क्योंकि यदि नट में रस की सत्ता सिद्धरूप में स्वीकार कर ली जाय तो उसके परिपोष के लिए लय इत्यादि के अनुसरण की कोई आवश्यकता ही न रहेगी। यदि रस को सामाजिकगत निर्धारित किया जाय तो उसमें किसी भी प्रकार का कोई चमत्कार न रहेगा क्योंकि जो रस सामाजिक की चित्तवृत्ति में पहले से ही विद्यमान है वह किसी भी प्रकार के प्रस्फुरण की अपेक्षा नहीं रखता। रस की सिद्धरूपता मानने का एक प्रतिफल यह भी होगा कि सामाजिकों की चित्तवृत्ति में अवस्थित सिद्धरूप शोकादि भाव न तो उन्हें आनंद की अनुभूति ही करा सकेंगे और न करुणादि रस सहृदयों के आस्वादनार्थ स्पृहणीय ही बन सकेंगे। इस प्रसंग में यह बात भी नहीं मानी जा सकती कि नट इत्यादि अनुकर्ता राम इत्यादि अनुकार्यों का अनुकरण करते हैं। तत्त्वदृष्टि से देखा जाय तो भिन्न-भिन्न व्यक्तियों में रत्यादि भावनाओं का रूप तथा स्तर भिन्न-भिन्न प्रकार का होता है जिसकी अनेक-रूपता का अनुकरण किया जाना सम्भव नहीं है। यदि यह भी मान लिया जाय कि अपने कलानैपुण्य के कारण अभिनेता की अनुकृति पूर्णतः सफल हो जाती है तो भी उसका कोई विशेष उपयोग नहीं रहेगा, क्योंकि यदि दर्शक या पाठक जब यह समझ लेगा कि नट आदि पात्र राम इत्यादि व्यक्ति-विशेष की भावना का अनुकरणमात्र कर रहे हैं और वस्तुतः उनमें वह भावना नहीं है तो फिर असत्य का प्रतिभास होने के कारण सामाजिक के चित्त में आस्वाद की उत्पत्ति किस प्रकार हो सकेगी? इस प्रकार अभिनवगुप्त के मतानुसार 'अनंत होने के कारण न तो नियत का अनुकरण ही किया जा सकता है और न उस अनुकरण का कोई प्रयोजन ही है क्योंकि विशिष्टता की प्रतीति में तटस्थ के रूप में व्युत्पत्ति का अभाव ही रहता है।'

रस की त्रिगुणात्मकता भी प्रमाणपुष्ट नहीं है

अभिनवगुप्त ने सांख्य-सिद्धान्त के अनुसार मानी गई रस की त्रिगुणात्मकता का भी खंडन किया है। सांख्य-दर्शन का अभिमत है कि जिस प्रकार संसार के समस्त पदार्थ त्रिगुणात्मक हैं उसी प्रकार रस भी सुख, दुःख तथा मोहात्मक है। अभिनवगुप्त ने इस प्रकार की मान्यता का खंडन किया है क्योंकि रस की प्रतीति को सुख, दुःख तथा मोहात्मक मानने पर एक ही ज्ञान में तीन विरुद्ध प्रकार की प्रतीतियों का सम्मिश्रण होने से प्रतीतिवैषम्य आदि दोषों का प्रादुर्भाव हो जाता है। इस विषय को उन्हीं के शब्दों में निम्नलिखित रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है—

'येन त्वभ्यधायि सुखदुःखजननशक्तियुक्ता विषयसामग्री वाह्यैव, सांख्यदृशा सुखदुःखस्वभावो रसः। तस्यां च सामग्र्यां दलस्थानीया विभावाः, संस्कारका अनुभाव-व्यभिचारिणः। स्थायिनस्तु तत्सामग्री जन्या आन्तराः सुखदुःखस्वभावा इति।

रस के विविध नामांतर

अभिनवगुप्त ने अनेकानेक तर्कों का आधार लेकर अन्ततः यह निष्कर्ष निकाला है कि प्रत्येक दशा में सर्वथा आस्वादात्मक एवं निर्विघ्न प्रतीति से ग्राह्य भाव ही रस है। (सर्वथा रसनात्मकवीतविघ्नप्रतीतिग्राह्यो भाव एव रसः)। उन्होंने भट्ट लोल्लट तथा शंकुक द्वारा प्रतिपादित किये गये उपचित तथा अनुक्रियमाण रत्यादि स्थायिभावों में क्रमशः देशकालादि से अनियंत्रित तथा अनालिंगीगित रूप रस की साक्षात्कारात्मक प्रतीति निर्दिष्ट कर अपने मतानुरूप निर्विघ्नप्रतीति का तत्त्व अन्वेषित कर ही लिया है। उनके मतानुसार विभाव आदि को उस प्रतीति के विघ्नों के अपसारक कहा जा सकता है। लौकिक व्यवहार में सकल विघ्नविनिर्मुक्त वह संवित्ति (प्रतीति) 'चमत्कार', 'निर्वेश', 'रसन', 'आस्वादन,' 'भोग', 'समापत्ति,' 'लय' और 'विश्रांत' आदि शब्दों से भी अभिहित की जाती है।

रस-निष्पत्ति का रहस्य

रस-निष्पत्ति का रहस्य निरूपित करना सरल कार्य नहीं है। कहने के लिए भले ही कोई विचारक यह मानकर चले कि विभाव, अनुभाव और व्यभिचारिभावों के पार्थक्य में भी रस-निष्पत्ति का सामर्थ्य होता है, किंतु तात्त्विक दृष्टिकोण इस मत के विपरीत है। वास्तव में रसोद्बोध के लिए विभावादित्रितय का संयोग आवश्यक है क्योंकि उन्हीं के सम्मिलन द्वारा काव्यरसिकों को लोकोत्तर आस्वाद की अनुभूति हो सकती है। यदि कहीं ऐसा प्रतीत हो कि रस-निष्पत्ति के लिए आवश्यक विभावादि में तीन के स्थान पर दो या एक ही आधार उपस्थित है और रस-निष्पत्ति हो रही है तो इसका तात्पर्य यह होगा कि अन्य आधारों की स्थिति काव्य अथवा नाट्य की व्यंजना-शक्ति ने प्रस्तुत कर दी है। काव्यानुचिंतन से प्रकट है कि अनेक बार व्यंजना के नियामक तत्त्व (प्रकरण-वैशिष्ट्य आदि) भी विभावादि का अभिव्यंजन करने में समर्थ हो जाते

हैं तो अनेक बार ऐसा भी होता है कि केवल अनुभावों अथवा व्यभिचारिभावों के वर्णन में ही अन्य का आक्षेप कर लिया जाता है। यों तो विभाव, अनुभाव और संचारिभावों के व्यस्त रूप अथवा अन्यतर प्राधान्य या द्वयप्राधान्य में भी रसास्वादन कराने की शक्ति सिद्ध की जा सकती है किंतु उनमें उस श्रेणी का रसोत्कर्ष नहीं होता जो तीनों के समुचित संयोग में संभव है। आचार्यों ने इन बातों को ध्यान में रखकर ही मुक्तक की अपेक्षा प्रबंध-काव्यों में और प्रबंध-काव्यों की अपेक्षा रूपक-प्रबंधों में काव्यानंद की तारतम्यपूर्ण प्रकृष्टता स्वीकार की है। इस विषय में काव्यालंकारसूत्रकार आचार्य वामन के 'संदर्भेषु दशरूपकं श्रेयः। तद्विचित्रं चित्रपटवद्विशेषसाकल्पात्'[1] सूत्र प्रमाण रूप में प्रस्तुत किये जा सकते हैं।

काव्यास्वाद अथवा रस-प्रतीति का विषय अत्यंत जटिल और रहस्यमय है। उससे प्राप्त होने वाला चमत्कार अविघ्नसंवित् तथा पूर्णतृप्ति रूप होता है जिसे 'भोगावेश' भी कहा जा सकता है। यों तो रसानुभूति तथा उससे उत्पन्न पुलकादि के लिए भी 'चमत्कार' शब्द का प्रयोग होता है किंतु अभिनवगुप्त के मतानुसार 'रसोपभोक्ता के अद्भुत भोगात्मक व्यापार (स्पंद) से आविष्ट मन का चमत्कृत हो जाना' ही चमत्कार का उपयुक्त लक्षण है। वह चमत्कार साक्षात्कारात्मक मानस-अध्यवसाय, संकल्प अथवा स्मृति-रूप से भी प्रतीत हो सकता है। 'अभिज्ञान शाकुंतलम्' नामक नाटक में कवि-कुलगुरु कालिदास ने शकुंतला का प्रत्याख्यान करने के पश्चात् मधुर संगीत ध्वनि के माध्यम से महाराज दुष्यंत की मनोवृत्ति का जो परिचय दिया है[2] उसमें एक ऐसी आस्वादरूप प्रतीति विद्यमान है जिसमें निर्विघ्न रूप से रति का ही आभास मिलता है तथा जिसे न तो लौकिकी, मिथ्या, अनिर्वचनीय और लौकिक सदृश ही कहा जा सकता है और न आरोपादि रूप ही। वस्तुतः वह प्रतीति समस्त प्रतीतियों से विलक्षण एवं अद्भुत है।

रस-सिद्धि के महत्त्वपूर्ण तथ्य

अभिनवगुप्त ने अभिज्ञान शाकुंतल के जिस श्लोक द्वारा भयानकरस की निष्पत्ति सिद्ध की है उससे निम्नलिखित तथ्य उपलब्ध होते हैं :

(१) काव्य-वर्णित विभाव आदि का साधारणीकरण देशकाल की परिमित सीमा में ही नहीं होता अपितु धूम और अग्नि अथवा भय और कम्प आदि के व्याप्तिग्रह के समान अत्यंत व्यापक रूप में होता है।

(२) उस साधारणीकरण में साक्षात्कारात्मक रूप में नटादिसामग्री ही परिपोषक होती है जिसमें वास्तव में विद्यमान और काव्य में वर्णित देश, काल और

---

१. वामन, काव्यालंकारसूत्र, २।३०-३१।

२. रम्याणि वीक्ष्य मधुरांश्च निशम्य शब्दान्,
पर्युत्सुको भवति यत्सुखितोऽपि जन्तुः।
तच्चेतसा स्मरति नूनमबोधपूर्वम्,
भावस्थिराणि जननान्तरसौहृदानि।।—कालिदास, अभिज्ञानशाकुंतलं, अंक ५।

प्रमाता आदि को नियामक हेतुओं के बंधन से अत्यंत अलग कर देने पर वह साधारणीकरण-व्यापार अत्यंत पुष्ट हो जाता है।

(३) अनादि संस्कारों द्वारा चित्रित चित्त वाले समस्त सामाजिकों की एक जैसी वासना होने के कारण सबको एक-जैसी ही रस-प्रतीति होती है।

(४) वह प्रतीति विघ्नों से सर्वथा रहित और चमत्कारपूर्ण होती है जिससे उत्पन्न होने वाले कम्प और रोमांच आदि अनुभावात्मक विकार भी 'चमत्कार' ही कहलाते हैं।

अभिनवगुप्त के अभिमत का निष्कर्ष

आचार्य अभिनवगुप्त ने शैवाद्वैत दर्शन के आधार पर काव्यास्वाद को आत्मास्वाद का ही रूप मानकर इस बात के लिए कोई शंका ही न रखी कि रस-निष्पत्ति में किसी भी प्रकार की उद्वेगजनक स्थिति की भी संभावना हो सकती है। उनके मतानुसार काव्य-रस अपनी विशुद्ध भावभूमि में शब्दार्थ के माध्यम से उपलब्ध आत्मा का ही आस्वाद है जो किसी भी रूप में आनंदविहीन नहीं हो सकता। उन्हें न तो रस की उत्पत्ति तथा अनुमिति पर आस्था है और न रस की प्रतीति तथा मुक्ति पर ही। वे तो काव्य-कृति को रसाभिव्यक्ति का निमित्त-मात्र मानते हैं। अपनी इसी मान्यता के आधार पर उन्होंने शोकादिजन्य करुणादि रसों से भी आनंदघन आत्मा का ही आस्वाद स्वीकार किया है, क्योंकि कवि-प्रतिभाजन्य काव्य-सृष्टि अपनी वस्तु-योजना और कला-सौन्दर्य द्वारा व्यक्तिगत राग-द्वेषों का परिशमन कर आत्मानंद की ही अभिव्यक्ति करने का साधन-मात्र है। अभिनवगुप्त का यह दृष्टिकोण ऐसे संपुष्ट धरातल पर अधिष्ठित है जिसके अनुसार काव्यास्वाद ही प्रक्रिया में मधुर अथवा कटु भावों का कुछ भी विसंवाद नहीं है। भावों की मधुरता और कटुता का श्रेणिभेद तो केवल लौकिक दृष्टि से है। वे भाव जब काव्य-सृष्टि में साकार हो जाते हैं तो उनकी सत्वोद्रेकता सभी परिस्थितियों में आनन्दास्वाद ही कराती है। इस प्रकार अभिनवगुप्त ने सभी प्रकार के काव्य-रसों का आस्वाद केवल आनंदमय ही माना है।

अभिनवगुप्त की उपलब्धि सर्वसंस्तुत है

आचार्य अभिनवगुप्त की रसविषयक उपपत्ति का संस्तव और समर्थन अनेक आचार्यों ने किया है। उसमें भरतमुनि के रस-निष्पत्ति-सूत्र का सम्यक् विश्लेषण विद्यमान है। इस विषय में अधिक न लिखकर हम काव्यप्रकाश की संकेतनाम्नी टीका के प्रसिद्ध टीकाकार माणिक्यचंद्र का वह अभिमत उद्धृत करना पर्याप्त समझते हैं जिसमें उन्होंने रस-सूत्र के प्रमुख भाष्यकार आचार्य चतुष्टय का उल्लेख कर अन्त में यही निर्णय दिया है कि रस-सागर के गाम्भीर्य का पूर्ण अवबोध केवल आचार्य अभिनवगुप्त ही कर सके हैं। उनका निर्णय इस प्रकार है—

न वेत्ति यस्य गांभीर्यं गिरितुंगोऽपि लोल्लटः।
तत् तस्य रसपाथोधेः कथं जानातु शंकुकः।
भोगे रत्यादिभावानां भोगं स्वस्योचितं ब्रुवन्।
सर्वथा रससर्वस्वमभांक्षीत् भट्टनायकः॥
स्वादयन्तु रसं सर्वे यथाकामं कथंचन।
सर्वस्वयं तु रसस्यात्र गुप्तपादा हि जानते॥

१४

रस का स्वरूप और आस्वाद

पूर्ववर्ती अध्याय में भारतीय दृष्टि को उपजीव्य बनाकर रस की निष्पत्ति तथा उसकी आस्वाद-प्रक्रिया का जो तत्त्व-दर्शन विवेचित किया गया, उससे स्पष्ट है कि उसके विषय में रसनिष्पत्ति-सूत्र के प्रमुख व्याख्याताओं की कैसी-कैसी धारणाएँ थीं। उस विवेचन में यद्यपि रस के स्वरूप और आस्वाद का सामान्य पक्ष भी अवश्यमेव निरूपित हुआ है, किन्तु उसकी कुछ ऐसी विशिष्ट उपपत्तियाँ भी हैं जिनका विश्लेषण करना प्रस्तुत अध्याय का प्रतिपाद्य विषय है। इस विश्लेषण में रस की स्वरूप-सिद्धि और आस्वाद्यमानता का वैशिष्ट्य पक्ष उद्‌घाटित करने के साथ-साथ इस तत्त्व का भी प्रतिपादन किया जायगा कि पूर्व अध्याय-वर्णित आचार्य चतुष्ट्य (भट्टलोल्लट, शंकुक, भट्टनायक और अभिनवगुप्त) के अतिरिक्त विश्वनाथ, धनंजय और पंडितराज जगन्नाथ आदि विद्वानों ने रस का स्वरूप-बोध कराने में कौन-कौन-सी नवीन युक्तियों का संयोजन किया है। उन युक्तियों में पंडितराज द्वारा निरूपित भावना-दोष का उल्लेख विशेष रूप से किया गया है। भारतीय आचार्यों ने रस की पुरुषार्थनिष्ठा तथा संलक्ष्यासंलक्ष्य-क्रमता के अतिरिक्त उनके वर्ण और देवताओं के विषय में अपनी जो मान्यताएँ व्यक्त की हैं, वे भी इतनी अधिक उल्लेखनीय हैं कि उनका विवरण भी इस अध्याय में सामान्य रूप में संयुक्त कर लिया गया है। इसमें लोक-व्यवहार और काव्यानुभूति का अंतर्सम्बन्ध विवेचित करते हुए उनका तात्त्विक विभेद भी स्पष्ट करने का प्रयत्न किया गया है जिससे रस के स्वरूप-बोध और आस्वाद की लोकोत्तरता प्रमाणित की जा सके। अंत में आस्वाद्यमानता को रस का भेदक लक्षण मानकर रस-बोध की तात्त्विक अखंडता का प्रतिपादन करते हुए इस मत की प्रतिष्ठा की गई है कि रस और भाव के रूप में जितने भी काव्यार्थ निरूपित किये जाते हैं, वे सब 'महारस' की अभिधा में पर्यवसित हो जाते हैं। वस्तुतः भारतीय दृष्टि ने अंततोगत्वा अभेदवादी दृष्टि से ही रस का स्वरूप और आस्वाद विवेचित किया है जिसको प्रयोजनीय बनाकर ही इस अध्याय की विचार-सामग्री नियोजित हुई है। इस प्रकार यह अध्याय पूर्ववर्ती अध्याय के अवशिष्ट अंशों का पूरक मात्र है जिसके अवसान में काव्य के रसास्वाद का महत्त्वपूर्ण पक्ष अपनी चरम परिणति प्राप्त कर सका है।

रस के स्वरूप-बोध की प्रक्रिया

भारतीय आचार्यों ने रस का स्वरूप तथा आस्वाद विविध दृष्टियों से विवेचित

किया है। उनकी रहस्यमयता का विश्लेषण करना सामान्यतया सरल कार्य नहीं है।
संक्षेप में कहा जा सकता है कि मनुष्य अपने जीवन में जिन भावों की अनुभूति करता है
उनमें रति, शोक, क्रोध, जुगुप्सा, भय, उत्साह, हास, विस्मय और निर्वेद आदि प्रमुख
हैं। इन भावानुभवों के संस्कार मनुष्य के हृदय पर वासना-रूप से अंकित रहते हैं जिनके
स्थायित्व का विचार कर साहित्यशास्त्रियों ने उन्हें स्थायिभावों की संज्ञा प्रदान की है।
ये स्थायिभाव एक प्रकार से विशिष्टरूपिणी चित्तवृत्तियाँ ही हैं जो अपनी सत्य तथा
विज्ञान-रूप स्थिति में प्रकाशमान आत्मानंद के साथ अनुभूत होकर 'रस' की अभिधा
प्राप्त करती हैं तथा जिसमें प्रमाता को 'रसोऽहं' की प्रतीति होती है। इन स्थायिभावों
की आत्मानंदीय प्रतीति तब तक नहीं हो सकती जब तक उन पर आच्छादित अज्ञाना-
वरण का नाश नहीं हो जाता। उस आवरण का उच्छेद करने में भावकत्व नामक एक
अलौकिक क्रिया सहायक होती है जिसके कारण अल्पज्ञता एवं पारस्परिक विभेद जैसे
जीवधर्म नष्ट हो जाते हैं एवं सर्वज्ञत्व आदि परमात्मधर्म जागरित हो जाते हैं। उस
लोकोत्तर भावकत्व की सृष्टि में विभाव, अनुभाव और संचारिभावों का भी संयोग रहता
है जिनसे अनुभवकर्त्ता को रति आदि स्थायिभावों की अनुभूति आत्मानंद के साथ होने
लगती है। जिन कारणों से रत्यादि स्थायिभावों की उत्पत्ति होती हैं वे आलम्बन-विभाव
कहलाते हैं तथा जिनसे उनकी उद्दीप्ति होती है वे उद्दीपन-विभाव। स्थायिभावों की
उत्पत्ति के परिणामस्वरूप प्रमाता के शरीर आदि में जो विशेष भाव उत्पन्न होते हैं वे
'अनुभाव' तथा स्थायिभावों के साथ सहायक रूप से संचरित होने वाले भाव 'संचारि-
भाव' कहलाते हैं। उदाहरणार्थ, शकुन्तला को देखकर दुष्यंत के मन में रति-भाव की
उत्पत्ति होने की स्थिति में आश्रय रूप दुष्यंत के लिए शकुन्तला आलम्बन-विभाव तथा
उसकी तथा प्रकृति की तदनुकूल चेष्टाएँ उद्दीपन-विभाव हैं। उस रति-भाव के अनुकार्य-
गत कार्य 'अनुभाव' तथा शकुन्तला की प्राप्ति के मार्ग में चिंता आदि भावों का संचरण
'संचारिभाव' है जिनकी चर्वणा श्रृंगाररस के रूप में होती है। श्रृंगार के द्विविध भेदों
तथा अन्य रसों की निष्पत्ति का क्रम भी इसी प्रणाली से बोधगम्य किया जा सकता है।
काव्य-कृतियों में इन रस-उपकरणों का चित्रण जब सुन्दर शब्द-गुम्फन द्वारा वैशिष्ट्य-
पूर्ण प्रणाली से किया जाता है तो सहृदय प्रमाताओं के हृदय अपनी सदहृयता तथा काव्यार्थ
के पुनः पुनः अनुसंधान रूप भावना-व्यापार के प्रभाववश जिस लोकोत्तर आनन्द की
अनुभूति करने लगते हैं वही काव्यास्वादन की प्रक्रिया में 'रस' कहलाता है। कहने की
आवश्यकता नहीं कि उस रस-प्रक्रिया को निष्पन्न करने में 'भावकत्व' व्यापार का अत्य-
धिक महत्त्व है क्योंकि उसी के द्वारा अज्ञान-रूप आवरण का नाश होने से वासना-रूप से
स्थित रत्यादि स्थायिभाव 'भोजकत्व', 'रसना' अथवा 'व्यंजना' नामक व्यापार से
आस्वाद्य बनकर 'रस' रूप को प्राप्त होते हैं।

भरतमुनि का स्पष्टीकरण

रस एक निर्विघ्न चर्वणात्मक संविद है। उसकी चर्वणा भी बोधरूपा ही होती
है। आचार्यों ने काव्यानुशीलन के समय निष्पन्न आनन्दमयी प्रतीति को 'रस' की संज्ञा

दी है। भरतमुनि ने 'रसः इति कः पदार्थः' का प्रश्न उपस्थित कर इसका उत्तर 'उच्यते आस्वाद्यत्वात्' की शब्दावली में दिया है जिसका अभिप्राय यह है कि काव्यशास्त्र के विद्वान् काव्य द्वारा निष्पन्न होने वाली जिस आनंदमयी प्रतीति को 'रस' संज्ञा से अभिहित करते हैं उसकी प्रवृत्ति का निमित्त 'आस्वाद्यत्व' अथवा आस्वादनक्रिया है। यद्यपि वह प्रतीति अलौकिक होती है तथापि उसका बोध लौकिक दृष्टांत द्वारा किया जा सकता है। भरतमुनि ने उसके लिए 'षाडव' रस को दृष्टांत रूप में कल्पित करते हुए लिखा है कि जिस प्रकार व्यंजन, औषधि तथा द्रव्य आदि वस्तुओं की उचित योजना पक्वावस्था को प्राप्त होकर एक अतीव आस्वाद्य रस की निष्पत्ति करती है जो इन द्रव्यों से भिन्न होता हुआ 'षाडव' आदि नामों से अभिहित किया जाता है, उसी प्रकार रसिकबुद्धि में विभावानुभावों का उचित रूप में संयोग होने पर उनके द्वारा प्रत्यक्षवत् अभिव्यक्त होने वाला एक विशिष्ट अर्थ लौकिक दृष्टि से स्थायी कहलाता हुआ अपनी अलौकिकता में रस्यमान अथवा आस्वाद्य रूप में निष्पन्न होता है। आचार्यों ने विभावादि की सम्यक् योजना को 'पाकस्थानीय' तथा अभिव्यक्त होने वाले स्थायिकल्प के वासनासंस्कार को 'रसस्थानीय' माना है। लोकगत 'षाडव' तथा काव्यगत 'रस' अपनी आस्वाद्यता अथवा रस्यमानता के कारण समानधर्मी है। दोनों में यदि अन्तर है तो केवल इतना ही है कि षाडवादि रसों का आस्वादन रसनेन्द्रियजन्य है जबकि काव्यार्थज्ञान से निष्पन्न रस मानसैकगम्य है। काव्यार्थ-प्रतीति की क्रिया पर रसनेन्द्रियजन्य ज्ञान का जो उपचार किया जाता है उसका कारण उनका 'सादृश्य' है। उस सादृश्योपचार का विवेचन भरत-मुनि ने इस प्रकार किया है—

'यथा नानाव्यंजनसंस्कृतमन्नं भुंजाना रसानास्वादयंति सुमनसः पुरुषाः हर्षादींश्चाधिगच्छंति, तथा नाना भावाभिनयव्यंजितान् वांगगसत्वोपेतान् स्थायिभावान् आस्वादयंति सुमनसः प्रेक्षकाः हर्षादींश्चाधिगच्छन्ति, तस्मात् नाट्यरसाः इति अभिव्याख्याताः।'

भरतमुनि ने 'भोग्य', 'भोक्ता' तथा फल आदि के साम्य से काव्यार्थ-प्रतीति रूप व्यापार पर रसनाव्यापार का उपचार करते हुए बतलाया है कि जिस प्रकार व्यंजन-संस्कृत भोग्य अन्न सुमनस अर्थात् समाहितचित्त भोक्ता को रसना अथवा आस्वादन-व्यापार द्वारा हर्ष और तृप्ति का फल देता है, उसी प्रकार विभावादिव्यंजित स्थायी 'सुमनस्' अर्थात् एकाग्र और निर्मलहृदय रसिकभोक्ता को निर्विघ्न-संविद्-रूप आस्वादन द्वारा हर्ष और तृप्ति प्रदान करता है। यहाँ यह बात भी उल्लेखनीय है कि जिस आस्वादन को व्यावहारिक अर्थ में रसनेन्द्रिय का व्यापार कहा जाता है वह रसनेन्द्रिय का व्यापार न होकर एक मानस-व्यापार है क्योंकि उसका फल हर्ष और तृप्ति है। रसनेन्द्रिय का व्यापार तो केवल भोजन है जिसे आस्वादन-व्यापार से भिन्न सिद्ध करने के प्रयोजन से भरत मुनि ने 'भुंजाना आस्वादयंति' पदावली का प्रयोग किया है। भरतमुनि का आशय यह है कि वह आस्वादन रूप मानस-व्यापार ही काव्य में अविकल रूप में रहता है जिसका फल है 'आह्लादन' तथा 'तर्पण'। कहने की आवश्यकता नहीं कि भरतमुनि ने 'रसनाव्यापार', 'आस्वाद्यता' तथा 'चर्वणाव्यापार' को पर्यायवाची शब्दों के रूप में

प्रयुक्त किया है और उन्हें रस का भेदक लक्षण माना है क्योंकि उनके कारण काव्यार्थ को रसत्व प्राप्त होता है। रसना-व्यापार की बोधरूपता तथा उस बोधरूपता की लोकोत्तर विलक्षणता आदि का स्पष्टीकरण करते हुए अभिनवगुप्त ने जिस लोकोत्तर अर्थ को 'रस' कहा है, वह उनके शब्दों में निम्नलिखित है—

'रसना च बोधरूपा एव किंतु बाधान्तरेभ्यो लौकिकेभ्यो विलक्षणा एव, उपायानां विभावादीनां लौकिक वैलक्षण्यात्। तेन विभावादिसंयोगात् रसना यतो निष्पद्यते, ततः तथाविधरसनागोचरः लोकोत्तरोऽर्थः रसः इति तात्पर्यम् सूत्रस्य।'

रस की 'व्यक्ति' तथा साक्षिभासता

मम्मट आदि आचार्यों ने उस स्थायिभाव को 'रस' कहा है जो विभावादि से 'व्यक्त' होता है। 'व्यक्त' पद से मम्मट का अभिप्राय 'व्यक्तिविषय कृत' है जिसे रसना-जन्य आस्वाद से अभिन्न चैतन्य का गोचरीकृत विषय भी कहा जा सकता है। 'व्यक्त' होते ही स्थायिभाव चित् शक्ति का विषय बनकर उसके द्वारा भासित होने लगता है। 'व्यक्ति' पद का अर्थ 'व्यंजनावृत्ति' भी किया जाता है जिसे 'भग्नावरणचित्' कहकर आचार्यों ने यह तत्त्व निरूपित किया है कि उसे केवल सामान्य व्यंजनावृत्ति ही न समझना चाहिए, क्योंकि 'व्यक्ति' पद के प्रयोग में वह 'शुद्ध आस्वादनरूप चैतन्य' भाव भी विवक्षित है जिसका अज्ञानरूप आवरण दूर हो गया है। इस मान्यता को इस उदाहरण द्वारा स्पष्ट किया जा सकता है कि जिस प्रकार शराब आदि मृत्पात्र-विशेष से पिहित कोई दीपक तब तक न तो स्वयं प्रकाशित होता है और न अन्य पदार्थों को ही प्रकाशित कर सकता है जब तक उसके आवरण का अपसरण न कर दिया जाय, उसी प्रकार अन्तःकरण में वासना रूप से स्थित तथा विभावादि से मिश्रित रत्यादि स्थायिभावों को प्रकाशित करता हुआ आत्मचैतन्य भी उन्हें तब तक आस्वाद्यमान नहीं बना सकता और न स्वयं ही प्रकाशित हो सकता है, जब तक उस पर आच्छादित अज्ञान-रूप आवरण का उच्छेद नहीं हो जाता। रत्यादि स्थायिभाव भी एक प्रकार से अन्तःकरण के ही धर्म हैं जो आत्म-चैतन्य से प्रकाशित होने के कारण 'साक्षिभास्य' कहलाते हैं। उनकी साक्षिभास्यता वेदांत-दर्शन से स्पष्ट की जा सकती है। वेदांत के अनुसार ब्रह्म अथवा सत् स्वरूप आत्मा के अतिरिक्त संसार के सभी पदार्थ मिथ्या हैं और संसार में जो घट और पट आदि बाह्य पदार्थ दृष्टिगोचर होते हैं वे केवल आत्मा के वृत्ति-रूप हैं। इसका यह अभिप्राय है कि अन्तःकरण-रूप द्वार ही से आत्मा का प्रकाश घट-पट रूप में भासित होता है और अन्तःकरण की सुखदुःखात्मक वृत्तियाँ भी आत्म-प्रकाश से ही प्रकाशित होती हैं। बाह्य पदार्थों को प्रकाशित करने में आत्मा के लिए अन्तःकरण की सहायता अपेक्षित होती है, किंतु अन्तःकरण की वृत्तियों को प्रकाशित करने में उसकी सहायता अपेक्षित नहीं होती है, क्योंकि उनको आत्मा स्वयमेव प्रकाशित करती है। यही कारण है कि अन्तःकरण की वृत्तियाँ साक्षिभास्य हैं जिसका अभिप्राय यह है कि वे आत्मा से प्रकाशित होती हैं।

यहाँ पर एक प्रश्न उपस्थित होता है कि रत्यादि स्थायिभाव तो अन्तःकरण के धर्म होने के कारण साक्षिभास्य माने भी जा सकते हैं किंतु शकुंतला आदि विभावों को

किस प्रकार साक्षिभास्य माना जाय जबकि उनकी स्थिति घट-पट जैसे बाह्य पदार्थों के सदृश है। उनकी प्रतीति में तो घट-पट जैसे बाह्य पदार्थों की भाँति आत्मा को अन्तःकरण की सहायता लेनी अनिवार्य-सी है। इसका उत्तर देते हुए यह कहा जा सकता है कि यों तो तुरग, रंग और रजत आदि बाह्य पदार्थ आत्मसाक्षिभास्य नहीं हैं, किन्तु जब स्वप्न में अश्व का ज्ञान होता है अथवा दूरत्व किंवा चाकचिक्य आदि दोषों के कारण रांगे में रजत का भ्रम हो जाता है तो अश्व और रंग आदि भी साक्षिभास्य बन जाते हैं। उस स्थिति में केवल आत्मा के ही द्वारा उन वस्तुओं का साक्षिभास्य होता है क्योंकि उस समय वे वास्तविक न रहकर काल्पनिक होती हैं। रस-प्रक्रिया में ठीक यही स्थिति शकुंतलादि विभावों की है। उन विभावों को भी साक्षिभास्य मानने में किसी भी प्रकार का तात्विक विरोध नहीं हो सकता, क्योंकि शकुंतला आदि विभाव भी भावनारूढ होने पर वास्तविक न होकर काल्पनिक ही होते हैं और उन सबका भाव चक्षुरादि बाह्येन्द्रियों से न होकर आत्मचैतन्यमात्र से होता है। रस की 'व्यक्ति' अथवा साक्षिभास्यता का यही रहस्य है।

रस का आत्मचैतन्यस्वरूप तथा नित्यत्व

रस को आत्मचैतन्यस्वरूप मानने पर यह स्वाभाविक है कि उसका नित्यत्व स्वीकार कर लिया जाय। उसकी नित्यता की स्वीकृति से 'उत्पन्नो रसः', 'विनष्टो रसः' जैसे सर्वानुभवगोचर व्यवहार असंगत सिद्ध हो जाते हैं, क्योंकि जब आत्मचैतन्य ही नित्य है तो उसका स्वरूप 'रस' भी अवश्यमेव नित्य ही होना चाहिए। आचार्यों ने रस के नित्यानित्य-रूप के विषय में समुद्भूत शंकाओं का समाधान अत्यंत तर्कसंगत दृष्टिकोण से किया है। उनका कथन है कि जिस प्रकार वैयाकरणों के मतानुसार वर्णादि की नित्यता होने पर भी उनके व्यंजक कंठताल्वादि व्यापारों में होने वाले उत्पत्ति तथा विनाश के आरोप से 'उत्पन्नो गकारः', 'विनष्टो गकारः' जैसे व्यवहार किये जाते हैं, उसी प्रकार रस का नित्यत्व होने पर भी उसके व्यंजक विभावादि में चर्वणा अथवा आवरण-भंग से होने वाले उत्पत्ति और विनाश सदृश धर्म 'रस' में आरोपित होते हैं जिनसे 'उत्पन्नो रसः', 'विनष्टो रसः' जैसे व्यवहार भी सहज संभव है। यहाँ एक प्रश्न यह भी उपस्थित होता है कि जब रत्यादि स्थायिभाव वासना-रूप से सदैव वर्तमान रहते हैं तो उनकी प्रतीति सर्वदा रसरूप में क्यों नहीं होती? इसका साधारण उत्तर यही है कि जब तक आत्मा के ऊपर रहने वाला अज्ञान का आवरण हटा रहता है तभी तक आत्मा रत्यादि भावों को भासित करती है और उसमें विभाव आदि की चर्वणा विद्यमान रहती है किंतु ज्यों ही आत्मा पर अज्ञानावरण छा जाता है, रत्यादि स्थायिभाव विद्यमान रहकर भी उसी प्रकार प्रकाशित नहीं हो पाते जिस प्रकार दीपक के शरावपिहित होने पर उसकी पार्श्ववर्ती वस्तुएँ भी प्रकाशित नहीं हो पातीं। आत्मा के अज्ञानावरण को निराकृत करने के लिए भावकत्व नामक जिस अलौकिक व्यापार की कल्पना की जाती है वह सहृदयता की सहायता से परिपक्व बनी हुई काव्यार्थ-विषयक भावना ही है जिसमें विभावादि के साधारणीकरण की क्षमता विद्यमान होती है। वस्तुतः भावना में भावकत्व

का पर्यवसान हो जाता है जिसके कारण सहृदयजन विभावादि का आस्वादन करने लगते हैं। उस आस्वादन का आनंद योगियों की समाधि-दशा से उपमित किया जा सकता है जिसका अभिप्राय यह है कि जिस प्रकार सविकल्प समाधि दशा में योगियों का अन्तःकरण आनंदमयी वृत्तियों में लीन होकर सांसारिक विषयों के ज्ञान से परे हो जाता है, उसी प्रकार स्थायिभावों से युक्त आनंदाकार-चित्तवृत्ति भी सहृदयजनों को ब्रह्मानंद-सहोदर काव्यानंद की अनुभूति प्रदान करती है।

नित्य तथा स्वप्रकाश्य स्थिति का निरूपण

आचार्यों ने जिस रूप में रस की नित्यता और स्वप्रकाशता सिद्ध की है वह सर्वथा युक्तिसंगत है। इसका कारण यह है कि चाहे ज्ञानात्मक चैतन्य के विषयीभूत रत्यादि स्थायिभावों को रस कहा जाय अथवा रति आदि स्थायिभाव विषयक चैतन्यात्मक ज्ञान को; दोनों ही स्थितियों में यह निश्चित है कि रस के स्वरूप में रत्यादि स्थायिभाव और चैतन्य दोनों ही आंशिक रूप से रहते हैं और दोनों ही विकल्पों में विशेषणीभूत अथवा विशेष्यीभूत चैतन्यांश को लेकर रस 'नित्य' तथा 'स्वप्रकाश' है। रस को जिस रूप में 'अनित्य' और 'परप्रकाश' कहा जाता है वह भी सर्वथा असंगत नहीं है, क्योंकि जिस प्रकार चैतन्यांश को लेकर रस 'नित्य' तथा 'स्वप्रकाश' है उसी प्रकार रत्यादि अंश को लेकर यह 'अनित्य' तथा 'परप्रकाश' रूप भी है। उसे जिस प्रयोजन से चर्व्यमाण कहा गया है, उसका अभिप्राय केवल इतना ही है कि रस की चर्वणा एक प्रकार से अन्तःकरण की आनंदाकार वृत्ति ही है जिसमें चैतन्यगत अज्ञानावरण का ध्वंस हो जाता है। विद्वानों ने रस की चर्वणा को ब्रह्मानंद से भी विलक्षण कहा है क्योंकि सविकल्पक समाधिकाल में जो ब्रह्मानंद प्राप्त होता है उसके आस्वाद का आलम्बन विषयविहीन शुद्ध 'आत्मानंद' है जो श्रवण, मनन और निदिध्यासनरूप व्यापारों से सम्पन्न होता है, जबकि रस-चर्वणा का आनंद ऐसा आत्मानंद है जो विभावादि विषयों और सांसारिक पदार्थों से मिश्रित भी रहता है। रस-चर्वणा की आनंदमयता वाणी से व्याख्यात नहीं की जा सकती और उसके विषय में केवल इतना ही कहा जा सकता है कि जिस प्रकार समाधिकाल में आत्म-सुख आभासित होता है उसी प्रकार रसास्वाद की वेला में भी आत्मसंवेद्य सुख का भान होता है। जिस प्रकार समाधि सुख आत्यंतिक, बुद्धिग्राह्य और अतीन्द्रिय है उसी प्रकार रसास्वाद भी, तभी तो श्रुति-वाक्यों में रस को 'रसो वै सः' तथा 'रस ह्येवायं लब्धवाऽनंदोभवति' कहा गया है। रस की आनंदमयता का व्यावहारिक निदर्शन सहृदयजनों के हृदय हैं जो काव्यानुशीलन द्वारा उसका आनंदपूर्ण आस्वादन करते हैं।

विश्वनाथ के विचार

रसात्मक वाक्य को काव्य की अभिधा प्रदान करने वाले आचार्य विश्वनाथ ने सहृदय के हृदय में वासनारूप से विद्यमान रत्यादि स्थायिभावों को उस स्थिति में रस-माना है जब वे कवि-वर्णित विभाव, अनुभाव और संचारिभावों के द्वारा अभिव्यक्त

होकर आस्वाद्य अथवा आनंद रूप हो जाते हैं।[1] विश्वनाथ द्वारा निर्धारित यह रस परिभाषा भरतमुनि के रस-निष्पत्ति-सूत्र की एक सुबोध और सरल विवृत्ति कही जा सकती है। इस परिभाषा से स्पष्ट है कि विश्वनाथ कविराज की दृष्टि में कविकृत विभावादि-योजना और सहृदयहृदय की रत्यादिवासना की रसमयता में व्यंग्यव्यंजकभाव-रूप-सम्बन्ध अनिवार्य होता है जैसाकि आचार्य अभिनवगुप्त भी मानते थे। ध्वन्यालोक-लोचन में इस बात का स्पष्ट उल्लेख है कि काव्य अथवा नाट्य का एकमात्र साध्य रसभावना ही है जिसकी सिद्धि में काव्य अथवा नाट्य का अभिव्यंजन-व्यापार ही साधन बनता है। उस अभिव्यंजन-व्यापार में गुणालंकारों का औचित्य अथवा समुचित शब्दार्थ-संयोजन परम सहायक अथवा उपकारी सिद्ध होता है। काव्य एवं नाट्य को रस के भावक कहने का यही अभिप्राय है कि वे रस के व्यंजक होते हैं जिनके अलौकिक अभिव्यंजन-व्यापार से रस का भोग अथवा आस्वाद संभव है। वस्तुतः 'रस का भोग' अथवा 'रस की व्यंग्यता' का एक ही रहस्य अथवा अभिप्राय है।[2] आचार्य मम्मट ने भी इस विषय में अपना अभिमत प्रकट करते हुए यही स्वीकार किया है कि काव्य अथवा नाट्य की अभिव्यंजना अथवा चर्वणा की अलौकिक विशेषता से विशिष्ट सहृदय-हृदय का रत्यादिरूप स्थायिभाव ही एक प्रकार का लोकोत्तर आनंदात्मक अनुभव होता है।[3] विश्वनाथ के मतानुसार रत्यादि स्थायिभावों के व्यक्त होने का अभिप्राय है उनका एक दूसरे रूप में (अर्थात् रस-रूप में) परिणत होना। रत्यादि भावों की यह रस रूप अभिव्यक्ति दुग्ध की दधि रूप में अभिव्यक्ति (परिणति) के सदृश समझी जानी चाहिए न कि दीपक द्वारा घट-पट की भाँति पूर्वसिद्ध स्थिति के समान। अभिनवगुप्त ने भी 'रस प्रतीत होते हैं' का स्पष्टीकरण 'ओदनं पचति अर्थात् भात पका रहे हैं' के व्यवहार से किया है। विश्वनाथ ने रस के स्वरूप का लक्षण निर्दिष्ट करते हुए रत्यादि के साथ स्थायिभाव विशेषण का प्रयोग साभिप्राय किया है क्योंकि एक रस में रति-रूपा चित्तवृत्ति स्थायी हो सकती है तो दूसरे रस में वही चित्तवृत्ति अस्थायी अथवा व्यभिचारी रूप में भी रह सकती है। वस्तुतः वही भाव स्थायी-भाव कहा जाता है जो रस-रूप में व्यक्त होता है।[4]

धनंजय का अभिमत

दशरूपककार धनंजय ने उस स्थायी भाव को रस कहा है जो विभाव, अनुभाव सात्विक भाव और व्यभिचारी भावों के द्वारा परिपुष्टता को प्राप्त होकर सहृदयजनों के चित्त में आस्वाद्य बनता है।[5] उसकी आस्वाद्यता का अभिप्राय यह है कि काव्यानुशीलन

---

१. विभावेनानुभावेन व्यक्तः संचारिणा तथा।
रसतामेति रत्यादिः स्थायीभावः सचेतसाम्॥—साहित्यदर्पण, ३-१।

२. अभिनवगुप्त : ध्वन्यालोकलोचन, पृ० १८९-९०।

३. मम्मट : काव्यप्रकाश, ४।२७-८।

४. विश्वनाथ, साहित्यदर्पण, तृतीय परिच्छेद, पृ० १०१।

५. धनंजय : दशरूपक, ४।१।

अथवा नाट्य-दर्शन द्वारा सहृदय पाठक अथवा प्रेक्षक अपने आत्मस्थ स्थायी भावों की रस-चर्वणा कर आनंदित होते हैं। चूंकि उस आनंद के आश्रय सहृदय सामाजिक ही होते हैं अतः उन्हें रसिक भी कहा जाता है। अचेतन काव्य में रस की निष्पत्ति की कारणता है, किंतु वह स्वयं रस नहीं है अतः उसे रस का आश्रय कहना तत्त्वसंगत नहीं माना जा सकता। 'रसवत् काव्यम्' अथवा 'रसवान् काव्य' जैसे प्रयोग 'आयुर्घृतम्' जैसे प्रयोगों की भांति लाक्षणिक मात्र हैं, क्योंकि जिस प्रकार आयुर्वृद्धि में घृत की कारणता देखकर 'आयुर्घृतम्' जैसे लाक्षणिक प्रयोग लोक-प्रचलित हो गये हैं उसी प्रकार 'रसवत् काव्यम्' अथवा रसयुक्त काव्य जैसे प्रयोग भी लोकव्यवहार में पाये जाते हैं।[1]

धनंजय ने चंद्रादि विभावों, निर्वेदादि संचारियों और रोमांचादि अनुभावों से भावित हुए जिस स्थायी भाव को रस माना है,[2] उसकी व्याख्या करते हुए धनिक ने लिखा है कि अतिशयोक्तिरूप काव्य-व्यापार में आहित चन्द्रादि विभावों, प्रमदादि आलम्बन विभावों, निर्वेदादि संचारियों और रोमांच, अश्रुनिक्षेप तथा कटाक्ष आदि अनुभावों से—जो अवांतर व्यापार के रूप में पदों के अर्थ हैं—विभावित अर्थात् भावरूपता को प्राप्त स्थायी भाव जब आस्वाद्य होता है तो उसे रस कहा जाता है। आचार्य भरतमुनि ने रत्यादि स्थायी भावों और शृंगारादि रसों के विभावादि का प्रतिपादन करते हुए उनके पृथक्-पृथक् लक्षण भी निर्दिष्ट किये हैं, किन्तु धनंजय का मत है कि उनके विभाव आदि की एकरूपता होने के कारण उन दोनों (रस और भाव) के लक्षण एक ही हैं। वस्तुतः धनंजय को रस का स्वरूप-लक्षण स्थायी भाव की आस्वाद्यता में ही स्वीकार है जिसमें विभाव, अनुभाव, सात्विक भाव और व्यभिचारी भाव साधन बनते हैं।

रसानुभूति का स्वरूप

कविराज विश्वनाथ आदि आचार्यों ने रसानुभूति का स्वरूप अत्यंत तत्त्वपूर्ण और सारगर्भित शब्दों में व्यक्त किया है। उनके मतानुसार 'काव्यानंद अथवा नाट्यानंद के उपभोक्ता केवल वे ही सहृदय अथवा सामाजिक (प्रेक्षक) हो सकते हैं जिनके हृदय में काव्य अथवा नाट्य के परिशीलन से सत्व का उद्रेक अथवा प्राकर्ष्य हो। सत्वोद्रेक के कारण सहृदय जनों को जो रसानुभूति होती है वह एक ओर 'अखंड' स्वयंप्रकाश, 'आनंदपूर्ण' और 'चिन्मय' कही जाती है तो दूसरी ओर उसे 'वेद्यान्तरस्पर्शशून्य' और 'ब्रह्मास्वादसहोदर' भी स्वीकार किया गया है। कुछ प्रमाताओं ने उसे 'लोकोत्तर-चमत्कारप्राण' तथा 'स्वाकारवत् अभिन्नता से आस्वाद्यमान' के रूप में भी निरूपित

---

१. वक्ष्यमाणस्वभावैर्विभावानुभावव्यभिचारिसात्विकैः काव्योपात्तैरभिनयोपदर्शितैर्वा श्रोतृप्रेक्षकाणामन्त-विपरिवर्तमानो रत्यादिर्वक्ष्यमाणलक्षणः स्थायी स्वादगोचरतां निर्भरानंदसंविदात्मतामानीयमानो रसः। तेन रसिकाः सामाजिकाः। काव्यं तु तथाविधानंदसंविदुन्मीलनहेतुभावेन रसवदायुर्घृतमित्यादिव्यपदेशवत्।—दशरूपक, ४।१, धनिक की वृत्ति।

२. दशरूपक, ४।४६।

किया है।[1] रस-स्वरूप तथा रसास्वाद के विषय में प्रयुक्त उपर्युक्त विशेषण सर्वथा समुचित और अनुभवसिद्ध हैं, क्योंकि उनमें काव्यास्वादन के आनंद का रहस्य अंतर्निहित है। विश्वनाथ ने इन विशेषणों का चयन अपने पूर्ववर्ती आचार्यों की मान्यताओं के आधार पर करते हुए उनके निरूपण में अपना निजी वैशिष्ट्य भी प्रदर्शित किया है। वस्तुतः रसानुभूति के लिए 'सत्वोद्रेक' की अनिवार्यता का उल्लेख पुरावर्ती आचार्यों के मत का पुनराख्यान-सा है, क्योंकि जब तक सहृदय की मनःस्थिति सत्वपूर्ण नहीं होती तब तक वह काव्यास्वाद का अधिकारी ही नहीं माना जा सकता। 'सत्वोद्रेक' काव्यास्वादन की प्रक्रिया का मेरुदण्ड है जिस पर काव्य की रसमयता अधिष्ठित है। विद्वानों ने 'सत्व' शब्द की विवेचना विविध दृष्टियों से की है जिनमें अवान्तर मतभेद होते हुए भी तत्त्वपूर्ण उपलब्धि का विचित्र साम्य है। साधारणतया रसास्वाद के प्रसंग में सत्व का अभिप्राय है मन की एक ऐसी अवस्था जो सहृदय सामाजिकों को घटपटादि वस्तुओं के ज्ञान से विमुख अथवा विरक्त बना देती है। 'सरस्वतीकंठाभरण' के लेखक आचार्य भोज ने 'रजस्तमोभ्यामस्पृष्टं मनः सत्वमिहोच्यते' द्वारा बतलाया है कि मन के उस स्वरूप को सत्व कहा जाता है जिसमें रजोगुण और तमोगुण का कोई संस्पर्श न हो। 'ऐसी मनःस्थिति के उद्रेक अथवा प्राबल्य का स्पष्ट अर्थ यही है कि सत्व की प्रतिष्ठा से रजोगुण और तमोगुण अभिभूत हो जाते हैं और चित्त में किसी भी प्रकार की क्षुब्धता अथवा संकीर्ण मोहान्धता नहीं रहती। आचार्यों का मत है कि जब विभावादि रूप अलौकिक काव्यार्थ में सहृदयों के मानस का अंतर्लय अथवा अभिनिवेश हो जाता है तभी सत्व का उद्रेक समझना चाहिए। सत्वोद्रेक होने पर ही भावकजनों का अन्तःकरण काव्य-रस के भोग का अधिकारी होता है क्योंकि तत्त्वतः वही एकमात्र आनंदपूर्ण आतमसंवेदन का स्वरूप है।

विश्वनाथ आदि आचार्यों ने रस को जिस अर्थ में 'अखण्ड' कहा है उसका मूल मंतव्य केवल इतना ही है कि सहृदय जनों को जिस समय रस अथवा काव्यास्वादन का आनंद उपलब्ध होता है उस समय उनके अनुभव का विषय विभावादि के पृथक्-पृथक् अनुभवों में खंडित नहीं होता अपितु वह एक आनंदघन चमत्कारपूर्ण और अलौकिक संवेदन रूप रहता है। रस की स्वप्रकाशता इस तथ्य में निहित है कि रसानुभूति किसी अन्य ज्ञान का विषय न बनकर स्वयं प्रकाशित होती है। उसके चिन्मय होने का अर्थ यह है कि वह चिद्रूप अर्थात् स्वप्रकाशानंदरूप है क्योंकि इस प्रसंग में प्रयुक्त 'चिन्मय' पद का 'मयट्' प्रत्यय 'प्राचुर्य' अर्थ का व्यंजक न होकर 'स्वरूप' अर्थ का व्यंजक है। भट्टनायक ने 'भोग' तथा अभिनवगुप्त ने 'सत्वोद्रेकप्रकाशानंदमयनिजसंविद्-विश्रांति-रूप' अनुभव द्वारा इसी तत्त्व की ओर संकेत किया था कि रसानुभूति 'अखंडस्वप्रकाशानंदचिन्मय' होती है। उनके कथन का भी यही अभिप्राय था कि रस-दशा की संभावना

---

१. सत्वोद्रेकादखण्डस्वप्रकाशानंदचिन्मयः।
वेद्यान्तरस्पर्शशून्यो ब्रह्मास्वादसहोदरः॥
लोकोत्तरचमत्कारप्राणः केश्चित् प्रमातृभिः।
स्वाकारवदभिन्नत्वे नायमास्वाद्यते रसः॥—विश्वनाथ, साहित्यदर्पण, ३।२-३।

सामाजिकों के सत्वोद्रेक के कारण होती है और रसानुभूति को एक प्रकार से सहृदय
सामाजिकों का साक्षात् आत्मसाक्षात्काररूप कहा जा सकता है जिसकी विद्यमानता में
न तो मन की चंचलता रहती है और न उसकी मोहांधता ही। विश्वनाथ ने रसास्वाद
को जिस रूप में 'वेद्यान्तरस्पर्शशून्य' और 'ब्रह्मानंदसहोदर' कहा है उस पर आचार्य
अभिनवगुप्त और मम्मट की मान्यताओं का पर्याप्त प्रभाव है। आचार्य अभिनवगुप्त ने
रस को जिस अर्थ में 'चर्व्यमाणतैकसार' कहा है, उसी अर्थ में विश्वनाथ ने उसे
'वेद्यान्तरस्पर्शशून्य' माना है। वस्तुतः रसरूप-अनुभव में किसी भी अन्य वेद्यवस्तु का
कोई भी अनुवेध या सम्पर्क सम्भव नहीं होता। रस की वेद्यान्तरस्पर्शशून्यता के कारण
उसके 'ज्ञेय-ज्ञातृत्व-भाव का विश्लेषण नहीं किया जा सकता। कहने के लिए हम भले
ही रस को 'ज्ञेय' और प्रमाता को 'ज्ञाता' कहें किंतु रस मूलतः एक ऐसा स्वप्रकाशा-
नंदात्मक आत्मानुभव है जो अपनी वेद्यान्तरस्पर्शशून्यता के कारण 'ब्रह्मानंदसहोदर'
कहा जाता है। यहाँ यह बात ध्यान में रखने की है कि रस ब्रह्मानंदरूप न होकर उसके
सदृश रूप है तभी तो उसे ब्रह्मानंद का सहोदर कहा गया है क्योंकि ब्रह्मानंद में तो
विशुद्ध चिदानंदात्मक अनुभव होता है जबकि काव्यानंद अथवा रसानुभूति में 'रत्यादि
संवलित' चिदानंदस्वरूप की अनुभूति रहती है।

रस की स्वरूप-विवेचना तथा आस्वाद्यता के लिए जो 'लोकोत्तर चमत्कारप्राण'
विशेषण दिया जाता है, वह अत्यंत उपयुक्त है। यों तो अनेक आचार्यों ने 'चमत्कार'
पद की व्याख्या विविध दृष्टियों से की है और उसे 'सकलविघ्नविनिर्मुक्त संवित्' माना
है, किंतु इस विषय में आचार्य अभिनवगुप्त का मत सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है। उनकी
विवेचना से स्पष्ट है कि 'चमत्कार' केवल निर्विघ्न संवेदन ही नहीं, अपितु 'अद्भुत
भोगात्मस्पंदावेशरूप' भी है जो साक्षात्कार-स्वभाव, मानस-अध्यवसाय, संकल्प अथवा
स्मृति के रूप में हमारे मानस में प्रस्फुटित होता है। उनका यह मत सर्वथा उचित है
क्योंकि चमत्कार के कारण हमें जो विस्मय-सुख मिलता है, वह एक प्रकार का विचित्र
आनंदावेश ही है। आचार्य विश्वनाथ ने 'चमत्कार' को 'चित्त का विस्तार रूप अपर
विस्मय' कहा है जिससे स्पष्ट है कि वे उसे रस-रूप अनुभव का प्राणतत्त्व मानना
युक्तिसंगत समझते थे। उन्होंने अपने वृद्ध प्रपितामह के संरक्षण में प्रचलित हृदयगोष्ठी
के एक वरिष्ठ कवि श्री नारायण पंडित का उल्लेख करते हुए लिखा है कि 'उनके मत
से तो चमत्कार ही रस में सारभूत तत्त्व है जिसका अनुभव सर्वत्र किया जाता है। 'अपनी
धारणा में श्री नारायण पंडित इतने सुदृढ़ थे कि उन्होंने 'चमत्कार' पद पर बल देते हुए
समस्त रसों में अद्भुत रस का समावेश मान लिया।[1] नारायण पंडित का यह मत एक
विशेष प्रकार की विवेचना द्वारा युक्ति-प्रतिपादित प्रतीत होता है, क्योंकि यदि 'चमत्कार'
का अर्थ 'एक अलौकिक और निर्विघ्न संवेदन' है तो उससे अधिक अन्य कोई भी पद
रसानुभूति का व्यंजक नहीं हो सकता। ऐसे 'लोकोत्तर चमत्कार-प्राण' रस की चर्वणा

१. रसे सारश्चमत्कारः सर्वत्राप्यनुभूयते।
तच्चमत्कारसारत्वे सर्वत्राप्यद्भुतो रसः।—साहित्यदर्पण, तृतीय परिच्छेद।

केवल वे ही व्यक्ति कर सकते हैं जो या तो पूर्वजन्म के संचित पुण्यों के कारण काव्यार्थ के परिशीलन अथवा भावन-कार्य में समर्थ हों या रसानुभूति की वेला में जिनमें योगियों की भाँति 'समाधि-स्थिति' विद्यमान रहे। विश्वनाथ ने रस को 'स्वाकारवदभिन्नत्वेनाय-मास्वाद्यते रसः' कहकर एक प्रकार से आचार्य मम्मट के 'स्वाकार इवाभिन्नोऽपि गोचरीकृतः' का ही समर्थन किया है। आचार्यों का यह रस-विषयक दृष्टिकोण अत्यंत तत्त्वसंवलित है क्योंकि उसमें ज्ञाता और ज्ञेय अथवा प्रमाता और प्रमेय की अभिन्नता अंतर्निहित है जिसके आधार पर कहा जा सकता है कि जिस प्रकार परिणामवादी दार्शनिकों के मतानुसार ज्ञान और उसके विषय में अभेद होता है, उसी प्रकार रस दार्शनिकों की दृष्टि में भी आस्वाद और आस्वादविषय 'रस' परस्पर भिन्न न होकर एक ही तत्त्व के प्रकाशन हैं। केवल सहृदय सामाजिक ही रसास्वाद करते हैं। इस कथन का रहस्य यह है कि सत्वोद्रेक के कारण केवल सहृदय सामाजिकों को ही स्वप्रकाशानंद-स्वरूप आत्मतत्त्व का साक्षात्कार हुआ करता है। साहित्यदर्पण के टीकाकार तर्कवागीश ने भी बुद्धि को स्वात्मरूपप्रकाशिका कहकर इसी मत का समर्थन किया है।[1]

स्वरूप-बोध के अन्य पक्ष

आचार्यों ने रस का स्वरूप-विश्लेषण करते हुए उसे और भी अनेक प्रकार के तर्कों से स्पष्ट करने की चेष्टा की है। उनके मतानुसार रस को कारणजन्य कार्य रूप पदार्थ नहीं कहा जा सकता और न उसे नित्यवस्तु ही माना जा सकता है। यदि रस को कार्य माना जाय तो विभावादि ज्ञान को ही उसका कारण मानना पड़ेगा जो युक्तिसंगत नहीं है क्योंकि रस तो एकमात्र 'विभावादि-समूहालम्बनात्मक संवेदन-रूप' है अतः विभावादि का ज्ञान रस का कारण कैसे माना जा सकता है? आचार्य अभिनवगुप्त ने भी स्पष्ट शब्दों में कहा है कि रस न तो कार्य है और न विभावादि-बोध रस का कारण। यदि ऐसा होता तो विभावादिबोध के नष्ट हो जाने पर भी रस का अनुभव हो सकता था, क्योंकि जो कार्य कारणजन्य होते हैं वे कार्य, कारणों के नष्ट होने पर भी, विद्यमान रह सकते हैं। विश्वनाथ ने इसी मत को कुछ रूपान्तरित करते हुए प्रस्तुत किया है जिसका आशय यह है कि जिस प्रकार चंदन आदि के स्पर्श का ज्ञान और उससे प्राप्त होने वाला सुख एक ही संवेदन के विषय नहीं होते, उसी प्रकार रस-रूप (कार्य) और विभावादि बोध-रूप कारण की एक ही समय में स्थिति नहीं हो सकती। चूंकि विभावादि बोध और रसरूप आनंद एक ही समय में संवलित एकधन सुखसंवेदन के रूप हैं, अतः उन पर कारण-कार्य का सिद्धान्त घटित नहीं किया जा सकता। इसके साथ-साथ रस को 'नित्य' मानना भी उचित नहीं है, क्योंकि विभावादि के परामर्श से पूर्व उसकी प्रतीति ही असंभव है और जब प्रतीति के पूर्व उसका कोई अस्तित्व नहीं तो फिर रस

---

१. नान्योऽनुभाव्यो बुद्धयास्ति तस्या नानुभवो परः।
ग्राह्य ग्राहक वैधुर्यात् स्वयं सैव प्रकाशते।—साहित्यदर्पण, निर्णयसागर, संस्करण, पृ० ७२।

को किस प्रकार नित्य माना जा सकता है ? रस की अनित्य स्थिति को ही ध्यान में रखकर आचार्यों ने उसे 'ब्रह्मास्वादसंविध' अथवा 'ब्रह्मानंदसहोदर' कहा है, क्योंकि यदि उसे ब्रह्मास्वादरूप कहा जाता तो वह 'नित्यत्व' प्राप्त कर लेता और उसकी निष्पत्ति के लिए विभावन-व्यापार अथवा काव्य-कृति की कोई आवश्यकता नहीं रहती। सच तो यह है कि रस की स्थिति नित्य न होते हुए भी अलौकिक और विलक्षण अवश्य है, तभी तो उसे ब्रह्मास्वाद का सादृश्य प्रदान किया गया है। वस्तुतः काव्य का आत्मभूत तत्त्व रस एक अनिर्वचनीय विषय है, क्योंकि उसके सम्बन्ध में अन्य वस्तुओं की-सी कोई संभावना नहीं हो सकती। उसे काव्य अथवा नाट्य की भावना के पश्चात् उद्भूत होने वाली भावी वस्तु कहना भी समुचित नहीं है, क्योंकि वह तो काव्य-नाट्य-भावना का ही समकालीन एक साक्षात् स्वप्रकाशानंदमय अनुभव है। उसे वर्तमान वस्तु मानना भी असंगत है, क्योंकि न तो वह कोई कार्यजन्य वस्तु है और न ज्ञाप्य वस्तु ही। उसे निर्विकल्पक ज्ञान का विषय भी नहीं माना जा सकता क्योंकि सहृदयों के अनुभव से सिद्ध है कि वह विभावादि के परामर्श का विषय बनता है तथा उसकी अनुभूति आत्यंतिक सुख-चमत्कार के रूप में संवेदनाजन्य होती है। उसे सविकल्पक ज्ञान का विषय मानना भी युक्तिपूर्ण नहीं है, क्योंकि सविकल्पक ज्ञान या संवेदन की वस्तुएँ (घटपटादि) किसी न किसी वाचक पद द्वारा संकेतित की जा सकती हैं जबकि रस के सम्बन्ध में कोई भी वाचक शब्द प्रयुक्त नहीं किया जा सकता। अभिप्राय यह है कि रस न तो नित्य वस्तु है और न भावी तथा वर्तमान वस्तु ही। वह तो एक ऐसा अलौकिक स्वसंवेदनसंवेद्य तत्त्व है जिसका न तो बौद्धिक विश्लेषण ही किया जा सकता है और न उसे शब्द-वाच्य ही माना जा सकता है। अतः सभी दृष्टियों से रस की स्थिति लोकोत्तर-वैलक्षण्यमय प्रतीत होती है। इस विषय में हम आचार्य विश्वनाथ की निम्नलिखित कारिकाएँ उद्धृत करना आवश्यक समझते हैं जिनमें उपर्युक्त विवेचना का निष्कर्ष विद्यमान है—

नायं ज्ञाप्यः स्वसत्तायां प्रतीत्य व्यभिचारतः।
यस्मादेष विभावादिसमूहालम्बनात्मकः॥
तस्मान्न कार्यः नो नित्यः पूर्वसंवेदनोज्झितः।
असंवेदनकाले हि न भावोऽप्यस्य विद्यते॥
नापि भविष्यन् साक्षादानंदमय स्वप्रकाशरूपत्वात्।
कार्यज्ञाप्यविलक्षणभावान्नो वर्तमानोऽपि॥
विभावादिपरामर्शविषयत्वात् सचेतसाम्।
परानंदमयत्वेन संवेद्यत्वादपि स्फुटम्॥[1]

रस के स्वरूप के सम्बन्ध में कतिपय अन्य विशेषताओं का उल्लेख करना भी आवश्यक है जिनमें सर्वप्रथम उल्लेखनीय बात यह है कि वह परोक्ष तथा प्रत्यक्ष ज्ञान से परे होने के कारण अनिर्वचनीय स्वरूप है। रस को परोक्ष अथवा अतीन्द्रिय मानने में यह कठिनाई है कि वह साक्षात् अनुभव स्वरूप-सा प्रतीत होता है किंतु उसे प्रत्यक्ष रूप भी नहीं माना जा सकता, क्योंकि वह एक ऐसा अलौकिक शाब्दज्ञान है जिसकी निष्पत्ति

१. विश्वनाथ : साहित्यदर्पण, ३।२०-२४।

काव्य अथवा नाट्य से उत्थापित विभावादि के ज्ञान द्वारा होती है। साहित्यदर्पणकार ने रस की परोक्षता तथा प्रत्यक्षता का विचार कर उसे अनिर्वचनीय कहना अधिक उपयुक्त समझा है। उनका मत है कि वस्तुतः रस एक ऐसा अलौकिक तत्त्व है जो एकमात्र सहृदय सामाजिकों द्वारा अपने तात्त्विक रूप में संवेद्य समझा जाता है।[1] उसके सद्भाव का सबसे बड़ा प्रमाण यही है कि वह सहृदय सामाजिकों की चर्वणा अथवा रसना का ही रूप है। रस के 'रस्यमानतामात्रसार' तथा 'चर्वणा-रूप' होने से सहृदयों के आस्वादानुभव के अतिरिक्त अन्य किसी भी प्रमाण को उद्धृत करने की आवश्यकता नहीं है। वस्तुतः 'चर्वणा' का अभिप्राय है 'आस्वादन' और 'आस्वादन' का अर्थ है 'विभावादि-संवलित रत्यादि भावों से भावित सहृदय-हृदय का चमत्कार'।[2] सच तो यह है कि स्वप्रकाशानंदमय रस के अस्तित्व में रसनारूप प्रतीति के अतिरिक्त अन्य कोई प्रमाण नहीं दिया जा सकता। उसकी अलौकिकता का संकेत तो पूर्ववर्ती प्रघट्टक में किया ही जा चुका है। इस विषय में हमें 'चर्वणैव भगवती स्वसंवित्स्वरूपादभिन्ने तस्मिन् प्रमाणम्' का ध्यान आता है जिसमें यह कहा गया है कि रस वस्तुतः स्वसंवेदनस्वरूप तत्त्व है जिसका अस्तित्व चर्वणा अथवा रसना से प्रमाणित किया जा सकता है। यह चर्वणा एक प्रकार की अलौकिक प्रतीति है जिसे 'रसब्रह्म की माया' कहना समीचीन प्रतीत होता है।

रस और आस्वाद का सम्बन्ध

विश्वनाथ आदि आचार्यों ने रस और आस्वाद का तादात्म्य स्वीकार किया है यद्यपि व्यवहार में यही कहा जाता है कि 'रस का आस्वाद किया जाता है'। वस्तुतः सहृदय सामाजिक द्वारा अनुभूत काव्य तथा नाटक का आस्वाद विभावादि संवलित रत्यादि रूप काव्यार्थ से सम्पृक्त सहृदय सामाजिक के आत्मानंद का ही आस्वाद है जिससे स्पष्ट है कि रस और आस्वाद में किसी भी प्रकार की कोई भिन्नता नहीं है। 'रसः स्वाद्यते अर्थात् रस का आस्वादन किया जाता है' कथन से रस और आस्वाद की अभिन्नता ही माननी चाहिए क्योंकि रस स्वतः ही अपने स्वरूपभूत अर्थात् अपने से अभिन्न आस्वाद का विषय हुआ करता है। रस और आस्वाद भेद-कल्पना 'राहोः शिरः' अथवा 'राहु का सिर' जैसे उदाहरण से स्पष्ट की गई है जिसका भेदाभेद-निर्णय कर्मकर्तृप्रक्रिया से बोधगम्य हो जाता है। वस्तुतः रस और आस्वाद में कोई भेद नहीं है। विद्वानों ने 'रस्यमानतामात्रसारत्वात् प्रकाश शरीरादनन्य एव हि रसः' कहकर रस और आस्वाद में अनन्य भाव सिद्ध किया है। व्यावहारिक दृष्टि से रस और आस्वाद में जो भेद माना जाता है वह काल्पनिक अथवा उपचार मात्र है। दशरूपककार धनंजय ने भी 'स्वादः काव्यार्थसंभेदादात्मानंदसमुद्भवः' द्वारा रस और आस्वाद की एकता सिद्ध की है।

---

१. तस्मादलौकिकः सत्यं वेद्यः सहृदयैरयम्।
प्रमाणं चर्वणैवात्र स्वाभिन्ने विदुषां मतम्।।—विश्वनाथ, साहित्यदर्पण, ३।२६।

२. चर्वणा आस्वादनं। तच्च 'स्वादः काव्यार्थसंभेदादात्मानंदसमुद्भवः'
इत्युक्तप्रकारम्।—वही, ३।२६ की विवृति।

रस और आस्वाद की एकरूपता मानने पर इस बात की शंका उत्पन्न होती है कि जब रस अथवा आस्वाद स्वप्रकाशानंदस्वरूप संवित् हैं तो फिर रस को अनुभव का विषय कैसे सिद्ध किया जा सकता है ? यह एक विचित्र बात है कि रस अथवा आस्वाद को प्रकाशरूप भी मान लिया जाय तथा प्रकाश अथवा संवेदन का विषय-रूप भी। यदि यह कहा जाय कि रस अथवा आस्वाद व्यंजना द्वारा वेद्य है तो भी उचित नहीं है, क्योंकि रस अथवा आस्वाद की भाँति व्यंजना भी एक ज्ञान-विशेष ही है जिससे रस और व्यंजना की अभिन्नता प्रतिपादित होती है। रस और व्यंजना को एक ही तत्त्व मानने पर रस को व्यंग्य-व्यंजना-वेद्य मानने में कठिनाई हो सकती है, क्योंकि रस तभी व्यंग्य कहा जा सकता है जब व्यंजना उससे एक पृथक् तत्त्व हो। वस्तुतः व्यंजक-व्यंग्य भाव प्रदीप और घट जैसी भिन्न वस्तुओं में ही संभव है तो फिर क्या रस को व्यंग्य और विभावादि को व्यंजक मानना युक्तिसंगत नहीं है ? इसका उत्तर देते हुए आचार्यों ने रस की अलौकिकता को पूर्णतया ध्यान में रखा है। आचार्य अभिनवगुप्त का मत है कि 'आस्वादन रूप व्यापार सर्वथा विलक्षण, अलौकिक और अनिर्वचनीय व्यापार है जो कारक हेतु के कृतिरूप तथा ज्ञापक हेतु के ज्ञप्तिरूप व्यापारों से विलक्षण है।' वस्तुतः आस्वादनात्मक व्यापार से रस अथवा आस्वाद संभव है, अतः उसे रसन, आस्वादन और चमत्करण आदि विलक्षण शब्दों से सूचित किया जाता है। रस को व्यंग्य मानने वाले आचार्यों का मूल अभिप्राय यह है कि व्यंजना-वृत्ति को स्वीकार किये बिना काव्यनाट्य के परमार्थभूत रसभावादिरूप अर्थ की प्रतीति हो ही नहीं सकती, क्योंकि उस प्रतीति में अभिधा, लक्षणा तथा तात्पर्या नामक वृत्तियों से काम नहीं चल सकता। 'रस व्यंग्य है' इसका स्पष्ट आशय इतना ही है कि वह एक विलक्षण रसनात्मक व्यापार का विषय है और वह व्यापार अनिर्वचनीय व्यंजना-वृत्ति के अतिरिक्त अन्य कोई व्यापार नहीं हो सकता। विश्वनाथ ने रस को ज्ञान-रूप तथा व्यंजना-वेद्य कहकर अभिनवगुप्त के उस मत का समर्थन किया है जिसके अनुसार काव्यनाट्य की अभिधादि शक्तियों से विलक्षण तथा व्यंजना शक्ति से प्रादुर्भूत रसनात्मक प्रतीति होती है। काव्य और नाट्य की व्यंजना विभाव आदि के साधारणीकरण से लेकर रसना-रूप प्रतीति पर्यन्त स्फुरित होती रहती है, अतः 'रस' और 'रसना' रूप प्रतीति में औपचारिक अभेद मानकर रस को व्यंजनाजन्य अथवा व्यंग्य मान लिया जाय तो उसमें कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए।

रसास्वाद का वैलक्षण्य

विद्वानों ने जिस आनंदाकार चित्तवृत्ति को रसचर्वणा कहा है, वह शब्द के व्यंजना-व्यापार से उत्पन्न होने के कारण 'शाब्दबोधरूपा' तथा अपरोक्ष सुख के आलम्बन के कारण 'प्रत्यक्षरूपा' है। नैयायिकों ने शाब्दबोध की गणना परोक्ष ज्ञान में करते हुए प्रत्यक्षबोध के साथ उसका अंतर्विरोध निरूपित किया है, किंतु वेदांतियों ने 'तत्वमसि' जैसे सुप्रसिद्ध श्रुतिवाक्यों के आधार पर जीव और ब्रह्म में ऐक्यबुद्धि मानकर उस बुद्धि को शब्दजन्य होने के कारण 'शाब्द' तथा अपरोक्ष ब्रह्म विषयक होने से 'प्रत्यक्ष' रूप कहा है, जिसके आधार पर तत्त्वदर्शी काव्यशास्त्रियों ने भी रसचर्वणा को 'शाब्द' तथा

'प्रत्यक्ष'—दोनों रूप में स्वीकार किया है। इस प्रकार की रसविषयक मान्यता का समर्थन अभिनवगुप्त तथा मम्मट आदि आचार्यों की विवेचना से भी किया जा सकता है।

यों तो काव्यास्वादन का आनंद 'ब्रह्मानंद से भिन्न' तथा लौकिक कारणों से उत्पन्न होने के कारण 'चित्तवृत्ति विशेषात्मक लौकिक आनंद' रूप ही है, किंतु उसे स्रक् और चन्दनादि उपभोगजन्य लौकिक सुखों से विलक्षण ही समझना चाहिए। इसका कारण यह है कि अन्य लौकिक सुख 'अन्तःकरण की वृत्तियों से युक्त चैतन्यस्वरूप' होते हैं, जबकि रसरूप काव्यानंद अन्तःकरण की वृत्तियों से युक्त चैतन्यस्वरूप न होकर 'शुद्ध चैतन्यस्वरूप' है और उस आनंद की अनुभूति के समय प्रमाता की चित्तवृत्ति आनन्दरूप में ही परिणत हो जाती है। उस चित्तवृत्ति को रसात्मक आनन्द की अनुभूति का अवच्छेदक या इयत्ताग्राहक धर्म भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि वह आनन्द अनवच्छिन्न और इयत्तारहित होने के कारण लौकिक सुखों की अपेक्षा विलक्षण होता है। काव्यानन्द की इसी विलक्षणता को ध्यान में रखकर मम्मट तथा अभिनवगुप्त आदि आचार्यों ने भग्नावरणचिद्विशिष्ट रत्यादि स्थायिभावों को ही 'रस' कहा है। यहाँ यह बात ध्यान में रखने योग्य है कि चैतन्य विषयीभूत रत्यादि को रस न मानकर ऐसे आवरणमुक्त शुद्ध चैतन्य को ही 'रस' मानना चाहिए जिसके विषय रत्यादि स्थायिभाव हों। ऐसा मानने से 'रसो वै सः' इत्यादि श्रुतिवाक्यों का भी विरोध नहीं हो सकेगा।

आचार्यों ने रसास्वाद की विलक्षणता अनेक तर्कों के आधार पर प्रतिपादित की है। उनका मत है कि काव्य-रस का आस्वादन अनुमिति अथवा स्मृति के द्वारा भी नहीं किया जा सकता। इसका कारण यह है कि रसादिरूप व्यंग्यार्थ के अनुमेय होने में जितने भी हेतु उपस्थित किये जाते हैं वे सद्धेतु न होकर हेत्वाभासमात्र हैं। चूंकि रस का स्वरूप साक्षात्कारात्मक होता है अतः उसे पूर्वानुभव का संस्कारप्रबोधरूप स्मरण भी नहीं कहा जा सकता। वस्तुतः साक्षात्कार और संस्कार-प्रबोध में जो अन्तर है, वही अन्तर रस्यमानतासार रस तथा रत्यादि की स्मृति में है। इस प्रकार की मान्यता रखने वाले विद्वानों ने व्यक्तिविवेककार आचार्य महिमभट्ट की उस मान्यता का खंडन किया है जिसके अनुसार रसादि की प्रतीति एक प्रकार की अनुमिति ही है। इन विद्वानों का मत है कि रसानुमिति और रसाभिव्यक्ति को एक ही वस्तु सिद्ध नहीं किया जा सकता, क्योंकि केवल अनुमान के द्वारा स्वप्रकाशानंदस्वरूप और सहृदयहृदयसंवेद्य रस की सिद्धि सम्भव नहीं है। सच तो यह है कि रस प्रतीति की संसिद्धि अनुमानप्रक्रिया से करने पर हेतु में व्यभिचार हो जाता है जिससे 'व्याप्तिग्रह' की सम्भावना नहीं रहती तथा हेतु की सिद्धि भी नहीं होती। वास्तव में रामादिगत रत्यादि की प्रतीति और रस अथवा काव्यास्वादन की चमत्कारात्मक अनुभूति में 'यत्र यत्र धूमस्तत्र तत्र वह्निः' सदृश 'व्याप्ति' ही नहीं होती। काव्य और नाट्य के ऐसे अनेक पाठक और प्रेक्षक (मीमांसक और वैयाकरण आदि) होते हैं जिन्हें काव्य-नाट्य-समर्पित विभावादि की प्रतीति से रामादिगत रत्यादि की प्रतीति को भी हेतु नहीं माना जा सकता, क्योंकि वहाँ न तो किसी प्रकार की व्याप्ति का निश्चय सम्भव है और न उसमें पक्षवृत्तिता ही निर्धारित है। वस्तुतः वहाँ तो केवल हेत्वाभास है। अनुमितिवादी आचार्यों ने जिस अनुमान-प्रक्रिया

का आश्रय लेकर रसानुमिति को सिद्ध करने का प्रयत्न किया है वह युक्तिसंगत नहीं है। चूंकि रामादिगत रत्यादि भाव की प्रतीति में सहृदयहृदयसंवेद्य सान्द्रानन्द निर्भर रस की हेतुता नहीं रहा करती, अतः 'रस' नामक पदार्थ अनुमेय न होकर एकांततः अभिव्यंग्य अथवा रसनीय काव्यार्थ होता है। इतना ही नहीं, व्यंजनावादियों की दृष्टि में तो वस्तु अथवा अलंकाररूप प्रतीयमान अर्थ भी अनुमेय नहीं होता, अपितु अभिव्यंग्य ही होता है।

रसास्वाद की जटिलता का विमर्श

रसास्वाद की चमत्कारजन्य विलक्षणता और जटिलता के विषय में मुक्तिवादी तथा अभिव्यक्तिवादी आचार्यों के भिन्न-भिन्न मत हैं। मुक्तिवादियों की मान्यता है कि तटस्थ भाव से रस की प्रतीति मानने पर उसमें आस्वाद्यता अर्थात् चमत्कार का गुण नहीं आ सकता और चमत्कार के अभाव में रस की सत्ता असम्भव है, क्योंकि चमत्कार को ही रस का सार (रसे सारश्चमत्कारः) कहा है। तटस्थ अथवा उदासीन भाव से शकुंतला आदि विभावों में यदि रत्यादि की प्रतीति मान भी ली जाय तो भी उनमें आस्वाद्यता नहीं मानी जा सकती, क्योंकि 'सर्वं खल्वात्मनः कामाय प्रियं भवति' के सिद्धांतानुसार वे विभाव हमारे लिए तभी चमत्कारजनक बन सकते हैं जब उनमें हमारी रति प्रतिष्ठित हो। शकुंतला आदि विभावों के प्रति हमारे मन में पूज्यभावना होने के कारण उनमें हमारी रति की प्रतीति संभव नहीं हो सकती और जब वे हमारे विभाव ही नहीं होते तो उनमें तटस्थ भावना होने के कारण प्रमाता का प्रेम किस प्रकार कल्पित किया जा सकता है ? वस्तुतः विभाव ही रस के मूल कारण हैं अतः उनके बिना रति आदि का ज्ञान हो ही नहीं सकता, क्योंकि प्रेमपात्र अथवा आलम्बन के अभाव में कोई व्यक्ति अपने को प्रेमी समझे, यह भला कैसे सम्भव है ? यदि यह कहा जाय कि शकुंतला आदि में कांतात्व की साधारण विभावता मानकर उन्हें सामाजिकों की रति का आलम्बन माना जा सकता है तो भी उचित नहीं है क्योंकि कांतात्वमात्र ही रसोद्गम के लिए पर्याप्त नहीं होता। कांतात्व के साथ-साथ उनमें 'अगम्यात्वप्रकारक ज्ञान' का भी अभाव होना अनिवार्य है अन्यथा स्वसा और माता आदि भी रति-भाव की आलम्बन रूपा हो सकती हैं। सच तो यह है कि शकुंतला आदि जो पूज्य कोटि की नायिकाएँ हैं उनके प्रति अगम्या रत्याकारक ज्ञान ही सामाजिकों में रहता है और उस ज्ञान में अप्रामाण्यनिश्चय जैसी धारणा भी नहीं होती। अतः 'शकुंतलाविषयक रति वाला मैं हूँ' जैसी आत्मगत भावना न बन सकने के कारण उनमें रस की प्रतीति नहीं हो सकती। अभिप्राय यह है कि कांतात्व को ही विभावतावच्छेदक धर्म मात्र मानना उचित नहीं है क्योंकि रति का आलम्बन होने के लिए नायिका में कुछ 'विशेषों' का रहना भी आवश्यक है। कहने की आवश्यकता नहीं कि जो स्थिति रत्यात्मक शृंगार रस के विभावों की है, वही स्थिति अन्य रसों के विभावों की भी है। उदाहरणार्थ करुण रस के स्थायिभाव शोक का आलम्बन केवल मृतक व्यक्ति ही नहीं हो सकता, क्योंकि जो व्यक्ति ब्रह्मज्ञान प्राप्त करने के पश्चात् मरा हो अथवा जो कापुरुष और निंदित रहा हो, उसकी मृत्यु शोक का

आलम्बन विभाव नहीं हो सकती।

रस-चर्वणा के रूपबोध की जटिलता के प्रसंग में शकुंतला आदि पूजनीया नायिकाओं को उपलक्षित कर जिस अगम्यात्वप्रकारक ज्ञान की बात कही गई है वह अन्य नायिकाओं के विषय में सत्य है, क्योंकि सदाचारी पुरुष के लिए अपनी प्रेयसी के अतिरिक्त अन्य समस्त नायिकाएं 'अगम्या' होती हैं। ऐसी स्थिति में आवश्यक है कि उस अगम्यात्वप्रकारक ज्ञान का कोई ऐसा प्रतिबंधक कल्पित कर लिया जाय जो 'इयं ममागम्या' जैसी भावनाओं का प्रतिरोधक हो। यदि यह कहा जाय कि नाट्य-दर्शन या काव्यानुशीलन के समय वैसा प्रतिबंधक हमारे मन में अवश्य विद्यमान रहता है तभी तो हम अनुकार्यों में अपनी अभेद-बुद्धि का आरोप करते हैं, किंतु यह उत्तर भी संतोषप्रद नहीं है क्योंकि प्राचीन काल के धराधीश और धीर पुरुष दुष्यंत में आधुनिक युग के सामान्य पुरुष का अभेदारोपण कैसे संभव है? वास्तव में रस-प्रतीति का विषय अत्यंत रहस्यमय और जटिल है और सामाजिकों की आत्मा में जो रसप्रतीति होती है उसे न तो प्रत्यक्ष अथवा अनुमिति रूप ही कहा जा सकता है और न सादृश्यज्ञानमूलक अथवा शाब्दबोधक रूप ही। यदि प्रत्यक्षातिरिक्त ज्ञान अपनी शाब्दबोधता में ही चमत्कारपूर्ण हो तो व्यावहारिक जीवन में काव्येतर शब्दों द्वारा ज्ञात स्त्रीपुरुषों के वृत्तांतों का ज्ञान भी 'रस' कोटि को पहुँच सकता है। रस-प्रतीति को 'मानसी' भी नहीं कहा जा सकता क्योंकि पुनः-पुनः अनुसंधानरूप भावना के द्वारा अलौकिक प्रत्यक्ष के विषय बनाये गये शकुंतला आदि पदार्थों की मानसी प्रतीति के स्वरूप से काव्यशब्दजन्यरसप्रतीति में विलक्षणता होती है। काव्यरस-प्रतीति स्मृति रूप भी नहीं हो सकती क्योंकि जो वस्तुएं जिस रूप में पहले अनुभूत हो चुकी होती हैं उन्हीं की स्मृति संभव है। स्पष्ट है कि शकुंतला आदि नायिकाओं अथवा पदार्थों का हमें जब पूर्वानुभव ही नहीं है तो उनका स्मरण कैसे हो सकता है? इसी प्रकार के और भी अनेक प्रश्न काव्यविवेचकों के सम्मुख उपस्थित रहे हैं जिनका विवेकपूर्ण विमर्श किये बिना रस-चर्वणा के रूप-बोध की जटिल प्रक्रिया का स्पष्ट विवेचन नहीं किया जा सकता।

रस का 'भोग' अथवा 'भग्नावरणचित्' रूप?

काव्यास्वाद के स्वरूप-विवेचक आचार्यों के सम्मुख ये सभी प्रश्न विद्यमान थे जिनकी महत्ता का अनुभव कर उन्होंने उनका उत्तर देने की चेष्टा की है। उनका अभिमत है कि सहृदय प्रमाता को जिस रूप में रस-प्रतीति होती है उसमें प्रथम उल्लेखनीय विषय तो यह है कि वह श्रव्यकाव्य में अभिधा द्वारा तथा दृश्यकाव्य में इन्द्रियों के सन्निकर्ष द्वारा प्रथमतः शकुंतला आदि पदार्थों का बोध करता है और तदुपरांत भावकत्व व्यापार द्वारा रसविरोधी 'अगम्या इयं' जैसे ज्ञान का प्रतिरोध करता हुआ कान्तात्व आदि रसोपयोगी धर्मों के साथ शकुंतला आदि पदार्थों का विभावन करता है। भावकत्व व्यापार में एक ऐसी अद्भुत शक्ति होती है जो शकुंतला, दुष्यंत, देश, काल, वय, संयोग और वियोग आदि विविध दशाओं को साधारण बना देती है और उनमें किसी भी प्रकार की कोई ऐसी विशेषता नहीं रह पाती जो रसप्रतीति की

बाधक हो। भावकत्व व्यापार की विरति के पश्चात् भोजकत्व नामक तृतीय काव्य-व्यापार आता है जिसके द्वारा रजोगुण और तमोगुण निगीर्ण कर लिए जाते हैं और विशुद्ध सत्वगुण का उद्रेक होता है जिससे सहृदय सामाजिक या काव्यरसभोक्ता सांसारिक विषयों से मुक्त होकर अपने चैतन्य स्वरूप आत्मानन्द का साक्षात्कार करने लगते हैं। उस साक्षात्कार के कारण आत्मानन्दानुभव का विषय बना हुआ रत्यादि स्थायिभाव ही 'रस' है जिसे आचार्यों ने 'भावकत्वभावनाविशेष' के साधारण रूप में विवेचित किया है। भुक्तिवादियों ने सत्वगुण उद्रेक से प्रकाशित आत्मानन्द या चैतन्यात्मक ज्ञान को ही 'भोग' कहा है जिसके विषय बनकर रत्यादि स्थायिभावों की 'रस' संज्ञा होती है। अभिप्राय यह है कि चैतन्य से युक्त रत्यादि स्थायिभाव अथवा रत्यादि स्थायिभावों का भोग (रति आदि से युक्त चैतन्य) ये दोनों ही 'रस' संज्ञा के अधिकारी हैं।

भुक्तिवादी आचार्यों ने 'भोग' के रूप में जिस रसास्वाद का विवेचन किया है वह ब्रह्मास्वाद का सविधवर्ती अर्थात् सहोदर-सदृश है। उसे ब्रह्मास्वादरूप नहीं कहा जा सकता क्योंकि रसास्वाद सविषयक होता है जबकि ब्रह्मास्वाद निर्विषयक। तत्त्वतः इन दोनों में भेद होने पर भी वे शब्दजन्य, सच्चिदानंदमय और अपरोक्ष-साक्षात्कार रूप होने के कारण 'संविधवर्ती' कहलाने के अधिकारी हैं। इस प्रकार भट्टनायक के शब्दों में 'अभिधा, भावना चैव तद्भोगीकृतिरेव च' के अनुसार अभिधा, भावना और भोग नामक काव्य के तीन ही अंश या व्यापार हैं जिनसे सहृदय प्रमाताओं को काव्यास्वादन की वेला में रस की प्रतीति होती है।

भुक्तिवादियों ने जिस वस्तु को 'भोग' कहा है उसे अभिव्यक्तिवादियों ने 'भग्नावरण चित्' की संज्ञा दी है। तत्त्वतः उन दोनों में संज्ञामात्र का भेद है क्योंकि 'भोगकृत्व' अथवा 'भोजकत्व' व्यंजना के ही नामान्तर हैं। दोनों का कार्य सत्वगुणोद्रेक द्वारा अज्ञानावरण का उच्छेदकर रसरूप आत्मानन्द का अनुभव कराना है। दोनों के मतों में यदि अन्तर है तो केवल इतना ही कि प्रथम वर्ग के विवेचकों ने अभिधा की भाँति भावकत्व-व्यापार की स्वतंत्र कल्पना कर तदुपरांत भोजकत्व को स्थान दिया है जबकि द्वितीय वर्ग के आचार्यों के मतानुसार सहृदयतासहकृत काव्यार्थों का पुनः पुनः अनुसंधानरूप भावना से ही साधारणीकरण हो जाता है और उसके लिए काव्य-प्रयुक्त शब्दों में किसी अन्य मुख्य व्यापार को मानकर चलना आवश्यक नहीं है। वस्तुतः भावकत्व को साधारणीकरण का लक्षण माना जा सकता है जो काव्य में विभावनादि व्यापार के नाम से प्रसिद्ध है। इस विषय की निम्नलिखित कारिकाएं उल्लेखनीय हैं जिनमें साधारणीकरण और विभावादि व्यापारों के लक्षणों के संकेत विद्यमान हैं—

व्यापारोऽस्ति विभावादेनम्ना साधारणीकृतिः।
तत्प्रभावेण यस्या सन् पाथोधिप्लवनाद्यः ।।
प्रमाता तदभेदेन स्वात्मानं प्रतिपद्यते ।।
परस्य न परस्येति ममेति न ममेति च ।।

तदास्वादे विभावादेः परिच्छेदो न विद्यते ।
साधारण्येन रत्यादिरपि तद्वत् प्रतीयते ।।

रसास्वाद की प्रक्रिया में भावना-दोष की अवतारणा

रसास्वादन की प्रक्रिया से सम्बद्ध एक नव्यमत यह है कि काव्य और नाटक में क्रमशः कवि द्वारा शब्दों से और नट द्वारा चतुर्विध अभिनयों से प्रकाशित विभावादि का ज्ञान होने के पश्चात् ही काव्य के आस्वादयिता सहृदय प्रमाता के रूप में हम काव्याभिप्रेत व्यंजना-वृत्ति से दुष्यन्त आदि प्रमुख पात्रों में अधिष्ठित शकुंतला आदि विषयक रति का ज्ञान प्राप्त करते हैं और उस ज्ञान के पश्चात् अपनी सहृदयतावश हमारे मन में एक ऐसी विशेष भावना की उत्पत्ति होती है जिसके कारण हम दुष्यंत आदि के विषय में पुनः-पुनः अनुसंधान करने लगते हैं। वह अनुसंधान एक प्रकार का 'भावना-दोष' है जो हमारी अन्तरात्मा को कल्पित दुष्यन्तत्व आदि से आच्छादित कर देता है और हम अपने को दुष्यंत समझने की भूल करते हुए अपने आपको शकुंतला का प्रेमी भी मान लेते हैं। उस समय हमारे मन में उस 'भावनादोष' के कारण कल्पित दुष्यन्तत्व से आच्छन्न आत्मा में कल्पित शकुंतलाविषयक रति भी भासित होने लगती है। कहा जा सकता है कि जिस प्रकार दूरत्व आदि दोषों के कारण सीप के टुकड़े अज्ञान से आच्छादित होकर अपने वास्तविक रूप में प्रदर्शित नहीं होते और अपने चाकचिक्यवश रजततुल्य प्रतीत होने लगते हैं उसी प्रकार यद्यपि हमारे मन में शकुंतला आदि के प्रति वास्तविक रति नहीं होती तथापि हम शुक्तिखंड में रजतभ्रम की भाँति साक्षिभास्य रूप से उसकी प्रातिभासिक सत्ता की उपलब्धि कर लेते हैं। वह साक्षिभास्य अनिर्वचनीय होता है जिसका अभिप्राय यह है कि उसको कल्पित होने के कारण न तो सत् कह सकते हैं और न प्रत्यक्ष होने के कारण असत् ही मान सकते हैं। वस्तुतः वह सदसत् से परे रहता है। भावना-दोष के कारण 'मैं दुष्यन्त हूं' इस भ्रम मे पड़े हुए सामाजिकों में उत्पन्न और साक्षिभास्य तथा अनिर्वचनीय रूप में अधिष्ठित शकुंतला विषयक रति आदि स्थायिभाव ही 'रस' का रूप धारण कर लेते हैं।[1] इस मत के अनुसार रस मूलतः भावनारूप 'दोष' का ही कार्य है जिसकी विद्यमानता में रस की उत्पत्ति तथा जिसके विनाश में रस का तिरोभाव माना जाता है। भावना-दोष के समर्थक आचार्यों का कहना है कि वस्तुतः रस आह्लादरूप नहीं होता किंतु 'मैं शकुंतलाविषयक रतिवाला दुष्यंत हूं' इत्यादि की भ्रमपूर्ण प्रतीति के कारण उससे अलौकिक आनंद मिलने लगता है जिससे हम रतिरूप सुख तथा भ्रमपूर्ण प्रतीति को एक ही मानते हुए 'रस सुखरूप है' ऐसा व्यवहार करते हैं। रस को जिस रूप में व्यंग्य और वर्णनीय कहा जाता है उसका कारण भी वह 'भावनादोष' ही है जिसके कारण हम वास्तविक रति और कल्पित रति को अभिन्न मानने की भूल कर बैठते हैं। कहने की आवश्यकता नहीं कि दुष्यन्तादिनिष्ठ शकुंतला विषयक वास्तविक रति का ज्ञान हमें व्यंजना वृत्ति द्वारा होता है और उसका

१. रसगंगाधर, प्रथमानवम्, चौखंबा प्रकाशन, पृ० १०२।

वर्णन भी कवियों द्वारा उनकी कृतियों में किया जाता है अतः उस रति को व्यंग्य और वर्णनीय कहने की एक परिपाटी-सी बन गई है। यदि वह कल्पित रसरूप रति व्यंजना से ज्ञात न हो तथा कवि भी उसका वर्णन करे तो भी हम व्यंग्य और वर्णनीय रति से उस कल्पित रति को अभिन्न समझ लेने के कारण ऐसा प्रयोग करने लगते हैं कि वह व्यंजनावृत्ति से प्रकाशित तथा कवि द्वारा वर्णित है।

भावना-दोष की मान्यता का महत्त्व

रस-प्रतीति में 'भावना-विशेष दोष' का प्रतिपादन करने वाले आचार्यों का मत है कि जिस प्रकार सहृदय सामाजिकों में शकुंतला आदि नायिकाओं की रति कल्पना-मात्रप्रसूत होने से अनिर्वचनीय है, उसी प्रकार सहृदयों की आत्मा को आच्छादित करने वाला दुष्यन्तत्व भी काल्पनिक होने के कारण अनिर्वचनीय है। 'शकुंतलाविषयक रति वाला दुष्यंत मैं ही हूं' इस प्रकार के रत्यादि विशिष्ट ज्ञान में विशेष्यतावच्छेदक होना ही दुष्यंतत्त्व में अवच्छादकत्व है जिससे आत्मा अवच्छादित होती है। इस मत के अनुसार भट्टनायक द्वारा उपन्यस्त उन शंकाओं का निराकरण किया जा सकता है जो रस की स्वनिष्ठता और परनिष्ठता को लक्ष्यीभूत कर उत्पन्न की गई है। बात यह है कि यह मत सहृदयतामूलक भावना-विशेष रूप दोष से दुष्यन्त आदि की अभेद-बुद्धि सिद्ध करता है जिसे किसी भी प्रकार का बाध-निश्चय नहीं रोक सकता। इस मत के समर्थकों का कहना है कि यों तो मम्मट आदि प्राचीन आचार्यों ने भी शकुंतला प्रभृति विभावादि का साधारणीकरण माना है किंतु उसमें भी एक प्रकार की कमी यह रह गई है कि उन्होंने भावना-दोष की कल्पना नहीं की है जिसके कारण इस विषय का पूर्ण स्पष्टीकरण नहीं हो पाता कि साधारणीकरण के द्वारा शकुंतला आदि पात्र अपने व्यक्तिगत धर्म अर्थात् शकुंतलात्व आदि को छोड़कर कान्तात्व आदि साधारण धर्मों के साथ सहृदयों के सम्मुख किस प्रकार उपस्थित होते हैं? वास्तव में काव्य-ग्रन्थों में शकुंतला आदि शब्दों के द्वारा ही शकुंतला आदि का प्रतिपादन किया जाता है जिनसे शकुंतलात्वेन शकुंतला आदि का बोध होता है, न कि कांतात्वेन कांतात्व का, अतः जब तक 'भावना-रूप-दोष' की कल्पना नहीं की जाती तब तक सहृदयों को अपने में दुष्यन्तत्व की अभेद-बुद्धि नहीं हो सकती। भावना-दोष के कारण ही सहृदयों को शकुंतला आदि नायिकाओं का बोध साधारण कांता के रूप में होता है जिसका सम्बन्ध रस-प्रतीति की प्रक्रिया से विशेष रूप से होने के कारण उसे इतना उल्लेखनीय समझा गया है।

'भावना-दोष' विषयक ऊहापोह और निर्णय

भावनात्मक दोष के प्रभाव से सहृदयों के अन्तःकरण में मानस-मनः सन्निकर्ष से उत्पन्न होने वाले ज्ञानविशेष को ही 'रस' कहने वाले आचार्यों का मत है कि उस ज्ञान में बाह्य इन्द्रियों के सन्निकर्ष की कोई आवश्यकता नहीं होती तथा सहृदयों की आत्मा ही विशेष्य होती है जिसमें दुष्यंत आदि का तादात्म्य अभेद रूप से भासित होता रहता है एवं जिसके मूल में शकुंतला आदि की रति आदिरूप होती है। उस ज्ञान में प्रमाता

यह समझने लगता है कि मैं शकुंतलाविषयक रति वाला दुष्यंत हूं। यह ज्ञान काव्यार्थों के पुनः पुनः अनुसंधान से होता है जिसके विषय लोकोत्तररति आदि होने के कारण उसे विलक्षण-विषयता-शाली भी कहा जाता है। उसमें एक प्रकार का भ्रम-सा रहता है जिसे इस मत के समर्थक विद्वानों ने 'रस' माना है।

यहीं एक प्रश्न उपस्थित होता है कि जिन आचार्यों ने उपर्युक्त मानसज्ञान को रस रूप कहा है वह तो स्वप्नादि अवस्थाओं में भी होता है तो क्या वहाँ भी रस मान लिया जाय ? इसका उत्तर देते हुए आचार्यों ने लिखा है कि स्वप्न-दशा में मानस-ज्ञान अवश्य होता है किंतु वह काव्यार्थ के पुनः पुनः अनुसंधान से नहीं होता और न उसमें विलक्षण प्रकार का आनन्द ही रहता है अतः उसे 'रस' की अभिधा प्रदान नहीं की जा सकती। इस पर यह शंका की जा सकती है कि जब सहृदयों में वास्तविक रति का अभाव रहता है तो अनुभव में विषयसत्ता की हेतुता न रहने से उन्हें रत्यादि का बोध किस प्रकार हो सकता है ? उक्त शंका के सामाधान-हेतु यह कहा जा सकता है कि लौकिक प्रत्यक्ष के प्रति विषयसत्ता को भले ही कारण माना जाय किंतु भ्रम के सम्बन्ध में ऐसा कोई नियम घटित नहीं होता कि जिन वस्तुओं का हम अनुभव करें वे आँख, कान और नाक आदि ज्ञानेन्द्रियों के सम्मुख अवश्यमेव उपस्थित हों। भ्रम तो बिना विषय के भी हो सकता है जैसे रज्जु में सर्प का भ्रम जो 'विषय' अर्थात् सर्प के न रहने पर भी हो सकता है। आचार्यों का मत है कि भावनारूप दोषप्रयुक्त रति आदि का ज्ञान भी एक प्रकार का भ्रम ही है जिसके विद्यमान न रहने पर भी उसका ज्ञान होने में किसी भी प्रकार का व्यवधान उपस्थित नहीं होता। यदि इस पर यह कहा जाय कि जब रस को भ्रमात्मक ज्ञान-रूप कहा गया है तो उसका आस्वादन कैसे हो सकता है क्योंकि आस्वादन भी एक प्रकार का ज्ञान ही है और फिर ज्ञान का ज्ञान मानने में व्यवहारगत असंगति भी आ सकती है ? इसका उत्तर इस प्रकार दिया जा सकता है कि रति आदि जो भ्रम के विषय हैं अथवा रति आदि के विषय में जो भ्रम होता है उसका आस्वादन हो सकता है तथा होता भी है, किंतु रति आदि विषयगत आस्वादन का भ्रमात्मक रस अथवा विषयी में आक्षेप करके उक्त व्यवहार होता है। इस मत के अनुसार जिस ज्ञान को रस कहा गया है, उसका स्वरूप तीन प्रकार का हो सकता है—१. दुष्यंत आदि में रहने वाली जो शकुंतला आदि की रति है, उस रति आदि से युक्त मैं हूं। २. मैं शकुंतला आदि विषयक रतियुक्त दुष्यंत से अभिन्न हूं तथा ३. मैं दुष्यन्तत्व के साथ-साथ शकुंतलाविषयक रति से भी युक्त हूं। इन तीनों प्रकार के ज्ञानों को 'रस' कहा जा सकता है क्योंकि किसी एक को ही रस मानने में कोई तर्कपुष्ट युक्ति नहीं है। इस मत के अनुसार उपर्युक्त तीनों प्रकार के ज्ञान में 'रति' विशेषणरूप से प्रविष्ट है जिसका अभिप्राय यह है कि इन ज्ञानों के पूर्व रति का ज्ञान होना आवश्यक है। वह ज्ञान काव्य के शब्दों से नहीं हो सकता, क्योंकि काव्यों में रति आदि के वाचक शब्द लिखे नहीं रहते तथा उसका बोध कराने वाली व्यंजना-शक्ति को इस मत में मान्यता नहीं दी गई है। ऐसी स्थिति में विशेषणीभूत उस रति आदि के ज्ञान के लिए अनुमान का आश्रय लेना ही पड़ता है क्योंकि उक्त ज्ञानों से पूर्व नट आदि की चेष्टा

को हेतु बनाकर सहृदयजन को यह अनुमान करना ही पड़ेगा कि दुष्यंत शकुंतला विषयक रतिवाला है क्योंकि उस रति से होने वाली चेष्टा उसमें विद्यमान है।

पंडितराज द्वारा उल्लिखित अन्य मतों का विवरण

रसास्वाद की चर्वणा में 'भावना-दोष' के उद्‌भावक पंडितराज जगन्नाथ ने विभिन्न आचार्यों के मत-मतांतरों का उल्लेख अपने रस-विमर्श के प्रसंग में किया है। उस उल्लेख से पता चलता है कि भट्ट लोल्लट तथा उनके अनुयायी विचारकों ने वस्तुतः साक्षात् संबंध के कारण दुष्यंत आदि अनुकार्यों में रहने वाले रति आदि भावों को ही रस माना है। वे भाव दृश्य-काव्यों में विभाव आदि के सुन्दर अभिनय करने में निपुण नटों तथा श्रव्य काव्यों में पाठकों पर आरोपित होकर रसानुभूति कराते हैं। इस मत में भी रस से सम्बद्ध ज्ञान के उपर्युक्त तीन रूप माने गये हैं जो नटरूप धर्मी (विशेष्य) अंश में प्रत्यक्ष रहने के कारण लौकिक तथा दुष्यंतत्व अंश में आरोप्यमान होने के कारण अलौकिक कहलाते हैं। रसविमर्शक आचार्य शंकुक का मत है कि दुष्यंत आदि अनुकार्यगत रत्यादिभाव नट पक्ष में दुष्यन्तत्व रूप में गृहीत होते हैं जिसका अभिप्राय यह है कि नट स्वयं को दुष्यंत रूप में समझता हुआ अपने शिक्षाभ्यास आदि के आधार पर उन विभावों को भी ऐसे स्वाभाविक रूप में उपस्थित करता है जिससे सामाजिकों को उसके तथा अनुकार्य के भिन्न विषयत्व का आभास नहीं हो पाता और वे अनुमिति सामग्री द्वारा नट विषयकप्रत्यक्षप्रतिबंधन के कारण रस को अनुमीयमान मान लेते हैं। इन मतों के अतिरिक्त कुछ अन्य साधारण मत भी हैं जिनमें कहीं तो विभाव, अनुभाव और संचारि-भावों के सम्मिलित रूप में रस माना गया है तो कहीं इन तीनों में जो अंश चमत्कारी हो उसी को रस कहा गया है। यदि इन तीनों के सम्मिलित रूप में भी लोकोत्तर चमत्कार का अभाव हो तो वे तीनों मिलकर भी रस नहीं कहला सकते। कुछ विद्वानों ने भाव्यमान विभाव को रस माना है तो कुछ विद्वान् पुनः पुनः चिंतन किये हुए अनुभाव में ही रस मानते हैं। एक मत यह भी है कि भावना-विशेष से विषयीक्रियमाण व्यभिचारिभाव ही रस रूप में परिणत हो जाता है। निष्कर्ष है कि काव्यास्वाद अथवा रस के स्वरूप के सम्बन्ध में आचार्यों के अनेकानेक मत हैं जिनकी समुचित समीक्षा करने से विविध तत्त्वों की उपलब्धि होती है। इन समस्त मतों का मूलाधार भरतमुनि का रससूत्र है। इन समस्त मतों का सारांश निरूपित करते हुए कहा जा सकता है कि अभिनवगुप्त को विभाव, अनुभाव और व्यभिचारीभाव के साथ संयोग से रसनिष्पत्ति होने में दो विकल्प अभीष्ट हैं—१. संयोग अर्थात् व्यंग्यव्यंजक भावसम्बन्ध से चिदानन्द विशिष्ट और स्थाय्यात्म चैतन्य का आह्लाद विषयीभूतरत्यादि रूप तथा २. स्थाय्युपहित चिदानन्दात्म रत्यादिविषयक चैतन्य का आह्लादरूप। भट्टनायक ने संयोग का अर्थ सम्यक् अथवा साधारणीकृत योग किया है जिसमें भावकत्व व्यापार द्वारा भावना करने से सत्वोद्रेक के कारण उद्‌भासित रत्यादि विषयक स्वात्मानन्दरूप रस की भुक्ति होती है। तीसरे मत के अनुसार संयोग का अर्थ सहृदयतामूलक काव्यार्थभावनारूप दोष है जिसके कारण अनिर्वचनीयभावापन्न दुष्यंतादिनिष्ठ शकुंतलादि विषयक रत्यादि

स्थायिभाव ही रस बन जाते हैं। चतुर्थ मत में संयोग का अर्थ ज्ञान है जिसका अभिप्राय यह है कि विभावादि के संयोग अर्थात् ज्ञान से ज्ञानविशेषात्म रस की निष्पत्ति होती है। पंचम मत में भट्ट लोल्लट ने संयोग का अर्थ 'सम्बन्ध' करते हुए नट में आरोप्यमाण रत्यादि को ही रस माना है। उसमें एक विशेष बात यह है कि भावनात्मक दोष के कारण सामाजिक का नट के साथ तादात्म्य का अभ्यास होने से रत्यादि का आस्वाद मिलता है। शंकुक ने संयोग का अर्थ अनुमिति हेतु कहकर तथा अनुमान को व्याप्तिज्ञानरूप मानकर अनुमेय रत्यादि को रस कहा है। शेष मतों में कहीं संयोग का अर्थ पारस्परिक सम्मेलन कहा गया है तो कहीं विभावादि में सम्यक् योग अर्थात् चमत्कार माना गया है। अवशिष्ट तीन मत भरत-सूत्र-सम्मत न होकर स्वतंत्र से हैं क्योंकि उनमें विभाव अनुभाव और संचारिभावों के संयोग की विवेचना नहीं की गई है। विभाव, अनुभाव और संचारिभाव को सर्वथा स्वतंत्र रूप में रस इसलिए भी नहीं माना जा सकता कि एक ही विभाव अथवा एक ही अनुभाव अथवा एक ही संचारिभाव अनेक रसों का हो सकता है। उदाहरणार्थ व्याघ्र को भयानक रस का भी विभाव माना जा सकता है तथा वीर, अद्भुत और रौद्र रस का भी। इसी प्रकार अश्रुपात शृंगार के अनुभाव भी हो सकते हैं तथा करुण और भयानक रस के भी। चिंता का व्यभिचरण शृंगार, करुण, वीर और भयानक रस में भी प्रदर्शित होता है। इस प्रकार विभावादि की पृथक्-पृथक् योजना में रस-निष्पत्ति नहीं मानी जा सकती। रस के सम्बन्ध में चाहे आचार्य कितनी ही अधिक विवादैषणा लेकर चलें किंतु सभी ने उसे परम आह्लादमय और रमणीय रूप तो स्वीकार किया है जिससे स्पष्ट है कि वही काव्य का परम साध्य है और उसी में काव्यास्वाद की सार्थकता है।

रसों की पुरुषार्थनिष्ठा

काव्यास्वाद की इसी विवेचना के प्रसंग में 'रस और पुरुषार्थनिष्ठा' का आभ्यंतरिक सम्बन्ध निरूपित करना भी आवश्यक है क्योंकि इन दोनों के सहज साहचर्य में जीवन की परम प्रयोजनीय सिद्धि का अधिवास स्वीकार किया गया है। पुरुषार्थ का सामान्य अर्थ है पुरुष का स्वयंप्रार्थित अर्थ। इस स्वयंप्रार्थित अर्थ का साधनभूत अर्थ भी 'पुरुषार्थ' कहलाता है। आचार्य जैमिनि ने 'पुरुषार्थ' का स्वरूप 'यस्मिन् प्रीतिः पुरुषस्य तस्य लिप्सार्थ लक्षणा विभक्तत्वात्'[1] द्वारा व्यक्त किया है। यह पुरुषार्थ जीवन में चतुर्विध रूप है जिससे मानव-जीवन के समस्त व्यापार अपनी प्रतिकूलता अथवा अनुकूलता के किसी न किसी रूप में अवश्यमेव सम्बद्ध रहते हैं। भरतमुनि ने नाट्य में 'क्वचिद्धर्मः, क्वचित् क्रीडा, क्वचिदर्थः, क्वचिच्छमः' की जो मान्यता व्यक्त की है, वह समस्त पुरुषार्थों का सम्मिलन करने वाली है। रसों की पुरुषार्थनिष्ठा का विवेचन प्रायः सभी आचार्यों ने किसी न किसी रूप में किया है। विद्वानों का मत है कि नाट्य अथवा काव्यानुबंध में सभी रस पुरुषार्थ-निबद्ध होकर ही निष्पन्न होते हैं। भरतमुनि ने जब

१. जैमिनि : मीमांसासूत्र, ४।१।२।

पुरुषार्थ निष्ठा का निरूपण किया तो उनका अभिप्राय नाट्यगत रसों की पुरुषार्थनिष्ठा से ही था।

आचार्य अभिनवगुप्त ने आठ अथवा नौ भावों के स्थायित्व का विवेचन करते हुए केवल उन्हीं की पुरुषार्थनिष्ठा पर बल दिया है। उनका कथन है कि नाट्य अथवा प्रबंध में कवि द्वारा नायक के 'वाङ् मनः कायरूप' जिस व्यापार का वर्णन किया जाता है वह जिस अर्थ अथवा अभिप्रेत व्यापार में परिणत होता है, वही उसका परम पुरुषार्थ है। उस पुमर्थसाधक व्यापार अथवा पुरुषार्थ को वृत्तिरूप भी कहा गया है, जिसका अभिप्राय यह है कि काव्य में वृत्तिशून्य वर्णनीय रह ही नहीं सकता। भरतमुनि ने वृत्तियों को जिस अर्थ में समस्त काव्यों की माताएं कहा है उससे भी यही अर्थ ध्वनित है कि उनके अभाव में काव्यव्यापार की सर्जना नहीं हो सकती। वस्तुतः 'पुमर्थसाधक व्यापार' का नाम ही 'वृत्ति' है जिसका विश्लेषण करते हुए अभिनवगुप्त ने लिखा है कि प्रबंधगत प्रधान नेता का सम्पूर्ण व्यापार पुमर्थ में ही पर्यवसित होता है एवं उसी के अनुरूप ही उसकी सम्पूर्ण चित्तवृत्ति भी पुरुषार्थनिष्ठ रहती है। चूंकि वह चित्तवृत्ति सम्पूर्ण प्रबंध में व्याप्त नायक व्यापार द्वारा अभिव्यक्त एवं अनुस्यूत रहती है अतः उसका स्थायित्व स्वीकार करना न्यायोचित है। चित्तवृत्ति के स्थायित्व को ध्यान में रखते हुए केवल आठ या नौ भावों का ही स्थायित्व स्वीकार किया गया है। अभिनवगुप्त ने 'तत्र पुरुषार्थनिष्ठाः काश्चित् संविदः इति प्रधानम्' की मान्यता में विश्वास रखकर रत्यादि भावों की पुमर्थनिष्ठा प्रतिपादित करते हुए अंततः 'स्थायित्वं तु एतेषामेव' का भी यही निष्कर्ष निकाला है कि नाट्य अथवा प्रबंधकाव्य के आस्वाद में सामाजिक अथवा काव्य-रसिक की संविद्विश्रांति अन्य भावों के निरपेक्ष रूप में न होकर पुरुषार्थनिष्ठ भाव में ही होती है।

नाट्य अथवा काव्य में अभिव्यक्त रत्यादि भावों की पुरुषार्थनिष्ठा का समर्थन इस दृष्टि से भी किया जा सकता है कि मानव-जीवन में रत्यादि चित्तवृत्तियों का जन्मजात संस्कार होने के कारण उनकी प्रतीति सम्पूर्ण जीवन में किसी न किसी रूप में व्याप्त रहती है जिसके परिमाण की मात्रा भिन्न-भिन्न व्यक्तियों में भले ही न्यूनाधिक अथवा उचितानुचित रूप में रहे, किंतु मानव-जीवन का रहस्य इन वृत्तियों की विवेचना के अभाव में स्पष्ट नहीं किया जा सकता। प्रत्येक काव्यकार अपनी कृति के अंतर्गत किसी एक चित्तवृत्ति का पुमर्थनिष्ठ वर्णन करता हुआ उसके साथ अन्य चित्तवृत्तियों का समुचित समन्वय करता चलता है। यदि वृत्ति-विशेष के वर्णन में पुरुषार्थनिष्ठा न हो तो वहन तो अनुस्यूत ही हो सकती है और न उसे आस्वाद्य ही माना जा सकता है। वस्तुतः रत्यादि स्थायिभावों की सत्ता हमारे हृदयस्थ वासनासंस्कार रूप में निरपेक्षतया रहती है जिनमें ग्लानि और शंका आदि संचारिभाव कारणवश आते-जाते रहते हैं। अपनी वासनात्मकता के कारण रत्यादि चित्तवृत्तियों का स्थायित्व मानव-हृदय में लौकिक दृष्टि से भी तथा ग्लानि आदि भावों की सत्ता केवल नैमित्तिक रूप में रहती है। यही कारण है कि काव्य अथवा नाट्य में संचारी भावों की जो आस्वाद्यता रहती है वह स्थायी-निरपेक्ष नहीं होती। वस्तुतः कोई स्थायीवृत्ति नेता के पुरुषार्थनिष्ठ नाट्य-व्यापार अथवा कवि-

कल्पना द्वारा अभिव्यक्त होने पर ही आस्वाद्य बन सकती है अतः काव्य अथवा नाट्य में पुरुषार्थनिष्ठ वृत्ति का ही स्थायित्व तथा उसी की आस्वाद्यता स्वीकार्य समझी जानी चाहिए।

भरतमुनि ने रसों के उत्पाद्योत्पादक भाव को भी पुरुषार्थनिष्ठ माना है। रस-युग्म में श्रृंगार का विरोधी बीभत्स तथा वीर का विरोधी रौद्र है। श्रृंगार तथा वीर को नायकगत एवं रौद्र तथा बीभत्स को प्रतिनायकगत भावों का अभिव्यंजक कहा गया है। श्रृंगार तथा वीर रस यदि चतुर्वर्ग की अनुकूलमयता से सम्बन्धित है तो बीभत्स तथा रौद्र उसकी प्रतिकूलता से। नाट्यगत हास्य रस श्रृंगार के आभास से सम्बद्ध रहता है तो करुण रस रौद्र का अवश्यम्भावी फल कहा जा सकता है। वीर रस की पूर्णता अद्भुत रस की जननी है तो बीभत्सजनक विभाव भयानक रस का उत्पादक है। इस प्रकार नाट्य में श्रृंगार आदि रसों का हास्य आदि रसों से हेतु हेतुसद्भाव रहता है जिसका एक अभिप्राय यह भी है कि तथाकथित आठ अथवा नौ रस नाट्य अथवा प्रबंध में पुरुषार्थ-निबद्ध होकर ही निष्पन्न होते हैं। भरतमुनि ने रस का नाट्यगत सम्बन्ध निरूपित करने के प्रयोजन से ही रसों के उत्पाद्य-उत्पादक भाव का निर्देश किया है। अभिनवगुप्त तो इस विषय में अत्यंत निष्ठावान हैं कि पुरुषार्थनिष्ठा के कारण की नाट्यगत स्थायी को आस्वाद्यता प्राप्त होती है। उन्होंने नाट्यशास्त्र की वृत्ति के अष्टादश अध्याय में दशरूपविभाग की पुरुषार्थनिष्ठता सिद्ध करते हुए बतलाया है कि नाट्य अथवा प्रबंधगत स्थायी रस का निकष पुरुषार्थनिष्ठा है और जब तक नाट्य अथवा प्रबंधगत नेता का व्यापार पुरुषार्थनिष्ठ नहीं होता तब तक उस व्यापार में स्थायी की अभिव्यक्ति नहीं हो सकती जिसके फलस्वरूप उस स्थायी की आस्वाद्यता ही संदेहास्पद बन जाती है। अभिप्राय यह है कि श्रृंगार आदि रस नायक के पुरुषार्थनिष्ठ व्यापार में अभिव्यक्त होने के कारण ही नाट्य अथवा प्रबंध में वर्णित होते हैं अतः मुख्य रूप से ये ही विशेष रस हैं। कहने के लिए भले ही रसों का आनन्त्य मान लिया जाय किंतु उन सबका समाहार नौ रसों में ही किया जाना समीचीन है। इस विषय में आचार्य अभिनवगुप्त का वह मत उल्लेखनीय है जिसमें उन्होंने पुमर्थनिष्ठा आदि से रसों की संख्या निश्चित कर रसान्तरसंभाव्यता का भी निरूपण किया है।[1] वस्तुतः नाट्य की भाँति महाकाव्यगत रस का निकष भी उसकी पुरुषार्थनिष्ठा एवं आस्वाद्यता ही है जिसके कारण उन्हें 'चतुर्वर्गफलोपेत' तथा 'रसभावनिरंतर' कहा गया है। इतना ही नहीं, मुक्तक में भी जो रस ध्वनित होता है, वह भी पुरुषार्थनिष्ठ है। पुमर्थ की कसौटी के कारण ही रस को जीवननिष्ठ कहा गया है तथा आस्वाद्यता के निकष के कारण ही काव्य को वाङ्मय के अन्य प्रकारों से वैशिष्ट्य प्रदान किया गया है।

१. एते नवैव रसाः पुमर्थोपयोगित्वेन रंजनाधिक्येन वा इयतामेव उपदेश्यत्वात्। तेन रसान्तरसंभवेऽपि पार्षदप्रसिद्ध्या संख्यानियमः, इति तदन्यैरुक्तम् तत्प्रयुक्तम्।

भावों और रसों की संलक्ष्यक्रमता तथा असंलक्ष्यक्रमता का निर्णय

यों तो सभी आचार्यों ने रति आदि स्थायि भावों को असंलक्ष्यक्रम व्यंग्य माना है किंतु पंडितराज जगन्नाथ इस विषय में अपना भिन्न और स्वतंत्र मत रखते हैं। रत्यादि को असंलक्ष्यक्रम व्यंग्य मानने वाले आचार्यों का मत है कि सभी स्थायिभावों अथवा रसों की प्रतीति मानना आवश्यक है क्योंकि उन दोनों प्रकार की प्रतीतियों में कार्यकारणभाव सम्बन्ध है। विभाव आदि की प्रतीति यदि कारण हैं तो रसादि की प्रतीति कार्य। दोनों के इस प्रकार के सम्बन्ध के मूल में एक प्रकार का पूर्वापरीय भाव अवश्य रहता है, किंतु मध्य की अंतराल स्थिति के समय वह इतना सूक्ष्म होता है कि उसका पूर्वापर भावक्रम लक्षित नहीं होता। इस विषय को कमल-पत्रों की सूचिकृत उच्छेदन-क्रिया के उदाहरण द्वारा स्पष्ट किया जा सकता है। यदि कमल के शताधिक पत्रों को पूर्वापरक्रम से एक-दूसरे के ऊपर रख दिया जाय और तदुपरांत उनका किसी सुई द्वारा छेदन करें तो उस क्रिया में क्रमशः पूर्वापरक्रम में ही पत्तों में छेद होना स्वाभाविक है, किंतु उस समय हमें ऐसा प्रतीत होता है कि एक बार में सभी पत्तों में छेद हो गया है : ठीक उसी प्रकार रस-प्रतीति के समय स्थायिभावों और विभावों में पूर्वापर सम्बन्ध होते हुए भी उनका आयोजन ऐसी मानसिक प्रक्रिया में होता है जिससे उनके क्रम का बोध नहीं हो पाता अतः उन्हें असंलक्ष्यक्रम व्यंग्य कहते हैं।

पंडितराज जगन्नाथ को भी रसादि की असंलक्ष्यक्रमता स्वीकार है किंतु वे उन्हें संलक्ष्यक्रम व्यंग्य भी मानते हैं। उनका कथन है कि रत्यादि स्थायिभाव असंलक्ष्यक्रम व्यंग्य अवश्य है किंतु सर्वत्र नहीं। काव्य में जहाँ प्रकरणगत स्फुटता होती है वहाँ विभावादि की प्रतीति में किसी भी प्रकार का कोई विलम्ब नहीं होता और सहृदयों को ऐसा प्रतीत होने लगता है कि बिना किसी क्रम के ही स्थायिभाव तथा विभाव आदि की प्रतीति हो गई है, किंतु जहाँ प्रकरण अस्फुट हों तथा विभावादि की प्रतीति में भी कारणवश विलम्ब हों, वहाँ रसादि का क्रम अवश्य ही लक्षित होगा जिसके कारण वहाँ संलक्ष्यक्रम व्यंग्य माना जायगा।

रसों के वर्ण और देवता

रस के स्वरूप और आस्वाद का शास्त्रीय विवेचन करने के पश्चात् अब हम उसके विभिन्न प्रकारों के वर्णों और देवताओं का शास्त्रसम्मत उल्लेख करना आवश्यक समझते हैं जिससे यह ज्ञात हो सके कि भारतीय आचार्यों की आस्तिक बुद्धि उक्त विषय में भी अपना कितना अधिक अधिकार रखती थी। भारतीय काव्यशास्त्र के आद्याचार्य भरतमुनि ने अपने 'नाट्यशास्त्र' के अन्तर्गत इस विषय का विवेचन किया है जो बाह्य दृष्टि से भले ही औपचारिक-सा प्रतीत हो किंतु उसका तात्त्विक विमर्श अनेक प्रकार के रहस्यों का उद्घाटन करा सकता है। उनके मतानुसार शृंगार, हास्य, करुण, रौद्र, वीर, भयानक, बीभत्स और अद्भुत संज्ञक रसों के वर्ण क्रमशः श्याम, श्वेत, कपोत, रक्त,

गौर, कृष्ण, नील तथा पीत हैं।[1] भरतमुनि ने उन रसों के देवताओं के नाम क्रमशः विष्णु, शिव, यम, रुद्र, महेन्द्र, काल, महाकाल और ब्रह्मा निर्दिष्ट किये हैं।[2] इन रसों में शांत रस का उल्लेख नहीं हुआ है। शांतरस की प्रतिष्ठा करने वाले आचार्यों ने नाट्यशास्त्र के षष्ठ अध्याय की छत्तीस संख्यक कारिका के अन्तिम चरण में प्रयुक्त 'पीतश्चैवाद्भुतः स्मृतः' के स्थान पर 'स्वच्छ-पीतौ शमाद्भुतौ' पाठ रखकर शांतरस का वर्ण पीत माना है। उन विद्वानों के मत से 'बुद्धः शांते ब्जजोद्भुते' के अनुसार भगवान् बुद्ध शांतरस के देवता हैं तथा ब्रह्मा अद्भुत रस के। रसों के वर्णों तथा देवताओं के नामोल्लेख के अतिरिक्त उनके पूजा-ध्यान का भी विवेचन किया गया है। देवताओं के नामकरण के मूल में उन देवताओं की प्रकृति तथा कार्यों का रहस्य भी संगुम्फित है यथा शृंगार रस के देवता विष्णु (विष्णु से यहाँ कामदेव का अभिप्राय है) अपने सौन्दर्यातिशय के कारण शृंगार-रस के स्थायिभाव रति के प्राणवल्लभ हैं तो हास्य रस के देवता भगवान् शिव अपने क्रीडातत्पर गणों द्वारा हास्य का विधान कराते हैं। अपनी त्रैलोक्यसंहारक शक्ति के कारण रुद्र रौद्ररस के देवता माने गये हैं तो उनसे प्रेरित किये गए यमदेव प्राणियों का वध-कार्य सम्पादित करने के कारण करुण रस के अधिष्ठाता सिद्ध होते हैं। महाकाल को बीभत्स रस का देवता इसलिए माना गया है कि वे बीभत्स रस के विभाव, कंकाल और श्मशान आदि का सेवन करते हैं। चूंकि भयानक रस के विभाव भी बीभत्स रस के ही तुल्य होते हैं अतः उसके देवता साक्षात् कालदेव हैं। महेन्द्र को वीररस का देवत्व इसलिए प्रदान किया गया है कि महेन्द्र शब्द से 'त्रैलोक्यराज' का ग्रहण होता है। अपनी अद्भुत कार्य-सृष्टि के कारण ब्रह्मा को अद्भुत रस का अधिष्ठात्-देव निर्णीत किया गया है। परोपकार-तत्पर अथवा ज्ञानी के रूप में प्रसिद्ध भगवान् बुद्धदेव शांतरस के देवता कहलाते हैं। इस प्रकार सम्पूर्ण रसों के वर्णों तथा देवताओं सम्बन्धी उपर्युक्त मान्यताएं अत्यंत विवेकसम्मत अथ च सुरुचिपूर्ण भी हैं। रसों के वर्ण-विन्यास और देवत्व-निरूपण का विवेचन भरतेतर आचार्यों ने भी किया है जो साधारणतया भरतमुनि का ही समर्थन है। इस विषय में भक्तिरस के प्रतिष्ठापक आचार्यों का अभिमत कतिपय विषयों में अथवा स्वतंत्र अस्तित्व भी रखता है जिसका विशेष विमर्श भक्ति-रस की विशिष्ट कोटि विषयक विचारणा के अन्तर्गत किया गया है।

लोक-व्यवहार और काव्यानुभूति

भारतीय आचार्यों की शास्त्रीय दृष्टि के आलोक में रस के स्वरूप और आस्वाद का पर्याप्त विवेचन करने के पश्चात् अब हमें निष्कर्ष रूप से लोक-व्यवहार और काव्यानुभूति के अंतर्विभेद का निरूपण करना आवश्यक प्रतीत होता है। इस विवेचन का प्रयोजन लोक-व्यवहार से काव्यानुभूति की लोकोत्तरता सिद्ध करना है। यों तो

१. नाट्यशास्त्र, ६।३५-३६।
२. वही, ६।३७-३८।

काव्य में भी लोकव्यवहृत अनुभवों का ही वर्णन किया जाता है किंतु काव्यानुभूति और
लोकव्यवहारगत अर्थों में उल्लेखनीय अन्तर विद्यमान है। लोकव्यवहार में हमारे जीवन
के समस्त व्यापार 'प्रवृत्ति निवृत्ति रूप' एवं 'व्यक्तिसम्बद्ध' रहते हैं जिनका प्रसार
शत्रु, मित्र तथा तटस्थ जनों के साथ संलग्न होकर तदनुकूल भिन्न-भिन्न प्रवृत्तियों के
रूप में अभिव्यक्त होता है जब कि काव्यवर्णित व्यापार प्रवृत्तिनिवृत्ति रूप होते हुए भी
व्यक्ति निरपेक्ष होते हैं जिनमें लौकिकता से भिन्न अलौकिकता की समष्टि रहती है।
इसका यह अभिप्राय नहीं कि तथाकथित काव्य-व्यापार अपनी व्यक्तिनिरपेक्षता के
कारण 'असंबंधिनो सत्वम्' के नियमानुसार सर्वथा असत् अथवा आकाशकुसुमवत् ही होते
हैं। यदि वैसा हो तो असत् अर्थों की परिकल्पना न की जा सकने के कारण काव्य के
स्वरूप-वोध एवं उसके आस्वादन का प्रश्न ही खटाई में पड़ जायगा। काव्यशास्त्रियों
ने काव्यगत अर्थों की सत्ता व्यक्तिनिष्ठता से भिन्न तथा सामान्यत्व की प्रतीति में
स्वीकार की है जिसके अनुसार वे 'स्व', 'पर' तथा 'तटस्थ' संज्ञक तीनों रूप से बहिर्गत
और अलौकिक कहे जाते हैं। आचार्य मम्मट ने काव्यार्थ की साधारण्य प्रतीति का
स्वरूप इन शब्दों में व्यक्त किया है—

'ममैवैते, शत्रोरेवैते, तटस्थस्यैवैते, न ममैवैते, न शत्रोरेवैते, न तटस्थस्यैवैते
इति सम्बन्ध विशेष स्वीकारपरिहारनियमानध्यवसायात् साधारण्येन प्रतीति···।'

—अर्थात् ये मेरे ही हैं अथवा मेरे नहीं है, ये शत्रु ही के हैं अथवा शत्रु के नहीं हैं,
ये तटस्थ ही के हैं अथवा तटस्थ के नहीं हैं, इस प्रकार काव्यगत अर्थों में सम्बन्ध विशेष के
स्वीकार अथवा परिहार की कल्पना भी नहीं रहती। अतएव इनकी प्रतीति भी
साधारण्य से होती है।

काव्य-रस की अलौकिकता

काव्य के पठन-पाठन अथवा नाट्य के दर्शन-प्रेक्षण द्वारा पाठकों अथवा दर्शकों
के मन में उद्‌बुद्ध होने वाले वासनारूप संस्कार अपनी उद्‌बुद्ध अवस्था के पूर्व हमारे
लौकिक जीवन में स्वगत, स्वसंबद्ध तथा स्वस्थिर रूप में मानसाधिष्ठित रहते हैं किंतु
काव्य-रस के आस्वादन की वेला में उन्हें लोकोत्तर अवस्था प्राप्त हो जाती है। काव्य
वर्णित विभावादि का संयोग प्राप्त कर वे अपने लौकिक संस्कार से विगलित होकर
अपनी व्यक्ति संबद्धता का परित्याग कर देते हैं जिससे उनकी प्रतीति सामान्य रूप से
आभासित होने लगती है। वस्तुतः स्वगत तथा उद्‌बुद्ध संस्कारों का विगलन काव्य-
भावकों के स्वत्व को विस्मृत कराता हुआ उन्हें स्वत्व का विस्तार प्रदान करता है जिसे
मम्मट ने 'नियत प्रमातृगतत्वेन स्थितोऽपि साधारणोपायबलात् विगलितपरिमित-
भावोन्मिषित अपरिमितभावेन प्रमात्रा' द्वारा व्यक्त कर यह तथ्य निरूपित किया है कि
रसास्वाद के समय काव्य-रसिक का उद्‌बुद्ध संस्कार अपने व्यक्तिसंबद्ध परिमित
प्रमातृत्व को छोड़कर साधारणीभूत अपरिमितभाव को प्राप्त होता है जिसकी अनुभूति
लौकिक व्यवहार से भिन्न होने के कारण अलौकिक कही गई है।

काव्य-रस की अलौकिक आस्वाद्यता का प्रतिपादन अनेक तर्कों और प्रमाणों के

द्वारा किया गया है। विद्वानों ने रस को 'विभावादिजीवितावधि' तथा 'चर्व्यमाणैकप्राण' कहकर उसकी अलौकिकता इस तर्क द्वारा भी सिद्ध करने की चेष्टा की है कि काव्यगत उपायों का स्वरूप लौकिक उपायों से भिन्न तथा अलौकिक है। लौकिक उपायों में तो कारणादि उपायों की सहायता से कार्य की सिद्धि होने पर कर्ता को उनकी आवश्यकता नहीं रहती तथा वह उनका त्याग भी कर सकता है, किंतु काव्यगत उपायों के सम्बन्ध में उपर्युक्त नियम घटित नहीं होता। काव्यास्वादन की प्रक्रिया से स्पष्ट है कि काव्य अथवा नाट्य के अंतर्गत जिन विभावादि का निरूपण रसास्वाद के उपायों के रूप में किया जाता है, वे रसोत्पत्ति होने के उपरांत भी अपनी महत्ता में कम नहीं होते तथा लौकिक उपायों की भाँति उनका त्याग भी नहीं किया जाता। सच तो यह है कि विभावादि का आस्वाद ही काव्य-रस का आस्वाद है अतः उनके (विभावादि के) विनाश में तो रसास्वाद की स्थिति ही संभव नहीं हो सकती। वस्तुतः काव्यगत उपाय रस के 'कारक' अथवा 'ज्ञापक' उपाय नहीं हैं, अतः लौकिक उपायों की भाँति उनका रूप नहीं स्वीकार किया जा सकता।

काव्य-रस की अलौकिकता का एक गमक यह भी है कि वह लौकिक प्रमाणगम्य न होकर अनुभवैकगम्य है जिसके कारण उसे लौकिक प्रत्यक्ष का विषय नहीं कहा जा सकता। विद्वानों ने उसे अनुमिति, स्मृति और स्वशब्दवाच्यता का अविषय कहकर भी उसकी अलौकिकता प्रतिपादित की है। आचार्य अभिनवगुप्त ने लौकिक व्यवहार तथा काव्यगत व्यवहार में विवक्षाभेद निरूपित करते हुए काव्य-व्यापार को अलौकिक कहा है। विद्वानों का मत है कि लौकिक व्यवहार भेद-प्रधान अथ च भाव का कोई प्राधान्य नहीं होता और वहाँ रामादि पात्र व्यक्ति-विशेष के द्योतक न होकर अवस्था-विशेष के प्रतिपादक बनकर उपस्थित होते हैं। अभिप्राय यह है कि काव्यवर्णित रामादि का वृत्तांत अपनी वाच्य अवस्था में आपाततः देशकालादि से परिसीमित अथवा विशिष्ट प्रतीत हो, किंतु परमार्थतः वह साधारणीकरण की स्थिति को प्राप्त रहता है जिसके कारण उसकी प्रतीति रसिक में भी व्याप्त हो जाती है और यह व्याप्ति भी उसकी अलौकिकता का एक प्रमाण है।

यों तो काव्य में भी उन्हीं अर्थों का वर्णन किया जाता है जिनकी अनुभूति हम अपने लौकिक जीवन में भी करते हैं, किंतु काव्य के परिवेश में उनका प्रयोजन लौकिक जीवन के प्रयोजन से भिन्न हो जाता है जिसकी भिन्नता के कारण काव्यगत अर्थों को विभाव आदि की पृथक् संज्ञाएं प्रदान की जाती हैं। ये विभावादि संज्ञाएं अन्वर्थ अर्थात् अर्थानुगामी होती हैं। यदि हम किसी व्यक्ति को उसके शत्रु पर क्रोध करते हुए देखते हैं तो हमें पता चलता है कि क्रोध के कारण उसके नेत्र रक्तिम तथा भृकुटि कुटिल हो गई है। उसकी ये चेष्टाएं हमारे तर्क के लिंग हैं जिनसे हमें उसकी मनोदशा का अनुमान होता है। वे अर्थ क्रुद्ध व्यक्ति की दृष्टि से कार्यकारण रूप हैं किन्तु तटस्थ की दृष्टि में वे अनुमिति के लिंग हैं तथा दोनों की दृष्टियों में उनका स्वरूप लौकिक है।

काव्य में जब उपर्युक्त अर्थों का वर्णन किया जाता है तो उनका प्रयोजन भिन्न

हो जाता है। चूंकि पात्र की चित्तवृत्ति का निष्पन्न करना उनका कार्य नहीं होता अतः वे कार्यकारणरूप नहीं होते और न उन्हें अनुमिति लिंग रूप ही कहा जा सकता है, क्योंकि काव्य-रसिक अथवा सहृदय पाठक को पात्र की चित्तवृत्ति का ज्ञान करा देना ही उनका प्रयोजन नहीं होता। वस्तुतः रसनिष्पत्ति अर्थात् 'रसिक में रसना व्यापार को निष्पन्न करना' ही उनका एकमात्र प्रयोजन होता है। रसना-व्यापार की निष्पत्ति की भी एक प्रक्रिया है जिसके विषय में अभिनवगुप्त का कहना है कि व्यवहार में जो अर्थ चित्तवृत्ति की उत्पत्ति के लिए कारण होते हैं, वे ही अर्थ काव्य में स्थायी का विज्ञान अर्थात् निश्चित अर्थ करा देते हैं। यदि व्यवहार में इनका प्रयोजन 'निष्पत्ति' है तो काव्य में इनका प्रयोजन होता है 'विभावन-व्यापार'। वस्तुतः व्यवहार के 'कारण' काव्य के विभाव हैं तो व्यवहार के 'कार्य' (स्थायी के परिणाम) काव्य के 'अनुभावन'। व्यवहार में लज्जादि भावों को केवल 'सहकारी' ही कहा जाता है किन्तु काव्य में उनके समुपरंजन रूप कार्य के अनुकूल इन्हें संचारी अथवा व्यभिचारीभाव कहते हैं। यों तो काव्य में भी लौकिक अर्थ ही विद्यमान रहते हैं तथापि विभावन, अनुभावन और समुपरंजन नामक व्यापारों की प्रयोजनीयता से उन्हें क्रमशः विभाव, अनुभाव तथा संचारी भावों की संज्ञाएं दी जाती हैं। यद्यपि उनके कार्य, साधारणीभूत स्वरूप, संज्ञाएं और क्षेत्र आदि अलौकिक नहीं होते तथापि उनका क्षेत्र जब नाट्य या काव्य से सम्बद्ध हो जाता है तो काव्यवर्णित विभावादि को अलौकिकता प्रदान कर ही देता है।

विभावादि के कारण काव्यरसिक को होने वाले अनुभावन को भी अलौकिक कहा जाता है क्योंकि उनके द्वारा होने वाला ज्ञान व्यावहारिक जगत् में कार्यकारण की शृंखला से होने वाले परकीय चित्तवृत्ति के तटस्थ ज्ञान से भिन्न होता है। वस्तुतः काव्य-रसिक के समक्ष उपस्थित होते ही विभावादि से सम्बद्ध चित्तवृत्ति में रसिक का तन्मयी-भवन होना ही उसका अनुभावन है जिसमें विभावादि के लिए उचित चित्तवृत्ति से सजातीय रसिक की अपनी चित्तवृत्ति उद्बुद्ध हो जाती है। अपनी निर्विघ्न और निरपेक्ष स्थिति के कारण वह 'अनुभावन', 'चर्वणा' अथवा 'रसना' रूप होता है जिसकी प्रतीति व्यावहारिक जगत् से भिन्न अर्थात् लोकोत्तर होने के कारण अनुभावन-व्यापार को भी अलौकिक अनुभव के रूप में ही व्याख्यात किया जाता है। यहाँ यह बात उल्लेखनीय है कि विभावादि के साधारण्य से होने वाली अनुभावन प्रतीति उस प्रतीति से भी भिन्न है जिसमें हम किसी निरीह एवं निरपराधी के प्रति किसी नृशंस एवं आततायी का अत्याचार देखकर उसके प्रतिरोध के लिए कर्तव्योन्मुख हो जाते हैं। उस कर्तव्योन्मुखता में भी यद्यपि प्रतीति का सामान्यत्व रहता है किंतु चित्त की वह विश्रांति नहीं हो पाती जो विभावादि की नाट्यकाव्यान्तर्गत चर्वणा से सम्भव है। वास्तव में उत्तरकर्तव्योन्मुखता का निर्माण करना तो शास्त्र और पुराण आदि का प्रयोजन है, क्योंकि उसमें विभावादिजन्य चर्वणोन्मुखता नहीं होती। अभिनवगुप्त ने इसी दृष्टि से उसे प्ररोचना अथवा अर्थवाद मात्र कह कर काव्य की चर्वणा से भिन्न उत्तरकर्तव्योन्मुखता की संज्ञा दी है जो काव्य के विभावन-व्यापार की अलौकिकता से उसे पार्थक्य प्रदान करती है। इस विषय में अभिनवगुप्त के शब्द उल्लेखनीय हैं—

'इह तु विभावाद्येव प्रतिपाद्यमानं चर्वणाविषयतोन्मुखम्—न च नियुक्तोऽहं करवाणि, कृतार्थोऽहमिति शास्त्रीय प्रतीतिसदृशमदः। तत्र उत्तरकर्त्तव्योन्मुखेन लौकिकत्वात्।' (ध्वन्यालोकलोचन)

सारांश यह है कि एक ही अर्थ प्रयोजन-भेद से भिन्न-भिन्न कार्य करता है और कार्य के अनुसार भिन्न-भिन्न संज्ञाओं से बोधगम्य किया जाता है। काव्यगत पात्रों की व्यक्तिगत दृष्टि से वह कारण-कार्य रूप, बाह्य रहकर देखने वाले तटस्थ की दृष्टि से वह अनुमान का लिंग और कर्तव्योंन्मुख करने वाले योजक की दृष्टि से वह प्ररोचक अर्थवाद है जिनका सम्बन्ध लौकिक प्रत्यय से है किंतु वही अर्थ जब अनुप्रवेशपूर्वक आस्वाद लेने वाले रसिक की दृष्टि से विभावानुभावविशिष्ट हो जाता है तो रसिक को अलौकिक प्रत्यय होते हैं।

काव्यगत उपायों और लौकिक उपायों के स्वरूप के सम्बन्ध में एक विशेष प्रकार का वैभिन्न्य पाया जाता है जिसके कारण दोनों की स्थिति में सहज पार्थक्य आता है। लौकिक उपायों का एक सामान्य नियम यह है कि उनकी सहायता से कार्य-सिद्धि होने के पश्चात् कर्ता को उनकी आवश्यकता नहीं रहती अतः वह उनका त्याग भी कर सकता है जबकि काव्यगत उपायों पर यह नियम घटित नहीं होता। काव्य के रसास्वादन के समय काव्यगत शब्दार्थों की स्थिति बाह्यमूलक नहीं होती तथा रसास्वाद के उपायभूत काव्यनाट्यगत विभावादि का महत्त्व रसोत्पत्ति होते ही लौकिक उपायों की भाँति न तो न्यून ही होता है और न उनका परित्याग ही किया जा सकता है। वस्तुतः रसास्वाद एक प्रकार से विभावादि का ही आस्वाद है जिसकी सत्ता विभावादि की 'जीवितावधि' पर्यन्त है जबकि लौकिक उपायों में कारक तथा ज्ञापक भाव का आधार विद्यमान रहने से उन्हें काव्यगत उपायों की-सी अलौकिकता प्राप्त नहीं है। काव्य रस की अलौकिकता का एक गमक यह भी है कि वह लौकिक प्रमाणों का विषय नहीं होता तथा उसकी सत्ता केवल अनुभवेकगम्य है जिसे लौकिक प्रत्यक्ष, अनुमिति, स्वशब्दवाच्यता तथा स्मृति की परिसीमा में आबद्ध नहीं किया जा सकता।

लौकिक व्यवहार और काव्यगत व्यवहार में न केवल उनके स्वरूप, उपाय तथा प्रमाण के वैभिन्नयवश ही अन्तर पाया जाता है अपितु उनमें विवक्षाभेद भी है जिसके कारण उनकी लौकिकता और अलौकिकता की क्रमशः उपपत्ति की जाती हैं। लौकिक व्यवहार में व्यक्ति-भाव का प्राधान्य तथा जातिभाव का गौणत्व होने के कारण उसे भेदप्रधान कहा जाता है जबकि काव्य-व्यवहार में व्यक्तिभाव का कोई प्राधान्य नहीं होता। आचार्यों ने 'धीरोदात्ताद्यवस्थानां रामादिप्रतिपादकः' द्वारा बतलाया है कि काव्य अथवा नाट्य आदि में 'राम' एक व्यक्ति न होकर एक अवस्था का प्रतिपादक है जिसमें सामान्यत्व की सहज प्रतीति के तत्त्व संवलित हैं। यदि कोई कवि दुष्यंत-शकुंतला, राम-सीता तथा शिव-पार्वती के प्रणय का चित्रण करे तो उस चित्रण में सामान्यत्व से प्रतीत होने वाला प्रणयी युगल का व्यवहार ही सहृदयजनों के रसास्वादन का आधार बनता है। इस मान्यता का स्पष्टीकरण करते हुए यह कहा जा सकता है कि काव्य और नाट्य आदि में रामादि का जो वृत्तांत अपनी वाच्यावस्था में प्रदर्शित होता है, वह आपाततः देशकालादि

की विशिष्टता से सीमित भी माना जा सकता है किंतु परमार्थतः वह व्यक्ति संबंध विगलित तथा साधारणीभूत रूप में है जिससे हृदयजनों के चित्त में काव्यगत व्यवहार की प्रतीति व्याप्त हो जाती है। इसको और अधिक स्पष्ट करने के प्रयोजन से यह कहा जा सकता है कि जिस प्रकार व्यक्ति द्वारा जाति का प्रकटीकरण न किये जाने पर लौकिक व्यवहार सम्पन्न नहीं होता उसी प्रकार व्यक्ति द्वारा जाति अथवा सामान्य की प्रतीति न होने पर काव्य-व्यवहार की सम्पन्नता भी स्वीकार नहीं की जा सकती।

काव्यार्थ अथवा रस की अलौकिकता के ऐसे अनेक गमक हैं जिनके आधार पर उसकी लोकोत्तर विशिष्टता प्रतिपादित की जा सकती है। यों तो काव्यगत अर्थ 'प्रत्यक्षवत् स्फुट' रूप में प्रदर्शित होते हैं किंतु उसमें लौकिक प्रत्यक्ष का-सा विषयेन्द्रिय संयोग नहीं होता। वस्तुतः रंगमंच अथवा मानसघट पर जिन अर्थों का हम साक्षात्कार करते हैं वे काव्यार्थ न होकर काव्यार्थ के उपाय मात्र हैं जिनसे हमें काव्यार्थों की आस्वादमयी प्रतीति होती है। वह प्रतीति प्रत्यक्ष का विषय न होकर अनुभवैकगम्य रहती है तथा लौकिक प्रत्यक्ष के समकाल ही 'जातिलक्षणप्रत्यासत्ति' द्वारा सामान्यत्व की प्रतीति कराती है जिसके कारण हम काव्य का अलौकिक रसास्वादन करते हैं। न्यायशास्त्र में 'जातिलक्षणप्रत्यासत्ति' द्वारा होने वाले प्रत्यक्ष ज्ञान को ही 'अलौकिक प्रत्यक्ष' कहा गया है जिसके आधार पर कहा जा सकता है कि विभावादि के साधारण्य से होने वाला ग्रहण भी अलौकिक प्रत्यक्ष ही है। चूँकि कवि की वक्रोक्तिगर्भित किंवा अलंकृत वाणी में किया गया अर्थों का प्रस्तुतीकरण 'ज्ञानलक्षणप्रत्यासत्ति' द्वारा ही संभव है अतः कवि के अभिधान में भी अलौकिक प्रत्यक्ष का विधान रहता है, इस सिद्धान्त को ध्यान में रखते हुए काव्यगत विभावादि को परमार्थतः अलौकिक प्रत्यक्ष का ही विषय समझना चाहिए। अलौकिक प्रत्यक्ष के अभाव में न तो उनका विभावत्व ही संभव है और न किसी काव्यरसिक का काव्यगत व्यवहार में अनुप्रवेश ही हो सकता है। विभावानुभावों की अलौकिक प्रत्यक्षता तथा उनके अनुप्रवेश का काव्य से इतना अधिक सम्बन्ध होता है कि उनके व्यावर्तन की कल्पना की ही नहीं जा सकती। वस्तुतः न्यायशास्त्र का अलौकिक प्रत्यक्ष तथा रस-व्यापार का अनुप्रवेश रसप्रक्रिया को समझने में अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है। 'अनुप्रवेश' की कल्पना अनुमितिवादियों को भी स्वीकार है क्योंकि वे रसप्रतीति के लिए जिस अनुमान की कल्पना करते हैं वह अलौकिक है। इसी प्रकार अभिधावादी मीमांसक भी काव्यगत अभिधा को शास्त्रगत अभिधा से भिन्न मानते हैं। इन सब बातों का विचार करने के पश्चात् हमें यह स्वीकार करना ही पड़ता है कि काव्यार्थ को स्वरूप, उपाय, प्रमाण, विवक्षा तथा प्रत्यासत्ति आदि दृष्टियों से देखने पर उसकी अलौकिकता स्वतः सिद्ध हो जाती है।

काव्यास्वादन के सुख को जिस अर्थ में अलौकिक कहा जाता है वह केवल व्यवहारगत है। उसकी अलौकिकता अभिधागत न होकर लक्षणागत है। इसमें कोई संदेह नहीं कि काव्यगत शोक आदि स्थायी भावों का अनुभव लौकिक शोकानुभव से भिन्न है, किंतु दोनों में प्रकृति का अन्तर न होकर केवल गुण का अन्तर है। जब काव्य-निर्माता कवि भी इसी भौतिक जगत् का प्राणी है तो उसकी कारयित्री प्रतिभा से

समुद्भूत साहित्य किसी अपार्थिव लोक की रचना होती है, यह कथन सर्वथा निर्विवाद नहीं है। हां, यह बात अवश्य है कि काव्यास्वाद को ऐन्द्रिय सुख तक ही सीमित नहीं किया जा सकता। इस विषय में दो अभिमत हो ही नहीं सकते कि काव्यानुभूति का आस्वाद प्रत्यक्ष लौकिक सुख न होकर उससे भिन्न कोटि का उदात्तीकृत आस्वाद है जिसमें राग-द्वेष की संकीर्ण मनःस्थिति के लिए कोई स्थान नहीं है।

निष्कर्ष

रसप्रतीति को किसी अर्थ की सिद्धि का साधन भी नहीं कहा जा सकता। उसे न तो विधि-निषेधात्मक रूप में ग्रहण किया जा सकता है और न प्रवृत्तिनिवृत्ति की हेतुमूलकता में ही। काव्य का प्रयोजन यह भी नहीं होता कि वह पाठक को किसी क्रिया के लिए कर्तव्योन्मुख करे। वस्तुतः उसकी सिद्धि तो केवल इस बात में है कि वह उसके सहृदय पाठक को कवि-वर्णित विभावादिगत अभिप्राय में विश्रांत कर दे। अभिनवगुप्त ने इसी दृष्टि से काव्य के रसास्वाद का पर्यवसान अभिप्रेत वस्तु की प्राप्ति अथवा तद्विषयक कर्तव्य में न मानकर उस प्रतीति विश्रांति में माना है जो केवल अभिप्रायनिष्ठ होती है। वह रसप्रतीति तात्कालिक होती है जिसका अर्थ यह है कि वह न तो विभावादि की उपस्थिति के पूर्व चर्वणा का विषय होती है और न विभावादि के नष्ट होने के उपरांत ही उसकी सत्ता रहती है। वस्तुतः विभावादि की उपस्थिति पर्यन्त ही रस-चर्वणा का अस्तित्व रहता है अतः उसे 'तात्कालिक' कहा गया है। रसास्वाद के पश्चात् काव्यास्वादयिता के लिए कुछ भी कर्तव्य शेष नहीं रहता अतः इस कारण से भी उसे लौकिक आस्वाद से भिन्न माना गया है जैसाकि अभिनवगुप्त ने अपने 'लोचन' में भी लिखा है—'इह तु विभावादिचर्वणा अद्भुतपुष्पवत् तद्वालसारा एव उदिता, न तु पूर्वापर कालानुबंधिनी इति लौकिकास्वादादन्य एवायं रसास्वादः।'

आस्वाद्यता के आलोक में 'महारस' की अनुभूति

भारतीय दृष्टि के आलोक में रस के स्वरूप और आस्वाद की जो शास्त्रीय विवेचन की गई, उसके निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि आस्वाद्यता अथवा रस-चर्वणा रस का भेदक लक्षण है। उसके कारण रस की प्रतीति अन्य प्रतीतियों से भिन्न होती है। आस्वाद्यमानता अथवा चर्वणात्मकता की दृष्टि से सभी रस तथा भाव एक ही हैं जिन्हें अभिनवगुप्त ने 'सामान्य रस' अथवा 'महारस' की संज्ञा दी है। शृंगारादि रस उस महारस के 'विशेष निष्यंद' कहे जा सकते हैं। एक ही महारस के ये विशेष भेद विभावानुभावों के संयोग-विशेष के कारण होते हैं, किंतु विभावानुभावादि का संयोग केवल निरपेक्ष नहीं होता। लौकिक दृष्टि से उसे किसी संचारी अथवा स्थायी भाव का अभिव्यंजक होना ही चाहिए जिसके अनुरूप सामान्य रस के 'भाव' तथा 'विशेष रस' संज्ञक भेद किये जाते हैं। भावों में उदय, संधि, शांति और शबलता आदि अवस्थाविशेषों के कारण जब चर्वणाव्यापारगोचरभाव आस्वाद्य बनते हैं तो उनके अनुरूप भावोदय, भावसंधि, भावशांति और भावशबलता आदि भेदों की सृष्टि होती है। इसी प्रकार

विशेष रसों में जहाँ रति, उत्साह, शोक और हास आदि स्थायी भाव आस्वाद्य होते हैं तो उनके अनुरूप शृंगार, वीर, करुण और हास्य आदि विशेषरस निष्पन्न होते हैं। जहाँ स्थायी भाव आस्वाद्य होता है वहाँ व्यभिचारी भावों की निरपेक्ष आस्वाद्यता नहीं रहती। स्थायी भावों की आस्वाद्यता में रसध्वनि होती है किंतु जहाँ व्यभिचारी भाव स्वतंत्र रूप से आस्वाद्य रहता है वहाँ भावध्वनि होती है। भावध्वनि के अधिक स्थल मुक्तक काव्य में रहते हैं जहाँ व्यभिचारी भाव भी निरपेक्ष रूप से आस्वाद्य हो सकता है। मुक्तक द्वारा रसास्वादन प्राप्त करने के लिए काव्य-भावक में विशेष प्रकार की योग्यता वांछनीय है जिसका कारण यह है कि उसमें सामान्यतः भावप्रतीति स्वतंत्र रूप से आस्वाद्य होती है तथा विभाव, अनुभाव और संचारी भावों का भी पूर्ण वर्णन नहीं रहता। उसमें कहीं तो विभावों का प्राधान्य रहता है और कहीं अनुभावों का। ऐसी स्थिति में मुक्तक काव्य के आस्वादयिता को अनेक बार पूर्वापर संदर्भों की परिकल्पना करते हुए कवि द्वारा अकथित किंतु आस्वाद के लिए आवश्यक अर्थों का संयोग करना पड़ता है जिनकी निष्पन्नता में ही उसे रस प्रत्यय हो सकता है। कहने की आवश्यकता नहीं कि नाट्य अथवा प्रबंध-काव्यों में इस प्रकार की परिकल्पना का प्रयत्न अपेक्षित नहीं होता, क्योंकि नाट्य में तो रसनिष्पत्ति के प्रत्यक्ष अवसर रहते हैं तथा प्रबंध-काव्यों में भी विभावानुभावों का समुचित संयोजन होने पर नाट्य के समान ही रसोत्कर्ष की प्रत्यक्षवत् कल्पना की जा सकती है। मुक्तक काव्य की स्थिति उनसे कुछ भिन्न है जिसका संकेत उपर्युक्त पंक्तियों में किया ही जा चुका है। सरांश यह है कि नाट्य, प्रबंध और मुक्तक आदि सभी प्रकार के काव्यों में 'रसनाव्यापारगोचरता' अथवा 'आस्वाद्यता' संज्ञक धर्म अनुस्यूत रहते हैं जिन्हें तात्त्विक अखंडता में ग्रहण करते हुए अभिनवगुप्त ने उचित ही कहा है कि रस और भावादि सभी प्रकार के काव्यार्थ एक ही 'महारस' के निदर्शन हैं।

रस का अधिवास और उसकी सुखदुःखरूपता

(अ) रस का अधिवास

काव्य-रस के आस्वादन की प्रक्रिया में एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न यह भी है कि उससे उपलब्ध आनन्द का मूल स्थान कहाँ माना जाय ? इस प्रश्न का सम्बन्ध रस-निष्पत्ति के साथ अनिवार्यतः जुड़ा हुआ है और सभी आचार्यों ने यथामति एतद्विषयक विमर्श भी किया है जिससे अनेक प्रकार की उल्लेखनीय उपलब्धियाँ होती हैं।

भारतीय काव्यशास्त्र के अनुशीलन से प्रकट है कि अद्यावधि उपलब्ध शोध-सामग्री के अनुसार इस प्रश्न की ओर सर्वप्रथम भरतमुनि का ध्यान आकृष्ट हुआ था। उन्होंने नाट्यशास्त्र की विवेचना करते हुए रस का स्थान 'नाट्य' में निर्धारित किया और बतलाया कि जब रंगमंच पर विभाव, अनुभाव और व्यभिचारिभावों का संयोग स्थायिभाव के साथ होता है तो रस की निष्पत्ति होती है। उनकी मान्यता के अनुसार रस की स्थिति विषयगत है और नाट्य ही उसका आधार है क्योंकि वहीं पर रस की संसिद्धि होती है। उनके मतानुसार रस आस्वाद्य है क्योंकि उसका आस्वादन कर सहृदयजनों को आत्मविश्रांति होती है।

नाट्य के साथ-साथ काव्य भी रस का अधिष्ठान है

भरतमुनि ने मुख्यतः नाट्य में ही रस का स्थान माना था किन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि नाटकवत् प्रतीत होने वाले काव्य में रस नहीं होता। आचार्य भट्टतौत का अभिमत है कि काव्यार्थ के विषय में भावना के बल से प्रत्यक्षकल्प संवेदना के उत्पन्न होने पर काव्य में भी रस का उदय हो जाता है। उन्होंने अपने सुप्रसिद्ध ग्रन्थ 'काव्य-कौतुक' में लिखा है कि उन सर्गबद्ध काव्यों से भी रस का आस्वादन सम्भव है जो प्रयोग अथवा अभिनय को समापन्न न कर सकें। वस्तुतः वर्णन-शैली के विस्तार तथा प्रौढत्व के कारण सुष्ठु रूप में अंकित किये गये उद्यान, कान्ता और चन्द्र आदि विभाव प्रत्यक्ष-वत् ही प्रस्फुटित होते हैं जिनकी रस-चर्वणा असंदिग्ध है।[1] आचार्यों का कहना है कि सर्गबंध काव्य में भी गुण और अलंकारों के सौन्दर्यातिशय के द्वारा रस की चर्वणा होती

१. प्रयोगत्वमनापन्ने काव्ये नास्वादसंभवः।
वर्णनोत्कलिकाभोग प्रौढोक्त्या सम्यगर्पिता।
उद्यान-कांता-चन्द्राद्याभावाः प्रत्यक्षवत् स्फुटाः।

है। इस विषय में आचार्य अभिनवगुप्त का मत है कि 'काव्य तो मुख्यतः दशरूपकात्मक ही होता है क्योंकि उसमें उचित भाषा, वृत्ति, काकु एवं नेपथ्य आदि के द्वारा रसवत्ता को पूर्णता प्राप्त होती है।' ऐसा प्रतीत होता है कि अभिनवगुप्त के मन में नाट्य के प्रति विशेष मोह था जिसके कारण वे उसे अन्य काव्यों की अपेक्षा उच्चतर गुरुता प्रदान करते रहे। उन्होंने लिखा है कि सर्गबंध आदि से युक्त महाकाव्यों में नायिका आदि स्त्री-पात्र भी संस्कृत भाषा का प्रयोग करते हैं जिनसे अनेक प्रकार का अनौचित्य अर्थात् रसभंग का कारण उपस्थित हो जाता है। 'वस्तुत: इस विषय में वे आचार्य वामन की विचारधारा के समर्थक हैं, तभी तो उन्होंने महाकाव्यों और मुक्तक काव्यों के अभिव्यंजन-सौन्दर्य की प्रशंसा करते हुए भी उन्हें दशरूपकों की अपेक्षा हीन कोटि का स्वीकार किया है। उनके मतानुसार हृदयसंवाद के तारतम्य की अपेक्षा से नाटक के श्रोता तथा प्रतिपत्ता की आत्मस्फुरणा या अनुभूति उसके स्फुट तथा अस्फुट आदि भेदों से अत्यंत विचित्र प्रकार की होती है।' इस प्रसंग में हम उनके अभिमत का वह अंश उद्धृत करना चाहते हैं जिसमें उन्होंने बतलाया है कि नाट्यशास्त्र सहृदय और असहृदय दोनों का उपकारक है और नाट्य में ही रस होता है, लोक में नहीं। वस्तुतः नाट्य के प्रति उनका दृष्टिकोण अत्यंत उदार है तभी तो वे काव्य को भी सन्ध्यंगादि से रहित नाट्य ही मानते हैं। उनका कथन है—

'तत्र ये स्वभावतो निर्मलमुकुरहृदयास्त एव संसारोचितक्रोधमोहाभिलाषपर-वशमनसो न भवंति। तेषां तथाविधदशरूपकाकर्णनसमये साधारणरसनात्मक चर्वण-ग्राह्यो रसंचयो नाट्यलक्षणः स्फुट एव। ये तुतथाभूतास्तेषां प्रत्यक्षोचित तथाविध चर्वणालाभाय नटादिप्रक्रिया, स्वगतक्रोध शोकादिसंकटहृदयग्रंथिभंजनाय गीतादि-प्रक्रिया न मुनिना विरचिता। सर्वानुग्राहकं हि शास्त्रमिति न्यायात्। तेन नाट्य एव रसा न लोक इत्यर्थः। काव्यं च नाट्यमेव।'[1]

रसाधिवास के विषय में विविध मत

भरत के परवर्ती आचार्यों ने यद्यपि रस-निष्पत्ति और रसस्थान का विमर्श करते हुए भरतमुनि की मूल पृष्ठभूमि का परित्याग नहीं किया तथापि उनका विवेचन नाट्य के साथ-साथ काव्य को भी अपना माध्यम बनाकर व्यक्त हुआ। इन आचार्यों ने काव्य को शब्दार्थमय कहकर रस की स्थिति काव्य के शब्दों और अर्थों में मानी और उसका सम्बन्ध काव्यालंकारों से भी उपनिबद्ध कर दिया। इन आचार्यों की प्रारम्भिक श्रेणी में आचार्य भामह और दण्डी आदि की गणना की जा सकती है जिन्होंने अलंकार-वाद के प्राधान्य से रस को गौण सत्ता प्रदान की और उसे 'रसवत्' अलंकार के रूप में ही विवेचित करना युक्तिसंगत समझा। ऐसे आचार्यों के मतानुसार शब्दार्थमय काव्य ही रस का स्थान है जिसका आस्वादन कर सहृदय प्रमाता 'प्रीति' अथवा आनन्द की अनुभूति करता है।

---

१. आचार्य अभिनवगुप्त, अभिनवभारती, पृ० ५०५।

भारतीय काव्यशास्त्र की विकासोन्मुख परम्परा में यह एक अत्यंत उल्लेखनीय विषय है कि ज्यों-ज्यों वहाँ के साहित्य-ज्ञान की सर्जना और चर्वणा में भारतीय मनीषियों की मेधाशक्ति अधिकाधिक काव्योन्मुख होती गई, त्यों-त्यों रस-निष्पत्ति और रस-स्थान के तात्त्विक विवेचन का विषय भी अधिकाधिक गम्भीर और महत्त्वपूर्ण बनता गया। इस विषय में आचार्य भट्ट लोल्लट, भट्ट शंकुक, भट्ट नायक, अभिनवगुप्त और पंडितराज जगन्नाथ के मत विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं जिन्होंने नाट्य-विवेचित रस-विमर्श को विभिन्न दर्शनों के परिप्रेक्ष्य में निरूपित कर उनका स्थान निर्धारित किया है। इन मतों में सर्वप्रथम उल्लेखनीय मत आचार्य लोल्लट का है जो अनुकार्य में रस की स्थिति स्वीकार करते हुए इस सिद्धांत की प्रतिस्थापना करते हैं कि रामादि मूल पात्र ही रस के आस्वादयिता हैं जिनका गौण रूप से अभिमान कर नटादि अनुकर्ता भी आस्वाद लेते हैं। उनके मत से सहृदय सामाजिक रस की अनुभूति तो नहीं करता, किंतु रसात्मक स्थिति का साक्षात्कार कर चमत्कार का अनुभव अवश्य करता है। लोल्लट का मत मूलतः मीमांसा-दर्शन पर आधारित है और उनके विचार से निष्पत्ति का अर्थ 'उत्पत्ति' तथा संयोग का अर्थ 'उत्पाद्य-उत्पादक सम्बन्ध' है। उनके मत का जो नवीन विमर्श हुआ है उसके अनुसार संयोग का अर्थ 'उपचेय-उपचायक' सम्बन्ध तथा उत्पत्ति का अर्थ 'उपचिति' करना अधिक युक्तिसंगत माना जाता है। लोल्लट के मत का सारांश इतना ही है कि रस का वास्तविक स्थान अनुकार्य अथवा मूल पात्र का हृदय है जिसका गौण रूप से नट के चित्त में आरोप होने के कारण तज्जन्य चमत्कार से सहृदय के चित्त में भी उसकी कलात्मक प्रतीति होती है।

भट्ट लोल्लट ने रस की स्थिति का जो विमर्श किया है उसका व्यावहारिक पक्ष अनेक दृष्टियों से अपूर्ण है और उसका अनुभव कर आचार्य शंकुक ने अपनी नवीन स्थापना प्रस्तुत की है। उनका प्रतिपादन न्यायदर्शन पर आधारित है तथा वे निष्पत्ति का अर्थ 'अनुमिति' तथा संयोग का अर्थ 'अनुमाप्य-अनुमापक सम्बन्ध' करते हैं। उनके दर्शन को बौद्धों की न्यायमीमांसा की आधारशिला पर विवेचित कर नवीन आचार्यों ने निष्पत्ति का अर्थ 'अनुकृति' तथा संयोग का अर्थ 'अनुकार्य-अनुकारक सम्बन्ध' के साथ संयोजित कर रस की स्थिति का निर्धारण करने का प्रयास किया है। शंकुक का कथन है कि जब रामादि मूल पात्रों का अस्तित्व ही नहीं है तो उनके द्वारा अनुभूत रस की सत्ता वर्तमान में कैसे सम्भव है। ऐसी स्थिति में वे अनुकृत स्थायिभाव को ही रस की संज्ञा प्रदान कर यह निष्कर्ष निकालते हैं कि जब नटादि अनुकर्ता अपने कौशल एवं अभ्यास के स्थायिभाव का सफल अनुकरण करते हैं तो सहृदय प्रेक्षक उनके द्वारा अनुकार्य के स्थायिभाव का अनुमान कर रससिद्धि कर लेते हैं। इस मत के अनुसार नट को रस का कर्ता अथवा स्थायिभाव का अनुकर्ता अवश्य कहा जा सकता है, किंतु उसका आस्वादयिता अथवा अनुभवकर्ता नहीं। वास्तव में नट का कार्य अथवा अभिनय ही रस का स्थान है जिसका अनुमान सहृदय सामाजिक अपने रागात्मक संस्कार तथा नटाभिनय-कौशल के द्वारा करते हैं। शंकुक का यह अभिमत भरतमुनि की मान्यता का एक प्रकार का पुनराख्यान है जिसमें अभिनय पर विशेष बल दिया गया है जब कि भरतमुनि के

अनुसार रस की सिद्धि में कवि-कर्म और नट-कर्म के समन्वय का अधिक आग्रह है। इस मत के अनुसार भी रस आस्वाद न होकर आस्वाद्य तथा विषयिगत न होकर विषयगत है। यद्यपि उसके लिए प्रयुक्त 'अनुमान' पद से उसकी विषयिगत स्थिति का भी धूमिल आभास अवश्य मिल जाता है।

रस की स्थिति अथवा उसका स्थान निर्धारित करने के प्रसंग में किये गये तत्त्व-विमर्श में आचार्य भट्ट नायक विशेषतः उल्लेखनीय हैं क्योंकि प्राप्त सामग्री के आधार पर सर्वप्रथम उन्होंने ही रस का स्थान सहृदय के चित्त को निर्धारित किया था। उनके विचारों का मूल सूत्र इतना ही है कि जब सहृदय का स्थायिभाव साधारणीकृत विभावादि के द्वारा भावित होता है तो वही रस बन जाता है। उनका मत सांख्यदर्शन पर आधारित कहा जाता है जिसके अनुसार निष्पत्ति का अर्थ 'भुक्ति' तथा संयोग का अर्थ 'भोज्य-भोजक सम्बन्ध' है। नवीन विचारकों ने उसका विश्लेषण 'मीमांसा' अथवा 'शैवाद्वैतवाद' के आधार पर करते हुए निष्पत्ति का अर्थ 'भाविति' तथा संयोग का अर्थ 'भाव्यभावक सम्बन्ध' किया है। भट्ट नायक की मान्यता का मूल अभिप्राय यह है कि काव्य में भावकत्व व्यापार द्वारा सहृदय के चित्त में सत्वगुण का प्राधान्य और सत्वेतर गुणों का मांद्य हो जाता है जिसके कारण वे व्यक्तिगत संबंधों से मुक्त होकर ऐसी स्थिति को प्राप्त कर लेते हैं जो ऐन्द्रिय विकारों से रहित होने के कारण उन्हें रस का भावन कराती है। वस्तुतः सहृदयों के भावित हृदय के स्थायिभाव की परिणति ही रस रूप में होती है जिसके कारण वे आनन्दमय विश्रांति का अनुभव-सा करने लगते हैं तथा उस अनुभूति में भोजकत्व शक्ति का भी संयोग रहता है जिसके द्वारा 'रस-भोग' की सिद्धि होती है।

रस की स्थिति निर्धारित करने में सर्वाधिक प्रामाणिक मत आचार्य अभिनवगुप्त का माना जाता है जिसके अनुसार रस आस्वाद्य न होकर आस्वाद-रूप है जिसे व्याव-हारिक दृष्टि से भले ही आस्वाद्य कह दिया जाय। उन्होंने रस को रत्यादि विशिष्ट सोपाधिक आत्मानन्द की संज्ञा प्रदान कर उसका स्थान सहृदय का चित् या आत्मा माना है। यद्यपि अभिनवगुप्त के मन में भरतमुनि के प्रति अपार आस्था है और वे मुनि-वचन को प्रमाण मानकर ही चले हैं तथापि उन्होंने उस विवेचन को जो तात्त्विक स्वरूप प्रदान किया है, वह निश्चय ही उनकी प्रतिभा का परिचायक है। यों तो उनका मत वेदान्त दर्शन पर आधारित कहा जाता है किंतु गम्भीर दृष्टि से विवेचन करने पर उसका मूल आधार 'शैवाद्वैत' सिद्ध होता है जिसके अनुसार निष्पत्ति का अर्थ 'अभिव्यक्ति' और संयोग का अर्थ 'व्यंग्यव्यंजक संबंध' है। कहने की आवश्यकता नहीं कि अभिनवगुप्त ने जिस दार्शनिक प्रतिपत्ति से रस-मीमांसा की है, उसे शांकर वेदांत के साथ संयोजित कर पंडितराज जगन्नाथ ने उसे नवीन दीप्ति प्रदान करने का उपक्रम किया है जिसके अनुसार वे 'भग्नावरणचिद्विशिष्टो रत्यादिः' अर्थात् अज्ञानरूप आवरण से मुक्त शुद्ध चैतन्य का विषयगत रत्यादि स्थायी भाव को ही रस न मानकर 'रत्याद्यवच्छिन्ना भग्नावरणा चिदेव रसः' अर्थात् रति आदि स्थायी भाव से विशिष्ट आवरणमुक्त शुद्ध चैतन्य को ही 'रस' की संज्ञा प्रदान करना सर्वतोभावेन समुचित समझते हैं। अभिप्राय

यह है कि भारतीय काव्यशास्त्र में रस का स्थान अथवा उसकी स्थिति का निर्धारण करने के अनेक सद्प्रयत्न हुए हैं जिनकी भूमिका में भारतीय चिंतन और ज्ञान की चिरंतन और अखण्ड परम्परा का सुविशाल और महान् इतिहास सुरक्षित है।

रसास्वाद और उसके भोक्ता के विषय में दशरूपकार धनंजय का स्पष्ट मत है कि 'अपने स्वाद्यत्व के कारण ही स्थायिभाव रस बनता है और वह रसिक में ही विद्यमान रहता है, अनुकार्य में नहीं, क्योंकि रसिक की सत्ता ही विद्यमान सत्ता होती है। अनुकार्य तो केवल वृत्त है जो भूतकाल में वर्तमान था अतः उसमें रस की स्थिति मानना उचित नहीं है।'[१] इस प्रकार उनके विचार से 'काव्य अनुकार्यपरक न होकर रसिकपरक होता है क्योंकि रसिक ही वर्तमान है। रस की प्रतीति लौकिक दर्शक को ही हो सकती है जो स्वरमणी संयुक्त है और जो प्रसंगागत क्रीडा, ईर्ष्या, राग और द्वेष संचारियों का दर्शन करता है। अतः रस अनुकार्यवर्ती न होकर दर्शकवर्ती ही होता है।[२]

धनंजय के मत का स्पष्टीकरण करते हुए यह कहा जा सकता है कि उन्होंने काव्यार्थोपप्लावित रति आदि स्थायी भावों को रसिकवर्ती माना है क्योंकि रसिकजन ही निर्भर-आनन्द की संवित्ति के आस्वाद्यस्वरूप रस की प्रतीति करते हैं। रस को अनुकार्यवर्ती मानने पर यह प्रश्न सहजभाव से उत्पन्न होता है कि जब रामादि अनुकार्य भूतकाल में विद्यमान थे तो उनमें वर्तमानकालीन काव्य की आस्वाद्यमानता का रूप कैसे माना जा सकता है? यदि यह कहा जाय कि शब्दोपहित रूप से अवर्तमान का भी वर्तमान के समान अवभास हो सकता है तो भी हमें यह स्वीकार करना पड़ेगा कि उस अवभास का अनुभव काव्यरसिक सहृदयजन ही करते हैं, अतः हमारे आस्वाद के विभाव के रूप में रामादि अनुकार्यों का वर्तमानवत् अवभास ही इष्ट है। सच तो यह है कि कवि द्वारा काव्य का प्रवर्तन रामादि पात्रों के हृदय में रसोपजनन के हेतु नहीं किया जाता अपितु वह सहृदयों के आनन्द के लिए किया जाता है अतः यही कहना समीचीन है कि काव्यरस सदैव 'समस्त-भावकस्वसंवेद्य' होता है। यदि यह माना जाय कि श्रृंगारादि रसों की निष्पत्ति रामादि अनुकार्यों में ही होती है तो उनका अभिनय देखकर प्रेक्षकों को केवल यही प्रतीति होगी कि स्वकांतासंयुक्त नायकादि ही श्रृंगारवान हैं और उस परिस्थिति में उनमें रस का आस्वादन न होकर केवल लज्जा, असूया और अनुराग के अपहार की इच्छा उत्पन्न होगी जिससे रसादि की व्यंग्यता अपास्त हो जायगी। अतः धनंजय के मत से भी यही मानना समुचित है कि रस विभावादि के द्वारा प्रेक्षक अथवा सहृदय में ही भावित होते हैं।

रस को सामाजिकनिष्ठ मानने पर एक प्रश्न यह उपस्थित होता है कि सीतादि पूज्य देवियाँ उनके हृदय के आलम्बन विभाव कैसे हो सकती हैं? इसका उत्तर देते हुए आचार्य धनंजय ने लिखा है कि जब धीरोदात्त आदि अवस्थाओं के प्रतिपादक रामादि मूल पात्र रत्यादि भावों को विभावित अथवा विज्ञातार्थ करते हैं तो सहृदय सामाजिक

१. दशरूपक, ४।३८।
२. वही, ४।३९।

भी उनका आस्वादन करने लगते हैं।[1] उन्होंने इस बात का विरोध किया है कि योगियों की भाँति कविजन भी अपने ध्यानचक्षु से ध्यान लगाकर रामादि की विशिष्ट अवस्थाओं का इतिहास की भाँति उपनिबंधन करते हैं। उनकी मान्यता तो केवल इतनी ही है कि सामाजिक अथवा सहृदय काव्यास्वादयिता सामान्य भावभूमि पर अधिष्ठित किंतु आश्रयमात्र में रहने वाली धीरोदात्त आदि अवस्थाओं को अपनी उत्प्रेक्षा से प्राप्त कर उन्हें धारण करते हैं और वे अवस्थाएं अपने विशेष आश्रयत्व को त्यागकर रस का कारण बन जाती हैं। रस-संचार की उस स्थिति में सीतादि शब्द अपने जनकतनया आदि विशिष्ट अर्थों को परित्यक्त कर केवल स्त्रीभाववाचक रह जाते हैं जिनकी उपादेयता का निरूपण करते हुए आचार्य धनंजय ने लिखा है कि 'जिस प्रकार मिट्टी के बने हुए हाथी आदि खिलौनों से क्रीडाप्रिय बालकों का उत्साह बढ़ता है, उसी प्रकार राम और अर्जुन आदि अनुकार्यों के अभिनेता नटों के उत्साह का आस्वादन श्रोतागण किया करते हैं।[2] उस आस्वादन में ललना आदि विभावों का उपयोग लौकिक शृंगारादि की भाँति नहीं होता अपितु नाट्याभिनय अथवा काव्यानुशीलन द्वारा प्राप्त होने वाला आनन्द उनसे विलक्षण होता है। धनंजय ने तो यह भी स्वीकार किया है कि काव्य के अर्थ से भावित आस्वाद नर्तक को भी मिलता है जिसे वारित नहीं किया जा सकता। ऐसा कहते हुए उन्होंने नर्तक की रसवत्ता को सहृदय भावक की श्रेणी में प्रतिष्ठित किया है। उनके मतानुसार नर्तक भी लौकिक रस से रसवान् नहीं होता क्योंकि वह भोग्यरूप से अपनी महिलादि का ग्रहण न कर केवल काव्यार्थ के भावन से हमारे समान ही काव्यरस का आस्वाद करता है।

आचार्य विश्वनाथ ने भी रस की स्थिति अनुकार्य अथवा नायकादि-गत नहीं मानी है। उनका मत है कि काव्य अथवा नाट्य में वर्णित पात्रों के हृदय में उत्पन्न होने वाले रत्यादि भावों के उद्बोध को रस नहीं माना जा सकता, क्योंकि ऐसा मानने पर सर्वप्रथम बाधा तो यह उपस्थित होती है कि रत्यादि भावों की अनुभूति रामादि पात्रों में सीमित हो जाती है जबकि वास्तविकता यह है कि रस का स्वरूप वस्तुतः असीम व्यक्तित्वयुक्त सहृदय सामाजिक के साधारणीकृत रत्यादि भावों के अनुभव के रूप में व्यक्त होता है। रस को अनुकार्यगत मानने में दूसरी आपत्ति यह हो सकती है कि सीतादिविषयक रामादिगत रत्यादि भावों का अनुभव चमत्कारात्मक न होकर लौकिक अथच राग-द्वेष तथा मोहात्मक होता है जबकि काव्य-नाट्य द्वारा उद्भावित रस-चर्वणा की सामाजिक निष्ठता अलौकिक मानी गई है। रस की अनुकार्यगत स्थिति अथवा उसका रत्यादिभावोद्बोध काव्य और नाट्य के श्रवण एवं दर्शन के प्रतिकूल है क्योंकि उसके लिए काव्य-नाट्य की वर्णना अपेक्षित न होकर लोक-जीवन की भोग-सामग्री वांछनीय रहती है जिसके कारण उनका आस्वादन लोकोत्तर चमत्कारजन्य नहीं हो पाता। अभिप्राय यह है कि रस की अनुकार्यगत स्थिति में एक प्रकार की वैयक्तिक परिमितता, चमत्कारशून्य लौकिकता और काव्य तथा नाट्य के श्रवण तथा दर्शन के

१. दशरूपक, ४।४०।
२. वही, ४।४१-४२।

मार्ग में विघ्नों की बहुलता होती है जिनके कारण उसकी सत्ता साधारणीकृत भाव-सम्पन्न सामाजिक के मानस में ही स्वीकार करना सर्वथा समीचीन है।

विश्वनाथ ने शंकुक आदि आचार्यों के उस अभिमत का भी खंडन किया है जिसके अनुसार रस की स्थिति अनुकर्ता अथवा नटादि में मानी गई है। उनका तो स्पष्ट कहना है कि काव्याभिनय द्वारा नटादि अनुकर्ताओं को किसी रूप में काव्य का रसास्वादन नहीं हो सकता क्योंकि वे तो अपनी अभिनय-कला की शिक्षा, अभ्यास और कुशलता का प्रदर्शन-मात्र करते हैं।[1] रामादि अनुकार्यों के रूप में उनकी रंगमंच पर उपस्थिति तथा उनके कार्यों की अनुकृति-मात्र से ही यह नहीं कहा जा सकता कि उन्हें रसानुभूति हो रही है। हाँ, यह बात अवश्य है कि यदि अभिनेता नट के हृदय में भी 'काव्यार्थ-भावना' अथवा 'रसना' उत्पन्न हो जाय और वह भी सहृदय सामाजिकों की भाँति रामादि नायकों के साथ हृदयसंवाद का-सा अनुभव करने लगे तो वह उस समय अनुकर्ता नट न रहकर सहृदय सामाजिक बन जाता है जिसके कारण उसके मानस में भी रस की निष्पत्ति हो सकती है। विश्वनाथ के कथन का मूल अभिप्राय यह है कि अनुकृति मात्र से नटादि को रसास्वाद नहीं मिल सकता क्योंकि उसके लिए काव्यार्थ-भावना आवश्यक है। आचार्य अभिनवगुप्त ने तो स्पष्ट शब्दों में इस मत का विरोध किया है जिसके अनुसार शोक और क्रोध आदि रूप चित्तवृत्तियों का भी अनुकरण संभव माना जाता है। उनका मत है कि नटादि अनुकर्ताओं का शोक रामादि अनुकार्यों के समान हो ही नहीं सकता, फिर भला उनका अनुकरण कैसे किया जा सकता है।[2] यदि नट के अंतःकरण में रसास्वादन अथवा काव्यानंद की स्थिति मानी जाय तो उसकी प्रक्रिया वही होगी जो सहृदय सामाजिकों की हुआ करती है। आचार्य धनंजय ने भी इस मान्यता का समर्थन करते हुए लिखा है कि 'नट की अभिनय-कला तो सहृदय सामाजिकों के लिए हृदयानुरंजन-मात्र है, किंतु यदि नट में सहृदय सामाजिकों की भाँति काव्यार्थभावना अथवा रसिकता का संचार हो जाय तो वह भी काव्य-रस का आनंदमय आस्वादन कर सकता है।[3]

रसाधिवास का व्यावहारिक पक्ष

प्रश्न होता है कि रस अथवा काव्यानंद के विषय तथा स्थान के विवेचन में

---

१. शिक्षाभ्यासादिमात्रेण राघवादेः स्वरूपताम्।
दर्शयन्नर्त्तको नैव रसस्या स्वाद को भवेत्।
काव्यार्थ भावनेनायमपि सभ्यपदास्पदम्॥—साहित्य दर्पण, ३।१८-१९।

२. न च चित्तवृत्तीनां शोकक्रोधादिरूपाणाम् अनुकरणं न हि नटो रामसादृश्यं स्वात्मनः शोकं करोति, सर्वथैव तस्य तत्राभावात्। भावे वा ननुकारत्वात्। न चान्यद्वस्त्वस्ति यच्छोकेन सदृशं स्यात्।
—नाट्यशास्त्र, अभिनवभारती, प्रथम अध्याय।

३. काव्यार्थभावनास्वादो नर्तकस्य न वार्यते।
नर्तकोऽपि न लौकिकरसेन रसवान् तदानीं भोग्यत्वेन स्वमहिलादेरग्रहणात् काव्यार्थभावनया वस्मदादिवत् काव्यरसास्वादोऽस्यापि न वार्यते।—धनंजय, दशरूपक, चतुर्थ अध्याय।

भारतीय आचार्यों ने जो ऊहापोह किये हैं, उनका हमारे जीवन के व्यावहारिक पक्ष से क्या सम्बन्ध है ? क्या रस का स्थान एकांततः विषयगत है अथवा विषयिगत ? क्या कोई ऐसा स्थल भी है जहाँ इस प्रकार की मान्यताओं का समीकरण हो जाता है ? रस अथवा काव्यानंद का सिद्धांत क्या भारतीय जीवन तथा दर्शन पर ही घटित है अथवा उसे विश्वजनीन सत्य के रूप में भी स्वीकार किया जा सकता है ? उस सिद्धांत में क्या ऐसे तत्त्वों का भी सम्मिलन है जो आधुनिक मनोविज्ञान के सुसमृद्ध ज्ञान की परम्परा में अधिष्ठित होकर हमें नवीन दृष्टि दे सकते हैं अथवा वे एकमात्र रूढ़िग्रस्त और देशकाल की सीमाओं में आबद्ध होकर ही काव्यानंद की विवेचना करते हैं ? इसी प्रकार के अनेक प्रश्न आधुनिक विचारक तथा साहित्यानुशीलक के सम्मुख उपस्थित होते हैं जिनका विमर्श किये बिना रस-सिद्धांत को सर्वथा सुग्राह्य स्वीकार करने में अनेक विद्वानों को आपत्ति है। इस सिद्धांत को पूर्वाग्रह-दंशित कर ऐसी अनेक समस्याओं को भी जन्म दिया गया है जो तात्त्विक दृष्टि से अपना कोई महत्त्वपूर्ण अस्तित्व नहीं रखतीं। उन समस्याओं के विवेचन तथा उनके समाधान का विश्लेषण इसी प्रबंध में यथास्थान कर दिया गया है। अत. यहाँ पर तो हम केवल इतना उल्लेख करना ही आवश्यक समझते हैं कि काव्यास्वादन की प्रक्रिया तत्त्वतः भारतीय रस-सिद्धांत की भूमिका में समीक्षित होकर ही ऐसी तथ्योपलब्धि करा सकती है जिसके द्वारा देशकालावच्छिन्न साहित्य-साधना का सुखद आस्वाद निरूपित किया जा सके। यहाँ हम संक्षेप में उक्त सिद्धांत की उपलब्धि का सारभूत उल्लेख करते हुए रस के अधिवास के प्रश्न को व्यावहारिक दृष्टि से स्पष्ट करना आवश्यक समझते हैं।

कृति, कर्ता और भावक की संश्लिष्ट स्थिति

काव्यास्वाद की प्रक्रिया में काव्यकृति एवं काव्य-सर्जक का महत्त्व विशेष है अथवा काव्यास्वादयिता का, यह एक ऐसा प्रश्न है जिसका यथेष्ट सम्बन्ध हमारे विवेच्य विषय से भी है। इस प्रश्न का उत्तर देते समय हमारे सम्मुख तीन पक्ष आते हैं जिन्हें हम काव्यकार, काव्यकृति और काव्य-भावक के पक्ष कह सकते हैं। इन तीनों पक्षों का रहस्य समझे बिना काव्यरस के आस्वादन और अधिष्ठान का विषय सुस्पष्ट किया ही नहीं जा सकता। काव्यकार अथवा काव्य का स्रष्टा एक ऐसा व्यक्ति है जो अपनी कृति के रूप में अपनी अनुभूति को स्वसंवेद्य बनाकर उपस्थित करता है जिससे काव्य का आस्वादयिता भी उसी की भूमिका में रस ग्रहण करता है। काव्यकार और उसकी कृति के साथ-साथ काव्य के आस्वादयिता में कौन-कौन-से गुण होने चाहिए उनका विवेचन यथास्थान किया जा चुका है। वस्तुतः काव्यास्वाद की विवेचना में उपर्युक्त तीनों पक्षों का सापेक्षिक महत्त्व है और एक ऐसा स्थल भी आता है जहाँ तीनों की तादात्म्यपरक-समष्टि भी हो जाती है। काव्य की रसात्मकता तभी सार्थक है जब उसकी सर्जना में ऐसे भाव-रत्न प्रकाशित किये जायँ जो शब्दार्थ के माध्यम से व्यंजित सौन्दर्य द्वारा काव्य-रसिकों को आत्मविभोर करने में समर्थ हों। 'रसः सारश्च चमत्कारः', 'रसात्मकं वाक्यं काव्यम्' तथा 'रमणीयार्थप्रतिपादकः शब्दः काव्यम्' के अतिरिक्त वक्रोक्ति, रीति,

औचित्य, अलंकार तथा ध्वनि आदि को जिस रूप में काव्य के आत्मतत्त्व सिद्ध करने के प्रयत्न विविध दृष्टिकोणों से किये गये हैं, उनका मूल मंतव्य यही है कि काव्याभिधान में आनन्द-तत्त्व का सन्निवेश होता है जिसका स्रष्टा कवि का मानस-लोक है किंतु वह रस जब तक प्रेषणीय नहीं बन पाता तब तक उसकी सार्थकता सफलीभूत नहीं होती। वस्तुत: कवि और भावक के बीच तादात्म्य-सूत्र की अभिसंधि करने में काव्यकृति ही माध्यम का काम करती है। कवि की 'स्वांत:सुखाय' भावना किस प्रकार 'जनहिताय' बनकर लोक-कल्याण और लोकानंद का प्रसार करती है, यह एक ऐसा प्रश्न है जिसका महत्त्व किसी भी रूप में कम नहीं किया जा सकता। इस विषय में सभी देशों के साहित्यानुशीलकों और आचार्यों ने अपने-अपने मत व्यक्त किये हैं। तुलसीदासजी के शब्दों में यदि रघुनाथ-गाथा अर्थात् काव्यसर्जना एक ओर स्वांत: सुखाय (कवि के आत्मसुख के लिए) है तो दूसरी ओर वह सुरसरिसम 'सर्वजनहिताय' भी है। क्योंकि ऐसा होने पर भी वह अपनी अभीष्ट प्रयोजन-सिद्धि कर सकती है। सच तो यह है कि काव्य यदि रमणीय सौन्दर्य की भाँति 'तन्मयीभवन' कराने वाला है तो काव्यभावक तन्मय होने वाला चेतन प्राणी। इस प्रकार काव्य का आनंद विषयगत और विषयिगत पक्षों का समन्वय करता हुआ चलता है। बिहारी के शब्दों में 'रूप रिझावन हार ये, ये नैना रिझवार' की उक्ति काव्य-सर्जना और काव्यास्वाद को एक-दूसरे के पूरक रूप में उपस्थित करने का ही तो परामर्श है।

कविगत संवित् ही रसाधिष्ठान का आदि-रूप है

रस के अधिवास की विवेचना में कविगत साधारणीभूत संवित् का अत्यधिक महत्त्व है। वह संवित् सम्पूर्ण काव्य में व्याप्त रहता है और परमार्थत: वही 'रस' संज्ञा का अधिकारी है। काव्य अथवा नाट्य में जिन चरित्रों की अवतारणा की जाती है, वे केवल कविगत संवित् के कारण ही सहृदय सामाजिकों के हृदय तक पहुँचने का सामर्थ्य प्राप्त करते हैं। ऐसे चरित्रों का निर्माण करते समय कवि या तो कल्पना का आधार लेता है या प्रख्यात इतिवृत्त का। अपनी पात्र-सर्जना द्वारा वह इस बात का पूर्ण प्रयत्न करता है कि उसका अपना साधारणीभूत प्रत्यय काव्यास्वादयिता सामाजिकों तक पहुंच सके। वस्तुत: कवि का प्रत्यय न तो उसका व्यक्तिगत मनोविकार है और न उसका निजी सुख-दु:ख ही। वह तो साधारणीकरण की भूमिका पर प्रतिष्ठित उसकी एक ऐसी अनुभूति है जो उसके लौकिक जीवन की दृष्टि तथा अनुभूति से भिन्न तथा लोकोत्तर श्रेणी की है। जिन काव्यों में कवि-संवेदना की लोकोत्तर संवित्ति नहीं होती, वे काव्य न कहे जाकर 'काव्यानुकार' ही कहे जा सकते हैं जिन्हें प्राचीन विद्वानों ने 'आलेख्यप्रख्य' अथवा 'रसजीवहितप्रतिकृति' मात्र कहना उचित समझा है।

कवि और रसिक का साधारणीभूत प्रत्यय एकजातीय है

कवि के जिस साधारणीभूत प्रत्यय का उल्लेख उपर्युक्त अनुच्छेद में किया गया है, उसका काव्य-रसिक की मनोभूमिका से भी अविच्छेद्य सम्बन्ध है। वस्तुत: कवि का

साधारणीभूत प्रत्यय तथा रसिक के काव्य-पाठ अथवा काव्यदर्शन से प्राप्त साधारणीभूत
प्रत्यय एकजातीय हैं। दोनों के हृदयसंवाद अथवा वासना-संवाद में एक प्रकार के
तादात्म्य के तत्त्व समाहित हैं। काव्यगत नायकादि के अभिचित्रण अथवा कवि की
आत्माभिव्यक्ति को उस हृदय-संवाद के माध्यम के रूप में स्वीकार किया जा सकता है।
वस्तुतः संवाद का अर्थ 'एकत्र दृष्टस्य अन्यत्र तथा दर्शनं संवादः' है जिसके कारण काव्य-
चित्रित मूल पात्र, कवि तथा काव्य-रसिक के अनुभव की श्रेणी तथा उनका स्तर 'एक'
हो जाता है। भट्टतौत ने इसी सिद्धांत को ध्यान में रखते हुए नायक, कवि और श्रोता
के अनुभव को समानता प्रदान की है। कवि के साथ काव्यरसिक के हृदयसंवाद को
दृष्टिगत करते हुए अभिनवगुप्त ने उचित ही कहा है कि 'कवि संवित् ही परमार्थतः
रस है जिसकी प्रतीति काव्य-रसिक को होती है।'

काव्य-रसिक की योग्यता

तन्मयीभवन की योग्यता काव्य-रसिक का एक आवश्यक गुण है। उस योग्यता
की सम्पन्नता के लिए आस्वादयिता में तीन विषयों का होना आवश्यक है—१. नाट्य-
गत अथवा काव्यगत अर्थों का सामान्यत्व से ग्रहण, २. प्रतीतिविश्रांति और ३. अनु-
मानपटुता। नाट्य अथवा काव्यगत अर्थों का सामान्य से ग्रहण न होने पर काव्यरसिक
के सम्मुख व्यक्तिविशिष्ट सम्बन्धों की प्रतीति की संभावना उत्पन्न हो जाती है जिससे
रस-निष्पत्ति के मार्ग में विशिष्ट व्यवधान उपस्थित हो जाता है। काव्य अथवा नाट्य
में कवि द्वारा जो प्रतीति अभिव्यक्त की जाती है उसमें रसिक-हृदय की विश्रांति अवश्य-
मेव होनी चाहिए। उस प्रतीति से किसी सिद्धि अथवा प्राप्ति का भान होने पर पूर्ण-
तया रसास्वादन हो ही नहीं सकता। वस्तुतः काव्यनाट्यगत प्रतीति स्वयंपूर्ण होती है
अतः उसका आस्वाद भी उसी भाव से लेना आवश्यक है। आचार्य आनंदवर्धन ने उसी
बुद्धि को 'तत्वार्थदर्शिनी बुद्धि' कहा है जिसमें सामान्यत्व से ग्रहण करने तथा काव्य-
प्रतीति में विश्रांत होने के दो विशेष धर्म रहते हैं। तन्मयीभवन के लिए तीसरी आवश्यक
बात 'अनुमानपटुता' है जिससे काव्य-रसिक को 'झटिति प्रत्यय' अर्थात् तत्काल प्रतीति
हो जाती है। यों तो 'अनुमानपटुता' की प्राप्ति का क्रम वही है जो लौकिक अनुभवों
से सम्बद्ध कार्य-कारणभाव आदि का होता है किंतु काव्यास्वादन की वेला में वह
अनुमानपटुता 'झटिति-प्रत्यय' के कारण रसिक में 'रसावेश' ले आती है जिससे काव्या-
नन्द की तत्काल प्रतीति हो जाती है। काव्यवर्णित वृत्तियों का संसूचन जब विभावा-
नुभावों के द्वारा तात्कालिक प्रतीति के रूप में होता है और उसके लिए हमारी बुद्धि को
व्यग्र नहीं होना पड़ता, तभी वास्तविक रसप्रत्यय हो पाता है। काव्य के रसास्वादन के
मार्ग में उपस्थित होने वाले रसविघ्नों का विवेचन यथास्थान किया गया है। यहाँ पर
तो हम केवल इतना ही संकेत करना चाहते हैं कि झटिति प्रत्यय अथवा तात्कालिक
अनुमान-पटुता के अभाव में काव्योपपन्न रसिकता की ठीक वही दशा हो जाती है जो
किसी जीर्ण-शीर्ण अथवा टूटे-फूटे बर्तन में रस की होती है। वस्तुतः रसास्वादन के समय
भी अनुमान का एक क्रम रहता है किंतु उसकी प्रतीति ऐसे अविलम्बभाव से होती है कि

हमें उसके क्रम का पता ही नहीं चलता। आचार्यों ने उस क्रम को 'फलानुमेय प्रारम्भ' के समान आस्वादानुमेय कहा है और आचार्य आनंदवर्धन ने तो इसी विषय के स्पष्टीकरण के लिए 'रसास्वाद' को 'असंलक्ष्यक्रमध्वनि' की संज्ञा दी है और उसके प्रत्यय का वर्णन निम्नलिखित कारिका में किया है जो अत्यंत तात्त्विक और गुरुगम्भीर है :

तद्वत् सचेतसां सोऽर्थो वाक्यार्थविमुखात्मनाम्।
बुद्धौ तत्वदर्शिन्यां झटित्यैवावभासते ॥

अभिप्राय यह है कि रसिक दर्शक अथवा सहृदय-पाठक रस-व्यापार का एक अनिवार्य अंग है। चूंकि उसकी स्थिति रसप्रयोग से बाहर नहीं होती, अतः हमें उसका भी एक विशिष्ट स्तर मानना पड़ता है। अपनी स्तर-भ्रंशता में वह काव्य-रसिक न रहकर एक सामान्य लौकिक प्राणी रह जाता है जिसमें 'रसावेश' की स्थिति मानी ही नहीं जा सकती। सच तो यह है कि रसिक को रसप्रयोग-बाह्य समझकर कोई भी विचारक पूर्ण रस-विवेचना कर ही नहीं सकता। वस्तुतः काव्यगत अर्थों को जो विभावत्व प्राप्त होता है, वह रसिक-निरपेक्षता से न होकर रसिकानुभूति की दृष्टि से ही होता है। आचार्यों का तो यहाँ तक कहना है कि यदि कोई विवेचक रसिक को बाह्य मानकर काव्यनाट्य का विवेचन करे तो वह विवेचन रस का न होकर लौकिक घटना-मात्र का हो जायगा। रस-विवेचना के प्रसंग में रसिक की तत्काल-प्रतीति का भी विश्लेषण करना कितना अधिक महत्त्वपूर्ण है, इसका अनुमान तो केवल इसी बात से किया जा सकता है कि उसे जिस अर्थ में 'झटिति प्रत्यय' कहा गया है वह प्रत्यय एक प्रकार का चमत्कार है जिसके पर्याय शब्द 'आनंद' और 'निर्वृ ति' आदि भी हैं।

रसास्वाद काव्यरसिक की एकघन अखंड प्रतीति है जिसके विश्लेषण का विभावादिगत खंड प्रयास केवल अध्ययन की सुविधा के लिए है। सच तो यह है रसनिरपेक्ष रूप में विभावादि की कोई सत्ता ही नहीं है और रसाभिव्यक्ति को स्पष्ट करने के लिए जिस 'प्रदीपघट-न्याय' को उद्धृत किया जाता है, उसकी भी अपनी एक सीमा है। यों तो काव्य अथवा नाट्यगत विभावादि की भी सत्ता प्रदीप तथा घट की भाँति निरपेक्ष भाव में रहती है तथा काव्यरसिक के हृदय में विद्यमान स्थायी भाव भी अपनी लौकिक स्थिति में वासनासंस्कार के रूप में अधिष्ठित रहता है किन्तु रसाभिव्यक्ति को ठीक उसी रूप में व्याख्यात नहीं किया जा सकता जिस रूप में बाहर से लाये गये दीपक के प्रकाश में मूल अवस्था में स्थित रहने वाला घट प्रकाशित किया जाता है। काव्यरसिकों के अनुभव से प्रकट है कि उनकी प्रतीति में विभावादि के उचित संयोग का अनुप्रवेश होते ही उनके तदुचित वासनासंस्कार का जो उद्बोधन या प्रकाशन होता है वह लौकिक रूप का स्थायी नहीं रहता और विभावादि की अलौकिकता तथा प्रमाता अथवा काव्यभावक के अपरिमित प्रमातृत्व का मूलस्थायीगत संस्कार उसे ऐसे स्थायी के रूप में पूर्णतः परिवर्तित करता हुआ साधारणीभूत बना देता है जिससे वह 'रस-चर्वणा' का विषय हो जाता है। 'व्यक्तः स तैर्विभावाद्यैः' अर्थात् 'विभावानुभावों से अभिव्यक्त स्थायी' में अभिव्यक्ति का अभिप्राय भी स्थायी का उपलक्षण न होकर स्थायी का

विशेषण है जिसका अर्थ 'विभावाद्यभिव्यक्त्युपलक्षित स्थायी' न होकर 'विभावाद्य-भिव्यक्ति विशिष्ट' स्थायी है।

आनन्दमय ज्ञानस्वरूप आत्मा का आनन्द ही रसरूप है

अभिनवगुप्त ने बार-बार इस तथ्य की ओर संकेत किया है कि न तो नट में रस होता है और न रस को देश, काल तथा प्रमाता के भेद से ही नियंत्रित किया जा सकता है। यदि कोई यह प्रश्न करे कि यदि नट में रस नहीं होता तो फिर उसमें क्या होता है ? इसका उत्तर देते हुए अभिनवगुप्त लिखते हैं कि "नट में तो रस के आस्वादन का उपाय होता है इसीलिए उसको 'पात्र' कहा जाता है।" जिस प्रकार पात्र में मद्य का आस्वादन नहीं होता अपितु उसका 'उपायन' होता है उसी प्रकार नट में भी रस का आस्वादन नहीं होता अपितु वह उसके आस्वादन का उपाय बनता है। इस विषय में इतना कहना ही पर्याप्त है कि प्रमुख पात्र के अर्थात् प्रमुख उपाय के रूप में रस के ज्ञान में नट का उपयोग होता है। अभिनवगुप्त का वह विचार एक सर्वग्राह्य सत्य के रूप में स्वीकार किया जा सकता है जिसमें उन्होंने बतलाया है कि आनन्दमय ज्ञानस्वरूप आत्मा का ही आनन्द रस-रूप होता है और उसमें दुःख की कोई आशंका नहीं की जा सकती। केवल उस आनन्दमय आत्मस्वरूप की विचित्रता का सम्पादन करने के लिए रति और शोक आदि वासनाओं का व्यापार होता है और उन वासनाओं के उद्बोधन के लिए अभिनय आदि रूप नट के व्यापार होते हैं। अभिनवगुप्त का यह निर्णय काव्यास्वाद की प्रक्रिया में अत्यंत महत्त्वपूर्ण और उल्लेखनीय है अतः हम उसे उद्धृत करने का लोभ संवरण नहीं कर सकते—

(अ) अतएव च नटे न रसः। कुत्र तर्हि ?...उक्तं हि देशकाल प्रमातृ भेदानियंत्रितो रस इति।...नटे तर्हि किम् ?आस्वादनोपायः अत एव च पात्रमित्युच्यते। न हि पात्रे मद्यास्वादोऽपि तु तदुपायकः। तेन प्रमुख पात्रे नटोपयोग इत्यलम्।

(आ) अस्मन्मते तु संवेदनमेवानन्दधनमास्वाद्यते। तत्र का दुःखाशंका। केवलं तस्यैव चित्रताकरणे रति शोकादि वासनाव्यापारस्तदुद्बोधने चाभिनयादिव्यापारः।

—अभिनवभारती, पृ० ५०६,५०७।

दार्शनिक एवं मनोवैज्ञानिक दृष्टि से काव्यास्वाद का अधिवास

निष्कर्ष यह है कि सहृदय का संवेदनशील मानस ही सिद्ध होता है। वस्तुतः आनन्द हमारी आत्मा का गुण है जिसे काव्यास्वाद की प्रक्रिया में अस्मिता वृत्ति का ही आस्वादन कहा जा सकता है। यह आस्वादन केवल सहृदय को ही नहीं मिलता अपितु काव्यरचना के समय कवि को भी मिलता है। इसे इस प्रकार भी कहा जा सकता है कि कवि की अनुभूति काव्यरूप आत्माभिव्यक्ति का रूप धारण कर सहृदय जन के लिए प्रेषणीय बन जाती है जिसके साथ तादात्म्य कर वह भी कवि की भाँति ही आनन्दोपलब्धि करता है। यह बात केवल श्रव्य-काव्य के लिए ही नहीं अपितु दृश्य-काव्य के विषय में भी सत्य है। अन्तर इतना ही है कि दृश्य-काव्य में सहृदय अभिनेताओं एवं अभिनेत्रियों द्वारा कवि के भाव रस-संवेद्य बनकर प्रेक्षकों के लिए आह्लादजनक होते हैं जबकि श्रव्य-काव्य में नट-नटी के

माध्यम की कोई आवश्यकता नहीं रहती। दृश्य-काव्य द्वारा रस-निष्पत्ति अधिक सुगम और सुग्राह्य है, इसी तथ्य को ध्यान में रखकर आचार्यों ने 'काव्येषु नाटकं रम्यम्' कहा है।

(आ) रसों की सुखदुःखरूपता

तत्त्वतः रस को आनन्दरूप कहा गया है, किंतु उसके व्यवहारगत विभेदों को दृष्टिगत रखते हुए विद्वानों ने उसकी सुखदुःखरूपता भी निरूपित की है। इस प्रकार की विचारणा के मूल में आत्मा और मन का संघर्ष विद्यमान है। यदि रस को आत्म-प्रकाशन का ही रूप माना जाय तब तो वह अपनी चिदानन्दमय स्थिति में आनन्दरूप ही है, किंतु यदि उसे मानस-संवेदना से उद्भूत मनोविकार की उदात्त परिणति समझा जाय तो उसका स्वरूप सुखदुःख के उभयविध पुलिनों का संस्पर्श करता हुआ चलता है। भारतीय आचार्यों ने नाट्यरसों के प्रसंग में रसों की सुखदुःखरूपता का प्रारंभिक विवेचन किया था जो कालानुक्रम से काव्यरसों पर भी संघटित होता हुआ चला है। उन रसों में रति, हास, उत्साह तथा विस्मय नामक स्थायिभावों से क्रमशः निष्पन्न शृंगार, हास्य, वीर और अद्भुत रस मुख्यतः सुखरूप माने गये हैं यद्यपि उनके साथ दुःख का संबंध भी रहता अवश्य है। उनको सुखात्मक तो इसलिए कहा जाता है कि उनमें चिरकालपर्यन्त बने रहने वाले सुख की कामना और विषयभोग की प्रमुखता होने से उनके लिए उत्कट अभिलाषा होती है जबकि उनकी दुःखात्मकता का आधार यह है कि उनके विनष्ट होने के भय से रत्यादि के साथ दुःख का अंशतः सम्पर्क हो जाता है। यह कथन जहाँ शृंगार रस के सुखदुःखमय उभयात्मक रूप का प्रमाण है, वहाँ आचार्यों ने हास्यरस को भी उभयात्मक माना है क्योंकि सुखात्मक हास में भी उसकी समाप्ति हो जाने से सुख के साथ विद्युत्-कांति-सदृश दुःख का भी क्षणिक संबंध होता है। उत्साह-प्रसूत वीर रस में दुःखमिश्रित सुखरूपता इसलिए मानी गई है कि उसमें तात्कालिक दुःख तथा श्रम को उठाकर बहुत से लोगों का उपकार करते हुए चिरकालपर्यन्त सुख-प्राप्ति की कामना बनी रहती है। विस्मय नामक स्थायिभाव से निष्पन्न अद्भुत में निरनुसंधान अर्थात् बिना विचार के आपाततः तडित्तुल्य क्षणिक दुःखानुबिद्ध सुखरूपता का आभास मिलता है। अभिप्राय यह है कि संसार के सुखदुःखसमन्वित स्वभाव की भाँति पूर्वोक्त चारों रस प्रधानतः सुखात्मक होने पर भी व्यवहारतः उभयात्मक होते हैं।

आनन्दवादी और उपचयवादी आचार्यों के अभिमत

आनन्दवादी आचार्यों ने रस को 'आनन्दघन संवेदना का ही आस्वाद' कहकर उसे निर्विघ्न संविद् विश्रांति की अवस्था अथवा चर्वणा कहा है तो उपचयवादी आचार्यों ने उसे 'सुखदुःखात्मक' रूप माना है। एक की दृष्टि में रस 'स्थायिविलक्षण' है तो दूसरे के मतानुसार वह 'स्थायी' मात्र है। आनन्दवादी आचार्यों की परम्परा में ध्वनिकार

आनन्दवर्धन, भट्टतौत, भट्टनायक, अभिनवगुप्त, मम्मट, हेमचन्द्र, विश्वनाथ, प्रभाकर, मधुसूदन सरस्वती और पंडितराज जगन्नाथ आदि आते हैं तो उपचयवादी अथवा परिपोषवादी आचार्यों की परम्परा में दण्डी, वामन, लोल्लट, शंकुक, भोज तथा रामचन्द्र-गुणचन्द्र की गणना की जाती है। सांख्यवादी आचार्यों को भी रस के सुखदुःखवाद की परम्परा स्वीकार है। 'केवल आनन्दवादी' आचार्यों को रस की ध्वन्यात्मकता में आस्था है तो सुखदुःखवादी आचार्यों को ध्वनि-तत्त्व स्वीकार नहीं है। यों तो आचार्य भट्टनायक आपाततः भोगवादी हैं, किंतु उनके द्वारा प्रतिपादित भावकत्व और भोजकत्व संज्ञक व्यापार तत्त्वतः व्यंजनाव्यापार के ही रूप हैं जिसका विवेचन करते हुए आचार्य अभिनवगुप्त ने उन्हें ध्वनिवादियों के निकट प्रतिष्ठित किया है। तत्त्व-दृष्टि से तो हमें आनन्दवादियों का अभिमत ही विशेष सुग्राह्य प्रतीत होता है किंतु सुखदुःखवादियों के तर्क भी सर्वथा उपेक्षणीय नहीं कहे जा सकते, क्योंकि उनमें आधुनिक मनोविश्लेषण-वेत्ताओं को भी प्रचुर ज्ञान-सामग्री उपलब्ध हुई है।

उपचयवादी आचार्यों ने उस स्थायी भाव को रस माना है जो विभाव तथा व्यभिचारी भावों से परिपुष्ट होकर स्पष्ट अनुभावों के द्वारा साक्षात्कारित्व से निर्णीत होता है। वह रस सुखदुःखात्मक है।[१] इष्ट विभावादि के द्वारा उपनीत होने वाले शृंगार, हास्य, वीर, अद्भुत तथा शांत रस सुखकर हैं, किंतु अनिष्ट विभावादि द्वारा उपनीत करुण, रौद्र, बीभत्स तथा भयानक रस दुःखरूप। इन आचार्यों का मत है कि लौकिक अवस्था में विद्यमान रहने वाला सुखदुःखात्मक भाव जब उसी रूप में परिपुष्ट होता है तो अपनी परिपुष्ट अवस्था में रसनीय बन जाता है। उपचयवादी आचार्यों की परम्परा में रामचन्द्र-गुणचन्द्र को विशेष गौरव प्राप्त है यद्यपि उनसे प्रायः डेढ़ सौ वर्ष पूर्व आचार्य भोज रस की सुखदुःखात्मरूपता का प्रतिपादन कर चुके थे। अभिनवगुप्त ने सांख्यवादियों के एक विशेष मत का उल्लेख करते हुए उन्हें भी सुखदुःखात्मवादी माना है क्योंकि वे भी रस-विवेचना में 'परिपोष-भाव' को ही स्वीकार करते चले हैं। आचार्य वामन ने अपने काव्यशास्त्रीय ग्रंथ में एक श्लोक उद्धृत करते हुए बतलाया है कि करुण नाट्यों में रसिकजन सुखदुःखों के संप्लव का ही अनुभव करते हैं।[२] लोल्लट का परिपोषवाद जिस रूप में 'करुणादौ प्रत्युत दुःखप्राप्ति' का प्रतिपादन करता है, वह अनेक स्थलों पर अभिनवगुप्त द्वारा खंडित किया गया है। अनुकरणवादियों के मत में भी रस की सुखात्मक और दुःखात्मक स्थिति की स्वीकृति के संकेत मिलते हैं। वस्तुतः सुखदुःखवादियों की परम्परा में 'स्थायी' को व्यक्तिसंबद्ध माना गया है और उस व्यक्तिसंबद्धता के परिपोष रूप को ही 'रस' कहना उन्हें समीचीन प्रतीत हुआ है। उनका मत है कि रसनिष्पत्ति में निरूपित विभाव आदि 'स्थायी' के परिपोष के 'कारण' आदि उपकरण हैं जिनकी उपपत्ति में स्थायी का लौकिक स्तर भी बना रहता है। वस्तुतः

---

१. स्थायी भावः विश्रुतोत्कर्षः विभावव्यभिचारिभिः।
स्पष्टानुभावनिश्चेयः सुखदुःखात्मको रसः॥

२. करुणप्रेक्षणीयेषु संप्लवः सुखदुःखयोः।
यथानुभवतः सिद्धः तथैवोजः प्रसादयोः॥

लौकिक स्थायी का ही स्वरूपतः परिपोषण ही 'रस' है अतः अपनी लौकिक सत्ता के कारण वह सुखदुःखात्मक कहा जाता है। करुणादि भावों से आनन्दोपलब्धि होने का कारण निरूपित करते हुए उन्होंने लिखा है कि नाट्यभावों का स्वभाव अथवा नट का अभिनिवेश किंवा अनुकृतिकौशल ही आनन्द का कारण है जिसे नाट्यदर्पणकार रामचन्द्र-गुणचन्द्र ने कवि अथवा नटगत शक्ति का चमत्कार कहा है। ये उपचयवादी आचार्य रस-निष्पत्ति की विवेचना में एक विशेष क्रम को भी स्वीकार करते हैं। उनका कहना है कि स्थायी से लेकर रसत्व की प्राप्ति का क्रम इस प्रकार विवेचित किया जा सकता है कि विभावों द्वारा उत्पन्न, अनुभावों के कारण प्रतीतियोग्य तथा व्यभिचारी भावों के कारण उपचित होने वाला स्थायी अपने अंतिम क्षण में रसत्व को प्राप्त करता है। अपनी उपचित अवस्था में 'रस' की संज्ञा धारण करने वाला स्थायी अपनी अनुपचित अवस्था में 'भाव' मात्र है और यदि उसका उपचय आवश्यक मात्रा में नहीं होता तो उसमें मंदतरता अथवा मंदतमता भी आ जाती है। अभिप्राय यह है कि उपचयवादियों की उपपत्ति के अनुसार रस को 'गमन-क्रिया' के समान 'पर्यन्त' में आने वाली स्थायी की उपचित अवस्था कहा जा सकता है जिसमें न तो 'झटिति-प्रत्यय' के ही अवसर रहते हैं और न 'अखंडसंविद्विश्रांति' की ही सम्भावना है। अपनी पात्रगत, नटगत तथा रसिकगत लौकिक भूमिका पर अधिष्ठित रस की सुखदुःखरूप उभयविधता की सिद्धि इसी आधार पर की जा सकती है।

रामचन्द्र-गुणचन्द्र का विभज्यवादी दृष्टिकोण

नाट्यदर्पणकार रामचन्द्र-गुणचन्द्र ने विभज्यवादी दृष्टि से कुछ रसों को केवल सुखात्मक माना है और कुछ रसों को केवल दुःखात्मक। उन्होंने नाट्यदर्पण के तृतीय विवेक की १०६वीं कारिका की व्याख्या करते हुए लिखा है कि इष्ट विभावादि से उत्पन्न होने के कारण शृंगार, हास्य, वीर, अद्भुत और शांत नामक पांच रस नितांत सुखरूप हैं तथा अनिष्ट विभावादि से उत्पन्न होने के कारण करुण, रौद्र, बीभत्स और भयानक संज्ञक चार रस नितांत दुःखात्मस्वरूप। उन्होंने अपनी विवेचना के अन्तर्गत उन विचारकों के अभिमत का खंडन किया है जो सभी रसों को नितांत सुखस्वरूप मानते हैं। इस विषय में उनका कथन उद्धृत करना अनुचित न होगा—

'यत् पुनः सर्वरसानां सुखात्मकत्वमुच्यते तत् प्रतीतिबाधितम्। आस्तां नाम मुख्यविभावोपचित:, काव्याभिनयोपनीत विभावोपचितोऽपि भयानको बीभत्सः करुणो रौद्रो वा रसास्वादवतां अनाख्येयां कामपि क्लेशदशामुपनयति। अतएव भयानकादिभिरुद्विजते समाजः। न नाम सुखास्वादादुद्वेगो घटते।'

—'अर्थात् जो लोग सब रसों को नितांत सुखात्मक मानते हैं, उनका मत प्रतीति से बाधित हो जाता है। सिंह, व्याघ्र आदि मुख्य विभावों से उत्पन्न भयानक आदि रस तो निश्चित रूप से क्लेशप्रद और दुखात्मक होते ही हैं, किंतु काव्य के अभिनय में उपनीत विभावों से उपचित भयानक, बीभत्स, करुण वा रौद्र रस भी उनके आस्वादयिताओं में किसी अनिर्वचनीय क्लेश-दशा को उत्पन्न कर देते हैं। यही कारण

है कि भयानक आदि रसों से प्रेक्षक-समाज उद्विग्न हो जाता है। यदि भयानक आदि रस सुखात्मक होते तो उनसे उद्वेग उत्पन्न नहीं होता क्योंकि सुख के आस्वादन से उद्वेग हो नहीं सकता। वस्तुतः भयानक आदि रस दुःखात्मक ही होते हैं।'

रामचन्द्र-गुणचन्द्र ने भयानक आदि दुःखात्मक रसों का विवेचन करते हुए एक महत्त्वपूर्ण निष्कर्ष निकाला है और वह यह है कि इन रसों के आस्वादन में एक प्रकार का चमत्कार प्रतीत होता है जिसका कारण कवि और नट का कौशलमात्र है। अपनी मान्यता को तर्कसम्मत बनाने के लिए उनका कथन इस प्रकार है—

यत् पुनरेभिरपि चमत्कारो दृश्यते स रसास्वादविरामे सति यथावस्थित वस्तुप्रदर्शकेन कवि-नट शक्तिकौशलेन। विस्मयन्ते हि शिरश्छेदकारिणापि प्रहारकुशलेन वैरिणा शौण्डीरमानिनः। अनेनैव च सर्वांगाह्लादकेन कविनट शक्तिजन्मना चमत्कारेण विप्रलब्धाः परमानंदरूपतां दुःखात्मकेष्वापि करुणादिषु सुमेधसः प्रति जानते। एतदास्वादलौल्येन प्रेक्षका अपि एतेषु प्रवर्तन्ते। कवयस्तु सुखदुःखात्मकसंसारानरूप्येण रामादिचरितं निबध्नन्तः सुखदुःखात्मकरसानुविद्धमेव ग्रथनंति। पानकमाधुर्यमिव च तीक्षणास्वादेन दुःखास्वादेन सुतरां सुखानि स्वदंते, इति।'[1]

—अर्थात् भयानक आदि दुःखात्मक रसों में भी चमत्कार का जो अनुभव होता है, वह रसास्वाद के समाप्त होने पर वास्तविक वस्तु के स्वरूप को प्रदर्शित करने वाले कवि तथा नट की शक्ति के कौशल के कारण प्रतीत होता है। (इसका अभिप्राय यह है कि कवि के वर्णन-कौशल अथवा नट के अभिनय-कौशल में एक ऐसी शक्ति होती है जो विशिष्ट समय पर्यन्त भावक अथवा प्रेक्षक के मन में चमत्कार का अनुभव कराती है) यह विषय वैसा ही है जैसे किसी का सिर काट डालने वाले शत्रु के प्रहार-कौशल को देखकर वीरों को भी विस्मय होता है। भयानक आदि रसों के विभाव ओर अनुभाव आदि के दर्शन से भी विस्मय आदि भाव उत्पन्न हो सकते हैं। सब अंगों को आह्लादित करने वाले तथा कवि और नट की शक्ति से उत्पन्न चमत्कार के द्वारा प्रवंचित होकर सहृदयजन करुण आदि दुःखात्मक रसों को भी सुखात्मक मानने लगते हैं। कवियों का कार्य सुखदुःखात्मक संसार के अनुरूप राम आदि के चरित को सुखदुःखात्मक रूप से रसानुविद्ध करना होता है। जिस प्रकार पानकरस के माधुर्य में मिर्च आदि का तीक्ष्णरसास्वाद एक प्रकार की विशेषता उत्पन्न कर देता है, उसी प्रकार दुःखात्मक करुण आदि रसों में भी आनंद का-सा अनुभव होता है। वस्तुतः वे रस सुखरूप नहीं हैं।

रामचन्द्र-गुणचन्द्र ने अपनी मान्यता को उदाहृत करते हुए लिखा है कि शोकादिभाव सुखरूप हो ही नहीं सकते। उनका कथन है कि सीता का हरण, द्रौपदी का कचाम्बराकर्षण, हरिश्चन्द्र का चाण्डालदास्य, रोहिताश्व का मरण, लक्ष्मण का शक्तिभेदन और मालती का व्यापादन आदि कार्य सहृदयों को किस प्रकार सुखास्वाद करा सकते हैं?[2]

---

१. नाट्यदर्पण : रामचन्द्र-गुणचन्द्र, बड़ौदा संस्करण, पृ० १५१।

२. वही।

वस्तुतः अनुकार्यगत करुणादि भाव दुःखात्मक ही थे अतः यदि उन्हें अभिनय में सुखात्मक माना जाय तो वह अभिनय यथार्थ अभिनय कहा ही नहीं जा सकता। ऐसी स्थिति में नाट्यदर्पणकार का कथन है कि करुणादि रसों को सुखात्मक मानना किसी भी रूप में समुचित नहीं है। वे लिखते हैं—

'अपि च सीताया हरणं, द्रौपद्याः कचाम्बराकर्षणं, हरिश्चन्द्रस्य चाण्डालदास्यं, रोहिताश्वस्य मरणं, लक्ष्मणस्य शक्तिभेदनं, मालत्या व्यापादनारम्भणमित्यादभिनीयमानं पश्यतां सहृदयानां को नाम सुखास्वादः। तथानुकार्यगताश्च करुणादय परिदेवितानुकारित्वात् तावद् दुःखात्मका एव। यदि चातुकरणे सुखात्मानः स्युः, न सम्यगनुकरणं स्यात् विपरीतत्वेन भासनादिति।'[1]

रस के सुखदुःखमय रूप का रहस्य

रस की सुखदुःखरूपता के विवेचन में जिन आचार्यों ने रस को जिस रूप में केवल सुखमय माना है वह व्यावहारिक दृष्टि से सर्वांशेन सत्य नहीं कहा जा सकता क्योंकि वास्तविक शकुंतला की रति वास्तविक दुष्यन्त में सुखजनक होती है। जो अपने कल्पित रूप में सहृदयों में भी सुख उत्पन्न कर सकती है, किंतु वास्तविक शोक, भय, क्रोध और जुगुप्सा आदि भाव तो संसार में दुःखजनक रूप में प्रसिद्ध हैं अतः वे कल्पित होकर भी सहृदयों में किस प्रकार सुख उत्पन्न कर सकते हैं? जब वे सुखोत्पादन ही नहीं कर सकते तो उन्हें किस प्रकार रसरूप माना जाय यह भी एक समस्या ही है क्योंकि रस के स्वरूप को सुखमय निर्धारित किया गया है। इस प्रश्न का उत्तर यदि इस रूप में दिया जाय कि वास्तविक शोक भले ही दुःखमय हो किंतु कल्पित शोक सुखमय होता है क्योंकि उसका सम्बन्ध सहृदयजनों के मानस से है तो भी उचित नहीं है क्योंकि व्यावहारिक उदाहरण से प्रकट है कि जिस प्रकार हम सर्प से भयभीत होते हैं उसी प्रकार रस्सी में भ्रमवश कल्पित सर्प से भी भयकंपित हो सकते हैं। जब हम वास्तविक रति की भाँति कल्पित रति से भी सुख की उत्पत्ति मानते हैं तो हमें वास्तविक शोक की भाँति कल्पित शोक से भी दुःख की उत्पत्ति माननी चाहिए क्योंकि ऐसा न मानने पर उक्त सिद्धांत में विरोध उपस्थित हो जाता है।

रस की सुखदुःखरूपता का जो पूर्वपक्ष उल्लिखित किया गया है, वह सुखवादी आचार्यों को मान्य नहीं है। उन्होंने शोकजन्य करुण रस से भी सुख की उत्पत्ति सिद्ध करने के प्रबल प्रमाणस्वरूप सहृदयों के 'हृदयसंवाद' को उपस्थित किया है जिसके कारण वे करुण-रस-प्रधान काव्यों का आस्वादन कर सुख-प्राप्ति ही करते हैं। उनका मत है कि जिस प्रकार श्रृंगाररसप्रधान 'अभिज्ञान-शाकुंतलम्' आदि काव्यों से सहृदयजनों को सुखानुभूति होती है उसी प्रकार करुणरसप्रधान उत्तररामचरित आदि काव्यों से भी, यह एक अनुभवसिद्ध विषय है। आचार्यों का कथन है कि कार्य के अनुरोध से कारण की कल्पना कर ली जाती है अतः लोकोत्तर दोषभावना से भी आनंदजनकता की भाँति

१. नाट्यदर्पण, रामचन्द्र-गुणचन्द्र, बड़ौदा, संस्करण, पृ० १५६।

दुःखप्रतिबंधकता की भी कल्पना कर लेनी चाहिए। अभिप्राय यह है कि जिस प्रकार दोष-भावना को आनन्दोत्पत्ति की जननी कहा जाता है उसी प्रकार उसे दुःख का प्रतिबंधक हेतु भी कहा जा सकता है। कहने की आवश्यकता नहीं कि जिस प्रकार रतिक्रीडा अथवा संभोग-क्रिया में दंतक्षत आदि व्यापार सुख के जनक तथा दुःख के प्रतिबंधक माने जाते हैं उसी प्रकार शृंगार तथा करुण-रस-प्रधान काव्य भी समान रूप से आह्लादकारी और दुःख-प्रतिबंधक होते हैं। यदि करुणरसप्रधान काव्यों से सुख और दुःख की उभयविध प्राप्ति सहृदयसम्मत मानी जाय तो 'दोष-भावना' में दुःख-प्रतिबंधकता की कल्पना करने की कोई आवश्यकता नहीं रहती क्योंकि अपने-अपने कारणवश दोनों की उत्पत्ति स्वतः संभव है। करुणरस-प्रधान काव्यों से दुःखोत्पत्ति मानने के विषय में एक कठिनाई यह भी है कि यदि काव्य, सर्जना और काव्यास्वादन दुःखरूप हो तो न तो कवियों की काव्य-रचना-विषयक प्रवृत्ति ही हो सकती है और न सहृदयों के मन में काव्य-रचना के पठन-पाठन अथवा श्रवण की भावना का उदय ही हो सकता है। यदि करुण रस से दुःख-प्राप्ति मानने के विषय में किसी विद्वान् का बहुत अधिक आग्रह ही हो तो अधिक से अधिक यही कहा जा सकता है कि उसमें सुख की समता में दुःख की मात्रा अत्यल्प होती है। इसका स्पष्टीकरण इस उदाहरण द्वारा किया जा सकता है कि जैसे चन्दनादि के घर्षण में अंशतः दुःख के रहने पर भी उसके सौरभ और शैत्य का अनुभवजन्य सुख अपेक्षाकृत अधिक होता है जिसके कारण लोगों की उस क्रिया में प्रवृत्ति होती है उसी प्रकार करुण-काव्यों में भी दुःख का अंश विरल और सुख का अंश बहुल मात्रा में होता है जिसके कारण सहृदयों की उस ओर प्रवृत्ति होना सहज है। हाँ, जो विद्वान् भावना-दोष को दुःख-प्रतिबंधक मानकर करुण-रस-प्रधान काव्यों से भी एकमात्र सुख की उपलब्धि ही मानते हैं उनकी मान्यता के विषय में तो किसी को कोई शंका हो ही नहीं सकती।

करुणरसप्रधान काव्यों से एकमात्र सुख की उत्पत्ति न मानने वाले विद्वानों के अपने स्वतंत्र तर्क हैं। उनका कथन है कि करुण-काव्यों के आस्वादन से जो अश्रुपात आदि होते हैं उन्हें किसी भी प्रकार सुखजनक नहीं माना जा सकता, क्योंकि अश्रुओं का प्रवाह दुःख का संसूचक है। विद्वानों की इस धारणा में किंचित् मात्र भी बल नहीं है क्योंकि यह एक अनुभवसिद्ध बात है कि केवल दुःख से ही अश्रुपात नहीं होता अपितु अनेक बार सुखावस्था में भी अश्रुपात होने लगता है। करुण-रस की अनुभूति करते समय सहृदय जनों के जो अश्रुपात होते हैं वे दुःख के अभिव्यंजक न होकर उनके विलक्षण आनन्दातिरेक के ही प्रतीक हैं। प्रायः यह देखा जाता है कि भगवत्कथा के श्रवण-काल में भगवद्भक्तों की आँखों से अविरल अश्रुधारा प्रवाहित होने लगती है जिसे किसी भी रूप में दुःख का प्रतिफलन नहीं कहा जा सकता। इस विषय में आचार्यों ने उचित ही कहा है कि संसार में दुःखजनक रूप से प्रसिद्ध पदार्थ काव्य में समुपनिबद्ध होकर व्यंजना-व्यापार की महिमा से अलौकिकीभूत बनकर अलौकिक सुख की उत्पत्ति करते हैं। लोक के अन्यव्यापारप्रमाणजन्य अनुभवों में अचमत्कारवश वह कमनीयता नहीं होती जो काव्यव्यापारजन्य आस्वादरूप के अनुभव में होती है, तभी तो उसे अलौकिक चमत्कारपूर्ण

और विलक्षण व्यापार कहा गया है। तत्त्वतः उस व्यंजनाव्यापार में दोष-भावना का ही प्रामुख्य रहता है जिससे समुद्भूत रति आदि का आस्वादन कर हम आनंद प्राप्त करते हैं। दोषात्मक भावना के कारण सहृदयजनों में दुष्यंत आदि की अभेद-बुद्धि उत्पन्न होती है जिससे अगम्यात्व ज्ञान रोक दिया जाता है अर्थात् वे स्वयं दुष्यंत बनकर शकुंतला को स्वसंभोगयोग्य समझने लगते हैं।

रसास्वाद की आनंदरूपता से उद्भूत प्रश्न

काव्य-रस के आस्वाद को अनिवार्यतः आनन्दरूप मानने पर कुछ ऐसे सहज प्रश्न हमारे सम्मुख उपस्थित होते हैं जिनका समाधान किये बिना उसकी आस्वाद्यता संदेहास्पद बन जाती है। ऐसे प्रश्नों में एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न यह है कि काव्य के व्यापक क्षेत्र में जब सुखात्मक और दुःखात्मक भावों की सादृश्यमूला स्थिति है तो दुःखात्मक भावजन्य काव्यरचना उसी प्रकार हमारा मनः प्रसादन किस प्रकार कर सकती है जिस प्रकार सुखात्मक भावोद्भूतकाव्य-कृतियाँ करने में समर्थ होती हैं। काव्यानुसेवन से स्पष्ट है कि करुणादि रसों का आस्वाद भी सहृदय भावकों के चित्तानुरंजन का आह्लादप्रद विषय रहा है। वस्तुतः काव्यशास्त्रीय विवेचना का यह एक अत्यंत मौलिक एवं महत्त्वपूर्ण प्रश्न है जिसका विश्लेषण भारतीय तथा पाश्चात्य पद्धति के विद्वानों ने विविध दृष्टियों से किया है। इस प्रश्न की विवेचना द्वारा ऐसी अनेक विचार-ग्रंथियों को भी निराकृत किया जा सकता है जो काव्य-समीक्षा के प्रशस्त पथ पर कालानुक्रम से समुत्पन्न होती रही है।

करुण रस की आस्वाद्यता

करुण रस की आस्वाद्यता का प्रश्न एक जटिल प्रश्न है क्योंकि जब रस आनन्दरूप है तो फिर शोक आदि स्थायिभावों से निष्पन्न करुण आदि रस किस प्रकार अनिर्वचनीय आनन्द प्रदान कर सकते हैं? इसका उत्तर देते हुए आचार्य विश्वनाथ ने लिखा है कि सहृदय सामाजिकों को करुणादि रसों में जो परमानन्द प्राप्त होता है उसका प्रमाण उनकी संवेदनात्मक अनुभूति को ही कहा जा सकता है।[1] महर्षि वाल्मीकि का शोकत्व जिस प्रक्रिया से श्लोकत्व को प्राप्त हुआ, उसका विश्लेषण करने से भी यही व्यक्त होता है कि करुण-रस की अभिव्यक्ति दुःखात्मक न होकर सुखात्मक ही है। भवभूति ने भी जिस प्रसंग में करुण को ही एकमात्र रस कहा है, उससे भी उसका वैलक्षण्य प्रकट होता है। करुणादि रसों की आनन्दरूपता का दूसरा प्रमाण यह है कि यदि वे सुखात्मक न होते तो कोई भी व्यक्ति उनके आस्वादन के लिए लालायित नहीं होता। यह एक बड़ी विचित्र बात है कि जो भाव लौकिक रूप से हमारे लिए शोकजनक अथवा उद्वेगकारी प्रतीत होते हैं वे ही भाव काव्यगत अभिव्यंजना प्राप्त करते ही हृदयसंवादकर अथवा प्रीतिप्रद बन जाते हैं। इस विषय में आनन्दवर्धन और अभिनवगुप्त ने उचित ही कहा

---

१. साहित्यदर्पण, ३।४।

है कि लौकिक शोक जब काव्य-चर्वणा के विषय होते हैं तो उनमें एक ऐसा तन्मयीभाव आ जाता है जिसकी आस्वाद्यता अलौकिक आनन्द की उपलब्धि कराती है। करुणा को दु:खजनक मानने पर तो रामायण आदि करुणप्रधान काव्यों को भी उद्वेगकर मानना पड़ेगा, किंतु वास्तविकता इसके सर्वथा विपरीत है। वस्तुतः रामायण आदि महाकाव्यों का करुणभाव अपनी चमत्कृति में आनन्ददायक ही है और उसके श्रवण अथवा पठनपाठन से जो अश्रुप्रवाह होता है वह अपनी संवेदना में सुखात्मक ही कहा जायगा। लौकिक रीति से शोक को भले ही दु:ख का उत्पादक माना जाय किन्तु जब वह काव्य और नाट्य में व्यंजित होता है तो उससे निष्पन्न करुण रस की स्थिति आनन्द की चमत्कृति से उपपन्न हो जाती है। सच तो यह है कि जिस प्रकार लोक और काव्य-नाट्य परस्पर विलक्षण हैं उसी प्रकार लौकिक शोक-हर्ष तथा काव्यगत शोक-हर्ष भी परस्पर भिन्नता रखते हैं। काव्य और नाट्य के क्षेत्र में अवतीर्ण होते ही रामवनगमन तथा शैव्या-विलाप आदि घटनाएँ लौकिक दु:खों का क्षेत्र छोड़कर विभावन-व्यापार द्वारा हृदयग्राह्य बन जाती हैं जिनके द्वारा सहृदय सामाजिक अपनी शोकवासना का अलौकिक आस्वादन करने लगते हैं। आचार्यों ने लौकिक शोक की काव्यगत अलौकिक सुख-परिणति का स्पष्टीकरण करते हुए लिखा है कि जिस प्रकार रतिप्रसंग में दंतक्षत तथा नखक्षत कामाभिभूत रमणियों के लिए दु:ख के हेतु न होकर सुख के ही जनक होते हैं उसी प्रकार काव्य और नाट्य की विभावरूप दु:खद घटनाएँ एकमात्र आनन्द की ही सृष्टि करती हैं, इसका उल्लेख अन्यत्र किया जा चुका है। काव्य-कला में एक ऐसी विलक्षण शक्ति है जिसके द्वारा लौकिक शोकानुभूति परमानन्दसंदोह रूप रसमयता में परिणत हो जाती है। सच तो यह है कि रस की अनिर्वचनीयता के लिए करुणरस जितना अधिक उपयुक्त है उतना शृंगार रस भी नहीं है। काव्य अथवा नाट्य में उपस्थापित करुण-चरित का श्रवण अथवा प्रेक्षण सहृदयों की चित्तवृत्ति को विगलित कर देता है जिसके कारण उनका अश्रुपात हृदय के मधुर भार को हल्का करता हुआ आनन्द की सृष्टि करने में समर्थ होता है। हाँ, यह बात अवश्य है कि शोकादि भावों की काव्यगत परिणति का आनन्दपूर्ण आस्वाद केवल वे ही सहृदय प्राप्त कर सकते हैं जिनके अन्तःकरण में रत्यादिरूप वासना के संस्कार जन्मजन्मान्तर से संचित हों तथा जिनमें रस-चर्वणा की योग्यता के अनुकूल लक्षणों का संघटन भी उपस्थित रहे। इस विषय में आचार्य धर्मदत्त ने उचित ही कहा है कि जिन सामाजिकों के हृदय में रत्यादि वासनाओं का अखंड कोष संचित है, वे ही काव्य का रसास्वादन कर सकते हैं किंतु जिनमें उक्त वासनाओं का अभाव है उनकी स्थिति रंगशाला के स्तम्भ, दीवार और पत्थरों के समान है।[1] इस विषय में महाकवि कालिदास का कथन है कि रम्य दृश्यों का अवलोकन तथा मधुर ध्वनि का श्रवण करने से हमारे चित्त में विशेष प्रकार की जो उत्सुकता उद्भूत हो जाती है उसके मूल में किसी

---

१. सवासनानां सभ्यानां रसस्यास्वादनं भवेत्।
निर्वासनास्तु रंगान्तः काष्ठकुड्याश्मसन्निभाः॥

न किसी प्रकार की प्राक्तनी वासना के संस्कार अवश्य ही विद्यमान रहते हैं ।[1] यदि ऐसा न हो तो वैयाकरण और मीमांसक जैसे शुष्क हृदय व्यक्ति भी उसी प्रकार काव्य का रसास्वादन करने लगे जिस प्रकार रत्यादि वासनासम्पन्न सहृदयजन किया करते हैं ।

धनंजय और धनिक का दृष्टिकोण

धनंजय और धनिक ने काव्योद्भूत आस्वाद की प्रक्रिया और उसके प्रकारों का भी विवेचन किया है। उनके मतानुसार काव्य का आस्वाद काव्यार्थ के संभेद से आत्मानंद के रूप में उत्पन्न होता है और मन की चार अवस्थाओं—विकास, विस्तार, क्षोभ और विक्षेप—के अनुसार उसके चार भेद हैं जो क्रमशः शृंगार, वीर, बीभत्स और रौद्र नाम से संज्ञित किये गये हैं । इन चारों भेदों से क्रमशः हास्य, अद्भुत, भयानक और करुण रसों की उत्पत्ति होती है। धनिक के शब्दों में आस्वाद एक प्रकार से प्रबलतरस्वानन्दोद्भूति रूप है जो विभावादि से संसृष्ट स्थाय्यात्मक काव्यार्थ के भावक के चित्त की अन्योन्य संचालित स्वपरविभाव की समाप्ति होने पर उत्पन्न होता है। संभेद की दृष्टि से रसों की संख्या आठ है और उसी के द्वारा उनका स्पष्टीकरण तथा भेद-निश्चय किया जाता है । उक्त आचार्यद्वय ने शृंगार, वीर और हास्य की विनोदात्मक प्रवृत्ति में वाक्यार्थ के संभेद से आनन्दोद्भूति मानी है किंतु साथ ही साथ यह भी स्वीकार किया है कि करुणादि रसों से भी सहृदय के चित्त में आनन्द का ही उद्रेक होता है। उन्होंने काव्यगत करुणरस को लौकिक करुण से भिन्न माना है क्योंकि उसमें रसिकजनों की प्रवृत्ति उत्तरोत्तर बढ़ती रहती है। यदि काव्यगत करुण लौकिक करुण के समान दुःखात्मक हो तो उसमें कोई भी प्रवृत्त होना नहीं चाहेगा और उस स्थिति में रामायण आदि महाप्रबंधों का उच्छेदन ही हो जायगा। करुणात्मक काव्यों के पठन-पाठन अथवा श्रवण-दर्शन से रसिकजनों के मन में दुःख अथवा अश्रुपातादि का जो आविर्भाव होता है वह केवल वृत्तवर्णन के श्रवण से उद्भूत है । लौकिक वैकल्य-दर्शन के समान वे प्रेक्षकों में भी उत्पन्न होते हैं किन्तु उनमें कोई आनन्द-विरोधी तत्त्व नहीं समझना चाहिए । तत्त्वतः अन्य रसों की भाँति करुणरस भी आनन्दात्मक ही है—यही उनके कथन का मूल मंतव्य है ।

करुण रस की आस्वाद्यता आनन्दमयी है

करुणात्मक काव्यों से आनन्दोपलब्धि होने के प्रमाण में एक तर्क यह दिया जाता है कि भाव-लोक के मूर्तिमान प्रतीक काव्य में भले ही शोकादि के व्यंजक दुःखपूर्ण भाव करुणादि रसों के रूप में निष्पन्न हों, किन्तु उनका आस्वादयिता हमारा शुद्ध प्रबुद्ध आत्मा है जो अपनी आनन्दमूलक प्रवृत्ति के कारण उनका भोग राग, विद्या और कला

---

१. रम्याणि वीक्ष्य मधुरांश्च निशम्य शब्दान्,
पर्युत्सुकीभवति यत् सुखिनोऽपि जन्तुः ।
तच्चेतसा स्मरति नूनमबोधपूर्वम्,
भावस्थिराणि जननान्तरसौहृदानि ।

संज्ञक तत्त्वों द्वारा ही करता है। भावप्रकाशकार शारदातनय ने राग को सुखत्व का अभिमान, विद्या को राग का उपादान और कला को आत्माभिज्वलन का हेतु निर्दिष्ट कर यह तथ्य प्रतिपादित किया है कि उपर्युक्त तीनों तत्त्वों की प्रभुता के कारण आत्मा पर दुःख-मोहादि-मायाजन्य प्रपंचों का कोई प्रभाव नहीं पड़ता जिसके फलस्वरूप उसे काव्यास्वाद की प्रक्रिया में भी आत्मस्थ तत्त्वों की ही 'चर्वणा' होती है। शारदातनय के कथन का मुख्य आशय यह है कि काव्य-कृति में चाहे किसी भी प्रकार की भाव-व्यंजना हो, उसकी आस्वादन-प्रक्रिया में तो आत्म-चेतना के गुणों का ही प्राबल्य होगा और वे गुण निश्चय ही आह्लादजनक परिवेश में ही काव्य-चर्वणा के उपादान बनेंगे। कहने की आवश्यकता नहीं कि उनके विचारों पर भारतीय आनन्दवाद का पर्याप्त प्रभाव है यद्यपि वे उसका निरूपण अभिनवगुप्त की भाँति अधिक वैशद्यपूर्ण विधि में नहीं कर सके हैं।

काव्य-चित्रित दुःखात्मक संवेदनाओं से सुखात्मक आस्वाद की उपलब्धि का एक कारण यह भी है कि काव्य-सृष्टि का विधान अलौकिक और नियतिकृत नियमरहित है जिसमें सांसारिक कार्य-कारण-सम्बन्ध का संयोजन पूर्णरीत्या संघटित नहीं होता। संसार का यह एक व्यवहारगत नियम है कि दुःख से दुःख की उत्पत्ति होती है, किन्तु कवि-प्रतिभा का यह एक असाधारण चमत्कार है कि वह दुःखमूलक भावसृष्टि को भी अपनी अलौकिक शक्ति द्वारा सुखात्मक रूप में परिणत करने का सामर्थ्य रखती है। इस विषय में साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ का कथन है कि लोक के संश्रय से शोक हर्षादि के कारण रूप से प्रसिद्ध, वनवास आदि से लोक में लौकिक शोक आदि भले ही उत्पन्न करें, किन्तु काव्य से सम्बन्ध होने पर वे कारण अलौकिक विभावत्व को प्राप्त होते हैं और उन सबसे सुख ही प्राप्त होता है।[1] काव्य की लोकोत्तरता के विषय में पाश्चात्य आचार्यों की भी कुछ ऐसी ही मान्यताएँ हैं। प्लेटो ने जिस दिव्य प्रेरणा को काव्य-निर्माण का मूल स्रोत कहा है वह भी एक प्रकार से अलौकिकता का ही निदिध्यासन है। ब्रैडले भी इसी अर्थ में काव्य-सृष्टि को पूर्ण निरपेक्ष, स्वतःपूर्ण, स्वतंत्र और स्वायत्त कहते थे।

स्वसंविद् की चर्वणा के कारण सभी रस आनन्द-रूप हैं

आनन्दवादियों के शीर्षस्थानीय आचार्य अभिनवगुप्त ने स्वसंविद् की चर्वणा को रस-स्वरूप कहकर सभी रसों की आनन्दरूपता प्रतिपादित की है। उनके मतानुसार रसचर्वणा मूलतः एकघन तथा प्रकाशमयी होती है अतएव आनंद ही उसका सारभूत तत्त्व है। रसास्वाद के समय सहृदय का हृदय एकघन निर्विघ्न संवित्ति में विश्रांत होता है जिसमें न तो किसी प्रकार का अन्तराय रहता है और न चित्त का रजोवृत्तिजन्य चांचल्य ही रह पाता है। चूँकि काव्य का रसास्वादन लौकिक हर्ष और शोक आदि का अनुभव न होकर स्वसंवेदना का आस्वाद है अतः उसकी आनन्दरूपता स्वतः सिद्ध हो जाती है। अभिनवगुप्त

१. साहित्यदर्पण, ३।६-७।

ने करुण रस से निष्पन्न होने वाले आनन्द की संसिद्धि भी इसी आधार पर की है। यों तो अनुकरणवादियों ने भी नाट्यादि रस का अलौकिकत्व निरूपित करते हुए करुण से आनन्द की निष्पत्ति विवेचित की थी किन्तु अभिनवगुप्त ने इस प्रश्न का समाधान अधिक विवेक-सम्मत विधि से किया है। उन्होंने प्रथमतः लौकिक जीवन से उदाहरण उपस्थित करते हुए यह मान्यता प्रतिष्ठित की है कि शोक से दुःखोद्भव होने का कोई शाश्वत नियम नहीं है क्योंकि हम अपने व्यावहारिक जीवन में प्रायः इस विषय का अनुभव करते हैं कि हम अपने आत्मीय जनों के शोक से दुःखी, शत्रुओं के शोक से सुखी तथा तटस्थ जनों के शोक के प्रति उदासीन रहते हैं। वस्तुतः स्वगतसम्बन्ध से सीमित शोक भले ही हमें दुःखी बना दे, किन्तु व्यक्ति-सम्बन्ध से परे रहने वाले शोक से दुःखानुभूति मानी ही नहीं जा सकती। अभिनवगुप्त ने तो इस प्रश्न को ही अस्वाभाविक एवं असंभव कहा है कि 'शोक सुख का हेतु कैसे होता है?' उन्हें अनुकरणवादियों का यह उत्तर भी संतोषजनक नहीं प्रतीत होता कि 'नाट्यभावों से आनन्द प्राप्त होना तो इनका स्वभाव है।' उनकी तो मान्यता है कि 'काव्य का आस्वादयिता मूलतः अपनी संवेदना का ही आस्वाद करता है और उसका संवित् स्वतः आनन्दरूप है, अतः संवेदना के आस्वाद में दुःख की आशंका कैसे हो सकती है?'[1] सच तो यह है कि उचित विभावादि की चर्वणा से हृदयसंवाद-तन्मयीभवनक्रम द्वारा लोकोत्तर काव्यार्थ की निर्विघ्न प्रतीति ही रस का स्वरूप है अतः वहाँ दुःख की कोई संभावना ही नहीं हो सकती। अधिक से अधिक यह कहा जा सकता है कि शोक और रति आदि वासनासंस्कारों से तत्कालीन उद्बोध के कारण उस एकघनसंवेदनास्वाद में वैचित्र्य-निर्माण भले ही हो जाय। यहाँ यह बात भी उल्लेखनीय है कि वासनाओं का वह उद्बोध लौकिक कारणों से न होकर अभिनयादि व्यापार से ही होता है।[2]

'महारस' की कल्पना में भी सभी रसों का आनन्द निष्पंदित है

अभिनवगुप्त ने सभी रसों की आनन्दरूपता का निरूपण करते हुए जिस 'महारस' की कल्पना की है वह 'चर्व्यमाणैकप्राण' है जिसका आशय यह है कि मुख्यभूत महारस का सारतत्त्व उसकी चर्वणा ही है। शृंगार आदि रस-विशेषों को चर्वणारूप व्यापार के निदर्शक महारस के भिन्न-भिन्न रूप कहा जा सकता है। आस्वादरूप एक ही महारस के शृंगारादि संज्ञक जो भिन्न-भिन्न रूप परिकल्पित होते हैं उनका कारण विभावादि की विभिन्नताएं हैं। अभिनवगुप्त ने 'अनेन विभावादिभेदं रसभेदे हेतुत्वेन सूचयति', 'सच विभावसाक्षात्कारात्मक एव' आदि अनेक युक्तियों से यही तथ्य निरूपित किया है कि तत्त्वतः 'रस' एक ही है किन्तु विभावादि के भेद से उसके अनेक भेद हो जाते हैं। वस्तुतः रसास्वाद में विभावादि की चर्वणीयता के कारण सहृदयजनों के तन्मयीभूत वासना-संस्कार उद्बुद्ध होते हैं जिनसे चर्वणों में विशिष्टरूपता आती है। कविकृत विभावादि

१. अस्मिन्मते तु संवेदनमेव आनंदघनं आस्वाद्यते। तत्र का दुःखाशंका?
२. केवलं तस्यैव चित्रताकरणे रतिशोकादिवासनाव्यापारस्तदुद्बोधने च अभिनयादि व्यापारः।

की संयोजना के अनुरूप ही रसिकजनों की चर्वणा को विशिष्टरूपता प्राप्त होती है जिसके कारण रसास्वाद की चर्वणा में भी वैचित्र्य का निर्माण होता है। अभिप्राय यह है कि शृंगार तथा वीर आदि रस एक ही महारस के विभावादिकृत भेद के कारण बने हुए रसभेद हैं जिनका विवेचन रस के सामान्य लक्षण से न किया जाकर विशेष लक्षण से किया जाना अधिक युक्तिसंगत है।

१५

रस-प्रतीति के बाधक तत्त्व

रस-विघ्न

रस-विघ्न क्या है ?

रस-विघ्न काव्यस्वादन की प्रक्रिया के बाधक अथवा अवरोधक तत्त्व हैं। उनका सम्बन्ध काव्य के रचयिता और आस्वादयिता, इन दोनों की मनोभूमिकाओं से किसी न किसी रूप में अवश्य रहता है। काव्य-रचना की शब्दार्थमयी शरीरसंघटना और रसमयी आत्मवत्ता में यदि किसी भी प्रकार की अपरिपक्वता के अंश उपस्थित हो जाते हैं तो उसके आधानोपकरणों में आत्मविश्रांति-विषयक न्यूनता की सत्ता अपना अस्तित्व धारण कर लेती है। यों तो रसास्वादन की प्रक्रिया में सहृदय प्रमाता की चेतना अथवा उसके संवित् का ही प्राधान्य होता है क्योंकि वही रस का मूल आश्रय है, किन्तु काव्यगत रस-विघ्न भी उसकी आस्वादन-क्रिया में व्यवधान ला ही देते हैं। यदि ऐसा न होता तो एक ही विषय पर निर्मित रचनाओं में रसानुभूति कराने का समान सामर्थ्य होता। महर्षि वाल्मीकि से लेकर अद्यावधि जिन कवियों ने रामकथा का चित्रण किया है, वह अपनी रूप-प्रक्रिया और भावभूमिका में किस प्रकार के पार्थक्य से परिपूर्ण है, यह उनके सुधी भावकों से अप्रकट नहीं है। कहने की आवश्यकता नहीं कि जिस प्रकार भिन्न-भिन्न रचनाओं में रसास्वादन कराने की पृथक्-पृथक् क्षमता अथवा शक्ति रहती है, उसी प्रकार उसके आस्वादयिताओं की मनःस्थिति का सम्बन्ध भी उनके रसग्रहण के सामर्थ्य से पृथक्-पृथक् रहता है। इस विचार-बिन्दु को रस-विघ्नों के साथ संयुक्त कर इस मान्यता का प्रतिस्थापन सहज भाव से किया जा सकता है कि काव्यगत रसभंग सहृदयजनों के मानसगत रसभंग का एक प्रमुख कारण है और उसकी विवेचना के बिना काव्यास्वाद की प्रक्रिया का एक महत्त्वपूर्ण पक्ष अस्पृष्ट-सा रह जाता है।

रस-भंग के कारण

आचार्य आनंदवर्धन ने कवि की दृष्टि से रसभंग के मुख्य पाँच कारण निर्धारित किये हैं, जिनका विस्तार एवं विश्लेषण परवर्ती आचार्यों द्वारा विविध प्रकार के रसदोषों के रूप में किया गया है। वे रस-दोष मूलतः रस-विघ्नों से ही सम्बन्धित हैं, क्योंकि

उनके द्वारा भी काव्य-रस के आस्वादन की प्रक्रिया में अन्तराय उपस्थित होते हैं। आनन्दवर्धन ने 'विरोधी रस-सम्बन्धी विभावादि के परिग्रह', 'रस-सम्बद्ध होने पर भी अन्य वस्तु का अधिक विस्तारपूर्वक वर्णन', 'असमय में रस की समाप्ति अथवा अनवसर में उसका प्रकाशन', 'रस का पूर्ण परिपोष होने पर भी उसका पौनः पुन्येन दीपन' एवं 'व्यवहार के अनौचित्य' में जिन रस-दोषों का व्याख्यान किया है, वे निश्चय ही काव्या-स्वाद की प्रक्रिया में बाधास्वरूप ही हैं। आचार्य मम्मट ने उपर्युक्त रस-दोषों की स्वीकृति के अतिरिक्त रसों की 'स्वशब्दवाच्यता','विभावानुभावों की कष्टकल्पना से' अभिव्यक्ति, 'अंगी की उपेक्षा' और 'अनंग का अभिधान' आदि कतिपय विशेष व्यवधानों को जोड़कर उनकी संख्यावृद्धि कर दी है जिनकी विवेचना से काव्यास्वाद की प्रक्रिया के मार्ग में उपस्थित होने वाले अन्तरायों का स्पष्टीकरण विशेष सुबोधता के साथ हो जाता है। ये व्यवधान काव्य के समस्त रूप-प्रकारों और उनकी विधाओं के अंगभूत बनकर किसी न किसी स्थिति में उपस्थित हो ही जाते हैं। यों तो ये व्यवधान काव्यास्वादन की प्रक्रिया में दोषोद्भावक हैं, किन्तु आचार्यों ने उनकी नित्यता और अनित्यता का उल्लेख कर ऐसे स्थलों का भी विवेचन किया है जहाँ पर उनकी स्थिति काव्य के रसास्वादन की क्रिया में ऐसी बाधा नहीं ला पाती जिससे उसकी सरसता सर्वत्र संदिग्ध समझ ली जाय। वस्तुत: रस-विघ्नों का यह विषय अत्यंत गम्भीर और विचारणीय है जिसका सम्यक् विमर्श काव्य-कृतियों की अनुशीलन-वेला में ही सुचारु रूप से किया जा सकता है।

अनौचित्य ही रस-भंग का मूल कारण है

अनौचित्य का सामान्य लक्षण है 'विवक्षित रसादि की अभीप्सित प्रतीति में उसका विघ्नविधायित्व'। 'रसादि' पद में भाव, रसाभास, भावाभास, भाव-शबलता, भावोदय, भावसंधि और भावशांति का सहज समाहार है। महिमभट्ट ने दोष को जिस अर्थ में अभीप्सित-प्रतीति-विघ्न कहा है वह आचार्य मम्मट के 'मुख्यार्थहति' से पर्याप्त साम्य रखता है। मम्मट के अनुसार मुख्यार्थ का अर्थ है 'रस' और हति का अर्थ है अपकर्ष। इसकी व्याख्या करते हुए प्रदीपकार गोविन्द ठक्कुर ने लिखा है कि उद्देश्य-प्रतीति का विघात ही अपकर्ष अथवा 'हति' है जिसके कारण रसचर्वणा में बाधा उपस्थित होती है। रसादि की प्रतीति का विघ्न अर्थदोष का विषयक्षेत्र है जबकि शब्दों का अनौचित्य दोष का बहिरंग पक्ष है जिसके कारण रसप्रतीति में परम्परा से विघ्न उपस्थित होता है। परम्परा से अभिप्राय यह है कि शब्द से अर्थ-ज्ञान होता है और वही अर्थ विभावादिरूप होकर रस-निष्पत्ति कराता है। शब्द में दोष होने से अर्थ का ज्ञान भी दूषित हो जाता है और अर्थज्ञान के सदोष होने से उसके द्वारा विभावादि की प्रतीति भी दोषमय हो जाती है। इस प्रकार शब्द-दोष अर्थ को मध्यवर्ती बनाकर रसभंग करते हैं। अर्थ-दोषों को अन्तरंग कहने का कारण यह है कि अर्थ और रस के बीच कोई ऐसा अन्य तत्त्व नहीं रहता जैसा शब्द और रस के बीच अर्थ-तत्त्व रहता है। वस्तुत: जो दोष अर्थगत होते हैं, वे सद्यमेव रस-चर्वणा को विकृत कर देते हैं। दोष का सामान्य लक्षण भी यही है कि उसके द्वारा काव्य में विकृति आ जाती है। अन्य आचार्यों

की भाँति पंडितराज जगन्नाथ भी अन्ततोगत्वा अनौचित्य को ही रसभंग का कारण निर्णीत करते हैं। रस जैसे अमूर्त विषय का भंग कैसे हो सकता है; इसका स्पष्टीकरण करते हुए वे लिखते हैं कि सांसारिक व्यवहार में मूर्त पदार्थ का ही भंग देखा जाता है, किन्तु रस के साथ 'भंग' पद का अर्थ है 'पानकादिरसादौ सिकतादि-निपातजनिते-वारुन्तुदता।' इसका आशय यह है कि जिस प्रकार पानक आदि रसों में वालुका आदि का निपात (गिरना) उन रसों का पान करने वाले व्यक्तियों के स्वाद में विघातक हो जाता है, उसी प्रकार किसी काव्यकृति के आस्वादन में बाधक होने का अर्थ ही रसभंग है। रसभंग का कारण है अनौचित्य, जो देश, जाति, काल, वर्ण, आश्रम, अवस्था, स्वभाव और व्यवहार आदि सांसारिक पदार्थों के विषय में लोक और शास्त्र से सिद्ध तथा उचित द्रव्य, गुण अथवा क्रिया के औचित्य का भंग होने से उत्पन्न होता हैं।[1] पंडितराज ने जात्यादि के अनुचित विषयों का उल्लेख करते हुए लिखा है कि 'गौ आदि के तेज और वल के कार्य तथा पराक्रम और सिंहादि का साधुस्वभाव वर्णन जात्यनुचित का उदाहरण है तो स्वर्ग में जरा-व्याधि तथा भूलोक में सुधासेवन आदि देशविरुद्धता का। इसी प्रकार शिशिर में जलविहार, ग्रीष्म में वह्नि-सेवा काल-विरोध के तथा ब्राह्मणों का मृगयासेवन, क्षत्रियों का परिग्रह, शूद्र का वेदाध्ययन वर्ण-विरुद्धता के उदाहरण हैं। ब्रह्मचारियों और यतियों का ताम्बूलचर्वण और दारोपग्रह आश्रम-विरुद्ध बात है तो बालक और वृद्धों का स्त्रीसेवन तथा युवकों का विराग अवस्था-विरुद्ध विषय। इसी प्रकार दरिद्रों का धनिकवत् और धनिकों का दरिद्रवत् आचरण भी विरोधमूलक बातें है।'[2] पंडितराज का मत है कि किसी काव्य में यदि उपर्युक्त विषयों का अनौचित्य समझे बिना जब कोई कवि वस्तु-वर्णन या भाव-व्यंजन करता है तो वहाँ रस-भंग या रसदोष की संभावना हो जाती है। उन्होंने भी नायकादि की प्रकृतियों को दिव्य, अदिव्य, दिव्यादिव्य तथा धीरोदात्त, धीरोद्धत, धीरललित और धीर प्रशांत एवं उत्तम, मध्यम और अधम नामक भेदों में विभक्त करते हुए बतलाया है कि इन प्रकृतियों वाले नायकों में भय के अतिरिक्त रति आदि स्थायिभाव यद्यपि समान रूप से होते हैं किंतु संभोगरूप रति का वर्णन जिस प्रकार मनुष्यों में किया जाता है, उसी प्रकार आलिंगन, चुम्बन आदि अनुभावों का स्फुटीकृत वर्णन उत्तम प्रकृति वाले देवताओं के विषय में नहीं किया जाता क्योंकि वैसा करना अनुचित है और उससे रस-भंग हो सकता है। वस्तुतः नायकों की दिव्यादिव्य प्रकृति का ध्यान रखकर ही उनके क्रोधादि भावों का वर्णन करना चाहिए। जिन दिव्य आलम्बनों के प्रति हमारे मन में पूज्यभावना है उनमें साधारण नायकों का-सा रतिभाव वर्णित करना उसी प्रकार अनुचित है जिस प्रकार साधारण नायकों में दिव्य नायकों का-सा गम्भीर और अलौकिक भाव चित्रण करना। वस्तुतः यह एक ऐसा विषय है जिसकी दिव्यादिव्यता का साधारणीकरण करते हुए पूज्य-बुद्धि आदि का लोप नहीं किया जा सकता। सच तो यह है कि जहाँ सहृदयों का रसास्वाद प्रमाणसिद्ध होता है, वहीं पर

१. तच्च जाति-देश-काल-वर्णाश्रम-वयो वस्था-प्रकृति-व्यवहारादेः प्रपंचजातस्य तस्य तस्य, यल्लोक-शास्त्र सिद्धमुचित द्रव्य-गुण-क्रियादि, तद्भेदः।

२. रसगंगाधर, प्र० चौखम्बा विद्याभवन, पृ० १६५।

साधारणीकरण की कल्पना की जाती है। चूँकि उक्त स्थान में सहृदयों का रसानुभव प्रमाणसिद्ध नहीं है अतः वहाँ पर साधारणीकरण की कल्पना करना निष्प्रयोजन है। वस्तुतः पंडितराज ने साधारणीकरण की भी एक मर्यादा निर्धारित की है अन्यथा अपनी माता के विषय में अपने पिता का रति-वर्णन करने पर भी सहृदयों को रसास्वादन होने लगेगा। इस विवेचन के प्रसंग में पंडितराज का आक्रोश गीतगोविन्दकार जयदेव आदि कवियों पर कठोरतापूर्वक व्यक्त हो गया है क्योंकि उन्होंने उत्तमदेवता विषयक संभोग का वर्णन अनुभावों के स्पष्टीकरण के साथ करते हुए मदोन्मत्त मतंगों की भाँति समाजोचित मर्यादा का भंग कर दिया है। नवीन कवियों को पंडितराज का यही परामर्श है कि वे उस प्रकार का अमर्यादित वर्णन न करें।[1]

रसविघ्नों के प्रकार और उनका निराकरण

अभिनवगुप्त के मतानुसार रस-प्रतीति के मार्ग में सात प्रकार के विघ्न उपस्थित होते हैं जो निम्नलिखित हैं—

१. ज्ञान के अयोग्य होना अर्थात् रस की सम्भावना का अभाव।

२. स्वगत (सामाजिकगत) अथवा परगत (नटगत) रूप से देशकालविशेष का सम्बन्ध।

३. अपने व्यक्तिगत सुखादि का विवशीभाव।

४. प्रतीति के उचित उपायों का कैवल्य अथवा अभाव।

५. प्रतीति के स्फुटत्व का अभाव।

६. अप्रधानता।

७. संशय का योग।

अभिनवगुप्त ने उपर्युक्त रस-विघ्नों का उल्लेख करने के साथ-साथ उनके निवारण के उपायों का भी प्रतिपादन किया है। संक्षेप में उनका निरूपण इस प्रकार है—

१. रस-प्रतीति के प्रथम विघ्न को 'संभावना-विरह' अथवा कल्पना का अभाव रूप भी कहा जा सकता है जिसका आशय यह है कि काव्य अथवा नाट्य-वस्तु की कल्पना से अपरिचित व्यक्ति रसास्वादन करने में अक्षम होता है। बात यह है कि जब काव्य का पाठक ज्ञान को ही निश्चित नहीं कर पाता तो फिर उसमें आनन्द की अनुभूति या विश्रांति हो ही कैसे सकती है? इस विघ्न के कारण प्रतिपत्ता में रस की संभावना का सर्वथा अभाव रहता है। जिस प्रकार काव्यवर्णित संवेद्य वस्तु की प्रतीति न होने से काव्य का पाठक या आस्वादयिता उसके साथ अपना हृदयसंवाद न कर पाने के कारण रसचर्वणा में असमर्थ होता है उसी प्रकार कविगत अशक्ति के कारण भी रसास्वादन में बाधा उत्पन्न हो जाती है। इस विघ्न के निराकरण का सर्वाधिक सुगम उपाय यह है कि अन्य सामाजिकों के साथ लोकसामान्यवस्तु-विषय का हृदयसंवाद कर लिया जाय। समुद्रलंघन आदि लोकोत्तर व्यापारों में उनकी असंभाव्य स्थिति के कारण रस-प्रतीति

१. रसगंगाधर, प्र० चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, पृ० १९८

में जिस प्रकार का विघ्न उपस्थित होता है, उसे केवल उसी स्थिति में निराकृत किया जा सकता है जब हम अखंडित प्रसिद्धि से उत्पन्न एवं बद्धमूल विश्वास को परिपुष्ट करने वाले राम आदि प्रख्यात नामों का परिग्रहण नट आदि में कर लें। नाटकों में लोकोत्तर उत्कर्ष का प्रदर्शन प्रायः इसलिए किया जाता है कि उसके द्वारा सामाजिकों को उपदेश मिलता रहे और उनका चित्त भी चमत्कृत होता चले। इस प्रकार की क्रिया से यदि रस-ग्रहण की पद्धति में कोई बाधा हो तो उसे लोकसामान्य भावभूमि पर अवतीर्ण कर रस-प्रतीति विषयक 'संभावनाविरह' विघ्न का अपसरण किया जाना सहज संभव है।

२. इस रस-विघ्न को मूलतः रसिकगत कहा जा सकता है। इसका अभिप्राय यह है कि यदि सामाजिक स्वगत सुख-दुःख आदि प्रतीतियों का अनुभव करता है तो कभी उसके नष्ट होने के भय से, कभी उसकी रक्षा के लिए व्यग्र हो जाने से, अथवा उसके सदृश अन्य सुख की प्राप्ति की इच्छा से अथवा उस दुःख के परित्याग की कामना से अथवा उसको प्रकट करने की अभिलाषा से अथवा उसको छिपाने की भावना से अथवा अन्य किसी भी प्रकार से अन्य ज्ञान का उत्पन्न हो जाना भी रसास्वाद की प्रक्रिया के मार्ग का एक महान् विघ्न है। यदि रस को परगतत्व (नटगतत्व) के नियम से युक्त माना जाय तो भी सुख-दुःख आदि का संवेदन होने पर सामाजिक के मानस में निश्चय रूप से सुख, दुःख, मोह या माध्यस्थ्यादि अन्य ज्ञानों के उत्पन्न होने के कारण भी रसास्वाद में विघ्न उपस्थित होता है। अभिनवगुप्त के मतानुसार इस प्रकार के नाट्य-विघ्न के निराकरण का सामान्य उपाय यह है कि पूर्वरंग-विधि तथा अन्य प्रस्तावनाओं के प्रेक्षण से जिस नटरूपता की प्रतीति होती है उसके साथ अनुकार्यों की वेशभूषा आदि के अनुरूप नट के स्वरूप की प्रतीति का आच्छादन कर लिया जाय जिससे स्वगत तथा परगत रूप में किसी भी प्रकार के देश और काल-विशेष का विशिष्ट सम्बन्ध न रहे। भरतमुनि ने साधारणीकरण की सिद्धि द्वारा रसास्वादन के उपयोगी कारण-कलापों का संग्रह-सा करते हुए इस दिशा की ओर अंगुल्यादेश कर दिया है कि स्वगत या परगत रूप से उत्पन्न होने वाले रसानुभूति के विघ्नों का निराकरण किस प्रकार किया जा सकता है?

३. रसानुभूति के मार्ग में तीसरा विघ्न तब आता है जब अपने व्यक्तिगत सुख-दुःख आदि से विवश बना हुआ व्यक्ति रसास्वाद-रूप अन्य वस्तु में अपना ध्यान एकाग्र न कर सके। इस विघ्न के निराकरण का उपाय यह है कि नाटक आदि में वर्णित पदार्थों में रहने वाले साधारणीकरण के प्रभाव से सबके भोग्य होने योग्य, शब्दादि विषयों से युक्त तथा गान-वाद्य और नृत्य आदि मण्डपपद में चतुर गणिकाओं के द्वारा सामाजिक के मनोरंजन का आश्रय लिया जाय। इस प्रकार के आयोजन को देखकर शुष्क एवं अरसिक व्यक्ति भी हृदय की निर्मल सरसता को प्राप्त कर सहृदय-सा बन जाता है जिससे उसके व्यक्तिगत सुख-दुःख के भावों का तिरोधान होना सहज सम्भव है। उस समय उसकी मानसी क्रिया लोकोत्तर कोटि की हो जाती है जिसके कारण सभी प्रकार के काव्य उसे रसास्वादन करा सकते हैं।

४, ५. अभिनवगुप्त ने रस-प्रतीति के बाधक तत्त्वों के अन्तर्गत इस बात पर भी विशेष बल दिया है कि रस-प्रतीति के उचित उपायों का अभाव होने से तो उसके मार्ग में विघ्न आता ही है, किंतु अस्फुट प्रतीति भी रसानुभूति के मार्ग में बाधक बन जाती है। इन दोनों कारणों से उत्पन्न विघ्नों के निराकरण के लिए आवश्यक है कि उन लोकधर्मी तथा वृत्ति और प्रवृत्ति से उपस्कृत अभिनयों का आश्रय लिया जाय जो शब्द तथा अनुमान से भिन्न प्रकार का प्रत्यक्षकल्प व्यापार उपस्थित कर साक्षात्कारात्मक रसानुभूति करा सके।

६. रस-प्रतीति के मार्ग में छठा विघ्न उस समय आ जाता है जब हम एक ऐसी संदेहमूलक स्थिति से संग्रस्त हो जायँ जिसके कारण गुणालंकारों की अपेक्षा रस की स्थिति अप्रधान या गौण हो जाती है। रस की अप्रधानता से हमारी अनुभूति विश्रांत नहीं हो सकती। यह अप्रधानता अचेतन विभाव और अनुभाव वर्ग में भी हो सकती है तथा संविदात्मक व्यभिचारिभावों में भी। वैसी स्थिति में उन विभाव, अनुभाव और व्यभिचारिभावों से अतिरिक्त स्थायिभाव ही चर्वणा या आस्वादन के योग्य होता है। इस विघ्न का निराकरण तभी हो सकता है जब रस की प्रधानता प्रतिष्ठित हो जाय और आस्वादयिता के मानस में किसी भी प्रकार की भ्रांति न रहे।

७. रस-प्रतीति का सप्तम विघ्न संशययोग है। चूंकि रस-प्रक्रिया में विभाव, अनुभाव और व्यभिचारिभावों का अलग-अलग स्थायिभावों में नियत रूप से अधिष्ठित रहने का कोई नियम नहीं है, अतः अनेक बार यह निर्णय करने में संशय उत्पन्न हो जाता है कि अश्रुपातादि को करुण रस के अनुभाव समझा जाय या किसी प्रकार के नेत्ररोग अथवा आनन्द के प्रतीक। यही स्थिति क्रोध तथा भय नामक मनोभावों की है। व्याघ्र आदि विभाव रौद्र रस के स्थायिभाव 'क्रोध' तथा भयानक रस के स्थायिभाव 'भय' इन दोनों के हेतु हो सकते हैं अतः उन्हें देखकर रौद्र रस की उत्पत्ति होगी या भयानक रस की, इस प्रकार का संदेह उत्पन्न होना सहज संभव है। इस विघ्न का निराकरण करने के लिए ही आचार्य अभिनवगुप्त ने 'संशय' के साथ 'योग' शब्द का प्रयोग किया है। उसका आशय यह है कि विभाव और अनुभाव आदि पृथक्-पृथक् रूप से तो संशय के उत्पादक हो सकते हैं, किंतु अपनी सामग्री की समग्रता अथवा संयोगजन्य परिस्थिति में वे संशयजनक नहीं रहते।

रस-विघ्नों की स्थिति उभयविध है

काव्यास्वाद की प्रक्रिया के विवेचन-प्रसंग में जिन रस-विघ्नों को बाधास्वरूप सिद्ध किया गया है, उनके रस-दोषों के रूप में व्याख्यात होने का संकेत किया जा चुका है। कवि और काव्य की दृष्टि से उनकी सत्ता विषयगत है किंतु भावक अथवा सहृदय सामाजिक की दृष्टि से उन्हें विषयिगत कहा जा सकता है। यदि रस की स्थिति सत्वपूर्ण सहृदय की चेतना में मानी जाय तब तो उनका सम्बन्ध विषयिगत रूप से ही सिद्ध होता है। हमें उनकी सत्ता दोनों ही रूपों में स्वीकार्य प्रतीत होती है क्योंकि सहृदयजन जिस रसानुभूति का आस्वाद प्राप्त करते हैं वह मूलरूप में कवि-कृति के

माध्यम से ही उपलब्ध होता है। निश्चित है कि यदि कवि-कर्म में किसी प्रकार की अपूर्णता अथवा दोषोद्भावना होती है तो वह सहृदय की प्रतीति में भी दोष उत्पन्न कर देती है। काव्य-सृष्टि में अभिव्यक्ति और अनुभूति का समान महत्त्व है और उन दोनों में 'अविच्छेद्य' सम्बन्ध रहता है, अतः रस-विघ्नों की विवेचना अथवा काव्य-रस के आस्वादन की प्रक्रिया में बाधक बनने वाले उपकरणों का विश्लेषण करते समय कवि और भावक की उभयविध मनःस्थिति तथा रचना एवं विवेचना के अनुक्रम का समानुपातिक ध्यान रखना परम आवश्यक है।

रस-विघ्नों के निरास में ही रस-प्रतीति की प्रक्रिया सम्भव है

अभिनवगुप्त ने रस-प्रतीति के मार्ग में जिन सात विघ्नों का उल्लेख किया है, उनका निरास अथवा अभाव होने पर ही नाट्य अथवा काव्यरस का समग्रतः आस्वादन किया जा सकता है। वस्तुतः काव्य अथवा नाट्य में औचित्यपूर्ण विधि से प्रयुक्त विभावादि में ही ऐसी शक्ति होती है जो काव्य-रसिक के हृदय में विघ्नापसारणपूर्वक रसनाव्यापार की निष्पत्ति करा सके तथा उसे निर्विघ्न रस-प्रतीति हो सके। अभिनवगुप्त के शब्दों में विघ्नविहीन रस-प्रतीति की प्रक्रिया निम्नलिखित है—

'तत्र लोकव्यवहारे कार्यकारणसहचरात्मकलिंगदर्शनजस्थाय्यात्मपरचितवृत्यनुमानाभ्यासपाटवात् अधुना तैरेव उद्यानकटाक्षधृत्यादिभिः लौकिकीम् कारणत्वादिभुवमतिक्रान्तैः विभावन-अनुभावन-समुपरंजकत्वमात्रप्राणैः, अतएव अलौकिक विभावादि व्यपदेशभाग्भिः प्राच्य कारणादिरूप संस्कारोपजीव नाटव्यापनाय विभावादिनानामधेय व्यपदेश्यैः गुणप्रधानतात्पर्येण सामाजिकधियि सम्यक् योगं (संयोगं) सम्बन्धम् ऐकाग्रयं वा आसीदितवद्भिः, अलौकिक निर्विघ्न संवेदनात्मक चर्वणागोचरतां नीतोऽर्थः, चर्व्यमाणैकसारः न तु सिद्धस्वभावः, तात्कालिक एवं न तु चर्वणातिरिक्त कालावलम्बी, स्थायिविलक्षण एव रसः।'

अभिनवगुप्त के मत का स्पष्टीकरण

अभिनवगुप्त का रस-प्रतीति विषयक उपर्युक्त अभिमत अत्यंत तत्त्वपूर्ण और व्यावहारिक है। उन्होंने लोकव्यवहार का स्पष्टीकरण करते हुए बतलाया है कि इस संसार में प्रत्येक व्यक्ति कारण, कार्य तथा उनके अन्य सहचरों का दर्शन करता हुआ उनके लिंगों अथवा चिह्नों से अपनी तथा दूसरों की स्थायी चित्तवृत्तियों का अनुमान करता है, जिसके नित्यकृत अभ्यास से उसे लोकव्यवहारगत पटुता प्राप्त होती है। काव्य-पठन अथवा नाट्य-दर्शन के द्वारा वह प्रमदा-उद्यान आदि कारणों, कटाक्षादि कार्यों और धैर्यादि अर्थों में लौकिक व्यवहार का प्रत्यक्षीकरण-सा करता है जिसकी एक विशेषता यह है कि वह प्रत्यक्षीकरण काव्य अथवा नाट्य की भूमिका ग्रहण करते ही लौकिक कारणों तथा कार्यादि रूपों से भिन्न हो जाता है। यों तो काव्य में भी उनका कार्य क्रमशः विभावन, अनुभावन तथा समुपरंजन कराना होता है, किन्तु वे काव्यवर्णित विभाव, अनुभाव तथा संचारी भाव अलौकिकता की अन्वर्थक संज्ञाओं से निर्दिष्ट किये जाने

लगते हैं। वस्तुतः लौकिक कारणत्वादि की प्रतीति के स्थायी संस्कार विभावादि के आश्रय अथवा उपजीव्य बनकर लौकिक जीवन और काव्यपठन से उद्‌बुद्ध होने वाले कार्यकारणों में विभेद उत्पन्न कर देते हैं जिसकी अनुभूति अथवा भेदक-धर्म का बोध केवल काव्यानुशीलन के क्षणों में ही किया जा सकता है। आचार्य अभिनवगुप्त ने उस भेदक-धर्म को उपलक्षित कर काव्यास्वाद की प्रक्रिया के विवेचन-प्रसंग में काव्यवर्णित विभावादि को लौकिक संज्ञाओं से भिन्न दृष्टि में निरूपित किया है। उनका मत है कि गुणप्रधान तारतम्य के कारण काव्य-रसिक की प्रतीति में अलौकिक विभावों, अनुभावों तथा व्यभिचारी भावों का जो औचित्यपूर्ण सम्यक् योग होता है वह उसकी बुद्धि में प्रकाशित होकर उसे एक विशेष प्रकार की एकाग्रता अथवा निर्विघ्न संवेदना प्रदान करता है जिसकी चर्वणा का नाम 'रस' है। वह चर्वणा अथवा आस्वाद ही काव्य-रस का सारभूत धर्म है जिसमें चर्वणातिरिक्त कालावलम्बन न होकर 'तात्कालिकता' है तथा स्थायी भाव से विलक्षणता रहती है। आचार्य अभिनवगुप्त ने उसका परिज्ञान चर्व्यमाणतैकसार, तात्कालिक तथा स्थायिविलक्षण धर्मों आदि के माध्यम से कराया है।

रसास्वाद को निर्विघ्न बनाने के लिए कतिपय परामर्श

काव्य का आस्वादन कथनीय न होकर व्यंग्य होता है। वाचक शब्द में इस विषय की क्षमता नहीं होती कि वह रस अथवा भाव का द्योतन करा सके। अनेक स्थलों पर तो वाचक शब्द अपनी स्वशब्दवाच्यता के द्वारा रसास्वादन की क्रिया में विघ्न-सा उत्पन्न कर देता है। इसका कारण यह है कि काव्य का परम प्रतिपाद्य केवल तथ्यबोध अथवा अर्थग्रहण कराना ही नहीं होता, अपितु भावों की मूर्त स्थापना अथवा साक्षात्कारात्मक प्रतीति कराना भी होता है जो केवल व्यंजना-व्यापार द्वारा ही सम्भव है। आचार्यों ने बिम्ब-विधान को जिस रूप में काव्यगत महत्त्व प्रदान किया है उसका अभिप्राय यही है कि उसके द्वारा सहृदय भावकजनों को भावों की ऐसी सहजानुभूति होती है जिसके द्वारा वे काव्य की अखंड आस्वाद्यता का आनन्द प्राप्त कर लेते हैं। आचार्यों ने काव्य-कृतियों और सामान्यवार्ताओं का अन्तर उनकी इतिवृत्तात्मकता और व्यंग्यत्मकता को ही दृष्टिकोण में रखकर निर्धारित किया है। हाँ, यह बात अवश्य है कि कहीं-कहीं प्रबंध-काव्यों के विशिष्ट प्रसंगों पर इतिवृत्तात्मकता का चित्रण अनिवार्य-सा हो जाता है, किंतु ऐसे स्थलों पर भी कवि को कथानुबंध की सौष्ठवपूर्ण प्रविधि का ध्यान रखना पड़ता है। मुक्तक काव्यों में सामान्यतः ऐसी स्थिति नहीं आती। अभिप्राय यह है कि आचार्यों ने रस तथा उसकी निष्पत्ति के साधनभूत विभावानुभावादि की स्वशब्दवाच्यता को जिस रूप में काव्य के आनंदमय आस्वादन में बाधक माना है उसे विशेष प्रकार की परिसीमा में ही ग्रहण किया जाना चाहिए। वस्तुतः रसों की स्वशब्दवाच्यता सभी स्थलों पर रस-निष्पत्ति अथवा काव्यानंद की आस्वाद्यता में अवरोध उत्पन्न नहीं करती और जिन प्राचीन काव्यशास्त्रियों ने रसों तथा भावों की निष्पन्नता से सम्बद्ध उपकरणों में स्वशब्दवाच्यता के आधार पर उनकी विघ्नमयी स्थिति का निरूपण किया है, वह आज के संवर्द्धित ज्ञान-विज्ञान के आलोक में निरस्त किया जा

सकता है। रससिद्ध कवियों की कृतियों के अध्ययन से स्पष्ट है कि उनके वर्ण्य विषयों की भावव्यंजना एवं रस-व्यंजना में स्वशब्दवाचकता भी रहती है, किंतु उनकी अभिव्यक्ति के प्रबल प्रवाह के सम्मुख उसका अस्तित्व नहीं जम पाता। ऐसी स्थिति में हम न तो रसों की स्वशब्दवाच्यता के एकांत पक्ष में ही हैं और न उनके सर्वथैव निषेध की मान्यता में ही आस्था रखते हैं।

किसी भी प्रबंध-रचना को लोकोत्तर रमणीय एवं सहज आस्वाद्य बनाने के लिए आवश्यक है कि उसमें रसव्यंजना और भाव-योजना का निर्दुष्ट संचार किया जाय। प्रबंधकाव्यों के अनुशीलन से स्पष्ट है कि उनमें साधारणतया एक रस अंगी तथा अन्य रस उसके अंग-विशेष बनकर उपस्थित होते हैं। ऐसे काव्य-स्रष्टाओं का मूल प्रयोजन किसी रस-विशेष का पूर्ण परिपाक कराना होता है। एक रस की चरम परिणति के उपरांत जब कोई काव्यकार उसका पुनः पुनः अभिव्यंजन करता है तो उसकी अभिव्यक्ति में विरसता अथवा परिम्लानता-सी आ जाती है। आचार्य आनंदवर्धन ने इस प्रकार की पुनः पुनः रस-दीप्ति को 'परिम्लान-कुसुम' से उपमित कर उसे चमत्कारविहीन और अवसादजनक कहा है क्योंकि उसमें सहृदयजनों की चित्तविश्रांति की सामग्री नहीं रहती। यों तो कुछ कुशल कवियों ने एक ही रस की पुनः पुनः दीप्ति को भी नवीनता के परिवेश में आलोकित किया है, किंतु सभी परिस्थितियों में यह सम्भव नहीं है। काव्य की रमणीयता तो इसी बात में है कि वह एक मूलभाव को उसके विविध उपकरणों से संयुक्त कर उसे रस-कोटि पर्यन्त पहुँचा दे। उस कोटि पर पहुँचे हुए भावमाधुर्य का आस्वादन कर उसके प्रमाताओं का मानस परितृप्त हो जाता है और वे उसके आनन्द में तन्मय हो जाते हैं। प्रबंध काव्य की सुरम्य वनस्थली में यह क्रम एक ऐसी शृंखला से नियोजित रहता है कि उसको पुनः पुनः प्रदीप्त करने की कोई आवश्यकता नहीं रहती। उनकी पुनः पुनः दीप्ति की उपयोगिता अथवा अनुपयोगिता के विषय में आचार्यों में मत-वैविध्य होना सहज सम्भव है, किंतु अधिकांश विद्वानों की तो यही मान्यता रही है कि काव्य में रस-योजना की अभिसंधि करते समय उसे पिष्टपेषण की वृत्ति से दूर रहा जाय। काव्य-कलेवर के सुगठित संघटन और समुचित समायोजन की दृष्टि से इस तथ्य की ओर ध्यान देना आवश्यक है, अन्यथा काव्य-रस के आस्वादन की प्रक्रिया में अवरोध उत्पन्न हुए बिना न रहेगा। आचार्यों ने इस प्रकार की प्रवृत्ति को प्रबंधगत रसदोष की कोटि में परिगणित किया है और कवियों को परामर्श देते हुए लिखा है कि वे रस-परिपाक की कोटियों को सहज विधि में हृदयंगम करने का महत्त्व समझें और अपनी रचना को ऐसी न बनने दें जिससे सहृदय काव्य-रसिकों के मन में क्लांति अथवा म्लानता का संचरण हो जाय।

काव्यानंद के आस्वादन को अधिक से अधिक प्रीतीतिगम्य और विगलित वैद्यांतरस्पर्शशून्य बनाने के लिए आवश्यक हैं कि उसकी निष्पत्ति के आधारभूत अंगों का अभिनिवेश अत्यंत सजीवता और कलात्मकता के साथ किया जाय। वस्तुतः काव्य की वर्ण्य विषय-सामग्री अपने प्रस्तुत एवं अप्रस्तुत विधान में जितनी अधिक जीवन्त और मूर्तिमयी बनकर उपस्थित होती है, उतनी अधिक वह काव्यानंद की उपलब्धि की

उपजीव्य-निधि बन सकती है। जिस कवि की कृति का आस्वादन करते समय उसके भावों का सहज चित्र अपनी नैसर्गिक प्रवृत्ति में हमारे मनोमुकुर पर अंकित नहीं होता वह अपनी रचना में महान् नहीं कहा जा सकता। कवि का कर्तव्य है कि वह अपनी वर्ण्य-योजना को ऐसी दुरूह और क्लिष्ट न बना दे कि उसका बिम्ब-विधान ही न हो सके और उसके ग्रहीता को कष्ट-कल्पना करनी पड़े। इसमें कोई संदेह नहीं कि काव्य में पांडित्य-प्रदर्शन के भी अवसर होते हैं, किंतु वे उसके प्रकृति उपकरण नहीं हैं। वैदग्ध्य-भंगीभणिति अथवा ऊहात्मक चमत्कृति के अवकाश में वे भले ही महिमामंडित कहे जा सकें, किंतु काव्य-सरिता के सहज प्रवाह के मार्ग में वे दुर्ग्राह्य ही होते हैं। आचार्यों ने अनेक प्रसंगों में उन्हें क्लिष्टत्व दोष की अभिधा से लांछित भी किया है। वस्तुतः उनमें काव्य की रसमयी गुण-गरिमा और निष्कपट अभिव्यंजना का अभाव रहता है। उनकी उपयोगिता काव्य-कौतुक की द्राविड़ी प्राणायाम-क्रिया की भाँति ही होती है जिसमें कवि कहीं तो सूर्य-बिम्ब को रक्तमुख वानर से उपमित कर प्रातःकालीन सुषमा को नुमायशी रंग प्रदान करता है तो कहीं दृष्टिकूटों, प्रहेलिकाओं और समस्यापूर्तियों के संभार में ही अपना बुद्धि-कौशल नियोजित कर देता है। ऐसे काव्यों की प्रशंसा करने वाले भावक भी मिल जाते हैं। किंतु उन्हें एक विशिष्ट वर्ग पर्यन्त ही सीमित किया जा सकता है। व्यापक दृष्टि से ऐसी कृतियों में लोकानुरंजन और मनःप्रसादन की अभीष्ट सामग्री की न्यूनता ही परिलक्षित होती है जिसे लोकसामान्य की भावभूमि पर ग्रहण करने में शंकास्पद होने के अनेक अवसर विद्यमान हैं। सारांश यह है कि काव्यानंद की अनुभूति में विभावादि की कष्ट-कल्पना अथवा भाषा-चमत्कार के कुतूहलजनक प्रयोग एक सीमा तक ही ग्राह्य हैं जिसका विवेक-सम्मत अभिज्ञान काव्य-स्रष्टा अथवा काव्य-भावक को अवश्यमेव होना चाहिए।

रस-विघ्नों के स्वरूप और उनके निवारण के कतिपय उपायों का विमर्श करने के प्रसंग में इस बात का उल्लेख करना आवश्यक है कि भारतीय काव्यशास्त्र में उनकी विवेचना विशुद्ध साहित्यिक दृष्टि से की गई है। आज के युग-जीवन की संकुलता ने मानव-मन की ग्रन्थियों में जो जटिलताएँ और विसंगतियाँ उत्पन्न कर दी हैं, वे कदाचित् रस-विघ्नों के सामान्य रूपों से कहीं अधिक आगे हैं; किंतु काव्य-साहित्य को रागात्मिका वृत्ति के परिपार्श्व में निरूपित करते समय पूर्व-विवेचित रस-विघ्नों की स्थिति और उनके निराकरण के उपायों को भली-भाँति समझ लिया जाय तो काव्य के आनंदबोध की प्रतीति के मार्ग में उपस्थित होने वाले अनेक प्रकार के रस-विघ्नों को निराकृत किया जा सकता है।

(२) रसाभास का रहस्य

काव्यास्वाद का प्रश्न अत्यंत गम्भीर और जटिल है। उसके निरूपण का तत्त्वतः एक सुदृढ़ मनोवैज्ञानिक आधार तो है ही, क्योंकि काव्य-सर्जना और काव्यास्वादन का मूल संबंध हमारे मानसिक व्यापार अथवा मनोमय कोष से है, तथापि हमारे

जीवन के ऐसे अनेक व्यावहारिक स्रोत भी हैं जिनके आलोक में भी इस प्रश्न का विश्लेषण किया जाना नितांत आवश्यक है। हमारा जीवन केवल व्यष्टिगत क्षेत्र की सीमित परिधि में ही आबद्ध न होकर समष्टिगत प्रसार में भी अन्तर्व्याप्त है अतः उसके भी ऐसे अनेक रूप हैं जिनका समायोजन काव्यास्वाद की प्रक्रिया में प्रत्यक्ष एवं परोक्ष विधि में ही हो जाता है। मनुष्य ने अपने सांस्कृतिक संचरण में ऐसी अनेक भावभूमियों को जीवनगत गुरुता प्रदान की है जिनकी सम्पूर्ति उसके मानसिक आह्लाद का आधार बनती चली आयी है। फ्रायड आदि आधुनिक मनोवैज्ञानिकों की सम्मति में अंतर्मन का विस्तार और परिमाण सामाजिक मन की अपेक्षा चाहे कितना ही अधिक हो, किंतु मनुष्य की सामाजिकता उसके जीवन का एक ऐसा महत्त्वपूर्ण अंग है जिसकी उपेक्षा करना किसी भी दशा में सहज सम्भव नहीं है। यही कारण है कि जीवन के अन्य पक्षों की भाँति काव्यास्वाद की प्रक्रिया में भी उसका विमर्श करना हमारे लिए परम आवश्यक हो जाता है। काव्य-सर्जना और काव्यास्वाद मूलतः व्यक्तिपरक अथवा विषयिप्रधान कार्य होते हुए भी अपनी सांस्कृतिक और सामाजिक गुरुता रखते हैं। जब हम काव्य में अपनी भावनाओं की सरसतापूर्ण उदात्त अभिव्यक्ति पाते हैं तो भला उसका नैतिक पक्ष किस प्रकार गौण समझा जा सकता है ? आज का नूतन मनोविश्लेषण शास्त्र काम-वासना एवं हीन-भावना की पूर्ति के साधन-रूप में काव्य को भले ही विवेचित करे, किंतु हमें तो उसमें आत्म-प्रसारण का ऐसा सात्विक स्वरूप प्रतीत होता है जिसका उद्देश्य मनुष्य को उसकी विशुद्ध चेतना का संबोध कराना है। यही कारण है कि काव्य का एक प्रयोजन हमारा भाव-मोक्ष है और उसके साथ हमारे सामाजिक और नैतिक जीवन के ऐसे अनेक पृष्ठ जुड़े हुए हैं जिनकी अवमानना किसी भी स्थिति में समीचीन नहीं है। हमारे काव्य-मनीषियों को इस तथ्य का निरूढ़ रहस्य विदित था और उन्होंने उक्त तथ्य को दृष्टिगत करते हुए काव्यानन्द की प्रक्रिया विवेचित की थी। यही कारण है कि काव्यास्वाद की निर्विघ्न उपभुक्ति में उन्होंने नैतिकता के दृष्टिकोण को कदापि विस्मृत नहीं किया और जहाँ कहीं उन्हें इस विषय में न्यूनता प्रदर्शित हुई, उन्होंने उसे पूर्ण रस की उदात्त श्रेणी से निम्नता प्रदान कर उसे रसाभास या आनन्द की कुछ हीन कोटि में ही अधिष्ठित करना युक्तिसंगत समझा।

रसाभास काव्यास्वाद की हीन कोटि है

रसाभास काव्य के आस्वादन का वह रूप है जो काव्य के आलम्बन आदि विभावों में दोष अथवा विघ्नादि की उपस्थिति में प्रादुर्भूत होता है। यद्यपि भरतमुनि ने उसका स्पष्ट उल्लेख नहीं किया है, किंतु परवर्ती आचार्यों ने उसकी विवेचना में विशेष अभिरुचि प्रदर्शित की है। उन आलंकारिकों की बात तो अलग है जिन्होंने अलंकारों की समता में 'रस' को भी गौणता प्रदान की, फिर भला रसाभास आदि की तो क्या महत्ता होती, किंतु ऐसे आचार्य भी कम नहीं रहे जिन्होंने रस को काव्य का सर्वस्व कहकर उसके विभिन्न व्यावहारिक रूप-भेदों का निरूपण किया है। उनके विवेचन से यही निष्कर्ष निकलता है कि जिस प्रकार काव्य की तात्त्विक दृष्टि से पूर्ण और अखण्ड सत्ता होने पर

भी उसकी रचना-शैली, अनुबंध-विधि तथा वस्तुयोजना आदि के आधार पर उसके भिन्न-भिन्न प्रयोगगत रूप निरूपित किये जाते हैं, उसी प्रकार रस की भी अखंड सत्ता होने पर उसके भिन्न-भिन्न स्तरीय व्यावहारिक रूप भी आभासित होते हैं। इस विषय को इस दृष्टांत से और अधिक बोधगम्य बनाया जा सकता है कि जिस प्रकार मानव और उसकी मानवता अपने में स्वतः पूर्ण और निरपेक्ष गुणों का संभार है, किंतु मानव की संज्ञा से अभिहित प्राणियों में भी देश-काल और जाति-संस्कार आदि के प्रभाव से विभिन्नता और विविधता पायी जाती है, उसी प्रकार रस की सत्ता भी तत्त्वदृष्टि से अभेदमयी होने पर भी आस्वाद की गुण-प्रक्रिया से भिन्न-भिन्न रूपों में आभासित होती है, यद्यपि उसकी मूल चेतना का ज्योतिर्मय रूप भेद-दृष्टि से विनिर्मुक्त है। ऐसी स्थिति में हमारे लिए यह आवश्यक हो जाता है कि हम रस के अवांतर अर्थ-भेदों से भी परिचय प्राप्त कर उनकी प्रक्रिया से अवगत हो जायँ क्योंकि ऐसा किये बिना काव्यास्वाद का गम्भीर एवं जटिल विषय पूर्ण सुबोध नहीं बनाया जा सकता।

रसाभास का अर्थ और उसके विविध पक्ष

रसाभास का सामान्य अर्थ है किसी काव्यकृति द्वारा निर्विघ्न रसोपलब्धि न होकर उसका आभासमात्र होना। आभास शब्द प्रतिबिम्ब आदि के समान अवास्तव स्वरूप का वाचक है जिसे 'शुक्तौ रूप्याभासवत्' अर्थात् सीपी में रजत के आभास के समान दृष्टांत से स्पष्ट किया जा सकता है। संस्कृत के काव्यशास्त्रियों ने रसाभास का जो कुछ विवेचन किया है उससे स्पष्ट है कि काव्यास्वाद की प्रक्रिया में अनौचित्यबंध का प्रवेश होने से रसाभास होता है। यह अनौचित्य विभाव-पक्ष का भी हो सकता है और भाव-पक्ष का भी। अभिनवगुप्त[1] ने अनौचित्य के साथ प्रवृत्त स्थायी भाव के आस्वाद को रसाभास माना है तो मम्मट[2] ने रस तथा भाव के अनुचित प्रवर्तन को। जगन्नाथ के शब्दों में 'अनुचित विभावालम्बनत्वं रसाभासत्वम्' है। इन विचारों में अधिक मान्य मत हमें अभिनवगुप्त का ही प्रतीत होता है क्योंकि काव्यास्वाद की प्रक्रिया का प्रधान सम्बन्ध सहृदय भावक से है, अतः विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भावों में रसाभास की स्थिति मानने पर भी उसका मूल सम्बन्ध स्थायी भाव ही से जोड़ना पड़ता है।

रसाभासत्व का सामान्य लक्षण आलम्बनविभाव का अनौचित्य है। वह अनौचित्य लोक-व्यवहार से निर्धारित किया जाता है। इस लक्षण के अनुसार मुनिपत्नी और गुरुपत्नी आदि के विषय में इतर व्यक्तियों का रतिभाव अनौचित्यपूर्ण है। विभाव का यह अनौचित्य किसी नायिका की बहुनायक-विषयक रति अथवा नायक-नायिका की अनुभयनिष्ठा में संग्रह नहीं होता, क्योंकि वहाँ विभाव का अनौचित्य नहीं है, ऐसा

१. औचित्येन प्रवृतौ चित्तवृत्तेरास्वाद्यत्वे स्थायिन्या रसो, व्यभिचारिण्या भावः अनौचित्येन तदाभासः (ध्वन्यालोकलोचन)।

२. 'तदाभासा अनौचित्यप्रवर्त्तिता' (काव्यप्रकाश)।

कुछ विद्वानों का मत है।[1] इन द्विविध मतों में समन्वय लाने की चेष्टा करने वाले कतिपय विद्वानों का कहना है कि रसाभासत्व के लक्षण में 'अनुचित' विशेषण का संयोजन केवल विभाव आदि में ही न किया जाकर रति आदि स्थायी भावों में भी करना चाहिए जिसके अनुसार रसाभास का लक्षण यह होगा कि उसके रति आदि स्थायी भाव अनुचित रूप से प्रवृत्त होते हैं। इस लक्षण के अनुसार न केवल मुनिपत्नी अथवा गुरुपत्नीविषयक रति ही अनुचित मानी जायगी अपितु उसमें उन रतियों का भी समाहार हो जायगा जो बहुनायकनिष्ठ अथवा अनुभयनिष्ठ होने के कारण अनुचित कही जा सकती हैं। वस्तुतः अनुचित्तप्रवृत्त-रति अथवा अन्य कोई भी स्थायिभाव रसाभासत्व का कारण बन सकता है, यही इस मंतव्य का मूल अभिप्राय है।

रसाभास और भावाभास का अन्तर

कुछ विद्वानों ने रसाभास को रस से उसी प्रकार भिन्न माना है जिस प्रकार भावाभास भाव से अथवा नैयायिकों का हेत्वाभास हेतुत्व से भिन्न होता है। उसके अनुसार रसाभास तथा रस एवं भावाभास तथा भाव में समानाधिकरण (एक स्थान पर रहने वाला) धर्म नहीं है क्योंकि रस तथा भाव में किसी प्रकार का अनौचित्य अथवा पंकिलत्व नहीं होता जबकि रसाभास और भावाभास का आधार ही अनौचित्य है। इसके विपरीत कुछ विद्वानों का मत है कि रस अथवा रति आदि स्थायिभावों में दोष आ जाने से उनके स्वरूप का नाश नहीं हो सकता क्योंकि जैसे निर्दुष्ट स्थायिभाव रस होते हैं उसी प्रकार सदोष स्थायिभाव भी रस हो सकते हैं। उनमें समाहित दोष को संसूचित करने के लिए ही उन्हें रस न कहकर रसाभास कहा जाता है। यह कथन वैसा ही है जैसे किसी दोषयुक्त अश्व को अश्व न कहकर 'अश्वाभास' कहना। तत्त्वतः किसी भी स्थिति में उसका 'अश्वत्व' नष्ट नहीं हो सकता। ठीक यही स्थिति रस और रसाभास की भी है। पूर्वोक्त अनुच्छेद में तीन प्रकार के अनौचित्य का जो उल्लेख हुआ है उनके अनुसार रसाभास भी तीन प्रकार का हो सकता है—रति के अनुचित विभावकत्व के कारण उत्पन्न, एक नायिका की बहुनायक-विषयक रति के कारण समुद्भूत तथा नायक-नायिका में से केवल एक ही का रति-भाव होने के कारण उसकी अनुभयनिष्ठा से समुत्पन्न। प्रथम प्रकार के रसाभास के उदाहरण में ऐसे व्यक्ति को उपस्थित किया जा सकता है जो रूप, कुल और शील से विहीन होते हुए भी किसी राजांगना या शीलवती के साथ अपना प्रणय व्यक्त करे। अपनी रति की सम्पूर्ति के लिए उसकी चेष्टाएँ उसकी दुःशीलता के कारण सहृदयजनों के हृदय में रसाभासमात्र उत्पन्न कर सकती हैं। वस्तुतः उनमें न तो लोकसंगत न्यायभावना होती है और न शास्त्रविहित नियमानुसरण ही। किसी पुंश्चली का चरित्र-वर्णन अपनी बहुविषयता के कारण रसाभास का ही अभिव्यंजन करता है। आचार्यों ने अनुत्पन्नप्रणया नायिका के प्रति

१. रसाभास के तीनों प्रकारों की प्रामाणिकता निम्नलिखित प्राचीन कारिका से भी सिद्ध होती है—
उपनायकसंस्थायां, मुनिगुरुपत्नीगतायां च।
बहुनायकविषयायां, रतौ तथानुभयनिष्ठायाम्॥

नायक की रति-चेष्टाओं के वर्णन में भी रसाभास माना है। लक्ष्य-ग्रंथों और लक्षण-ग्रंथों में उक्त तीनों प्रकारों के रसाभासों के प्रचुर प्रमाण विद्यमान हैं। पूर्वोक्त अनुच्छेद में मुनिपत्नी और गुरुपत्नी विषयक जिस आलम्बन-विभाव का अनौचित्य प्रदर्शित किया गया है उसे उपलक्षणमात्र ही समझना चाहिए क्योंकि इन पदों से राजा और शिष्य आदि का भी ग्रहण होता है। रसाभास के इस प्रसंग में द्रौपदी की पांच पांडवों विषयक रति का उल्लेख अत्यन्त आवश्यक है। साहित्यशास्त्रियों के सम्मुख यह एक अत्यन्त विचारणीय विषय रहा है कि द्रौपदी की बहुनायक-विषयक रति को रसाभासपरक माना जाय अथवा रसपरक। प्राचीन आलंकारिकों की मान्यता है कि विधिवत् पाणिग्रहण होने के कारण द्रौपदी का पांडवों के प्रति प्रणयभाव शुद्ध रस का निष्पादक है जबकि नवीन आचार्यों ने उसमें रसाभास माना है। उस प्रणय में शुद्ध रस का रूप मानने वाले आचार्यों का कथन है कि वह प्रणय महाभारत जैसे युग-ऐतिहासिक और धार्मिक ग्रंथ से सुसम्मत होने के कारण रसाभास के साथ संलग्न नहीं किया जा सकता जबकि अन्य आचार्य एक नायिका की अनेक नायकों के प्रति रतिभावना को सभी दृष्टियों से लोकनिंदित और शास्त्रविरुद्ध मानते हैं। ऐसी स्थिति में द्रौपदी के प्रणयभाव से निष्पन्न रस को विशुद्ध रस समझा जाय अथवा रसाभासमात्र, यह पृथक्-पृथक् जीवन-दृष्टियों पर निर्भर है।

रसाभास के प्रकार

जिस प्रकार शृंगार रस के दो प्रभेद सम्भोग और विप्रलम्भ होते हैं उसी प्रकार शृंगार-रसाभास के भी संभोग और विप्रलम्भ नामक दो प्रकार होते हैं। संभोगात्मक शृंगाराभास का उदाहरण अनुत्पन्नप्रणया नायिका के प्रति नायक का रतिप्रकाशन है तो विप्रलम्भाभास का उदाहरण वैदेही के विरह में व्याकुल बने हुए रावण की दशा का चित्रण। वस्तुत: सीता के प्रति रावण का विरहजन्य प्रेम-निदर्शन न केवल अनुभयनिष्ठ ही है अपितु वह अनौचित्यपूर्ण भी है, क्योंकि सीता भगवान् श्रीराम की पत्नी होने के कारण रावण का रतिविषयक आलम्बन नहीं बन सकती। शृंगार रस की भाँति अन्य रसों का भी रसाभास होता है। उदाहरणार्थ कलहशील कुपुत्र तथा वीतरागपुरुष-विषयक शोक करुणरसाभास का, ब्रह्मविद्या के अनधिकारी चाण्डाल आदि के आश्रय से वर्णित निर्वेद शांतरसाभास का, दीन अथवा कायर के आश्रय किंवा पिता आदि के विषय में वर्णित क्रोध और उत्साह भाव क्रमशः रौद्ररसाभास तथा वीररसाभास का, ऐन्द्रजालिक आदि के विषय में वर्णित विस्मय अद्भुतरसाभास का, गुर्वादि पूज्यजनों के आश्रय में वर्णित हास हास्यरसाभास का, महावीरगत भय भयानक रसाभास का और यज्ञीय पशु के मज्जा, शोणित और मांस आदि के विषय में वर्णित जुगुप्सा भाव वीभत्सरसाभास का उदाहरण है। इन रसाभासों की भाँति हर्षादि भावों का भी भावाभास होता है यदि वे भाव अनुचित आलम्बन अथवा अनुचित आश्रय में वर्णित किये जाएं।[1]

---

१. पंडितराज जगन्नाथ, रसगंगाधर, प्रथमाननम्, चौखम्बा प्रकाशन, पृ० ३४।

कुछ महत्त्वपूर्ण तथ्य तथा निष्कर्ष

प्राय: सभी भारतीय आचार्यों ने अनौचित्य की प्रतीति में ही रसाभास की निष्पत्ति मानी है। इसके विवेचन-क्षेत्र में आचार्य अभिनवगुप्त, मम्मट, विश्वनाथ, पंडितराज, शिंगभूपाल, शारदातनय, उद्भट, रुय्यक, दण्डी और क्षेमेन्द्र आदि विचारकों का योगदान विशेष महत्त्वपूर्ण है। यद्यपि उनकी विवेचना के दृष्टि-बिन्दुओं में भिन्नता अवश्य है, किंतु मौलिक तत्त्व में यथेष्ट साम्य है। शिंगभूपाल ने रसार्णव-सुधाकर में 'अंगनांगी रस: स्वेच्छावृत्ति वर्धित सम्पदा' द्वारा यह मान्यता प्रतिष्ठित की है कि जहाँ अंगी रस से अंग-रस को स्वेच्छापूर्वक अधिक संवर्द्धन प्रदान किया जाता है वहाँ रसाभास होता है। उनके मतानुसार अंगीरस की स्थिति स्वामीवत् है तथा अंग रस की स्थिति अमात्यवत्। जिस प्रकार अमात्य का स्वामी के समान आचरण करना अनुचित और लोक-मर्यादा के प्रतिकूल है और स्वामी को उसका अनुगामी बना देना सौष्ठवपूर्ण नहीं है, उसी प्रकार अंगीरस को अंगरस की तुलना में हीनत्व प्रदान करना भी शोभनीय नहीं कहा जा सकता। इस प्रकार के चित्रण से रस की पूर्ण निष्पत्ति में बाधा आती है जिसके कारण सहृदयों के चित्त में रसाभासमात्र होकर रह जाता है। शिंगभूपाल के शब्दों में यह रसाभास 'अमात्येना विनीतेन स्वामीवाभासतां व्रजेत्' से उपमित हुआ है।

शारदातनय ने भी अंगीरस की अप्रधानता को रसाभास का कारण निर्धारित किया है और उसकी स्थिति विरोधी रसों के संयोजन एवं आश्रयगत जाति-धर्म के विपरीत भावों के प्रदर्शन में मानी है। अपने कथन का स्पष्टीकरण करने के लिए उन्होंने अंकशास्त्र का आधार लिया है और लिखा है कि जहाँ प्रधान रस की तुलना में गौण रस का रूप उससे द्विगुणित हो जाता है वहाँ रसाभास होता है। विरोधी रसों के संयोजन द्वारा किस प्रकार रसाभास होता है—इसका उल्लेख उन्होंने विविध रसों के उदाहरण-पुरस्सर किया है। उनके अनुसार हास्य से अभिभूत श्रृंगार द्वारा श्रृंगार रस का आभास मात्र होकर रह जाता है तो हास्य और बीभत्स का सम्मिश्रण हास्य का आभास ही दे पाता है। इसी प्रकार वीर और भयानक का सम्मिश्रण वीर रस का, बीभत्स और करुण का सम्मिलिन अद्भुत रस का, अद्भुत और श्रृंगार का संयोजन बीभत्स रस का, शोक और भय का सम्मिश्रण रौद्र रस का एवं वीर और रौद्र का संयोग भयानक रस का आभास-मात्र कराके ही रह जाते हैं। इस प्रकार के सम्मिश्रण में अनौचित्य की न्यूनाधिक मात्रा रहने से पूर्ण रस की निष्पत्ति बाधित हो जाती है जो रसाभास के कारण अधिक आनंद नहीं दे पाती।[1] आश्रय के जातीय धर्म के प्रतिकूल भावों द्वारा रसाभास की सिद्धि के लिए भी उन्होंने अनेक उदाहरण दिये हैं जैसे स्त्री-समाज के सम्मुख किसी पुरुष का वीरता-प्रदर्शन अथवा युद्ध के भय से किसी वीर का पलायन आदि। शारदातनयकृत रसाभास के इस विवेचन से यह तथ्य उद्घाटित होता है कि काव्य के

१. शारदातनय, भाव प्रकाशनम्, पृ० ११३।

आस्वाद का सुख भी पानक-रस के समान ही है जिसकी उपलब्धि के लिए कवि को ऐसा शब्दरसायन प्रस्तुत करना पड़ता है जिसमें किसी भी प्रकार का अनुचित सामंजस्य न हो तथा जो सहृदय की भावनाओं में पूर्ण स्वारस्य का संचार कर सके। अपने इस महान् कार्य की सिद्धि के लिए कवि को कितनी अधिक साधना करनी पड़ती है, उसका विवेचन करने की यहाँ कोई आवश्यकता नहीं है। वस्तुतः काव्यकार की स्थिति अश्विनीकुमारों की क्षमता से किसी भी रूप में कम नहीं है, क्योंकि वह भी अपनी प्रतिभा से अमृतोपम रस-निष्पंदित कर जरामरण के भय से विमुक्त हो जाता है और काव्यास्वादयिताओं के लिए भी आनन्द-प्राप्ति का अनंत और अक्षय साधन जुटा देता है। उसके कार्य में जहाँ कहीं भी किसी भी प्रकार की न्यूनता अथवा आस्वादन-क्रिया में बाधा आ जाती है तो रस-चर्वणा में व्यवधान उपस्थित होने से पूर्ण रस से कुछ निम्न कोटि का आनंद मिलता है जो रसाभास कहा जाता है।

रसों का पारस्परिक विरोधाविरोध

विरोधाविरोध का अभिप्राय

रस-प्रतीति के बाधक तत्त्वों के संदर्भ में रसों के पारस्परिक सम्बन्ध तथा उनके विरोध, अविरोध एवं विरोध-परिहार का भी विवेचन करना अत्यन्त आवश्यक है। उस विश्लेषण का महत्त्व इसलिए भी है कि उसके द्वारा रस-प्रतीति से सम्बद्ध अनेक प्रकार की समस्याओं के रूप तथा तद्विषयक समाधानों का पथ प्रशस्त होता है। इस विषय में आचार्य भरतमुनि से लेकर आचार्य रुद्रट तक किसी ने भी विशद विवेचना तो नहीं की, किन्तु इतना अनुमान अवश्य होता है कि उनका ध्यान इस महत्त्वपूर्ण प्रसंग की ओर आकृष्ट अवश्य हुआ था। आचार्य आनन्दवर्धन ने ध्वन्यालोक के तृतीय उद्योत में इस प्रश्न को उठाया था और विरोधी रसों से सम्बद्ध विभाव आदि के परिग्रहण में रस के विरोधी तत्त्व का संकेत किया था। उनका यह विवेचन मुख्यतः रसभंग के विषय से ही प्रत्यक्षतः सम्बन्धित रहा, यद्यपि उसमें रसों के विरोधाविरोध का विश्लेषण भी परोक्ष रूप में व्याख्यात हो गया। इस विषय में आनन्दवर्धन के अतिरिक्त आचार्य मम्मट, विश्वनाथ तथा पंडितराज जगन्नाथ के विचार उल्लेखनीय हैं जिन्होंने रस-विरोध का विवेचन रस-दोष-प्रसंग के अन्तर्गत करते हुए इस बात का स्पष्टीकरण किया है कि रस-विरोध के आधार कौन-कौन से हैं और उसका परिहार किन-किन उपायों से किया जा सकता है।

रसों के पारस्परिक विरोधाविरोध का विवेचन इस दृष्टि से भी अत्यन्त रुचिकर और महत्त्वपूर्ण है कि उसके साथ आधुनिक मनोविज्ञान में विवेचित भाव-संवेगों की संगति सहज रूप में स्थापित की जा सकती है। यद्यपि भरतमुनि ने अपने नाट्यशास्त्र में इस विषय का अपेक्षित विवेचन नहीं किया है तथापि उनका ध्यान इस ओर अवश्य ही आकर्षित हुआ था, ऐसा अनुमान करना निराधार नहीं है। उपलब्ध शोध-सामग्री के

अनुसार ध्वन्यालोककार आनन्दवर्धन ही सर्वप्रथम व्यक्ति हैं जिन्होंने 'विरोधिरस सम्बन्धि-विभावादिपरिग्रह' अर्थात् विरोधी रसों से सम्बद्ध विभाव आदि के ग्रहण का सामान्य संकेत करते हुए शांत, रौद्र तथा करुण रस को शृंगार-विरोधी रस के रूप में निरूपित किया है। उनके अनुसार रसों के परस्पर विरोध का आधार आलम्बन-ऐक्य, आश्रय-ऐक्य तथा नैरन्तर्य है। ध्वन्यालोक के परवर्ती ग्रंथों में रस-विरोध का विवेचन व्यापक भूमिका में किया गया है। अपने शोध-प्रबंध की परिसीमा के कारण हम यहाँ उसका सामान्य उल्लेखमात्र ही करेंगे क्योंकि हमारी अनुसंधानयात्रा का यह एक लघुतर विश्रांति-स्थल है।

विरोधाविरोध के रूप तथा उनका परिहार

रसों के पारस्परिक विरोध और अविरोध का विषय अत्यन्त रुचिप्रद है। विरोध से उनका बाध्यबाधक-भाव व्यक्त होता है तथा अविरोध से उपकार्योपकारभाव। आचार्यों ने वीर और शृंगार में, शृंगार और हास्य में, वीर और अद्भुत में, वीर और रौद्र में, शृंगार और करुण में, वीर और भयानक में, शांत और रौद्र में तथा शांत और शृंगार में परस्पर विरोध माना है। किसी भी काव्यबंध में अभीष्ट रस के परिपाक के लिए आवश्यक है कि उसमें परस्पर विरोधी रसांगों का वर्णन न हो, क्योंकि विरुद्ध रसांगों के निबंधन से प्रकृत रस की अभिव्यक्ति में बाधा उपस्थित होती है। आचार्यों ने प्रकृत रस और विरोधी रसों के समबलत्व में सुन्दोपसुन्द-न्याय से दोनों की पारस्परिक उपहति मानी है जिसका अभिप्राय यह है कि जिस प्रकार सुन्द और उपसुन्द नामक दो सहोदर दैत्य एक साथ ताड़का में आसक्त होकर एक-दूसरे के विरोधी बन गये और अपनी तुल्यबलता के कारण परस्पर विनाश के कारण बने, उसी प्रकार एक ही काव्य में अभिव्यक्त दो विरोधी रस समान बलत्व में एक-दूसरे के घातक बनकर परस्पर विनाश के कारण बन जाते हैं। आचार्यों का मत है कि यदि दो विरोधी रसों का एकत्र समावेश करना आवश्यक ही हो जाय तो उनके विरोध-परिहार का विधान करना चाहिए। रसों का विरोध दो प्रकार का होता है—स्थिति-विरोध और ज्ञान-विरोध। स्थिति-विरोध का अर्थ है किसी एक अधिकरण में दोनों रसों का न रह सकना तथा ज्ञान-विरोध का तात्पर्य है एक रस के ज्ञान से दूसरे रस के ज्ञान का बाधित होना। स्थिति-विरोध का परिहार उस स्थिति में हो जाता है जब विरुद्ध रस को भिन्न अधिकरण में स्थापित कर दिया जाता है। जैसे किसी प्रबंध-काव्य ने नायक में वीररस का वर्णन करना हो तो प्रतिनायक में भयानक रस का वर्णन कर दिया जाय जिससे वे विरोधी रस निराकृत होकर काव्य-दोष के हेतु नहीं बन सकें। यहाँ यह बात ध्यान में रखने योग्य है कि इस प्रसंग में प्रयुक्त 'रस' शब्द का अर्थ उसके उपाधिस्वरूप स्थायिभावों के रूप में ही ग्रहण करना चाहिए क्योंकि रस तो सामाजिकों या काव्य-पाठकों में रहता है, न कि नायक आदि में। दूसरी बात यह भी है कि रस अद्वितीय आनन्दमय है जिसकी वेद्यान्तरस्पर्शशून्यता और सच्चिदानंदरूपता के कारण उनमें पारस्परिक विरोध की संभावना की ही नहीं जा सकती। काव्य-साहित्य में ऐसे अनेक

उदाहरण मिलते हैं जहाँ रस-संबद्ध स्थिति-विरोध के परिहार के सद्प्रयत्न कवियों द्वारा किये गये हैं।

दो रसों के ज्ञान-विरोध की निवृत्ति उस समय हो जाती है जब उन दोनों के अन्तराल में अवस्थित किसी-संधिकर्ता की भाँति कोई अन्य अविरोधी रस स्थापित कर दिया जाय। इसके उदाहरणस्वरूप पंडितराज जगन्नाथ द्वारा उल्लिखित वह आख्यायिका प्रस्तुत की जा सकती है जिसमें कण्वाश्रम में स्थित महर्षि श्वेतकेतु के शांत-रस प्रधान वर्णन के विद्यमान रहने पर उसका श्रृंगाररस से विरोध दूर करने के लिए अद्भुत रस को मध्य में रखा गया है जिसमें वरर्वाणनी नामक नायिका के प्रति प्रेम का वर्णन हुआ है। उस प्रसंग में शांत और श्रृंगार नामक दो विरोधी रसों के मध्य अद्भुत रस की स्थापना अत्यन्त अनुकूल स्थिति में हुई है जिससे उनकी विरोध-निवृत्ति तो हुई ही है, साथ ही साथ उन दोनों के नैरन्तर्यभाव के ज्ञान से उत्पन्न उनके विरोध का मूल भी नष्ट हो गया है।

कवियों ने अपने काव्य-प्रबंधों में रस-विरोध के निराकरण के लिए अनेक प्रकार के उपायों का आधार लिया है। उदाहरणार्थ यदि कोई कवि सद्यः समरोत्सृष्ट-शरीर-धारी वीरों के चरित्र का वर्णन करते हुए यह लिखे कि वे वीर जब देवांगनाओं से आलिंगित होकर विमानों में बैठे हुए आकाशमार्ग से स्वर्गलोक में जाते हैं तो रणभूमि में पड़े हुए और श्रृगालियों से घिरे हुए अपने शवों को सोत्साह देखते हैं[1] तो इस वर्णन द्वारा देवांगनाओं को आलम्बन मानकर श्रृंगार-रस और वीरों के मृतक शरीरों को आलम्बन मानकर बीभत्स रस की प्रतीति होती है जो परस्पर-विरोधी रस हैं किंतु उन दोनों के मध्य उनके अविरोधी वीररस का सन्निवेश कर दिया गया है जिससे रस-विरोध का निवारण हो गया है। यहाँ यह बात उल्लेखनीय है कि यद्यपि उक्त वर्णन में वीररस-व्यंजक शब्द नहीं आये हैं तथापि स्वर्ग-लाभ की बात से उसका आक्षेप हो जाता है। यह वर्णन श्रृंगार रस की चर्वणा के पश्चात् वीर रस की चर्वणा कराता है और तदुपरांत बीभत्स रस प्रस्फुटित होता है, अतः श्रृंगार और बीभत्स के मध्य निविष्ट वीररस परस्पर-विरोधी रसों के आस्वादन के मध्य अपना आस्वादन करा देता है जिससे रस-चर्वणा की बाधा निराकृत हो जाती है। इस प्रकार की क्रिया से जब संधिकर्ता रस के आस्वाद से प्रतिबंधक विरोधी रस का ज्ञान नष्ट हो जाता है तो द्वितीय विरोधी रस का आस्वाद निर्विघ्न रूप से होने लगता है। विरोध-परिहार की और भी अनेक युक्तियाँ हो सकती हैं जिनमें निम्नलिखित प्रमुख हैं—

१. यदि दो रसों में परस्पर अंगांगिभाव अथवा पोष्यपोषकभाव हो तो उनके विरुद्ध होने पर भी उन दोनों में विरोध नहीं रहता। स्पष्ट ही है कि उन रसों में विरोध होने पर उनका अंगांगिभाव ही नहीं हो सकता।

२. जहाँ कोई एक रस अंगी (मुख्य) हो तथा उसके अंग दो ऐसे रस हों जो

१. सुरांगनाभिराश्लिष्टा व्योम्नि वीरा विमानगाः।
विलोकन्ते निजान् देहान्, फेरुनारीभिरावृतान ॥—रसगंगाधर, प्रथमाननम्, चौखंबा प्रकाशन, वाराणसी, पृ० १७६।

परस्पर-विरोधी कहे जाते हों तो उन अंगभूत रसों में भी विरोध नहीं होता। इसका स्पष्टीकरण किसी राजा के दो परस्पर-विरोधी सेवकों के उदाहरण द्वारा किया जा सकता है जो अपने परतंत्र रूप में किसी तीसरे के अंग हैं अतः उनमें विरोध होना संभव नहीं है।

३. जहाँ समान विशेषणों के द्वारा जो विरुद्ध रस अभिव्यक्त होते हैं वहाँ भी रसविरोध का परिहार हो जाता है। इसका उदाहरण निम्नलिखित पद्य हैं जिसमें प्रयुक्त 'यौवनोन्मत्ता' और 'गाढरक्तता' इत्यादि विशेषणों के बल से शत्रुओं के मरण की प्रतीति से प्रथमतः करुणरस की अभिव्यक्ति होती है किंतु तदुपरांत शृंगाररस की अभिव्यक्ति। इस प्रकार समान विशेषणों के द्वारा प्रतीयमान करुण और शृंगार रसों का विरोध निवृत्त हो जाता है।

विरोध-वर्णन की आवश्यकता

काव्य में अनेक बार विरोधी रस के वर्णन की स्थिति अनिवार्य हो जाती है। उसके द्वारा प्रकृत रस का पोषण होता है क्योंकि जब प्रकृत रस अपनी गुरुता से अपने विरोधी रस को पराभूत कर लेता है तो उसका उत्कर्ष उसी प्रकार संवर्धित हो जाता है जिस प्रकार पराजित शत्रु के महत्त्व-वर्णन से विजयी नरेश का गौरव बढ़ता है। कवियों का कर्तव्य है कि वे अपनी काव्य-वर्णना में विरोधी रसांगों को ऐसे रूप में प्रबल न होने दें जिससे प्रकृत रस की अभिव्यक्ति में बाधा उत्पन्न हो जाय। रसाभिव्यक्ति के जितने भी उपकरण हैं उन सबका निर्वाह भी ऐसे क्रम में करना चाहिए जिससे काव्य के प्रतिपाद्य रस की निष्पत्ति में प्रतिबंध न आ सके। यहाँ रस और व्यभिचारिभावों की बाध्यता का अन्तर भी समझ लेना आवश्यक है। व्यभिचारिभावों की बाध्यता का अभिप्राय यह है कि उसके द्वारा जिस रस की अभिव्यक्ति होना वांछनीय हो, वह प्रतिबंधित हो जाती है। उसका यह आशय कदापि नहीं है कि व्यभिचारिभावों की अभिव्यक्ति ही न हो। व्यभिचारिभावों के बाधित होने से प्रकृत रस की अभिव्यक्ति में भी बाधा उपस्थित होती है यद्यपि उनके कारण ऐसा तो नहीं हो पाता कि रस का आस्वाद ही न हो। इस बात को इन शब्दों में भी कहा जा सकता है कि व्यभिचारिभावों के बाधित होने पर उनका आस्वाद तो होता है किंतु उनसे पोषित होने वाले रस का आस्वाद नहीं होता। यदि कोई व्यक्ति यह शंका उत्पन्न करे कि विरोधी रस की प्रबलता के कारण रसाभिव्यक्ति में किस प्रकार का प्रतिबंध आता है तो इसका उत्तर यही दिया जा सकता है कि यह एक अनुभवसाध्य विषय है। काव्य के आस्वादयिता सहृदयों के लिए उस प्रतिबंध का बोध करना कोई कठिन कार्य नहीं है। विद्वानों का मत है कि रसाभिव्यक्ति के प्रति प्रबल-विरोधी रसांगों की अभिव्यक्ति को भले ही प्रतिबंधक माना जाय किंतु व्यभिचारिभावों की अभिव्यक्ति के प्रति उनको प्रतिबंधक नहीं माना

१. नितांतं यौवनोन्मत्ता—गाढरक्ताः सदाहवे।
वसुंधरां समालिंग्य शेरते वीर ! ते रयः।—रसगंगाधर, प्रथमाननम्, चौखम्बा प्रकाशन, वाराणसी, पृ० १८८।

जाता क्योंकि उनका प्रतिबंध अनुभवसिद्ध नहीं है।

मम्मट का अभिमत

मम्मट ने रसों के परस्पर विरोध को केवल तीन प्रकार का माना है—

१. आलम्बन का ऐक्य जैसे वीर और शृंगार रसों का एक आलम्बन में रहना।

२. आश्रय का ऐक्य जैसे वीर और भयानक रसों का एक आश्रय में रहना।

३. रसों का नैरंतर्य से वर्णन जैसे शांत और शृंगार रस का नैरंतर्य से वर्णन। मम्मट ने पद-टिप्पणी में उद्धृत उदाहरण द्वारा इसी सिद्धांत को घटित करते हुए ध्वनिकार के मत का विरोध किया है।[1]

मम्मट ने रस-विरोध के दो अन्य प्रकार भी निर्दिष्ट किये हैं—दैशिक रस-विरोध और कालिक रसविरोध। दैशिक विरोध के दो रूप हैं—आलम्बन-ऐक्य में विरोध तथा आश्रय-ऐक्य में विरोध। आलम्बन का अभिप्राय आलम्बन विभाव से है जिसे देखकर रस की निष्पत्ति होती है। जिसमें रस की उत्पत्ति होती है वह रस का आश्रय है। यदि वीर और शृंगार का आलम्बन-ऐक्य में विरोध है तो वीर और भयानक रस का परस्पर आश्रय-ऐक्य में विरोध। इनका यह अभिप्राय है कि जिस आलम्बन से भयानक रस की उत्पत्ति होती है, उस आलम्बन से उसी समय वीररस की उत्पत्ति नहीं हो सकती। इसी प्रकार जिस आश्रय में वीररस की उत्पत्ति हो रही हो, उसी आश्रय में भय की उत्पत्ति नहीं हो सकती। आलम्बन-ऐक्य और आश्रय-ऐक्य से होने वाला रस-विरोध दैशिक कहलाता है तो नैरंतर्य-क्रम से होने वाला विरोध कालिक विरोध के नाम ने अभिहित किया जाता है। शांत और शृंगार रस में नैरंतर्य तथा आलम्बन-ऐक्य नामक दोनों प्रकार के विरोध होते हैं जिसका अभिप्राय यह है कि इन दोनों रसों का निरंतरक्रम में एक साथ वर्णन नहीं करना चाहिए। मम्मट ने इन विरोधी रसों का परिहार-उपाय निर्दिष्ट करते हुए लिखा है कि जहाँ आलंबन या आश्रयरूप देश की एकता के कारण विरोध होता है वहाँ उन विरोधी रसों का देशभेद से वर्णन करना चाहिए। जिन रसों में कालिक अर्थात् नैरन्तर्य वर्णन से विरोध आता है, उसका व्यवधान से वर्णन करना चाहिए। मम्मट का मत है कि केवल प्रबंध-काव्य में ही नहीं, अपितु एक ही वाक्य अथवा एक ही प्रकरण रूप छोटे भाग में भी रसान्तर का व्यवधान कर देने से विरोध का परिहार हो जाता है।

मम्मट ने रसविरोध के परिहार के लिए तीन अन्य मार्ग भी निर्दिष्ट किये हैं जो इस प्रकार हैं—१. यदि विरोधी रसों का स्मर्यमाण रूप से वर्णन किया जाय तो उनमें रस-दोष नहीं होता। २. विरोधी रसों का वर्णन यदि साम्य से विवक्षित हो तो भी रस-दोष नहीं होता। ३. यदि दो विरोधी रस किसी तीसरे प्रधान रस के अंग रूप में एकत्र

१. मम्मट और आनन्दवर्धन के एतद्विषयक दृष्टिकोण का स्पष्टीकरण निम्नलिखित छंद के आधार पर किया है

सत्यं मनोरमा रामाः सत्यं रम्वाः विभूतयः।
किन्तु मत्तांगनापागंलोलं हि जीवितम्॥

वर्णित हों तो भी उनमें परस्पर विरोध नहीं होता। मम्मट ने इन तीनों प्रकार के विरोध-परिहार के उदाहरण देकर अपना मंतव्य स्पष्ट किया है। प्रथम प्रकार को उदाहृत करते हुए उन्होंने बतलाया है कि काव्य में वर्णित पूर्वावस्था के स्मर्यमाण शृंगार-रस के अंग भी प्रकृत करुण-रस के पोषक ही होते हैं। साम्य-विवक्षा के कारण शांत या बीभत्स के साथ यदि शृंगार के अनुभावों का वर्णन किया जाय तो वहाँ पर दोष नहीं होता। उन्होंने प्रधान रस के अन्तर्गत दो विरोधी रसों का अंगरूप में समावेश दो प्रकार से माना है—जिसमें अंगभूत दोनों रस समकक्ष हों तथा जिसमें उन अंगभूत दोनों रसों में भी गुण का प्रधानभाव या अंगांगिभाव वर्णित हो। दो समकक्ष रसों की अंगता को सेनापति-द्वय की अंगता से उपमित किया जा सकता है तथा असमकक्ष रसों की अंगता सेनापति तद्‌भृत्यवत् संज्ञक अंगता कही जा सकती है। कवियों की कृतियों में दो समकक्ष तथा असमकक्ष रसों की अंगता के अनेक उदाहरण उपलब्ध होते हैं। आचार्यों का मत है कि गुण अर्थात् अप्रधान या अंग अपने परिपोषणरूप संस्कार के पश्चात् परिपुष्ट होकर प्रधान को अंग रूप से प्राप्त होता है और इस प्रधान रस के संस्कार में अत्यंत उपयोगी बनता है। रसों के अविरोध तथा अंगांगिभाव के विषय में कुछ ऐसे विशेष नियम भी हैं जिनको लेकर यह शंका उपस्थित की जा सकती है कि जब रस 'वेद्यान्तरस्पर्शशून्य' है तो फिर दो रसों के विरोधाविरोध तथा अंगांगिभाव का प्रश्न कैसे उपस्थित हो सकता है? इसका उत्तर देते हुए मम्मट ने लिखा है कि तत्त्वतः रसों में विरोध आदि का उपादान नहीं किया जा सकता किंतु विवेच्य विषय के संदर्भ में 'रस' शब्द से मुख्य रसों का ग्रहण न कर केवल स्थायिभावों का ही ग्रहण करना चाहिए। मम्मट के शब्दों में 'प्राक् प्रतिपादितस्य रसस्य रसांतरेण न विरोधो नाप्यंगांगिभावो भवति इति रस शब्देनात्र स्थायिभाव उपलक्ष्यते' मानना ही उचित है।

रामचंद्र-गुणचंद्र की मान्यता

आचार्य रामचंद्र-गुणचंद्र ने विरुद्ध रसों का विरोध उपस्थित होने पर उसके परिहार के मार्ग की व्यवस्था का भी विवेचन किया है। 'एकत्र स्वैरिणोस्तुल्यशक्त्योर्योगे विरुद्धता' सूत्र द्वारा उन्होंने बतलाया है कि एक ही स्थान पर दो स्वतंत्र तथा तुल्यशक्ति वाले रसों में विरोध होता है। इसका अभिप्राय यह है कि भिन्न आश्रयों में अवस्थित, अस्वतंत्र तथा तुल्यबलविहीन रस विरोधी नहीं रहते अर्थात् दो विरोधी रसों में आश्रय-भेद से अथवा एक को दूसरे का अथवा दोनों को किसी तीसरे अविरोधी रस का अंग बना देने और गौण रूप से वर्णन करने पर विरोध मिट जाता है।

आचार्यों ने विरुद्ध रसों के विरोध तथा उनके परिहार के अनेक काव्योद्धरण विवेचित कर उनकी तत्त्वमीमांसा की है। उन्होंने किसी काव्य अथवा नाटक-विशेष में भिन्न-भिन्न प्रसंगों अथवा आश्रयों में विरुद्ध रस का वर्णन होने पर विरोध प्रशमित होने के उदाहरण देते हुए लिखा है कि यों तो वीर और भयानक रस एकाश्रय में होने पर विरोधी माने जाते हैं, किंतु जब उन दोनों में आश्रय का भेद कर दिया जाता है तो उनमें विरोध नहीं रहता। इसको अधिक स्पष्ट करने की दृष्टि से कहा जा सकता है कि

यदि किसी काव्य-वर्णना में नायक में वीर रस हो तथा शत्रुओं में भयानक रस, तो उन दोनों रसों में आश्रय-भेद होने के कारण विरोध नहीं रहता। यही स्थिति शांत और श्रृंगार रस की है। ये दोनों रस जब क्रमशः किसी मुनि और कामुक के भिन्न-भिन्न आश्रयों में वर्णित किये जाते हैं तो उनमें विरोध नहीं रहता। इसी प्रकार दो विरोधी रसों के स्वतंत्र रूप से वर्णित होने पर उनमें जो विरोध होता है वह एक के परतंत्र तथा दूसरे के स्वतंत्र होने अथवा दोनों के किसी तीसरे मुख्य रस के अधीन रहने पर उनका विरोध मिट जाता है। उदाहरणार्थ करुण और श्रृंगार विरोधी रस हैं किंतु जहाँ उद्दीपन विभावों द्वारा उद्दीप्त किया जाने वाला शत्रु-अंगनाओं का श्रृंगार उनके भीतर रहने वाले प्रधान और स्वतंत्र करुण-रस को पुष्ट करता है तो उनका विरोध प्रशमित हो जाता है। एक ही नायक-रूप आश्रय में तुल्यबलता के कारण शांत और श्रृंगार रस विरोधी कहलाते हैं किंतु जब उनमें दुर्बल और प्रबल का भाव आ जाता है तो वे विरोधी नहीं रहते। विरुद्ध रसों के विरोध तथा उनके परिहार के और भी अनेक उदाहरण प्रस्तुत किये जा सकते हैं। उनके विभावों तथा व्यभिचारी भावों में रस के विरोधाविरोध की व्यवस्था के अनुसार ही उनका विरोध तथा उनका परिहार समझ लेना चाहिए।

रस-विवेचक आचार्यों ने लक्ष्य ग्रन्थों से अनेकानेक उदाहरण अन्वेषित कर इस विषय का विस्तृत विवेचन किया है कि एक आलम्बन के प्रति विरुद्ध रस भी यदि किसी अविरोधी रसांतर से व्यवहित होकर उपनिबद्ध किया जाय तो उनमें रस-विरोध नहीं हो सकता। रस-विरोध की स्थिति तो वहाँ पर आती है जहाँ दो रसों में अंगांगिभाव न होकर समप्राधान्य होता है। काव्य-ग्रन्थों में ऐसे अनेक उदाहरण उपलब्ध होते हैं जिनमें रति और शम, रति और क्रोध आदि स्थायी भावों का सम्प्राधान्य निरूपण किया गया है जिसके कारण उनका परस्पर परिपोषण न होकर उनका विरोधभाव ही प्रदर्शित हुआ है। हाँ, जहाँ पर काव्यस्रष्टाओं ने समप्राधान्य से हटकर इतर विधियों से रत्यादि स्थायी भावों का समुचित उपनिबंधन करने की चेष्टा की है, वहाँ पर विरोध की स्थिति का परिहार हो गया है। विरोध की यह स्थिति उन स्थलों पर भी नहीं होती जहाँ रत्यादि की स्वशब्दवाचकता न होकर उनकी व्यंजकता होती है तथा उसकी व्यंजना द्वारा रसोपयोगी सामग्री स्थायित्व को प्राप्त करती है।

१७

रसास्वाद की दो विशिष्ट कोटियाँ

(१) शांत रस की आस्वाद्यता

क्या शमप्रधान शांतरस भी काव्य का आस्वाद्य विषय है ? यह एक ऐसा प्रश्न रहा है जिसका उत्तर भरतमुनि से लेकर अद्यावधि अनेक आचार्यों ने अपने-अपने दृष्टिकोण से दिया है। अभिनवगुप्त कृत भरतमुनि की व्याख्या के अनुसार शांत रस शमस्थायिभावात्मक तथा मोक्षप्रवर्तक रस है जिसकी उत्पत्ति तत्त्वज्ञान, वैराग्य और आशय-शुद्धि आदि विभावों से होती है। दृश्य-काव्य में उसका अभिनय-प्रयोग यम, नियम, अध्यात्म, ध्यान, धारणा, उपासना, सर्वभूतदया, लिंग-ग्रहण (संन्यास-धारण) आदि अनुभावों के द्वारा किया जाना चाहिए। निर्वेद, स्मृति, धृति, शौच, स्तम्भ और रोमांच आदि उसके व्यभिचारिभाव कहलाते हैं। आचार्य अभिनवगुप्त ने भरतमुनि के नामोल्लेखपूर्वक नवम रस के रूप में शांतरस की प्रतिष्ठा करते हुए लिखा है कि यह रस मोक्ष और अध्यात्मसाक्षात्कार का जनक, तत्त्वज्ञान-रूप हेतु से युक्त तथा निःश्रेयस-सिद्धि के लिए उपदिष्ट है जिसकी उपलब्धि बुद्धि तथा इन्द्रियों (ज्ञानेन्द्रियों और कर्मेन्द्रियों) का निरोध करने वाले आत्मनिष्ठ साधकों को होती है तथा जो समस्त प्राणियों के सुखहित का विज्ञापक होता है। वस्तुतः यह रस सुख, दुःख, द्वेष और मत्सर भावनाओं से रहित तथा समस्त प्राणियों में समभावनिरूपक है। उनका कथन है कि शृंगारादि रसों के स्थायिभाव प्रकृतिरूप शांत रस के विकारमात्र हैं जो शांत रस से ही उत्पन्न होकर उसी में विलीन हो जाते हैं।

शांत रस की मूल रस के रूप में प्रतिष्ठा

शांत रस को प्रमुख तथा मूल रस रूप में प्रतिष्ठित करने वाले आचार्यों की मान्यता है कि जिस प्रकार इस संसार में धर्म, अर्थ और काम नामक पुरुषार्थ-त्रय की प्रतिष्ठा की गई है, उसी प्रकार शास्त्र, स्मृति तथा इतिहास-ग्रंथों में मोक्ष नामक चतुर्थ पुरुषार्थ की सत्ता भी स्वीकार की गई है। उनके मतानुसार जिस प्रकार काम आदि के योग्य रति आदि शब्दों से निर्दिष्ट चित्तवृत्तियाँ कवियों और नटों के व्यापार द्वारा उस प्रकार के हृदयसंवादी सामाजिकों के प्रति शृंगार आदि के रूप में आस्वाद-योग्य बनाई जाकर रसरूप को प्राप्त होती है, उसी प्रकार मोक्ष नामक परम पुरुषार्थ के योग्य शमरूप चित्तवृत्ति भी आस्वादयोग्य बनकर शांतरसत्व को प्राप्त होती है। वस्तुतः

मोक्षरूप पुरुषार्थ की साधक चित्तवृत्ति ही शांतरस का स्थायिभाव है। इस विषय में आचार्य अभिनवगुप्त के विचार उल्लेखनीय हैं जिन्होंने शांत रस को मूल रस के रूप में प्रतिष्ठित करने का श्रेयस्कर प्रयास किया है। यद्यपि उनके पूर्व भरतमुनि ने शांतातिरिक्त श्रृंगार, हास्य, करुण, रौद्र, वीर, भयानक, बीभत्स और अद्भुत नामक केवल आठ 'नाट्यरस' माने थे, किंतु अभिनवगुप्त ने अपने मत की संपुष्टि के लिए भरतमुनि के क्षेपक रूप में प्रसिद्ध छंदों को प्रामाणिक रूप में उद्धृत करने का उपक्रम किया है।[१] उन्होंने शांत रस का स्थायिभाव शमप्रधान आत्मज्ञान को माना है जो परिकल्पित विषयभोग आदि वासनाओं से रहित और विशुद्ध ज्ञानानंद स्वरूप होता है। उनका मत है कि रस का सच्चा स्वरूप तो केवल शांतरस के ही अंतर्भूत है क्योंकि रति और शोक आदि स्थायिभाव भी शांत रस के स्थायी आत्म-चैतन्य की स्थिति को प्राप्त कर श्रृंगार और करुण आदि रसों में परिणत होते हैं। शांत रस की प्रशंसा में उन्होंने जो विचार व्यक्त किये हैं उनसे भी यही सिद्ध होता है कि आचार्य अभिनवगुप्त लोकोत्तर आनंद का प्रापक केवल शांतरस को ही मानते थे क्योंकि उसके द्वारा विषयजन्य दुःखों का विनाश और आत्मरूप ज्ञान का प्रकाश होता है। उनके अनुसार शांतरस का तत्त्वज्ञान-संज्ञक स्थायिभाव सकलभावान्तरभित्ति का स्थानीय और समस्त स्थायिभावों का भी स्थायी है। उन्होंने शांतरसेतर प्रत्येक रस की स्थायी वृत्तियों का उल्लेख कर अनेक उदाहरण देते हुए यह बात सिद्ध करनी चाही है कि शांत रस के प्रसंग में रत्यादि अन्य स्थायी वृत्तियां स्वभावतः व्यभिचारित्व को प्राप्त हो जाती हैं क्योंकि शांत रस से पृथक् स्थायी की कल्पना की ही नहीं जा सकती। अभिनवगुप्त से अधिक प्रबल शब्दों में शांतरस की महत्ता का निरूपण अन्य किसी भी आचार्य ने नहीं किया है। उनकी विचारधारा से प्रकट है कि वे श्रृंगार और हास्य आदि रसों को शांत रस के ही रूपान्तर मानते थे तथा उनका विश्वास था कि अन्य सभी रसों के स्थायी भाव शांत रस के प्रति उन्मुख होकर ही चलते हैं।

विरोधी विचारकों के तर्क-वितर्क

आचार्य अभिनवगुप्त ने अपने गहन चिंतन और तर्कबल पर शांत रस की मूर्द्धन्य स्थिति स्वीकार की है जो उनके विरोधी विचारकों को मान्य नहीं है। उनके विरोधी विचारकों ने विविध दृष्टिबिन्दुओं के आधार पर शांतरस के अस्तित्व पर शंका करते हुए अपने जो तर्क प्रस्तुत किये हैं, उनका सम्यक् विमर्श करने के पश्चात् आचार्य अभिनव ने अपने मत का संस्थापन किया है। विरोधी विचारकों के तर्कों और उनकी युक्तियों का सामान्य रूप निम्नलिखित है—

१. शम और शांत दोनों पर्यायवाची शब्द हैं। शांत रस के समर्थकों का यह

---

१. भावा विकारा रत्याद्याः शांतस्तु प्रकृतिर्मतः।
विकारः प्रकृतेर्जातः पुनस्तत्रैव लीयते ॥
स्वं स्वं निमित्तमासाद्य शांतात् भावः प्रवर्तते।
पुनर्निमित्तापाये च शांत एवोपलीयते।

कथन कि 'शम और शांत में क्रमशः स्थायिभाव और रस का विभेद है', समीचीन नहीं है। जब शम और शांत शब्द समानार्थक हैं तो फिर भला शांत को रस तथा शम को स्थायिभाव कैसे माना जा सकता है ? वस्तुतः शांत नामक कोई रस होता ही नहीं है।

२. शम को स्थायिभाव और शांत रस को रस मानना इसलिए भी उचित नहीं है कि आचार्यों ने भावों की जो ४६ संख्या नियत की है, उसमें 'शम' भाव की गणना नहीं है। शांत को रस-रूप में मानने पर 'शम' को उसका स्थायिभाव मानना पड़ेगा जिसका परिणाम यह होगा कि भावों की संख्या पचास हो जायगी। यदि शांतरस आचार्यों का अभिप्रेत होता तो वे 'शम' स्थायिभाव की गणना भावों के अंतर्गत करते हुए उनकी संख्या उनंचास नहीं मानते।

३. ऋतु-माल्य आदि विभाव अपने समनन्तरभावी शृंगार आदि रसों में कारण रूप से प्रतीत हो सकते हैं, किन्तु तप और स्वाध्याय आदि अपने उत्तरवर्ती शांत या शम में कारण रूप से प्रतीत नहीं होते। तप और स्वाध्याय को शम या शांत का विभाव भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि वे शम या शांत के प्रति साक्षात् कारण नहीं होते। इसके साथ ही साथ कामादि के अभाव को भी शांतरस का अनुभाव नहीं कहा जा सकता, क्योंकि शांत से भिन्न वीर आदि रसों में भी कामादि का अभाव विद्यमान रहता है।

४. शांत रस का प्रयोग अथवा अभिनय में समावेश नहीं किया जा सकता क्योंकि चेष्टाविहीन व्यापार का नाम 'शम' है और चेष्टा के अभाव का अभिनय करना सम्भव नहीं है। शयन और मूर्छा आदि चेष्टाविहीन व्यापारों का तो अभिनय श्वास-प्रश्वास और भूपतन आदि चेष्टाओं द्वारा अनुभावित किया जा सकता है, किन्तु 'शम' भाव का अभिनय किसी भी रूप में सम्भव नहीं है। अतः नाटक में तो शांतरस की सत्ता मानी ही नहीं जा सकती।

५. धृति आदि भाव शांतरस के व्यभिचारी भाव नहीं कहे जा सकते, क्योंकि विषयों का उपभोग करने से उत्पन्न तृप्तिरूप 'धृति' शांतरस में कैसे हो सकती है ?

६. शमप्रधान व्यक्ति चेष्टाविहीन होकर अधिष्ठित रहता है। उसके द्वारा तत्त्वज्ञान के उपायों का अनुष्ठान भी संभव नहीं है। तत्त्वज्ञान का अनुष्ठान न होने से मोक्षरूप फल की प्राप्ति नहीं हो सकती, अतः मोक्षप्रवर्तक रस के रूप में शांत रस की सत्ता कैसे मानी जा सकती है ?

७. शांतरस को सुखदुःखादि भावों से रहित माना जाता है, किन्तु शांतरस के साधक तत्त्वज्ञान अथवा सम्यक्दर्शन की अवस्था को प्राप्त करने के पश्चात् भी संसार में 'परदुःखदुःखितमन' वाले देखे जाते हैं, अतः शांत रस का अस्तित्व किसी भी रूप में स्वीकार नहीं है।

शांतरस की स्थिति के विरुद्ध जिन आचार्यों ने अनेक प्रकार की विप्रतिपत्तियाँ उपस्थित की हैं उनमें परम्परावादी आचार्यों का प्रामुख्य है। उनके कथन का निष्कर्ष यह है कि 'शांत' नामक कोई रस ही नहीं होता क्योंकि आचार्य भरतमुनि ने न तो उसका लक्षण ही दिया है और न उसके विभावादि का ही प्रतिपादन किया है। इन

आचार्यों का मत है कि शांतरस का वस्तुतः अभाव ही मानना चाहिए, क्योंकि अनादि-काल के चले आ रहे राग और द्वेष आदि का उच्छेद असम्भव है। कुछ आचार्य शांतरस का अन्तर्भाव वीर और बीभत्स आदि रसों में कर लेते हैं और शम 'नामक' भाव की कोई स्वतंत्र सत्ता ही नहीं मानते। नाट्याचार्यों ने 'शम' भाव से निष्पन्न होने वाले शांत रस को अनभिनेय कहकर नाटकादि अभिनेय काव्यों में उसके स्थायित्व का सर्वथा निषेध किया है। कुछ आचार्यों के मतानुसार शम के अतिरिक्त जिन आठ स्थायिभावों को मान्यता प्राप्त है, उनका रसत्व इस हेतु माना गया है कि वे मधुर आदि पदार्थों की भाँति रसनशील अर्थात् आस्वाद्य हैं और वह आस्वाद्यता निर्वेद आदि व्यभिचारिभावों में भी पर्याप्त मात्रा में रहती है अतः वे भी रस-रूप कहे जा सकते हैं। इन आचार्यों के मत से आठ प्रकार के स्थायिभावों के अतिरिक्त अन्य भावों से भी रस का अभ्युपगम हो सकता है अतः अन्य स्थायी भावों की संभावना भी सहज सम्भव है। जो आचार्य आठ ही प्रकार के स्थायी भाव मानते हैं उनके मतानुसार निर्वेदादि में तद्रूपता नहीं है, अतः वे अस्थायी और अनास्वाद्य हैं।[1] उनकी पुष्टि विरसता का ही कारण बन सकती है अतः निर्वेदादि भावों को स्थायी नहीं माना जा सकता, क्योंकि वे अपनी संचरणशीलता के कारण विरुद्ध अथवा अविरुद्ध किसी भी प्रकार के भावों के सम्पर्क में अविच्छिन्न नहीं रहते। वे भाव परस्पर चिंता आदि के अंतर्गत आकर यदि परिपुष्ट भी हो जाते हैं तो भी विरसता के ही कारण बनते हैं। अभिप्राय यह है कि शम-प्रधान शांतरस की विवेचना में भावों के स्थायित्व और व्यभिचारित्व को लेकर अनेक प्रकार के ऊहापोह किये गये हैं जिनसे उनकी सत्ता के विषय में सद्यमेव निर्णय कर लेना सहज नहीं है।

धनंजय और धनिक का अभिमत

दशरूपकार धनंजय तथा उसके व्याख्याता धनिक का मत है कि अपनी अनभिनेयता के कारण शांत रस नाटक में तो अनुप्रविष्ट नहीं है किंतु उसके काव्य-विषयत्व का निवारण नहीं किया जा सकता।[2] अपनी अल्पाधिक सत्ता के कारण जब सूक्ष्मातीत वस्तुएँ भी शब्दों से प्रतिपादित हो सकती हैं तो शांतरस उस प्रतिपादन से कैसे वंचित रह सकता है? धनंजय ने शांतरस को अनिर्वाच्य और शम का प्रकर्षकारी कहा है जिसका स्वरूप केवल मोद अथवा आनंद है।[3] महामुनियों ने भी उस रस को शांत रस कहा है जिसमें सुख, दुःख, चिंता, द्वेष, राग और इच्छा इत्यादि कुछ नहीं रहते तथा जिसमें सब भावों में 'शम' प्रधान रहता है।[4] निश्चय ही ऐसे रस की निष्पत्ति मोक्षावस्था में ही होने के कारण उसकी आत्मस्वरूपा अनिर्वचनीयता असंदिग्ध है। वेदशास्त्रों ने भी

१. धनंजय, दशरूपक, ४।३६।
२. ननु शांतरसस्यानभिधेयत्वाद्यपि नाट्येऽनुप्रवेशो नास्ति तथापि सूक्ष्मातीतादिवस्तूनां सर्वेषामपि शब्दप्रतिपाद्यतायाः विद्यमानत्वात् काव्यविषयत्वं न निवार्यंते।
३. धनंजय, दशरूपक, ४।४५।
४. न यत्र दुःखं न सुखं न चिंता न द्वेषरागौ न च काचिदिच्छा।
रसः स शांतः कथितो मुनीन्द्रैः सर्वेषु भावेषु समप्रमाणः।

उसका वर्णन 'नेति नेति' कहकर 'अपोह' रूप से किया है। वस्तुतः उसके आस्वादयिता दुर्लभ होते हैं।

विश्वनाथ के विचार

शांतरस के विरोधियों का कहना था कि जिन मुनीन्द्रों ने शांत रस की प्रतिष्ठा करते हुए उसे सुख, दुःख, चिन्ता, राग, द्वेष और इच्छा आदि विविध मनोविकारों से विहीन माना है, वे जीवन के व्यावहारिक पक्ष से बहुत दूर चले गये हैं, क्योंकि ऐसी कोई मनोवृत्ति संभव ही नहीं है जिसमें उपर्युक्त भावों का अभाव हो। इस शंका का समाधान करते हुए आचार्य विश्वनाथ ने लिखा है कि जिस 'शम' को शांतरस का स्थायिभाव माना गया है, वह युक्त (ब्रह्मध्यानमग्न) अथवा वियुक्त (सिद्ध) अवस्थाओं में अवस्थित रहता है अतः उसमें संचारिभावों की स्थिति संगत होने से उसकी रस-निष्पन्नता सहज स्वाभाविक है।[१] वस्तुतः मुनिजनों ने 'न यत्र दुःखं न सुखं' आदि द्वारा 'वैषयिक सुखाभाव' की ओर संकेत किया है न कि शमरूप परम सुख की ओर, अतः इन दोनों में किसी भी प्रकार का कोई अंतर्विरोध नहीं माना जा सकता। सच तो यह है कि कामादि लौकिक विषयजन्य सुखों और निःश्रेयससिद्धिपरक अलौकिक तृष्णाक्षय-कारी महत् सुखों की कोई समता ही नहीं की जा सकती क्योंकि दिव्य सुखों का शतांश भी कामसुखों में संभव नहीं है, अतः शम को जिस रूप में शांतरस का स्थायी भाव कहा गया है, वह इन सुख कोटियों की दृष्टि से भी समीचीन है। वस्तुतः शांतरस को एक ऐसे महासागर से उपमित किया जा सकता है जिसमें दयावीर आदि सभी प्रकार के भावों का अहंकार का आकार अंतर्भुक्त हो जाता है, किंतु उसका अंतर्भाव अन्यत्र नहीं किया जा सकता। यही कारण है कि जिस प्रकार आचार्य अभिनवगुप्त ने मूल रस के रूप में शांत रस की संस्तुति की है उसी प्रकार हेमचंद्र आदि आचार्यों ने भी उसका गौरवगान किया है। काव्यानुशासनकार का कथन है कि शांतरस का अंतर्भाव न तो बीभत्स तथा वीररस में किया जा सकता है और न रौद्ररस में ही।[२] वस्तुतः शम नामक स्थायी चित्तवृत्ति के सम्मुख अन्य वृत्तियाँ संचारिभावों की-सी स्थिति रखती हैं और जिस प्रकार पुरुषार्थचतुष्ट्य में मोक्ष का पार्यन्तिक महत्त्व सिद्ध है, उसी प्रकार अन्य रसों में भी शांतरस का पार्यन्तिक आस्वाद स्वीकार किया जाना युक्तिसंगत है।

शांतरस के स्थायिभाव के विषय में विभिन्न अभिमत

शांतरस का स्थायिभाव किस चित्तवृत्ति को माना जाय, यह भी एक अत्यन्त विचारणीय विषय है। अधिकांश आचार्यों ने तत्त्वज्ञान से उत्पन्न 'निर्वेद' को शांतरस का स्थायिभाव माना है, किंतु अभिनवगुप्त ने अपनी तर्कशक्ति द्वारा इस मत का खंडन

---

१. युक्तवियुक्तदशायामवस्थितो यः शमः स एव यतः।
रसतामेति तदस्मिन संचार्यादिः स्थितिश्च न विशुद्धाः। —विश्वनाथ, साहित्यदर्पण, ३।२५०।

२. हेमचंद्र, काव्यानुशासन, २।१७।

किया है। दूसरा मत यह है कि रत्यादि आठ स्थायिभावों में से किसी भी भाव को शांतरस का स्थायिभाव माना जा सकता है किंतु इस मान्यता में भी सुग्राह्य तर्कों का अभाव है। तीसरे मत के अनुसार आठों स्थायिभाव पानकरस के समान एक साथ मिलकर शांत रस के स्थायिभाव बन सकते हैं तो चतुर्थ मत साक्षात् मोक्षसाधक 'शम' भाव को ही शांतरस का स्थायिभाव मानता है। तत्त्वज्ञानजन्य निर्वेद को शांतरस का स्थायिभाव सिद्ध करने वाले आचार्यों का कथन है कि भरतमुनि ने निर्वेद को व्यभिचारिभावों की श्रेणी में जो सर्वप्रथम स्थान प्रदान किया है वह उसके स्थायिभावत्व का सूचक है। वस्तुतः निर्वेद एक प्रकार से मुख्यतम स्थायिभाव है, क्योंकि तत्त्वज्ञानजन्य निर्वेद अन्य समस्त स्थायिभावों का उपमर्दन कर देता है। आचार्य अभिनवगुप्त ने शांतरस में स्थायिभाव के रूप में प्रसिद्ध विभिन्न भावों का व्यापक विमर्श करने के पश्चात् अंततोगत्वा मोक्षसाधक शम को ही शांतरस का स्थायिभाव सिद्ध किया है। इस विषय का स्पष्टीकरण करना हमें आवश्यक प्रतीत होता है।

आचार्य विश्वनाथ के मतानुसार शांत रस का स्थायिभाव 'शम' और उसके आश्रय उत्तम प्रकृति के व्यक्ति होते हैं। उसकी कांति कुंदेन्दुवत् शुभ्र वर्णयुक्त तथा उसके देवता स्वयं श्री नारायण हैं। संसार की अनित्यता अथवा दुःखमयता के कारण जब किसी व्यक्ति को सांसारिक निःसारता का ज्ञान हो जाता है तो वही ज्ञान परमात्मस्वरूप बनकर आश्रय के मन का आलम्बनविभाव हो जाता है। पवित्र आश्रम, भगवान के लीलास्थल, तीर्थस्थान, सुरम्य तपोवन तथा साधु-समागम आदि शांतरस के उद्दीपन विभाव हैं। निर्वेद, हर्ष, स्मरण, मति और जीव-दया आदि इसके व्यभिचारिभाव तथा रोमांच आदि अनुभाव हैं।[1] इस रस की परिपुष्टि महाभारत आदि महाकाव्यों में हुई है। विश्वनाथ का मत है कि स्वात्मविश्रांतिरूप 'शम' को ही शांतरस का स्थायिभाव मानना युक्त-संगत है जबकि आचार्य मम्मट ने 'तत्त्वज्ञानज निर्वेद' को शांतरस का स्थायिभाव माना है। ऐसा प्रतीत होता है कि भरतमुनि ने भी शांतरस की सत्ता एक अतिरिक्त रस के रूप में अवश्य मानी थी जिसको आधार बनाकर आचार्य अभिनवगुप्त ने 'नाट्यशास्त्र-विवृति' में उक्त रस का समर्थन विशेष रूप से किया है। आचार्य मम्मट का मत है कि तैंतीस प्रकार के व्यभिचारिभावों में निर्वेद की गणना प्रथम स्थान पर की गई है जिसे एक प्रकार से शांतरस की स्थापना का उपक्षेप कहा जा सकता है। विश्वनाथ के पूर्व काव्यानुशासनकार हेमचंद्र तथा नाट्यदर्पणकार रामचंद्र-गुणचंद्र ने क्रमशः 'तृष्णाक्षय[2]' तथा 'वैराग्यपरक शम[3]' को शांतरस का स्थायिभाव माना है। कुछ विद्वानों का मत है कि दयावीर में शांतरस का अंतर्भाव किया जा सकता है किंतु यह मत असमीचीन है, क्योंकि दयावीर में तो अहंकार की मात्रा भी रह सकती है किंतु शममूलक शांतरस

१. विश्वनाथ, साहित्यदर्पण, ३।२४५-४६।

२. वैराग्यसंसारभीरुतातत्वज्ञानवीतरागपरिशीलनपरमेश्वरानुग्रहादिविभावो, यमनियमाध्यात्मशास्त्रचिंतनाद्यनुभावो धृतिस्मृतिनिर्वेदमत्यादि व्यभिचारी तृष्णाक्षय रूपः शमः स्थायिभावश्चर्वणां प्राप्तः शान्तो रसः। —हेमचंद्र, काव्यानुशासन, २-१७।

३. संसार भय-वैराग्य-तत्व-शास्त्रविमर्शनः।
शांतोऽभिनयनं तस्य क्षमाध्यानोपकारता। —नाट्यदर्पण, तृतीय विवेक।

में अहंकार के लिए किंचिन्मात्र भी अवकाश नहीं है। विश्वनाथ का मत है कि जो विद्वान नागानंद नाटक को शांतरस प्रधान मानते हैं वे भ्रांतिग्रस्त हैं क्योंकि उसके नायक जीमूतवाहन की चित्तवृत्ति में मलयवती का प्रेम और अंत में उसे चक्रवर्तित्व की उपलब्धि उसे दयावीर के स्थायिभाव 'करुणासंवलित उत्साह' के निकट रख देती है।

तत्त्वज्ञानजन्य 'निर्वेद' अथवा 'शम' ही शांतरस का स्थायिभाव है

तत्त्वज्ञान से उत्पन्न 'निर्वेद' को शांतरस का स्थायिभाव मानने वाले आचार्यों का कथन है कि वह निर्वेद दारिद्र्य आदि कारणों से उत्पन्न निर्वेद से भिन्न होता है। वह निर्वेद मोक्ष का कारण है अतः भरतमुनि ने उसे स्थायिभाव और संचारी भाव का मध्यवर्ती माना है। अभिनवगुप्त के मतानुसार भरतमुनि ने भी तत्त्वज्ञानजन्य निर्वेद को शांतरस का स्थायिभाव तथा मोक्ष का साधन कहकर उसे व्यभिचारिभावों में सर्वप्रथम स्थान दिया है। इस पर यह प्रश्न किया जा सकता है कि जब निर्वेद को अन्य रसों में व्यभिचारिभाव माना जाता है तथा भरतमुनि ने भी उसे व्यभिचारिभावों के अंतर्गत माना है तो फिर भला वह स्थायिभाव कैसे हो सकता है? इसका उत्तर स्पष्ट है। बात यह है कि जब शृंगार रस के लिए निषिद्ध 'जुगुप्सा' भाव की सत्ता व्यभिचारिभाव के रूप में होते हुए भी उसे बीभत्स रस का स्थायिभाव माना जा सकता है तो फिर निर्वेद नामक व्यभिचारिभाव शांतरस का स्थायिभाव क्यों नहीं बन सकता? आचार्यों का अभिमत है कि सभी स्थायिभावों का अपने रस में स्थायिभावत्व तथा अपने से भिन्न अन्य रसों में व्यभिचारिभावत्व स्वीकार करने में किसी प्रकार की आपत्ति नहीं होनी चाहिए। ऐसी स्थिति में निर्वेद नामक भाव परिस्थिति के अनुरूप स्थायिभाव भी हो सकता है और व्यभिचारिभाव भी, अतः उसे शांतरस का स्थायिभाव मानने में किसी प्रकार की शंका करना समीचीन नहीं है। तत्त्वज्ञानजन्य निर्वेद केवल स्थायिभाव ही नहीं अपितु रत्यादिरूप अन्य स्थायिभावों का उपमर्दक भी है, इसलिए उसे शांतरस का स्थायिभाव स्वीकार करने में किसी भी प्रकार की आशंका नहीं की जानी चाहिए।

जो विद्वान् तत्त्वज्ञानजन्य निर्वेद को शांतरस का स्थायिभाव नहीं मानते उनका आक्षेप यह है कि मोक्ष का कारण वैराग्य है और वैराग्य का कारण या बीज है तत्त्वज्ञान, अतः वैराग्य के मूलभूत तत्त्वज्ञान को मोक्ष का साक्षात् कारण नहीं माना जा सकता। शांतरस के लिए तत्त्वज्ञान का विभावत्व परंपरित कारण से सिद्ध होता है जिससे उसमें अतिव्याप्ति दोष की गंध आने लगती है, अतः तत्त्वज्ञानजन्य निर्वेद शांतरस का स्थायिभाव नहीं है। इस प्रकार के विचारकों का एक तर्क यह भी है कि वैराग्य से तत्त्वज्ञान उत्पन्न होता है न कि तत्त्वज्ञान से वैराग्य, अतः तत्त्वज्ञान से उत्पन्न वैराग्य या निर्वेद को शांतरस का स्थायिभाव मानना संगतिपूर्ण नहीं है। आचार्यों की यह मान्यता सर्वथा निर्विवाद रूप में स्वीकार नहीं की जा सकती क्योंकि इसके विपक्ष में भी अनेक तर्क दिये जा सकते हैं। सांख्य और न्याय दर्शन में तत्त्वज्ञान और वैराग्य के पारस्परिक सम्बन्ध को लेकर भिन्न-भिन्न धारणाएं व्यक्त की गई हैं। महर्षि पतंजलि ने अपने योगसूत्र (१-१६) में लिखा है कि 'तत्त्वज्ञानी को सर्वत्र ही दृढ़तर वैराग्य होता है'

जिससे स्पष्ट है कि तत्त्वज्ञानजन्य निर्वेद या वैराग्य को मोक्ष का कारण मानते हुए यदि उसे शांतरस का स्थायिभाव माना जाय तो अनुचित नहीं है। इसके विपरीत प्रतिपक्षियों का कहना है कि भगवान् पतंजलि ने जिस प्रकार के वैराग्य का उल्लेख किया है वह तो ज्ञान की पराकाष्ठा है अतः तत्त्वज्ञान की श्रृंखला द्वारा परिपुष्ट होने वाला वह तत्व-ज्ञान 'निर्वेद' न होकर 'परवैराग्य' होता है, इसलिए शांतरस का स्थायिभाव 'निर्वेद' न होकर 'तत्त्वज्ञान' ही माना जाना चाहिए। आचार्य अभिनवगुप्त ने 'वैराग्य, 'निर्वेद' तथा 'तत्त्वज्ञान' विषयक विभिन्न मतों का उल्लेख कर अंत में यह निष्कर्ष निकाला है कि 'शम' का ही दूसरा नाम 'निर्वेद' है अतः निर्वेद के स्थान पर 'शम' को शांतरस का स्थायिभाव मानने में किसी को आपत्ति नहीं होनी चाहिए। उनका कथन है कि शम और शांत शब्द उसी रूप में पर्यायवाची हैं जिस रूप में हास और हास्य। जिस प्रकार 'हास' को हास्यरस का स्थायिभाव मानने में किसी प्रकार की आपत्ति नहीं होती, उसी प्रकार 'शम' को शांतरस का स्थायिभाव मानने में किसी प्रकार की कोई शंका नहीं होनी चाहिए।

रत्यादिभावों की अध्यात्मपरता में भी शांतरस की स्थिति निष्पन्न है

विद्वानों का एक वर्ग इस विचार का समर्थक है कि रत्यादि चित्तवृत्तियाँ जब श्रृंगारादि में उपयोगी विभावों से भिन्न होकर श्रुत अर्थात् अध्यात्मचर्चा आदि अलौकिक विभाव-विशेषों से संश्रित होती हुई शांतरसोपयोगी विचित्र रूप धारण कर लेती हैं तो वे अपनी विलक्षणता के कारण शांतरस की स्थायिभाववृत्ति बन जाती हैं। इस विषय को विशेष रूप से स्पष्ट करते हुए यह कहा जा सकता है कि नायक-नायिकारूप विभावों से परिपुष्ट रति जहाँ श्रृंगार रस की उत्पादिका होती है वहाँ वही रति अध्यात्मचर्चा आदि विभावों से संपुष्ट होकर शांत रस की जननी हो जाती है। रति के अतिरिक्त अन्य स्थायिभाव भी जब अपने लिए निर्धारित विभावों के स्थान पर श्रुतादि रूप अन्य विभावों के द्वारा भिन्न प्रकार की अनुभूति के जनक हो जाते हैं तो उन्हें भी शांतरस के स्थायिभाव माना जा सकता है। अखंड आनंदस्वरूप आत्मविषयक रति किस प्रकार मोक्ष के साधन शांतरस की स्थायिवृत्ति हो जाती है, इस विषय में गीता का वह श्लोक उल्लेखनीय है जिसमें कहा गया है कि जो व्यक्ति आत्मरति, आत्मतृप्ति और आत्मतुष्टि में अंतर्लीन रहता है, उसके लिए कोई कर्तव्य शेष नहीं रहता। रति-व्यतिरिक्त अन्य स्थायिभाव भी जब अध्यात्मचर्चित और मोक्षसाधक बन जाते हैं तो उन्हें भी शांतरस का स्थायिभाव माना जा सकता है। उदाहरणार्थ समस्त वस्तुओं के विषय में विकार को देखकर विकृत-दर्शनजन्य हास्य-रस का स्थायिभाव 'हास' शांत रस को उत्पन्न करता है तो समस्त विश्व को शोच्य रूप में देखने वाले साधक को करुण रस का स्थायि-भाव 'शोक' शांत रस की अनुभूति कराता है। इसी प्रकार सांसारिक वृत्तांत को आत्मा के लिए अपकारी रूप में देखने वाले के लिए अपकारित्वजन्य रौद्र रस का 'क्रोध' रूप स्थायिभाव शांत रस की अभिव्यक्ति कराने का आधार बनता है तो अतिशय ज्ञानप्रधान वीर्य अर्थात् उत्साह का आश्रय लेने वाले साधक के लिए वीर रस का स्थायिभाव

'उत्साह' शांतरस की निष्पत्ति कराता है। समस्त विषय-समुदाय से भयानुभूति करने वाले साधक के लिए भयानक रस का स्थायिभाव 'भय' मोक्षसाधक शांत रस का जनक है तो सम्पूर्ण लोक द्वारा स्पृहणीय प्रमदा आदि से भी घृणा करने वालों के लिए बीभत्स रस का स्थायिभाव 'जुगुप्सा' शांत रस के लिए भी स्थायिवृत्ति बन जाता है। अपने अपूर्व आत्मस्वरूप के अतिशय की प्राप्ति से विस्मय को प्राप्त साधक के लिए अद्भुत रस का स्थायिभाव 'विस्मय' भी मोक्ष की प्राप्ति कराने वाला होता है। इस प्रकार रति, हास, शोक, क्रोध, उत्साह, भय, जुगुप्सा और विस्मय संज्ञक आठों स्थायिभाव भिन्न-भिन्न रसों के उत्पादक होने पर भी अपनी मोक्ष-साधिका श्रेयमयी स्थिति में शांत रस की निष्पत्ति कराने वाले होते हैं, अतः आचार्यों के इस वर्ग ने रत्यादि की अध्यात्म-परता में शांत रस की निष्पत्ति मानी है। वस्तुतः भरतमुनि ने भी विशिष्ट विभावों की गणना करते हुए उनके अंत में 'आदि' शब्द का प्रयोग किया है जिससे स्पष्ट है कि वे भी 'आदि' शब्द से उसी प्रकार के अन्य भावों का भी संग्रह करना उचित समझते थे जो सामान्य हेतुओं से भिन्न श्रुतादि रूप अलौकिक हेतुओं से उत्पन्न रत्यादि की मोक्ष-साधनता को स्वीकार कराने वाले हैं। अभिप्राय यह है कि रत्यादि स्थायिभावों में से कोई भी स्थायिभाव मोक्षसिद्धि में उपयोगी बनकर शांतरस की निष्पत्ति कराने में समर्थ हो सकता है। आचार्य अभिनवगुप्त को यह मत मान्य नहीं है। उनका मत है कि इस प्रकार की मान्यता से शांत रस का स्थायित्व विशीर्ण हो जाता है और प्रत्येक पुरुष में भिन्न-भिन्न स्थायिभाव मानने पर शांतरस के भी अनेक भेद हो जाते हैं जिनसे अनेक प्रकार के दोषों की संभावना हो सकती है।

रत्यादि भावों की समष्टि शांतरस का स्थायिभाव नहीं है

आचार्यों का एक अन्य सम्प्रदाय इस मत का प्रतिपादक है कि रत्यादि स्थायि-भावों की समष्टि को ही शांतरस का स्थायिभाव कहा जा सकता है। अपने कथन का स्पष्टीकरण करते हुए इन आचार्यों ने लिखा है कि जिस प्रकार पानक रस में शर्करा और मिर्च आदि अनेक द्रव्यों का स्वाद मिलकर एक विचित्र प्रकार का रस उत्पन्न कर देता है, उसी प्रकार रत्यादि स्थायिभाव पानकरसन्याय से एकत्र होकर शांतरस में भी एक विचित्र प्रकार का आस्वादन उद्भूत कर देते हैं। इस मत का आशय यह है कि पानकरस के समान सभी स्थायिभाव मिलकर शांतरस में स्थायिभाव बनते हैं। तत्त्वतः यह मत किसी प्रकार के तर्कपुष्ट आधार पर अवस्थित नहीं है, क्योंकि न तो रत्यादि विषयक अनेक प्रकार की चित्तवृत्तियों का एक साथ होना संभव है और न हास और क्रोध तथा उत्साह और भय जैसी विरोधी वृत्तियों को एक साथ समन्वित करना ही समुचित है। निर्वेद और रत्यादि की समष्टि में भी शांतरस का स्थायिभाव नहीं माना जा सकता, अतः इस मान्यता में किसी प्रकार का तर्कपूर्ण बल नहीं है।

'आत्मज्ञान' ही तत्त्वतः शांत रस का स्थायिभाव है

आचार्य अभिनवगुप्त के मतानुसार तत्त्वज्ञान अथवा आत्मज्ञान ही मोक्ष का

साधन है अतः उसे ही शांतरस का स्थायिभाव मानना सभी दृष्टियों से समीचीन है। यह ज्ञान इन्द्रियजन्य भौतिक ज्ञान से भिन्न और आत्म-साक्षात्कारपूर्ण होता है जिसमें ज्ञान और आनंद आदि विशुद्ध धर्मों का योग तथा परिकल्पित विषयभोगों का राहित्य रहता है। अभिनवगुप्त का कहना है कि आत्म-तत्त्व की व्यापकता की दृष्टि से भले ही आत्मज्ञान को प्रत्येक रस का स्थायिभाव मानने का आग्रह किया जाय, किंतु अन्य रसों में उसका स्थायिभावत्व नहीं माना जा सकता। इसका कारण यह है कि शांतरस की स्थिति में जिस प्रकार का आत्मसाक्षात्कारात्मक ज्ञान होता है वैसा अन्य रसों की स्थिति में नहीं होता। योगशास्त्र के अनुसार केवल समाधिकाल में ही आत्मा का अपने स्वरूप में अवस्थान अथवा साक्षात्कार होता है, क्योंकि उस स्थिति में किसी भी प्रकार का वृत्तिकालुष्य नहीं होता। रत्यादि के अनुभव काल में आत्मज्ञान की वैसी विशुद्धता नहीं रहती जैसी शांतरस की अवतारणा में होती है। यों तो प्रत्येक रस में आत्मतत्त्व का कुछ न कुछ अंश विद्यमान रहता है और तात्विक दृष्टि से यह उचित तथा अनिवार्य भी है किंतु शृंगार आदि रसों में रति आदि स्थायिभाव आत्मा-रूपी स्थायी भित्ति के आश्रित होने पर भी अन्य व्यभिचारिभावों की अपेक्षा अधिक काल तक स्थिर रहते हैं अतः स्थायिभाव कहलाते हैं, जबकि शांतरस की निष्पत्ति में तत्त्वज्ञान का प्राधान्य अथवा स्थायिभावत्व इतना अधिक रहता है कि रत्यादि चित्तवृत्तियाँ भी उसके सम्मुख व्यभिचारिभाव को प्राप्त हो जाती हैं। अतः अपनी सर्वथा पृथक् एवं विशिष्ट सत्ता के कारण ही आत्मज्ञान तथा तत्त्वज्ञान को ही शांतरस का स्थायिभाव मानना न्यायोचित है। अभिनवगुप्त ने 'न हि रुण्डमुण्डयोः मध्ये तृतीयं गोत्वमिति गण्यते' की दृष्टि से आत्मविषयक तत्त्वज्ञान की गणना पृथक् भाव के रूप में नहीं की है जिससे यह तथ्य ध्वनित है कि पृथक् गणना न करने पर भी उसका स्थायिभावत्व स्वतः सिद्ध है और भावों की एकोनपंचाशत् (४९) संख्या भी किसी भी रूप में व्याहत नहीं होती। अभिप्राय यह है कि अभिनवगुप्त के मतानुसार आत्मज्ञान या तत्त्वज्ञान ही शांतरस का स्थायिभाव है और आत्मा ही समस्त भावों का आधारभूत एवं भित्तिस्थानीय स्थायी तत्त्व है अतः उसकी पृथक् गणना करने की आवश्यकता नहीं है।

शांतरस का स्वतंत्र रस के रूप में प्रतिष्ठा का आधार

विवेचना के इसी प्रसंग में एक शंका उत्पन्न होती है और वह यह कि जब शांतरस के स्थायिभाव के रूप में 'तत्त्वज्ञान' की पृथक् गणना नहीं की गई है तो फिर शांतरस की भी सत्ता स्वतंत्र रस के रूप में क्यों मानी जाय? इसका उत्तर देते हुए आचार्य अभिनवगुप्त लिखते हैं कि शांतरस का आस्वाद शृंगारादि रसों के आस्वाद से भिन्न एवं विलक्षण होता है अतः उसकी पृथक् गणना करना सर्वथैव समुचित है। वस्तुतः रति और हास्य आदि स्थायिभावों की अनुभूति पृथक्-पृथक् तथा असम्पृक्त रूप में होती है जबकि रत्यादि के समान अन्य भावों के साथ अमिश्रित रूप से शांतरस में अनुभूत होने वाला आत्मा का स्वरूप लौकिक प्रतीतिगोचर नहीं होता और समाधिकाल में अविकल्प रूप से स्वरूपावस्थ होने पर भी व्युत्थान-काल अर्थात् समाधिभंग के अवसर पर अन्य

चित्तवृत्तियों से कलुषित रूप में ही प्रतीत होता है। अतः लोक में आत्मा के स्वरूपतः पृथक् प्रतीत न होने से और शांतरस में उसके पृथक् रूप से आस्वाद्य होने से शांतरस की गणना की गई है।[1] आचार्य अभिनवगुप्त का यह मत योगदर्शन से सुसम्मत है क्योंकि उक्त दर्शन में 'योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः', 'तदादृष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्' तथा 'वृत्तिसारुप्यमितरत्र' आदि सूत्रों में यही बात कही गई है कि चित्तवृत्तियों के निरोध का नाम 'योग' या 'समाधि' है जिसमें अन्य किसी भी प्रकार की वृत्ति न होने से द्रष्टा अर्थात् आत्मा का अपने स्वरूप में अवस्थान होता है और उस समाधि से भिन्नकाल में 'वृत्तिसारूप्य' अर्थात् सुखदुःखादि रूप चित्तवृत्ति के अनुसार आत्मस्वरूपाभास होता है जिससे विशुद्ध आत्मास्वरूप की प्रतीति नहीं होती। चूंकि वृत्तिशून्य रूप में अलग प्रतीति नहीं होती अतः स्थायिभाव के रूप में आत्मा की पृथक् गणना नहीं की गई है। शांतरस में आत्मा का पृथक् आस्वाद होता है अतः शांतरस की स्वतंत्र सत्ता मानी जाती है—अभिनवगुप्त के कथन का यही मूल मंतव्य है।

अभिनवगुप्त ने 'निर्वेद' या 'शम' को आत्मा का स्वरूप न मानकर 'चित्तवृत्ति-रूप' माना है जिसका आशय यह है कि वे शांतरस के स्थायिभाव नहीं हो सकते। उनके मतानुसार तो आत्मा ही शांतरस का स्थायिभाव है। भरतमुनि ने भी आत्मस्वरूप को 'शम' शब्द से अभिहित नहीं किया है, क्योंकि शम तथा निर्वेद आदि के समान अन्य भावों में न तो उसके व्यभिचारित्व की संभावना की जा सकती है और न वह विभिन्न अनुभूतियों का जनक ही हो सकता है। भरतमुनि का आशय यह है कि उस विशुद्ध आत्मरूप को शम या निर्वेद रूप से व्यपदिष्ट किया जाय तो किसी भी प्रकार की आपत्ति नहीं हो सकती किंतु ऐसा करते हुए भी यह बात तो ध्यान में रखनी ही पड़ेगी कि शम और निर्वेद आत्मा का स्वरूप न होकर विशेष प्रकार की चित्तवृत्तियाँ ही हैं। साथ ही साथ यह भी मानना होगा कि शांतरस का स्थायिभावरूप निर्वेद भी दारिद्रच आदि रूप अन्य कारणों अथवा विभावों से उत्पन्न निर्वेद का समानजातीय पदार्थ नहीं है। इस पर यदि यह कहा जाय कि जब दारिद्रचादि कारणों से उत्पन्न निर्वेद और तत्त्वज्ञान से उद्भूत निर्वेद भिन्न-भिन्न प्रकार के होते हैं तो दोनों को 'निर्वेद' क्यों कहा जाता है? ऐसा कहने से तो अनेक प्रकार की विसंगतियाँ उपस्थित हो सकती हैं। इसका उत्तर यह है कि कारण का भेद होने पर भी समान-जातीय पदार्थों को उसी नाम से अभिहित करने में कोई दोष नहीं है। यह बात 'निर्वेद' भाव में ही नहीं अपितु रति और भय आदि में भी समान रूप से प्रदर्शित होती है। इसलिए यह कहना सर्वथा समुचित है कि आत्मा का स्वरूप ही तत्त्वज्ञान या शमता रूप है जिस कालुष्योपरागरूप आत्मा के रत्यादि भाव होते हैं। शृंगारादि रसों में आत्मा के विशुद्ध स्वरूप की अनुभूति न होकर चित्तवृत्तियों के कलुषित रूप की अनुभूति होती है इसलिए उन रत्यादि के विद्यमान होने पर भी समाधि के द्वारा उसके अव्यवहित विशुद्ध स्वरूप का अनुभव करके व्युत्थान-काल में भी चित्त की कुछ काल तक प्रशांतवाहिता ही रहती है। इसलिए आत्मस्वरूप

१. हिन्दी अभिनवभारती, भाष्यकार आचार्य विश्वेश्वर, पृ० ६२५।

या तत्त्वज्ञान ही शांत रस का स्थायिभाव है ।

शांतरस की स्वाभाविकता, प्रधानता, रसराजता और स्वतंत्रता का प्रतिपादन

अभिनवगुप्त ने शांतरस की प्रशंसा में अनेक प्रकार के प्रमाण प्रस्तुत किये हैं। उनके मतानुसार शांतरस ही स्वाभाविक रस है तथा शेष रस उसके विकृत रूप हैं। उनका कहना है कि तत्त्वज्ञान के 'अनुभव' ही यमनियम आदि के द्वारा उपकृत होकर शांतरस के 'अनुभाव' हो जाते हैं । ईश्वरानुग्रह आदि शांतरस के विभाव होते हैं तथा विनष्ट होते हुए रत्यादि भावों का भी शांतरस में आस्वादन किया जाता है । परोपकार-विषयक इच्छा एवं प्रयत्नरूप उत्साह जिसे दया भी कहते हैं, इस शांतरस का विशेष रूप से अंतरंग होता है । इसे कुछ विद्वान् दयावीर अथवा धर्मवीर नाम से भी व्यवहृत करते हैं। विद्वानों की इस मान्यता पर यह संदेह किया जा सकता है कि शांतरस में तो अहंकारशैथिल्य होता है जबकि उत्साह तो अहंकारमूलक कहा जाता है, फिर भला उत्साह को शांतरस का अंतरंग कैसे कहा जा सकता है ? इस शंका का उत्तर यह है कि विरुद्ध भाव का भी व्यभिचारिभाव के रूप में वर्णन करना अनुचित नहीं है क्योंकि यदि वैसा करना अनुचित होता तो शृंगार रस में निर्वेद आदि का वर्णन नहीं किया जाता। वस्तुतः उत्साह को शांतरस का विरोधी कहना उचित नहीं है क्योंकि कोई भी अवस्था उत्साहशून्य नहीं हो सकती । इच्छा और प्रयत्न के अभाव में व्यक्ति जड़ पाषाणवत् हो जायगा और हम यह जानते हैं कि शांतरस की स्थिति को प्राप्त व्यक्ति पत्थर के समान जड़ नहीं होता क्योंकि यह भी देखा जाता है कि शांतहृदय वाले साधकों के मन में परोपकार और लोककल्याण आदि कार्यों के लिए अपना सर्वस्व दान कर देने का अलौकिक उत्साह रहता है अतः उत्साह और शांत रस में किसी भी प्रकार का विरोध नहीं है ।

अभिनवगुप्त ने अनेक तर्कों और उदाहरणों द्वारा यह तथ्य प्रतिष्ठित करने की चेष्टा की है कि परोपकार विषयक इच्छा एवं उत्साह ही शांतरस के अंतरंग हैं इसीलिए इसको दयावीर या धर्मवीर के नाम से भी अभिहित करते हैं। उन्होंने 'नागानन्द नाटक के नायक जीमूतवाहन का मनोविश्लेषण करते हुए अंततः यह निष्कर्ष निकाला है कि जीमूतवाहन की मनःस्थिति में दयारूप उत्साहवृत्ति का प्राधान्य होने पर भी उसमें शांतरस की ही अवस्थिति है। वह परोपकार के लिए अपना आत्मोत्सर्ग करने के लिए प्रस्तुत है, किंतु उसका मानस बोधिसत्त्वों की भाँति शांतरसपूर्ण मनःस्थिति से भिन्न नहीं है। यह बात अवश्य है कि मोक्षप्राप्ति की अंतिम भूमिका में पहुंच जाने पर उत्साह आदि सभी भावों का अभाव हो जाता है और तब यह शांतरस अप्रयोज्य अर्थात् अनभिनेय हो जाता है। इससे यदि शांतरस के विरोधी विचारक यह आशय निकालें कि अनभिनेयता के कारण शांतरस का अस्तित्व ही नहीं माना जा सकता तो उचित नहीं है। अभिनवगुप्त का कथन है कि पर्यन्त दशा में तो रति ग्रौर शोक आदि भावों का भी अभिनय नहीं किया जा सकता। जिस प्रकार संभोग-शृंगार की चरम परिणति सर्वथा व्यापार-शून्य होती है उसी प्रकार विप्रलंभ शृंगार तथा करुण आदि अन्य रसों की चरम परिणति भी

व्यापारशून्यता में होती है जिसके कारण उनका अभिनय भी संभव नहीं होता। पर इसका यह अर्थ नहीं कि श्रृंगार और करुण नामक रसों का अस्तित्व ही नहीं होता। जब एक विशेष स्थिति में श्रृंगार और करुण आदि अनभिनेय होते हुए भी अपना अस्तित्व रख सकते हैं तो शांत रस को रस रूप में न मानने में कोई हेतु दृष्टिगोचर नहीं होता। सच तो यह है कि जिस प्रकार रति आदि के संस्कारों के कारण श्रृंगारादि रसों में हृदय की तन्मयता रहती है उसी प्रकार तत्त्वज्ञान के बीजभूत संस्कारों से संस्कृत अंतःकरण में भी शांतरस का तन्मयभाव रहता है।

अभिनवगुप्त ने अपने विवेचन में इस प्रश्न का उत्तर देने का भी उत्तर देने प्रयत्न किया है कि शांतप्रधान नाटकों में वीररस के आस्वाद की क्या संगति होती है? उनका कहना है कि जहाँ शांतरस का प्रयोग किया जाता है वहाँ पुरुषार्थोपयोगी श्रृंगार और वीर आदि रसों में से कोई एक अन्य रस रहता अवश्य है। जिस प्रकार प्रहसन आदि में हास्यादि की प्रधानता होने पर भी अन्य रसों का भी आस्वादन किया जाता है उसी प्रकार शांतरस के साथ श्रृंगार और वीर आदि में से कोई न कोई अन्य रस अवश्य रहता है। अनेक स्थलों पर तो रचना के अंत में निष्पन्न होने वाले श्रृंगार या वीर रस में ही काव्य या नाटक का चरमास्वाद प्रतीत होता है। अभिप्राय यह है कि शांतरस की सिद्धि सभी दृष्टियों से युक्तिसंगत है तभी तो भरतमुनि ने शांतरस को शमरूप स्थायिभावात्मक कहकर उसका अस्तित्व स्वीकार किया है। इस विषय में अभिनवगुप्त का निम्नलिखित कथन उल्लेखनीय है जिसके अनुसार सभी रसों का आस्वाद प्रायः शांत के रूप में ही होता है—

"तत्र सर्वरसानां शान्तप्राय एवास्वादो विषयेभ्यो विपरिवृत्त्या, तन्मुख्यता लाभात्। केवलं वासनान्तरोपहित इति। अस्य सर्वप्रकृतित्वमभिधाय पूर्वमाभिधानम्।"

आचार्य अभिनवगुप्त शांतरस के सबसे प्रबल समर्थक हैं। उन्होंने शांतरस को समस्त रसों में प्रधान और 'रसराज' माना है। उनका तो यहाँ तक कहना है कि शांत रस से ही समस्त रसों की उत्पत्ति होती है और उसी में सब रस विलीन हो जाते हैं। उन्होंने भरत मुनि कृत नाट्यशास्त्र की प्राचीन प्रतियों के आधार पर इस तथ्य का प्रतिपादन किया है कि शांतरस ही समस्त रसों की प्रकृति है। उनके मतानुसार शांतरस का स्थायिभाव पृथक् रूप से इस कारण से विवेचित नहीं किया गया है कि सब रसों में रहने वाले सामान्य भाव की लोक में बार-बार पृथक्-पृथक् गणना नहीं की जाती। वस्तुतः विचारक तत्त्ववेता तो सामान्य को भी पृथक् रूप से समझ लेते हैं इसलिए विवेचक के अभिप्राय से सामाजिकगत आस्वाद-रूप प्रतीति के विषय रूप में शांतरस का स्थायिभाव अलग होता ही है।

अभिनवगुप्त ने अपनी निजी युक्तियों तथा शास्त्र-वचनों के आधार पर नवम रस के रूप में शांतरस की संस्थापना की है। इस रस की प्रतिष्ठा इतिहास, पुराण और अभिधानकोश आदि ग्रंथों में वर्तमान है। अभिनवगुप्त के गुरु श्री उत्पलपादाचार्य ने भी अपने प्रत्यभिज्ञादर्शन में नवरस का सिद्धांत निरूपित करते हुए लिखा है कि आठों देवताओं के श्रृंगारादि प्रदर्शन से भिन्न महादेव के शांत रूप में शांतरस का अधिष्ठान

है। रस-निष्पत्ति के लिए अपेक्षित विभाव, अनुभाव और व्यभिचारिभावों की शांतरसगत योजना करते हुए अभिनवगुप्त ने लिखा है कि वैराग्य और संसारभीरुता आदि शांतरस के विभाव हैं जिनके उपनिबंधन से शांतरस का ज्ञान होता है। मोक्षशास्त्र अथवा उपनिषद् आदि का विचार उसके अनुभाव हैं तो निर्वेद, स्मृति तथा धृति आदि उसके व्यभिचारिभाव। स्मृति, धृति और उत्साह आदि से युक्त ईश्वर-प्रणिधान-विषयक भक्ति तथा श्रद्धा शांतरस के अंगरूप हैं अतः उनकी (भक्तिरस आदि की) पृथक् रस के रूप में गणना नहीं की गई है। अभिनवगुप्त के मतानुसार भक्तिरस का अंतर्भाव शांतरस में हो जाता है। इस विषय में निम्नलिखित संग्रह-कारिकाओं को उद्धृत करना आवश्यक प्रतीत होता है जिनमें क्रमशः शांतरस का स्वरूप तथा उसे अन्य रसों की मूल प्रकृति सिद्ध किया गया है—

मोक्षाध्यात्मनिमित्तस्तत्वज्ञानार्थहेतुसंयुक्तः।
निःश्रेसधर्मयुतः शान्तरसो नाम विज्ञेयः ॥१॥
स्वं स्वं निमित्तमासाद्य शान्ताद् भावः प्रवर्तते।
पुनर्निमित्तापाये तु शांत एव प्रलीयते ॥२॥

अर्थात् मोक्ष रूप अध्यात्म की प्राप्ति का कारण अथवा मोक्षप्राप्ति के उद्देश्य से प्रवृत्त, तत्त्वज्ञान रूप हेतु से युक्त और निःश्रेयस रूप फल से समन्वित शांतरस समझना चाहिए ॥१॥

अपने-अपने अनुरूप कारण को प्राप्त करके शांत रस से ही रत्यादि भाव उत्पन्न होते हैं और उस निमित्त के समाप्त हो जाने पर फिर शांत में ही रत्यादि भाव लीन हो जाते हैं ॥२॥

शांतरस के तत्त्वास्वाद की प्रविधि

अभिनवगुप्त ने शांतरस की सत्ता सिद्ध करने के साथ-साथ उसकी अन्य रसों की अपेक्षा प्रधानता का सिद्धांत भी स्थापित किया है। उनका वह विवेचन अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है जिसमें उन्होंने इस तत्त्व की मीमांसा की है कि शांतरस के तत्त्व का आस्वाद किस प्रकार होता है? इस विषय में हम आचार्य अभिनवगुप्त का मतोल्लेख करना आवश्यक समझते हैं जो निम्नलिखित है—

"उपरागदायिभिरुत्साहरत्यादिभिरुपरक्तं यदात्मस्वरूपं तदेव विरलोम्भित-रत्नान्तररालनिर्भासभासनसिततरसूत्रवदाभातस्वरूपं, सकलेषु रत्यादिषू परंजकेषु तथाभावेनापि सकृद्विभातो यमात्मेति न्यायेन भासमानं परोन्मुखतात्मक सकलदुःखजालहीनं परमानंदलाभसं विदेकत्वेन काव्य प्रयोग प्रबंधाभ्यां साधारणतया निर्भास-मानमन्तर्मुखावस्थाभेदेन लोकोत्तरानंदानयनं तथाविधहृदयं विधत्ते।"

—"उपरागदायी अर्थात् आत्मा के स्वरूप को आच्छादित करने वाले उत्साह और रति आदि से आच्छादित जो आत्मा का स्वरूप है वही माला में दूर-दूर पर पिरोई हुई मणियों के बीच में से चमकते हुए उज्ज्वल सूत्र के समान कभी-कभी थोड़ी देर के लिए भासित हो जाने पर रत्यादि रूप सारे उपरंजकों के उस रूप में रहने पर भी

'सकृद्विभातं त्वजमेकमक्षरं' इत्यादि वाक्यों के अनुसार यह आत्मरूप एक बार भी प्रकाशित होकर विषयोन्मुखता रूप समस्त दुःखों के जाल से रहित और परमानंद की प्राप्ति के साथ अभिन्न रूप से काव्य तथा नाटक आदि के द्वारा समान रूप से प्रतीत होते हुए अंतर्मुखी अवस्थाभेद से लोकोत्तर आनंद का प्रापक होकर हृदय को भी उस प्रकार का आनन्दमय बना देता है।"[1]

शांतरस के अस्तित्व और अभाव विषयक निष्कर्ष

शांतरस के अस्तित्व और अभाव विषयक ऊहापोहों का शास्त्रीय विमर्श करने के पश्चात् निष्कर्ष के रूप में कहा जा सकता है कि यों तो भरतमुनि ने काव्य में शृंगार, हास्य, करुण, रौद्र, वीर, भयानक, बीभत्स, अद्भुत और शांत संज्ञक नौ रस माने हैं किंतु 'शम' नामक स्थायिभाव से निष्पन्न शांत रस को अनभिनेय कहकर नाट्य में उसका अभाव बतलाया है।[2] अभिनय में शांतरस की सिद्धि न होने का यह कारण निर्दिष्ट किया गया है कि वह शम अथवा वैराग्य से सम्बन्धित है जिसका अभिनय नट जैसे सांसारिक भावप्रवण व्यक्ति से कैसे संभव है ? इसका उत्तर देते हुए प्रतिपक्षियों ने लिखा है कि रस का सम्बन्ध नट से न होकर सामाजिक से है, अतः नट की मनोवृत्तियों के साथ समता का कोई संबंध नहीं है। वास्तव में सहृदय सामाजिक ही रस के भोक्ता होते हैं, अतः यदि वे शमभावनिष्ठ हैं तो शांतरस की अभिमुक्ति कर सकते हैं। सच तो यह है कि नटों में जिस प्रकार भय और क्रोध की वास्तविक भावनाओं का कोई अस्तित्व नहीं होता, फिर भी वे उनका अभिनय करते ही हैं, उसी प्रकार शम का अभिनय भी किया जा सकता है। उस अभिनय की सफलता में उनका शिक्षाभ्यास ही मुख्य हेतु है जिससे वे क्रोधादि भावों के वध और बंधन आदि वास्तविक कार्यों की अनुत्पत्ति में भी कृत्रिम कार्यों की तद्वत् उत्पत्ति करने का प्रयास करते हैं। यही बात शमभाव के अभिनय में भी चरितार्थ की जा सकती है। यदि यह कहा जाय कि नाट्य में गीत और वाद्य आदि की योजना शमभाव की विरोधिनी है क्योंकि उनसे सामाजिक के मन में विक्षेप और विषय-वासनाओं का संचार होता है और वैसी परिस्थिति में शांतरस का उद्रेक कैसे संभव है तो इसका उत्तर यही है कि देवविषयक भावों में विषय-वैमुख्य का सद्भाव होने से उन भावों के अनुकूल ही गीत और वाद्य आदि की योजना की जा सकती है जिसके फलानुरोध से किसी भी प्रकार की विरोध-वृत्ति संभाव्य नहीं है। यदि विषय-चिंतन मात्र को शांतरस का विरोधी मान लिया जाय तब तो शांतरस का अस्तित्व ही खंडित हो जायगा क्योंकि उसमें भी संसार की अनित्यता आदि आलम्बन-विभाव और सत्संगति, भजन-कीर्तन तथा तीर्थादि पवित्र स्थानों का सेवन उनके विषय-रूप उद्दीपन-विभाव में परिगणित होते हैं। वस्तुतः शांतरस के अनुकूल गीत और वाद्य आदि उसके विरोधी न होकर उसके अभिव्यंजक ही होते हैं, अतः नाट्य आदि में भी शांत रस की

१. हिन्दी अभिनवभारती, पृ० ६४०।

२. शांतस्य शमसाध्यत्वान्नटे च तदसंभवात्।
अष्टावेव रसा नाट्ये, न शांतस्तत्र युज्यते ॥

स्थिति स्वीकार की जा सकती है। इस विषय में संगीतरत्नाकर नामक ग्रंथ में इस बात का स्पष्ट उल्लेख है कि जो लोग नाट्यादि में केवल आठ रस ही मानते हैं और शांतरस की सत्ता स्वीकार नहीं करते वे भ्रमग्रस्त हैं, क्योंकि उन्हें इस विषय का ध्यान नहीं है कि नट किसी भी रस का आस्वादन नहीं करता।[1] नाट्य आदि में शांतरस की स्वीकृति के विषय में विभिन्न दृष्टियों से मतभेदों की संभावना भी की जा सकती है, किंतु श्रव्य काव्य में तो उसकी सत्ता असंदिग्ध है तभी तो महाभारत आदि ग्रंथों में शांतरस का प्राधान्य माना गया है। आचार्य मम्मट ने भी 'अष्टौ नाट्ये रसाःस्मृताः' कहकर भी 'शांतोऽपि नवमो रसः' द्वारा इसी मान्यता की सम्पुष्टि की है।

(२) भक्ति-रस का रूप-दर्शन

भक्ति-रस की अवतारणा के स्रोत

भक्ति-रस का रूप-विमर्श भारतीय काव्यशास्त्र के ऊहापोह का एक अत्यन्त आकर्षक विषय रहा है। भरतमुनि से लेकर पंडितराज जगन्नाथ तक अधिकांशतः जिन काव्यशास्त्रियों ने अपना रस-विमर्श प्रस्तुत किया है, वे भक्ति को स्वतंत्र रस के रूप में प्रतिष्ठित न कर 'देवादिविषयक रति' की संज्ञा देते हुए केवल भावमात्र मानते हैं क्योंकि उनके मतानुसार देवादिविषयक रति और व्यंजना-वृत्ति से ज्ञात हुए व्यभिचारिभाव केवल 'भाव' ही कहे जा सकते हैं। उसे स्वतंत्र रस के रूप में प्रतिष्ठित करने का श्रेय उन वैष्णव आचार्यों को है जिन्होंने अपनी मधुरोपासना को मूर्द्धन्य स्थिति प्रदान करते हुए भक्ति को सर्वोपरि गुरुता प्रदान की थी। इस विषय में श्री रूपगोस्वामी-विरचित 'भक्तिरसामृतसिंधु' नामक ग्रंथ विशेषतः उल्लेखनीय है जिसमें उन्होंने काव्यशास्त्रीय पद्धति से समस्त रसों का पर्यवसान भक्तिरस में करते हुए अपनी मौलिकता का परिचय दिया है। मध्यकालीन वैष्णव सम्प्रदायों में माधुर्य भक्ति का जो प्रबल प्रचार रहा, उसका मूल स्रोत उद्घाटित करना कठिन-सा है किंतु तत्त्वमीमांसा की दृष्टि से उसका आदि उत्स मनुष्य की उस प्रेम-भावना या रति-वृत्ति में माना जा सकता है जो आत्म-प्रसार और आत्म-साक्षात्कार करती हुई अपने जीवन का परम प्राप्य उपलब्ध करने के लिए अनादिकाल से समर्पणोन्मुख रही है। विद्वानों ने वैदिक संहिताओं में प्रयुक्त 'मधुविद्या' और 'मधुलता' आदि शब्दों की व्युत्पत्ति में माधुर्योपासना का बीज अनुसंधित किया है, पर यह मत सर्वमान्य नहीं है। भागवत सम्प्रदाय की पांचरात्र संहिताओं में वर्णित चर्यापाद का विषय-विवेचन माधुर्यभाव की भक्ति का पृष्ठाधार-सा प्रतीत होता है। बौद्धों की तांत्रिक साधना, सूफियों की माधुर्यभावना और ईसाइयों की प्रेमोपासना में भी मधुरभक्ति के तत्त्व-कण समाहित हैं। श्री मधुसूदन सरस्वती ने 'भक्तिरसायन'

---

१. अष्टावेव रसा नाट्येष्विति केचिदचूचुदन्।
तद चारु, यतः कंचिन्न रसं स्वदते नटः॥

नामक ग्रंथ में भक्ति की जो परिभाषा दी है उससे उसमें प्रेम, अनुराग और चित्त के द्रवीभाव का प्राधान्य सिद्ध होता है।[1] 'नारदभक्तिसूत्र' में उसे 'सा त्वस्मिन परम प्रेमरूपा' तथा 'शांडिल्य भक्तिसूत्र' में उसे 'सा परानुरक्तिरीश्वरे' कहा गया है। इस विषय में गौड़ीय आचार्यों का योगदान विशेष महत्त्वपूर्ण है। उन आचार्यों के विवेचन और निरूपण का ही यह प्रभाव है कि भक्तिपरक काव्य पर माधुर्य-भावना का प्रचुर प्रभाव पड़ा और हिन्दी साहित्य का मध्यकाल भक्ति की अजस्र धारा से प्रपूरित हो गया। उस काव्य-साहित्य के वर्ण्य विषयों की शास्त्रीय समीक्षा करने पर भक्ति की स्थिति निश्चय ही एक प्रमुख रस के रूप में स्पष्ट हो जाती है।

चैतन्य-मत और भक्ति-रस की परम्परा

यद्यपि महाप्रभु चैतन्यदेव ने किसी मत या सम्प्रदाय का प्रवर्तन नहीं किया तथापि उनके व्यक्तित्व में ऐसा प्रबल आकर्षण और विलक्षण सम्मोहन था जिसके कारण वृन्दावन के षट् गोस्वामियों ने उनका शिष्यत्व ग्रहण कर उनके सिद्धांतों को शास्त्रीय व्यवस्था प्रदान की। बलदेव विद्याभूषण आदि विद्वानों ने चैतन्य मत को माध्व सम्प्रदाय के अंतर्गत निरूपित करने का प्रयत्न किया है[2] किन्तु उनकी यह धारणा तत्त्व-संगत नहीं है। वस्तुतः चैतन्य मत का दार्शनिक सिद्धांत 'अचिन्त्य भेदाभेदवाद' है जिसकी व्याख्या करते हुए जीवगोस्वामी ने लिखा है कि 'भगवान् में स्वरूप आदि शक्तियों के अभिन्न होने के कारण विचार करना अशक्य होने से भेद प्रतीत होता है और भिन्न होने से विचार करना शक्य न होने से अभेद प्रतीत होता है, इसलिए इनमें भेदाभेद स्वीकार किया जाता है। ये दोनों अचिन्त्य हैं जिसके कारण इस मत का नाम अचिन्त्य भेदाभेद है।[3] हमें यहाँ माध्वमत और चैतन्य मत का तात्विक अंतर निरूपित करना अभीष्ट नहीं है। हम तो यहाँ पर केवल इतना ही संकेत करना चाहते हैं कि काव्य में भक्ति-रस की मधुर प्रतिष्ठा कराने के क्षेत्र में चैतन्यमतावलम्बी षट् आचार्यों का महत्त्व विशेष रूप से उल्लेखनीय है क्योंकि उन्हीं से भक्ति रस की परम्परा को काव्यगत शास्त्रीय प्रौढि प्राप्त हुई है। इस विषय में 'भक्तिरसामृतसिंधु' नामक ग्रंथ सभी दृष्टियों से पठनीय है जिसमें न केवल काव्यशास्त्रीय रसों का भक्ति-रस में पर्यवसान किया गया है अपितु भक्ति को मुख्य रस मानकर अन्य साहित्यिक रसों का वर्णन उसके अंगरूप में हुआ है। उस ग्रंथ को विशाल सिंधु के रूप में कल्पित कर उसके रचयिता ने 'पयोधरीभूतचतुः समुद्रा' के अनुसार उसके चार विभाग—पूर्व, दक्षिण,

---

१. द्रुतस्य भगवद्धमति् धारावाहिकतां गता।
सर्वेशे मनसो वृत्ति भक्तिरित्यभिधीयते ॥
द्रवीभावपूर्विका मनसो भगवदाकाररूपा सविकल्पवृत्तिर्भक्तिरिति।

२. इस विषय में बलदेव विद्याभूषण रचित 'गोविन्दभाष्य' और 'प्रमेय रत्नावली' नामक ग्रंथ पठनीय हैं।

३. "स्वरूपाद्य भिन्नत्वेन चितायितुमशक्यत्वाद् भेदः, भिन्नत्वेन चिन्तयितुम् शक्यत्वात् अभेदश्च प्रतीयते इति शक्ति शक्तिमतोर्भेदोभेदौ अंगीकृतौ। तौ च अचिन्त्यौ। स्वमते तु अचिन्त्य भेदाभेदावेव अचिंत्य शक्तित्वात्।" —जीवगोस्वामी, भगवत्संदर्भ।

पश्चिम और उत्तर—किये हैं जिनमें कुल मिलाकर तेईस लहरियाँ हैं और जिनके अंतर्गत क्रमशः सामान्यभक्ति, साधनभक्ति, भावभक्ति और प्रेमभक्ति का निरूपण पूर्व विभाग में; विभाव, अनुभाव, सात्विक भाव, व्यभिचारिभाव और स्थायिभाव का वर्णन दक्षिण विभाग में; शांतरस, प्रीतिभक्तिरस, प्रेयोभक्तिरस, वत्सलभक्तिरस और मधुर-भक्ति रस का वर्णन पश्चिम विभाग में तथा हास्यभक्तिरस, अद्भुतभक्तिरस, वीर-भक्तिरस, करुणभक्तिरस रौद्रभक्तिरस, भयानक भक्तिरस, बीभत्सभक्तिरस, मैत्री-वैरस्थिति भक्तिरस और रसाभास का विवेचन उत्तर विभाग में किया गया है। यह समस्त विवेचन आचार्य रूपगोस्वामी के प्रकांड पांडित्य और अगाध प्रतिभा-कौशल का परिचायक है। उसके अनुशीलन द्वारा भक्सिरस का प्रवृत्ति-निमित्त, भक्तिरस का प्राचीन शास्त्र से भेदाभेद, प्राक्तन रससिद्धान्त की भक्तिरस के प्रति उपजीव्यता और भक्तिरस की प्रक्रिया का सम्यक् बोध हो जाता है। आचार्य रूप स्वामी का यह विवेचन रस-प्रक्रिया में विवेचित किये जाने वाले साधारणीकरण, संविद्विश्रांति और मानसी साक्षात्कारात्मिका प्रतीति की क्रोड़ में भी निरूपित किया जा सकता है जिसके कारण अनेक प्रकार की मौलिक उपलब्धियों के लिए संभावनाएँ बनी हुई हैं। आचार्य-प्रवर के मतानुसार कृष्ण का अन्याभिलाषताशून्य अनुशीलन ही उत्तम भक्ति का लक्षण है जिसमें सम्मुख मोक्षादि सुख भी तुच्छ हैं। उनके शब्दों में उस उत्तम एवं सुदुर्लभ भक्ति का रूप निम्नलिखित है—

अन्याभिलाषिता शून्यं ज्ञानकर्म्माघनावृतम्।
आनुकूल्येन कृष्णानुशीलनं भक्तिरुत्तमा॥
क्लेशघ्नी शुभदा मोक्षलघुताकृत् सुदुर्लभा।
सान्द्रानंदविशेषात्मा श्रीकृष्णाकर्षणी च सा॥[1]

भक्ति-रस की काव्यशास्त्रीय प्रक्रिया

रूपगोस्वामी ने काव्यशास्त्र-विवेचित रससिद्धांत की प्रक्रिया के अनुरूप भक्ति-रस की विवेचना की है। श्रीमद्भागवत में जिस भागवत रस को अमृतद्रवसंयुत फल से उपमित किया गया था,[2] उसे श्री रूपगोस्वामी ने न केवल रसविषयक पूर्णता ही प्रदान की अपितु उसे सर्वोपरि अंगी रस भी सिद्ध किया। जिस प्रकार रस-निष्पत्ति के लिए स्थायिभावों के साथ विभाव, अनुभाव और व्यभिचारिभावों का संयोग अपेक्षित है, उसी प्रकार भक्तिरस के लिए भी वे अंग वांछनीय हैं। आचार्यजी ने सामान्यतया काव्य-शास्त्रीय रसनिष्पत्ति की परम्परा को अपनाकर उसी के सांचे में भक्ति-रस को निरूपित किया है। उनका अभिमत है कि 'भक्तिरस' का स्थायिभाव 'भगवद्रति' अथवा 'कृष्णरति' है जो विभाव, अनुभाव, सात्विक भाव तथा व्यभिचारिभावों द्वारा श्रवण अथवा मनन आदि की सहायता से भक्तों के हृदय में आस्वाद्यता को प्राप्त होता है। भक्ति-रस का

१. भक्तिरसामृतसिंधु, १:१:११ तथा १:१:१३।
२. निगमकल्पतरोर्गलितं फलं, शुकमुखादमृतद्रवसंयुतम्।
पिवत भागवतं रसमालयं, मुहुरहो रसिका भुवि भावुकाः॥

आस्वादन केवल वही व्यक्ति कर सकता है जिसके मानस में पूर्वजन्म तथा वर्तमान जीवन की उत्तम कोटिपरक वासना या भक्ति-संस्कार विद्यमान हो। अपने मंतव्य को विशेष स्पष्ट करने के प्रयोजन से उन्होंने लिखा है कि 'साधन-रूपा वैधी भक्ति के द्वारा जिनके दोषों का शमन हो गया है अतएव प्रसन्न और निर्मल चित्त वाले, भगवान और भागवत जनों के संसर्ग में अनुरक्त रहने वाले, भगवान् के चरणों की भक्ति को अपना जीवन-सर्वस्व समझने वाले तथा प्रेम के अंतरंग कृत्यों का सदैव अनुष्ठान करने वाले भक्तों के हृदय में ही प्राक्तन तथा आधुनिक—दोनों प्रकार के संस्कारों से उज्ज्वल आनंदरूपा रति ही आस्वाद्यता को प्राप्त होकर कृष्णादि रूप विभावादि के द्वारा देखने से प्रौढ़ आनंद के चमत्कार की पराकाष्ठा को प्राप्त होती है।'[1] आचार्य ने रति (भाव) और प्रेम में अंतर माना है और बतलाया है कि प्रेम की स्थिति भाव की अपेक्षा उत्कृष्ट श्रेणी की है अतः वह भाव की अपेक्षा अधिक सरलता से रसरूपता को प्राप्त हो जाता है। उन्होंने भक्ति-रस के लिए अभीष्ट विभावानुभावादि का भी वर्णन किया है और उनके सामान्य-लक्षण-निरूपण में भी भक्ति के अनुकूल पदार्थों की योजना कर ली है। आचार्य का कहना है कि रति केआस्वादन हेतुओं का नाम विभाव है और उनके आलम्बन और उद्दीपन संज्ञक दो भेद हैं। कृष्ण और उनके भक्तों को विद्वानों ने आलम्बन माना है क्योंकि वे ही रति के विषय तथा आधार बनते हैं। कृष्ण नायकों में शिरोरत्न ही नहीं, अपितु साक्षात् भगवान हैं और उनमें समस्त महागुण नित्य रूप में विराजमान रहते हैं। उनका आलम्बन आत्म-रूप भी होता है तथा अन्य रूप भी। उन्होंने कृष्ण में चौंसठ गुण निर्दिष्ट कर उनका लक्षण-पुरस्सर सोदाहरण विवेचन किया है। भारतीय काव्यशास्त्र अथवा नाट्यशास्त्र में धीरोदात्तादि संज्ञक चार प्रकार के नायक माने गये हैं। उनके भी लक्षण श्रीकृष्णचरित में निरूपित कर श्रीस्वामी जी ने उदाहरणपूर्वक उनका संघटन प्रस्तुत किया है। इस विश्लेषण द्वारा रूपगोस्वामी की अद्भुत योग्यता का बोध होता है। उन्होंने विविध ग्रंथों से उदाहरण संचित करते हुए अपने सहज सौहार्द और नीर-क्षीर-विवेक का परिचय दिया है। इस विवेचन की एक मुख्य विशेषता यह है कि श्री स्वामीजी के मतानुसार लोक में दोषवत् प्रतीत होने वाले मात्सर्यादि भाव भी कृष्ण की चरित-लीला के आश्रय से गुण बन जाते हैं। इसी प्रसंग में उनका यह निर्णय विशेषतः उल्लेखनीय है कि कृष्ण के गुण ही भक्तों के गुण होते हैं।

भक्ति-रस के उद्दीपन-विभाव

भक्तिरस के उद्दीपन-विभावों के विषय में रूप गोस्वामी का कथन है कि उनके अंतर्गत भगवान् श्रीकृष्ण के गुण, चेष्टाएँ तथा अलंकरण आदि मुख्य रूप से वर्णित होते हैं। गुणों का क्षेत्र कायिक, वाचिक और मानसिक रूपों तक व्याप्त है। कायिक गुणों में आयु, सौन्दर्य, रूप तथा मृदुता आदि आते हैं। यद्यपि कायिक गुण कृष्ण के स्वरूपभूत ही हैं तथापि वे स्वरूप से अभिन्न होने पर भी काल्पनिक भेद को स्वीकार करके ही

---

१. भक्तिरसामृतसिंधु, दक्षिण विभाग, प्रथम लहरी, छंद सं० ११।

स्वरूप से भिन्न गुण-रूप में कहे गये हैं क्योंकि इस प्रकार से कथित होने पर ही वे उद्दीपन विभाव होते हैं। इन गुणों में आलम्बनत्व तथा उद्दीपनत्व का उभयनिष्ठ समावेश रहता है। आयु में कौमार, पौगण्ड तथा कैशोर अवस्थाएँ आती हैं तो सौन्दर्य में अंगों का यथोचित सन्निवेश रहता है। रूप का अभिप्राय यह है कि जिसके द्वारा अलंकार, अलंकार्य बन जाय। कोमल स्पर्श को भी न सहन कर सकने को मृदुता कहते हैं। रूप गोस्वामी ने वाचिक तथा मानसिक गुणों का वर्णन न कर उनका उल्लेख-मात्र किया है। उन्होंने कृष्णभक्ति के उद्दीपन विभाव की चेष्टाओं में रास आदि लीलाओं और दुष्टों के वधादि को महत्त्व दिया है। अलंकरण और प्रसाधन के उपकरण वस्त्र-विन्यास और अलंकार आदि हैं। प्रसाधन का एक अन्य साधन 'आकल्प' या केशादि की बनावट है। 'आलेप' भी अनेक प्रकार के होते हैं। मंडन-रूप प्रसाधन में मुकुट, कुण्डल, हार, चौकी और नूपुर आदि की गणना की जाती है। आचार्य ने गुण, चेष्टा तथा प्रसाधन-रूप उद्दीपन-विभावों के अतिरिक्त स्मित को भी चतुर्थ उद्दीपन विभाव माना है। अंग-सौरभ पंचम उद्दीपन विभाव है। वेश नामक षष्ठ उद्दीपन विभाव में वेणु, मुरली और वंशिका-वादन-काल की भंगिमा परिगणित होती है। रूप गोस्वामी ने शृंग, नूपुर, चरण-चिह्न, क्षेत्र, तुलसी, भक्त और दिवस नामक सात और अंग जोड़कर तेरह प्रकार के उद्दीपन माने हैं। इस प्रकार का वर्णन इतना अधिक भव्य और आकर्षक बन गया है कि उसके द्वारा शृंगार की उद्दीपन अवस्था विशेष आकर्षण के साथ व्यक्त हो गई है।

भक्ति-रस के अनुभावों और सात्विक भावों का विमर्श

रूपगोस्वामी ने अनुभावों को चित्त में स्थित मुख्य भावों के बोधक कहकर प्रायः बाह्य क्रियारूप माना है और उन्हें 'उद्भासुर' की संज्ञा दी है। उनके मतानुसार भक्ति-रस में साधारणतया शीत और क्षेपण नामक दो प्रकार के अनुभाव आते हैं जिनमें नृत्य, विलुंठन, गीत, क्रोशन, तनुमोटन, हुंकार, जृम्भण, श्वासभूमा, लोकानपेक्षिता, लाल-स्त्रव, अट्टहास, घूर्णा और हिक्का आदि की गणना होती है। इन तेरह प्रकार के अनुभावों के अतिरिक्त शरीर का फूलना तथा रक्त का निकलना नामक कुछ अन्य अनुभाव भी हैं पर वे बहुत कम देखे जाते हैं अतः उनका वर्णन नहीं किया गया है।

सात्विक भावों के सम्बन्ध में रूपगोस्वामी का कहना है कि साक्षात् अथवा किंचित् व्यवधान से कृष्ण-सम्बन्धी भावों से आक्रान्त चित्त का नाम 'सत्व' है। सत्व से जो भाव उत्पन्न होते हैं उन्हें सात्विक भाव कहते हैं। स्निग्ध, दिग्ध तथा रूक्ष संज्ञक तीन प्रकार के सात्विक भाव हैं। स्निग्ध के दो प्रकार हैं—मुख्य और गौण। साक्षात् रूप से कृष्ण-संबंधिनी रति से आक्रांत सात्विक भावों को मुख्य तथा व्यवधानतः होने वाली रति से आक्रांत सात्विक भावों को गौण कहते हैं। दिग्ध सात्विक भाव वे हैं जो मुख्य तथा गौण नामक दोनों प्रकार की रति के बिना होने वाले भावों से मन के आक्रांत होने पर रति के अनुगामी रूप में उदित हों। रूक्ष भाव एक प्रकार के रोमांचित भाव हैं जो कृष्ण की मधुर तथा आश्चर्यमयी वार्ताएं सुनने से उत्पन्न होने वाले आनंद और विस्मय के कारण भक्त-सदृश किंतु रतिशून्य पुरुष में कहीं-कहीं उत्पन्न

होते हैं। चित्त के वेग के कारण विकार को प्राप्त होकर जब प्राण शरीर को अत्यन्त विक्षुब्ध कर देता है, तब भक्त के शरीर में स्तम्भ, स्वेद, रोमांच, स्वरभेद, कम्पन, वैवर्ण्य, अश्रुपात तथा मूर्च्छा नामक सात्विक भावों की उत्पत्ति होती है। उस समय प्राणों की गति या तो आकाश को छोड़कर अवशिष्ट चार तत्त्वों का अवलम्बन करती है या कभी स्वयं स्वतंत्र रूप से वह (प्राण) देह में सर्वत्र विचरण करती है। आचार्यों का कथन है कि प्राणों का बाह्य विक्षोभ अनुभाव कहा जाता है तथा आंतरिक विक्षोभ सात्विक भाव। इन सात्विक भावों के अनेक आधार और रूप हैं। स्तम्भ नामक सात्विक भाव हर्ष, भय, आश्चर्य, विषाद और क्रोध से उत्पन्न होता है और उसमें वाणी आदि का अभाव, निश्चलता और शून्यता आदि होती है। स्वेद नामक सात्विक भाव हर्ष, भय और क्रोध आदि आंतरिक वृत्तियों से उत्पन्न होकर बाह्य अनुभावों के रूप में शरीर में प्रस्वेद उत्पन्न कर देता है। रोमांच की उत्पत्ति आश्चर्य, हर्ष, उत्साह और भयादि से होती है। उसमें रोम खड़े हो जाते हैं और अंगों में किसी वस्तु के स्पर्श आदि जैसा अनुभव होने लगता है। स्वरभेद संज्ञक सात्विक भाव विषाद, विस्मय, अमर्ष, हर्ष और भय से उत्पन्न होने वाली 'स्वरविकृति' का नाम है जिसे 'गदगदिका' की आदि-जननी कहा जा सकता है। वेपथु नामक सात्विक भाव भय, क्रोध और हर्ष आदि से उत्पन्न होकर शरीर को अस्थिर बना देता है। वैवर्ण्य में विषाद, रोष और भय आदि के कारण मुखाकृति में मलिनता और कृशता-जन्य विवर्णता आ जाती है। वह विवर्णता विषाद में श्वेतिमा, धूसरता और कालिमा रूप होती है तथा क्रोध में रक्तिमा तथा भय में रक्तिमा तथा शुक्लिमा रूप। अश्रु की उत्पत्ति हर्ष, रोष और विषादजन्य है जिनसे नेत्रों में क्षोभ, राग और समार्जन आदि होता है। प्रलय उस सात्विक भाव का नाम है जो सुख या दुःख के अतिशय के कारण चेष्टा तथा ज्ञान से रहित हो जाने की स्थिति में उत्पन्न होता है।

यों तो सत्त्व से उत्पन्न होने के कारण स्थायी तथा व्यभिचारी संज्ञक भाव भी सात्विक ही होते हैं किन्तु मुख्य रूप से स्वेद और स्तम्भ आदि आठ सत्वमूलक भाव ही सात्विक भाव कहलाते हैं। जिस प्रकार सत्व के न्यूनाधिक्य के द्वारा प्राण तथा शरीर के विक्षोभ में भी तारतम्य होता है, उसी प्रकार सात्विक भावों में भी न्यूनाधिक्य-रूप तारतम्य पाया जाता है। अधिकाधिक बढ़ते हुए सात्विक भाव क्रमशः धूमायित, ज्वलित, दीप्त तथा उद्दीप्त नाम से चार प्रकार के होते हैं। सात्विक भावों की यह वृद्धि भूरिकाल-व्यापकता, बह्वंग व्यापिता और स्वरूपोत्कर्ष के कारण तीन प्रकार की होती है। रूपगोस्वामी ने सात्विक भावों के इन प्रकारों का वर्णन अत्यंत विस्तारपूर्वक किया है। उनका मत है कि उद्दीप्त भाव ही कृष्णविषयक परम रति अर्थात् 'महाभाव' में और भी अधिक उद्दीप्त हो जाते हैं जिनसे समस्त सात्विक भाव एक साथ चरम सीमा तक पहुंच जाते हैं। उन्होंने बतलाया है कि सात्विक भावों की भाँति चार प्रकार के सात्विकाभास भी होते हैं जो या तो रत्याभास और सत्वाभास से उत्पन्न होते हैं या सत्व-रहित या विपरीत रूप में पाये जाते हैं। रूपगोस्वामी ने 'भक्तिरसामृतसिंधु' के दक्षिण विभाव की तृतीय लहरी में इन सबका विवेचन किया है।

व्यभिचारिभावों की रूप-संस्थिति

रूपगोस्वामी ने वाचिक, आंगिक और सात्विक रूप से स्थायिभाव की गति का संचालन करने वाले भावों को व्यभिचारिभाव या संचारिभाव कहा है। ये भाव स्थायिभाव रूप अमृत-सागर में ऊर्मिवत् उन्मज्जित और निमज्जित होते रहते हैं तथा लहरों ही के समान उसको संवर्धित करते हैं और तद्रूपता को प्राप्त होते हैं।[1] उन्होंने काव्यशास्त्र में प्रतिपादित व्यभिचारिभावों के ही समान तैंतीस प्रकार के व्यभिचारिभाव माने हैं और प्रत्येक व्यभिचारिभाव का वर्णन कृष्णभक्ति को उपलक्षित करते हुए किया है। इन व्यभिचारिभावों में से कोई व्यभिचारिभाव किसी दूसरे व्यभिचारिभाव का परस्पर विभाव और अनुभाव हो सकता है। जैसे ईर्ष्या निर्वेद का विभाव (कारण) होती है और असूया में उस ईर्ष्या की निश्चित रूप से अनुभावता होती है।[2] रूपगोस्वामी ने व्यभिचारिभावों की परस्पर विभावता का वर्णन करने के साथ-साथ स्वतंत्र और परतंत्र के भेद से भी उनकी प्रकार-गणना की है। व्यभिचारिभावों के अतिरिक्त व्यभिचारिभावाभास भी होता है। उसका प्रयोजक या तो अस्थानत्व-रूप प्रातिकूल्य होता है या अनौचित्य। व्यभिचारिभावों की भी 'उत्पत्ति', 'संधि', 'शबलता' और 'शांति' नामक चार अवस्थाएँ होती हैं। वस्तुतः भावों का यह विवेचन अत्यंत गहन है। रूपगोस्वामी ने 'भावा विभावजनिताश्चित्तवृत्तय ईरिता' कहकर स्वाभाविक तथा आगंतुक नाम से उनके दो विभाग करते हुए पृथक्-पृथक् रूप से उनकी व्याख्या की है। उन्होंने स्वाभाविक भाव को 'व्याप्यान्तर्बहिः स्थितः' माना है और मंजिष्ठा राग से उपमित किया है। उसके प्रति विभावों की विभावता नाममात्र की ही होती है। आगंतुक भाव पटादि की लालिमा के समान है। वह अपने उन-उन विशेष कारणों से ही उत्पन्न होता है और उन्हीं से बढ़ता है। रूपगोस्वामी ने इस विषय का भी विश्लेषण किया है कि भावों के वैशिष्ट्य की भाँति भक्तों में भी वैचित्र्य होता है। उन्होंने चित्त की स्थिति गरिष्ठ, गम्भीर, महिष्ठ और उत्तान नामक अभिधा से चार प्रकार की मानी है। गरिष्ठ चित्त स्वर्णपिण्डवत् होता है तो लघिष्ठ चित्त तूलपिण्डवत्। गम्भीर चित्त को सिंधुसम तथा उत्तान को 'पल्वलादिवत्' कहा जा सकता है। महिष्ठ चित्त में भाव विद्यमान होने पर भी नहीं दिखलाई देते किंतु क्षोदिष्ठ चित्त में वे अनायास ही प्रदर्शित हो जाते हैं। कर्कश चित्त वज्र, स्वर्ण और जतु के समान माना गया है और कोमल चित्त मोम, मक्खन तथा अमृत के तुल्य। रूपगोस्वामी का निर्णय है कि श्रेष्ठ कृष्ण-भक्तों का चित्त अमृत के समान स्वभाविद्रवीभूत तथा गरिष्ठादि गुणों से युक्त रहता है।

स्थायिभाव का लक्षण और कृष्णविषयक रति का प्राधान्य

रूपगोस्वामी ने स्थायिभाव की परिभाषा देते हुए लिखा है कि जो भाव अविरुद्ध और विरुद्ध—समस्त-भावों को अपने वश में करके उत्तम राजा के समान

---

१. भक्तिरसामृतसिंध, दक्षिण भाग, चतुर्थ लहरी, श्लोक सं० १-३।
२. भक्तिरसामृतसिधु, दक्षिण भाग, ४ : ८०-८१।

शोभित होता है, वह 'स्थायिभाव' कहलाता है। भक्तिशास्त्र में श्रीकृष्ण-विषयक रति ही स्थायिभाव है जिसे रसज्ञों ने मुख्या तथा गौणी संज्ञक दो भेदों में परिकीर्तित किया है। शुद्धसत्व विशेषात्मा रति ही मुख्यरति है जिसके स्वार्था और परार्था नामक दो भेद हैं। स्वार्था रति अविरुद्ध और स्फुट भावों से अपने को पुष्ट करती है और विरुद्ध भावों के द्वारा उसका अभिभव करना कठिन हो जाता है। परार्था रति का कार्य स्वयं का संकोच कर अविरुद्ध अथवा विरुद्ध भावों का पोषण करना है। मुख्या परार्था रति को शुद्धा, प्रीति, सख्य, वात्सल्य तथा प्रियता भेद से पांच प्रकारों में माना गया है। इनमें भी शुद्धारति सामान्या, स्वच्छा और शांति नामक तीनं प्रकारों की होती है और वह अंगों में कम्पन तथा नेत्रों में मीलनोन्मीलन उत्पन्न करती है। रति के शेष प्रकारों में भी श्रीकृष्ण तो आलम्बन होते ही हैं। इन सब रतियों के भेदोपभेदों का विवेचन 'भक्तिरसामृतसिंधु' के दक्षिण विभाग की पंचम लहरी में किया गया है।

गौणी रति के प्रयोजक-प्रकार और उनकी रसमयता

रूपगोस्वामी ने गौणी रति का निरूपण करते हुए लिखा है कि जो रति विभाव के उत्कर्ष से उत्पन्न भावविशेष को स्वयं संकुचित-सी होती हुई ग्रहण करती है, वह गौणी रति कहलाती है। गौणी रति के प्रयोजक सात प्रकार के भावविशेष होते हैं जिनके नाम हास, विस्मय, उत्साह, शोक, क्रोध, भय और जुगुप्सा हैं। इनमें से जुगुप्सा को छोड़कर शेष छः भावों में श्रीकृष्ण विभाव हो सकते हैं। जुगुप्सा रति में केवल देहादि का ही विभावत्व स्वीकार्य है।[१] रूपगोस्वामी का मत है कि ये हासादि सातों भाव-विशेष किसी विशेष भक्त में रति के द्वारा सौन्दर्यातिशय्य को प्राप्त कर उस समय की लीला आदि के अनुसार कुछ काल के लिए स्थायित्व को प्राप्त कर लेते हैं अतः उनको स्थायिभाव कहा जाता है। गौणी रति के हास-रति आदि भेदों में कोई आधार नियत नहीं है। किसी नियत आधार के अभाव में ये सातों सामयिक भाव सहज होने पर भी बलिष्ठ भावों से तिरस्कृत होकर लीन हो जाते हैं। अपने आधारों के कारण अपने स्वरूप में सर्वत्र विद्यमान रति आत्यंतिक स्थायिभाव है जो समस्त भक्तों में रहता है। विपक्ष अर्थात् भक्तों से भिन्न व्यक्तियों मे स्थायिभावत्व को प्राप्त होने पर भी भक्तिशास्त्र में इस रति के बिना हास आदि सारे भाव व्यर्थ हो जाते हैं। सच तो यह है कि रति-शून्य होने के कारण अविरुद्ध भावों से संवलित होकर अखिल व्यभिचारिभाव अपने समन्वित रूप में भी भक्तिरस की योग्यता को नहीं प्राप्त कर सकते। निर्वेदादि व्यभिचारिभाव नष्ट हो जाते हैं अतः उनको स्थायिभाव नहीं माना जा सकता। मति और गर्व आदि तो स्थायिभाव हो ही नहीं सकते। ऐसी स्थिति में यही कहना उचित है कि हासादि सातों रति भाव ही संपुष्ट होकर भक्तों में स्थायिभाव बनते हैं तथा श्रीकृष्ण के प्रति प्रेम को संवर्धित करते हैं।[२] रूपगोस्वामी ने हासादि रति भावों के

---

१. भक्तिरसामृतसिंधु, दक्षिण विभाग, पं० लहरी, ३०-३२।
२. भक्तिरसामृतसिंधु, श्लोक सं० ३५-४१।

लक्षण निरूपित कर उदाहरण-पुरस्सर उनका विवेचन किया है। उनका मत है कि हासादि भावों में रति-रूप का ही प्राधान्य है और जब तक वे रसावस्था को प्राप्त नहीं कर लेते तब तक 'स्थायिभाव' ही कहलाते हैं।

श्री रूपगोस्वामी ने काव्यशास्त्रीय परम्परा के अनुसार तैंतीस व्यभिचारिभाव, आठ स्थायिभाव और आठ सात्विक भाव के योग से कुल उनंचास भाव माने हैं। उनका वह कथन उल्लेखनीय है जिसमें उन्होंने यह तथ्य स्वीकार किया है कि 'श्रीकृष्ण के साथ सम्बद्ध होने के कारण त्रिगुणातीत तथा प्रौढानंद रूप होते हुए भी त्रिगुणात्मक पदार्थों से उत्पन्न होने के कारण वे सब भाव सुखदुःखमय अर्थात् उभयात्मक-से प्रतीत होते हैं।[1] सुख-प्रधान भावों को शीत तथा दुःखात्मक भावों को उष्ण भी कहते हैं। यह एक विचित्र बात है कि परमानंदमयी होने पर भी रति स्वभावतः शीतभाव न होकर उष्णभाव मानी जाती है किन्तु बलिष्ठ शीतभावों से पुष्ट होकर वह शीत-रूप बन जाती है। वही रति उष्णभावों के सम्पर्क से अत्यधिक उष्ण होकर संतापित करती हुई-सी प्रतीत होने लगती है जिसके कारण विप्रलम्भ में दुःख का भारातिशय्य-सा आभासित होने लगता है।[2] वस्तुतः रूपगोस्वामी भी इस मत के समर्थक हैं कि मुख्या और गौणी नामक रति ही कृष्ण आदि के स्मरण, दर्शन और स्मरण से उनके विभावादि रूपता को प्राप्त होने से भक्तों में रस-रूप हो जाती है। उन्होंने 'पानक' के स्थान पर 'रसाल' शब्द का प्रयोग कर रसानुभूति का आनंद स्पष्ट किया है। इस विषय में उनकी निम्नोक्त कारिकाएँ दृष्टव्य हैं—

रतिर्द्विधाऽपि कृष्णाद्यैः श्रुतैरवगतैः स्मृतैः।
तैर्विभावादितां यद्भिस्तद्भक्तेषु रसो भवेत्॥
यथा दध्यादिकं द्रव्यं शर्करामरिचादिभिः।
संयोजनविशेषेण रसालाख्यो रसो भवेत्॥[2]

'पानक' अथवा 'रसाल' रस की प्रक्रिया

श्री रूपगोस्वामी ने बतलाया है कि यों तो 'रसाल' नामक आस्वाद्य रस भक्तों के अंतःकरण में अपूर्व चमत्कार की उत्पत्ति करता है किंतु वह रत्यादि विभावों द्वारा एकरूप में होते हुए भी प्रमाताओं की भिन्न-भिन्न विशेषताओं के कारण अनेक रूपमय भी प्रतीत होता है। इस बात को इस प्रकार भी कहा जा सकता है कि पृथक्-पृथक् प्रतीत होने वाले विभावादि अवयव रस की एकरूप अखंडता को प्राप्त होकर भी कभी-कभी विशेष-रूप की प्रतीति कराते हैं जिसे पानक-रस की प्रक्रिया से समझा जा सकता है।[3] विभाव का अर्थ है रति की तत्तद् आस्वाद विशेष के लिए योग्यता उत्पन्न करने का साधन। उसकी सामान्य व्युत्पत्ति 'विभावयन्ति आस्वाद योग्यतां कुर्वन्तिइति

---

१. भक्तिरसामृतसिंधु, दक्षिण विभाग, श्लोक सं० ६१-६२।

२. वही, श्लोक सं० ६३-६४।

३. इस विषय में निम्नलिखित कारिकाएं प्रयोजनीय हैं—
प्रतीयमानाः प्रथमं विभावाद्यास्तु भागशः। गच्छंतो रसरूपत्वं मिलिता यांत्यखंडताम्॥
यथा मरिचखंडादेरेकीभावेऽपि पानके। उद्भासः कस्यचित्क्वापि विभावादेस्तथा रसः॥—पृ० ८७।

विभावा:' की व्युत्पत्ति के अनुसार यदि रति का अनुभव कराने वाले अथवा उसके आस्वादातिशय्य को हृदय के अंतर्गत व्याप्त कराने वाले अनुभाव हैं तो 'संचारयंति इति संचारिण:' के अनुसार आस्वाद-योग्य एवं अन्त:करण में अनुभूति होने वाली रति को जो संचारित करते हैं अथवा विचित्रता को प्राप्त कराते हैं उन्हीं का नाम संचारिभाव है। 'विभावादि के ये लक्षण रूपगोस्वामी को भी अभिप्रेत हैं और उन्होंने भक्तिरस की निष्पत्ति की प्रक्रिया में उनका समुचित प्रयोग किया है। उनका तो स्पष्ट मत है कि 'विभावतादीनानीय कृष्णादीन्मंजुलारति:' अर्थात् मंजुल रति ही कृष्णादि को अपना विभाव बनाकर विभावन आदि व्यापारों को प्राप्त अनुभावादि के द्वारा अपने आपको पुष्ट करती है जिससे रस की निष्पत्ति होती है। 'उनका तो यहाँ तक कहना है कि परिपक्व रति वालों के लिए तो काव्य और नाट्य की भी कोई उपयोगिता नहीं है क्योंकि उन्हें सामान्य रूप से की जाने वाली भगवच्चर्चा में भी अलौकिक रस का आस्वादन होने लगता है। वास्तव में नाटकादि का दर्शन और काव्यादि का पठन-पाठन तो अंकुरित रति के लिए परिपोषक-मात्र है। इस विषय में निम्नलिखित कारिकाएँ दृष्टव्य हैं—

रत्नालयो भवत्येभिर्वृष्टैस्तैरेववारिधि:।
नवे रत्यंकुरे जाते हरिभक्तस्य कस्याचित् ॥
विभावत्वादि हेतुत्वं किंचित्तत्काव्यनाट्ययो:।
हरेरीषच्छ्रुति विधौ रसास्वाद: सतां भवेत् ॥[1]

भक्ति-रस के आलोक में रस-सिद्धांत का अंतर्बोध

यद्यपि रूपगोस्वामी का विवेचन मुख्यत: भक्तिरस की प्रतिष्ठा के लिए ही अभिप्रेत है किंतु उसके द्वारा काव्यास्वाद के व्यापक सिद्धांत भी हस्तगत हो जाते हैं। उन्होंने भगवद्‌विषयक रति को अपनी विवेचना का मुख्य आधार बनाकर अपना मंतव्य व्यक्त किया है और बतलाया है कि समस्त रस-प्रक्रिया का स्पष्टीकरण उसके माध्यम से सहज रीत्या किया जा सकता है। अन्य आचार्यों की भाँति उन्हें भी रस का अलौकिकत्व मान्य है और वे भी विभावादि के अंतर्गत साधारणीकरण की एक ऐसी शक्ति मानते हैं जिसके कारण प्रमाता अथवा सामाजिक अपने आपको विभावादि रूप राम आदि से अभिन्न समझने लगता है। लौकिक स्थिति में स्वसंबद्ध रूप में अपने हृदय के भीतर प्रतीत होने वाले दु:खादि मनोभाव भी काव्य-नाटकगत अलौकिक विभावादि के कारण प्रबल आनंदात्मक रसास्वाद को उत्पन्न करते हैं जिसका अभिप्राय यह है कि लौकिक रूप में जिनको स्वगत दु:ख कहा जाता है, वह भी काव्य और नाटक में प्रौढ़ आनंदरूप हो जाता है।[2]

---

१. भक्तिरसामृतसिंधु, दक्षिण विभाग, पंचम लहरी कारिका, सं० ७७-७८।

२. प्रमाता तदभेदेन स्वं यया प्रतिपद्यते।
दु:खादय: स्फुरंतोऽपि जातु स्वीयतया हृदि। —भक्तिरसामृतसिंधु, पंचम लहरी, कारिका ८५।
प्रौढानंद चमत्कार चर्वणामेव तन्वते।
पराश्रयतयाप्येते जातु भांत: सुखादय: ॥—वही, कारिका ८६।

रूपगोस्वामी ने रस की सुखस्वरूपता के साथ-साथ उसकी साक्षात्कारात्मक प्रतीति मानी है। उनका मत है कि संसार में सुखादि भाव भले ही पराश्रित रूप से प्रतीत होते रहें, किंतु काव्य और नाटक में विभावनादि व्यापार के कारण सामाजिक के हृदय में वे परमानंद-संदोह के उत्पादक होते हैं। भरतमुनि के रस-निष्पत्ति-सूत्र के अनुसार तो रस-निष्पत्ति के लिए विभाव, अनुभाव और व्यभिचारिभावों की त्रयी अनिवार्यतः अपेक्षित है किंतु रूपगोस्वामी के मतानुसार काव्य और नाटक आदि में कहीं-कहीं इनमें से एक या दो की अनुपस्थिति होने पर भी रसास्वाद हो सकता है। ऐसे स्थलों पर विभाव, अनुभाव और व्यभिचारिभाव में जिन एक या दो का वर्णन उपस्थित होता है वे शेष दो या एक का आक्षेप करा लेते हैं और इस प्रकार तीनों की उपस्थिति हो जाने से रस-निष्पति में कोई बाधा नहीं पड़ती। उन्होंने स्त्री-पुरुषादि विषयक सामान्य और लौकिकी रति से भी रस की निष्पत्ति नहीं मानी है क्योंकि लौकिकी रति से तो लज्जा और घृणा जैसे भाव भी उत्पन्न हो सकते हैं जबकि काव्य और नाट्य आदि में साधारणीकरण तथा विभावानादि व्यापार के द्वारा वही रति अपने व्यक्ति-विशेषानुबद्ध स्वरूप का परित्याग कर सामाजिक मात्र में व्याप्त अलौकिक स्वरूप को प्राप्त कर लेती है जिसका अर्थ यह है कि वह रसास्वादन-रूप है। कृष्ण-रति को तो उन्होंने और भी अधिक अलौकिकी और आश्चर्यमयी कहा है क्योंकि वह कृष्ण का संयोग होने पर भक्त के भीतर अत्यन्त आह्लादप्रद रस-विशेष उत्पन्न करती है तथा वियोग दशा में भी अद्‌भुत आनंद के विवर्त को धारण करती हुई भी वृद्धि को प्राप्त होकर अत्यन्त तीव्र दुःखाभास को प्रयाशित करती है। यहाँ यह बात उल्लेखनीय है कि रूपगोस्वामी के मतानुसार कृष्ण का ब्रजवासी रूप ही कृष्ण-विषयक रति की चरमावधि है और उसकी क्रीड़ाओं के सम्मुख द्वारिकाधीश कृष्ण के महान् कार्यों की भी महत्ता नहीं है क्योंकि ब्रजवासी कृष्ण के सुखलव का अगस्त्य लक्ष्मीपति कृष्ण की माधुरी से उत्पन्न आनंद-सागर का भी पान कर सकता है। इस विषय में 'भक्तिरसामृतसिंधु' की पंचम लहरी की निम्नलिखित कारिकाएं उद्धृत करने योग्य हैं—

हृदये परमानंदसंदोहमुपचिन्वते।
सद्‌भावश्चेद्विभावादेः किंचिन्मात्रस्य जायते ॥८७॥
सद्यश्चतुष्टयाक्षेपात्पूर्णतैवोपपद्यते।
रतिः स्थिताऽनुकार्येषु लौकिकत्वादिहेतुभि ॥८८॥
रसः स्यान्नेति नाट्याज्ञा यदाहुर्युक्तमेव तत्।
अलौकिकी त्वियं कृष्णरतिः सर्वाद्‌भुताद्‌भुता ॥८९॥
योगे रसविशेषत्वं गच्छंत्येव हरिप्रिये।
वियोगे त्वद्‌भुतानंदविवर्त्तत्वं दधत्यपि ॥९०॥
तनोत्येषा प्रगाढार्त्तिभराभासत्वमूर्जिता।
तत्रापि बल्लवाधीशनंदनालम्बना रतिः ॥९१॥
सान्द्रानंदचमत्कार परमावधिरिष्यते।
यत्सुखोघलवागस्त्यः पिबत्येन स्वतेजसा ॥९२॥

रमेशमाधुरी साक्षात्कारानंदाब्धिमप्यलम् ।
परमानंदतादात्मयाद्रत्यादेरस्य वस्तुतः ॥६३॥

श्री रूपगोस्वामी को रस का स्वप्रकाशत्व और अखंडत्व भी मान्य है। इस विषय में वे भारतीय काव्यशास्त्र की रसविषयक विचारधारा से पूर्ण सहमत हैं। रसानुभूति एक प्रकार से आत्मानुभूति ही है और आत्मा ब्रह्मस्वरूप है जिसका अर्थ यह है कि उसमें ब्रह्म का आनंदपरक गुण होना अनिवार्य-सा है। ब्रह्म की अनुभूति के समान रसानुभूति भी स्वप्रकाश और अखंड है और उसे घट-पट आदि सांसारिक पदार्थों के समान परप्रकाश या चिदाभास्य नहीं कहा जा सकता। आत्मा का स्वप्रकाशत्व सूर्य के प्रकाश द्वारा उपमित किया जा सकता है। जिस प्रकार सूर्य अपने स्वरूप को स्वयं प्रकाशित करता है तथा संसार के अन्य पदार्थों को भी प्रकाशित करता है, उसी प्रकार ब्रह्म भी स्वप्रकाशरूप है तथा अन्य पदार्थों को भी प्रकाशित करता है। ब्रह्म की अखंडता की भाँति रस भी अखंड है और वेदान्त के मतानुसार सजातीय, विजातीय तथा स्वगत-भेद से शून्य है। इसी बात को ध्यान में रखकर श्री रूपगोस्वामी ने रति को तत्त्वतः ब्रह्मास्वादरूप परमानंद से भिन्न और परमानंद तादात्म्य रूप माना है जिससे उसकी स्वप्रकाशता और अखंडता सिद्ध होती है।

भक्ति-रस के प्रकार और उनके वर्ण तथा देवता

रूपगोस्वामी ने मुख्य रति और गौण रति के अनुसार भक्ति-रस के भी मुख्य तथा गौण नामक दो प्रकार माने हैं। उन्होंने मुख्य भक्ति-रस में शांत, प्रीति, प्रेयान, वत्सल और मधुर नामक भेदों की गणना की है तथा गौण भक्ति में हास्य, अद्भुत, वीर, करुण, रौद्र, भयानक और बीभत्स नामक रसों की। इस प्रकार उनके मतानुसार क्रमशः पांच और सात के भेदों में मुख्य तथा गौण भक्तिरस विभक्त है और वह सब मिलाकर बारह प्रकार का होता है। पुराणों में मुख्यतया पांच ही प्रकार का भक्तिरस माना गया है और गौण भक्तिरसों का अंतर्भाव रसों में न किया जाकर भावों में कर लिया गया है।

भरतमुनि आदि काव्यशास्त्रियों की भाँति रूपगोस्वामी ने रसों के वर्णों और देवताओं का भी वर्णन किया है। दोनों के वर्णन में पर्याप्त साम्य है। अंतर केवल इतना ही है कि भरतमुनि ने नौ प्रकार के रसों के वर्ण और देवता निरूपित किये हैं किंतु रूपगोस्वामी ने बारह प्रकार के। एक विशेष बात यह भी है कि उन्होंने जिन सात रसों को गौण भक्तिरस के रूप में स्वीकार किया है, वे काव्यशास्त्र में स्वतंत्र रस के रूप में विवेचित हैं। उनके द्वारा विवेचित मधुररस वस्तुतः श्रृंगार रस का ही रूप है। भरतमुनि द्वारा विवेचित रसों के वर्णों और देवताओं का विवरण अन्यत्र दिया जा चुका है अतः उनका पिष्टपेषण करना उचित न समझकर हम रूपगोस्वामी द्वारा विवेचित विवरण का उल्लेख करना पर्याप्त समझते हैं। रूपगोस्वामी के अनुसार शांत, प्रीति, प्रेयान्, वात्सल्य, मधुर नामक मुख्य भक्तिरसों के वर्ण क्रमशः श्वेत, चित्र, अरुण, शोण और

श्याम हैं तो हास्य, अद्भुत, वीर, करुण, रौद्र, भयानक और बीभत्स नामक गौण भक्ति रसों के वर्ण क्रमशः पांडुर, पिंगल, गौर, धूम्र, रक्त, श्याम और नील हैं। इसी क्रम में उनके देवताओं के नाम कपिल, माधव, उपेन्द्र, नृसिंह, नंदनंदन, बलराम, कूर्म, कल्की, राघव, भार्गव, किरि और बुद्ध हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि रूपगोस्वामी ने रसों के रंग-वर्णन में तो भरतमुनि का अनुगमन किया है किंतु उनके देवताओं के निरूपण में स्वतंत्रता से काम लिया है। एक विशेष बात यह है कि उनके द्वारा निरूपित देवताओं में मत्स्यावतार को छोड़कर भगवान् विष्णु के शेष नौ अवतार समाविष्ट हो गये हैं। उन्होंने शेष तीन रसों के लिए कपिल, माधव और उपेन्द्र नामक देवताओं की परिकल्पना कर अपने विवेचन को पूर्ण बना लिया है। उनके इस विवेचन में एक-दो परिवर्तन चिन्त्य और विचारणीय हैं। साहित्यशास्त्र में शांत और बीभत्स रस के देवता क्रमशः बुद्ध और महाकाल माने गये हैं किंतु रूपगोस्वामी ने उनके स्थान पर क्रमशः कपिल और बुद्ध को रखा है। इनमें कपिल को तो भले ही शांतरस का देवता मान भी लिया जाय किंतु बुद्ध जैसे शांतिप्रिय देव को बीभत्सरस का देवता मानना अनेक दृष्टियों से अनुचित है। संभव है, इसी प्रकार के परिवर्तन के मूल में या तो कोई साम्प्रदायिक भावना हो या मूल अंश परिवर्तित कर दिये गये हों या वे क्षेपक रूप हों। 'भक्तिरसामृतसिंधु' के दक्षिण विभाग की पंचम लहरी की कारिका संख्या ९६ से लेकर कारिका संख्या १०१ तक यह सारा वर्णन प्रस्तुत किया गया है—

मुख्यस्तु पंचधा शांतः प्रीतिः प्रेयांश्च वत्सलः ।।
मधुरश्चेत्ययी ज्ञेया यथापूर्वमनुत्तमा ।
हास्योऽद्भुतस्तथा वीरः करुणो रौद्र इत्यादि ।।
भयानकः सबीभत्स इति गौणश्च सप्तधा ।
एवं भक्तिरसो भेदाद् द्वयोर्द्वादशधोऽच्यते ।।
वस्तुतस्तु पुराणादौ पंचधैव विलोक्यते ।
श्वेतश्चित्रोऽरुणः शोणः श्यामः पाण्डुर पिंगलौ ।
गौरो धूम्रस्तथा रक्तः कालो नीलक्रमादमी ।
कपिलो माधवोपेन्द्रौ नृसिंहो नंदनंदनः ।।
बलः कूर्म्मस्तथा कल्की राघवो भार्गवः किरिः ।
बुद्धः इत्येषु कथिताः क्रमाद् द्वादश देवताः ।।

भक्ति-रस के आस्वादन के आधार

रूपगोस्वामी ने पंचविध भक्तिरसों का आस्वाद चित्त की पांच प्रकार की विशेष अवस्थाओं के आधार पर निरूपित किया है जिन्हें क्रमशः पूर्ति, विकास, विस्तार, विक्षेप तथा विक्षोभ नामक अवस्थाएँ कहा जा सकता है। उन्होंने शांत में 'पूर्ति'; प्रीति, प्रेयान्, वात्सल्य, मधुर तथा हास्य में 'विकास', वीर तथा अद्भुत में 'विस्तार', करुण तथा रौद्र में 'विक्षेप' और भयानक तथा बीभत्स में 'विक्षोभ' नामक चित्तवृत्तियों का योग माना है। चित्तवृत्तियों का यह वर्णन साहित्यशास्त्र की मान्यता पर आधारित-सा

है क्योंकि वहाँ भी विकास, विस्तार, क्षोभ तथा विक्षोभ नामक चार अवस्थाएँ मानी गई हैं जिनसे क्रमशः शृंगार, वीर, बीभत्स, रौद्र तथा उनसे जन्य हास्य, अद्भुत, भयानक और करुण रसों का क्रमिक सम्बन्ध है। साहित्यशास्त्रियों ने शांतरस को अभिनेय न मानने के कारण उस ओर ध्यान नहीं दिया था, किन्तु भक्तिरस में तो शांतरस का विशिष्ट महत्त्व है। अतः रूपगोस्वामी ने शांतरस के आस्वाद का सम्बन्ध पूर्ति या तृप्ति नामक चित्तावस्था के साथ जोड़कर सर्वथा उचित विधान ही किया है।

भक्ति-रस के साधक

जैसा कि पहले लिखा जा चुका है करुण, भयानक और बीभत्स आदि रसों को उत्पन्न करने वाली विभावादि सामग्री लौकिक दृष्टि से दुःखजनक होती है किन्तु काव्य तथा नाट्य में अपने अलौकिक व्यापार के कारण वह सुखात्मक बन जाती है। रूपगोस्वामी ने अपनी भक्तिरसविषयक विवेचना में भक्तिरस के साधकों के पांच भेद—भाव्य, भावक, प्राज्ञ, अज्ञ और ग्राम्य मानकर भाव्य तथा भावक भक्तों को प्रामुख्य प्रदान किया है। उनके मतानुसार कृष्ण की लीलाओं के साथी अथवा 'लीलापरिकर' भक्त भाव्य भक्त है तथा शेष भावक भक्त। अज्ञ, ग्राम्य तथा प्राज्ञ भक्त एक प्रकार से भावक भक्तों के ही भेद हैं। इनमें अज्ञ और ग्राम्य तो निम्न कोटि के भक्त हैं किंतु प्राज्ञ उत्तम कोटि के। प्राज्ञ भक्तों के लिए साहित्यशास्त्र में प्रयुक्त 'सहृदय' शब्द उपयुक्त कहा जा सकता है। वस्तुतः वे ही रसास्वाद के सच्चे अधिकारी हैं और उन्हें ही करुणादि सामग्री भी सुखजनक अनुभूत होती है। इस विषय में हम यहाँ अधिक लिखना उचित नहीं समझते क्योंकि करुण रस से हमें किस प्रकार आनंदानुभूति होती है, इसका विवेचन यथास्थान कर दिया गया है। साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ तथा अन्य आचार्यों ने भी करुणादि रसों से सुखोपलब्धि का उल्लेख कर 'स चेतसामनुभवः प्रमाणं तत्र केवलम्' की बात अन्यथा नहीं लिखी है। सच तो यह है कि करुण संज्ञक रस ही सर्वत्र उपपादक होता है अन्यथा करुणरससिक्त रामायण आदि काव्य हनुमान जैसे सहृदय जनों के लिए किस प्रकार प्रीतिकारक हो सकते थे ?

सर्वत्र करुणाख्यस्य रसस्यैवोपपादनात्।
भवेद्रामायणादीनामन्यथा दुःखहेतुता ।।
तथात्वे रामपादाब्ज प्रेमकल्लोलवारिधिः।
प्रीत्या रामायणं नित्यं हनुमान् श्रुणुयात्कथम् ।।

भक्तों की पारस्परिक रति तथा भक्ति-रस के अधिकारी पात्र

भक्तिरस के इस विवेचन के संदर्भ में अब केवल दो विषयों का उल्लेख करना अवशिष्ट है। प्रथम तो यह है कि भगवद्भक्तों में एक-दूसरे के प्रति जो पारस्परिक रति पायी जाती है वह रस न होकर 'भाव' मात्र होती है और द्वितीय यह कि वैराग्य तथा शुष्क ज्ञान का अवलम्बन करने वाले वेदांती या कोरे तार्किक एवं कर्मकांडी मीमांसक भक्तिरस का आस्वादन करने में असमर्थ हैं। मीमांसक तो उनमें सबसे निम्न कोटि के

हैं अतः उनसे भक्तिरस रूपी महानिधि को उसी प्रकार छिपाकर रखना चाहिए जिस प्रकार चोर से महानिधि को बचाया जाता है। सच तो यह है कि अभक्त जनों के लिए भक्तिरस सर्वथा दुरूह है और उसका आनंद केवल वे ही व्यक्ति ले सकते हैं जिनके लिए भगवान् के चरणारविंद ही सर्वस्व हैं। इस विषय में रूपगोस्वामी जी ने उचित ही लिखा है—

मीमांसका विशेषेण भक्त्यास्वाद बहिर्मुखाः।
इत्येष भक्तिरसिकैश्चौरादिव महानिधिः।
जरन्मीमासकाद्रक्ष्यः कृष्णभक्तिरसः सदा।
सर्वथैव दुरूहो यमभक्तैर्भगवद्रसः॥
तत्पदांबुजसर्वस्वैर्भक्तै रेवात्र रस्यते।
व्यतीत्य भावनावर्त्य यश्चमत्कृतिभारभूः॥[1]

१. भक्तिरसामृतसिंधु, दक्षिण विभाग, पंचम लहरी, कारिका ११२-११४।

१८

पाश्चात्य दृष्टि में काव्य-सर्जना और काव्यास्वाद

पाश्चात्य काव्य-समीक्षकों ने कला-कृति, काव्य-सर्जना और काव्यास्वाद के मूलभूत सिद्धांतों का विवेचन जिस सौन्दर्यशास्त्रीय दृष्टि से किया है, वह आधुनिक साहित्यालोचन का आलोकस्तम्भ बन गया है। उनके विवेचन की यह परम्परा पाश्चात्य काव्य-दर्शन के आद्याचार्य प्लेटो से लेकर आधुनिक युग के नवीन समीक्षकों पर्यन्त प्रचलित रही है जिसमें जीवन के विभिन्न आदर्शों और दृष्टिकोणों से काव्य-सर्जना के प्रेरक तत्त्वों और हेतुओं का स्पष्टीकरण हुआ है। एक समय था जब काव्य-सर्जना में दैवी प्रेरणा का ही सिद्धांत सर्वोपरि और प्रामाणिक माना जाता था, किन्तु ज्ञान-विज्ञान के विकास और मानव-चिंतन के दृष्टि-प्रसारवश उसमें 'अनुकरण,' 'प्रतिभास', 'सामूहिक चेतना', 'आकांक्षापूर्ति' और 'आत्माभिव्यक्ति' आदि सिद्धांतों का भी समावेश होता गया और आज भी यह क्रम निरंतर गति से विकासोन्मुख बना हुआ है। इन सिद्धांतों के मूल में मानव-चेतना का वह इतिहास मुखरित है जो सिसृक्षा की प्रेरणा से संचालित होकर आत्मतत्त्व का बहुविध प्रसार करने की दिशा में सतत क्रियमाण रहा है तथा जिसमें 'शब्दब्रह्म' का विवर्त्त विस्मयकारिणी शक्ति के रूप में अभिव्यक्त हुआ है। सर्जना के उपर्युक्त सिद्धान्ततत्त्वों में वस्तुनिष्ठा और आत्मनिष्ठा के उभयविध पक्ष उपबृंहित हैं जिनका अंतर्दर्शन कला-कृतियों और काव्य-सर्जनाओं के अनुशीलन द्वारा किया जा सकता है। इस विषय में भारतीय दर्शन और जीवन-दृष्टि ने विविध पक्षों को उपजीव्य बनाकर वाक्शक्ति और वाग्देवता के प्रस्फुरण के विभिन्न आयाम निर्धारित करते हुए प्रतिभा-तत्त्व तथा उसके आनुषंगिक अंगों के जो बहुविध प्रसार निरूपित किये हैं, उनका यथेष्ट विवेचन काव्य-सर्जना के प्रेरक हेतु तत्त्वों के अंतर्गत किया जा चुका है। अब अपनी शोध-यात्रा की निर्वहण संधि में एतद्विषयक पाश्चात्य मान्यताओं के प्रमुख अंशों का सारगर्भित विमर्श उपस्थित करने की चेष्टा की जायगी जिनमें उनके प्रतिष्ठापक मनीषियों ने अपना काव्य-दर्शन उद्भासित किया है। यद्यपि यह विवेचना हमारे शोध-विषय से प्रत्यक्षतः सम्बन्धित नहीं है तथापि उसकी महत्ता भी न्यूनतर नहीं कही जा सकती, क्योंकि उसके द्वारा जहाँ एक ओर आधुनिक जीवन-दर्शन के उपजीव्य बने हुए पाश्चात्य चिंतन का पक्ष प्रकाशमान होगा, वहाँ दूसरी ओर उसके माध्यम से इस तत्त्व का भी पुनराख्यान हो सकेगा कि भारतीय मनीषियों

की मेधा-शक्ति ने इस विषय में कितना अधिक विवेकदान करने में अपना सामर्थ्य प्रकट किया था। हमारे इस विवेचन का एक प्रमुख प्रयोजन भारतीय और पाश्चात्य धारणाओं का तुलनात्मक सिंहावलोकन प्रस्तुत करना भी है जिसके द्वारा यह स्पष्ट हो सके कि ज्ञान-विज्ञान और कला-साहित्य के सार्वभौम प्रसार में देशकालजन्य परिस्थितियों की विभिन्नतावश जो विभेदीकरण किया जाता है, वह तत्त्वदृष्टि से अद्वैतमूलक है और सभी विचारक अंततोगत्वा जीवन के एक ही साध्य अथवा गन्तव्य स्थल पर अपनी परम यात्रा की पूर्णता प्राप्त करते हैं।

काव्य की दैवी प्रेरणा विषयक आचार्य प्लेटो के विचार

काव्य-सर्जना में दैवी प्रेरणा की सिद्धान्त-योजना पाश्चात्य काव्य-जगत् की एक आदिकालीन उपलब्धि रही है। इस विषय का सर्वप्रथम प्रामाणिक विवेचन वहाँ के काव्यशास्त्र के आद्याचार्य प्लेटो की कृतियों में उपलब्ध होता है। प्लेटो ने यों तो 'फ्रेड्रस' नामक संवाद में काव्य-प्रेरणा का सामान्य उल्लेख किया है, किंतु 'इआन' नामक संवाद में हमें उसकी चरम परिणति दृष्टिगोचर होती है। प्लेटो ने 'इआन' में काव्य-प्रेरणा का विवेचन करते हुए सुकरात के द्वारा इआन के सम्मुख जो विचार व्यक्त कराये हैं, उनसे उनके काव्य-प्रेरणा विषयक सामान्य विचारों के साथ-साथ दैवी प्रेरणा विषयक अभिमत का भी बोध होता है। संक्षेप में उनके कथन का मुख्य अंश निम्नलिखित है जिसमें सुकरात इआन को सम्बोधित करते हुए कहते हैं—

१. जो शक्ति तुम्हें प्राप्त है, वह 'कला' न होकर 'प्रेरणा' है। तुम्हें जो दैवी-शक्ति परिचालित कर रही है वह एक ऐसी शक्ति के सदृश है जो उस पाषाण-खंड में निहित रहती है जिसे युरूपिडीज ने 'चुम्बक' की संज्ञा प्रदान की है, किंतु जो सामान्यतः हेरेक्ली का पाषाण कहलाता है। वह पाषाण केवल लोहे की अंगूठियों को ही स्वतः आकृष्ट नहीं करता, अपितु उन्हें अन्य अंगूठियों को भी आकृष्ट करने की शक्ति प्रदान करता है। अनेक बार ऐसा भी देखा जाता है कि लोहे के अनेक टुकड़े तथा अंगूठियाँ उसी आकर्षण द्वारा एक ही शृंखला में आबद्ध हो जाते हैं। उस शृंखला की कड़ियों में एकत्र रहने की शक्ति की मूल प्रेरणा पूर्वोक्त पाषाण-खंड में ही सन्निहित समझनी चाहिए।

२. जिस पाषाण-खंड की शक्ति का उल्लेख किया गया है, उसी की भाँति 'म्यूज' भी सर्वप्रथम कतिपय व्यक्तियों को प्रेरित करती है और उन अनुप्रेरित व्यक्तियों से अन्य प्रेरणाप्राप्त व्यक्तियों की शृंखला प्रलम्बित रहती है जो म्यूज द्वारा प्रेरित जनों से निरंतर प्रेरणा प्राप्त करते रहते हैं। सभी उत्कृष्ट कवि—चाहे वे महाकाव्य-प्रणेता हों अथवा मुक्तक-काव्य-स्रष्टा—अपने सुन्दर काव्य की रचना 'कला' द्वारा न करते हुए उस प्रेरणा द्वारा करते हैं जो उन्हें प्रेरित तथा अभिभूत करती है। जिस प्रकार कोरिबेण्टियन आमोद-प्रमोद करने वालों के मन में नृत्य करते समय विक्षेप होता है, वैसे ही मुक्तक रचना करने वाले काव्यकारों के मन में भी विक्षेप होता है, जब वे अपने मधुर गीतों की रचना करते हैं। किन्तु जब वे संगीत और छन्द से प्रभावित होकर प्रेरित और अभिभूत

होते हैं तो वे मदिरा के देवता 'बेकस' की पूजा करने वाली उन कुमारियों के सदृश हो जाते हैं जो डायनिसस के प्रभाव से उन्मत्त होकर सरिता से दुग्ध और मधु प्राप्त करती हैं, जो सहज मानसिक अवस्था में अप्राप्य है। मुक्तक काव्य के रचयिता कवियों की अंतरात्मा की क्रिया भी तदनुरूप ही होती है। वे अपने गीत 'मधुर स्रोतों' से ग्रहण करते हैं एवं म्यूज के उपवनों से चयन कर उन्हें एकत्र करते हैं। वे मधुमक्षिकाओं की भाँति एक पुष्प से दूसरे पुष्प तक विचरण करते हैं।

३. कवि एक ऐसा कुशाग्रबुद्धि, कल्पनाशील एवं पवित्र प्राणी है जो अपने नवनिर्माण का कार्य तभी सम्पन्न कर सकता है जब वह 'प्रेरित' होता है तथा उसके मन में विक्षेप उत्पन्न होता है। जब तक वह ऐसी स्थिति प्राप्त नहीं करता; वह नितांत शक्तहीन एवं अपनी भविष्यवाणी के कथन में असमर्थ रहता है। यों तो कवि मनुष्यों के कार्यों के सम्बन्ध में अनेक सुन्दर बातें कहते हैं किंतु जैसा कि तुमने होमर के सम्बन्ध में यह स्वीकार किया है, वे उनके विषय में कला के नियमों द्वारा कथन नहीं करते, अपितु वही बातें कहते हैं जिनके लिए म्यूज उन्हें प्रेरित करती है। प्रेरित होकर कोई कवि डिथीरैम्ब की रचना करता है तो अन्य कवि प्रशंसात्मक तथ्यों, कोरस गीतों, महाकाव्यों और आयम्बिक छन्दों की रचना करते हैं। जो कवि एक प्रकार की रचना में सफल होता है, वह अन्य प्रकार की रचनाओं में सफलता प्राप्त नहीं कर पाता। कवि कला की सहायता से गान न कर दैवी प्रेरणा से गान करता है। यदि वह कला द्वारा दीक्षित होता तो वह एक विषय के सम्बन्ध में ही काव्य-रचना की शक्ति न रखकर समस्त विषयों में काव्य-रचना करने की क्षमता रखता। अतः ईश्वर कवियों की चेतना को अपने वश में कर लेता है और उनका उपयोग अपने कार्यसाधक के रूप में उसी प्रकार करता है जिस प्रकार वह भविष्यवक्ता तथा भविष्यद्रष्टा रूपी साधकों का उपयोग करता है। फलतः जब हम कवियों की वाणी सुनते हैं तो हमें यही प्रतीति होती है कि अपनी अचेतन अवस्था में कवि नहीं बोल रहे हैं अपितु उनके माध्यम से स्वयं ईश्वर हमसे कुछ कह रहा है।

प्लेटो ने सुकरात और इआन के संवाद में सुकरात द्वारा इआन के सम्मुख जो वक्तव्य प्रस्तुत कराया है उसका सारांश उपर्युक्त तीन अनुच्छेदों में दिया जा चुका है। उनके आकलन से यह तथ्य स्पष्ट हो जाता है कि प्लेटो की दृष्टि में काव्य-प्रेरणा का मूल उत्स दैवी शक्ति है जो कवि की वाणी के रूप में अभिव्यक्त होती है। विवेचन के इसी क्रम में प्लेटो ने एक उदाहरण द्वारा इस विषय को भी स्पष्ट किया है कि निम्नकोटि के कवि भी दैवी प्रेरणा से अनुप्रेरित होकर उत्कृष्ट कोटि की काव्य-रचना कर सकते हैं। प्लेटो का यह निर्णय उनकी इस मान्यता का प्रमाण है कि काव्य-रचना का एकमात्र आधार दैवी प्रेरणा है न कि कवि की कला। यहाँ इस बात का उल्लेख करना भी आवश्यक है कि प्लेटो ने सुकरात के साथ जिस 'इआन' का वार्तालाप कराया है, वह एक गायक था जो कवि-कृति का काव्यपाठ करते समय कवि से ही प्रेरणा ग्रहण करता था, अतः वह म्यूज और कवि के उपरांत आने वाली तीसरी कड़ी के तुल्य था। गायक को इस तृतीय कड़ी के पश्चात् प्लेटो ने श्रोता और आलोचक को चतुर्थ स्थान प्रदान किया है। इस प्रकार उन्होंने 'प्रेरणा से उद्‌भूत' एवं 'सम्पर्क तथा आकर्षण से निबद्ध' लोह-

अंगूठियों की प्रलम्बित शृंखला की कल्पना करते हुए काव्य-प्रेरणा का जो अनुक्रम विवेचित किया है, वह केवल पाश्चात्य विचारधारा के ऐतिहासिक और तात्त्विक विमर्श में ही महत्त्व नहीं रखता अपितु विश्व-काव्य के विवेचन की एक गौरवमयी विचार-शृंखला के रूप में भी प्रतिष्ठित है।

दैवी प्रेरणा का सिद्धान्त पाश्चात्य विचारकों और कवियों को भी सुमान्य है

प्लेटो ने काव्य-सर्जना की दैवी प्रेरणा-विषयक मान्यता का जो तत्त्व-निष्यंद प्रस्तुत किया है, वह उनके पूर्ववर्ती और परवर्ती काव्य-विवेचकों तथा कवियों द्वारा भी सुमान्य रहा है। वहाँ के तत्त्वद्रष्टा काव्य-मीमांसकों ने तो उस सिद्धांत का प्रतिपादन किया ही है, किंतु कवियों ने भी दैवी कृपा की उपलब्धि में ही अपनी रचनाविषयक कृतकार्यता का तत्त्वबोध करने की चेष्टा की है। इलियट और औडेसी के प्रारम्भ में म्यूज की स्तुति करते हुए होमर ने उससे काव्यप्रणयन की जो शक्ति-याचना की है उससे पता चलता है कि वे काव्य-सर्जना का मूल स्रोत किसी ऐसी अलौकिक शक्ति में मानते थे जिसके कारण कवि का आत्मप्रकाशन सम्भव होता है। हिसीयड ने तो इस बात का स्पष्ट उल्लेख किया है कि म्यूज के देवी अनुग्रह के कारण ही उसके अन्तःकरण में काव्य-रचना-विषयक शक्ति का संचार हुआ था। बाइबिल में संकलित यहूदी संतों के वचनों से भी इसी आस्था और विश्वास को बल मिलता है कि कवि की रचना-शक्ति केवल पारलौकिक संकेत अथवा प्रेरणा को ग्रहण करने पर ही प्रकाशित होती है। काव्य की दैवी प्रेरणा का सिद्धांत वर्जिल, दाँते, टैसो और मिल्टन आदि कवियों ने भी अपनी कृतियों के किसी न किसी भाग में अवश्य स्वीकार किया है। दांते ने 'अपोलो' की अभ्यर्थना में अपना स्तुति-गान किया है तो मिल्टन ने कट्टर ईसाई होने पर भी यूरैनिया से शक्ति-याचना की है। प्राचीन और अर्वाचीन रहस्यवादी कवियों की तो यह सुदृढ धारणा रही है कि जब तक कवि का मानस दिव्य-प्रेरणाओं से आन्दोलित नहीं होता, तब तक वह अपनी भाव-लहरियों को वाणी प्रदान कर ही नहीं सकता। यद्यपि आधुनिक युग के भौतिक दृष्टिकोण और वस्तुपरक चिन्तन ने काव्य-सर्जना की दैवी प्रेरणा के सिद्धांत को पर्याप्त धूमिल कर दिया है, किंतु आज भी ऐसे कवियों का सर्वथा अभाव नहीं है जो दैवी प्रेरणा के सिद्धांत में आस्था न रखते हों। हाँ, यह बात अवश्य है कि आज के वैज्ञानिक जगत् में दैवी प्रेरणा का सिद्धांत नवीन कलेवर धारण कर उपस्थित हुआ है और भौतिकता की चरम सिद्धि में ही जीवन की पूर्णता मानने वाले विचारकों ने उसके तत्त्वरूप को कदर्थित भंगिमाएँ प्रदान करने की अस्पृहणीय चेष्टाएँ भी की हैं। इस विषय का गम्भीर और व्यापक विवेचन न कर हम यहाँ केवल इतना ही संकेत करना पर्याप्त समझते हैं कि काव्य की दैवी प्रेरणा का सिद्धांत सतत चिरंतन और शाश्वत है और यदि ऐसा न होता तो विश्वकवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर आधुनिक युग के जीवन-दर्शन में कवि की तुलना उस वंशी से नहीं करते जिसमें स्वयं ईश्वर अपने स्वर निनादित करता रहता है।

दैवी प्रेरणा के प्रति भारतीय दृष्टि

'दैवी प्रेरणा से काव्योद्भव की निष्पत्ति' का सिद्धांत जिस रूप में पाश्चात्य देशों के काव्य-साहित्य में स्वीकार किया गया है उसी रूप में भारतीय वाङ्मय में भी सुमान्य रहा है। उसके तत्त्व-विमर्श के द्वारा मानव-मन की एकरूपता एवं साधारणीकृत स्थिति का सहज बोध किया जा सकता है। भारतीय और पाश्चात्य काव्य-साहित्य के सम्यक् आकलन से पता चलता है कि दोनों ही प्रकार की काव्य-सर्जनाओं में इष्टदेव की वंदना अथवा वाणी की अधिष्ठात्री देवी का संस्तव करने की एक सुदीर्घकालीन परम्परा रही है। महाकाव्यों की सर्जना में तो इस प्रकार की परम्परा का अनुपालन अनिवार्य रूप से किया ही गया है; किन्तु मुक्तक रचनाएँ भी इसकी अपवाद नहीं रही हैं। भारतीय काव्यकलाधरों का भी ऐसा विश्वास रहा है कि जब तक वाग्देवता का अनुग्रह नहीं होता तब तक न तो काव्यरचना में सफलता ही प्राप्त की जा सकती है और न काव्य-मार्ग के विघ्नों का निवारण ही सम्भव है। खण्डकाव्यों अथवा मुक्तक रचनाओं के प्रारम्भ में भी कवियों ने इष्टदेवता की आराधना करते हुए उनसे काव्यशक्ति के उद्भवार्थ प्रार्थनाएँ की हैं। वैदिक वाङ्मय से लेकर अद्यावधि विकसित होने वाले काव्यसाहित्य की परम्परा में दैवी प्रेरणा का विषय किसी न किसी रूप में अवश्यमेव स्वीकृत रहा है। वाग्देवता की आराधना के मूल में कवियों का कवित्व-शक्त्युद्भव-विषयक दृष्टिकोण प्रयोजनीय रहा है तो गणेशादि देवों की वंदना विघ्न-विनाश तथा विष्णु, शिव और शक्ति की उपासना मंगल-प्राप्ति के लिए की गई है। कवियों ने काव्य की अधिष्ठात्री देवी से पुनः-पुनः इस वरदान की याचना की है कि वह उनके अंतःकरण में ऐसा आलोक अथवा प्रबोध उत्पन्न करे जिसके कारण वे उत्कृष्ट काव्य की सर्जना में सफल हो सकें। वाग्देवता का कवि-कृत संस्तव जहाँ एक ओर काव्य की दैवी प्रेरणा का संसूचक है, वहाँ दूसरी ओर उसके द्वारा काव्यसर्जना का तात्त्विक विबोध भी होता है। मम्मट-कृत कविभारती का जयजयकार तथा तुलसीकृत वाणीविनायक की वंदना का मूल रहस्य यही है कि भारतीय कवियों ने दैवी कृपा के आलोक में ही कवि-दृष्टि का निर्माण एवं काव्यसौन्दर्य का आह्लाद स्वीकार किया है। कहने के लिए हम भले ही इस मान्यता में विश्वास रखें कि क्रौंचवध की करुण-घटना ने आदि कवि की वाणी का प्रस्फुरण किया, किंतु यह एक निश्चित बात है कि कवि-मन की द्रवणशीलता तब तक काव्यसर्जना के रूप में प्रकट नहीं हो सकी थी, जब तक उसे किसी अलौकिक दैवी शक्ति ने प्रेरणा करने का उपक्रम नहीं किया। इस प्रकार काव्य-सर्जना के मूल में अन्तर्निहित दैवी प्रेरणा का सिद्धान्त भारतीय काव्य-साहित्य की भी एक मौलिक विशेषता है जिसका पाश्चात्य दृष्टि के साथ किया जाने वाला तुलनात्मक अध्ययन अत्यंत रुचिकर और साम्यमूलक है।

अनुकरण-सिद्धान्त की अवतारणा

प्लेटो ने काव्य-सर्जना के संदर्भ में जिस दैवी प्रेरणा का संकेत किया है, उसके

अन्तराल में अनुकरण-सिद्धांत के भी तत्त्वबिंदु विद्यमान हैं जिन्हें उनके प्रमुख शिष्य अरस्तू ने विशेष प्रश्रय प्रदान किया। इस सिद्धांत का उल्लेख और विवेचन आचार्य प्लेटो से लेकर आज तक अनेकानेक विद्वानों ने किसी न किसी रूप में अवश्यमेव किया है। पारिभाषिक पद के रूप में 'अनुकरण' शब्द अनेक प्रकार के अर्थ द्योतित करता है जिनमें साम्य और वैषम्य का अद्भुत सामंजस्य विद्यमान है। इस सिद्धांत की विवेचना के मूल में अनेक प्रकार की दार्शनिक और कलापरक दृष्टियाँ भी अंतर्निहित रही हैं जिनके आधार पर भिन्न-भिन्न विचारकों ने भिन्न-भिन्न अभिमत व्यक्त किये हैं। आचार्यों के एक वर्ग ने 'अनुकरण' का सामान्य अर्थ-बोध कराते हुए काव्य और कला-निर्माण के क्षेत्र में उसकी उपयोगिता विशेष रूप में स्वीकार की है क्योंकि महान् कवियों और कलाकारों की रचनाओं के आदर्श अनुकरण का निरंतर अभ्यास करते रहने से भी अनेक प्रकार की नवीन प्रतिभाएँ अपना वैभवपूर्ण विकास कर सकती हैं। इस विषय में सिसरो, होरेस और लौंजिनस आदि प्राचीन आचार्यों के अभिमत उल्लेखनीय हैं, जिन्होंने प्राचीन प्रणाली के शास्त्रसम्मत ग्रंथों के शैलीगत वैशिष्ट्य तथा भावगत औदात्य आदि गुणों के आकलन, मनन और चिंतन करने के पश्चात् सर्जनात्मक दिशा की ओर उन्मुख होने का परामर्श उदीयमान कलाकारों और साहित्य-स्रष्टाओं को दिया है। ऐसा करते हुए इन आभिजात्यवादी आचार्यों ने इस विचारबिन्दु का भी पूर्ण ध्यान रखा है कि अनुकरण का अर्थ केवल 'कार्बन-कापी' अथवा 'तस्कर-व्यापार-मात्र' नहीं है, क्योंकि ऐसा मानने पर तो नवीन प्रतिमाओं में किसी भी प्रकार के चमत्कार अथवा अनुकरणगत मौलिक विधान का उन्मेष ही नहीं हो सकेगा। वस्तुतः अनुकरण-सिद्धांत की सफलता तो इसी बात में है कि यदि कोई विकासोन्मुख कलाकार अथवा काव्य-सर्जक अपने पूर्ववर्ती रचनाकारों के महान् ग्रंथों और व्यक्तित्व-गौरव से जो कुछ भी उपजीव्य निधि ग्रहण करे, वह इतनी भव्य और परिमार्जित होनी चाहिए जिसमें अनुकरण का निर्जीव एवं निष्क्रिय रूप न होकर सर्जनात्मक चेतना के अभीष्ट अंश प्रस्फुटित रहें। ऐसा करने पर ही अनुकरण-सिद्धांत का एक महत्त्वपूर्ण पक्ष पल्लवित हो सकता है।

प्लेटो के एतद्विषयक विचार

यों तो आचार्य प्लेटो के पूर्ववर्ती युगों से भी अनुकरण-सिद्धांत के विषय में स्फुट विचार व्यक्त किये गये थे, किंतु उन्हें व्यवस्थित विधान प्लेटो तथा अरस्तू के समय से ही प्राप्त हुआ। इस सिद्धांत के मूल में 'माइमेसिस' अथवा 'इमिटेशन' शब्दों का अर्थ विद्यमान था जिनका कलात्मक विवेचन करते हुए आचार्यों ने 'अनुकरण' का स्पष्टीकरण करने में होमर-विरचित महाकाव्य में वर्णित एचिलीज की स्वर्णमयी तथा समतल धरातलयुक्त ढाल पर अंकित किये गये उस चित्र का उल्लेख किया जिसके द्वारा किसी हल से जोते हुए खेत का अनुकरणात्मक बिम्ब उपस्थित करने की चेष्टा की गई थी। प्लेटो ने अपने 'रिपब्लिक' नामक ग्रंथ में जहाँ एक ओर काव्य की अपेक्षा दर्शन की श्रेष्ठता प्रतिपादित कर जीवन में नैतिक आदर्शों की प्रतिष्ठा तथा निष्ठा पर विशेष बल दिया था, वहाँ दूसरी ओर काव्य के उस पक्ष को सर्वथा त्याज्य और कदर्थनीय भी

कहा था जिसमें युग-जीवन के अनुकरण के नाम पर समाज में अनैतिक भ्रष्टाचार और उच्छृंखलता का प्रसार किया जाता है। प्लेटो ने इसी आधार पर अपने आदर्श प्रजातंत्र में तथाकथित कविनामधारी प्राणी के सम्मानपूर्वक निष्कासन की बात लिखी है जो अपनी रचनाओं द्वारा नागरिकों को स्वैरवादी बनाकर उन्हें पथभ्रष्ट करने का निंदनीय कार्य करता है। उन्होंने अपने 'रिपब्लिक' नामक ग्रंथ में सुकरात और ग्लाकन के बीच संवाद-योजना कराते हुए जिस अनुकरण-सिद्धांत की विवेचना की है उससे प्रकट होता है कि वे काव्य को अनुकरणमात्र कहकर उसे उच्चादर्शों और महदुद्देश्यों से विहीन समझते थे। उनकी दृष्टि में साधारणतया काव्य-निर्माण में किसी भी प्रकार की दैवी प्रेरणा अथवा नैसर्गिक उत्तेजना न होकर केवल सामान्य कोटि की अनुकरणात्मकता ही रहती है जिसे अनेक दृष्टियों से सामान्य कारीगरी की उपयोगी वस्तुओं से भी नगण्य और हेय कहा जा सकता है। उन्होंने मेज और चारपाई के उदाहरण प्रस्तुत कर इस सिद्धांत को प्रतिष्ठित करने की चेष्टा की है कि उनके आदर्श रूप का कर्त्ता तो केवल ईश्वर ही हो सकता है जो संसार के चराचर पदार्थों का निर्माता तथा देवताओं का भी स्रष्टा है। उसके आदर्श-रूप के अनुकरण पर मेज और चारपाई का निर्माण करने वाला काष्ठ-शिल्पी कदापि आदर्श स्रष्टा नहीं कहा जा सकता क्योंकि उसमें वस्तु की यथार्थ और मूल सृष्टि करने की क्षमता नहीं होती और वह तो वस्तु के अस्तित्व का केवल आभासमात्र दे सकता है। दार्शनिक और तत्त्व-चिंतन की दृष्टि से उसकी सत्ता को और भी अधिक दुविधापूर्ण सिद्ध करते हुए प्लेटो ने लिखा है कि उसमें रचना-कौशल का नैसर्गिक रूप आ ही नहीं सकता। कलाकार की स्थिति तो उससे भी हीन और निकृष्ट है क्योंकि वह तो उस पदार्थ का अनुकर्तामात्र है जिसका निर्माण किसी शिल्पकार द्वारा किया गया है। उन्होंने कलाकार अथवा कवि को तृतीय श्रेणी प्रदान करते हुए उसे सत्य से तिगुनी दूरी पर अधिष्ठित रहने वाला प्राणी कहा है क्योंकि वह भले ही दु:खांत नाटकों की ही सृष्टि क्यों न करे, वह चित्रकार की सामान्य श्रेणी से ऊँचा नहीं उठ सकता। ऐसी स्थिति में उसकी अनुकरण-प्रवृत्ति उसके जीवन की प्रेरक दिशा नहीं कही जा सकती क्योंकि जिसे दिव्य प्रेरणा प्राप्त होती है वह केवल प्रतिच्छाया का ही निर्माण न कर किसी मौलिक सर्जना की ओर ही प्रवृत्त होना चाहेगा। निष्कर्ष यह है कि प्लेटो की विचारधारा में अनुकर्ता में इतना सामर्थ्य नहीं होता कि वह अनुकार्य वस्तु का वास्तविक रूप जान सके अत: उसका अनुकरणकार्य केवल प्रहसन-रूप ही है क्योंकि उसमें सत्य के तत्त्वोद्घाटन का रहस्य अंतर्निहित नहीं है।

अरस्तू की प्रतिक्रिया और अनुकरण का औदात्य

आचार्य प्लेटो ने काव्य और कला के प्रति संकीर्ण और अनुदार भावना रखते हुए जिस रूप में अनुकरण-सिद्धांत की विवेचना की थी, वह परवर्ती आचार्यों को स्वीकार नहीं हुई। बात यह थी कि प्लेटो मूलत: काव्य के विवेचक न होकर दर्शन, शिक्षा, नैतिकता और राजनीति के विचारक थे जिनके परम्परागत विश्वासों में पूर्वाग्रह की वृत्ति इतनी अधिक प्रबल थी कि वे कवि और काव्य के प्रति निष्पक्ष उदार भावना

रखकर चल ही नहीं सकते थे। उन्हें कवि-कर्म में न तो लोकोत्तर प्रतिभा के ही दर्शन होते थे और न वे उसे किसी भी प्रकार के उन्नयन का ही आधार मानते थे। वस्तुतः उनकी प्रवृत्ति तो काव्य की कदर्थना अथवा कुत्सा की ओर ही विशेष उन्मुख थी जिसके कारण वे काव्य-कला के उज्ज्वल पक्ष की ओर बहुत कम ध्यान दे सके। उनकी इस प्रकार की पूर्वाग्रह-दंशित दुर्बलता का अनुभव करते हुए उन्हीं के सुयोग्य शिष्य आचार्य अरस्तू ने काव्यकला और अनुकरण-सिद्धांत को उदात्त और व्यापक भूमिका में विवेचित करने का प्रयत्न किया। अरस्तू का दृष्टिकोण प्लेटो की अपेक्षा अधिक उदार और समन्वयपूर्ण था। वे कविता और कला विषयक उपलब्ध सामग्री का सहानुभूतिपूर्वक अध्ययन कर इस निर्णय पर पहुँचे थे कि उनके प्रति संकीर्ण तथा पूर्वाग्रही विचारधारा लेकर चलना उचित नहीं है क्योंकि वैसा करने पर उनका उज्ज्वल पक्ष उद्घाटित किया ही नहीं जा सकता। उनका कथन था कि यों तो एपिक कविता, ट्रेजैडी, कॉमेडी, डिथीरैम्बिक और फ्लयूट तथा लायर का संगीत भी अपने सामान्य स्वरूप में अनुकरण ही है किन्तु उनमें अनुकरण के विभिन्न साधनों, आश्रयों और रीतियों में परस्पर भेद भी रहता है।[1] उन्होंने अनुकरण को कविता का प्रमुख तत्त्व अथवा प्रधान गुण कहकर भी उसके स्वभावगत रूप-वैचित्र्य को भिन्न-दृष्टि से निरूपित किया है। उनकी विवेचना की एक महत्त्वपूर्ण उपलब्धि यह भी है कि वे छन्द को कविता का भेदक-तत्त्व नहीं मानते क्योंकि उसका सौन्दर्य तो अनुकरण की श्रीसम्पन्नता में ही निहित रहता है जिसके लिए गद्य अथवा पद्य की कोई भी प्रणाली ग्रहण की जा सकती है। काव्यगत अनुकरण के प्रधान विषय के रूप में 'क्रियाशील मानव' की प्रतिष्ठा करते हुए उन्होंने लिखा है कि उसमें मानव की जिन क्रियाशील प्रवृत्तियों की अनुकृति की जाती है वे केवल बाह्य-रूपिणी ही नहीं होतीं अपितु उनमें जीवन के आभ्यंतरिक और सूक्ष्म तत्त्व भी समाविष्ट रहते हैं। इसका यह अभिप्राय नहीं कि आचार्य अरस्तू काव्य में नैतिकता के पक्ष-समर्थक नहीं थे। सच तो यह है कि उन्हें भी काव्य का नैतिक धरातल स्वीकार था, किंतु वे उसे मानवता की व्यापक भूमि पर विवेचित करना अधिक उपयुक्त समझते थे क्योंकि मानव-जीवन का अनुकरण केवल भौतिक तत्त्वों और प्रत्यक्ष व्यापारों का ही अनुकरण नहीं होता अपितु उसमें क्रियाशील मानव की उदात्त भावनाओं का भी सन्निवेश रह सकता है। इस प्रकार अरस्तू के मतानुसार 'अनुकरण' जीवन की केवल यांत्रिक प्रतिलिपि अथवा बाह्य क्रिया मात्र न होकर आत्मस्पर्श से पुलकित आभ्यंतरिक चेष्टा भी है जिसका आधार लेकर कवि अभिनव रूपों और चेष्टाओं की भी सृष्टि करता है। उनका अनुकरण-सिद्धांत एक दृष्टि से प्रत्यक्ष और परोक्ष जगत् की अभिसंधि का वह स्थल है जहाँ इतिहास और कविता का पार्थक्य भी सिद्ध हो जाता है। ऐसा करते हुए उन्होंने 'सम्भावना-सिद्धांत' की ओर भी संकेत किया है जिसके अनुसार कविता

---

1. Epic poetry and tragedy, comedy also and dithy-rambic poetry and the music of the flute and of the lyre in most of their forms, are all in their general conception modes of imitation.

जीवन की घटित घटनाओं का ही स्थूल अनुकरण उपस्थित नहीं करती अपितु उन घटनाओं का भी चित्रण करती है जिसके संघटन की संभावना जीवन की रहस्यमयी वृत्ति में सदैव बनी रहती है तथा जिनके कारण उसका क्षेत्र इतिहास की अपेक्षा अधिक व्यापक, मौलिक और अभिनंदनीय सिद्ध होता है।[1]

अरस्तू ने अनुकरण-सिद्धांत की विवेचना के संदर्भ में कवि और इतिहासकार के दृष्टिकोण का मौलिक अंतर निरूपित करते हुए उनका जो दृष्टिभेद अंकित किया है वह अत्यन्त गम्भीर और विचारणीय है। उनका मत है कि कवि और इतिहासकार का अंतर उनके द्वारा प्रयुक्त पद्य और गद्य की विधाओं के माध्यम से ही निरूपित करना उचित नहीं है क्योंकि यदि कोई हीरोडोटस की ऐतिहासिक रचनाओं को पद्यबद्ध कर दे तो वे 'कविता' नहीं कही जा सकतीं। उनके मतानुसार पद्यबद्धता मात्र ही कविता का आत्मतत्त्व नहीं है। सच तो यह है कि इतिहास का कार्य वास्तविक घटनाओं का वर्णन करना होता है जबकि कविता में ऐसी घटनाएँ विशेष रूप से चित्रित की जाती हैं जिनके घटने की संभावना अधिक संभाव्यमान रहती है। इस मान्यता को इस प्रकार भी स्पष्ट किया जा सकता है कि इतिहास की प्रवृत्ति विशिष्टतापरक है जबकि कविता में जीवन की सार्वभौमिक और सामान्यीकृत दशाओं के चित्रण के अधिक अवसर रहते हैं जिनके कारण वह दर्शन की उच्च भूमिका के क्रोड़ में भी संचरण करती हुई चलने लगती है। उन्होंने इतिहास की घटनाओं की देश और काल के विशिष्ट बंधनों में आबद्ध कहकर उनमें कल्पना तत्त्व का अभाव निर्दिष्ट किया है जबकि काव्य की क्षेत्र-सीमा में इस प्रकार का प्रतिबंध नहीं होता जिसके कारण वह शाश्वत और अनंतकालीन आकर्षण का विस्तार कर सकती हैं। अरस्तू ने काव्य और अनुकरण का अपरिहार्य सम्बन्ध निरूपित कर उन्हें जिस प्रकार की नूतन व्याप्ति और अर्थगरिमा प्रदान की है वह उनके दार्शनिक चिंतन का प्रतिफल है। उनके विचार-सूत्रों का पल्लवन करते हुए परवर्ती रूपवादी विचारकों ने जिस रूप में काव्य-सर्जना के सौष्ठव का विश्लेषण किया है, वह काव्य की महनीय कल्पना का निर्देशक है। वस्तुतः आचार्य अरस्तू ही पाश्चात्य काव्य-शास्त्र के ऐसे आद्याचार्य हैं जिन्होंने अनुकरण-सिद्धांत में काव्य-सर्जना का मौलिक गुण उद्घाटित किया तथा जिसका आधार लेकर परवर्ती काव्यशास्त्रियों ने नये-नये मत नियोजित किये।

अनुकरण-सिद्धांत के त्रिविध तत्त्व

आचार्य अरस्तू ने अनुकरण-सिद्धांत की विवेचना करते समय उन त्रिविध तत्त्वों की ओर विशेष ध्यान दिया है जिन्हें 'विषय', 'माध्यम' और 'रीति' के नाम से अभिहित

---

1. It is, moreover, evident from what has been said that it is not the function of the poet to relate what has happened, but what may happen, what is possible according to the law of probability or necessity.

किया जा सकता है। काव्य-विषय के रूप में जिस व्यक्ति का अनुकरण मुख्य रूप से किया जाता है वह क्रियाशील मनुष्य है जिसे नैतिक दृष्टि से उच्च, मध्यम और सामान्य श्रेणियाँ प्रदान की जा सकती हैं। अरस्तू का मत है कि मानव-चरित्र का यह अनुकरणमूलक वैविध्य काव्य के विभिन्न रूपों में अभिव्यक्त होता है। ट्रेजैडी तथा उसके समस्तरीय काव्यरूपों में यदि उच्चकोटि के चरित्रों का अनुकरण किया जाना सम्भव है तो लैम्पून आदि काव्य-कृतियों में निम्न श्रेणी के चरित्र अनुकृत होते हैं। चरित्रों का यह वैभिन्न्य युग-जीवन और युग-धर्म की परिस्थितियों पर भी निर्भर है। अद्यतन युग में जिस प्रकार की भौतिक और वैज्ञानिक दृष्टि का प्राधान्य हो गया है, उसके अनुसार क्रियाशील मानव की उन प्रवृत्तियों का काव्यमय चित्रण अथवा अनुकरण करना अधिक शोभनीय और स्वाभाविक कहा जा सकता है जो अधिकाधिक मनोवैज्ञानिक और यथार्थवादी हैं। आज के कथा-साहित्य में इस प्रकार की प्रवृत्ति विशेष रूप से परिलक्षित होती है। जहाँ तक काव्य-सामान्य में अनुकृत किये जाने वाले विषयों के माध्यम का क्षेत्र है, उसमें मुख्यतः 'शब्द', 'लय' और 'संगीत' की लहरियों का सम्मिश्रण रहता है। कला-कृतियों के लालित्य और शिवत्व के अनुसार इन माध्यमों का यथाप्रसंग उपयोग किया जाता है। अनुकरण की शैली नाट्यपरक अथवा वर्णनात्मक भी हो सकती है तथा वह इन दोनों का संयोजन लेकर भी चल सकती है। नाट्य-शैली में कवि अपने दायित्व का सम्पूर्ण भार पात्रों की क्रिया-प्रतिक्रियाओं और कथोपकथनों पर छोड़ देता है जबकि वर्णनात्मक शैली का रूप वर्णनात्मक काव्य (Narrative Poetry) में अधिक निखरता है जिसमें कवि स्वयं वस्तु-वर्णना के कार्य में संलग्न रहता है। काव्य का एक विशिष्ट स्वरूप 'महाकाव्य' भी है जिसकी विशाल व्यंजना में कवि तथा पात्रों को पृथक्-पृथक् रूप से शैली-प्रयोग करने की स्वतन्त्रता होती है। उस प्रयोग में नाट्य-शैली और वर्णन-शैली के उभयविध संयोग वांछनीय रहते हैं। शैली या रीति के ये त्रिविध-रूप अनुकरण-सिद्धांत के परिवेश में ही निरूपित किये गये हैं। अरस्तू ने अपनी काव्य-शास्त्रीय विवेचना में मनुष्य की अनुकरणप्रीति और संगीतप्रियता का बार-बार उल्लेख करते हुए उनके माध्यम से काव्योद्गम की प्रेरणाओं की ओर भी संकेत किया है जिसका निष्कर्ष यह है कि वे अनुकरण-सिद्धांत की भूमिका पर अधिष्ठित रहकर ही काव्य-सर्जना का विषय-प्रतिपादन करना चाहते थे। उन्होंने काव्य के विविध रूपों में अनुकरण-सिद्धांत की उपादेयता सिद्ध की है। एपिक, ट्रेजैडी और कॉमेडी जैसे काव्यरूपों के साथ-साथ उन्होंने डिथीरैम्बिक एवं फ्ल्यूट और लायर के संगीत की भी चर्चा करते हुए अनुकरण-सिद्धांत की व्यापकता की ओर संकेत किये हैं। कुछ विद्वानों का कथन है कि अरस्तू ने सभी काव्य-रूपों और ललित-कलाओं के निर्माण-तत्त्वों में अनुकरण की पद-प्रतिष्ठा करने पर भी मुक्तक-काव्य को उस सिद्धांत में विवेचित नहीं किया जो उनकी विवेचना की आश्चर्यमयी अपूर्णता है। विद्वानों का यह आक्षेप उचित कहा जा सकता है किंतु यह सर्वथा निर्विवादरूप में सुमान्य नहीं है। बात यह है कि जब अरस्तू के पूर्व अनेक प्रकार के मुक्तक-काव्यकारों द्वारा भी बहुविध रचनाएँ प्रस्तुत की जा चुकी थीं तो उनकी ओर अरस्तू की अंतर्दृष्टि न गई हो, ऐसा सामान्यतः संभव प्रतीत नहीं होता। ऐसी स्थिति

में यह निर्णय करना ही हमें अधिक युक्तिसंगत प्रतीत होता है कि या तो अरस्तू के 'काव्यशास्त्र' की प्राप्त प्रतियों में वे अध्याय अपूर्ण हैं जिनमें काव्यरूपों की परिगणना की गई है अथवा अरस्तू ने मुक्तक-काव्य का समाहार अन्य काव्यरूपों के अंतराल में कर देना ही श्रेयस्कर समझा है। अरस्तू की कला-विवेचना में जब क्रियाशील मानव का उल्लेख विद्यमान है तो यह तथ्य तो स्वत: ही अभिव्यक्त है कि उसकी क्रियाशीलता की व्यापकता में मानव-मन की विभिन्न वृत्तियों के अभिव्यंजन के अवकाश उपस्थित रहे होंगे। मुक्तक काव्य में तो मानसिक वृत्तियों की स्वतंत्र व्यंजना के लिए और भी अधिक अवसर रहते हैं अतः अरस्तू का ध्यान उसकी ओर नहीं गया हो, यह सहसा प्रतीत नहीं होता। निष्कर्ष रूप में हम कह सकते हैं कि अरस्तू का अनुकरण-सिद्धांत अत्यन्त व्यापक धरातल पर अधिष्ठित है जिसमें काव्यमात्र की सर्जना के मौलिक तत्त्व उपबृंहित हैं तथा जिसकी आधारभूमि पर परवर्ती काव्य-समीक्षकों ने अपनी मान्यताओं का विशाल भवन निर्मित किया है।

अनुकरण-सिद्धांत का प्रत्यक्ष सम्बन्ध नाटक-सर्जना से है

यों तो काव्यमात्र में अनुकरण-सिद्धांत का समाहार किया जाता है किन्तु नाटक-कृतियों के साथ उसका प्रधानतया प्रत्यक्ष सम्बन्ध है। वस्तुत: नाटक और काव्य मानव-मन की सहजानुभूति के ही प्रकाशन हैं जिनमें किसी भी प्रकार का अन्तर्विरोध न होकर नैसर्गिक साहचर्य विद्यमान रहता है। साहित्य-समीक्षकों ने काव्यसामान्य के जो स्वरूप-लक्षण निर्धारित किये हैं उनमें नाटक-तत्त्वों का संगुम्फन है तो नाटक की परिभाषाओं में भी काव्य के स्वरूप के सर्वग्राह्य उपलक्षण समायोजित हैं। काव्य की नाट्यमानता तथा नाटक की काव्यमयता का सैद्धांतिक प्रतिपादन करने की काव्यशास्त्रीय परम्परा अत्यंत प्राचीन और चिरंतन रही है। नाटक को मानव-स्वभाव का वास्तविक एवं मनोरंजक चित्र कहने वाले विद्वानों ने जहाँ उसके रूप में काव्य-सामान्य के लक्षण ध्वनित किये थे तो काव्य को रसानुभूति के मंच पर अधिष्ठित करने वाले विचारकों ने उसकी नाट्यमानता को भी अपने विवेचन-क्रम में ध्यानावस्थित रखा था। वास्तव में उभयविध साहित्य-प्रकारों में जीवन का यथासम्भव यथार्थ चित्र अंकित किया जाता है जिसमें हमारी भावनाओं, चित्तवृत्तियों तथा उनको प्रभावित करने वाले भाग्य-परिवर्तनों के रूप ऐसी विधि से अभिचित्रित रहते हैं जिनके आकलन द्वारा मानव-समाज आनंद तथा शिक्षण की सहज अनुभूतियाँ प्राप्त करता है। इस प्रकार की अनुभूतियों में जीवन के बाह्य धरातल के भौतिक तत्त्व ही नहीं रहते अपितु उनमें अमूर्त भावनाओं और मनोवृत्तियों का भी संयोजन रहता है। अरस्तू के अनुकरण-सिद्धांत में भी ऐसे संकेत उपलब्ध होते हैं जिनमें अनुकरण को केवल पदार्थों का बिम्ब-ग्रहण कराने का ही आधान न मानकर जीवन के गम्भीर तथा रहस्यमय सत्यों के उद्घाटन का भी आधार स्वीकार किया गया है। वस्तुत: अनुकरण-सिद्धांत का प्रभाव पश्चिमी साहित्य की अनेकानेक काव्य-शैलियों, निर्माण-पद्धतियों और साहित्य-दृष्टियों पर समय-समय पर परिलक्षित हुआ है। अरस्तू के पश्चात् विकसित होने वाले पाश्चात्य काव्यशास्त्र और काव्य-

प्रवृत्तियों के रूप-गठन में अनुकरण-सिद्धांत के अंश किसी न किसी रूप में अवश्यमेव अनुस्यूत हैं। काव्य-सर्जना के प्रेरक-तत्त्वों के साथ-साथ विकसित होने वाली जीवन-दृष्टि तथा सामाजिक परिस्थितियों ने भी अनुकरण-सिद्धांत से बहुल अंश ग्रहण किये हैं। यथार्थवादियों ने जीवन के यथातथ्य निरूपण में ही उनकी प्रतिष्ठा की है तो आदर्शवादी विचारकों ने उस पर नैतिकता तथा आदर्श का चीनांशुक आच्छादित कर उसकी जीवन-छवि प्रतिबिम्बित की है। उन प्रकृतिवादियों की श्रेणी तो सर्वथा पृथक् है जो काव्य को जीवन का एक लघुखण्डमात्र कहकर फोटोग्राफी के कैमरे द्वारा प्रवर्तित शिल्पविधि में ही उसकी व्याख्या करना समीचीन समझते हैं। आधुनिक यूरोप और अमेरिका में जिस प्रकार की काव्य-समीक्षा विकसित हो रही है वह यद्यपि अपना कोई सुदृढ़ प्रतिमान निर्धारित नहीं कर सकी है किंतु उसकी विवेचन-दृष्टि से ऐसा प्रतीत होता है कि वह जीवन की उस समन्वयपूर्ण स्थिति के लिए आकुल है जिसमें बाह्य और आभ्यंतर की दूरी विलुप्त हो सके तथा जिसमें भौतिक तत्त्वों और अमूर्त विचारों का सामरस्य समाहित हो। यदि अद्यतन युग के आधुनिक परिवेश में अरस्तू के अनुकरण सिद्धांत की मीमांसा की जाय तो ऐसी अनेक भ्रांतियों का उत्पादन हो सकता है जो हमारी काव्य-दृष्टि को व्यर्थ के वाग्जाल में उलझा रही है।

पाश्चात्य साहित्य-समीक्षा और काव्य-सर्जना के संदर्भ में विवेचित अनुकरण-सिद्धांत दृश्यकाव्य अथवा नाटकों के क्षेत्र में जितना अधिक उपादेय और सार्थक सिद्ध होता है, उतना श्रव्य अथवा पाठ्य काव्यों के संदर्भ में नहीं होता। नाट्यतत्त्व की विवेचना करते हुए आचार्यों ने नाटक को जिस अर्थ में जीवन की अनुकृति कहा है, उसका अभिप्राय भी यही है कि वह जीवन के यथातथ्य रूप को बिम्ब-रूप में ग्रहण कर उसका अनुकरण करता है। आचार्य अरस्तू ने समस्त काव्य को अनुकरण रूप कह कर उसे व्यापक क्षेत्र प्रदान करने की चेष्टा की है। उन्होंने नाटक और अन्य काव्यरूपों में अनुकरण-विधि-विषयक अंतर भी निरूपित किया है। वे अनुकरण का अभिप्राय केवल रंगमंचीय अभिनय से लेना उचित नहीं समझते क्योंकि ऐसा मानने पर तो उसकी सीमा का संकोच हो जाता है। उनके मतानुसार अनुकरण एक विशिष्ट प्रकार की प्रक्रिया का रूप है जिसके द्वारा विशिष्ट में सामान्य की तथा व्यष्टि में समष्टि की प्रतीति होती है। अनुकरण-सिद्धांत को व्यापक भूमिका में निरूपित करते हुए उन्होंने लिखा है कि उसके द्वारा पदार्थों का केवल बाह्य रूप ही अंकित नहीं होता अपितु भावनाओं और गम्भीर अनुभूतियों के आंतरिक सम्बन्धों की भी अभिव्यक्ति होती है। अनुकरण के साथ कल्पना का संयोजन होने से हमारे जीवन का ऐसा सार्वभौम रूप प्रकट हो जाता है जिसमें व्यक्तिगत संकीर्णता और पूर्वाग्रह की भावना के लिए कोई स्थान नहीं रहता।

नाटक में अनुकरण-सिद्धांत को जिस रूप में मान्यता मिली है वह वर्णनात्मक न होकर क्रियात्मक है। इसका कारण यह है कि नाटक में कथाकाव्य अथवा महाकाव्य की भाँति कथा की वर्णनात्मकता न होकर पात्रों और परिस्थितियों की सर्जना की जाती है जिनके घात-प्रतिघातों की क्रियाओं से नाटकीय 'वस्तु' का विकास होता है। वस्तुतः नाटक-क्षेत्र में संचरित होते ही अनुकरण-सिद्धांत अपना विशिष्ट अर्थ व्यंजित करने लगता है

जिसे सामान्य अनुकृति से भिन्न श्रेणी प्रदान करना उचित है। जो विद्वान् नाटक को केवल कल्पना का व्यापार कहकर उसकी तुलना स्वप्न अथवा विभ्रम से करते हैं वे अनुकरण की सत्ता उसके साधन रूप में स्वीकार करते हैं क्योंकि उनके मतानुसार नाटक का साध्य तो केवल अयथार्थ में यथार्थ की प्रतीति कराना है जो केवल कल्पना-साध्य है। ऐसे विद्वानों के कल्पनाप्रधान स्वच्छंदतावादी नाटकों का भ्रांतिमूलक स्वरूप निरूपित करते हुए लिखा है कि उनके कथानक, पात्र तथा वातवरण आदि तत्त्व इतने अधिक कलापूर्ण और कल्पनारंजित होते हैं कि उनके स्वप्निल संसार में अयथार्थ और यथार्थ तथा असम्भव और सम्भव के मध्य कोई रेखा नहीं खींची जा सकती। नाट्यजनित भ्रांति का स्वरूप यथार्थवादी नाटकों के कलेवर में भी विद्यमान रहता है जिसे अनुकरण के स्थान पर यथार्थ कहने की एक साहित्यिक परम्परा भी रही है। यहाँ पर एक बात उल्लेखनीय है कि 'नाट्यभ्रांति', 'अनुकरण' और 'यथार्थ' के बीच एक ऐसा अंतर्सूत्र विद्यमान है जिसे सर्वथा विच्छिन्न करना न तो संभव है और न न्यायसंगत ही प्रतीत होता है। बात यह है कि काव्य के शब्दचित्रों की भाँति नाट्यरचना और अभिनय का मूल उद्देश्य एक असाधारण अथवा विशिष्ट कोटि की मनःस्थिति उत्पन्न करना है जिसमें प्रयुक्त किये गये अनुकरणात्मक तत्त्व हमें यथार्थ तत्त्वों के रूप में आभासित होने लगते हैं। अनुकरण-जन्य यथार्थ अथवा कल्पनाजन्य भ्रांति का वह रूप तत्त्वतः स्वप्नवत् न होने पर भी सुखदप्रतीति-तुल्य ही है जिसे विशुद्ध अज्ञान से भिन्न कोटि प्रदान करना ही युक्तिसंगत प्रतीत होता है।

भारतीय दृष्टि में अनुकृति

यह एक अत्यंत उल्लेखनीय बात है कि अरस्तू आदि पाश्चात्य विचारकों ने अनुकरण-सिद्धान्त और सम्भावना-सिद्धांत की भूमिका में काव्य-सर्जना और काव्यास्वाद का जो रहस्य पश्चिमी दर्शन की मान्यताओं के सन्दर्भ में उद्घाटित किया है, वह भारतीय आचार्यों द्वारा प्रतिपादित अनुमिति और उत्प्रेक्षा-विषयक कल्पनाओं में फलितार्थ हुआ है। आचार्य शंकुक ने अनुमितिवाद की प्रतिष्ठा करते हुए काव्यास्वाद का रहस्य जिस रूप में निरूपित किया था, उसका विवेचन 'रसास्वाद का तत्त्व-दर्शन' शीर्षक अध्याय में किया जा चुका है। इसमें कोई संदेह नहीं कि आचार्य अभिनवगुप्त ने अपने शैवाद्वैत-दर्शन की शास्त्रीय विवृति द्वारा रसानुकरणवाद का विस्तृत रूप से खंडन किया था, किन्तु शंकुक की धारणाओं में रसास्वाद का एक व्यावहारिक पक्ष भी अवश्यमेव विद्यमान था जिसकी शास्त्रीयता सर्वथा तथ्यहीन नहीं कही जा सकती। अभिनवगुप्त ने भरतमुनि द्वारा प्रयुक्त तथा शंकुक द्वारा समर्थित 'अनुकरण' शब्द की व्याख्या 'अनुव्यवसाय' पद से करते हुए उसे 'तदिदमनुकीर्त्तनमनु व्यवसायविशेषो नाट्यापरपर्यायो नानुकार इति भ्रमितव्यम्' की धारणा में व्यक्त किया जिसका स्पष्टीकरण यथास्थान किया जा चुका है। यहाँ पर हमारे कथन का केवल इतना ही प्रयोजन है कि जिस प्रकार पश्चिमी विचारधारा में 'अनुकरण' और 'सम्भावना' सिद्धान्तों का जिस रूप में पारस्परिक सम्बन्ध है, उसी रूप में भारतीय रस-विवेचना और साधारणीकरण की प्रक्रिया के

अंतराल में अनुमितिवाद भी किसी न किसी स्थिति में कार्य करता हुआ दृष्टिगोचर होता है। दशरूपककार धनंजय और उनके विवृतिकार धनिक ने काव्यास्वाद की विवेचना करते हुए कवि के ध्यान-चक्षु द्वारा रामादि की विशिष्ट अवस्थाओं का उपनिबंधन जिस उत्प्रेक्षण-प्रक्रिया द्वारा प्रतिपादित किया है, उसका पश्चिमी विचारकों के सम्भावना-सिद्धांत के साथ पर्याप्त साम्य है। इस विषय में दशरूपककार का निम्नलिखित मंतव्य उल्लेखनीय है—

"न हि कवयो योगिन इव ध्यानचक्षुषा ध्यात्वा प्रातिस्विकी रामादीनामवस्थां इतिहासवदुपनिबध्नंति। किं तर्हि स्वलोकसाधारणीः स्वोत्प्रेक्षाकृतसन्निधि धीरोदात्ताद्यवस्थाः क्वचिदाश्रयमात्रदायिनीः विदधति। ता एव च परित्यक्तविशेषा रसहेतवः। तस्मादनुव्यवसायात्मकं कीर्त्तनम् रूषितविकल्पसंवेदने नाट्यम्, तद्वेदनवेद्यत्वात्, न तु त्वनुकरणरूपम्। कान्तावेषानुकारवद्धि न रामचेष्टितस्यानुकारः इति।"

सर्जनात्मक-कल्पना का सिद्धांत

पाश्चात्य काव्यशास्त्र में 'सर्जनात्मक कल्पना' को काव्यरचना की महत्त्वमयी शक्ति के रूप में विवेचित करने की परम्परा अत्यंत प्राचीन है। वहाँ के काव्य-साहित्य में वर्ड्स्वर्थ तथा कॉलरिज ने उसकी महत्ता का निरूपण विशेष रूप से किया था। यों तो यूनानी आचार्य प्लेटो के समय से ही सर्जनात्मक कल्पना (क्रिएटिव इमैजिनेशन) के सम्बन्ध में किसी न किसी रूप में विचार-विमर्श किया गया था, किंतु उस समय उसका चित्र उतना स्पष्ट नहीं हो सका जितना कालांतर में सम्भव हुआ। प्राचीन यूनानी साहित्य में 'फैन्टेसिया' के नाम से जिस विषय का विवेचन किया गया था वह सर्जनात्मक कल्पना का 'आदि-रूप' था। 'फैन्टेसिया' शब्द से ही 'फैन्सी' शब्द की उत्पत्ति हुई है जिसके अंतर्गत कल्पना-तत्त्व का ही एक 'प्रकार' निरूपित किया जाता है। प्लेटो ने अपने 'रिपब्लिक' नामक ग्रंथ के काव्य-प्रसंग में वर्णित 'फैन्टेसिया' का विवेचन करते हुए उसे भ्रममूलक सिद्ध किया है क्योंकि उसके अंतर्गत विवेचित की जाने वाली कल्पनाओं का कोई नैतिक तथा मौलिक आधार नहीं होता। यों तो प्लेटो को फैन्टेसिया का एक उदात्त स्वरूप भी सुमान्य है जिसके द्वारा हम उच्चतम आध्यामिक साधना के साथ अपना तादात्म्य स्थापित कर सकते हैं किन्तु काव्य तथा काव्येतर कलाओं के साथ जिस 'फैन्टेसिया' का प्रयोग किया जाता है वह अपनी कपोलकल्पना में प्लेटो को स्वीकर नहीं है। आचार्य अरस्तू ने प्लेटो द्वारा प्रतिपादित 'फैन्टेसिया' को एक ऐसी शक्ति के रूप में व्याख्यात किया है जिसके कारण इन्द्रियजन्य ज्ञान की व्यवस्था का नियोजन होता है। उनके अनुकरण-सिद्धांत के सन्दर्भ में कल्पना-तत्त्व का निरूपण प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष विधि से किसी न किसी रूप में हुआ ही है। अनुकरण-सिद्धांत की प्रक्रिया में ऐसे अनेक तत्त्व सन्निहित हैं जिनका विनियोग कल्पना-तत्त्व के साथ सहज रूप में किया जा सकता है। वास्तव में अनुकरण और कल्पना का उभयनिष्ठ तत्त्व इतना ही है कि उनमें अनात्म से आत्म तथा व्यष्टि से समष्टि की दिशा में अग्रसर होने का एक सद्प्रयत्न रहता है। यूनानी दार्शनिकों ने उक्त सिद्धान्तों का जो सारगर्भित निष्कर्ष प्रस्तुत किया था, उसे

उपजीव्य बनाकर परवर्ती आचार्यों ने अपनी मान्यताएँ प्रतिष्ठित की हैं। यहाँ यह बात स्मरणीय है कि प्रारम्भ में 'फैन्टेसिया' को ही कल्पना का रूप समझा जाता था किन्तु कालान्तर में लैटिन का 'इमैजिनेशियो' शब्द उसका पर्यायवाची बना जिससे निष्पन्न होने वाले 'इमैजिनेशन' शब्द की शक्ति तथा अर्थवत्ता में कल्पना का अखिल आलोक संकेन्द्रित कर दिया गया।

प्रमुख पाश्चात्य विचारकों के एतद्विषयक दृष्टिकोण

आचार्य लौंजिनस ने 'ऑन सब्लाइम' अर्थात् 'काव्य में उदात्त तत्त्व' नामक अपने सुप्रसिद्ध निबंध के पन्द्रहवें अध्याय में जिस कल्पना-तत्त्व की चर्चा की है, उसका मुख्य तात्पर्य उस शक्ति से है जिसके द्वारा हमारे मानसपटल पर चेतना के बिम्ब अंकित होते हैं एवं जिससे विचारों और भावनाओं का संयोग तथा एकीकरण किया जाता है। लौंजिनस के मतानुसार 'कल्पना-तत्त्व' महान् प्रतिभा का ही एक अंश है जिसके औदात्य से महान् विचारों का प्रादुर्भाव होता है। प्लाटिनस ने भी प्रतिभा के रूप में जिस नवोन्मेषकारिणी शक्ति का विवेचन किया है, वह कल्पना-तत्त्व से भिन्न नहीं है क्योंकि उसके द्वारा इन्द्रियजन्य ज्ञान में व्यवस्था उत्पन्न होने के साथ-साथ पारलौकिक सत्ता का भी सहज बोध हो जाता है। यह सब कल्पना-शक्ति का ही प्रसाद है जिसके द्वारा जीवन के विशृंखलित व्यापारों को समीकरण एवं अनेकत्व को एकत्व की उपलब्धि होती है। वस्तुतः प्लाटिनस द्वारा कल्पना-शक्ति को एक विशिष्ट स्वरूप प्रदान किया गया था जिसका सुलाभ प्राप्त करते हुए परवर्ती विचारकों ने अपनी विवेचना को परिपुष्ट किया। काव्य-समीक्षा के क्षेत्र में एक ऐसा भी युग रहा जब फैन्सी को 'रचनात्मक कल्पना' और इमैजिनेशन को 'अनुकरणात्मक कल्पना' कहकर व्याख्यात किया गया किन्तु एक स्थिति ऐसी भी आ गई जब दोनों में समानार्थकता स्वीकार की गई। इस विषय में एडिसन, डेकार्टे, हाब्स, लॉक तथा ह्यूम आदि पश्चिमी दार्शनिकों के विचार अत्यंत महत्त्वपूर्ण हैं जिन्होंने 'कल्पना' और 'फैन्सी' का अन्तर विभिन्न दृष्टि-बिन्दुओं से स्पष्ट करने की चेष्टा की है।

पाश्चात्य विचार-दर्शन में कल्पना-तत्त्व का विवेचन अत्यंत जटिल एवं संयोगात्मक (Associationistic) रहा है। एडिसन ने तो 'फैन्सी' और 'इमैजिनेशन' को समानार्थक शब्द कहकर एक प्रकार से छुट्टी कर ली किन्तु डेकार्टे से लेकर ह्यूम तक उसका संयोगात्मक स्वरूप ही विवेचित किया गया और उसे निर्णयात्मक बुद्धि (Judgement) से निम्नकोटि का स्थान प्रदान किया गया। हाब्स ने फैन्सी को केवल अलंकार-रूप माना है क्योंकि उसका संयोग प्राप्त कर विभिन्न तथ्यों और विचारों के विनियोग से अभिनव मानसिक चित्र बनाये जा सकते हैं। एडिसन ने कल्पना के क्रियात्मक रूप पर अधिक बल देते हुए लिखा है कि हमारी दृष्टि और स्मृति द्वारा जब हमारे मन में पदार्थ-ज्ञान एकत्र हो जाता है तो कल्पना-शक्ति उस ज्ञान को व्यवस्थित एवं सुनियोजित करती है जिसके आधार पर आनंददायक मानसिक चित्र प्रस्तुत होते हैं। उनका मत है कि क्रियाशील कल्पना का कार्य सदैव आनंद प्रदान करना होता है।

कहने की आवश्यकता नहीं कि एडिसन ने 'कल्पना' का विवेचन करते हुए जिस इन्द्रियजन्य ज्ञान के संयोग का तत्त्व प्रतिपादित किया था, उस पर डेकार्टे, हॉब्स तथा लॉक की मनोवैज्ञानिक एवं दार्शनिक उपपत्तियों का भी पर्याप्त प्रभाव विद्यमान था। हमें इन दार्शनिकों के कल्पनाविषयक गूढ विमर्श का व्यापक विश्लेषण करना अभीष्ट नहीं है। हम तो यहाँ पर केवल इतना ही संकेत करना चाहते हैं कि काव्य-सर्जना में जिस कल्पना-तत्त्व का गुण-गौरव संस्तुत किया जाता है वह कवि की अन्तर्दृष्टि का ऐसा संयोगात्मक ज्ञान है जो अपनी उड़ान में इस लोक की सीमा का उल्लंघन कर पारलौकिक जीवन की भव्य भूमिकाओं में विचरण करता हुआ नवनिर्माण का-सा कार्य सम्पन्न करता है।

कल्पना के प्रशंसकों ने उसे एक ऐसी उच्चकोटि की मानसिक शक्ति माना है जो भौतिक जगत् और जीवन के दैनिक अनुभवों से परे और तर्क-बुद्धि से भी अगम्य है। ब्लेक आदि रहस्यवादी कवियों ने उसे एक रहस्यात्मक प्रवृत्ति के रूप में व्याख्यात कर कवियों का महान् आलम्बन सिद्ध किया है। कहा जा सकता है कि धर्म और दर्शन के क्षेत्र में जो स्थान क्रमशः 'सहज ज्ञान' और 'तर्क-बुद्धि' को प्राप्त है, वही स्थान कला के क्षेत्र में 'कल्पना' को उपलब्ध हुआ है। हेगेल ने तो एक स्थान पर कल्पना को सहज ज्ञान का पर्यायवाची शब्द भी कहा है। वस्तुतः कल्पना का विषय विभिन्न दार्शनिकों और विचारकों के दृष्टि-भेद से अनेक रूपों में व्याख्यात किया गया है। एक समय था जब सत्रहवीं और अठारहवीं शताब्दी के पाश्चात्य तत्त्वद्रष्टाओं ने कल्पना के प्रसंग में इन्द्रियज्ञान, संवेदनाओं तथा उनके संयोग को ही विशेष महत्त्व प्रदान किया था, किंतु कालांतार में जर्मन दार्शनिकों द्वारा उसके सर्जनात्मक स्वरूप का ही पक्ष प्रमुख रूप में समर्थित किया गया। इस क्षेत्र में परम विचारक आचार्य कांट का मत उल्लेखनीय है जिन्होंने अपने पूर्ववर्ती संयोगवादियों की मान्यता का खंडन करते हुए इस सिद्धांत की प्रतिष्ठा की है कि हमारे इन्द्रिय-ज्ञान और संवेदनाओं के पारस्परिक सम्बन्ध और उनकी व्यवस्था का यांत्रिक प्रक्रिया (मैकेनिकल प्रोसेस) से विश्लेषण करना अनुचित है। कांट का मत है कि संवेदनाओं के दिक्काल सम्बन्धी वैशिष्ट्यों (Special and temporal relations) को यांत्रिक संयोग की क्रिया से विवेचित करने से अनेक प्रकार की भ्रांतियों का समुद्भव हो जाता है अतः उनके प्रबोध के लिए प्रज्ञात्मक क्रिया (Intellection) की परम आवश्यकता रहती है। प्रारम्भ में तो कांट महोदय भी यही मानकर चले थे कि कल्पना हमारी बुद्धि अथवा अवगति (understanding) का ही प्रस्तार-मात्र है किंतु अपने चिंतन की चरम परिणति में उन्होंने कल्पना की स्वतंत्र सत्ता निरूपित की। उन्होंने कल्पना को 'अराजकता की नियामक शक्ति' सिद्ध करते हुए इस मत का प्रतिष्ठापन किया कि उसके द्वारा न केवल जीवन की अपूर्णता की ही पूर्ति होती है अपितु वह हमारे दैनिक जीवन में भी नियंत्रण, व्यवस्था तथा एकरूपता का संचार करती है। कांट की इस मान्यता का प्रभाव उनके समकालीन तथा परवर्ती जर्मन दार्शनिकों पर भी दृष्टिगोचर होता है। एक आत्मवादी तथा समन्वयवादी दार्शनिक के रूप में शेलिंग ने कांट की विचारधारा का समर्थन करते हुए अपना यह निर्णय प्रदान

किया है कि 'जड़ और चेतन' तथा 'बाह्य प्रकृति और विचार' के द्वैतभाव का जहाँ पारस्परिक संयोग होता है, वही कला और सौंदर्य का मिलन-बिंदु है जो तत्त्वतः कल्पना का ही क्षेत्र है। शेलिंग ने 'मैटर' और 'जीनियस' अथवा पदार्थ और मन के समन्वय में कला और सौन्दर्य के पूर्णत्व की कल्पना की है और बतलाया है कि जिस मानसिक शक्ति द्वारा 'चेतन और अचेतन' और 'पदार्थ तथा मन' को कलात्मक समन्वय प्राप्त होता है, वह निश्चय ही लोकोत्तर और महान् है। यद्यपि शेलिंग ने उस शक्ति को स्पष्टतः 'कल्पना' की संज्ञा प्रदान नहीं की है तथापि उनकी धारणा से यह लाक्षणिक अर्थ ध्वनित हो ही जाता है कि उनका उस मानसिक शक्ति से अभिप्राय 'कल्पना-शक्ति' से ही है क्योंकि यदि ऐसा नहीं होता तो वे सौंदर्य-चेतना को बौद्धिक ज्ञान से उच्चतर स्थान पर अधिष्ठित नहीं करते। कला और सौन्दर्य की पूर्णता के प्रतिपादन में कल्पना का संयोग स्वीकार करते हुए उन्होंने 'कला' को 'चेतन मन की क्रिया' तथा 'प्रकृति (निसर्ग)' को 'जड़ तथा चेतनाहीन' कहकर जिस रूप में व्याख्यात किया है, वह भी इस तथ्य का संसूचक है कि 'चेतन मन की क्रिया' से उनका अभिप्राय 'कल्पना' से ही है।

कल्पना-तत्त्व और कोलरिज

कल्पना के विवेचन के सम्बन्ध में महाकवि कोलरिज के विचार अत्यंत सारगर्भित एवं पठनीय हैं। उन्होंने 'बायोग्रैफिया लिटरेरिया' नामक अपने सुप्रसिद्ध ग्रंथ के त्रयोदश अध्याय में कल्पना का स्वरूप विश्लेषण करने का प्रशंसनीय कार्य किया है। यों तो उक्त ग्रंथ के अन्य अध्यायों में भी कल्पना की 'काव्य-साहित्यगत उपयोगिता' का प्रतिपादन हुआ है, किंतु उसकी भव्यता और गरिमा का गम्भीर एवं मौलिक चिंतन प्रस्तुत करने का श्रेय उसके त्रयोदश अध्याय को ही प्राप्त है। कोलरिज अपने समय के महाकवि और गम्भीर अध्येता थे जिन्होंने कांट और शेलिंग जैसे महान् दार्शनिकों तथा प्लाटिनस जैसे नवप्लेटोवादियों के चिंतन का गम्भीर मंथन कर सर्जनात्मक कल्पना का विवेचन मुख्यतः दार्शनिक धरातल पर किया और वह विवेचन इतना अनुपम एवं अद्वितीय सिद्ध हुआ कि 'कल्पना-सिद्धांत' की परिकल्पना में कोलरिज का नाम 'वागर्थाविव सम्पृक्त' हो गया। यों तो रेने वेलेक आदि कतिपय विद्वानों ने कोलरिज की मौलिकता को खंडन करते हुए उन्हें कांट और शेलिंग का अनुचरमात्र कहा है, किंतु यह निर्णय अत्यंत अनुदार और पक्षपात-पूर्ण है। इसमें कोई संदेह नहीं कि कोलरिज ने उक्त जर्मन-दार्शनिकों की मान्यताओं से प्रचुर सामग्री ग्रहण की थी किंतु उन्हें स्वयं एक ऐसा कवि-हृदय भी प्राप्त था जिसके कारण वे जीवन और जगत् के अंतर्दृश्यों और नैसर्गिक चमत्कारों से अभिभूत होकर कल्पना-वैभव की साक्षात् अनुभूति कर सके एवं जिस अनुभूति ने उन्हें कल्पना के मौलिक चिंतन और सर्जनात्मक विवेचन की भी शक्ति प्रदान की। उन्होंने कल्पना-विषयक प्राचीन और नवीन विचारों का अध्ययन कर उन्हें अध्यात्मदर्शन और मनोविज्ञान के परिवेश में व्यक्त किया है और बतलाया है कि कल्पना और 'फैन्सी' के रूप-प्रकारों में क्या अन्तर है एवं उन्हें किन अंशों तक सर्जनात्मक कहा जा सकता है। कल्पना को दो प्रकारों में विभक्त कर उन्होंने उनका स्वरूप निर्धारित करने को चेष्टा की है तथा उनसे

फैन्सी का वैभिन्न्य सिद्ध किया है। कोलरिज का मत है कि कल्पना का प्रथम रूप उसकी सर्वसामान्य-सुलभ स्थिति एवं सार्वभौम-सत्ता में निहित है जिसे मौलिक कल्पना (Primary Imagination) कहा जा सकता है। मौलिक कल्पना की तुलना दैवी-निर्माण-कला तथा उसकी व्यवस्था से की जा सकती है क्योंकि जिस प्रकार परमात्मा अपनी इच्छा से विश्वसर्जना करता हुआ उसके विशृंखल तत्त्वों में व्यवस्था उत्पन्न करता है, उसी प्रकार मानव-चेतना और इच्छा-शक्ति से प्रादुर्भूत मौलिक कल्पना द्वारा भी हमें दृश्यमान जगत् की व्यवस्थित एवं सार्थक अवगति होती है। मौलिक कल्पना में 'चेतना अथवा बुद्धि' (Understanding) एवं 'जड़ जगत् अथवा प्रकृति' (Nature) के मध्य सहयोग और समन्वय की स्थापना आवश्यक है क्योंकि 'मन और पदार्थ' की विशेषताओं को ग्रहण करने के उपरांत ही मौलिक कल्पना का परिचालन सम्भव है। इस कल्पना द्वारा जगत् के विरोध एवं वैविध्य में समरसता और एकरूपता का संचार होता है। जीवन के सामरस्य एवं ऐक्य-भाव की सूत्रधारिणी बनी हुई मौलिक कल्पना का वैशिष्ट्य किसे स्वीकार न होगा ? प्राकृतिक दृश्यों के अभिचित्रण में भी कल्पना-प्रवण कवियों को अव्यवस्था में व्यवस्था का संचार करने के लिए मौलिक कल्पना का ही आश्रय ग्रहण करना पड़ता है। सच तो यह है कि मौलिक कल्पना के कारण जीवन की खंडभूत विशृंखलता को अखंड एकरूपता एवं प्रकृति की पृथक्‌रूपता को संश्लिष्ट समरसता प्राप्त होती है। कहने की आवश्यकता नहीं कि जिन कवियों ने प्रकृति में चेतना और भावना का आरोप करते हुए उसे एक विराट् दैवी शक्ति के रूप में चित्रित किया है, वे सब मौलिक कल्पना के उदात्त स्वरूप से ही अनुप्रेरित थे जिसके कारण उन्हें सामंजस्यपूर्ण दिव्य चित्रण के मूर्तिमान बिम्ब वरदानस्वरूप प्राप्त हो सके।

कल्पना के द्विविध रूप

कोलरिज ने जिस कल्पना को 'सैकंडरी' कहा है वह तत्त्वतः उत्तरजात कल्पना है जो मौलिक कल्पना से उत्पन्न होने के कारण उसकी प्रतिध्वनि-मात्र कही जा सकती है। इन दोनों प्रकार की कल्पनाओं में तात्त्विक दृष्टि से कोई अन्तर नहीं है किंतु व्यावहारिक रूप से दोनों का अंतर्भेद परिलक्षित किया जा सकता है। कोलरिज ने उत्तरजात कल्पना में मानवीय इच्छाओं और चेष्टाओं का अपेक्षाकृत अधिक अंश स्वीकार करते हुए उसमें सजीवता और क्रियाशीलता का आधिक्य निरूपित किया है। उनका मत है कि कलात्मक निर्माण के लिए अभीप्सित एकता, क्रमबद्धता और रूपविधान की विशेषताओं की सर्जना में 'उत्तरजात कल्पना' का जितना तीव्र संवेग रहता है, उतना मौलिक कल्पना का नहीं। इस कल्पना से संप्रेरित कविजन पदार्थों के बाह्य आवरण का भेदन कर उनकी अंतरात्मा में प्रविष्ट होने की ऊर्जा प्राप्त करते हैं एवं परम्परागत रूपों और प्रकारों तक ही परिसीमित न होकर नवनिर्माण की श्रेयस्करी दिशा की ओर भी प्रयाणोन्मुख होते हैं। वस्तुतः उत्तरजात कल्पना के चमत्कारी एवं प्रभाववश कवियों ने जीवन के विष को भी अमृत बनाकर उपस्थित किया है एवं यथार्थ जीवन की विभीषिकाओं को सौन्दर्यमयी दृष्टि से चित्रित कर उनमें 'सत्यं एवं शिवम्' का भी

संचार करने में सफलता प्राप्त की है। उत्तरजात कल्पना का क्षेत्र केवल कला-पर्यन्त ही सीमित नहीं है अपितु उसमें जीवन की अखंड व्यापकता और गम्भीरता का भी सुचारु सन्निवेश है। आई० ए० रिचर्ड्स का तो स्पष्ट कथन है कि जब जीवन के किसी खंड, अनुभव एवं व्यापार में सौन्दर्य-चेतना की प्रतीति होने लगती है तब यह तथ्य हृदयंगम कर लेना चाहिए कि वह सब उत्तरजात कल्पना की क्रियाशीलता का ही प्रसार है। कोलरिज के अतिरिक्त वर्ड्स्वर्थ ने भी कल्पना-विवेचन के प्रसंग में मौलिक कल्पना के साथ-साथ उत्तरजात कल्पना का महत्त्व विशेष रूप से विवेचित किया है। उनके विवेचन से स्पष्ट है कि वे मानव-मन की सूक्ष्म संवेदनाओं और प्रकृति के सामान्य दृश्यों को जो दिव्योपम मूर्त्तिमता एवं आह्लादकारिणी चित्रमयता प्रदान कर सके थे, वह सब कल्पना के उभय-विध प्रकारों के संश्लिष्ट स्वरूप का ही सुखद परिणाम था। कहने के लिए हम कोलरिज द्वारा वर्णित कल्पना के उभय प्रकारों को भले ही पृथक्-पृथक् रूपों में विवेचित करने की चेष्टा करें, किन्तु ऐसी कोई विभाजक सीमारेखा नहीं खींची जा सकती जिसके द्वारा उनका स्वतंत्र पार्थक्य सिद्ध किया जा सके। वस्तुतः मौलिक कल्पना में उत्तरजात कल्पना के निर्माण की शक्ति है तो उत्तरजात कल्पना में मौलिक कल्पना के गुणों का सद्भाव है। इन दोनों प्रकार की कल्पनाओं के अन्योन्याश्रय-सम्बन्ध का सम्यक् बोध करने के पश्चात् ही उनका परिपूर्ण रूप समझा जा सकता है। कल्पना का क्षेत्र कला और जीवन की गम्भीरता और विशदता पर्यन्त व्याप्त है अतः प्रतिभाशाली कवियों की नवनवोन्मेषकारिणी प्रज्ञा में यदि दोनों के असाधारण रूप का चित्रण करने की जो लोकोत्तर क्षमता स्वीकार की गई है तो वह सर्वथा स्वाभाविक ही है।

कल्पना और फैन्सी का सम्बन्ध

कल्पना के साथ ही साथ 'फैन्सी' का विवेचन करना अत्यंत आवश्यक एवं अनिवार्य है क्योंकि यह शब्द भी कल्पना का सजातीय एवं समानधर्मी है। मानसशास्त्र-विवेचन के एक सुदीर्घकाल पर्यन्त कल्पना और फैन्सी में व्युत्पत्ति-भेद के अतिरिक्त अन्य किसी भी प्रकार का तात्त्विक अन्तर स्वीकार नहीं किया गया था क्योंकि दोनों में एक ही प्रकार की मानसिक शक्ति का प्रकाशन सन्निहित रहता है। कालांतर में कल्पना और 'फैन्सी' का अन्तर 'शक्ति (Potency) के आधार पर निरूपित करते हुए विचारकों ने इस सिद्धांत की प्रतिष्ठा की कि कल्पना में फैन्सी की अपेक्षा अधिक संवेग एवं क्रिया-शीलता होती है। अपने कथन को सुस्पष्ट और बोधगम्य बनाने के लिए उन विचारकों ने दो ऐसे पार्श्ववर्ती धातुखण्डों के उदाहरण प्रस्तुत किये जिनमें प्रबल वेगमयी विद्युत्-धारा प्रवाहित हो तो वे दोनों घुल-मिलकर एक हो सकते हैं किंतु विद्युत्धारा की मंदता के कारण वे परस्पर जुड़ भले ही जायँ पर एकरूप नहीं हो सकते। विद्युत्-धारा की तीव्र शक्ति की तुलना कल्पना के साथ तथा अपेक्षाकृत मंद-शक्ति की तुलना फैन्सी के साथ करते हुए उन विचारकों ने दोनों का अन्तर प्रकट किया है। यद्यपि इस उदाहरण में कल्पना और फैन्सी का विभेद निरूपित करने का सुप्रयास अवश्य है, किन्तु उसे पूर्णतया बुद्धिग्राह्य नहीं कहा जा सकता। मानवशास्त्र के विकास एवं काव्यशास्त्र की प्रगति के

साथ-साथ विचारकों ने कल्पना और फैन्सी की गौरवमयी महिमा के प्रति आश्वस्त होकर उनकी जो विवेचना की है वह अत्यंत गम्भीर एवं विचारणीय है। इस क्षेत्र में वर्ड्‌स्वर्थ, कोलरिज, आई० ए० रिचर्ड्‌स, वाल्टर पेटर, एबरक्राम्बी और लोइस आदि काव्यविवेचकों तथा प्लेटो, प्लाटिनस, हार्टले, कांट और शेलिंग आदि दार्शनिकों का योगदान विशेष महत्त्वपूर्ण है जिन्होंने विविध दृष्टिबिन्दुओं से कल्पना और फैन्सी का अन्तर स्पष्ट करने की चेष्टा की है। वर्ड्‌स्वर्थ ने वर्णनों और उदाहरणों द्वारा फैन्सी का स्वरूप निर्धारित करने का प्रयत्न किया है तो कोलरिज ने उसे नये अर्थ से समन्वित करते हुए उसकी दार्शनिक और मनोवैज्ञानिक व्याख्या प्रस्तुत की है। स्वच्छंदतावादी युग के समीक्षकों ने कोलरिज की मान्यताओं को प्रमुख आधार बनाकर इस तथ्य का उद्‌घाटन किया है कि कल्पना और फैन्सी जैसी मानसिक शक्तियों में केवल मात्रा-भेद ही नहीं है अपितु प्रकार-भेद भी है। इन विवेचकों में कोलरिज की स्थिति अधिक स्पष्ट है जिन्होंने फैन्सी को सर्जनात्मक शक्ति से भिन्न एक ऐसी संयोगात्मक शक्ति माना है जिसका स्वरूप जड़ और निश्चित है तथा जिसे न तो किसी सजीव शक्ति द्वारा आत्मसात् अथवा एकीकृत किया जा सकता है और न वह दिक्-काल के सम्बन्ध में भी नियोजित हो सकती है। वस्तुतः उसकी सत्ता स्मृति पर आधृत होती है जिस पर केवल यांत्रिक रीति से ही व्यवस्था का आरोप किया जाना सम्भव है, ऐसी कोलरिज की मान्यता है।

कोलरिज ने फैन्सी का जो विवेचन प्रस्तुत किया है उससे प्रकट है कि वे अनेकानेक दार्शनिक विचारकों की मान्यताओं का गंभीर चिंतन करने के पश्चात् ही फैन्सी का रूप निर्धारित करने की दिशा में प्रयास-तत्पर बने थे। उनके सम्मुख हार्टले के संयोगवाद से लेकर कांट और शेलिंग जैसे दो जर्मन दार्शनिकों की भी परम्परा थी जिसे उपजीव्य बनाकर उन्होंने फैन्सी को कल्पना से हल्का स्थान प्रदान किया। यद्यपि उन्होंने फैन्सी में 'चेष्टा' का नितांत अभाव तो नहीं माना था किंतु वे उसे मुख्य रूप से चयन (Choice) तक ही सीमित समझते थे। उनका मत था कि फैन्सी जैसी मानसिक शक्ति की क्रिया से उत्पन्न चित्रों में ऐसी क्रियाशील एवं जीवंत एकरूपता नहीं होती जो कल्पनाजन्य चित्रों में संभव है। उनमें अलंकरण की जितनी अधिक क्षमता हो सकती है उतनी हृदयस्पर्शिणी शक्ति नहीं रहती। यों तो फैन्सी में भी इन्द्रियज्ञान के माध्यम से मन की जागृति तथा क्रियाशीलता के अंश अथवा व्यवस्था के रूप रहते हैं क्योंकि वे मानवमन के विशिष्ट धर्म हैं, किंतु उनमें कल्पना का वह तीव्र संवेग और व्यापक प्रसार नहीं होता जो कल्पना को विशेष सर्जनात्मक स्वरूप प्रदान करता है। यदि हम संवेदनाओं के अतिरिक्त मौलिक कल्पना, बुद्धि, उत्तरजात कल्पना और विशुद्ध तर्क की श्रेणियों में अपने मानसिक ज्ञान का विभाजन करें तो फैन्सी का स्थान उत्तरजात कल्पना के अधिक निकट सिद्ध होगा क्योंकि मन की संयोगात्मक शक्ति उत्तरजात कल्पना के परिपार्श्व में रहकर ही अपना कार्य कर सकती है। कोलरिज के मतानुसार फैन्सी का रूप निम्नलिखित है।

"Fancy, on the contrary, has no other counters to play with

but fixities and definities. The Fancy is indeed no other than a mode of Memory emancipated from the order of time and space, while it is blended with, and modified by that empirical phenomenon of the will, which we express by the word 'choice'. But equally with the ordinary memory the fancy must receive all its materials ready made from the law of association."

'सर्जनात्मकता' कल्पना का अनिवार्य लक्षण है

'सर्जनात्मकता' कल्पना का अनिवार्य लक्षण है। सभी प्रकार की कल्पनाओं में उसका विशिष्ट अथवा सामान्य स्वरूप अवश्यमेव सन्निहित रहता है। सर्जनात्मकता के अभाव में न तो अनेकता में एकरूपता का संचार किया जा सकता है और न अराजकता को ही व्यवस्था प्रदान की जा सकती है। कल्पना की सर्जनात्मकता के कारण हमारा मन विशेष सजग एवं सचेष्ट बनकर अपने निर्माण-कार्य में सन्नद्ध होता है। सच पूछा जाय तो कल्पना का कार्य ही नवनिर्माण करना है जो उसी स्थिति में सम्भव है जब हमारी कल्पना 'वस्तु' और 'विचार' के अंतराल में मध्यस्थ बनकर उपस्थित हो। अपनी मध्यवर्ती स्थिति के कारण ही कल्पना का सम्पूर्ण कार्य समन्वयात्मक कहा गया है। कल्पना की क्षीणता अथवा दुर्बलता से बढ़कर कवि-कला के अभिशाप का अन्य कोई विषय नहीं हो सकता। यह एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण तथ्य है कि सर्जनात्मक कल्पना में अनेकानेक विपरीत तत्त्वों को आत्मसात् किंवा एकीकृत करने की अद्‌भुत शक्ति होती है। कल्पना की रूपविधायिनी शक्ति का विचार करते हुए कोलरिज ने उसे इसैम्पलैस्टिक पॉवर (Esemplastic power) की संज्ञा दी है जिसका यह अभिप्राय है कि क्रियात्मक कल्पना में अनियंत्रित एवं अनियोजित विरोधी तत्त्वों को पूर्णतः समीकृत कर उन्हें सर्वथा नूतन स्वरूप प्रदान करने की शक्ति सन्निहित है। नव-निर्माण की इस नूतन रूप-व्यवस्था में एकान्विति का तत्त्व आवश्यक है क्योंकि उसके बिना कल्पना का परम प्रयोजन सिद्ध ही नहीं होता। सच पूछा जाय तो कल्पना द्वारा निर्मित पदार्थों का रूप-विधान बाह्य साधनों से आरोपित न होकर अंतःप्रेरणा से समुदभूत होता है क्योंकि केवल बाह्य कारणों में इतनी शक्ति नहीं होती जो कल्पना का भव्य स्वरूप निर्मित कर सके। कल्पना-प्रसूत आनंद की सार्वभौमिकता का भी यही रहस्य है कि वह केवल वस्तु-विशेषों की उद्‌भावनाओं से ही निष्पन्न नहीं होता अपितु अणु-परमाणु के सूक्ष्म कलेवर से लेकर ब्रह्मस्तम्ब-पर्यन्त व्याप्त रहता है जिसमें कल्पना का शाश्वत साम्राज्य प्रतिष्ठित है। वस्तुतः कल्पना में नवनिर्माण का जितना अधिक महत्त्व है उतना पुनरावृत्ति का नहीं। यही कारण है कि अनुकरण अथवा प्रतिकृति को कल्पना के एक ही स्तर पर प्रतिष्ठित नहीं किया जा सकता।

'कल्पना' और 'भावना' का सम्बन्ध

कल्पना और भावना दो भिन्न-भिन्न वृत्तियाँ होते हुए भी परस्पर घनिष्ठ रूप

से संबंधित हैं। किसी समय कल्पना को बौद्धिकता के परिवेश में विवेचित किया गया था किन्तु कालांतर में यह समझा जाने लगा कि वह केवल बुद्धि के ही निकट न होकर इच्छाओं और चेष्टाओं से भी उपबृंहित है। भावना को मूलतः स्नायुमंडल की क्रिया माना गया है जिसका प्रमुख केन्द्र-स्थान हमारा मस्तिष्क है। कल्पना और भावना की भिन्नता में भी अद्‌भुत समन्वयात्मकता है। सच पूछा जाय तो कल्पना का आधार भावना है क्योंकि जब तक भावना-तत्त्व से कल्पना भावित नहीं होती तब तक उसका बिम्ब मूर्तिमान नहीं बन सकता। इसी प्रकार भावोत्कर्ष की चमत्कृति के लिए भी कल्पना का सहयोग अपेक्षित है क्योंकि कल्पना के पंखों पर ही भावना को अनंत विस्तार प्राप्त होता है। भावना को भले ही कल्पना का अनिवार्य निमित्त न स्वीकार किया जाय तथापि इतना तो निश्चित है कि भावना से कल्पना क्रियाशील एवं संपुष्ट बनती है। आज के विकसित मनोविज्ञान ने यह सिद्ध कर दिया है कि मस्तिष्क की क्रिया के लिए भावना परम वांछनीय होने के साथ-साथ अत्यन्त उपयोगी भी है क्योंकि उसके कारण मस्तिष्क को संबल और परिपोषण प्राप्त होता है। कहने की आवश्यकता नहीं कि मस्तिष्क के साथ कल्पना का भी अनिवार्य सम्बन्ध है, अतः उसके द्वारा यदि भावना को भी सुलाभ प्राप्त हो तो सर्वथा स्वाभाविक ही है। कल्पना और भावना का यह अंतः सम्बन्ध अत्यन्त विचारणीय है क्योंकि यदि भावना का आधार न हो तो कल्पना केवल वायवी बन-कर तथ्यहीनता में परिणत हो जाय तथा कल्पना का संयोग न मिले तो हमारी भावना और संवेदना में ऐसा जागरण ही उपस्थित न हो जिससे हमारी संवेदनाएँ और अनु-भूतियां तीव्रतर बन सकें। भावना और कल्पना का यह सम्बन्ध केवल पाश्चात्य मनीषियों के लिए ही सुमान्य नहीं रहा है अपितु भारतीय तत्त्वमीमांसकों ने भी उसकी महत्ता स्वीकार की है। यहाँ के रस-सिद्धांत में विभाव, अनुभाव और संचारिभावों के संयोग से रस की जो निष्पत्ति मानी गई है वह स्थायी भाव की ही एक विशेष रूप में परिणति अथवा प्रतीति ही है। यद्यपि उस सूत्र में भावना और कल्पना का अंतःसम्बन्ध स्पष्ट तथा प्रत्यक्ष रूप में निरूपित नहीं किया गया है तथापि रस-निष्पत्ति के लिए आरोप, अनुमिति, भावकत्व, भोजकत्व तथा अभिव्यंजना आदि प्रयोगों का जो माध्यम स्वीकार किया गया है वह भावना और कल्पना की मध्यवर्त्तिनी शृंखला नहीं तो और क्या है? नारायण पंडित ने चमत्कार को रस का सार कहकर उसकी जिस रूप में सर्वत्र अनुभूति मानी है वह सर्जनात्मक कल्पना का ही एक रूप कहा जा सकता है। प्रतिभा-तत्त्व में नवनवोन्मेष-कारिणी शक्ति का संचार मानकर आचार्यों ने उसके द्वारा रमणीयता के नित्य-नूतन कला-सौष्ठव और भाव-विधान का संकेत किया है, उसका समाहार कल्पना के आभोग में किया जाना सहज सम्भव है। इस प्रकार कल्पना और भावना की नवीन अभिसंधि का विनियोग भाव और रस के अंतराल में विद्यमान चमत्कार-विधायिनी शक्ति अथवा सर्जनात्मक कल्पना द्वारा किया जा सकता है।

कल्पना का क्षेत्र-विस्तार

कल्पना का विस्तार अनंत है। उसका एक पक्ष कवि-प्रतिभा से संबंधित है तो

दूसरा पक्ष सहृदय पाठक अथवा सामाजिक से। काव्यकृति तो उस विस्तार का माध्यम अथवा अधिष्ठान होती ही है। यदि हम चाहें तो कल्पना-तत्त्व को रस-सिद्धांत का आधारभूत तत्त्व भी मान सकते हैं क्योंकि यदि कवि में कल्पना-तत्त्व का अभाव हो तो वह अपनी काव्य-सृष्टि को सरस अभिरामता अथवा रमणीयता प्रदान नहीं कर सकता और यदि सहृदय सामाजिक में विभावन-व्यापारोचित कल्पना का उद्‌बोध न हो तो वह कविकर्म का सरस आस्वादन नहीं कर सकता। नाट्याभिनय के प्रयोक्ता अभिनेताओं में भी कल्पना-तत्त्व की आवश्यकता परम वांछनीय है क्योंकि जब तक वे कल्पना से प्रेरित अथवा अनुप्राणित नहीं होते तब तक उनके अभिनय में ऐसी चारु-चमत्कृति आ ही नहीं सकती जो अभीष्ट रस की निष्पत्ति करा सके। अभिनेताओं के नाट्यप्रयोगों में जब कल्पना-तत्त्व का मिश्रण होता है तभी वे अपने अनुभावों और सात्विक भावों को सजीवता प्रदान करने में समर्थ होते हैं। कवि, अभिनेता और सहृदय सामाजिक के अंतराल में प्रवाहित होने वाली कल्पनारूपिणी त्रिवेणी उन्हें एक ही सामान्य धरातल अथवा साधारणीकरण की भावभूमि पर अधिष्ठित कर देती है जहाँ किसी प्रकार का लौकिक प्रतिबन्ध नहीं होता तथा जिसमें अवगाहन कर वे तीनों रस-निमग्न हो जाते हैं। कल्पना के असीम विस्तार में कवि, अभिनेता और सामाजिक के जो पक्ष निरूपित किये गये हैं वे रस-स्रष्टा और रसस्वादयिता की दृष्टि से निर्मित हैं। उनके अतिरिक्त कल्पना के क्षेत्र में 'वस्तु और रूप', 'भाव और विचार' तथा 'अभिव्यंजना और कला' आदि अनेकानेक विषय भी समाहित हैं जिनमें कल्पनाजन्य आनंद के लिए पर्याप्त अवकाश है। कल्पना में रचना-शिल्प की साज-सज्जा के कलापूर्ण तंतुओं का भी संग्रथन रहता है। कल्पनाशील कवियों की भाषा-शैली में प्रयुक्त शब्द-योजना इतनी सशक्त और जीवंत होती है कि उसमें व्यंजित अर्थ-चमत्कृति भाव-बिम्बों को साकारता प्रदान करने तथा वस्तु-वैचित्र्य को लोकोत्तर रूपमयता देने में समर्थ हो जाती है। काव्य-शैली अथवा अभिव्यंजना-शिल्प का यह कौशल कवि की संवेदनाओं को ही आप्लावित नहीं करता अपितु उसको आत्मसात् कर सहृदय-पाठकों का भावप्रमण मन भी तन्मय हो जाता है। वस्तुतः काव्य-रसिक जिस भावना-शक्ति अथवा विभावन-व्यापार से काव्य का शाब्द-सौन्दर्य और शैली-शिल्प ग्रहण करते हैं, उसमें उनकी कल्पनाशील प्रकृति का भी यथेष्ट सहयोग रहता है। शब्द-बोध-विमर्शकों ने शब्द-प्रकारों और शब्द-शक्तियों के आधार पर वाणी का जो अर्थ-विस्तार किया है, वह इस बात का प्रमाण है कि वे वाग्देवता के शब्दार्थमय शरीर और रसमय आत्मतत्त्व का कितना अधिक व्यापक और विशद क्षेत्र स्वीकार करते थे। कहने की आवश्यकता नहीं कि उन्हें अन्यान्य मानसिक शक्तियों के अतिरिक्त कल्पना-शक्ति का भी गौरव सुमान्य था जिसके सहयोग से वे वाणी का अनंत विस्तार कर सके थे।

काव्य-सर्जना और काव्यास्वाद में 'कल्पना' की उपयोगिता

काव्य-सर्जना और काव्यास्वाद की प्रक्रिया के विवेचन में कल्पनातत्त्व की उपयोगिता हमें पद-पद पर स्वीकार करनी पड़ती है। 'कविहिं अरथ आखर बल सांचा'

के द्वारा गोस्वामी तुलसीदास ने भी वाणी की अलौकिक गरिमा की ओर संकेत करते हुए यही तथ्य ध्वनित किया है कि 'शब्द' और 'अर्थ' ही काव्य-सर्जना के मूल आधार हैं और वे 'गिरा अरथ जलवीचि सम कहियत भिन्न, न भिन्न' के रूप में अपने अव्याहत सम्बन्धवश अनेक प्रकार के अंतर्बोध कराने की क्षमता रखते हैं। सच पूछा जाय तो कल्पना-क्रिया के अभाव में न तो उनका एकीकरण ही हो सकता है और न काव्यकार तथा काव्यास्वादयिता के प्रयोजन की सिद्धि ही हो सकती है। अर्थविहीन स्थिति में शब्द निर्जीव होते हैं तथा शब्दविहीन स्थिति में अर्थ की कोई सत्ता नहीं होती। अर्थ की परिपूर्णता का आलोक प्राप्त कर शब्द प्रकाशित होते हैं तभी तो उनके भव्य विधान के प्रतीक-स्वरूप काव्य-साहित्य के परिवेश में शब्द और अर्थ के पारस्परिक सम्बन्धों और उनके विभिन्न स्तरों की जो चर्चा की गई है, वह इस विषय में प्रभूत सामग्री प्रदान कर सकती है। शब्द-प्रयोग में कल्पना-शक्ति का महत्त्व सभी देशों के काव्य-विवेचन में सुमान्य रहा है। उसके कारण शब्द और अर्थ की अविच्छेद्य नियोजना ही नहीं होती, अपितु दोनों की चरम साध्य-क्रिया भी सम्पन्न हो जाती है। इतना ही नहीं, काव्य में लय और संगीत का जो अर्थगत अस्तित्व स्वीकार किया गया है, वह भी कल्पना के अभाव में चरितार्थ नहीं हो सकता। कल्पना के कारण ही कवि 'शब्द' और 'अर्थ' में एकलक्ष्य संगीत की मधुरता का-सा संचार करने में समर्थ होते हैं जिसकी वास्तविकता का परिज्ञान उनकी कला-कृतियों के अभिभावन से किया जा सकता है। स्वच्छन्दतावादी कवियों ने तो कल्पना के पंख पसारकर ही काव्य-गगन में उन्मुक्त उड्डीयन किया है जिनका आशंसन करने में उसी श्रेणी के कलाविद् उनसे पीछे नहीं रहे हैं। ऐसे कवियों ने न तो कभी काव्य के परम्परागत नियमों का अनुसंधान करने में अपनी शक्ति का अपव्यय किया और न वे काव्य-रूढ़ियों के प्रति ही सम्मान-भावना प्रदर्शित कर सके। वस्तुतः वे अपनी मौलिक भावनाओं और संवेदनाओं के साथ कल्पना का रासायनिक सम्मिश्रण करते हुए अपना प्रतिभा-कौशल अभिव्यंजित करने की दिशा में गतिमान बने थे, जिनसे उनका वस्तु-विधान रूपायित होकर उन्हें परम आह्लाद प्रदान कर सका था। अपनी नैसर्गिक सर्जना में वे इतने महान् थे कि उनकी कृतियों में काव्य के स्वरूप-गठन के लिए अभीष्ट शैली-शिल्प, रीति-विधान, छन्द-योजना, अलंकार-प्रयोग, वक्रोक्ति-वैचित्र्य और औचित्य-चित्रण आदि उपकरणों का संयोजन स्वतः ही हो गया था। 'कल्पना की रसप्रवणता ने ही उनकी कृतियों को सिद्धि प्रदान की थी,' यह एक ऐसा कथन है कि जिसका मुख्य तात्पर्य अथवा गाम्भीर्य समझे बिना उन कवियों की सर्जना के प्रति न्याय नहीं किया जा सकता।

'सर्जनात्मक कल्पना' और 'कारयित्री प्रतिभा' पर्यायवत् हैं

कल्पना की जिस सर्जनशीलता का उल्लेख हमने पूर्वप्रसंग में किया है, वह भारतीय काव्यशास्त्र में विवेचित 'कारयित्री प्रतिभा' का पर्याय कहा जा सकता है। 'प्रतिभासम्पन्न कवि ही रस-चमत्कार उत्पन्न कर सकते हैं' का तात्पर्य यही है कि 'कल्पना-शील काव्य-निर्माता ही अपने प्रज्ञा-नैर्मल्य के नवोन्मेषकारी चमत्कार से अपनी कृतियों

को महान् बना सकते हैं।' 'कल्पना-शक्ति' का स्वरूप स्पष्ट करते हुए पाश्चात्य विचारकों ने अपने जो मंतव्य प्रकट किये हैं वे भारतीय काव्यशास्त्रियों के प्रतिभा-विवेचन के संदर्भ में सम्यक् रीत्या नियोजित किये जा सकते हैं। ज्ञात तथ्यों की अतिरंजना के रूप में जिन अज्ञात सम्भावनाओं के वायवी रूपों की सृष्टि की जाती है, वह सब कल्पना का ही प्रसार है। कल्पना के कारण कवि अपने धूमिल चित्रों को स्वप्निल एवं रूक्ष पदार्थों को चिक्कण बनाते हैं। यद्यपि 'कारयित्री प्रतिभा' और 'सर्जनात्मक कल्पना' की विवेचन-प्रणाली में पार्थक्य है, तथापि दोनों के तत्त्व-निष्यंद में अद्भुत साम्य है। प्रतिभा-तत्त्व की 'पुनः पुनः अनुसंधानात्मकता' और 'नवनवोन्मेषशालिता' तथा कल्पना-शक्ति की 'सर्जनात्मकता' में कोई मौलिक अन्तर नहीं है। यदि उनमें कोई व्यावहारिक अन्तर निरूपित किया जा सकता है तो वह केवल भारतीय और पाश्चत्य दर्शन-प्रणाली के दृष्टि-भेद का परिणाम है। जिस प्रकार कल्पना-शक्ति से संप्रेरित होकर कवि अपने वर्ण्य विषय की अव्यवस्था में व्यवस्था एवं अपूर्णता में पूर्णता का संचार करते हैं, उसी प्रकार प्रतिभा-शक्ति से सम्पन्न होकर वे अपनी काव्य-सामग्री को आलोकित अथवा नूतन प्रकाश से प्रतिभासित करने में समर्थ होते हैं। प्रतिभा और कल्पना में शुष्क और जड़ विषयों को भी सरस तथा चेतन बना देने की शक्ति है। दोनों की क्रियाशीलता और निर्माण-क्षमता असंदिग्ध है। यदि सर्जनात्मक कल्पना के अभिभावकों ने The light that never was on sea or land की चर्चा की है तो प्रतिभा के प्रशंसकों ने उसे 'अपूर्ववस्तुनिर्माणक्षमा' कहकर उसका अभिशंसन किया है। सच तो यह है कि यदि प्रतिभा कवि-मानस का सहज स्फुरण है तो कल्पना उसके अभावों की पूर्ति का सहज साधन। दोनों प्रकार की शक्तियों से सम्पन्न कवि अपनी रचनाओं को रूप-सौष्ठव तथा भावनाओं को भव्य-भावन प्रदान करने में समर्थ होते हैं। आज जब विश्व-मानव की ऐक्य-भावना को राष्ट्रसंघ तथा 'यूनेस्को' जैसी संस्थाओं के प्रयोगों द्वारा सबल और पुष्ट बनाने की चेष्टा की जा रही है तो इस बात की भी नितांत आवश्यकता है कि हम काव्य-साहित्य के सार्वभौम सिद्धांत के विश्लेषण के प्रसंग में पूर्व और पश्चिम के भौगोलिक भेदभाव को मिटाकर उन तत्त्वों की उपलब्धि करें जो मानव-मात्र के मानस-कोष के जाज्वल्यमान रत्न है। विवेचना की उस दृष्टि में 'सर्जनात्मक कल्पना' और 'कारयित्री प्रतिभा' का आलोक भी साम्यमूलक बनकर ही प्रकाशित हो सकेगा।

'अभिव्यंजनावाद' का सिद्धांत और उसका रहस्य

क्रोचे का अभिव्यंजनावाद सौंदर्य और कलाओं के मूलभूत रहस्यों के उद्घाटन की दिशा में एक उल्लेखनीय सदुद्योग है। उसके द्वारा हमें काव्य-कलाओं के अंतदर्शन की अभिज्ञता में प्रचुर सामग्री मिलती है। पाश्चात्य साहित्य-समीक्षा के एक विशेष युग में जिन स्वच्छंदतावादी प्रवृत्तियों ने अपना प्रभाव एवं प्रसार प्रदर्शित किया था, उनके गठन और परिष्करण में क्रोचे का अभिव्यंजनावाद एक महत्त्वपूर्ण श्रृंखला का कार्य करता है। उनके सौंदर्य-दर्शन का केन्द्रीय तत्त्व 'इन्ट्यूशन' अथवा 'स्वयंप्रकाश्य' सहज ज्ञान है जिसके आधार पर उन्होंने सम्पूर्ण कलाओं के उद्भव और विकास के हेतुओं की

विवेचना की है। स्वयंप्रकाश्य सहज ज्ञान के स्वतंत्र अस्तित्व का प्रतिपादन करते हुए क्रोचे ने उसे बुद्धि से परे और अगम्य माना है तथा इस मत की प्रतिष्ठा की है कि बुद्धि के विना भी स्वयंप्रकाश्य की स्थिति सहज सम्भव है। इसका यह अभिप्राय नहीं कि क्रोचे सौंदर्य-चेतना के प्रस्फुरण में बौद्धिक तत्त्व का सर्वथा निषेध करते हैं। उनका तो मूल मंतव्य केवल इतना ही है कि कलाभिव्यंजन का मूल प्रेरक हमारा सहज ज्ञान है जिसमें परिस्थितिविशेषवश किया गया बुद्धि-तत्त्व (कन्सेप्ट) का समायोजन अंततः सहजज्ञान की प्रकृति में ही घुल-मिलकर तदाकार हो जाता है। वस्तुतः स्वयं प्रकाश्य का क्षेत्र इतना अधिक व्यापक एवं विस्तीर्ण है कि उसके अंतर्गत हमारे प्रत्यक्ष ज्ञान का ही सहज रूप सन्निहित नहीं होता, अपितु हमारे मानसलोक का 'दिक्-कालगोचर पक्ष' भी समाविष्ट हो जाता है।

'स्वयंप्रकाश्य', 'अभिव्यंजना' और 'कला का तत्त्व-विमर्श

'स्वयंप्रकाश्य' को अंगी रूप में अधिष्ठित करते हुए क्रोचे ने हमारी बुद्धि, तर्क-शक्ति और संवेदनाओं की भी विवेचना की है जिससे इस तथ्य की उपलब्धि होती है कि वे बुद्धि और तर्क को 'स्वयंप्रकाश्य' की ऊर्ध्व सीमा तथा संवेदनाओं को निम्न सीमा मानते थे। स्वयंप्रकाश्य की स्वतंत्र और मूर्द्धन्य सत्ता के सम्मुख उन्होंने संवेदनाओं को 'अस्थिर' एवं 'अरूप' कहकर उन्हें उसकी 'आवश्यक सामग्री मात्र' माना है। उनका मत है कि संवेदनाओं के जटिल एवं संयुक्त रूप में 'स्वयंप्रकाश्य' के सहज गुणों का तब तक संचार नहीं हो सकता, जब तक वे सहज बिम्ब या मूर्ति (इमेज) का रूप धारण नहीं कर लेती। अपने अस्थिर एवं अमूर्त रूप में संवेदनाओं की स्थिति स्वयं प्रकाश्य से सर्वथा भिन्न है, किन्तु जब वे अभिव्यंजना का सहज रूप ग्रहण कर लेती हैं तो स्वयं प्रकाश्य के ही अभिन्न अंग बन जाती हैं। इस प्रकार क्रोचे के मतानुसार सहज ज्ञान, स्वयं प्रकाश्य एवं अभिव्यंजना की प्रकृति तत्त्वतः एक है और जिस कला-कृति में उनकी एकरूपता रूपायित होती है, वह अपने में पूर्ण और सफल है। स्वयं प्रकाश्य एवं अभिव्यंजना की एकरूपता का निरूपण करते हुए उन्होंने लिखा है—

"Every true intuition or representation is also expression. That which does not objectify itself in expression is not intuition or representation but sensation and mere natural fact. The spirit only intuites in making, forming, expressing. He who separates intuition from expression never succeeds in reuniting them."

'स्वयं प्रकाश्य' की सफल अभिव्यक्ति ही 'कला' है

स्वयं प्रकाश्य, अभिव्यंजना और कला की एकता पर विशेष बल प्रदान करते हुए क्रोचे ने अपनी विचारणा का मुख्य अंश इस रूप में प्रकट किया है कि जब कलाकार का स्वयं प्रकाश्य उद्भासित अथवा अभिव्यंजित होकर अपने रूप द्वारा हमरे मन को आलोकित कर देता है तो उसकी अभिव्यक्ति ही 'कला' पद से अभिहित की जाती है।

वस्तुतः अभिव्यंजना का अभिप्राय है स्वयं प्रकाश्य की अभिव्यक्ति। काव्य-कला में इस अभिव्यक्ति के एकमात्र आधार हमारे शब्द अथवा भाषा-रूप बनते हैं जब कि काव्येतर कलाओं में तत्तद्विषयक उपकरणों और साधनों का माध्यम ग्रहण किया जाता है। यों तो हमारे व्यावहारिक जीवन और दैनिक क्रिया-कलापों में भी स्वयं प्रकाश्य एवं अभिव्यंजना के विविध उदाहरण नैरंतर्य-क्रम से संघटित होते रहते हैं, किंतु कला के क्षेत्र में जिस स्वयं प्रकाश्य को गुरुत्व प्रदान किया गया है, वह कलाकार का ऐसा उदात्त, समृद्ध, महान् और व्यापक स्वयं प्रकाश्य है जिसकी अभिव्यंजना के बिना महान् कलाकृतियों की सर्जना की ही नहीं जा सकती। श्रेष्ठ कलाकारों की रचनाओं के अध्ययन और मनन द्वारा इस विषय का सहज बोध किया जा सकता है कि उनकी अभिव्यक्ति में सहजज्ञान का जितना अधिक औदात्य विद्यमान रहा है, वह उतनी ही अधिक सफल, समर्थ और पूर्ण बन सकी है। वस्तुतः कलाकार का स्वयं प्रकाश्य ही उसकी कला-सर्जना का मूल कारण है जिसके अभाव में कला-निर्माण की कल्पना की ही नहीं जा सकती। क्रोचे ने अभिव्यंजना और कला में 'रूप' का अनिवार्य प्राधान्य स्वीकार करते हुए एक प्रकार से 'अरूप में रूप की सृष्टि' को ही अभिव्यंजना और कला माना है। यों तो अन्य विचारकों की भाँति क्रोचे को स्वयं प्रकाश्य के भेदोपभेद स्वीकार नहीं हैं और न उन्हें स्वयं प्रकाश्य की विशिष्टता तत्त्व-दृष्टि से ही सुमान्य प्रतीत होती है, किंतु उनके विवेचन से इतना निश्चय अवश्य हो जाता है कि वे कला-निर्माण में उन स्वयं प्रकाश्यों को विशेष महत्त्व प्रदान करते थे जो अपने क्षेत्र में अधिकाधिक व्यापक, समृद्ध, सुस्पष्ट और साधन-सम्पन्न बनकर अभिव्यक्त हों। अपने सौंदर्यशास्त्र-विषयक ग्रंथ के प्रथम अध्याय के निष्कर्ष रूप में उन्होंने अपना जो अभिमत प्रकट किया है, उससे इस कथन का सहज स्पष्टीकरण हो जाता है कि वे सहज ज्ञान और अभिव्यंजना में कितना अधिक तादात्म्य स्वीकार करते थे।

"We may thus add this to the various verbal descriptions of intuition, noted at the beginning: intuitive knowledge is expressive knowledge. Independent and autonomous in respect to intellectual function, indifferent to later empirical discriminations, to reality and to unreality, to formations and apperceptions of space and time, which are also later: intuition or representation is distinguished as form from what is felt and suffered, from the flux or wave of sensation, or from psychic matter, and this form, this taking possession, is epression. To intuite is to express, and nothing else (nothing more, but nothing less) than to express."

अभिव्यंजना का रूप-तत्त्व

क्रोचे के अभिव्यंजनावाद में जिस रूप-तत्त्व को अनिवार्य महत्त्व प्रदान किया गया है, वह उनके पूर्ववर्ती रूप परम्परावादियों के लिए भी सुमान्य रहा है। प्लाटिनस

ने 'सामान्य' और 'विशेष' की संज्ञा से 'रूप' के दो विभेद कर उनका स्पष्टीकरण ऐसे प्रस्तर-खंड के उदाहरण द्वारा किया है जो अपनी सामान्य स्थिति में अपना कुछ न कुछ रूप अवश्य रखता है किंतु जब उस पर कोई विशिष्ट रूप अंकित कर दिया जाता है तो उसकी रूपवत्ता अधिक सुस्पष्ट होकर कलात्मक बन जाती है। क्रोचे ने भी वस्तु और रूप की कल्पना प्रायः उपर्युक्त आधार पर करते हुए हमारी संवेदनाओं को 'वस्तु अथवा सामग्री का काम करने वाली' तथा अभिव्यंजना को 'रूप की जन्मदात्री' माना है। उनकी मान्यता का एक विशेष पक्ष यह है कि वे अभिव्यंजना-प्रसूत कलात्मक रूप को न तो संवेदनाओं पर निर्भर मानते हैं और न उसे संवेदना अथवा वस्तु से सम्बन्ध रूप में ही स्वीकार करते हैं। उनके मतानुसार अभिव्यंजना और उससे प्राप्य रूप मूल वस्तु से उसी प्रकार भिन्न है जिस प्रकार स्वच्छालय से स्वच्छ किया हुआ पानी अपने प्रकृत रूप से भिन्न होता है। उनके वस्तु रूप की वह व्याख्या भी उल्लेखनीय है जिसमें उन्होंने अभिव्यंजनाप्रसूत रूप को भावना अथवा अनुकरणात्मक निरूपण से भी सर्वथा पृथक् कोटि प्रदान की है।

स्वयंप्रकाश्य आदि का स्वायत्त्व

क्रोचे को स्वयंप्रकाश्य, सहज ज्ञान और अभिव्यंजना का स्वायत्व भी स्वीकार है। कला को स्वयंप्रकाश्य की सहज अभिव्यक्ति कहकर उन्होंने उसे सर्वथा निरपेक्ष, पूर्ण, अखंड और स्वतंत्र माना है। वे कलागत बाह्य प्रकाशन और संप्रेषण को अभिव्यंजना के अनिवार्य गुण नहीं मानते अपितु उन्हें सहायक साधन मात्र स्वीकार करते हैं। इसका कारण यह है कि उनके मतानुसार कला तत्त्वतः स्वयंप्रकाश्य का रूप होते हुए भी जब सहृदय-संवेद्य एवं सामाजिक-ग्राह्य बनती है तो उसके लिए बाह्य प्रकाशन का आश्रय ग्रहण करना अनिवार्य हो जाता है। बाह्य-प्रकाशन की प्रक्रिया का जितना अधिक सम्बन्ध हमारी इच्छा-शक्ति से है उतना सहज ज्ञान से नहीं, अतः स्वयंप्रकाश्य को महत्ता प्रदान करने वाले क्रोचे ने अपने अभिव्यंजनावाद के विवेचन में कलागत बाह्य प्रकाशन को गौण महत्त्व प्रदान किया है। उनके मतानुसार बाह्य प्रकाशन की उपयोगिता केवल व्यावहारिक है, क्योंकि उसके द्वारा हम उन निमित्तों से परिचय प्राप्त कर लेते हैं जिनसे कला प्रेषणीय बनती है, किन्तु कला के मौलिक स्वरूप में उनका कोई स्थान नहीं है। अभिव्यंजना अथवा कला को यदि ज्ञानरूप मान लिया जाय तो हमें बाह्य प्रकाशन के साधनों को कर्मरूप मानना पड़ेगा, क्योंकि ज्ञान तो अपने में परिपूर्ण और अखंड होता है जब कि उसके अभाव में कर्म की स्थिति असम्भव है। इस प्रकार अभिव्यंजना और कला को 'अखंड' तथा 'एक' कहकर क्रोचे ने कला-समीक्षा के उस परम्परावादी शास्त्रीय दृष्टिकोण पर प्रश्नवाचक चिह्न लगा दिया है जिसके अनुसार कला को प्राचीन, मध्ययुगीन तथा आधुनिक आदि काल-विशेषों और अभिजात तथा स्वच्छंदतावादी आदि बहुविध प्रकारों में विवेचित किया गया था। क्रोचे का तो स्पष्ट अभिमत है कि कलाओं की अखंड अभिव्यक्ति के सम्मुख उसका वर्गीकरण तथा उसकी शैलियों, कोटियों और विधाओं का बाह्य-विधान निरर्थक है क्योंकि वह स्वयं प्रकाश्य रूप होने के कारण किसी

विशिष्ट शिल्पतंत्र अथवा शैलीविधान में व्याख्यात नहीं की जा सकती। कहने की आवश्यकता नहीं कि क्रोचे का यह दृष्टिकोण काव्य-समीक्षा की उस प्राचीन परम्परा के प्रति विरोधी अथवा प्रतिगामी स्वर है जिसमें काव्य-शास्त्रियों ने अपनी शास्त्रीय पद्धति में छन्द-विधान, अलंकार-योजना और शब्दशक्तियों को आधार बनाकर अपना काव्य-निकष अथवा मूल्यांकन-प्रतिमान निर्धारित किया था।

'स्वयंप्रकाश्य' का परम प्रयोजन और कला के भेद

क्रोचे ने स्वयंप्रकाश्य अभिव्यंजना को आत्मस्वरूप कहकर उसे अन्तरात्मा की क्रिया तथा सौन्दर्य के हेतु-रूप में भी व्याख्यात किया है। वे अभिव्यंजना, कला अथवा सौन्दर्य का परम प्रयोजन केवल इतना ही समझते हैं कि वे हमारे मन में सहज ज्ञान के तत्त्व को आलोकित अथवा अभिव्यंजित कर दें। अपनी इस धारणा के कारण उन्होंने कला की उपयोगिता और नैतिकता को एक विशेष सीमा में ही स्वीकार किया है। उनका मत है कि अभिव्यंजना अथवा कला के निरपेक्ष एवं पूर्ण सौन्दर्य के सम्मुख उपयोगिता अथवा नैतिक प्रभाव का किंचिदपि महत्त्व नहीं है क्योंकि कला में जिस उपयोगिता और नैतिकता का भाव विवेचित किया जाता है, वह कला के तत्त्व-दर्शन का पक्ष न होकर उसके बाह्य प्रकाशन की विचारणा का प्रश्न है। कला के नाम पर जिन नैतिक, आर्थिक और मनोरंजनकारी उद्देश्यों की सिद्धि की जाती है, वे क्रोचे को प्रकृत रूप में अभीष्ट नहीं हैं, क्योंकि उनका एक हलका रूप प्रचार-मात्र भी हो सकता है, जबकि कला-कृति के निर्माण और आस्वाद से जो आनंदोपलब्धि अथवा आत्मतुष्टि होती है, वह लोकोत्तर एवं अद्वितीय होने के कारण उपयोगिता अथवा नैतिकता के स्थूल निकष पर कदापि सुग्राह्य नहीं कही जा सकती। क्रोचे का यह अभिमत भारतीय दृष्टि के उस रूप से पर्याप्त साम्य रखता है जिसमें कवि-वाणी को 'आत्मनः कला' कहकर महाकवि भवभूति ने संस्तुत किया है तथा जिसे मम्मट ने नियतिकृत नियम 'रहिता' तथा 'ह्लादैकमयी' आदि विशेषणों से अलंकृति प्रदान की है।

स्वयंप्रकाश्य अथवा सहज ज्ञान की अभिव्यंजना को 'कला' के रूप में विवेचित करते हुए क्रोचे ने उसके सरल और जटिल नामक दो व्यावहारिक भेद भी स्वीकार किये हैं। दैनिक जीवन में प्रयुक्त किये जाने वाले सहजज्ञान को क्षणिक तथा लघुतापूर्ण कहकर उन्होंने उस सहजज्ञान को विस्तृत और समृद्ध माना है जिसकी उपजीव्यतावश कवि, चित्रकार अथवा मूर्ति-निर्माता अपनी उच्चकोटि की कला को रूपायित करता है। क्रोचे को कला का वही पक्ष पूर्ण और महान् प्रतीत होता है जिसमें अभिव्यंजना को सम्यक् स्वरूप उपलब्ध हुआ हो। अभिव्यंजना की सफलता और असफलता को ही कलाओं के सौन्दर्यासौन्दर्य का निकष निर्णीत कर क्रोचे ने केवल उस अभिव्यक्ति को ही सुन्दर माना है जिसके द्वारा हमारे मन के आवेग, संवेदनाएं तथा तज्जन्य क्षणिक प्रभाव हमारे स्वयंप्रकाश्य द्वारा पूर्ण 'रूप' ग्रहण करते हैं। उनकी मान्यता में 'रूप' की सुन्दर और सुस्पष्ट अभिव्यक्ति ही सौन्दर्य का उपलक्षण है और अभिव्यंजना की असफलता ही कुरूपता की निदर्शना है। वस्तुतः लौकिक जगत् की वस्तुगत सुन्दरता

अथवा असुन्दरता को सर्वथा गौण विषय कहकर क्रोचे ने उनके अनुकरणमात्र को सौन्दर्यासौन्दर्य की कसौटी नहीं माना है, क्योंकि उनके मतानुसार जगत् का 'सामान्य सुन्दर' पदार्थ भी अपनी सफल अभिव्यंजना में दिव्योपम बन जाता है जबकि कोई दिव्योपम सुन्दर पदार्थ भी अपनी अभिव्यंजनागत अपूर्णता में कुरूप तथा त्रुटिपूर्ण रह सकता है। क्रोचे को वस्तुदर्शनजन्य आनंदानुभूति तथा उससे उद्भूत तात्कालिक प्रभाव उतना कलापूर्ण प्रतीत नहीं होता, जितना रूपजन्य आनंद अपनी अभिव्यंजनावश सुन्दर प्रतीत होता है। उनके मतानुसार कलात्मक आनन्द ही एक ऐसा विशिष्ट प्रकार का आनन्द है जिसका आविर्भाव सहजज्ञान के सम्यक् प्रकटीकरण और अभिव्यंजन के सहज कौशल के कारण संभव होता है। कहने की आवश्यकता नहीं कि क्रोचे का यह आनन्द-विश्लेषण उन परम्परावादी आनंदवादियों के दृष्टिकोण से सर्वथा भिन्न है जो कला का मूल्यांकन नैतिक, आर्थिक तथा उपयोगितावादी दृष्टियों से करना ही समीचीन समझते थे।

क्रोचे का सौन्दर्यदर्शन कलात्मक आदर्शवाद की चरम परिणति है

क्रोचे का सौन्दर्य-दर्शन कलात्मक आदर्शवाद की चरम परिणति है। उसमें न तो भौतिकता और व्यावहारिकता को ही महत्त्व प्रदान किया गया है और न वह विशुद्ध बौद्धिकता में ही आस्था रखता है। उन्होंने ज्ञान की उस सैद्धांतिक प्रक्रिया को 'कला' कहा है जिसमें हमारी मानसिक संवेदनाएं स्वयंप्रकाश्य के रूप में विशिष्ट आकार धारण करती है। वस्तुतः सौन्दर्य-सर्जना और कला-निर्माण का एकमात्र उत्स कवि का मानस है, अतः क्रोचे ने कवि को ही काव्य-रचना अथवा कला-कृति का एकमात्र समीक्षक अथवा भोक्ता स्वीकार किया है। सच तो यह है कि रचना और समीक्षा अथवा कला-निर्माण और रसास्वादन केवल व्यावहारिक भेद रखते हैं, जबकि उनका तात्विक वैभिन्य किसी भी रूप में सुमान्य नहीं है। कला के ऐकांतिक स्वरूप में आस्था रखते हुए भी क्रोचे ने उसके आंतरिक पक्ष का विवेचन वाह्य प्रकाशन की आवश्यकता को मान्यता प्रदान करते हुए किया है। बाह्य-प्रकाशन का प्रयोजन है ऐसा रूप-संप्रेषण जिसके द्वारा काव्य-रसिक अथवा साहित्य-समीक्षक के मन में कला अथवा अभिव्यंजना का प्रतिरूप उसी रूप में प्रतीतियोग्य हो जाय जिस रूप में वह कवि-मानस में उत्पन्न होकर रूपायित होता है। उन्होंने कला की सफल अभिव्यंजना को ही समीक्षा का प्रतिमान अथवा आदर्श निर्धारित कर उसी के माध्यम से कलामीमांसा करने के सिद्धांत को तत्त्वपूर्ण माना है। कला की भाँति उनका समीक्षा-सिद्धांत भी आत्मनिष्ठ और आदर्शवादी है जिसमें पूर्वनिश्चित नियमों और परम्परागत भेद-प्रभेदों के लिए कोई स्थान नहीं है। निष्कर्ष यह है कि क्रोचे का सौन्दर्य-दर्शन अपने रूप में एक ऐसी उपलब्धि है जिसमें सौन्दर्य और कला की कल्पना सर्वथा स्वायत्त, पूर्ण और निरपेक्ष रूप में की गई है। उस दर्शन में न तो भौतिकवाद और यथार्थवाद की स्थूलता और वस्तुपरकता को स्थान प्राप्त है और न कामवासना और कला-सौन्दर्य को एक ही सूत्र में संग्रथित करने का प्रयत्न किया गया है। नैतिकता और व्यावहारिकता को कला की परिधि से बहिर्गत कर उन्होंने

स्वयंप्रकाश्य को इतना अधिक महत्त्व दिया है जिसके कारण सहजज्ञान के सम्मुख बौद्धिक प्रत्ययों का अस्तित्व सर्वथा क्षीण हो जाता है। कला-समीक्षा विषयक स्वतंत्र और आत्मनिष्ठ दृष्टिकोण के कारण क्रोचे को कला-शैलियों, काव्य-विधाओं और रचना-परंपरा के भेदोपभेद भी स्वीकार नहीं हैं। वस्तुतः कला-दर्शन के विवेचन में उन्होंने कलाकार के प्रति अपना प्रमुख आग्रह व्यक्त किया है जिसके सम्मुख बाह्य प्रकाशनों का माध्यम स्वतः ही गौण हो जाता है। यद्यपि कला-विवेचन के प्रसंग में उन्होंने सामाजिक, ऐतिहासिक, आर्थिक और नैतिक आदि बाह्य प्रभावों का उल्लेख अवश्य किया है, किंतु इन समस्त प्रभावों के स्वरूप-विश्लेषण के प्रति उनका निजी दृष्टिकोण है। वे मूलतः क्लासिकल न होकर रोमांटिक हैं, किन्तु उनका दृष्टिकोण अनेक स्थलों पर नकारात्मक बन गया है जिसका सम्यक् बोध करने के पश्चात् ही उनका मूल्यांकन अथवा महत्त्व-प्रतिपादन करना युक्तिसंगत है।

क्रोचे का 'सौन्दर्य-दर्शन' और मार्क्सवाद से उसकी भिन्नता

वस्तुतः आदर्शवादी सौन्दर्यदर्शन को चरम परिणति पर्यन्त अधिष्ठित करने वाले पश्चिमी विचारकों में क्रोचे का स्थान अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। उनकी विचारणा का मुख्य बिन्दु यह है कि उन्होंने अभिव्यंजना, कला और सौन्दर्यचेतना का विवेचन करते हुए बाह्य उपकरणों अथवा भौतिक साधनों को गौण किंवा नगण्यवत् महत्त्व प्रदान किया और मानसिक क्रियाओं को ही काव्य आदि कलाओं का मूल उत्स माना। उन्होंने इस बात का स्पष्ट उल्लेख किया कि हमारे मानसिक व्यापारों की मुख्य दो कोटियाँ हैं जिन्हें स्थूल दृष्टि से सैद्धांतिक तथा व्यावहारिक रूपों में विभक्त किया जा सकता है। मनस्तत्व की व्यावहारिक प्रक्रिया का मुख्य सम्बन्ध हमारी इच्छाशक्ति से है जबकि मानस-व्यापार की सैद्धांतिक क्रिया इच्छाशक्ति से परे एवं स्वतंत्र रहकर अपना कार्य-संचालन करती है। क्रोचे ने मन की सैद्धांतिक प्रक्रिया को 'इन्ट्यूशिव' तथा 'कंसेप्चुअल' नामक दो प्रकारों में विभक्त किया है जो क्रमशः 'सहजज्ञान' एवं 'सम्बन्धसूचक प्रत्ययों पर आधृत रहते हैं। सहज ज्ञान का ही दूसरा नाम 'स्वयंप्रकाश्य' है जिसे सौन्दर्यदर्शन के संदर्भ में विवेचित करते हुए क्रोचे ने अनेक महत्त्वपूर्ण निष्कर्ष उपलब्ध किये हैं। काव्य अथवा कलाओं की विवेचना में सौन्दर्यदर्शन का अनुपेक्षणीय योगदान है अतः उसकी चर्चा किये बिना काव्य-समीक्षा का एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न अस्पृष्ट रह जाता है। यहाँ यह बात भी उल्लेखनीय है कि अपनी मान्यताओं में क्रोचे और मार्क्स दो विरोधी तत्त्वद्रष्टा थे जिन्होंने क्रमशः मानसलोक की वृत्तियों और भौतिक जगत् की क्रियाओं को मूर्द्धन्य स्थिति प्रदान की। यही कारण है कि क्रोचे के मतानुसार भौतिक जगत् की क्रियाओं के स्थान पर मानस-व्यापार ही हमारे क्रिया-कलापों और कला-सर्जनाओं के मूल आधार हैं, जबकि मार्क्स के सिद्धान्तानुसार भौतिक जगत् तथा उसकी द्वन्द्वात्मकता ही हमारी सम्पूर्ण क्रियाओं का प्रेरणा-स्रोत है। वस्तुतः क्रोचे और मार्क्स मूलतः दार्शनिक एवं विचारक थे किन्तु उनकी मान्यताओं में इतनी अधिक प्रभविष्णुता और क्षमता थी कि काव्य-समीक्षा का क्षेत्र भी उनसे अप्रभावित नहीं रह सका और अद्यावधि उनकी

चर्चाओं के अभाव में काव्य-सर्जना और काव्यास्वाद का विषय-विवेचन अपूर्ण एवं पंगु ही समझा जाता है। इन विचारकों के सम्मुख पश्चिमी ज्ञान-विज्ञान और दर्शन की एक सुदीर्घ परम्परा विद्यमान थी जिसका समुचित उपयोग करते हुए उन्होंने अपनी प्रतिपत्तियाँ प्रतिष्ठित कीं। कहने की आवश्यकता नहीं कि इन विचारकों ने काण्ट और हेगल की दार्शनिक विचारधाराओं का सम्यक् आकलन और अनुशीलन करने के पश्चात् ही अपने निर्णय प्रदान किये थे जिनका महत्त्व युग-जीवन की भूमिकाओं में ही न होकर शाश्वत सत्यों की अनुसंधित्सा में भी सन्निहित है।

सहजानुभूति और अन्तर्दृष्टि का रहस्य

काव्य-सर्जना के प्रेरक तत्त्वों की विवेचना के अन्तर्गत सहजानुभूति अथवा प्रत्यक्ष अन्तर्दृष्टि (Direct Vision) आदि विषयों पर पाश्चात्य विद्वानों ने जो विचार-निर्णय विवेचित किये हैं, वे वहाँ की तत्त्वमीमांसा में विशेष गुरुता रखते हैं। बर्गसां ने 'प्रत्यक्ष अन्तर्दृष्टि' को काव्यकार की मूल चेतना कहकर उसका वैशिष्ट्य व्यक्त किया है तो क्रोचे ने कला, सहजानुभूति और अभिव्यंजना का परमैक्य निरूपित कर उन्हें एक ही कोटि में अधिष्ठित करना अधिक उपयुक्त समझा है। उनका मत है कि 'सहजानुभूति,' 'अंतर्दृष्टि,' 'कल्पना', 'प्रतिरूपण' और 'अनुचिंतन' आदि शब्द मस्तिष्क के एक ही अवधारणात्मक क्षेत्र की ओर संकेत करते हैं जिनमें सौन्दर्याभिव्यंजन का तत्त्व निसर्गतः विद्यमान है। क्रोचे के एतद्विषयक विचारों का विशेष स्पष्टीकरण हमने यथाप्रसंग किया है, अतः प्रस्तुत संदर्भ में हम केवल इतना ही निवेदन करना पर्याप्त समझते हैं कि पाश्चात्य काव्य-दर्शन के क्षेत्र में बहुप्रचलित एवं महिमामण्डित सिद्धान्तों में 'सहजानुभूति' और 'अन्तर्दृष्टि' आदि शब्दों ने जो प्रभुत्व-गरिमा प्राप्त की है वह कला-व्यंजना अथवा काव्य-सर्जना के मूलभूत प्रेरक तत्त्वों में उल्लेखनीय है। उसमें सर्जक की कल्पना, अनुभूति, इच्छाशक्ति, बोधवृत्ति, प्रातिभज्ञान और अन्विति आदि वृत्तियों का सहज समाहार विद्यमान है। पाश्चात्य विद्वानों ने काव्य-सिसृक्षा में उनका अभिनिवेश और औचित्य निरूपित करते हुए बार-बार इस मत का प्रबल समर्थन किया है कि सर्जनात्मक प्रतिभा अथवा कल्पना में ज्ञान, प्रतिरूपण और निर्माण की ऐसी जटिल अन्विति रहती है जिसका संवेग लोकोत्तर है और जिसे केवल बौद्धिक व्यापार अथवा सामान्य संवेदनाओं के प्रतिमान-मात्र से स्पष्ट नहीं किया जा सकता। सच पूछा जाय तो कवि के अधिमानस में एक ऐसी 'जागरित ग्राहिका शक्ति' (Alert Receptivity) तथा 'सजग निष्क्रियता' (Attentive Passivity) रहती है जिसके कारण वह अपनी कृतियों में आत्मस्वातंत्र्य का उद्भावन करता हुआ उसे ऐसी वाणी प्रदान करता है जो संकुचित अहंभावना से कहीं अधिक व्यापक और सांसारिक आसक्ति से कहीं अधिक लोकोत्तर हो जाती है जिसके कारण काव्यचिंतन में काव्य-सर्जना को 'अहंशून्य अनासक्त व्यापार' आदि पदों से विवेचित करने के भी सत्प्रयास किये गये हैं।[1]

---

1. Jacques Maritain : Creative Intuition in Art and Poetry, Meridian Books, New York, 1955, pp. 102-103.

काव्य-सर्जना में कवि की सहजानुभूति ही प्रधान है

भारतीय काव्य-दर्शन में जिस रूप में प्रतिभा-तत्त्व का विवेचन हुआ है वह पाश्चात्य चिंतन की सर्जनात्मक सहजानुभूति तथा सर्जनात्मक कल्पना (Creative Intuition and Creative Imagination) के साथ संयोजित किया जा सकता है। वहाँ की सहजानुभूति और कल्पना-विषयक मान्यताओं पर पाश्चात्य दार्शनिक तथा धार्मिक चिंतन का पर्याप्त प्रभाव है। इस प्रकार की विवेचना को विकसित करने में मध्ययुगीन शास्त्रवादी ईसाई विचारकों का प्रमुख हाथ रहा है। संट थामस एक्विन्स ने सर्जन-शक्ति का स्वरूप स्पष्ट करने के लिए जो मान्यताएँ प्रतिष्ठित की थीं, उनका परवर्ती पाश्चात्य काव्यशास्त्र और सौन्दर्य-दर्शन पर पर्याप्त प्रभाव पड़ा है। इस विषय में फ्रांसीसी सौन्दर्यशास्त्रियों का योगदान विशेष महत्त्वपूर्ण है।

काव्य-सर्जना के मूलभूत तत्त्वों को अन्वेषित करने से पूर्व हमारा सर्वप्रथम ध्यान उसके 'आदि-स्रष्टा' की ओर जाता है। जिस प्रकार हमारे यहाँ 'कविर्मनीषी परिभूः स्वयंभूः' की श्रुति प्रख्यात है, उसी प्रकार पाश्चात्य विचारधारा में भी कवि के प्रति अत्यन्त उदात्त दृष्टि परम्परित रही है। 'कला और काव्य में सर्जनात्मक सहजानुभूति' नामक ग्रंथ में प्रसिद्ध विचारक मारितें ने 'ईश्वर' को ही 'प्रथम व्यक्ति' मानकर कवि को ईश्वर के समान स्रष्टा कहा है यद्यपि वह उससे कुछ निम्न कोटि का अवश्य माना गया है। ईश्वर को सर्वज्ञ और शक्तिमान कहकर मारितें ने उसकी सर्जना को सर्वथा निरपेक्ष और पूर्ण माना है जब कि कवि के साधन और उपकरण सीमित हैं और उसे भौतिक पदार्थों पर भी निर्भर रहना पड़ता है। जहाँ तक काव्य की सर्जनशीलता का प्रश्न है, वह कवि के 'स्वातंत्र्य' पर बहुत अधिक निर्भर है क्योंकि जब तक कवि अपने अहं में परवशता का अनुभव करता है, वह उत्कृष्ट श्रेणी की काव्य-सर्जना नहीं कर सकता। कवि की सर्जना का एक पक्ष उसके ज्ञान-तत्त्व से भी सम्बद्ध है जिसका समुचित महत्त्व निरूपित कर ज्याक मारितें ने आत्मा की सर्जनशीलता (Creativity of Spirit) और सर्जनशील आत्मा की स्वतंत्रता (Freedom of Creative Spirit) को पूर्वापर संबंध से विवेचित किया है। कवि का सर्जनात्मक ज्ञान उसकी आध्यात्मिक अचेतनता (Spiritual unconsciousness) अथवा पूर्वचेतनता (Pre-consciousness) का ही परिणाम है जिसका अभिप्राय यह है कि काव्य और उसकी प्रेरणा का आदि-स्रोत एक प्रकार की अर्ध-पारदर्शी आध्यात्मिक रात्रि में ही है। ज्याक मारितें के उपर्युक्त विचारों का सारांश निम्नलिखित है—

1. The Poet is like a god, but he is a poor god.[1]
2. Poetry is engaged in the free creativity of the spirit. It is the freedom of the creative spirit.[2]

---

1. Jacques Maritain : Creative Intuition in Art and Poetry, Meridian Books, New York, 1955, p. 81.
2. Ibid, p. 80-81.

3. Divine creation pre-supposes the knowledge God has of his own essence, poetic creation pre-supposes, as a primary requirement, a grasping by the poet, of his own subjectivity, in order to create.[1]
4. The poet's aim is not to know himself. The essential need of the poet is to be creative, but he can not do so without passing through the door of the knowing.[2]
5. His intuition, the creative intuition, is an obscure grasping of his own self and of things.[3]
6. It is in this translucid spiritual might that poetry and poetic inspiration have their primal source.[4]

भारतीय और पाश्चात्य दृष्टि का सामंजस्य

यह एक अत्यन्त उल्लेखनीय विषय है कि ज्याक मारितें आदि पाश्चात्य विचारकों ने सर्जनात्मक कल्पना अथवा सहजानुभूति के संबंध में अपना जो चिंतन प्रस्तुत किया है, वह भारतीय दृष्टि के आलोक में विवेचित प्रतिभा-तत्त्व से यथेष्ट साम्य रखता है। उन दोनों में जो कुछ भी अन्तर प्रदर्शित होता है उसका मूल रहस्य उनके संस्कृतिजन्य वैभिन्न्य अथवा दार्शनिक और धार्मिक मान्यताओं की पृष्ठभूमिका द्वारा स्पष्ट किया जा सकता है। काश्मीरिक शैवदर्शन के आचार्यों ने जहाँ शिव के सादृश्य पर कवि की सर्जन-शक्ति की विवेचना की है तो पाश्चात्य धर्मवेत्ता विचारकों ने कवि को ईश्वर की उपमा देकर उसकी शक्ति और सीमा को निर्धारित करने का प्रयत्न किया है। दोनों प्रकार की विचार-पद्धतियों और चिंतन-परंपराओं का पर्यालोचन अत्यन्त रुचिप्रद और विचारोत्तेजक है। पश्चिमी काव्य-समीक्षा के क्षेत्र में पर्याप्त समय-पर्यन्त ईसाई धर्माधिकारियों का प्रभाव बना रहा जिसके कारण वे कल्पना और सहजानुभूति का स्वरूप धार्मिक प्रवृत्तियों के अनुरूप विवेचित करते रहे। हाँ, ज्ञान-विज्ञान के प्रसार और प्रचार तथा भौतिकवादी दृष्टिकोण के आधिक्य अथवा प्राबल्यवश जब अन्य विषयों की भाँति काव्य-सर्जना और काव्यास्वाद के क्षेत्र में भी पार्थिवता का प्राधान्य हुआ तो काव्य-सर्जकों और काव्य-भावकों के मन में अलौकिक शक्ति द्वारा काव्य-सर्जना के प्रति बनी हुई पूर्ववर्ती धारणाओं में अंतर उपस्थित हो गया। इसका एक बड़ा प्रमाण तो यही है कि आर० जी० कालिंवुड आदि परवर्ती और आधुनिक विचारकों ने काव्य-सर्जना के दैवी प्रेरणा विषयक सिद्धांत का खण्डन करते हुए इस बात की स्पष्ट घोषणा की है कि काव्य-सर्जना की विवेचना में

---

1. Jacques Maritain : Creative intuition in Art and Poetry, Meridian Books, New York, 1955, p. 82.
2. Ibid, p. 82.
3. Ibid, p. 83.
4. Ibid, p. 83.

ईश्वरीय शक्ति का आधार लेने की कोई आवश्यकता नहीं है।[1] कहने की आवश्यकता नहीं कि सर्जन-संबंधी इस प्रकार के विचार-परिवर्तन में आधुनिक वैज्ञानिक दृष्टि का प्रबल योगदान रहा है।

सहजानुभूति का तत्त्व-दर्शन

सहजानुभूति आत्मतत्त्व का आंतरिक गुण है। वह काव्यकार के मानस में शाश्वत संस्कार के रूप में विद्यमान रहती है। कवि का भावप्रवण चेतन जब उसकी तंत्रियों से झंकृत होता है तो वह प्रतीकों और बिम्बों के विविध रूप धारण कर अपनी अभिव्यंजना करता है। जीवन की जटिलता और चेतना की चमत्कृति की अध्यात्मपरक ग्रंथियों का वैज्ञानिक परीक्षण सम्भव न होने के कारण सहजानुभूति का भी तत्त्व-दर्शन सरल कार्य नहीं है। उसका रूप-विमर्श मन और आत्मा के विविध आयामों के परिज्ञान के पश्चात् ही किया जा सकता है। कहने के लिए पाश्चात्य तत्त्व-मीमांसकों और भारतीय दार्शनिकों की अंतः प्रज्ञा ने अपने देशकालजन्य पार्थक्य और वैभिन्न्यवश उसका विभेदमूलक विवेचन किया है, किन्तु तत्त्वतः वे एक ही मौलिक सत्य की उपलब्धि के विविध मार्ग हैं जिनका अंतर्दर्शन करने के लिए विशेष प्रकार की असाधारण विवेक-शक्ति और तुलनात्मक अंतर्दृष्टि परम वांछनीय है।

पाश्चात्य काव्यदर्शन में विवेचित 'सहजानुभूति' तथा भारतीय काव्यशास्त्र में वर्णित 'प्रतिभा' को काव्यसर्जना के साधारणीकृत धरातल पर अधिष्ठित करने का अभिप्राय सप्रयोजन है, क्योंकि दोनों की रूप-विवेचना में अद्भुत साम्य विद्यमान है। जिस प्रकार पाश्चात्य तत्त्ववेत्ताओं ने सहजानुभूति को इन्द्रिय-संवेदन और बुद्धि से परे कहा है उसी प्रकार भारतीय काव्य-मीमांसकों ने भी प्रतिभा को अतीन्द्रिय एवं बुद्धि से अगम्य स्वीकार किया है। वस्तुतः सहजानुभूति की प्रत्यक्ष अंतर्दृष्टि प्रतिभा-तत्त्व की साक्षात्कारात्मिका मानस-प्रतीति से तत्त्वतः भिन्न नहीं है। और तो और; प्रतिभा को जिस रूप में नवनवोन्मेषशालिनी अथवा अपूर्ववस्तुनिर्माणक्षमा प्रज्ञा कहकर जिस प्रतिमान को वर्णनीय वस्तुविषय का नूतन उल्लेखशालित्व कहा गया है, वह पाश्चात्य काव्य-चिंतन की सर्जनात्मक कल्पना से यथेष्ट साम्य रखता है। प्रसिद्ध काव्य-समीक्षक डा० आई० ए० रिचर्ड्स ने कल्पना-तत्त्व का सम्यक् अनुशीलन और अध्ययन करने के पश्चात् 'स्पष्ट बिम्ब-सर्जना', 'रूपकमयी आलंकारिक भाषा', 'नूतन नवोन्मेषकारिता', 'इतर जनों की मानसिक स्थितियों की सहानुभूतिमयी पुनः निर्मिति', 'असंबद्ध वस्तुओं की समीकृत्य संयोजना' और 'परस्पर विरोधी गुणों के संतुलन अथवा समंजन' में कल्पना की जिन षड्विध विशेषताओं का उल्लेख किया है, उन्हें यदि भारतीय दृष्टि के आलोक में प्रतिभातत्त्व के साथ नियोजित किया जाय तो पूर्व और पश्चिम के अंतर्विरोध का पर्याप्त परिशमन हो सकता है।[2] इस विषय का तुलनात्मक अध्ययन विश्व-मानव की अभेदमयी

---

१. R. G. Collinwood : The Principles of Art, Clarendon Press, Oxford, 1938, p. 130.

२. आई० ए० रिचर्ड्स : प्रिंसिपल्स ऑफ लिटररी क्रिटिसिज़्म, पृ० २३९-२४२।

स्थिति को स्पष्ट करने की दिशा में निश्चय ही अपूर्व ज्ञान-वृद्धि का आधार बन सकेगा, इसी विश्वास के साथ काव्य-सर्जना की प्रेरक शक्ति के रूप में 'प्रतिभा' और 'कल्पना' की विवेचना समाप्त की जाती है।

आत्माभिव्यक्ति और आकांक्षा-पूर्ति के सिद्धांत

काव्य-सर्जना में आत्माभिव्यक्ति के सिद्धांत की चर्चा का विशेष श्रेय उन आधुनिक स्वच्छंदतावादी कवियों और समीक्षकों को प्रदान किया जाता है जिन्होंने काव्य-सर्जना में 'वस्तु' की अपेक्षा 'व्यक्ति' को विशेष महत्त्व देते हुए इस मान्यता की प्रतिष्ठा की है कि काव्य-निर्मिति कवि के आंतरिक आवेश और अंतःस्फुरणा का ही परिणाम है। इस सिद्धांत के अनुसार कवि की आकुल अनुभूतियाँ और आकांक्षाएँ जब अपना संवेग संभाल नहीं पातीं तो काव्यमयी वाणी में अभिव्यक्त होकर अपना भार हल्का करती हैं। वस्तुतः काव्य तथा अन्य कलाएँ काव्य-स्रष्टा तथा कलाकार के अंतरंग पक्ष का बहिरंग प्रकाशन है जिसमें उनके पर्यवेक्षण, विचार और अनुभूतियों का सम्मिश्रण रहता है। इस प्रकार इस सिद्धांत के अनुसार काव्य-सर्जना में एकमात्र कवि के आत्म-तत्त्व का ही प्रामुख्य है जिसके अभिव्यंजन से यदि पाठक-वर्ग उपकृत होता है अथवा काव्य-वस्तु को औदात्य मिलता है तो वह उसका आनुषंगिक रूप मात्र है।

आत्माभिव्यक्ति का सिद्धांत पश्चिमी काव्यजगत् में पर्याप्तकाल-पर्यन्त अपनी विजय-दुंदुभि निनादित करता रहा है। इस सिद्धांत का विशदीकृत विवेचन स्वच्छंदतावादी कवियों की काव्यसर्जना का मेरुदण्ड है जिसे यदि उनकी आत्मविवृत्तियों के आलोक में स्पष्ट किया जाय तो एक स्वतंत्र शोध-प्रबंध की रचना की जा सकती है। कीट्स, शेली, बायरन, टेनीसन, ब्राउनिंग और लांगफेलो आदि अनेकानेक कवियों ने अपनी रचनाओं के आदि-स्रोत के रूप में इसका महत्त्व स्वीकार किया है। लांगफेलो ने अपने काव्य में अभिव्यक्त सहजानुभूतियों की उपमा नेत्र-स्रवित अश्रु-बिंदुओं से दी है तो कीट्स ने काव्य-सर्जक से काव्य-सर्जना को उसी प्रकार अभिन्न माना है जिस प्रकार वृक्ष से पत्तियाँ अभिन्न रहती हैं। वस्तुतः काव्य-सर्जन कवि की सहज अंतःप्रेरणा का ही अभिव्यंजन है जिसे मनोविज्ञान की विविध सरणियों के माध्यम से भी विवेचित किया गया है। उसे चाहे कवि की व्यक्तिगत व्यथाओं की मुक्ति का माध्यम कहा जाय अथवा अचेतन-मन की उदात्त प्रक्रिया; सभी दृष्टियों से आत्माभिव्यक्ति का सिद्धांत तो उसमें सहज भाव से परिव्याप्त ही माना जायगा। रॉबर्ट ग्रेव्स ने काव्य-सर्जना को शरीर-विज्ञान से पृथक् भूमिका प्रदान करते हुए उसे एक रहस्यमयी प्रक्रिया से स्पष्ट करने की चेष्टा की है तो एजरा पाउण्ड, लारेंस लर्नर और स्पार्शाट आदि विद्वानों ने उसे मानसिक उत्पीड़न से मुक्ति प्राप्त करने का आधार निश्चित किया है। क्रोचे को तो काव्य में सहजानुभूति का तत्त्व इतना अधिक स्वीकार्य है कि वे अनुभूति और अभिव्यंजना में तात्त्विक अंतर ही निरूपित नहीं कर पाते। इन समस्त विवेचकों के दृष्टिकोण में काव्य-सर्जना का आत्माभिव्यक्तिगत पक्ष किसी न किसी रूप में संलग्न है, तभी तो वे काव्य-सर्जना को किसी लौकिक प्रयोजन की पूर्ति का साधन न मानकर उसे कलापूर्ण

अभिव्यक्ति की निरपेक्ष भूमिका में ही ग्रहण करना अधिक समीचीन समझते हैं। उनकी विचारधारा में काव्य की निर्मिति अनेक दृष्टियों से लोकोत्तर और अंतर्जगत् की अभिव्यक्ति का ही प्रसार है। कवि के आत्मबोध और काव्य-सर्जन में एक ऐसा वैलक्षण्य होता है जिसे न तो लौकिक भाषा में ही स्पष्ट किया जा सकता है और न उसे सामान्य स्तर के व्यक्ति ही बोधगम्य कर सकते हैं। तथ्य तो यह है कि काव्य का स्वरूप-दर्शन करना एक प्रकार की महान् साधना की ही सिद्धि है, अतः जब तक उसका साधक सहज समाधि-दशा को प्राप्त न कर ले तब तक वह उसके मौलिक अवधान को भावगम्य कर ही नहीं सकता। हमने यहाँ पर काव्य-सर्जना के 'आत्माभिव्यक्ति' विषयक सिद्धांत का केवल दिग्दर्शनमात्र कराया है जिससे यह स्पष्ट हो सके कि यह सिद्धांत काव्य-सर्जना के मूल तत्त्वों के साथ संयुक्त होने पर भी अपना स्वतंत्र प्रसार करने में भी सक्षम रहा है जिसके अनंत रूपों और प्रकारों का सम्यक् ज्ञान काव्य-स्रष्टाओं की मूल भावनाओं और मनोदशाओं के स्पष्ट निरूपण द्वारा ही किया जा सकता है।

आत्माभिव्यक्ति का सिद्धांत जिस रूप में पश्चिमी विद्वानों द्वारा विवेचित किया गया है, उसका अंतःसूत्र भारतीय विचारधारा से असम्पृक्त नहीं है। महाकवि भवभूति ने काव्य-सर्जना और कवि-वाणी को 'आत्मनः कला' कहकर उसकी ओर बहुत पहले संकेत कर दिया था। वेदों और उपनिषदों की दार्शनिक उक्तियों में भी आत्मतत्त्व की विवेचना के अंतर्गत इसके दर्शन किये जा सकते हैं। हाँ, यह बात अवश्य है कि इस सिद्धांत की नवीन पृष्ठभूमि आधुनिक युग की उपज समझी जाती है जिसमें रोमांटिक कवियों ने काव्य-सर्जना को कवि का वैयक्तिक प्रयास कहकर इस बात पर विशेष बल दिया है कि काव्य का अस्तित्व वस्तु में न होकर कवि की उन मानसिक दशाओं में है जिन्हें वह अपने अनुचिंतन द्वारा मूर्तिमत्ता प्रदान करता है तथा जिनको मूल आधार बनाकर वह आत्मेतर विषयों को भी अपनी संवेदना के अनुसार ही अभिव्यक्त करने में अपने कर्म की चरम सिद्धि समझता है। ऐसा करने में उसकी विशिष्ट संवेदनशीलता विशेष सहायक सिद्ध होती है क्योंकि यों तो कवि भी संसार के अन्य प्राणियों की भाँति एक सामाजिक जीव ही है किन्तु उसकी संवेदनशीलता इतनी अधिक उद्दीप्त और प्रबल होती है कि वह अपनी आत्माभिव्यक्ति के साथ-साथ विश्व की विभिन्न वस्तुओं को भी अपने ही आत्मतत्त्व के रंग में अनुरंजित कर उन्हें अनेक प्रकार के प्रतीक और बिम्ब प्रदान करने का सामर्थ्य रखता है। आंग्ल कवि वर्ड्स्वर्थ ने अपने 'लीरिकल बैलेड्स' की भूमिका में इस तथ्य का स्पष्टीकरण विशेष रूप से किया है जिसके अनुसार कवि का अन्तःस्फूर्त उच्छलन ही कवि-कर्म का मूल आधार है। इस प्रकार कवि की अभिव्यक्ति उसकी सहजानुभूति का ही प्रतिरूप कही जा सकती है जिसे किन्हीं बौद्धिक प्रक्रियाओं से विवेचित करना उसकी आंशिक सफलता का ही प्रतिमान मात्र है। कहने की आवश्यकता नहीं कि इस सिद्धांत का एकांत समर्थन करने की ओर सर्वाधिक अभिरुचि स्वच्छंदतावादी कवियों और विचारकों की ही रही है जिसका प्रभाव हिन्दी के छायावादी कवियों की सर्जना और आत्मविवेचना पर भी पर्याप्त मात्रा में अंकित हुआ है।

यों तो काव्य-सर्जना के प्रसंग में 'आत्माभिव्यक्ति' का सिद्धान्त इतना अधिक

व्यापक और विराट् है कि उसके अधिक्षेत्र में तत्संबद्ध अनेक सिद्धान्त समाहित किये जा सकते हैं, किन्तु पाश्चात्य विचारकों ने अपनी-अपनी मान्यताओं और दृष्टियों से उसके अनेक अवांतर रूप भी निर्धारित किये हैं। इस प्रकार के रूपभेदों की व्यावहारिक उपयोगिता अवश्य है, क्योंकि उनकी पृथक् विवेचना द्वारा भी काव्य-सर्जना जैसे गम्भीर विषय को अधिकाधिक स्वच्छ और स्पष्ट करने में सुविधा और सहायता मिलती है, तथापि यह भी एक निश्चित बात है कि काव्य-सर्जना के इन इतर सिद्धांतों का प्रसार तत्त्वतः आत्माभिव्यक्ति को अंगी रूप में स्वीकृत मानकर ही किया जाना अधिक युक्तियुक्त है। उदाहरणार्थ कहा जा सकता है कि आधुनिक मनोविश्लेषणवाद के उन्नायक डॉ० सिग्मंड फ्रायड ने काम-वासना को प्रमुख आधार बनाकर जिस रूप में काव्य-कलाओं का मूल प्रेरक-स्रोत अन्वेषित करने की चेष्टा की है उसका आदि-उत्स हमारी कामपूर्ति की आकांक्षाओं में ही सन्निहित है तथा जिनकी विवेचना करते हुए उन्होंने काव्य तथा अन्य कलाओं को भी इच्छापूर्ति के उन साधनों के सादृश्य-भाव में व्याख्यात किया है जिनका प्रसार हम शिशु-क्रीड़ा, दिवा-स्वप्न और स्वप्न-सिद्धांत की विभिन्न क्रिया-प्रक्रियाओं के रूप में दृष्टिगोचर करते हैं। यों तो फ्रायड की मान्यताओं की परीक्षा के बहुविध पक्ष हैं जिन्हें उपजीव्य बनाकर उनके समकालीन तथा परवर्ती विचारकों ने अनेक प्रकार के वाद-प्रवाद प्रचलित किये हैं, किन्तु उनका सूक्ष्म और व्यापक विश्लेषण करना हमें अभिप्रेत नहीं है। हम तो यहाँ पर केवल इतना ही तत्त्वोल्लेख करना आवश्यक समझते हैं कि फ्रायड तथा उनके अनुवर्ती मनोविश्लेषणवादियों ने मानव-जीवन में अपूर्ण वासनाओं और इच्छाओं की प्रपूर्ति के साधनों के प्रसंग में काव्य-सर्जना का भी समावेश कर उसे जिस रूप में निरूपित किया है, वह सर्वथा निराधार और तथ्यहीन नहीं है। अपने व्यावहारिक जीवन में हम शिशु-क्रीडाओं का नैसर्गिक अवलोकन करते हुए उनके माध्यम से भी काव्य-सर्जना की भूमिका को स्पष्ट करने का आधार प्राप्त कर सकते हैं। सच तो यह है कि जिस प्रकार कोई भाव-विभोर शिशु अपनी नैसर्गिक कल्पनाओं में तल्लीन होकर अपनी बाल-सुलभ चेष्टाओं और क्रीड़ाओं में आत्मरति की अनुभूति करता हुआ अपना मनःप्रसादन करता है, उसी प्रकार काव्य-सर्जक कलाकार भी अपनी ही संवेदनाओं के अनुरूप भाव-जगत् और वस्तु-जगत् की सृष्टि करता हुआ अनेक प्रकार के रूप-चित्र शब्दायित करता है। सृष्टि-विस्तार के आदिकाल में मानव-संवेदनाओं में जटिल ग्रंथियों का संयोजन न होने के कारण काव्य-सर्जना के पावन प्रदेश में बाल-विनोद की-सी निश्छलता, सरलता और स्वाभाविकता का संचार विशेष रूप से हुआ था जबकि सृष्टि-प्रसार की बहुरंगी जटिलता से उसके भाव-सुमनों में भी अनेक प्रकार की सतरंगिनी विधाएँ सम्मिलित होती गई हैं। सच तो यह है कि जिस प्रकार बाल-मानस की चेष्टाएँ और क्रीड़ाएँ दिवास्वप्नों के क्षेत्र में विचरण करती हुई फैन्टेसी और कल्पना के अनंत लोक में व्याप्त हो जाती हैं, उसी प्रकार काव्य-सर्जना की वेला में कवि का लोकोत्तर अधिमानस भी अपनी अभिरुचि के अनुरूप अनेक प्रकार के वैचित्र्य-पूर्ण चित्र-विधान अंकित करता चलता है। इस प्रकार की सर्जना का प्रमुख अंश आकांक्षा-पूर्ति के सिद्धांत से प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप से अवश्यमेव सम्बद्ध है, तभी तो काव्य-स्रष्टा

कलाकार फैंटेसी अथवा कल्पना के द्वारा अपनी अपूर्ण वासनाओं और आकांक्षाओं की प्रपूर्ति का प्रयास करता है। वस्तुतः फैंटेसी और कल्पना काव्यकार की सफलता के बहुत बड़े सम्बल हैं जिनका आधार लेकर वे काव्य-पुरुष के विराट् वैभव का अभिचित्रण उसकी विविध विधाओं की रचना-प्रक्रियाओं द्वारा किया करते हैं।

मनोविश्लेषणवादियों की विचार-दृष्टि

काव्य के मनोविश्लेषणवादी विचारकों ने फैंटेसी और कल्पना में कवि की आकांक्षा-पूर्ति के अनेक रूप चित्रित किये हैं। स्वप्नद्रष्टा कवि उनके वायवी रूपों से सुपरिचित होने पर भी उनकी सर्जना में सुख-प्रतीति-सी करता है, क्योंकि ऐसा करने से उसे अपने अभावों से विश्रांति मिलती है। संसार के प्रत्येक संवेदनशील मनुष्य के मानस में पद-प्रतिष्ठा, अधिकार-प्राप्ति, यशोपलब्धि तथा प्रणय-प्रीति के प्रति सहज आकांक्षा होती है जिनको व्यवहार-जगत् में प्राप्त करने में असमर्थ बना हुआ प्रबुद्ध कवि-समाज कल्पना-सृष्टि में उपलब्ध करना चाहता है तथा जिसका आस्वादन कर उसके समान सहृदयजन को भी आत्मविश्रांति मिलती है। हाँ, यह बात अवश्य है कि संसार के अभावग्रस्त प्राणियों की अतृप्त कामनाएँ कवियों की उन्नमित आकांक्षाओं से हीनस्तर की होती हैं जिसके कारण वे उन्हें कवि-कोटि के तुल्य उन्नयन प्रदान नहीं कर पाते। फ्रायडवादी विचारकों ने कला-सर्जना में जिस प्रकार के उन्नयन (सब्लिमेशन) का उल्लेख किया है, उसका अभिप्राय भी यही है कि कला-स्रष्टाओं की प्रतिभा में वासनाओं और दिवास्वप्नों के उन्नयन की एक विशिष्ट क्षमता का सद्भाव है जिसके कारण वे अपनी कल्पनाओं के उदात्तीकरण द्वारा एक प्रकार की तृप्ति का-सा आनन्द अनुभव करते हैं। फैंटेसी और कल्पना का प्रसार केवल कवि-मानस तक ही व्याप्त न होकर समस्त जाति और संस्कृति के विभिन्न आयामों तक विस्तृत है जिसका एक प्रमाण पाराणिक गाथाओं, पुराकथाओं, देवाख्यानों और लोकोत्तर स्वप्न-जगत् से सम्बद्ध अनेक प्रकार के उपाख्यानों के रूप में उपलब्ध होता है। सच पूछा जाय तो कल्पना-लोक का यह अनंत प्रसार कलाकारों और काव्य-सर्जकों के मन की आकांक्षाओं का ही प्रसार है जिसका आशय यह है कि काव्य-सर्जना के विविध-सिद्धान्तों की शृंखला में इच्छा-पूर्ति का सिद्धांत भी अनिवार्यतः संलग्न है।

काव्य-सर्जना की प्रक्रिया का विश्लेषण आधुनिक मनोविज्ञान की विविध शाखा-प्रशाखाओं को उपजीव्य बनाकर भी किया गया है। इस प्रकार के विवेचकों के सम्मुख मुख्य प्रश्न इस तत्त्व के अनुसंधान का रहा है कि काव्य-सर्जना कवि के चेतन मन का परिणाम है अथवा अचेतन किम्वा अर्द्धचेतन चित्त की अन्तःस्फूर्ति है। यों तो भारतीय दृष्टि से भी इस विषय का तत्त्वबोध करने की चेष्टा की गई है, किन्तु आधुनिक पाश्चात्य मनोविज्ञान और भारतीय जीवन-दर्शन की निरूपण-प्रक्रिया में उल्लेखनीय अन्तर भी विद्यमान है। कहने के लिए आधुनिक मनोविश्लेषणवेत्ता आदिकवि वाल्मीकि के प्रथम

छंद[1] में उनके अचेतन मन की प्रक्रिया का ही रूपसर्जन सिद्ध करने का प्रयास करें किन्तु भारतीय दृष्टि की तद्‌विषयक धारणा निश्चित ही उससे भिन्न है। इसका कारण यह है कि भारतीय दार्शनिकों ने मन, बुद्धि, अन्तःकरण और आत्मा आदि सूक्ष्म तत्त्वों का विश्लेषण जिस रूप में किया है वह पाश्चात्य दृष्टि से निश्चय ही पार्थक्य रखता है। हमें यहाँ इस विषय का व्यापक विवेचन करना अभिप्रेत नहीं है कि भारतीय और पाश्चात्य दृष्टिकोणों की समानताएँ और विसंगतियाँ कौन-कौन-सी हैं तथा उनमें किस प्रकार की मान्यताओं को प्रामाणिक स्वीकार किया जाना चाहिए ? हमारे निवेदन का मुख्य आशय तो केवल इतना ही है आधुनिक काल में काव्य-सर्जना का जो उद्‌बोधन-पक्ष विवेचित किया जा रहा है, वह भारतीय दृष्टि के उस दार्शनिक रूप से भिन्न है जिसमें हमारे प्राचीन मनीषियों ने काव्य का चरम लक्ष्य निःश्रेयस सिद्धि तथा आत्मविश्रांति स्वीकार किया था।

भारतीय दृष्टि के साथ विनियोग

भारतीय दृष्टि में यद्यपि काव्य-सर्जना के प्रेरक तत्त्वों और उसके निर्माण-कौशल का विश्लेषण उस रूप में नहीं किया गया जिस रूप में पाश्चात्य विद्वानों ने किया है, तथापि उसमें ऐसे अनेक महत्त्वपूर्ण तत्त्व और तथ्य संयोजित रहे हैं जिनसे इस विषय का सहज ज्ञान हो जाता है कि इस क्षेत्र में भारतीयों का विवेक अत्यंत उदात्त और आदर्शमय था। उन्होंने पश्चिमी विचारकों की भाँति न तो काव्य-सर्जना को स्वच्छंदतावादी प्रवृत्ति के अनुरूप सर्वथा वैयक्तिक प्रयास माना और न कवि को काव्य-सर्जना के मध्य उसे माध्यम मात्र ही स्वीकार किया। उनका तो स्पष्ट कथन था कि कवि भी विश्वविधाता की भाँति शब्दब्रह्म का स्रष्टा है जिसकी सर्जना प्रजापति ब्रह्मा से किसी भी रूप में न्यूनतर नहीं है। यहाँ के धर्म, दर्शन और संस्कृति में प्रतिबिम्बित अद्वैतवाद की तत्त्वदृष्टि के कारण काव्य को जिस रूप में स्वसंवित् का निदर्शन कहा गया था, वह उसकी सर्जना का अलौकिकत्त्व सिद्ध करने वाला है।

भारतीय आचार्यों ने काव्य-सर्जना के विवेचन-पक्ष में 'कवि' को जिस रूप में मनीषी और स्वयम्भू की उपाधि से अलंकृत किया है, वह उसकी सर्जना के माहात्म्य का संसूचक है। यहाँ के काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों के मंगलाचरणों और काव्य-कृतियों के शुभारंभों आदि अनेक स्थलों पर किसी न किसी रूप में कवि-भारती का संस्तव करते हुए काव्य-सर्जना का दिव्य स्वरूप वर्णित करने में कोई संकोच नहीं किया गया है। भारतेतर धर्मों में भले ही कवि और ईश्वर की एकरूपता का वर्णन 'कुफ्र' अथवा धर्म-विरुद्ध प्रवृत्ति मानी गई हो, किन्तु यहाँ के तत्त्वमीमांसकों ने तो निस्संकोच भाव से उनकी तुलना करने में परम उत्साह प्रदर्शित किया है। आचार्य आनंदवर्धन ने इस अपार काव्यसंसार में कवि

---

१. मा निषाद प्रतिष्ठां त्वमगमः शाश्वती समाः।
यत्क्रौंचमिथुनादेकमवधीः काममोहितम्॥

को ही प्रजापति कहकर उसे विश्वनियंता की समकक्षता प्रदान की है[1] तो अभिनवगुप्त ने एक विशेष स्थल पर भट्टनायक का मत उद्धृत करते हुए उसे 'त्रैलोक्य-रूप नाटक का शम्भु' कहकर नमस्कार्य माना है ।[2] अभिनवगुप्त का तो यहाँ तक कहना है कि अपनी कर्म-कला में कवि किसी भी रूप में विश्व-स्रष्टा से हीनतर नहीं है क्योंकि वह अपने हृदय के आयतन में सतत उदित होने वाली प्रतिभारूप वाग्देवता के अनुग्रह से उत्थित विचित्र और अपूर्व अर्थों के निर्माण की शक्ति से युक्त होकर प्रजापति के समान ही अपनी इच्छा के अनुरूप काव्य-जगत् का निर्माण करने का सामर्थ्य रखता है ।[3] आचार्य मम्मट ने जिस रूप में कवि-भारती को नियतिकृतनियमरहिता, ह्लादैकमयी, अनन्यपरतंत्रा और नवरस-रुचिरा कहा है, उसका उल्लेख तो हम प्रथम अध्याय के अन्तर्गत कर ही चुके हैं ।[4] लोकभाषा के कवियों में 'षट् रस विधि की सृष्टि में नव रस कविता मांहि' कहकर 'विधि तें कवि सब विधि बड़े यामें संसय नाहि' की उक्ति तो न जाने कब से प्रचलित है । लोचनकार ने 'अपूर्व यद्वस्तु प्रथयति बिनाकारणकला' में यही बात कही है तो काव्य-मीमांसा[5] तथा ध्वन्यालोक[6] में भी इसी प्रकार के संकेत किये गये हैं । अभिप्राय यह है कि संस्कृत काव्यशास्त्र में कवि के कर्तृत्व को लेकर जिस प्रकार का विचार-विमर्श किया गया है, वह आधुनिक मनोविज्ञानवेत्ताओं को भले ही पूर्व-परम्पराओं में आबद्ध और रूढिग्रस्त प्रतीत हो, किन्तु उसके मूल में एक ऐसा विश्वजनीन रहस्य अंतर्गुम्फित है जिसमें काव्य-सर्जना के उदात्त पक्ष को प्रकाशित करने की सहज क्षमता विद्यमान है । आवश्यकता इस बात की है भारतीय दृष्टि में विवेचित कवि-कर्म, काव्य-प्रेरणा और काव्य-सर्जना के विषय को आधुनिक शब्दावली में पुनराख्यात किया जाय ताकि नवीन विचारकों को उसकी महत्ता का अवबोध हो सके तथा वे काव्य-सर्जना के वैयक्तिक और निर्वैयक्तिक पक्ष की संकीर्ण भूमिका से ऊपर उठकर भारतीय काव्य-दृष्टि के उस सर्वात्मव्याप्त पक्ष का तत्त्वबोधन कर सकें जिसमें आचार्य अभिनवगुप्त ने क्रौंचवध से व्यथित बने हुए महर्षि वाल्मीकि के शोक को उनकी वैयक्तिक मनोभूमि से कहीं अधिक व्यापक कहकर उसकी साधारणीकृत रसात्मकता सिद्ध की थी । इस विषय में हम ध्वन्यालोकलोचन का वह अंश उद्धृत करना आवश्यक समझते हैं जिसमें यही रहस्य निम्नलिखित अवतरण में व्यक्त किया गया है—

क्रौंचस्य द्वन्द्ववियोगेन सहचरीहननोद्भूतेन साहचर्यध्वंसनेनोत्थितो शोकः

---

१. अपारे काव्यसंसारे कविरेकः प्रजापतिः ।
यथास्मै रोचते विश्वं तथेदं परिवर्तते ।।—ध्वन्यालोक।

२. नमस्त्रैलोक्यनिर्माणकवये शम्भव यतः ।—हिन्दी अभिनवभारती, पृ० ३६ ।

३. कवेरपि स्वहृदयायतन-सततोदित-प्रतिभाभिधानपरवाग्देवतानुग्रहोत्थितविचित्रापूर्वार्थनिर्माणशक्ति-शालिनः प्रजापतिरिव कामजनितजगतः ।—वही, पृ० ४२ ।

४. मम्मट, काव्यप्रकाश, १।१ ।

५. स यत्स्वभावः कविस्तदनुरूपं काव्यं । यादृशाकारश्चित्रकारस्तादृशाकारमस्य चित्रमिति प्रायो वादः ।—काव्यमीमांसा, पृ० १२२ ।

६. शृंगारी चेत्कविः काव्ये जातं रसमयं जगत् ।
स एव वीतरागश्चेन्नीरसं सर्वमेव तत् ।।

स्थायिभावो निरपेक्षभावत्वाद्विप्रलम्भश्रृंगारोचितरतिस्थायिविभावादन्य एव—न तु मुनेः शोक इति मंतव्यम् । एवं हि सति तद्दुःखेन सोऽपि दुःखित इति कृत्वा रसस्यात्मतेति निरवकाशं भवेत् ।

काव्य-सर्जना विशिष्ट और असाधारण क्षणों की निर्माण-क्रिया है

पाश्चात्य जगत् के काव्यकारों और कला-मीमांसकों ने काव्य-सर्जना और कला-सृष्टि की प्रक्रिया का विश्लेषण करते हुए इस तथ्य का पुनः-पुनः उल्लेख किया है कि कलाकृति लौकिक पदार्थों की भाँति सामान्य रचना न होकर कलाकार के विशिष्ट और असाधारण क्षणों की रचना है जिसमें वह माध्यम अथवा निमित्त मात्र बनकर उपस्थित होता है। महाकवि गेटे ने गीतों को अपना निर्माता एवं नियन्ता कहकर अपने व्यक्तित्व की गौणता व्यक्त की है[1] तो थैकरे ने किसी रहस्यमयी शक्ति को अपनी लेखनी की संचालिका कहकर उसकी प्रशंसा की है।[2] थामस वुल्फ़ का मत है कि वह अपने लेखन-कार्य के प्रति स्वयं उत्तरदायी नहीं है क्योंकि किसी अज्ञात शक्ति ने जैसा चाहा, वैसा कार्य उसके द्वारा करा लिया।[3] एमी लावेल ने अपनी सर्जनक्रिया का विश्लेषण करते हुए लिखा है कि कोई अज्ञात शक्ति उसके अवचेतन में काव्य-विषय का संचार उसी प्रकार कर देती है जिस प्रकार कोई व्यक्ति किसी पत्र-मंजूषा में चुपचाप अपना पत्र प्रविष्ट कर देता है।[4] नीत्से ने कलाकार को किसी उच्चतर शक्ति का माध्यम अथवा प्रवक्तामात्र कहकर इस बात पर आश्चर्य प्रकट किया है कि वह स्वयं उस शक्ति से परिचित नहीं है जो विद्युत् के समान चमककर उसके हृदय में चकाचौंध उत्पन्न करती हुई उससे मनचाहे कार्य करा लेती है।[5] इसी प्रकार के और भी अनेक मत पाश्चात्य विचारकों ने अभिव्यक्त किये हैं जिनका निष्कर्ष निकालते हुए विभिन्न विद्वानों ने इस सिद्धांत की प्रतिष्ठा की है कि काव्य-सर्जना हमारे चेतन और सामान्य मन की उपज न होकर अवचेतन चित्त की अभिव्यंजना है।

काव्य-सर्जना को चाहे चेतन मन की निर्मिति कहा जाय अथवा अचेतन और अवचेतन मन की प्रक्रिया, यह एक निश्चित बात है कि वह किन्हीं रहस्यपूर्ण असाधारण क्षणों की उपज अवश्य है। सच पूछा जाय तो कलाकार अथवा काव्य-स्रष्टा के मानस-कोष में जगत् और जीवन की अनुभूतियों से उत्पन्न संवेदनाओं का एक ऐसा संग्रह एकत्र हो जाता है जो कवि-प्रतिभा का संबल प्राप्त कर अपनी कुशल अभिव्यक्ति कर ही लेता है। एक समय था जब चेतन और अचेतन के अंतराल में अनेक प्रकार की जटिल विचार-ग्रंथियों का मायाजाल प्रसारित करते हुए विचारकों ने अपनी व्यक्तिगत मान्यताओं को व्यर्थ का तूल प्रदान किया, किन्तु शनैः-शनैः अब वह प्रवृत्ति दमित हो

१. रोजामण्ड ई० एम० हार्डिज, एन एनाटामी ऑफ इंसपिरेशन, पृ० १४।

२. वही, पृ० १५।

३. ब्रूस्टर गिजेलिन, दि क्रिएटिव प्रोसेस, पृ० १६४।

४. मार्गरेट विल्किन्सन, दि वे ऑफ मेकर्स, पृ० २६३।

५. कैण्डलर, ब्यूटी एण्ड ह्यू,मन नेचर, पृ० ३२६।

रही है। अब काव्य-कृति को केवल अचेतन मन की प्रक्रिया ही न माना जाकर उसका चेतन-पक्ष भी निरूपित किया जाने लगा है। पाश्चात्य विद्वानों का एक विशेष वर्ग कला को मानव-चेतना का सजग एवं कुशल प्रतिरूपण कहकर उसकी अचेतनता के प्रति उतना विश्वस्त नहीं रहा है जितना वह उसके प्रारम्भिक काल में था। इस वर्ग के विद्वान् काव्य-सर्जना को भी चेतन मन का कौशल कहकर उसमें कलाकार की व्युत्पत्ति और निपुणता के अंश भी स्वीकार करते हैं जिनकी व्याख्या भारतीय काव्यशास्त्रियों ने युगों-पूर्व काव्य-हेतुओं की विवेचना के अंतर्गत की थी।

टी० एस० इलियट का दृष्टिकोण

टी० एस० इलियट आधुनिक युग के एक सुप्रसिद्ध आंग्ल कवि, विचारक एवं आलोचक हैं। उनके व्यक्तित्व में कवि और आलोचक का एक ऐसा सुन्दर सामंजस्य है जिसका सम्यक् बोध करने पर उनकी कृतियों के आत्मतत्त्व का परिज्ञान किया जा सकता है। काव्य और समीक्षा के उभयविध क्षेत्रों में उन्होंने अपने आत्मनिरीक्षण और तत्त्वचिंतन के द्वारा जो भावराशि और विचारसामग्री प्रदान की है, वह अत्यंत स्पष्ट और तारतम्यपूर्ण है। उनके समीक्षा-सिद्धांत उनकी आलोचनात्मक कृतियों में व्यक्त हुए हैं जिनका व्यावहारिक पक्ष उनकी काव्य-रचनाओं के रूप में उपलब्ध है। काव्य और चिंतन की एकरूपता में इलियट महोदय इतने अधिक स्पष्ट हैं कि उन्होंने जिन काव्यगत विशेषताओं और मान्यताओं का प्रतिपादन अपने आलोचनात्मक निबंधों में किया है, उन्हीं की प्रतिध्वनि उनके काव्यबिम्बों में व्यवहृत है। इतिहास और संस्कृति तथा काव्य और आलोचना का विवेचन परम्परागत भूमिका के संदर्भ में करते हुए उन्होंने जिस शास्त्रीयता का पुनराख्यान किया है, वह निश्चय ही स्थायी महत्त्व की सामग्री बन गई है। यों तो उनका विचार-पक्ष मुख्यतः उनकी गद्य-रचनाओं में मुखरित हुआ है, किन्तु पद्यपरक काव्य-कृतियों में भी वे अपने सैद्धांतिक कथन उपस्थित करने की दिशा में भी कम प्रयत्नशील नहीं रहे हैं। निश्चय ही वे 'क्लासिकल' परम्परा के कवि और विचारक हैं जिनकी सर्जना और विवेचना का स्पष्टीकरण उनकी सम्पूर्ण कृतियों का सम्यक् आकलन करने के उपरांत ही किया जा सकता है।

टी० एस० इलियट की काव्य-समीक्षा विषयक मान्यताओं का एक संपुष्ट आधार है। उनके पूर्व १९वीं और २०वीं में जिस प्रकार की काव्य-समीक्षा का प्रचलन था, वह स्वच्छंदतावादी भावनाओं और पद्धतियों से सम्पृक्त थी। उसके निर्माण में जर्मन दार्शनिकों की अन्तर्मुखी दृष्टियों का भी सहयोग था। वर्ड्स्वर्थ और कोलरिज का कल्पना-सिद्धांत तथा क्रोचे का अभिव्यंजनावाद एक प्रकार से स्वच्छंदतावादी प्रवृत्तियों के क्रोड में ही विकसित हुआ था। उन विचारकों के अतिरिक्त प्रभाववादियों का एक स्वतंत्र और विशिष्ट वर्ग भी था जो काव्य-सौन्दर्य की मानसिक प्रतिक्रियाओं के अंकन में ही काव्य-समीक्षा की चरम सिद्धि स्वीकार करता था। इलियट ने इन सब प्रकार की विचारधाराओं का आकलन करते हुए अन्त में यह निष्कर्ष निकाला कि काव्य में स्वच्छंदतावाद का अनैसर्गिक आधिपत्य स्वीकार करना शोभनीय नहीं है

क्योंकि केवल वायवी संस्पर्श किसी भी काव्यकृति को महान् नहीं बनाते। उन्होंने उन स्वच्छंदतावादी प्रवृत्तियों का खंडन किया जो परम्परा और इतिहास के आभिजात्य की अवहेलना करने में काव्य-समीक्षा का श्रेय प्राप्त करती है। उनका मत मुख्यतः इतिहास और परम्परा के आलोक में विवेचित है जिसमें वे कला के मूर्त स्वरूप और पृथक् अस्तित्व का प्रतिपादन करने के लिए उन समस्त तर्कों का प्रतिवाद करते हैं जिनमें कला को कलाकार के आत्मप्रकाशन का माध्यम स्वीकार किया गया है। यद्यपि इलियट ने काव्य-संघटना और काव्यविवेचना के ज्वलंत प्रसंग में ऐतिहासिक तत्त्वों और प्रभावों के साथ-साथ आर्थिक मूल्यों का भी उल्लेख किया है किंतु वे उन्हें मार्क्सवादियों की द्वन्द्वात्मक भौतिकता के प्रतिमान से विवेचित करना उचित नहीं समझते क्योंकि उनमें काव्य-साहित्य की विवेचना का बहु-उज्ज्वल पक्ष अंतर्निहित नहीं है जिसके आधार पर इलियट ने इतिहास और परम्परा को काव्य का मूलभूत आश्रय कहकर काव्य को 'किसी जाति अथवा समाज के सांस्कृतिक उत्तराधिकार का रिक्थ' सिद्ध किया है।

'परम्परा' और वैयक्तिक प्रतिभा का विवेचन

इलियट के विचारों का सारगर्भित प्रौढ स्वरूप उनके 'परम्परा और वैयक्तिक प्रतिभा' (Tradition and the Individual Talent) शीर्षक सुप्रसिद्ध निबंध में व्यक्त हुआ है जिसमें उन्होंने अपनी काव्य-समीक्षा विषयक मान्यताओं का पुनराख्यान अत्यंत मौलिक एवं चमत्कारपूर्ण विधि से किया है। उस निबंध के अतिरिक्त उन्होंने और भी कतिपय स्फुट लेख लिखे हैं जो उनके सिद्धांत-निरूपण की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण हैं। शेक्सपियर, दांते, एण्ड्रयू मार्वेल तथा १७वीं शताब्दी के अन्यान्य अंग्रेज़ी कवियों के विषय में उनकी जिन कृतियों का प्रकाशन हुआ है, उनमें व्यावहारिक समीक्षा के साथ-साथ सैद्धांतिक मान्यताओं का भी आलोक विद्यमान है। उदाहरणार्थ 'हैमलेट' का विचार करते हुए उन्होंने प्रसंगवश वस्तुमूलक प्रतिरूपता (Objective Co-relative) की व्याख्या की है तो दांते विषयक निबंध में काव्य और दर्शन का पारस्परिक सम्बन्ध निरूपित किया गया है। मार्वेल आदि अंग्रेजी कवियों के संदर्भ में काव्य-शैली और काव्य-व्यवस्था-विषयक किया गया उनका विवेचन अत्यंत विचारोत्तेजक एवं नवीन है। वस्तुतः उनकी काव्य-समीक्षा में सिद्धांत और व्यवहार का ऐसा शास्त्रीय समायोजन हुआ है जिसकी प्रशंसा किये बिना नहीं रहा जा सकता।

यह एक अत्यंत आश्चर्य की बात है कि साहित्य के प्रति मूलतः क्लासिकल दृष्टिकोण रखते हुए भी इलियट काव्य-रचनाओं में नवीन चमत्कार लेकर चलने वाले कवि हैं। अनेक स्थलों पर तो उनकी कविता स्वच्छंदतावादी धारा से भी अग्रगामी है जिस पर परम्परागत शास्त्रीय नियमों का आरोप करना असम्भव-सा प्रतीत होता है। तो क्या इलियट को रचना और विवेचना के क्षेत्र में पृथक्-पृथक् व्यक्तित्व प्रदान करना वांछनीय है? बाह्य दृष्टि से भले ही ऐसा करना स्वाभाविक-सा लगे, किंतु उनके काव्य-ग्रंथों तथा समीक्षात्मक निबंधों के अध्ययन से इस प्रकार की भ्रांति का निवारण हो जाता है। बात यह है कि 'क्लासिक' तथा 'परम्परा' के सम्बन्ध में इलियट का निजी

दृष्टिकोण है जिसके कारण वे 'क्लासिसिज्म' को न तो नैतिकतावाद मानते हैं और न प्रभाववाद। उन्होंने अनेक स्थलों पर मैथ्यू आर्नल्ड की कटु आलोचना करते हुए उनके नैतिकतावाद का खंडन किया है तो कुछ ऐसे प्रसंग भी हैं जहाँ उन्हें मिडिल्टन मरे जैसे आधुनिक आंग्ल-समीक्षक की सौन्दर्यवादी, प्रभाववादी एवं आनन्दवादी दृष्टि भी सुग्राह्य प्रतीत नहीं हुई है। इसका कारण उन्हें उसमें स्थायी परम्पराओं के स्थान पर केवल क्षणिक प्रभावों का ही अंकन प्रतीत हुआ है।

काव्य-सर्जना में कवि का व्यक्तित्व केवल माध्यम मात्र है

इलियट की मान्यता का एक प्रबल पक्ष यह है कि उन्हें कविता में कवि के व्यक्तित्व के प्रकाशन का सिद्धांत स्वीकार नहीं है। उनका मत है कि काव्य-रचना में कवि का व्यक्तित्व तो केवल माध्यम का कार्य करता है जिसका तात्पर्य यह है कि मध्यस्थ रूप में स्थित कवि-प्रतिभा का उपयोग केवल इस बात में है कि वह 'परम्परा' को काव्य में प्रतिफलित करने के कार्य में सहायता प्रदान करे। इलियट ने कविता में व्यक्तित्व-प्रकाशन के स्थान पर निर्वैयक्तीकरण की प्रक्रिया को मान्यता प्रदान की है क्योंकि उनके मतानुसार यदि कोई कवि अपनी निजी संवेदनाओं अथवा अनुभूतियों में उलझकर केवल उन्हीं का अभिव्यंजन करने का प्रयत्न करता है तो उसकी रचना महान् और महत्त्वपूर्ण नहीं हो सकती। उन्होंने कविता को वैयक्तिक भावनाओं का 'प्रकाशन' न मानकर उनसे 'पलायन' कहा है और बतलाया है कि जब कवि परम्परागत सांस्कृतिक प्रभावों को अपने माध्यम से अभिव्यक्त करता है तभी उसके सुख-दुःख, रागात्मिका प्रवृत्तियाँ और राग-द्वेष सार्थक तथा सार्वभौम बनते हैं। इलियट का यह दृष्टिकोण निश्चय ही रोमांटिक व्यक्तिवाद के विरुद्ध गम्भीर घोषणा-पत्र है क्योंकि उक्त वाद में जिन आंतरिक क्रियाओं और चेष्टाओं को महत्त्व दिया जाता है, उनके स्थान पर इलियट ने 'परम्परा' को गौरव प्रदान किया है जिसमें इतिहास और संस्कृति के मौलिक तत्त्व अपने अभिनव रूप में निरंतर समाविष्ट रहते हैं। 'परम्परा' और निर्वैयक्तीकरण की प्रक्रिया का इलियटकृत विवेचन अत्यंत तात्त्विक और विचारणीय है क्योंकि उसमें अनेक प्रकार की मौलिक मान्यताओं और चिन्तन-प्रवृत्तियों का सुन्दर समन्वय है।

'परम्परा' का विवेचन करते हुए इलियट ने उसमें अतीत और वर्तमान का समन्वय स्वीकार किया है। उनके मतानुसार 'परम्परा' की अविच्छिन्न एवं चिरंतन धारा के प्रवाह में हमारे जातीय जीवन, कला, साहित्य और दर्शन के उत्कृष्ट तत्त्वों का सुन्दर समावेश रहता है। परम्परा को 'पुनरावृत्ति-मात्र' से पृथक् कहकर उन्होंने बतलाया है कि प्रत्येक नवीन और सफल रचना के पश्चात् समस्त प्राचीन कृतियों का पुनर्मूल्यांकन आवश्यक हो जाता है क्योंकि उसके बिना किसी भी सभ्य एवं सुसंस्कृत जाति की विशिष्ट परम्पराओं का बोध नहीं किया जा सकता। मूल्यांकन का यह क्रम अटूट और शाश्वत है जिसका एकमात्र मूलाधार हमारा परम्परा-ज्ञान ही है जिसके अभाव में काव्य-सर्जना और काव्य-विवेचना की सफलता संदिग्ध ही समझी जानी चाहिए। जो कवि अपने आपको परम्परा से पृथक् रखकर अपने वैयक्तिक सुख-दुःखों के

राग अलापना ही काव्य का एकमात्र उद्देश्य समझते हैं वे न तो अपने लक्ष्य में ही सफल हो सकते हैं और न उनकी रचनाएँ ही उदात्त और महान् कही जा सकती हैं। कहने की आवश्यकता नहीं कि इलियट अपने इस दृष्टिकोण में अत्यंत स्पष्ट हैं और उनके विचारों में किसी भी प्रकार की उलझन नहीं है।

'परम्परा' सिद्धांत का महत्त्व

इलियट महोदय को 'परम्परा-सिद्धांत' पर इतनी अधिक आस्था है कि वे काव्य-रचना के सम्पूर्ण कलेवर में उसकी अंतर्व्याप्ति का ही स्वरूप प्राप्त करते हैं। 'परम्परा' के रूप-निर्माण में अनेकानेक युगों और कलाकृतियों का संकलित एवं मिश्रित प्रभाव स्वीकार करना अनिवार्य है क्योंकि उसके बिना न तो कोई कवि ही महान् बन सकता है और न उसकी कृतियों में ही चारु-चमत्कृति आ सकती है। सच तो यह है कवि की वाणी में केवल वर्तमान की वाणी ही मुखरित नहीं होती अपितु अतीत का आलोक भी प्रकाशित रहता है जिनकी अभिसंधि में काव्य का भव्य स्वरूप निखरता है। कवि-वाणी से अभिव्यक्त 'परम्परा' का रूप सतत परिवर्तनशील होते हुए भी शाश्वत है तभी तो वर्तमान कवि की वाणी में अतीतकालीन कवियों के स्वर भी मुखरित होते हैं जिन्हें परम्परा के परिवर्तित एवं संवर्धित रूप कह सकते हैं। परम्परा का यह प्रभाव इतना अधिक व्यापक और तीव्र होता है जिसको प्रयासपूर्वक आत्मसात् करता हुआ कवि उसके सम्मुख आत्म-समर्पण कर देता है। इलियट ने कवि-व्यक्तित्व के इस विलीनीकरण को ही ध्यान में रखकर काव्य में कवि की निर्वैयक्तिकता का समर्थन किया है। सच तो यह है कि रचना के समय कवि का निजी व्यक्तित्व लुप्तप्राय हो जाता है जिसे अधिक से अधिक 'केवल माध्यम के रूप में' स्वीकार किया जा सकता है। इलियट की यह मान्यता अत्यन्त गंभीर और विचारणीय है कि काव्य-सर्जना की वेला में कवि का व्यक्तित्व कला-कृति से अस्पृष्ट रहकर केवल 'माध्यम' रूप में ही परम्परागत प्रभावों को कलात्मक रूप प्रदान करता है। कवि-व्यक्तित्व के विलीनकरण की तुलना 'रिसेप्टेकल' (Receptacle) जैसे पात्र से करते हुए इलियट ने लिखा है कि जिस प्रकार उक्त पात्र में अनेक प्रकार के भावों और संवेदनाओं का सम्मिश्रण चेतना के अन्य तत्त्वों के साथ घुल-मिलकर एकाकार हो जाता है, उसी प्रकार कवि-व्यक्तित्व का अस्तित्व भी काव्य-रचना के समय निर्वैयक्तिक बन जाता है। काव्य-सर्जना की इस प्रक्रिया का भी स्पष्टीकरण करने के लिए इलियट ने कैटेलिस्ट जैसे वैज्ञानिक प्रयोग का उदाहरण उपस्थित किया है। उसका अभिप्राय यह है कि जब किसी कक्ष में ऑक्सीजन और सलफर डाई-ऑक्साइड को प्लेटिनम के पतले तार के साथ रख दिया जाता है तो उनके संयोग से सल्फरस एसिड की उत्पत्ति होती है। उस उत्पत्ति में प्लेटिनम का तार केवल कैटेलिस्ट का कार्य करता है अर्थात् उसके कारण उपर्युक्त दोनों प्रकार की गैसों का विशिष्ट सम्मिश्रण तो हो जाता है किन्तु उस प्लेटिनम के तार पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता और न उसका कोई अंश विलीन होकर सलफरस एसिड में ही मिलता है। काव्य-रचना के समय कवि की स्थिति भी वैसी ही निर्वैयक्तिक है जिसे अधिक से अधिक काव्य-रचना का माध्यम स्वीकार किया जा सकता

है। इलियट ने रचना के समय कवि के व्यक्तित्व को 'The progress of an artist is as continual self-sacrifice, a continual extination of personality' कहकर यही बात व्यक्त की है।

इलियट के मंतव्य का निष्कर्ष

इलियट का काव्य-समीक्षा विषयक दृष्टिकोण अत्यन्त नवीन और मौलिक है। उन्होंने अनेक स्थलों पर इस मत का प्रबल समर्थन किया है कि काव्य-समीक्षा में कवि की निजी भावनाओं और विचारणाओं को विशेष महत्त्व देने के स्थान पर काव्यकृति को ही प्राधान्य प्रदान करना चाहिए। उन्होंने गेटे और कोलरिज जैसे महान् समीक्षकों के इस मत का खंडन किया है कि हैमलेट शेक्सपियर की महान् कृति है। वस्तुतः इलियट के मतानुसार तो हैमलेट की रचना में शेक्सपियर को कला-विषयक जितनी अधिक असफलता मिली है, उतनी कदाचित् ही किसी अन्य में मिली हो। गेटे आदि ने हैमलेट की प्रशंसा में जो उक्तियाँ लिखी हैं उनका आधार उन्होंने उन आलोचकों के निजी दृष्टिकोण को बतलाया है जिसे उन्होंने शेक्सपियर के नाटकों पर आरोपित किया है। वस्तुतः ऐसा करते हुए उन्होंने समालोच्य-कृति को महत्त्व न देकर उसमें वर्णित चरित्रों को ही सब कुछ समझकर उनकी व्याख्या अपने ढंग से की है जिसके कारण वे 'वस्तुमूलक प्रतिरूपता' (Objective Correlative) की स्थापना नहीं कर सके थे। इलियट का कथन है कि काव्य-समीक्षा में 'वस्तुमूलक प्रतिरूपता' का सिद्धांत अत्यन्त विचारणीय है। इस सिद्धांत का मुख्य दृष्टिकोण यह है कि कवियों को अपनी संवेदनाओं की अभिव्यक्ति के लिए कुछ विशिष्ट वस्तुमूलक प्रतीकों अथवा चिह्नों से काम लेना पड़ता है जिनके कारण उनकी अमूर्त कल्पनाएँ ठीक उसी रूप में मूर्त हो उठती हैं जिस रूप में वे कवि-मानस में जागरित हुई थी तथा जिन्हें बिम्ब प्रदान करना कवियों को अभीष्ट रहता है। वस्तुमूलक प्रतिरूपता की सफलता इसी बात में है कि कवि-संवेदनाओं के अमूर्त रूप तथा काव्य-वर्णित मूर्त-विधान में पूर्ण सामंजस्य अथवा एकरूपता उत्पन्न हो जाय। 'वस्तुमूलक एक-रूपता' का सामान्य विवेचन करने के पश्चात् उन्होंने 'मैकबेथ' में उसकी प्रयोग-विषयक सफलता तथा हैमलेट में असफलता का विवरण निम्नलिखित शब्दों में प्रस्तुत किया है—

The only way of expressing emotion in the form of art is by finding an objective correletive; in other words, a set of objects, a situation, a chain of events which shall be the formula of the particular emotion; such that when the external facts, which must terminate in sensory experience, are given, the emotion is immediately, evoked. If you examine any of Shakespasris more successful tragedies, you will find this exact equivalence; you will find that the state of mind of Lady Macbeth walking in her sleep has been communicated to you by a skilful accumulation of imagined sensory impressions, the words of Macbeth on hearing of his wife's death

strike us as if, given the sequence of events, these words were automatically released by the last event in the series. The artistic inevitalibility lies in this complete adequacy of the external to the emotion, and this is precisely which is difficient in Hemlet."

काव्य का अर्थ-बोध और उसकी प्रेषणीयता

काव्य के आस्वाद-विमर्श का व्यावहारिक पक्ष आई० ए० रिचर्ड्स की व्यावहारिक समीक्षा (Practical criticism) नामक पुस्तक में विशेष प्रणाली में व्याख्यात हुआ है। उस पुस्तक में लेखक ने अपनी सैद्धांतिक मान्यताओं को 'प्रयोग' का रूप प्रदान किया है। एक कुशल अध्यापक और गम्भीर विचारक के रूप में लेखक ने उन त्रयोदश काव्यांशों की विवेचना की है जो 'प्रोटोकोल' के रूप में विद्यार्थियों को दिये गये थे। उन पर प्रकाशित की गई विद्यार्थियों की प्रतिक्रियाओं का ध्यान रखते हुए उन्होंने उन्हीं के संदर्भ में अपने निर्णय उपस्थित किये हैं। अपनी विवेचना में उन्होंने विश्लेषण (Analysis) और व्याख्या (Interpretation) की पद्धति अपनायी है। विवेच्य काव्यांशों का विश्लेषणात्मक स्पष्टीकरण करते समय वे इस बात की ओर भी सम्यक् ध्यान दे सके हैं कि उन काव्यांशों के शब्द-प्रयोग, अर्थ-विस्तार, लय-निरूपण, वस्तु-रूप और दार्शनिक पक्ष किस स्तर के हैं तथा वे काव्य-सौष्ठव की दृष्टि से किस कोटि के कहे जा सकते हैं। उन्होंने विश्लेषण के साथ व्याख्या-पक्ष का संयोजन कर अपनी समीक्षा को अधिकाधिक सुस्पष्ट बनाने की चेष्टा की है। इस प्रकार उनके द्वारा प्रस्तुत किया गया व्यावहारिक समीक्षा का आदर्श काव्य का स्वरूप-बोध और आस्वाद-विमर्श करने की दिशा में अत्यन्त उपयोगी सिद्ध हुआ है। उस विवेचन से एक महत्त्वपूर्ण निष्कर्ष यह भी निकलता है कि किसी भी काव्य का सहृदय पाठक तब तक कवि के मानस का सही रूप नहीं समझ सकता जब तक वह काव्य के मर्म और अर्थ-बोध को सम्यक् रीत्या ग्रहण नहीं कर पाता। उनकी मान्यता है कि केवल सुयोग्य और सक्षम सहृदय सामाजिक ही कवि-मानस के साथ तादात्म्य करता हुआ काव्य-रस का आस्वादन कर सकता है। उन्होंने रस-ग्रहण की दशा में 'काव्य-पाठ' की भी उपयोगिता स्वीकार की है क्योंकि उसमें भी साधारणीकरण कराने की कला विद्यमान रहती है। काव्य की प्रेषणीयता पर बल देते हुए उन्होंने यह तथ्य विशेष रूप से स्पष्ट किया है कि उसके द्वारा ही काव्यकृतियों का भाव-संप्रेषण सहृदयजनों के सत्त्वपूर्ण मानस तक होता है जिसके मार्ग में काव्यानुरूप भाषा का प्रयोग तथा शैली का सौष्ठव आदि तत्त्व भी परम प्रयोजनीय सिद्ध होते हैं। वस्तुतः काव्य-रचना की सफलता इसी बात में है कि वह रचयिता के मनोवेगों का संप्रेषण सहृदय पाठकों के अंतःकरण तक करा सके। रिचर्ड्स का कथन है कि कवि-हृदय की संवेदनाओं की संकुल और सम्यक् व्यवस्था जब विशिष्ट भाषा के सशक्त माध्यम द्वारा सहृदय की संवेदनाओं तक प्रेषित हो जाती है तो सहृदयजन अपनी योग्यता और अभ्यासक्रिया से अपनी ऐसी मनोदशा उत्पन्न कर लेते हैं जिसमें उन्हें कवि की समानधर्मा मानसिक शांति मिलती है तथा उन्हें भी उन्हीं

भावनाओं के समन्वय और संतुलन की अनुभूति होने लगती है जो रचयिता को अपने रचनाकाल में हुई थी। इस प्रकार रिचर्ड्स महोदय ने भी प्रकारांतर से वही बात कही है जो भारतीय काव्यशास्त्र में रस-विमर्श तथा साधारणीकरण के संदर्भ में कही गई है। निश्चय ही काव्य में प्रेषणीयता का तत्त्व अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है जिसे ध्यान में रखकर गोस्वामी तुलसीदास ने भी 'कीरति भणिति भूति भल सोई। सुरसरि सम सब कर हित होई' की मान्यता प्रतिष्ठित की थी।

'रेचन-सिद्धांत' और काव्यास्वाद की प्रक्रिया

पाश्चात्य काव्य-दर्शन में विरेचन-सिद्धांत (कैथार्सिस) का सर्वप्रथम उल्लेख आचार्य अरस्तू ने अपने काव्यशास्त्र वर्णित ट्रेजैडी की परिभाषा के संदर्भ में किया है। उन्होंने ट्रेजैडी को ऐसी क्रिया का अनुकरण माना है जो गम्भीर, पूर्ण एवं विशेष प्रकार की होती है। उसकी भाषा को विविध साधनों द्वारा कलात्मक अलंकृति से विभूषित कहकर उन्होंने यह तत्त्व निर्दिष्ट किया है कि उसके 'अलंकरण' वर्णन के रूप में न होकर 'क्रिया' के रूप में उसके विभिन्न भागों में उपलब्ध होते हैं जिनका प्रयोग करुणा और भय द्वारा हमारी भावनाओं के 'रेचन' के निमित्त किया जाता है।[1] अरस्तू ने ट्रेजैडी का लक्षण निर्धारित करते हुए विरेचन-सिद्धांत का सूत्रपात अवश्य कर दिया, किंतु उसकी स्पष्ट व्याख्या नहीं की। अपने 'काव्यशास्त्र' के त्रयोदश और चतुर्दश अध्याय में भय और करुणा का संबंध ट्रेजैडी की कथावस्तु और चरित्र-विधि के साथ संयोजित कर उन्होंने इस विषय का भी विशेष स्पष्टीकरण नहीं किया कि उसका प्रभाव ग्रहण करने में विरेचन-क्रिया की क्या उपयोगिता है? हाँ, उनके राजनीतिशास्त्र विषयक ग्रंथ में एक स्थान पर इस बात का अवश्य उल्लेख हुआ है कि उग्र संगीत द्वारा मन के उद्वेग उसी प्रकार शांत किये जाते हैं जिस प्रकार बाल-शिशुओं को लोरियाँ सुना-सुनाकर तथा हिला-हिलाकर चुप किया जाता है। अरस्तू के उपर्युक्त कथन में कैथार्सिस की प्रक्रिया का संकेत मात्र है, जिसके उद्घाटन का वचन देकर भी वे या तो उसे स्पष्ट नहीं कर सके अथवा उनकी तद्विषयक विवेचित सामग्री अंधकार के गर्भ में विलीन हो गई।

रेचन-सिद्धांत का प्रयोजन और उसकी उपयोगिता

अरस्तू ने विरेचन-सिद्धांत की कल्पना काव्य-कला को आभिजात्य और औदात्य प्रदान करने की दृष्टि से की थी। उन्हें अपने आचार्य प्लेटो का यह अभिमत उचित प्रतीत नहीं हुआ कि काव्य द्वारा हमारी अनैतिक भावनाओं को उत्तेजना मिलती है

---

1. Tragedy is an imitiaton of an action that is serious complete, and of a certain magnitude, in language embellished with each kind of artistic ornament, the several kinds being found in separate parts of the play; in the form of action, not of narrative, through pity and fear effecting the proper 'Katharsis' or purgation of these emotions.

जिनके कारण समाज का अध:पतन होता है। इसमें कोई संदेह नहीं कि प्लेटो ने तद्युग-संभूत काव्य-कला का अवमूल्यन यूनान के तत्कालीन वातावरण और युवक-समाज की स्वैरवादी मनोवृत्तियों में संयम लाने के उद्देश्य से किया था, जिसके आतिरेक्यपूर्ण दृष्टि-कोण से अरस्तू सहमत नहीं हुए और उन्होंने रेचन-सिद्धांत की अवतारणा द्वारा इस तथ्य की प्रतिष्ठा करनी चाही कि श्रव्यकाव्यों के अनुशीलन एवं दृश्यकाव्यों के संप्रेक्षण से हमारी अवांछनीय वासनाओं का उत्तेजन न होकर परिष्करण होता है जिसके कारण चित्त की उद्विग्नता उपशमित हो जाती है।

यह एक उल्लेखनीय बात है कि अरस्तू ने करुणा और भय के उद्रेक और संदर्भ में जिस रेचन-सिद्धांत का बीज-वपन करते हुए काव्य-कला का गौरव प्रतिष्ठित किया था, वह दीर्घकाल-पर्यन्त अपना व्यापक प्रभाव प्रदर्शित नहीं कर सका, किन्तु शनैः शनैः उसकी काव्यगत उपयोगिता और आवश्यकता का अनुभव पाश्चात्य विद्वद्वर्ग द्वारा किया जाने लगा। उनके परवर्ती विचारकों और काव्य-समीक्षकों ने इस रहस्य के उद्घाटन की चेष्टा की कि काव्य-वर्णित करुणा और भय की भावनाओं का हमारी चित्त-शुद्धि के साथ क्या सम्बन्ध है और वे हमारे चित्त में विक्षेप उत्पन्न करने के स्थान पर उसे किस प्रकार का परिमार्जन अथवा परिष्कार प्रदान करती हैं। यद्यपि उनका यह विवेचन पाश्चात्य तत्त्वदृष्टि से निरूपित हुआ है, तथापि उसमें विश्वजनीन सत्य के वे अंश भी समाविष्ट हैं जिनकी संसिद्धि भारतीय आचार्यों ने करुणादि भावों द्वारा विगलित रस-संवेदना की विशेष प्रकार की दार्शनिक प्रतिपत्तियों के आधार पर की थी। व्यावहारिक दृष्टि से इस प्रकार की विचारणा अनिवार्य भी थी, क्योंकि साधारणतया करुणा, भय और दुःख की भावनाओं के प्रति हमारी अभिरुचि नहीं होती, किन्तु वे प्रतिकूल वेदनाएँ जब काव्य-कृतियों के रूप में आकार धारण कर लेती हैं तो हम उन्हें स्वसंवेद्यता और भाव-ग्राह्यता प्रदान कर ही देते हैं। कहने की आवश्यकता नहीं कि रसोन्मीलन की विवेचना करते हुए भारतीय आचार्यों ने साधारणीकरण अथवा विभावन-व्यापार की कल्पना करते हुए उसकी आनन्दरूपता का प्रतिपादन करने में अपनी वैशिष्ट्यपूर्ण तर्कनाएँ प्रस्तुत की थीं तो रेचन-सिद्धांत के विवेचकों ने उन्हें अपनी विचार-प्रणाली से नियोजित करने का प्रयास किया। इस सिद्धांत के विचारकों के सम्मुख भी यह प्रश्न उपस्थित रहा कि रेचन-क्रिया द्वारा हमारी भावनाओं का जो परिशोधन होता है वह व्यक्तिनिष्ठ है अथवा वस्तुनिष्ठ? विद्वानों के एक वर्ग ने व्यक्ति के 'रेचन' का महत्त्व स्वीकार कर ट्रेजैडी की विशिष्ट उपादेयता सिद्ध की तो दूसरे वर्ग ने इस मान्यता पर विशेष बल दिया कि विरेचन-क्रिया द्वारा हमारी भावनाओं का परिष्कार एवं उदात्ती-करण तो अवश्य होता है, किन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि वे सर्वथा विलुप्त किंवा विनष्ट हो जाती हैं। उनका वह विश्लेषण आचारशास्त्र और मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया में भी अभिव्यक्त हुआ है जिसके अनुचिंतन द्वारा हमें काव्य की प्रभाव-व्यंजना और आस्वाद-विधि के विषय में अनेक प्रकार के महत्त्वपूर्ण तथ्य उपलब्ध होते हैं।

अरस्तू का मूल दृष्टिकोण

प्राप्त सामग्री की अत्यल्पतावश यह निर्णय करना तो कठिन है कि आचार्य अरस्तू का विरेचन-सिद्धांत के प्रति क्या मौलिक दृष्टिकोण था, फिर भी यह एक स्पष्ट बात है कि उन्होंने इस सिद्धांत की अवतारणा द्वारा काव्यास्वाद की प्रक्रिया का प्रबोध कराने के लिए महत्त्वपूर्ण सूत्र का विन्यास अवश्य कर दिया। उनके मूल मंतव्य की अवगति की दिशा में विद्वानों ने विभिन्न प्रयत्न किये हैं, जिनमें भेदमूलकता होते हुए भी वे उपेक्षणीय नहीं हैं। सोलहवीं शताब्दी के जर्मन तथा इतालवी विद्वानों ने स्टोइक दर्शन का आधार लेकर विरेचन-सिद्धान्त की प्रक्रिया को एक विचित्र तर्क पर उपन्यस्त किया है। उनका कथन है कि त्रासद काव्यों के पठन-पाठन अथवा निरीक्षण-परीक्षण के निरंतर अभ्यास से हमारा मन इतना कठोर और सुदृढ हो जाता है कि हमें अपने वास्तविक जीवन में भय और करुणा के भाव उद्विग्न और उद्वेलित नहीं कर पाते और यही रेचन-क्रिया का मूल रहस्य है। अपनी मान्यता को व्यावहारिकता प्रदान करने के उद्देश्य से उन्होंने उन परिचारकों और डॉक्टरों को उदाहृत किया है जो औषधालयों में रोगियों की परिचर्या करते-करते क्लेश और पीड़ा जैसे प्रतिकूल भावों से इतने अधिक अभ्यस्त हो जाते हैं कि उन्हें बीभत्स दृश्यों के अवलोकन से भी किसी प्रकार की ग्लानि अथवा आतुरता का अनुभव नहीं होता। विद्वानों का यह विवेचन विरेचन-क्रिया की तत्त्वोपलब्धि की दिशा में एक प्रारम्भिक प्रयत्न मात्र अवश्य था, किन्तु उसका संयोजन काव्यानुभूति के साथ कहाँ तक उपयुक्त और समीचीन हो सकता है, यह अद्यावधि विचारणा का विषय है। ऐसी स्थिति में हम उनके प्रयास की प्रशंसा करते हुए भी उनकी मान्यता को काव्य-क्षेत्र की विरेचन-प्रक्रिया के स्पष्टीकरण में असमर्थ ही पाते हैं।

रेचन-सिद्धांत विषयक विभिन्न अभिमत

विरेचन-सिद्धांत की विवेचना को एक अन्य रूप में उपस्थित करते हुए विद्वानों ने लिखा है कि त्रासद काव्यों के अनुशीलन द्वारा मन को कठोर बनाने का जो तर्क प्रस्तुत किया जाता है, वह उचित नहीं है, क्योंकि उनके आस्वादन से मन में कठोरता का भाव उत्पन्न न होकर शांति और संतुलन का संचार होता है। वस्तुतः करुण-काव्यों की अभिव्यंजना में एक ऐसी शक्ति सन्निहित रहती है जो हमारे चित्त की उद्विग्नता का परिशमन कर उसे स्वस्थ, परिष्कृत और व्यवस्थित बना देती है। इन विचारकों ने चिकित्सा-शास्त्र का आधार लेकर काव्यास्वादगत रेचन-प्रक्रिया का स्पष्टीकरण किया है। उनका मत है कि जिस प्रकार औषधि द्वारा 'रेचन' कराते हुए शरीर के विकार बाहर निकाल दिये जाते हैं, उसी प्रकार ट्रेजैडी जैसे करुण-काव्य भी उसके आस्वादयिताओं के मन से करुणा और भय आदि दुःखद भावों का निष्कासन कर उन्हें शान्तचित्त बना देते हैं जिसके कारण वे एक प्रकार के सुख का अनुभव करने लगते हैं। इस प्रकार के विवेचक 'एलोपैथिक' पद्धति का आधार लेकर चलते हैं, जबकि होमियोपैथिक चिकित्सा-प्रणाली का अनुगमन करने वाले विचारकों का अभिमत है कि जिस प्रकार

उस पद्धति में औषधियाँ द्वारा रोगों के अनुग्र लक्षण उत्पन्न करके उग्र लक्षणों का नियंत्रण किया जाता है, उसी प्रकार करुण काव्यों की परिसेवना से करुणा और भय के दुःखजनक उग्र भावों का परिशमन और संयमन होता है। इन विवेचकों की मान्यताओं को मनोवैज्ञानिक भूमिका पर अधिष्ठित करते हुए फ्रायड, एडलर और जुंग आदि मनोविश्लेषणवादियों ने अपने-अपने स्वतंत्र तर्क भी उपस्थित किये हैं। वस्तुतः रेचन-क्रिया के माध्यम से विवेचित किये जाने वाले काव्यप्रभाव और काव्यास्वाद का क्षेत्र इतना अधिक विस्तृत और व्यापक बन गया है कि उसकी जटिलताओं के निराकरण के लिए स्वतंत्र शोध-कृति की आवश्यकता है। अपने अनुसंधान-कार्य की सीमा और मर्यादा का विचार कर हम यहाँ पर उसका संकेतमात्र ही कर सकते हैं।

रेचन-सिद्धांत की सीमाएँ

रेचन-सिद्धांत की भैषज्यमूलक विवेचना के विपक्ष में अनेक प्रकार के तर्क प्रस्तुत किये जाते हैं। जहाँ तक शरीरविज्ञान और चिकित्सा-शास्त्र का प्रश्न है, शारीरिक रुग्णता के निवारणार्थ रेचन-क्रिया की निश्चित उपयोगिता है, किन्तु प्रश्न यह है कि काव्यास्वाद की विवेचना में उसकी नियोजना कहाँ तक उचित है? वस्तुतः शरीर और मन का अंतर्सम्बन्ध होते हुए भी यह नहीं कहा जा सकता कि दोनों की स्वस्थता और परिशुद्धि का एक ही प्रतिमान संभव है, क्योंकि यदि ऐसा होता तो मन के सूक्ष्म रहस्यों का अनुसंधान करने में चिकित्सा-शास्त्र भी सफल हो सकता था। चूंकि काव्य का क्षेत्र मुख्यतः हमारे मनोमय कोश का क्षेत्र है, अतः उसकी प्रभाव-विवेचना में भैषज्य-मूलक रेचन-प्रक्रिया का प्रयोग समुचित नहीं कहा जा सकता। सच पूछा जाय तो त्रासद काव्य न तो हमारे रोगों की औषधि है और न प्रेक्षाग्रह ही किसी प्रकार के औषधालय हैं जहाँ हम अपने रोगों की चिकित्सा के लिए जाते हैं। काव्य के प्रयोजन की आनन्द-मूलकता का रहस्य-बोध करना एक गुरुतर कार्य है, अतः यदि किसी को काव्यास्वाद की विवेचना के संदर्भ में 'रेचन-क्रिया' का प्रयोग पारिभाषिक पदावली के रूप में अभीष्ट हो, तो भी उसकी विचार-दृष्टि को तो मानव-मनोविज्ञान और सौन्दर्यमूलक काव्य-शास्त्रीय धरातल प्रदान करना ही पड़ेगा।

रेचन-सिद्धांत का पुनराख्यान

रेचन-सिद्धांत की आवश्यकता और उपयोगिता के विषय में आचार्य अरस्तू का चाहे कुछ भी मंतव्य रहा हो, किन्तु आधुनिक युग में उसका जो पुनराख्यान किया जा रहा है, वह उन यवनाचार्य की मान्यताओं से कदाचित् पृथक् होने पर भी महान् है। आधुनिक विचारकों का अभिमत है कि करुणा और भय के दुःखात्मक भाव निश्चय ही अपने प्रकृत और व्यावहारिक रूप में कष्टप्रद और उद्वेगजनक होते हैं, किन्तु जब उन्हें काव्यार्थगत रूप प्रदान कर दिया जाता है तो वे क्लेशकर नहीं रहते तथा हमारे मनो-भावों का परिष्कार करने वाले बन जाते हैं। दुःखात्मक भावों की इस प्रकार की स्थिति का हेतु विरेचन-सिद्धांत ही है क्योंकि उसी के कारण हमारी भावनाएँ 'स्व' और 'पर'

की स्वार्थमयी प्रवृत्तियों से पृथक् होकर अपने निर्वैयक्तिक और सार्वभौम रूप में प्रकट होती हैं। उस स्थिति तक पहुँचने में काव्य के आस्वादयिता को काव्यार्थ-प्रतीति के साथ-साथ अपने हृदय को ऐसी सामान्य दशा में लाना पड़ता है जिसमें वह उद्वेगजनक भावों की भी सुखानुभूति कर सके। प्रो० आई० ए० रिचर्ड्स ने अपने मूल्यांकनवादी दृष्टिकोण से काव्यकला की व्याख्या करते हुए इस बात का स्पष्ट उल्लेख किया है कि कलाओं का मूल प्रयोजन मन के विरोधी भावों और आवेगों को संतुलन और सुव्यवस्था प्रदान करना है, अतः त्रासद काव्यों में करुणा और भय जैसे विरोधी भाव यदि समन्वित होते हुए चलते हैं तो उनसे यही निष्कर्ष निकालना समुचित है कि उनकी प्रकृष्ट योजना में रेचन-क्रिया ही कार्य करती हुई चल रही है। अभिप्राय यह है कि आधुनिक पाश्चात्य समीक्षकों ने रेचन-सिद्धांत को व्यापक धरातल पर अधिष्ठित करने की चेष्टा की है और वे तो यहाँ तक मानने लगे हैं कि रेचन-क्रिया का प्रयोजन केवल करुणा और भय जैसे विरोधी और अवांछनीय भावों का ही परिष्कार और नियंत्रण करना नहीं है अपितु उसके द्वारा क्रोध, लोभ तथा अन्य उद्दाम आकांक्षाओं का भी परिशमन होता है। प्रो० एफ० एल० लूकस जैसे आंग्ल विद्वान् भले ही यह मानकर चलें कि रेचन-क्रिया हमारे अवांछनीय भावों का उपशमन न कर उनका उद्दीपन करती है, किंतु काव्य के आस्वाद को विशुद्ध सात्विक भाव में ग्रहण करने के कारण हमें तो उन भाववादी समीक्षकों का अभिमत ही अधिक समीचीन प्रतीत होता है जो काव्य के नैतिक पक्ष में विश्वास रखकर रेचन-सिद्धांत का औदात्य स्वीकार करते हैं। इस विषय में ड्राइडन, रेपिन, स्टील, एडिसन और डा० जानसन के विचार भी अत्यंत गुरुगम्भीर और पठनीय हैं।

आचार्य अरस्तू ने रेचन-सिद्धांत का उल्लेख विशेषतः ट्रेजैडी के प्रसंग में किया था, किन्तु मनुष्य की ज्ञान-गरिमा के विकास तथा काव्य-रूपों के वैविध्य के कारण उसका भी क्रमशः क्षेत्र-विस्तार होता गया। जिस प्रकार भाववादी समीक्षकों ने रेचन-क्रिया का प्रयोग भय तथा करुणेतर भावनाओं के परिशोधन तथा संयमन के संदर्भ में किया, उसी प्रकार आधुनिक विचारकों ने उसे केवल ट्रेजैडी-पर्यन्त ही सीमित रखना उचित नहीं समझा। इन विद्वानों ने अरस्तू द्वारा विवेचित ट्रेजैडी को काव्य की एक विशेष श्रेणी न मानकर काव्य का सर्वोत्कृष्ट विधान तथा आदर्श स्वीकार करते हुए इस मतवाद का समर्थन किया कि अरस्तू का ट्रेजैडी विषयक दृष्टिकोण श्रेष्ठ काव्य का ही उपलक्षण है, अतः तथाकथित दुःखांत काव्यों में ही रेचन-सिद्धांत की नियोजना न की जाकर काव्यमात्र में उसका संघटन किया जाना चाहिए। इन विद्वानों ने कामद काव्यों की विवेचना में भी रेचन-सिद्धांत की उपयोगिता और आवश्यकता सिद्ध की और बतलाया कि साधारणतया कामद काव्य हास्यास्पद और अपूर्ण क्रिया का अनुकरण कहा जाता है किन्तु उसका प्रयोजन भी हास्य और आनन्द द्वारा तत्सम्बन्धी भावनाओं का 'रेचन' करना ही होता है। कामद काव्यों में प्रयुक्त रेचन-क्रिया का स्पष्टीकरण करने के लिए इन्होंने अपने तर्कबल पर इस सिद्धान्त की प्रतिष्ठा करनी चाही कि हास्य द्वारा ईर्ष्या का विनाश और मन की शुद्धि होती है जो कामद काव्यों की रेचन-क्रिया का ही परिणाम है। इन्होंने अनेकानेक प्रमाण उपस्थित कर यह तथ्य भी निरूपित किया कि

अरस्तू ने गम्भीर चिंतन को महत्त्व देने के कारण ही हास्य को सशंक दृष्टि से देखा था जिसके फलस्वरूप वे ट्रेजैडी को महान् और कामेडी को हीन काव्य समझते थे। प्लेटो का तो काव्यमात्र के प्रति दुराग्रहभाव था, अतः उन्हें न तो करुणा और भयमिश्रित ट्रेजैडी ही स्वीकार्य प्रतीत हुई और न हास्य और मनोरंजन-गर्भित कामेडी ही अनुकूल लगी। उन्होंने अनेक तर्क उपस्थित कर द्विविध काव्यों की अवांछनीयता सिद्ध की है जो उस युग-धर्म की पृष्ठभूमि में ही नियोजित समझी जानी चाहिए।

काव्यास्वाद की प्रक्रिया में रेचन-सिद्धांत का महत्त्व

अरस्तू द्वारा प्रतिपादित रेचन-सिद्धांत का विवेचन पाश्चात्य काव्यशास्त्र का एक प्रमुख आधारस्तम्भ है। उनका अनुकरण-सिद्धांत जिस प्रकार काव्य-सर्जना का रहस्य उद्घाटित करने की दिशा में उपादेय है, उसी प्रकार उनका रेचन-सिद्धांत काव्य-रचना के प्रभावों और उसकी आस्वाद-प्रक्रियाओं को स्पष्ट करने के लिए उपयोगी है। रेचन-सिद्धान्त की महत्ता सभी प्रकार के काव्यमीमांसकों को किसी न किसी रूप में स्वीकार्य रही है। प्रसिद्ध मनोविश्लेषणवादी विचारक डा० फ्रायड ने अचेतन और अवचेतन मन में दमित काम-वासनाओं से अनेकानेक मानसिक उपद्रवों की सृष्टि का उल्लेख कर उनका प्रतिकार उनके उपभोग तथा उदात्तीकरण की क्रियाओं में जिस विधि से प्रतिपादित किया है, वह भी एक प्रकार से रेचन-सिद्धांत का ही समर्थन है। उन्होंने काव्य को काम-वासना के उदात्तीकरण और रेचन का माध्यम स्वीकार कर अपनी विवेचना द्वारा इस सत्य की ओर भी इंगित किया है कि विश्व के काव्य-साहित्य में सौन्दर्य-वर्णन और शृंगार-चित्रण का बाहुल्य एक प्रकार से काम-वासनाओं का ही प्रकाशन है जिन्हें यदि हम चाहें तो रेचन-सिद्धांत की प्रक्रिया द्वारा इस रूप में विवेचित कर सकते हैं कि उन्हें विशुद्ध सात्विक भाव में ग्रहण करते हुए काव्य के अनुशीलन और आस्वादन द्वारा अपनी काम-वासनाओं का परिष्कार किया जाय जिसके कारण काम-प्रवृत्ति का वेग मंद हो सके। फ्रायड से भिन्न मान्यता रखने वाले डा० जुंग ने भी अपने अंतश्चेतनावादी दृष्टिकोण से काव्य और पुरावृत्त (मिथ) को समकक्षता प्रदान करते हुए यही बात सिद्ध करनी चाही है कि जिस प्रकार स्वप्न और पुरावृत्त मानव-मन की अनादि-काल से संचित सामूहिक अचेतन भावनाओं का प्रकाशन है उसी प्रकार काव्य में भी उसी प्रकार की अप्रतिहत जीवन-शक्ति प्रवाहित रहती है जिसका सदुपयोग रेचन-क्रिया द्वारा उसे संयमित और नियंत्रित करने पर ही किया जा सकता है। इस प्रकार रेचन-सिद्धांत का प्रयोग पाश्चात्य काव्य-समीक्षा के जगत् में सभी कालों में किसी न किसी रूप में किया जाता रहा है जिसका उल्लेख किये बिना काव्यास्वाद की पाश्चात्य-प्रक्रिया अपूर्ण ही मानी जायगी।

काव्यास्वाद और पाठक की अभिरुचि

काव्य के रसास्वादन की विवेचना में एक सामान्य पाठक की अभिरुचि का भी अत्यन्त महत्त्व है। इसका कारण यह है कि काव्य का रसास्वादन करते समय वह

जितना अधिक तटस्थ और पूर्वाग्रहविहीन रह सकता है उतना एक बहुअधीत तथा तर्कशील व्यक्ति नहीं रह सकता। ऐसे सामान्य शिक्षित व्यक्ति के सम्मुख न तो काव्य-विमर्श की जटिल समस्याएँ ही उपस्थित होती हैं और न वह मूल्यांकन की विविध पद्धतियों में ही उलझता है। उसके लिए काव्य-सर्जना और काव्यास्वाद मानव-मन की सहज वृत्तियों के अभिव्यंजन और आह्लाद के विषय हैं जिन्हें नैसर्गिक उत्साह-भावना में ही ग्रहण करना उसे अधिक युक्तिसंगत प्रतीत होता है। उसका यह दृष्टिकोण काव्य के साथ-साथ काव्येतर साहित्य-विधाओं के अध्ययन और अनुशीलन में भी प्रयुक्त होता है। सच तो यह है कि उपर्युक्त श्रेणी का सामान्य पाठक ही साहित्यिक लोक-अभिरुचि का स्रष्टा कहा जा सकता है। साहित्य के अनेक गम्भीर समीक्षकों ने भी सामान्य पाठक की योग्यता, अभिरुचि और महत्ता के सम्बन्ध में अपने जो विचार व्यक्त किये हैं, वे अत्यंत महत्त्वपूर्ण हैं। डा० जॉनसन, वर्जिनिया उल्फ तथा शूकिंग आदि पाश्चात्य विद्वानों ने सामान्य पाठक (Common Reader) तथा लोक-अभिरुचि के पारस्परिक संगठन के विषय में ऐसे अनेक उल्लेखनीय तथ्य उद्‌घाटित किये हैं जिनका काव्य-कृति के वास्तविक मूल्यांकन से घनिष्ठ सम्बन्ध है। युग-जीवन और युग-धर्म के संचालन में सामान्य जनता की मनोवृत्ति से जिस प्रकार का सहयोग प्राप्त होता है, वैसा ही सहयोग काव्य-प्रवृत्ति के उन्नयन में सामान्य पाठक की अभिरुचि से भी उपलब्ध हो सकता है। इसमें कोई संदेह नहीं कि काव्य-परम्परा केवल सामान्य पाठक की लोकाभिरुचि से ही निर्देश नहीं प्राप्त करती, किन्तु काव्य-समीक्षा के भव्य विधान में लोक-रुचि तथा सामान्य पाठक का भी अभीष्ट महत्त्व रहता अवश्य है। इस प्रकार का दृष्टिकोण रखने वाले आलोचकों ने उचित ही कहा है कि जिस प्रकार किसी युद्ध में आत्मोत्सर्ग करने वाले वीरों की समाधि में अज्ञातनाम सैनिक का प्रथम स्मारक अनाख्यात होने पर भी उपेक्षणीय नहीं होता, उसी प्रकार किसी काव्यकृति के मूल्यांकन में सामान्य पाठक तथा तत्संभूत लोकाभिरुचि का गौरव भी अक्षुण्ण रहता है। विवेकशील साहित्य-समीक्षक का कर्तव्य है कि वह अपने ज्ञान के घटाटोप में सामान्य पाठक की रुचि-रश्मियों को आच्छादित न करे क्योंकि साहित्य का लोक-व्यवहृत स्वरूप तो केवल सामान्य पाठक ही उद्‌घाटित कर सकता है। लोक-रुचि और सामान्य पाठक से भी जहाँ एक ओर काव्य-सर्जना को बहुविध प्रेरणाएँ मिली हैं, वहाँ दूसरी ओर काव्य के आस्वाद-विमर्श में भी वे अनेक प्रकार के उपकरण जुटाते रहे हैं। इस विषय में अधिक लिखना उचित न समझकर हम डा० जॉनसन के उस कथन को उद्धृत करना पर्याप्त समझते हैं जिसमें उन्होंने काव्यास्वाद-विमर्शक के रूप में सामान्य पाठक की महत्ता निरूपित की है—

"In the character of his Elegy I rejoice to concur with the Common reader, for by the common sense of readers uncorrupted with literary prejudices, after all the refinements of subtlety and the dogmatism of learning, must be finally decided all claim to poetical honours."

काव्यास्वाद के लिए सहृदय पाठक की आस्था अनिवार्य है

काव्यास्वाद की प्रक्रिया में सहृदय पाठक की आस्था का विवेचन करना भी आवश्यक है। इसका अभिप्राय यह है कि जब तक काव्य-रसिक के मन में पाठ्यमान रचना के प्रति आस्था उत्पन्न नहीं होती तब तक वह उसका प्रकृत रसास्वादन नहीं कर सकता। आस्था का मूल सम्बन्ध हमारी रागात्मक वृत्तियों से होता है जिनके संवेदनापूर्ण क्षेत्र में विशुद्ध तर्क के लिए कोई स्थान नहीं है। जब हम सहृदय पाठक के रूप में किसी काव्य-कृति का अध्ययन करते हैं तो हमारा दृष्टिकोण इस विषय का आकलन करना होता है कि उसमें कवि ने अपना मानसिक संस्थान किस रूप में प्रतिष्ठित किया है। हम अपने जीवन में चाहे कितने ही शुष्क मीमांसक अथवा कठोर तर्कवादी हों, किंतु काव्य-भूमिका में प्रविष्ट होते ही हमें अपने ज्ञान के दम्भ का परित्याग उसी रूप में करना पड़ता है जिस रूप में अतीतकालीन तपोवनों में प्रविष्ट होते समय बड़े-बड़े सम्राटों को मृगया आदि क्रीड़ा-कौतुकों का विसर्जन करना पड़ता था। किसी भी आस्वाद्यमान रचना में प्रतिपादित सिद्धांतों और जीवन-मूल्यों के प्रति हमारा मतभेद हो सकता है किन्तु जब हम उसकी रसानुभूति की वेला में आनन्दमग्न होते हैं तो उस समय हमारी आस्था ही प्रमुख आधार बनकर उपस्थित होती है। आस्था के कारण प्राचीन काव्यों की आस्वाद्यता चिरनवीन बनी हुई है। आज के वैज्ञानिक और भौतिकवादी युग में न तो परम्परागत रूढ़ियों के लिए ही विशेष स्थान रहा है और न पुराणाख्यानों (माइथोलोजी) के प्रति ही श्रद्धा रही है किन्तु जब हम रामायण, महाभारत आदि पुराण-काव्यों का अध्ययन करते हैं अथवा डिवाइन कामेडी और 'पैराडाइज लॉस्ट' जैसे ग्रन्थों के रस में तल्लीन होते हैं तो हमें उनमें वर्णित देवचरित्रों अथवा लोकोत्तर घटनाओं के प्रति आस्थावान बनना ही पड़ता है, क्योंकि आस्था के अभाव में हम उनका आनंद प्राप्त कर ही नहीं सकते। वस्तुतः आस्था के क्षण ही आनंद के क्षण हैं और आस्था का प्रश्न स्थूल तथ्यपरकता और वैज्ञानिक परीक्षण से उतना सम्बद्ध नहीं होता जितना हमारे जीवन की रागात्मक प्रवृत्तियों और सम्भावनाओं से सम्बद्ध रहता है। मानव-मन की सहज वृत्ति के रूप में आस्था की अमरता पर विश्वास रखकर जब किसी कृति का अनुशीलन किया जाता है तो वह निश्चय ही रस-संवेद्य बन जाती है। काव्य की भावभूमि में संचरित होने वाले आस्था के चरण ही उसके परम प्रयोजन अथवा चरम साध्य तक पहुँच सकते हैं। यदि ऐसा न होता तो प्राचीन कवियों की रस-सरिता में अवगाहन करने के लिए आज के शुष्क-बुद्धि मनुष्य किस प्रकार लालायित हो पाते? काव्यगत आस्था अथवा विश्वास का आधार हमारी भावनाओं में सन्निहित रहता है क्योंकि जो बातें हमारी भावनाओं को संतोषप्रद प्रतीत होती हैं, वे ही आस्थामयी बनकर हमें आनंद प्रदान कर सकती हैं। संभावित असम्भवता को असंभावित सम्भवता से अधिक सुग्राह्य कहते हुए आचार्य अरस्तू ने जीवन में आस्था के महत्त्व की ओर ही संकेत किया था।

निष्कर्ष और निर्णय

आधुनिक युग की नवचेतना और वैज्ञानिक दृष्टि ने काव्य-सर्जना और काव्यास्वाद के दृष्टिकोण को ही परिवर्तित कर दिया है। अब वह समय नहीं रहा जब काव्यकला को विशुद्ध रागात्मक तत्त्व के प्रतिमान से ही परीक्षित किया जाय, क्योंकि ज्ञान-विज्ञान की विविध शाखा-प्रशाखाओं में संवृद्धि तथा भौतिक मान्यताओं में नित्य-नूतन बनकर उपस्थित होने वाले प्रतिमान मनुष्यों की अभिरुचि और विचार-प्रवृत्तियों में अनेक प्रकार के जटिल और दुर्बोध प्रश्न उत्पन्न कर रहे हैं जिनके मूल में अद्यतन युग का जीवन-संघर्ष और दो विरोधमूलक विचारों का असंतुलन अंतर्निहित है। ऐसा प्रतीत होता है कि कला और उपयोगिता तथा पार्थिवता और आध्यात्मिकता के विपुल सम्प्रदाय अपने-अपने अस्तित्व की स्वतंत्र उद्घोषणा करते हुए एक-दूसरे पर अपनी प्रभुसत्ता स्थापित करने की दिशा में बद्धपरिकर हैं, जिनके आतंक से काव्य-सर्जना की रसग्राह्य संवेदनाएँ मूर्च्छित हो रही हैं। विचारकों का एक विशेष वर्ग काव्य को मनुष्य की आदिम प्रवृत्तियों का प्रतीक-मात्र कहकर उसे आधुनिक विकास की भूमिका पर अधिष्ठित ही नहीं होने देता जिसका एक दुष्परिणाम यह हुआ है कि मनुष्य की रागमयी सहजानुभूति पर एक प्रकार का प्रश्नवाचक चिह्न-सा लग गया है और यदि किसी के मानस में काव्य के प्रति अनुराग भी बना हुआ है तो वह तथाकथित बौद्धिक चेतना से उत्पीड़ित होकर काव्य के नाम पर ऐसी कृतियों का सर्जन कर रहा है जिनमें हमारी मौलिक चेतना का संस्पर्श करने की समार्थ्य नहीं है। काव्य-सर्जना के क्षेत्र में उद्भूत किये जाने वाले इन विचार-पक्षों के सम्मुख काव्य की लोकोत्तरता का मानदंड केवल कपोल-कल्पना अथवा दिवास्वप्न-मात्र है जिसका एक प्रत्यक्ष प्रमाण हम उन काव्य-कृतियों के कलेवर में उपलब्ध कर सकते हैं जो नवचेतना की उपज कही जाकर पश्चिमी जगत् की छाया में अपना प्रभाव प्रदर्शित कर रही है तथा जिनकी हिलोरें भारतीय काव्य-सिन्धु की अगाधता को भी आन्दोलित करने की दिशा में किसी से पश्चगामी नहीं हैं। काव्य-सर्जना के प्रति बने हुए इस प्रकार के परिवर्तित दृष्टिकोण ने काव्य-समीक्षा और काव्यास्वाद की प्रक्रियाओं में भी उल्लेखनीय अन्तर ला दिया है जिसके फलस्वरूप यह कहा जाने लगा है कि प्राचीन काव्य-समीक्षा के सिद्धान्तों में अब वह शक्ति नहीं रही जो वर्तमान जीवन के साथ पद-संचालन करते हुए नवीन काव्य-सर्जना और काव्यास्वाद की विवेचना कर सके। संभव है, इस प्रकार की मान्यताओं में आधुनिक दृष्टि के कारण युग-सत्य के भी कतिपय अंश विद्यमान हों, किन्तु काव्य-सर्जना और काव्यास्वाद की शाश्वत एवं चिरंतन प्रवृत्तियों को बिना किसी ठोस आधार के नगण्य सिद्ध करने की चेष्टा हमें बुद्धिग्राह्य प्रतीत नहीं होती, क्योंकि परम्परा के प्रति जड़-मोह न रखते हुए भी उसे हम प्रगति का अन्तराय न समझकर उत्प्रेरक ही मानते हैं।

काव्य-सर्जना और काव्यास्वाद की रूप-विवेचना के प्रसंग में एक बड़ा प्रमाद यह भी हो रहा है कि उन्हें उन मौलिक सत्यों से व्याख्यात करने की चेष्टा नहीं की जाती जिनसे उत्प्रेरित होकर काव्य-स्रष्टा और काव्य-भावक अपना सहज आत्मप्रसार

करते हैं। हम यह स्वीकार करते हैं कि काव्य-दर्शन का एक सैद्धांतिक और शास्त्रीय पक्ष भी है, किन्तु इस सत्य की उपेक्षा करना भी युक्तिसंगत नहीं समझते कि 'शास्त्र' और 'सिद्धांत-चर्चा' को केवल एक विशेष युग की मान्यताओं में ही जर्जरित होने दिया जाय। इसका यह अभिप्राय नहीं कि भारतीय तथा पाश्चात्य काव्यशास्त्र के तथाकथित प्राचीन प्रतिमान और काव्यतत्त्वों में आधुनिक युग-चेतना के भार-वहन की शक्ति का सर्वथा अभाव हो गया है जिसके कारण उनकी कोई उपयोगिता ही नहीं रह गई है। सच तो यह है कि शास्त्र और सिद्धांत मनुष्य के विवेक-वारिधि के सुधा-सीकर हैं जिनकी उपलब्धि के लिए उसे महती तपस्या करनी पड़ती है, किन्तु उन्हें जीवन की प्रगति और प्रवहमानता के साथ सतत संचरणशील बनाये रखने की भी परम आवश्यकता है। जब हम काव्य को मानव-संवेदना का कलात्मक अभिव्यंजन स्वीकार करते हैं तो उसके अनंत प्रसार में तत्संबद्ध भावनाओं और कल्पनाओं की प्रभूत रत्नराशि का उद्वेलन भी तो तरंगायित रहता है, अतः उसकी उपेक्षा करते हुए काव्य-सर्जना और काव्यास्वाद का विवेचन-पक्ष किस प्रकार अपनी सार्थकता सिद्ध कर सकता है? ऐसी स्थिति में मेरी मान्यता तो यही है कि जीवन-संवेदनाओं की गंगोत्री से ही काव्यधारा का सैद्धांतिक प्रवाह सतत उच्छलित होता हुआ चले जिससे काव्य-दर्शन के व्यावहारिक और शास्त्रीय पक्षों में अन्तर्विरोध की स्थिति ही उत्पन्न न हो। भारतीय काव्य-मीमांसकों ने इस सत्य का महत्त्व समझा था, तभी तो उन्होंने वाक्शक्ति का महत्त्व निरूपित करते हुए कवि-भारती को चिर-नवीन और नवनवोन्मेषशालिनी प्रज्ञा का प्रकाशन कहकर उसकी अभ्यर्थना की थी। खेद है कि भारतीय तत्त्व-चिन्तकों की मूल दृष्टि का प्रत्यक्ष अवबोध करने के असामर्थ्यवश उसके प्रति जिस प्रकार का पल्लवग्राही पांडित्य प्रदर्शित किया जा रहा है, वह भारतीय ज्ञान-गरिमा की अतुल अगाधता पर प्रश्नवाचक चिह्न लगाने वाला है।

भारतीय दृष्टि के आलोक में काव्य के रूप-सर्जन और रसास्वाद की विभिन्न प्रक्रियाओं की शास्त्रीय विवेचना करने के पश्चात् हम इसी निर्णय पर पहुँचते हैं कि यहाँ के तत्त्वचिन्तकों ने काव्य की शब्दार्थमयी साधना का विमर्श करते-करते अंततोगत्वा 'रस और ध्वनि-सिद्धांत' की अवतारणा में ही उसका चरम साध्य निरूपित करना श्रेयस्कर समझा था। यदि हम चाहें तो 'रस' और 'ध्वनि' के पार्थक्य में विश्वास न रखकर 'रसध्वनि' को ही काव्य-सर्जना और काव्यास्वाद का आत्मतत्त्व कह सकते हैं। रस और ध्वनि के विषय में भारतीय विद्वानों की धारणाएँ कितनी उदात्त और व्यापक थीं, इसका विश्लेषण 'रसो वै सः' तथा स्फोट-सिद्धांत की भूमिका में किया जा चुका है। हमारा तो अब भी यह विश्वास बना हुआ है कि रस और ध्वनि-सिद्धांत की अवधारणा में विश्व-काव्य के चिरंतन, शाश्वत और सतत विकासशील रहस्य को उद्घाटित करने की सहज क्षमता है। रसानुभूति की जीवनगत अन्तर्व्याप्ति में काव्यजगत् के विविध मतवाद स्वतः समाहित हो जाते हैं क्योंकि भारतीय आचार्यों ने उनका सृष्टि-विधान कुछ ऐसी ही वैचित्र्यमयी विधि से किया है। 'स्वसंवित्', 'आत्मविश्रांति', 'तन्मयीभवन' और 'साधारणीकरण' आदि पारिभाषिक पदावलियों को आधार बनाकर जिस प्रकार

का शास्त्रीय विवेचन भारतीय आचार्यों ने प्रस्तुत किया है, वह देशकाल की सीमाओं से परे और त्रैलोक्यव्याप्त सिद्धांतों की भूमिका में प्रतिष्ठित है। काव्य की आज तक जितनी भी परिभाषाएँ की गई हैं, उन सब में 'रस' की व्याप्ति किसी न किसी रूप में अवश्यमेव विद्यमान रही है। सच तो यह है कि भारतीय दार्शनिकों ने विश्वात्मा की सृष्टि को आनंददायिनी कहकर उसकी विविधता में एकरूपता तथा अनेकता में अद्वैतता का जो अन्तर्सूत्र अन्वेषित किया है वह काव्य-सर्जना और काव्यास्वाद की प्रक्रियाओं पर भी घटित होता है। आज की संघर्षमयी भौतिकता के युग में भले ही उनकी अतीतकालीन गरिमा और कांति लघीयसी और धूमिल हो गई हो, किन्तु जीवन-चेतना की अनंत व्याप्ति में काव्य का वही पक्ष अभिनंद्य और वरेण्य है जिसका प्रवाह श्रेय और प्रेय के उभयविध पुलिनों में आन्दोलित होता हुआ चला है। जीवन की अनंतता और व्यापकता की भाँति काव्य-कृतियों में भी अंतर्जगत् और बहिर्जगत् की अनुभूतियों और वस्तुओं का सहज सम्मिश्रण रहता है, यह ऐसा सत्य है जिसकी उपेक्षा की ही नहीं जा सकती। काव्य के विशाल प्रदेश में उसकी विभिन्न विधाओं के जितने भी रचनाप्रक्रियागत रूप प्रदर्शित होते हैं उनमें सर्वत्र जीवन की रागात्मिका अभिव्यंजना का पक्ष ही विशेष मुखर है। कहने की आवश्यकता नहीं कि काव्य का चरम साध्य आनंद है जो राग और बोध तथा भावना और कल्पना के शाश्वत एवं युगजीवी चित्र अंकित करता हुआ जड़ और चेतन में अद्भुत सामरस्य लाने की चेष्टा करता है।

काव्य-सर्जना में चाहे जीवन के संघर्ष और उसकी यथार्थ दृष्टि को प्रामुख्य प्रदान किया जाय अथवा उसकी परिशांति और आदर्शवादिता को, दोनों ही दृष्टियों में आत्मचेतन की उन क्रिया-प्रतिक्रियाओं का अद्भुत सम्मिलन विद्यमान है जो साहित्य-स्रष्टा के अहं से उद्भूत होकर विविध रूप-प्रकारों में अपना आत्मप्रसार करती है। जीवन के उर्वर धरातल पर काव्य का शस्य-श्यामल प्रदेश अपनी हरीतिमा में पल्लवित और पुष्पित होकर जिन रसात्मक अनुभूतियों का परिपक्व अन्न प्रदान करता है, वह व्यष्टि और समष्टि के लिए समान भाव से उपादेय है। संभव है, विश्व-काव्य की आदि-सर्जना जीवन और जगत् के यथार्थ चित्रण को ही अपना सामान्य उपकरण बनाकर विकासोन्मुख बनी हो, किंतु उसकी यथार्थ दृष्टि में क्रमश: आदर्श की भव्य कल्पनाओं का भी समयोचित संयोजन अवश्यमेव होता चला था, यह भी एक सुनिश्चित धारणा है। सच तो यह है कि ईशावास्योपनिषद् में विश्वात्मतत्त्व का विश्लेषण करते हुए जिस रूप में समस्त विश्व को उसी का स्पंदन और विवर्त्त रूप माना गया है, उसी प्रकार काव्य भी हमारे ही आत्मतत्त्व का शब्दमय प्रकाशन है जिसमें लौकिक व्यवहार और आध्यात्मिक दृष्टि का सामंजस्य अभिचित्रित किया जाता है। जीवन की असीम अनंतता के आभोग में उसकी जटिलताओं और समस्याओं का यथार्थ पक्ष काव्य-सर्जना का एक ऐसा प्रेरक तत्त्व है जिसका प्रसार विविध देशों के साहित्य में उनकी संस्कृति के अनुरूप वातावरण में हुआ है। प्रगीत और मुक्तक के लघु कलेवर से लेकर महाकाव्य के विशाल आकार में या तो जीवन की यथार्थगत समस्याओं और आवश्यकताओं का रसव्यंजक प्रतिफलन हुआ है या उसकी उदात्त पृष्ठभूमि पर आदर्श के संकल्पात्मक स्वप्न साकार एवं प्रत्यक्ष

बने हैं। हमारा तो सुदृढ़ विश्वास है कि काव्य-रूपी पुरुष यथार्थ के माध्यम से पद-संचालन करता हुआ आदर्श की नेत्र-ज्योति से ही अपने स ध्यस्थल की सिद्धि प्राप्त कर सकता है। आदर्श की कल्पना में जीवन का औदात्य और नैतिक पक्ष स्वतः अनुस्यूत रहता है जिनको मूर्तिमान बनाने की प्रेरणा से कोई भी पुण्य-श्लोक काव्यकार अपनी कृतियों में महापुरुषों के चरित्र का प्रतीकार्थ नियोजित करे अथवा अपने भाव-शिशुओं को ही नीर-क्षीर-विवेचिनी वाणी प्रदान करे, सभी दशाओं में वह उत्कर्ष-व्यंजक और चिरंतन सत्य की अनुमापक ही होंगी। काव्य-सर्जना का वह एक ऐसा रहस्य है जिसमें 'सत्यं शिवं सुन्दरम्' का पुण्यप्रद संगम फलितार्थ होकर उसे तीर्थराज की-सी पवित्रता और भव्यता प्रदान करता है। भारतीय आचार्यों ने इस प्रकार की मान्यता का महत्त्व समझकर ही काव्य-प्रयोजनों का विश्लेषण किया था, जिसका निरूपण इसी प्रबंध में यथास्थान किया गया है।

काव्य-सर्जना का विस्तार हमारी जीवन-चेतना का ही रसप्रबुद्ध आत्मप्रसार है। जीवन की समुन्नति काव्य-सर्जना की ही समृद्धि है। संचरणशील संसृति में प्रतिक्षण और प्रतिपल जो अभिनव परिवर्तन होते रहते हैं, वे काव्य-सर्जना की संवेदनाओं को भी अभिभूत करते चलते हैं। संस्कृति की अगाध जलराशि में काव्यामृत का दिव्य पेय समुद्भूत होकर मर्त्यजनों की रागद्वेषमयी क्षुद्र वृत्तियों का परिशमन ही नहीं करता, अपितु उन्हें अक्षरता और निर्जरता भी प्रदान करता है। यों तो रुचि-वैचित्र्य और देशकाल की विभिन्नता के कारण संस्कृति के चरणों में भी वैविध्य और आनंत्य है, तथापि उसका एक ऐसा विश्वजनीन आंतरिक पक्ष भी है जो प्राणिमात्र के अभ्युदय और कल्याण से सम्बद्ध होने के कारण विश्वबंधुत्व का पोषक कहा जा सकता है। काव्य के सीमा-विस्तार में युग-दृष्टि और युग-संस्कृति की मान्यताएँ भी प्रतिबिम्बित होती हैं, किन्तु उनका चिरंतन सत्य भी उपेक्षित नहीं किया जा सकता। सभी देशों के काव्यों में शाश्वत संवेदनाओं का मानवीय धरातल पर भी प्रतिरूपण हुआ है। शैशव की स्मृति, यौवन का उन्माद और वार्द्धक्य का अवसाद सभी प्राणियों की मनोवृत्तियों को समान-भाव से स्पर्श करने वाले कहे जा सकते हैं। अभिप्राय यह है कि काव्य-सर्जना और काव्यास्वाद के विश्वजनीन धरातल पर मानव-मात्र के मनःप्रसादन के प्रचुर उपकरण विद्यमान हैं जिनकी उपलब्धि के लिए एक विशिष्ट कोटि का अधिवासित मानस अपेक्षणीय है।

भारतीय दृष्टि के आलोक में काव्य-सर्जना और काव्यास्वाद का विवेचन करने के पश्चात् हमने अपने शोध-प्रबंध के अंतिम अध्याय के अन्तर्गत तद्विषयक पाश्चात्य अभिमतों का जो निष्कर्ष प्रस्तुत किया, उससे स्पष्ट है कि उन तत्त्वों का समंजन भारतीय दृष्टि के साथ भी किया जा सकता है। इसमें कोई संदेह नहीं कि उन दोनों दृष्टियों की चिन्तन-पद्धति, ऐतिहासिक भूमिका और सांस्कृतिक आधारशिला में देशकालजन्य पर्याप्त अन्तर भी रहा है, किन्तु विश्वकाव्य के ऐसे अनेक साधारणीभूत प्रत्यय भी उनमें विद्यमान हैं जिनके द्वारा दोनों को सामान्य धरातल प्रदान करना सुकर है। पाश्चात्य काव्य-दर्शन का कला और सौन्दर्य-विषयक अभिमत भारतीय विचारधारा के रस-रामण्य

में अन्तर्निहित किया जा सकता है। दोनों पक्षों की स्थूलता और सूक्ष्मता में ऐसा उल्लेखनीय अन्तर्भेद भी नहीं है जिससे यह कहा जा सके कि उनके गंतव्य स्थल पृथक्-पृथक् हैं। यहाँ का रस-तत्त्व पश्चिम के सौन्दर्य-बोध को अंकस्थ करता चला है तो वहाँ की सर्जनात्मक कल्पना और सहजानुभूति का सिद्धांत हमारे प्रातिभ-ज्ञान की क्रोड में क्रीडन करता हुआ विकसित हुआ है। पश्चिमी जगत् का रेचन-सिद्धांत भारतीय काव्य के साधारणीकरण-सिद्धांत और विभावन-व्यापार की भूमिका-मात्र है। अभिप्राय यह है कि काव्य-सर्जना और काव्यास्वाद की शास्त्रीय विवेचना में भारतीय और पाश्चात्य विचारधाराओं का जो प्रदेय है उसमें सामंजस्य और समन्वय स्थापित करते हुए उसे विश्वजनीन सार्वभौम सत्ता प्रदान की जा सकती है।





